आधुनिक भारत का इतिहास

लेखक
राजीव अहीर
आई.पी.एस.

लेखन सहयोग
आर. विद्या
सबीना मदान
राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

मुख्य संपादक
कल्पना राजाराम

पूर्णतया संशोधित एवं परिमार्जित संस्करण
2019

स्पेक्ट्रम बुक्स प्रा.लि.
ए1 291, प्रथम तल, जनकपुरी,
नई दिल्ली 110058

आमुख

विश्व में भारत की सुदृढ़ ऐतिहासिक परम्परा है जिसमें आधुनिक भारत के इतिहास का एक विशेष स्थान है। यूरोपियों के आगमन और मुगल शासन के पतन ने एक नवीन भारत की आधारशिला रखी। अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन और उससे उन्मुक्ति हेतु भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने आधुनिक भारत के इतिहास को समृद्ध किया।

संघ लोक सेवा आयोग की सिविल सेवा परीक्षा के आधुनिक भारतीय इतिहास संबंधी नवीन परिवर्तनों एवं प्रश्न प्रवृत्तियों के दृष्टिगत् नवीन विषयों एवं अध्यायों का समावेश इकाई-वार (जिसमें 10 विभिन्न इकाईयों के अंतर्गत 39 अध्यायों का समावेश) किया गया है जिसमें प्रमुख रूप से आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत एवं उपागम, यूरोपियों का आगमन, ब्रिटिश विजय के समय भारत की स्थिति और ब्रिटिश विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण, 1857 से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध जन-विद्रोह, सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन, आधुनिक राष्ट्रवाद की शुरूआत, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, राष्ट्रीय आंदोलन (1905-1918), जनराष्ट्रवाद का प्रारंभ (1919-1030), अम्बेडकर एवं गांधी के बीच मतैक्यता एवं मत-भिन्नता, भारत स्वतंत्रता एवं विभाजन की ओर (1939-1947), गांधी एवं सुभाष बोस के बीच स्वतंत्रता संघर्ष एवं अन्य को लेकर मत-भिन्नता, ब्रिटिश शासन के अंतर्गत संवैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक विकास, ब्रिटिश नीतियों का सर्वेक्षण, ब्रिटिश आर्थिक प्रभाव, प्रेस का विकास, शिक्षा का विकास, किसान आंदोलन (1857-1947), श्रमिक वर्ग के आंदोलन, स्वतंत्रता पश्चात् भारत के समक्ष चुनौतियां, भारतीय रियासतें, भारतीय संविधान का निर्माण, राष्ट्रवादी विदेश नीति का प्रारंभ, प्रथम आम चुनाव—प्रवृत्तियां एवं चुनौतियां एवं नेहरू युग में स्वतंत्र भारत (1947-64), इत्यादि प्रमुख हैं। एक नया अध्याय 'नेहरू के बाद भारत' जोड़ा गया है जो 1964 के बाद आई विभिन्न सरकारों के तहत् समग्र घटनाक्रमों एवं विकास का वर्णन एवं विश्लेषण करता है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में महत्वपूर्ण एवं परीक्षा की दृष्टि से अपरिहार्य तथ्यों एवं जानकारी संबंधी पूरक सामग्री प्रदान की गई है।

इस प्रकार हम पाठकों के सम्मुख पूर्णतया संशोधित एवं परिमार्जित संस्करण प्रस्तुत कर रहे है जिससे यह पुस्तक अधिकाधिक समीचीन हो सके।

उल्लेखनीय है कि यह पुस्तक हमारे प्रकाशन की अंग्रेजी में लिखित *A Brief History of Modern India* का हिंदी अनुवाद है। अंग्रेजी में यह पुस्तक श्री राजीव अहीर द्वारा लिखी गई है, जो इस समय भारतीय पुलिस सेवा में सेवारत हैं।

पुस्तक लेखन की प्रक्रिया में बृहद स्तर पर किए गए शोध कार्य, विश्वसनीय संदर्भ ग्रंथों का सहयोग एवं संघ लोक सेवा में सफल अभ्यर्थियों एवं विषय के ख्यातिलब्ध प्राध्यापकों का परामर्श पुस्तक को स्तरीय बनाने में सहायक रहा है। ऐसा हमारा अनुमान है फिर भी इस प्रकार के अति महत्वपूर्ण कार्य में विभिन्न एकाग्रचित एवं गंभीर प्रयासों के बावजूद कुछ त्रुटियों की विद्यमानता अस्वाभाविक नहीं है। इन त्रुटियों एवं कमियों के निराकरण हेतु हम प्रतिबद्ध हैं। यदि पाठक हमें अपनी जिज्ञासाओं एवं शंकाओं से निरंतर अवगत कराने के साथ-साथ अपने रचनाकार एवं आलोचनात्मक सुझाव हमें संप्रेषित करते हैं तो वह हमारे लिये अत्यंत सुखद एवं संतुष्टिदायक होगा। पाठकों का अनवरत सहयोग ही हमें अपने आगामी संस्करणों को त्रुटिहीन, परिष्कृत एवं शत-प्रतिशत आशानुरूप बनाने की उत्प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान करेगा।

मुख्य संपादक
अगस्त 2019

विषय-सूची

इकाई-1
स्रोत एवं उपागम 1

अध्याय 1
आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत 1
राजकीय अभिलेख 1
अन्य स्रोत 2
पुरालेखीय सामग्री 2
केंद्र सरकार के पुरालेख 3
राज्य सरकारों के पुरालेख 3
न्यायिक अभिलेख 4
प्रकाशित अभिलेख 4
निजी पुरालेख 4
विदेशी संग्रहालयों की पुरालेख सामग्री 5
जीवनी साहित्य, संस्मरण एवं यात्रा वृत्तांत 6
व्यक्तिगत अभिलेखों का महत्व 6
यात्रा वृतांत 6
समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएं 7
महत्वपूर्ण समाचार-पत्र 7
विदेशी प्रकाशन 8
समाचार-पत्रों का महत्व 8
मौखिक प्रमाण 8
सृजनात्मक साहित्य 9
नवीन साहित्यिक केंद्रों का विकास 9
स्रोत के रूप में उपन्यास 9
लघु कहानी 10
चित्रकला 10
स्रोत के रूप में चित्रकला 10
कंपनी चित्रकला का विकास 11
1857 के विद्रोह पर चित्रकारी 11

कालीघाट चित्रकला 11
कला स्कूल 12
कला पर राष्ट्रवाद का प्रभाव 12
सारांश 12

अध्याय 2
आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन के प्रमुख उपागम 14
औपनिवेशिक उपागम 14
राष्ट्रवादी उपागम 15
मार्क्सवादी उपागम 16
अधीनस्थ/उपाश्रित उपागम 16
संप्रदायवादी उपागम 17
कैम्ब्रिज स्कूल उपागम 17
उदारवादी एवं नव-उदारवादी व्याख्या 18
नारीवादी उपागम 18
सारांश 19

इकाई-2
यूरोपियों का आगमन एवं ब्रिटिश शक्ति का सुदृढ़ीकरण 21

अध्याय 3
भारत में यूरोपियों का आगमन 21
पुर्तगाली 23
भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज एवं पुर्तगालियों का आगमन 23
भारत में पुर्तगाली साम्राज्य का सूत्रपात 25
भारत में पुर्तगाली प्रशासन 27
पुर्तगालियों की धार्मिक नीति एवं इसके निहितार्थ 28
अंग्रेजों के प्रति शत्रुता 30
पुर्तगालियों का पतन 32
डच 33
आगमन एवं गतिविधियां 33
डचों का पतन 36
अंग्रेज 37
अंग्रेजों का आगमन एवं सफलता 37
अंग्रेजों के व्यापार एवं विस्तार का प्रभाव 41
फ्रांसीसी 41
फ्रांसीसियों का भारत आगमन 41
सर्वोच्चता हेतु आंग्ल–फ्रांसीसी संघर्ष 43

फ्रांसीसियों की असफलता के कारण 50
अन्य यूरोपीय 52
डेन्स 52
यूरोपीय व्यापार की संरचना और तरीके 52
अन्य यूरोपीय शक्तियों की तुलना में अंग्रेज 54
सफल क्यों हुए 54
व्यापारिक कंपनियों की संरचना एवं प्रकृति 54
नौसैन्य सर्वोच्चता 54
औद्योगिक क्रांति 55
सैन्य कौशल एवं अनुशासन 55
स्थायी सरकार 55
धर्म के प्रति न्यून उत्साह 55
ऋण बाजार का उपयोग 55
सारांश 57
बॉक्स
पुर्तगालियों का व्यापारिक घटनाक्रम 31
भारत में डूप्ले का उत्थान एवं पतन 48

अध्याय 4
ब्रिटिश विजय के समय भारत की स्थिति 64
मुगल साम्राज्य का पतन 64
साम्राज्य की अक्षुण्णता में मुगलों के समक्ष चुनौतियां 64
मुगल साम्राज्य के विघटन के कारण 65
मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया 65
औरंगजेब के पश्चात् साम्राज्य के सम्मुख अन्य समस्याएं 66
स्वायत्त क्षेत्रीय राज्यों का उदय 68
उत्तराधिकारी राज्य 69
स्वतंत्र राज्य 71
नवीन राज्य 72
क्षेत्रीय राज्यतंत्रों की प्रकृति एवं सीमाएं 76
सामाजिक-आर्थिक दशाएं 77
आर्थिक स्थिति 77
शैक्षिक स्थिति 78
महिलाओं की स्थिति 78
सांस्कृतिक स्थिति 79
दासता 79
कला एवं स्थापत्य 79
सारांश 81

अध्याय 5
ब्रिटिश शक्ति का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण 82
ब्रिटिश विजयः संयोगवश या उद्देश्यपूर्ण 82
ब्रिटिश काल की शुरुआत कब हुई? 83
ब्रिटिश सफलता के कारण 83
अंग्रेजों की बंगाल विजय 85
ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल 85
सिराज-उद-द्दौला और अंग्रेज 86
अलीनगर की संधि 88
प्लासी का युद्ध 88
मीर जाफर एवं मीर कासिम तथा अंग्रेज 89
बक्सर का युद्ध (1764) 90
इलाहाबाद की संधि (1765) 91
प्लासी एवं बक्सर के युद्धों का महत्व 91
बंगाल में द्वैध शासन (1765-72) 93
मैसूर विजय 94
प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1768-1769) 95
द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84) 95
तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-1792 ई.) 96
चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध (मार्च 1799-मई 1799 ई.) 97
टीपू सुल्तान का आकलन 97
टीपू सुल्तान के पश्चात् मैसूर 98
सर्वोच्चता हेतु आंग्ल-मराठा संघर्ष 99
मराठा शक्ति का उदय 99
मराठा राजनीति में अंग्रेजों का प्रवेश 99
प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-82) 100
सालबाई की संधि (1782) 100
द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1803-1805) 101
तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-19) 102
मराठा शक्ति की पराजय के कारण 103
सिंध विजय 106
तालपुर अमीरों का उदय 106
सिंध पर क्रमिक प्रभुत्व 107
सिंध विजय की आलोचना 109
पंजाब विजय 109
सिक्खों के अधीन पंजाब का एकीकरण 109
सुकरचकिया मिस्ल एवं रणजीत सिंह 110

रणजीत सिंह एवं अंग्रेज 110
रणजीत सिंह के पश्चात् पंजाब 111
प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध (1845-1846) 112
द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध (1848-49) 112
आंग्ल-सिख युद्धों का महत्व 113
ब्रिटिश प्रभुता का प्रशासनिक नीति द्वारा विस्तार 113
घेरे (रिंग-फेन्स) की नीति 113
सहायक संधि 114
व्यपगत का सिद्धांत (डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स) 115
ब्रिटिश भारत का सीमावर्ती देशों के साथ संबंध 116
आंग्ल-भूटान संबंध 116
आंग्ल-नेपाल संबंध 116
आंग्ल-बर्मा संबंध 118
आंग्ल-तिब्बत संबंध 121
आंग्ल-अफगान संबंध 123
ब्रिटिश भारत एवं उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती प्रदेश 127
सारांश 129
बॉक्स
अवध का समामेलन 115

इकाई-3
कंपनी शासन के विरुद्ध बढ़ता विद्वेष 131

अध्याय 6
1857 से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जन-असंतोष 131
जन-विद्रोह का उद्भव 132
जन-विद्रोह हेतु जिम्मेदार कारक 132
नागरिक/असैनिक विद्रोह 133
नागरिक विद्रोह के प्रमुख कारण 133
प्रमुख नागरिक विद्रोह 134
धार्मिक अधिस्वर सहित किसान आंदोलन 145
प्रमुख किसान आंदोलन 145
आदिवासी विद्रोह 147
मुख्य भूमि एवं पूर्वोत्तर आदिवासी विद्रोहों के विभिन्न कारण 147
आदिवासी विद्रोहों की विशेषताएं 148
कुछ महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलन 148
पूर्वोत्तर के आदिवासी आंदोलन 153
सिपाही विद्रोह 153

कारण 155
महत्वपूर्ण विद्रोह 155
जन-विद्रोहों की कमजोरियां 156
सारांश 163
बॉक्स
जनजातीय आंदोलनः काल, क्षेत्र, कारण एवं प्रभाव 149
पूर्वोत्तर के सीमांत जनजातीय आंदोलनः वर्ष, क्षेत्र एवं प्रमुख कारण 154

अध्याय 7
1857 का विद्रोह 160
धीमी गति से बढ़ता असंतोष 160
1857 का विद्रोहः मुख्य कारण 161
आर्थिक कारण 161
राजनैतिक कारण 162
प्रशासनिक कारण 162
सामाजिक-धार्मिक कारण 162
बाहरी घटनाओं का प्रभाव 163
सिपाहियों के बीच असंतोष 163
विद्रोह का प्रारंभ एवं विस्तार 164
विद्रोह की चिंगारी 164
क्रांति की शुरुआत 165
सांकेतिक मुखिया/प्रमुख के रूप में बहादुर शाह जफर का चुनाव 165
विद्रोह में लोगों की सहभागिता 166
विद्रोह के प्रमुख केंद्र एवं नेतृत्वकर्ता 166
विद्रोह का दमन 169
विद्रोह असफल क्यों हुआ? 169
विद्रोह में सभी वर्गों का शामिल न होना 170
एक संगठित एवं एकबद्ध विचाराधारा का अभाव 170
निश्चित समय की प्रतीक्षा न करना 170
देशी राजाओं का देशद्रोही रूख 171
साम्प्रदायिकता का खेल 171
सम्पूर्ण देश में प्रसारित न होना 171
शस्त्रास्त्रों का अभाव 171
सहायक साधनों का अभाव 172
सैनिक संख्या में अंतर 172
हिंदू-मुस्लिम एकता 172
विद्रोह की प्रकृति 174
विद्रोह के परिणाम 176

1857 के विद्रोह का महत्व 180
सारांश 188
बॉक्स
श्वेत विद्रोह (व्हाइट म्युटिनी) 177

इकाई-4
सुधार आंदोलन 182

अध्याय 8
सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनः साधारण विशेषताएं 182
सुधार की भावना को बल देने वाले कारक 182
ब्रिटिश शासन का प्रभाव 183
सामाजिक दशाओं एवं रूढ़िवादिता के कारण सुधार 183
पाश्चात्य संस्कृति का विरोध 184
प्रबुद्ध भारतीयों में नवीन जागृति 184
सुधार का सामाजिक एवं विचारधारात्मक आधार 185
मध्य वर्ग का आधार 185
बौद्धिक कसौटी 185
सुधार आंदोलनों की दो धाराएं 187
सामाजिक सुधार की दिशा 187
स्त्रियों की दशा में सुधार के प्रयास 188
जाति आधारित शोषण के विरुद्ध संघर्ष 193
जातिगत भेदभाव को कम करने में सहायक कारक 193
सारांश 197

अध्याय 9
सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों का अवलोकन 200
सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलन एवं उसके नेता 200
राजा राममोहन राय एवं ब्रह्म समाज 200
देवेन्द्रनाथ टैगोर और ब्रह्म समाज 204
केशव चन्द्र सेन एवं ब्रह्म समाज 204
प्रार्थना समाज 205
यंग बंगाल आंदोलन तथा हेनरी विवियन डेरोजियो 206
ईश्वरचंद्र विद्यासागर 206
बालशास्त्री जाम्बेकर 207
विद्यार्थियों की शैक्षिक एवं वैज्ञानिक समितियां (ज्ञान प्रकाश मंडलियां) 208
परमहंस मंडलियां 208
सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले 208
गोपालहरि देशमुख 'लोकहितवादी' 209
गोपाल गणेश अगरकर 209

द सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी 209
सोशल सर्विस लीग 210
रामकृष्ण आंदोलन एवं स्वामी विवेकानंद 210
दयानंद सरस्वती एवं आर्य समाज 212
सेवा सदन 214
देव समाज 215
धर्म सभा 215
भारत धर्म महामंडल 215
राधास्वामी आंदोलन 215
श्री नारायनगुरु धर्मपरिपालन (एसएनडीपी) आंदोलन 216
वोक्कालिग संघ 217
न्याय आंदोलन या जस्टिस आंदोलन 217
आत्म-सम्मान आंदोलन 217
मंदिर प्रवेश आंदोलन 217
इंडियन सोशल कांफ्रेंस 218
वहाबी आंदोलन 218
टीटू मीर का आंदोलन 218
फराजी आंदोलन 219
अहमदिया आंदोलन 219
सर सैय्यद अहमद खान एवं अलीगढ़ आंदोलन 220
देवबंद स्कूल (दारूल उलूम) 221
पारसी सुधार आंदोलन 222
सिख सुधार आंदोलन 223
थियोसोफिकल आंदोलन 223
सुधार आंदोलनों का महत्व 225
सकारात्मक पहलू 225
नकारात्मक पहलू 226
सारांश 228

इकाई-5
स्वतंत्रता संघर्ष का आरंभ 230

अध्याय 10
भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रारंभ 230
आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास के कारक 230
भारतीय एवं उपनिवेशी हितों में विरोधाभास 231
देश का राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक एकीकरण 231
पाश्चात्य चिंतन तथा शिक्षा 232

प्रेस एवं साहित्य की भूमिका 232
भारत के अतीत का पुनः अध्ययन 233
सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का विकासात्मक स्वरूप 233
मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का उत्थान 234
समकालीन घटनाओं का विश्वव्यापी प्रभाव 234
विदेशी शासकों का जातीय अहंकार तथा प्रतिक्रियावादी नीतियां 234
कांग्रेस के गठन से पूर्व की राजनीतिक संस्थाएं 235
बंगाल में राजनीतिक संस्थाएं 235
बंबई में राजनीतिक संस्थाएं 237
मद्रास में राजनीतिक संस्थाएं 237
कांग्रेस से पूर्ववर्ती अभियान 237
सारांश 238

अध्याय 11
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसः स्थापना एवं उदारवादी चरण 240
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 240
क्या कांग्रेस की स्थापना के पीछे 'सेफ्टी वाल्व' की अवधारणा थी? 241
कांग्रेस के लक्ष्य एवं उद्देश्य 241
नरमदलीय कांग्रेस/कांग्रेस का प्रथम चरण (1885-1905) 242
महत्वपूर्ण नेता 242
उदारवादी उपागम 242
उदारवादी राष्ट्रवादियों का योगदान 243
ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आर्थिक नीतियों की आलोचना 243
व्यवस्थापिका में संवैधानिक सुधार एवं अधिप्रचार 244
सामान्य प्रशासकीय सुधारों हेतु उदारवादियों के प्रयास 246
नागरिक अधिकारों की सुरक्षा 247
प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के कार्यों का मूल्यांकन 247
जन-साधारण की भूमिका 248
ब्रिटिश सरकार का रुख 250
सारांश 250
बॉक्स
भारतीय परिषद अधिनियम-1892 245

इकाई-6
राष्ट्रीय आंदोलन (1905-1918) 251

अध्याय 12
उग्र-राष्ट्रवाद का युग (1905-1909) 251
उग्र-राष्ट्रवाद का उदय 251

उग्र-राष्ट्रवाद के उदय के कारण 251
स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन 255
लोगों को विभाजित करने हेतु बंगाल का विभाजन 255
उदारवादियों द्वारा बंगाल विभाजन का विरोध (1903-1905) 256
कांग्रेस की स्थिति 257
उग्र नेतृत्व के अंतर्गत आंदोलन 258
उग्रवादियों का कार्यक्रम 258
संघर्ष का नया स्वरूप 259
जनसहभागिता का दायरा 261
श्रमिक असंतोष एवं व्यापार संघ 262
आंदोलन का अखिल भारतीय पहलू 263
बंगाल विभाजन का लोप 263
स्वदेशी आंदोलन का मूल्यांकन 264
स्वदेशी आंदोलन की असफलता 264
आंदोलन एक क्रांतिकारी परिवर्तन सिद्ध हुआ 264
सूरत विभाजन 267
सूरत का रुख 267
विभाजन सुनिश्चित होना 269
सरकार द्वारा दमन 269
सरकार की रणनीति 270
मार्ले-मिन्टो सुधार—1909 271
मुख्य सुधार 271
सुधार का मूल्यांकन 273
सारांश 274

बॉक्स

उदारवादियों एवं उग्रवादियों में अंतर 266

अध्याय 13

क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रथम चरण (1907-1917) 278
क्रांतिकारी गतिविधियों की लहर 278
क्रांतिकारी कार्यक्रम 279
क्रांतिकारी गतिविधियों का अवलोकन 279
बंगाल 279
महाराष्ट्र 281
पंजाब 282
दिल्ली 282
क्रांतिकारियों की विदेशों में गतिविधियां 283

क्रांतिकारी गतिविधियों में धीमापन 288
सारांश 288

अध्याय 14
प्रथम विश्व युद्ध एवं राष्ट्रवादी प्रत्युत्तर 292
होमरूल लीग आंदोलन 293
आंदोलन प्रारम्भ होने के उत्तरदायी कारक 293
लीग 294
होमरूल लीग आंदोलन के कार्यक्रम 295
लीग के प्रति सरकार का रुख 296
क्या कारण था कि 1919 तक आते-आते आंदोलन धीमा पड़ गया 296
होमरूल लीग आंदोलन की उपलब्धियां 297
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन (1916) 298
अतिवादियों का कांग्रेस में पुनः प्रवेश 298
कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच लखनऊ समझौता 299
समझौते की समालोचना 301
मांटेग्यू की घोषणा (अगस्त 1917) 301
मांटेग्यू घोषणा का महत्व 302
भारतीयों की आपत्ति 302
सारांश 302

इकाई-7
जन-राष्ट्रवाद के युग का शुभारंभ (1919-1939) 304

अध्याय 15
गांधी का अभ्युदय 304
राष्ट्रवाद के पुनः जीवंत होने के कारण 305
युद्धोपरांत उत्पन्न हुई आर्थिक कठिनाइयां 305
युद्ध में सहयोग के बदले राजनीतिक लाभ की अपेक्षा 305
विश्वव्यापी साम्राज्यवाद से राष्ट्रवादियों का मोहभंग होना 306
रूसी क्रांति का प्रभाव 306
मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार और भारत सरकार अधिनियम, 1919 307
भारत सरकार अधिनियम 1919 बनाने के लिये उत्तरदायी कारक 307
मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की मुख्य विशेषताएं 307
भारत सरकार अधिनियम 1919 का मूल्यांकन 309
अधिनियम के संबंध में कांग्रेस की प्रतिक्रिया 310
गांधीजी का अभ्युदय 311
प्रारंभिक जीवन तथा दक्षिण अफ्रीका में सत्य का प्रयोग 311

संघर्ष का उदारवादी चरण (1894-1906) 311
अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह का काल (1906-1914) 312
दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के अनुभव 314
गांधीजी की सत्याग्रह की तकनीक 314
गांधीजी की भारत वापसी 315
चम्पारण सत्याग्रह (1917)—प्रथम सविनय अवज्ञा 315
अहमदाबाद मिल हड़ताल (1918)—प्रथम भूख हड़ताल 316
खेड़ा सत्याग्रह (1918)—प्रथम असहयोग 317
चम्पारण, अहमदाबाद तथा खेड़ा में गांधीजी की उपलब्धियां 318
रौलेट एक्ट, सत्याग्रह, जलियांवाला बाग जनसंहार 318
रौलेट एक्ट 318
रौलेट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह—प्रथम जन-आन्दोलन 319
जलियांवाला बाग हत्याकांड (13 अप्रैल 1919) 320
हंटर आयोग 321
कांग्रेस का दृष्टिकोण 323
सारांश 323

बॉक्स

टाल्सटाय फार्म 312

अध्याय 16

खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन 325
पृष्ठभूमि 325
खिलाफत का मुद्दा 326
खिलाफत का विकास—असहयोग कार्यक्रम 327
खिलाफत के प्रश्न पर कांग्रेस का रवैया 327
कांग्रेस को मुस्लिम लीग का समर्थन 328
असहयोग-खिलाफत आंदोलन 328
आंदोलन का प्रसार 330
जन-प्रतिक्रिया 331
सरकार की प्रतिक्रिया 332
आंदोलन का अंतिम चरण 333
गांधीजी ने आंदोलन वापस क्यों लिया 334
खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन का मूल्यांकन 335
सारांश 336

अध्याय 17

1920 के दशक में स्वराजी समाजवादी विचार एवं अन्य नवीन शक्तियों का उदय 338
स्वराजी एवं परिवर्तन विरोधी 338

कांग्रेस–खिलाफत स्वराज्य पार्टी का उदय 338
स्वराजियों का तर्क 339
परिवर्तन विरोधियों का तर्क 339
गांधीजी का रुख 340
विधानमंडलों में स्वराजियों की गतिविधियां 341
परिवर्तन विरोधियों के रचनात्मक कार्य 343
नयी शक्तियों–समाजवादी विचार, युवा शक्ति, व्यापार संघ–का उदय 344
समाजवादी एवं मार्क्सवादी विचारों का प्रसार 344
भारतीय युवाओं की सक्रियता 345
किसानों के प्रदर्शन 345
व्यापार संघ का विकास 346
जातीय आंदोलन 346
क्रांतिकारी गतिविधियों का समाजवाद की ओर झुकाव 346
19वीं शताब्दी के दूसरे एवं तीसरे दशक में क्रांतिकारी गतिविधियां 347
असहयोग आंदोलन के पश्चात् लोग क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर आकर्षित क्यों हुए 347
प्रमुख प्रभावकारी कारक 348
पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं बिहार में 348
बंगाल में 350
सरकार की प्रतिक्रिया 352
क्रांतिकारी दर्शन का प्रतिपादन 352
क्रांति की पुनर्व्याख्या 354
बंगाल में नये क्रांतिकारी आंदोलन की विशेषतायें 355
सारांश 355

अध्याय 18
साइमन कमीशन का विरोध 357
भारतीय विधिक आयोग की नियुक्ति 357
भारतीय प्रतिक्रिया 358
पुलिस का दमन 358
साइमन कमीशन की नियुक्ति का प्रभाव 359
नेहरू रिपोर्ट 359
नेहरू रिपोर्ट की मुख्य अनुशंसाएं 360
मुस्लिम एवं हिन्दू साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया 361
जिन्ना द्वारा प्रस्तुत संशोधन 362
सारांश 364
बॉक्स
साइमन कमीशन रिपोर्ट तथा नेहरू रिपोर्ट में अंतर 361

अध्याय 19

सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं गोलमेज सम्मेलन 365
सविनय अवज्ञा आंदोलन की पृष्ठभूमि का निर्माण 365
कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन (दिसम्बर 1928) 365
वर्ष 1929 के दौरान राजनीतिक घटनायें 365
लार्ड इरविन की घोषणा (31 अक्टूबर 1929) 366
दिल्ली घोषणा-पत्र 366
लाहौर अधिवेशन और पूर्ण स्वराज्य 367
26 जनवरी, 1930: स्वतंत्रता की शपथ 368
सविनय अवज्ञा आंदोलन—नमक सत्याग्रह एवं अन्य विप्लव 369
गांधी जी की ग्यारह सूत्रीय मांगें 369
गांधी जी ने नमक को सविनय अवज्ञा आंदोलन में 'केंद्रीय मुद्दे के रूप में क्यों चुना? 370
डांडी मार्च (12 मार्च-6 अप्रैल, 1930) 370
नमक सत्याग्रह का प्रसार 371
प्रदर्शन का प्रभाव 376
जन-आंदोलन की व्यापकता 377
सरकारी प्रतिक्रिया—अस्थाई संधि के प्रयास 378
गांधी-इरविन समझौता 379
सविनय अवज्ञा आंदोलन का मूल्यांकन 379
कांग्रेस का कराची अधिवेशन, 1931 381
कराची में कांग्रेस का प्रस्ताव 381
गोलमेज सम्मेलन 382
प्रथम गोलमेज सम्मेलन (नवम्बर 1930—जनवरी 1931) 382
द्वितीय गोलमेज सम्मेलन 383
तीसरा गोलमेज सम्मेलन 384
सविनय अवज्ञा आंदोलन का पुनः प्रारंभ 385
अस्थायी शांति का काल (मार्च-दिसम्बर 1931) 385
द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् सरकार का परिवर्तित रुख 385
सरकार की कार्रवाई 386
जनता की प्रतिक्रिया 386
साम्प्रदायिक निर्णय और पूना समझौता 386
साम्प्रदायिक निर्णय के प्रावधान 387
कांग्रेस का पक्ष 388
गांधीजी की प्रतिक्रिया 388
पूना समझौता 389

पूना समझौते (पैक्ट) का दलितों पर प्रभाव 390
संयुक्त निर्वाचक वर्ग तथा इसका दलितों पर प्रभाव 390
गांधीजी का हरिजन अभियान 390
गांधी जी के जाति संबंधी विचार 391
गांधी एवं अम्बेडकर के मध्य वैचारिक भिन्नता एवं समानता 393
सारांश 396

अध्याय 20
सविनय अवज्ञा आंदोलन के पश्चात् भविष्य की रणनीति पर बहस 398
प्रथम चरण की बहस 398
नेहरू के विचार 399
नेहरू द्वारा संघर्ष-समझौता-संघर्ष की रणनीति का विरोध 399
सत्ता में भागीदारी पर सहमति 400
भारत सरकार अधिनियम, 1935 401
अधिनियम के पारित होने की परिस्थितियां 401
अधिनियम की मुख्य विशेषतायें 403
अधिनियम का मूल्यांकन 405
अंग्रेजी सरकार की दीर्घकालिक रणनीति 406
राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया 407
द्वितीय चरण की रणनीति पर बहस 407
मत-भिन्नता 408
गांधीजी की स्थिति 409
कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र 409
कांग्रेस का प्रदर्शन 409
सारांश 409

अध्याय 21
प्रांतों में कांग्रेस शासन 411
गांधीजी की सलाह 411
कांग्रेस मंत्रिमंडलों के अधीन किये गये कार्य 412
नागरिक स्वतंत्रता 412
कृषि सुधार 413
मजदूरों के प्रति नजरिया 413
समाज कल्याण संबंधी सुधार 414
कांग्रेस की अन्य संसदीय जन-गतिविधियां 414
मूल्यांकन 415
सारांश 415

इकाई-8
स्वतंत्रता एवं विभाजन की ओर (1939-1947) 416

अध्याय 22
द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया 416
राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया 416
हरिपुरा एवं त्रिपुरी अधिवेशन 417
स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके एवं अन्य को लेकर गांधी एवं सुभाष के मध्य मतैयक्ता एवं मत-भिन्नता 419
फॉरवर्ड ब्लॉक का गठन 421
कांग्रेस की स्थिति 422
सरकार की प्रतिक्रिया 423
कांग्रेस सरकार द्वारा त्यागपत्र का निर्णय 424
भारतीय राजनीति पर युद्ध के प्रभाव 424
त्वरित जन सत्याग्रह के मुद्दे पर बहस 425
पाकिस्तान प्रस्ताव—लाहौर (मार्च 1940) 427
अगस्त प्रस्ताव 427
मूल्यांकन 428
व्यक्तिगत सत्याग्रह 428
गांधीजी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी क्यों चुना? 429
क्रिप्स मिशन 430
क्रिप्स मिशन क्यों भेजा गया 430
मुख्य प्रावधान 430
क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों का पूर्ववर्ती प्रस्तावों से भिन्न होना 431
क्रिप्स मिशन क्यों असफल हुआ 431
सारांश 434

अध्याय 23
भारत छोड़ो आंदोलन, आजाद हिंद फौज एवं पाकिस्तान की मांग 436
भारत छोड़ो आंदोलन 436
संघर्ष क्यों अपरिहार्य हो गया? 436
अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक—गवालिया टैंक, बम्बई 437
विभिन्न वर्गों को गांधीजी द्वारा दिये गये निर्देश 437
आंदोलन का प्रसार 438
समानांतर सरकारें 439
आंदोलन में जनता की भागीदारी 439
सरकारी दमन 440
भारत छोड़ो आंदोलन का मूल्यांकन 440
गांधीजी का उपवास 441

आजाद हिन्द फौज 442
प्रथम चरण 442
द्वितीय चरण 443
1943 का अकाल 444
राजगोपालाचारी फार्मूला, 1944 444
जिन्ना की आपत्ति 445
देसाई-लियाकत समझौता 445
वेवेल योजना 445
सरकार समस्या के समाधान हेतु क्यों तत्पर थी? 446
योजना 446
मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया 446
कांग्रेस की प्रतिक्रिया 447
वेवेल की भूल 447
सारांश 447

अध्याय 24
युद्धोपरांत राष्ट्रीय परिदृश्य 449
राष्ट्रीय विप्लव के दो पहलू 449
सरकार के दृष्टिकोण में परिवर्तन क्यों आया 450
कांग्रेस का चुनाव अभियान एवं आजाद हिंद फौज पर मुकदमा 451
आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों को कांग्रेस का समर्थन 452
आजाद हिन्द फौज के युद्धबंदियों के समर्थन में आंदोलन 452
1945-46 में विद्रोह की तीन घटनायें 453
त्रि-स्तरीय पैटर्न 454
विद्रोह की तीनों घटनाओं की शक्ति तथा उनके प्रभाव का मूल्यांकन 456
कांग्रेस की रणनीति 457
चुनाव के नतीजे 458
कांग्रेस का प्रदर्शन 458
मुस्लिम लीग का प्रदर्शन 459
चुनाव के महत्वपूर्ण बिन्दु 459
कैबिनेट मिशन 459
अंग्रेजों की भारत से वापसी क्यों अपरिहार्य प्रतीत होने लगी 459
कैबिनेट मिशन योजना की पूर्व संध्या 461
भारत में कैबिनेट मिशन का आगमन 461
कैबिनेट मिशन योजना—मुख्य बिन्दु 461
समूह व्यवस्था के संबंध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएं 463
कैबिनेट मिशन योजना के संबंध में मुख्य आपत्तियां 463
स्वीकार्यता 464

सांप्रदायिक विध्वंस और अंतरिम सरकार 464
सरकार की प्राथमिकताओं में परिवर्तन 464
अंतरिम सरकार 464
अंतरिम सरकार के मंत्री 465
मुस्लिम लीग की गतिरोध उत्पन्न करने की मानसिकता तथा भविष्य की रणनीति 466
भारत में सांप्रदायिकता का जन्म एवं विकास 466
भारतीय साम्प्रदायिकता की विशिष्टतायें 466
साम्प्रदायिकता के विकास के कारण 468
द्वि-राष्ट्र सिद्धांत का जन्म 470
सारांश 475

अध्याय 25
स्वतंत्रता एवं विभाजन 478
एटली की घोषणा 478
एटली की घोषणा के प्रमुख बिंदु 478
सरकार ने भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने के लिये तिथि निर्धारित क्यों की? 478
कांग्रेस की प्रतिक्रिया 479
भारत विभाजन और स्वतंत्रता की ओर 479
माउंटबैटन वायसराय के रूप में 479
माउंटबैटन योजना 480
भारत ने डोमिनियन का दर्जा क्यों स्वीकार किया? 481
ब्रिटेन द्वारा सत्ता हस्तांतरण की तिथि समय से पूर्व तय करने के कारण 481
भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 482
अंग्रेजों की जल्द वापसी के निर्णय से उत्पन्न समस्याएं 484
राज्यों का एकीकरण 485
क्या भारत का विभाजन अनिवार्य था? 486
कांग्रेस ने विभाजन क्यों स्वीकार किया? 487
अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य करने वाली शक्तियां 489
ऐतिहासिक उद्देश्य का सिद्धांत 489
साम्राज्यवाद का पतन 489
दो महान शक्तियों का उदय 490
इंग्लैंड में श्रमिक दल का उदय 490
भारतीय राष्ट्रवाद को रोकने में अंग्रेजों की विफलता 490
विस्फोटक परिस्थितियां तथा कानून व्यवस्था की स्थिति 490
भारतीय नौसेना का विद्रोह 491

वामपंथ का उभरना 491
द्वि-विकल्प सिद्धांत 491
राष्ट्रमंडल का विकल्प 491
सारांश 493
बॉक्स
प्लान बाल्कन 484

इकाई-9
ब्रिटिश शासन के अधीन भारतः शासन एवं अन्य पहलू 494

अध्याय 26
संवैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक विकास 494
1773 और 1858 के बीच संवैधानिक विकास 495
रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773 495
पिट्स इंडिया एक्ट, 1784 497
अधिनियम, 1786 497
चार्टर एक्ट, 1793 498
चार्टर एक्ट, 1813 498
चार्टर एक्ट, 1833 498
चार्टर एक्ट, 1853 499
भारत के शासन को अच्छा बनाने के लिये 1858 का अधिनियम 500
भारत में सिविल सेवाओं का विकास 501
चार्टर अधिनियम, 1853 में सिविल सेवा संबंधी प्रावधान 501
भारतीय सिविल सेवा अधिनियम, 1861 502
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की मांग 503
लोक सेवाओं पर एचिसन कमेटी, 1886 503
मांटफोर्ड सुधारों (1919) में सिविल सेवा 503
ली आयोग (1924) 504
भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत सिविल सेवा 504
ब्रिटिश शासन के अंतर्गत सिविल सेवाओं का मूल्यांकन 504
आधुनिक भारत में पुलिस व्यवस्था का सूत्रपात 505
ब्रिटिश शासनाधीन सेना में परिवर्तन एवं पुनर्गठन 507
ब्रिटिश भारत में न्यायपालिका का विकास 509
वारेन हेस्टिंग्स के अधीन सुधार (1772-1785) 509
कार्नवालिस के अधीन सुधार (1786-1793)—शक्तियों का पृथक्करण 510
विलियम बैंटिक के अधीन सुधार (1828-1833) 511
ब्रिटिश शासन के अधीन न्यायपालिका के पहलू 511

1857 के पश्चात् प्रशासनिक संरचना में प्रमुख परिवर्तन 512
प्रशासनिक परिवर्तनों की उत्पत्ति 512
प्रशासनः केंद्रीय, प्रांतीय एवं स्थानीय 513
केंद्रीय सरकार 513
प्रांतीय सरकार 514
स्थानीय स्वायत्त संस्थाएं 515
सारांश 521

अध्याय 27
भारत में ब्रिटिश नीतियों का सर्वेक्षण 522
प्रशासनिक नीतियां 522
बांटों एवं राज करो की नीति 522
शिक्षित भारतीयों के प्रति द्वेष 522
जमींदारों के प्रति दृष्टिकोण 523
सामाजिक सुधारों के प्रति दृष्टिकोण 523
अविकसित सामाजिक सेवायें 523
श्रमिक विधान 524
प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध 525
रंगभेद की नीति 526
भारत में अंग्रेजों की भू-राजस्व नीतियां 526
इजारेदारी प्रथा 527
स्थायी बंदोबस्त 527
रैयतवाड़ी व्यवस्था 531
महालवाड़ी पद्धति 532
भारत में अंग्रेजों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक नीति 533
नये विचारों की विशेषताएं 533
विचारधाराएं या सिद्धांत 534
सरकार के सम्मुख असमंजस की स्थिति 535
ईसाई मिशनरियों की भूमिका 535
भारतीय रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति 536
भारत में ब्रिटिश विदेश नीति 537
सारांश 538

अध्याय 28
भारत में ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव 539
अनौद्योगीकरण-भारतीय हस्तशिल्प का ह्रास 539
एकतरफा मुक्त व्यापार 539
आधुनिक औद्योगिकीकरण की दिशा में कोई प्रयास नहीं 539
गांवों की ओर गमन 540

कृषकों की बढ़ती दरिद्रता 540
पुराने जमीदारों की तबाही तथा बिचौलियों का उदय 541
कृषि की बिगड़ती दशा एवं गतिरोध 541
अकाल एवं निर्धनता 541
भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण 542
आधुनिक उद्योगों का विकास 543
राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का उदय 543
औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की राष्ट्रवादी आलोचना 544
ब्रिटिश नीतियों ने भारत को निर्धन बनाया 545
व्यापार और रेल की प्रगति ने ब्रिटेन को लाभ पहुंचाया 546
एकमार्गी मुक्त व्यापार और प्रशुल्क नीति 546
आर्थिक निकास के प्रभाव 546
आर्थिक मामलों ने राष्ट्रीय असंतोष को उग्र बनाया 547
सारांश 549

बॉक्स
आर्थिक निकास 545

अध्याय 29
भारत में प्रेस का विकास 550
प्रारंभिक विनियमन 550
समाचार-पत्रों का पत्रेक्षण अधिनियम, 1799 550
अनुज्ञप्ति नियम, 1823 550
प्रेस अधिनियम या मेटकॉफ अधिनियम, 1835 551
अनुज्ञप्ति अधिनियम, 1857 551
पंजीकरण अधिनियम, 1867 551
प्रेस की स्वतंत्रता को बचाने के लिये प्रारंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा किये गये प्रयास 552
वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, 1878 553
प्रथम विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके पश्चात् 556
द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 557
स्वतंत्रता के पश्चात् 557
सारांश 558

अध्याय 30
भारत में शिक्षा का विकास 559
कंपनी शासन के अंतर्गत शैक्षिक विकास 559
1813 के चार्टर एक्ट से प्रशंसनीय शुरुआत 560
आंग्ल-प्राच्य विवाद (Orientalist-Anglicist Controversy) 560
थॉमसन के प्रयास 561

चार्ल्स वुड का डिस्पैच (1854) 561
क्राउन के शासनाधीन शिक्षा का विकास 563
हन्टर शिक्षा आयोग (1882-83) 563
भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 564
शिक्षा नीति पर सरकारी प्रस्ताव, 1913 565
सैडलर विश्वविद्यालय आयोग (1917-19) 565
द्वैध शासन के अधीन शिक्षा 566
हार्टोग समिति (1929) 566
शिक्षा की सार्जेन्ट योजना 566
स्वतंत्रता के पश्चात 568
राधाकृष्णन आयोग (1948-49) 568
कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) 569
शिक्षा के विकास हेतु नवीन प्रयास 569
देशी-भाषाई (वर्नाक्यूलर) या स्थानीय शिक्षा का विकास 570
तकनीकी शिक्षा का विकास 571
अंग्रेजों की शिक्षा नीति का मूल्यांकन 571
सारांश 572
बॉक्स
मूलभूत शिक्षा की वर्धा योजना, 1937 567

अध्याय 31
कृषक आंदोलन (1857-1947) 573
उपनिवेशवाद के अधीन भारतीय कृषि व्यवस्था 573
प्रारंभिक कृषक आंदोलनों का सिंहावलोकन 574
नील आंदोलन (1859-60) 574
पाबना विद्रोह (1873-76) 575
दक्कन विद्रोह 576
1857 के पश्चात किसान आंदोलनों का परिवर्तित चरित्र 577
दुर्बलताएं 577
बीसवीं शताब्दी के कृषक आंदोलन 577
किसान सभा आंदोलन 578
एका आंदोलन 579
मोपला विद्रोह 579
बारदोली सत्याग्रह 580
1930-40 के दशक के किसान आंदोलन 581
अखिल भारतीय किसान कांग्रेस सभा 582
कांग्रेसी सरकारों के अंतर्गत 582
प्रांतों में किसानों की गतिविधियां 582

केरल 582
आंध्र प्रदेश 583
बिहार 583
पंजाब 583
द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 584
द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 584
तेभागा आंदोलन 584
तेलंगाना आंदोलन 585
किसान आंदोलन की उपलब्धियां 586
सारांश 586

अध्याय 32
भारतीय श्रमिक वर्ग आंदोलन 588
श्रमिक वर्ग के उत्थान हेतु प्रारंभिक प्रयास 588
स्वदेशी आंदोलन के दौरान 589
प्रथम विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके उपरांत 589
एटक (AITUC) की स्थापना 590
ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926 591
1920 के पश्चात् 591
मेरठ षड्यंत्र केस (1929) 591
कांग्रेसी सरकारों के समय 592
द्वितीय विश्व युद्ध के समय एवं उसके उपरांत 592
स्वतंत्रता के पश्चात् 592
सारांश 593

इकाई-10
स्वतंत्रता एवं स्वातंत्र्योत्तर विकास 594

अध्याय 33
नवोदित राष्ट्र के समक्ष चुनौतियां 594
स्वतंत्र भारत का प्रथम दिन 594
रेडक्लिफ सीमा निर्णय और सांप्रदायिक दंगे 596
सीमा आयोग के सम्मुख चुनौतियां 597
सांप्रदायिक दंगों से अत्यधिक प्रभावित क्षेत्र 597
संसाधनों के विभाजन और महात्मा गांधी की हत्या से सम्बद्ध चुनौतियां 598
सिविल सरकार का विभाजन 598
सैन्य कर्मियों तथा साजो-सामान का विभाजन 598
महात्मा गांधी की हत्या 599

शरणार्थियों का पुनर्वास एवं बंदोबस्त 599
भारत में शरणार्थियों के पुनर्वास एवं बंदोबस्त केंद्र 600
साम्यवादी (कम्युनिस्ट) और स्वतंत्रता 600
स्वतंत्रता को लेकर साम्यवादी संशयवादी क्यों थे? 600

अध्याय 34
भारतीय रियासतें 602
ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष (1740-1765) 602
मध्य राज्य अथवा घेरे की नीति (1765-1813) 603
अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813-1857) 603
अधीनस्थ संघ की नीति (1857-1935) 604
भारतीय रियासतों के प्रति कर्जन की नीति 605
1905 के पश्चात् 605
एक समान संघ की नीति (1935-1947) 606
रियासतों का एकीकरण और विलय 606
जनमत संग्रह एवं सैन्य कार्यवाही 607
क्रमिक एकीकरण 608

अध्याय 35
भारतीय संविधान का निर्माण 609
संविधान सभा की पृष्ठभूमि 610
संविधान सभा की रचना एवं प्रकृति 611
संविधान निर्माण का मूल्यांकन 613

अध्याय 36
राष्ट्रवादी विदेश नीति का विकास 615
1880 से प्रथम विश्व युद्ध तकः साम्राज्यवाद विरोधी एवं एशिया समर्थक भावनाएं 615
प्रथम विश्व युद्ध 616
1920 एवं 1930 के दशक में—समाजवादियों के साथ समीकरण स्थापित करना 617
1936 के पश्चात्—फासीवाद विरोधी रवैया 617
स्वतंत्रता के उपरांत 618

अध्याय 37
प्रथम आम चुनाव—प्रवृत्तियां एवं चुनौतियां 619
प्रथम भारतीय आम चुनाव 1951-52 619
चुनावों में भाग लेने वाले राजनीतिक दल 619
निर्वाचन क्षेत्र 620

राजनीतिक परिदृश्य 620
प्रत्येक उम्मीदवार हेतु पृथक् मतदान पेटी 620
चुनाव व्यवस्था एवं तैयारी 620
चुनाव का परिणाम 621
बॉक्स
आम चुनाव (1951-52) में सीट प्राप्त करने वाले दल 622

अध्याय 38
नेहरू के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत (1947-64) 623
आर्थिक विकास हेतु नियोजन की अवधारणा 623
नियोजन संबंधी प्रारंभिक प्रयास 624
स्वातंत्र्योत्तर प्रारंभिक प्रयास 624
नियोजन के समाजिक-आर्थिक उद्देश्य 625
पंचवर्षीय योजनाएं 625
राज्यनियंत्रित औद्योगीकरण 626
1948 की औद्योगिक नीति 626
1956 की औद्योगिक नीति 627
पंचवर्षीय योजनाओं के अधीन औद्योगीकरण 627
भूमि एवं कृषि सुधार 628
बिचौलियों का उन्मूलन 630
काश्तकारी सुधार 630
भूमि हदबंदी 631
अन्य उपाय 631
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास 632
शिक्षा में विकास 632
सामाजिक परिवर्तन 633
भाषागत समस्याएं और राज्यों का भाषायी पुनर्गठन 633
राष्ट्रीय भाषा को लेकर विचार-विमर्श 633
राज्यों का भाषायी पुनर्गठन 634
नेहरू के काल में विदेश नीति 636
भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं 638
जवाहरलाल नेहरू काल में गुटनिपेक्षता की नीति (1947-64) 642
भारत के पड़ोसी देशों से संबंध 645
भारत एवं पाकिस्तान 645
भारत और चीन 647
भारत और नेपाल 649
भारत और भूटान 649
भारत और श्रीलंका 649
बॉक्स
गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन 644

अध्याय 39 675
नेहरू के बाद भारत 650
लाल बहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्रित्व काल 650
(जून 1964-जनवरी 1966) 650
प्रारंभिक जीवन 651
स्वतंत्रता पश्चात् राजनीतिक यात्रा 651
आर्थिक विचार 653
अंतरराष्ट्रीय संबंध (विदेश मामले) 656
भारत-पाकिस्तान युद्ध 657
शास्त्रीजी की रहस्यपूर्ण मृत्यु 659
इंदिरा गांधीः प्रथम चरण 660
(जनवरी 1966—मार्च 1977) 660
प्रारंभिक जीवन 660
स्वतंत्रता पश्चात् राजनैतिक जीवन 661
राजनीतिक व्यवस्था में प्रगति 672
सामाजिक-आर्थिक नीतियां 679
आर्थिक समस्याओं से जूझना 682
1971 का भारत-पाक युद्ध और बांग्लादेश का जन्म 686
विदेश नीति और अन्य देशों से संबंध 691
स्माइलिंग बुद्धा 694
जनता पार्टी का शासनकाल 695
(मार्च 1977-जनवरी 1980) 695
मोरारजी देसाई—पहले गैर-कांग्रेसी प्रधानमंत्री 695
राज्य विधानमण्डल चुनाव 695
भारत के नए राष्ट्रपति 696
जनता पार्टी की लोकप्रियता में कमी और कांग्रेस (आई) का उत्थान 696
चरण सिंह प्रधानमंत्री बने जिन्होंने कभी भी संसद का सामना नहीं किया 698
लोकसभा चुनाव और जनता पार्टी शासन का अंत 698
जनता शासन की विरासत 699
सामाजिक परिवर्तन एवं आंदोलन 702
इंदिरा गांधीः दूसरा चरण 702
(जनवरी 1980-अक्टूबर 1984) 702
अर्थव्यवस्था 703
विदेश संबंध 704
राज्यों में असंतोष 705
पंजाब अशांति और ऑपरेशन ब्लू स्टार 706
विरासत 708
राजीव गांधी का प्रधानमंत्रित्व काल 709
(अक्टूबर 1984-दिसंबर 1989) 709

प्रधानमंत्री पद संभालने से ही समस्याओं की शुरुआत 709
1985 के आम चुनाव 711
राज्यों में तनाव से निपटना 711
घरेलू मोर्चे पर उठाए गए सकारात्मक कदम 713
नकारात्मक पहलू 717
किसान असंतोष 720
विदेश संबंध 720
1989 के आम चुनाव 723
वी.पी. सिंह का शासनकाल 724
(दिसंबर 1989-नवम्बर 1990) 724
कश्मीर के बेकाबू हालात 724
मंडल आयोग की रिपोर्ट का क्रियान्वयन 725
मंडल से मंदिरः रथ यात्रा और सरकार का पतन 726
चंद्र शेखर सरकार 727
(नवम्बर 1990 से जून 1991) 727
अशांत अर्थव्यवस्था 727
1991 के चुनाव 728
नरसिम्हा राव का प्रधानमंत्रित्व काल 729
(जून 1991 से मई 1996) 729
आर्थिक सुधार 729
पंचायती राज एवं नगरपालिका अधिनियम 731
सुरक्षा मामलों एवं अंतरिक्ष तकनीक को संभाला 731
विदेश नीति 732
नकारात्मक पहलू 732
कश्मीर 735
1996 के आम चुनाव 735
दलित स्वरों का मुखर होना 736
1996 और 1999 के बीच तीन प्रधानमंत्रियों का शासन 737
प्रधानमंत्री के रूप में वाजपेयी का अल्पकाल 737
राष्ट्रीय मोर्चा सरकारः देवेगौड़ा एवं आई.के. गुजराल 737
आम चुनाव 739
एनडीए सरकार (मार्च 1998-अक्टूबर 1999) 739
पोखरण-IIः ऑपरेशन शक्ति 740
लाहौर सम्मेलन 740
कारगिल युद्ध 741
एनडीएः दूसरा कार्यकाल (अक्टूबर 1999-मई 2004) 742
आर्थिक एवं सामाजिक कदम 742
आतंकवादी मुसीबतें और पाकिस्तान से संबंध 743
अमेरिका से संबंध 743

कश्मीर चुनाव 743
नकारात्मक पहलू 743
एनडीए का महत्व 744
2004 के आम चुनाव 744
यूपीए सरकार (मई 2004-मई 2009; मई 2009-मई 2014) 745
यूपीए सरकारः पहला कार्यकाल 745
2009 के चुनाव और सत्ता में यूपीए की वापसी 749
2014 के आम चुनाव 758
एनडीए सरकार (मई 2014-मई 2019) 759
डिजिटल इंडियाः ई-गवर्नेंस की दिशा में एक कदम 760
महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक नीतियां और कार्यक्रम 761
सुरक्षा 769
विदेश संबंध 772
सामाजिक स्थिति 774
आम चुनाव और एनडीए की वापसी 777
एनडीए की विजय के कारक 778

बॉक्स

ताशकंद घोषणा 659
इंदिरा गांधी और जे.पी.—क्या दोनों ही दोषी थे? 665
शिमला समझौते के महत्वपूर्ण बिंदु 690
अंतरिक्ष में भारतीय अंतरिक्ष यात्री 705

परिशिष्ट 780

1. विशिष्ट आंदोलनों से सम्बद्ध व्यक्तित्व 780
2. भारत के गवर्नर-जनरल तथा वायसरायः उनके शासनकाल की महत्वपूर्ण घटनायें 794
3. भारत में संवैधानिक विकास की प्रक्रिया पर एक नजर 803
4. आधुनिक भारत के प्रसिद्ध अभियोग/केस 806
5. सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन (18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के मध्य तक) 808
6. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन 814
7. जातीय आंदोलन 818
8. कृषक आंदोलन 820
9. ब्रिटिश शासनकाल के प्रमुख कानून 822
10. ब्रिटिश शासनकाल के प्रमुख शिष्टमंडल 823
11. ब्रिटिश काल में विदेशों पर अधिकार 824
12. भारतीय क्रांतिकारी संगठन 825
13. समाचार-पत्र एवं जर्नल्स 826
14. आधुनिक भारत में अकाल आयोग/समितियां 829
15. ब्रिटिश शासनकाल में अर्थव्यवस्था व वित्त संबंधी आयोग एवं समितियां 830

इकाई 1

स्रोत एवं उपागम

- आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत
- आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन के प्रमुख उपागम

अध्याय 1

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत

भारतीय इतिहास लेखन ने भारत में यूरोपियों के आगमन के साथ न केवल उपागम, उपचार और तकनीक में अपितु ऐतिहासिक साहित्य की मात्रा में भी प्रबल परिवर्तन को अनुभव किया। शायद कोई भी अन्य कालावधि या देश 18वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के दौरान ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता पर भारत जैसी गर्वोक्ति नहीं कर सका। आधुनिक भारत के इतिहास के निर्माण में राजकीय अभिलेखों—विभिन्न स्तरों पर सरकारी अभिकरणों के दस्तावेज—को सर्वोच्च प्राथमिकता दिए जाने की आवश्यकता है।

राजकीय अभिलेख

ईस्ट इंडिया कंपनी के अभिलेखों ने 1600-1857 की कालावधि के दौरान व्यापार दशाओं का विस्तृत वर्णन प्रदान किया। यह सत्य है कि ब्रिटेन की वाणिज्यिक कंपनी ने हजारों मील दूर एक बड़े क्षेत्र पर अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता स्थापित की, जिसके लिए एक प्रकार के प्रशासन की आवश्यकता थी, जो पूरी तरह कागजों पर था। प्रत्येक नीति लिखित में होती थी और प्रत्येक व्यवसाय एवं लेन-देन प्रेषण, परामर्श एवं कार्रवाई, गुप्त पत्रों एवं अन्य पत्राचार के माध्यम से होता था, जिसके परिणामस्वरूप

कल्पनातीत मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री में वृद्धि हुई। राजकीय अभिलेख निदेशक मण्डल और बोर्ड ऑफ कंट्रोल से सम्बद्ध अभिलेखों के अतिरिक्त जिले से लेकर सर्वोच्च सत्ता तक प्रशासन के सभी स्तरों को शामिल करते थे। जब ब्रिटिश महारानी (क्राउन) ने प्रशासन (भारतीय) संभाला, तो इसने भी बड़ी मात्रा में विभिन्न तरीकों के राजकीय अभिलेख सुरक्षित रखे। इन अभिलेखों का परीक्षण करके, हम चरणवार प्रत्येक मुख्य घटना एवं विकास को समझ सकते हैं और नीति-निर्माताओं के मनोविज्ञान समेत निर्णयन की प्रक्रिया का अनुगमन कर सकते हैं।

इन अभिलेखों के अतिरिक्त, अन्य यूरोपियन ईस्ट इंडिया कंपनियों (पुर्तगाली, डच एवं फ्रांसिसी) के अभिलेख भी 17वीं और 18वीं शताब्दियों के इतिहास सृजन हेतु उपयोगी हैं। प्राथमिक तौर पर ये आर्थिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, लेकिन राजनीतिक व्यवस्था के बारे में भी इनसे काफी कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

अन्य स्रोत

कई सारे समकालीन और अंशतः समकालीन जैसे वृतांत, जीवन साहित्य एवं यात्रा वृतांत भी हैं जिन्होंने हमें 18वीं एवं 19वीं शताब्दियों के पूर्वार्द्ध के इतिहास की रोचक एवं उपयोगी झलकी प्रदान की है। यद्यपि समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं ने 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी उपस्थिति दर्ज की, तथापि उन्होंने 19वीं और 20वीं शताब्दियों में भारतीय समाज के लगभग सभी पहलुओं पर बेहद मूल्यवान सूचना प्रदान की।

आधुनिक भारत के इतिहास के अन्य स्रोतों में मौखिक प्रमाण, सृजनात्मक साहित्य और पेंटिंग्स शामिल हैं। यद्यपि मौखिक स्रोतों की अपनी सीमा होती है, वे अन्य ऐतिहासिक सामग्री के पुष्टिकरण में तथा घटनाओं, व्यक्तियों एवं ऐतिहासिक घटनाक्रम को समझने में हमारी मदद करते हैं। सृजनात्मक साहित्य, विशेष रूप से स्वदेशी साहित्य के नए रूप जैसे उपन्यास, लघु कहानियां एवं कविताओं जिनका विकास पश्चिम के प्रभाव में हुआ, ने समकालीन सामाजिक वास्तविकताओं का विविध प्रतिबिम्ब प्रदान किया। चित्रकारी में नए पैटर्न, जो औपनिवेशिक काल के दौरान दिखाई दिया, ने उस समय के जीवन को समझने में मदद की। इस प्रकार इन स्रोतों में ऐतिहासिक अभिलेख एवं गैर-अभिलेखबद्ध स्रोत शामिल हैं।

पुरालेखीय सामग्री

इतिहास के अन्य भागों की भांति आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में भी पुरालेखीय सामग्री का महत्वपूर्ण स्थान है। पुरालेखीय सामग्री ऐसे दस्तावेज हैं जिन्हें कोई संगठन, लोक प्राधिकारी, संस्था, व्यवसाय या परिवार, अपने कार्यों के दौरान तैयार करता है और जिन्हें तत्पश्चात्वर्ती ऐतिहासिक अनुसंधान या भविष्य के कार्यों के नियोजन में

संदर्भ के लिए उनके अधिकारों एवं गतिविधियों के प्रमाण के तौर पर सुरक्षित रखा जाता है।

व्यापक तौर पर आधुनिक काल के लिए राजकीय अभिलेखों की चार श्रेणियां हैं—(i) केंद्र सरकार के पुरालेख, (ii) राज्य सरकार के पुरालेख, (iii) मध्यवर्ती एवं अधीनस्थ प्राधिकरणों के अभिलेख, और (iv) न्यायिक अभिलेख। इनके अतिरिक्त निजी अभिलेख एवं विदेशों में उपलब्ध अभिलेखीय स्रोत भी हैं। ब्रिटिश समय के कुछ प्रकाशित अभिलेख भी हैं जो आधुनिक भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए मूल्यवान सूचना प्रदान करते हैं।

केंद्र सरकार के पुरालेख

नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय अभिलेखागार भारत सरकार के अधिकतर पुरालेखों को सहेजता है। यह संग्रह 18वीं शताब्दी के मध्य से वर्तमान समय तक के आधुनिक भारत के सृजन हेतु अभिलेखों की अटूट शृंखला प्रदान करता है। लोक विभाग के अभिलेख 1773 के रेग्यूलेटिंग अधिनियम से संवैधानिक परिवर्तनों, केंद्रीकृत राजव्यवस्था के उदय, और कंपनी के प्रशासनिक व्यवस्था के विकास के अध्ययन हेतु विस्तृत स्रोत सामग्री प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, 1857 के पश्चात् के प्रशासनिक एवं संवैधानिक विकास जैसे लोक सेवाओं का गठन, स्थानीय स्वशासन का प्रारंभ, भारतीयकरण की समस्या और प्रांतों का प्रादेशिक पुनर्गठन इत्यादि बेशकीमती सामग्री भी इस शृंखला में पायी जाती है।

जेम्स रेनल की 1767 में प्रथम सर्वेयर जनरल ऑफ बंगाल के रूप में नियुक्ति के साथ, भारत के अनजान क्षेत्रों एवं इसके सीमा क्षेत्रों का वैज्ञानिक रूप से मानचित्रण शुरू हुआ। भारतीय सर्वेक्षण के अभिलेखों एवं सर्वेयरों के जर्नल्स एवं वृतांतों ने न केवल भौगोलिक अध्ययन के लिए अपितु समकालीन सामाजिक-आर्थिक दशाओं और अन्य महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन के लिए भी मूल्यवान सूचना प्रदान की है।

लोक, न्यायिक एवं विधायी विभागों की कार्यवाहियों ने औपनिवेशिक सरकार की सामाजिक एवं धार्मिक नीतियों के अध्ययन हेतु पर्याप्त प्रमाण प्रदान किए हैं। रिफॉर्म कार्यालय के अभिलेख भारत में 1920-1937 के दौरान संवैधानिक विकास के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए बेहद उपयोगी हैं।

राज्य सरकारों के पुरालेख

राज्य के अभिलेखागारों में अभिलेखों—(i) भूतपूर्व ब्रिटिश भारतीय प्रांतों, (ii) भूतपूर्व राजसी राज्य जिन्हें 1947 के पश्चात् भारतीय संघ में शामिल कर लिया गया, और (iii) ब्रिटिश शासन के अतिरिक्त विदेशी प्रशासन—से सम्बद्ध स्रोत सामग्री मिलती है। इसके अतिरिक्त, उन भारतीय शक्तियों के अभिलेख, जिन्हें ब्रिटिश शक्ति ने हथिया

लिया और उनके क्षेत्र को ब्रिटिश क्षेत्र में मिला लिया, भी आधुनिक भारतीय इतिहास के लिए महत्वपूर्ण स्रोत सामग्री है।

न्यायिक अभिलेख

न्यायिक अभिलेख भारत में न्यायिक प्रशासन के विकास का प्राथमिक प्रमाण प्रदान करते हैं। ये विभिन्न वर्गों के लागों की सामाजिक-आर्थिक दशा संबंधी महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। फोर्ट सेंट जॉर्ज में मेयर के कोर्ट का पुरालेख, 1689 ईस्वी के प्रारंभ पर, सबसे पहले उपलब्ध न्यायिक पुरालेख है। अब यह मद्रास अभिलेख कार्यालय में है। फोर्ट विलियम में मेयर कोर्ट के प्लासी-पूर्व (1757) अभिलेख नष्ट हो गए प्रतीत होते हैं; लेकिन 1753-1773 के वर्षों के अभिलेख 1774-1861के वर्षों के अभिलेख बंगाल के सर्वोच्च न्यायालय सहित कलकत्ता उच्च न्यायालय के अभिलेख कक्ष में रखे गए हैं। इसी प्रकार, 1728 में बॉम्बे में स्थापित मेयर कोर्ट के अभिलेख महाराष्ट्र सचिवालय रिकॉर्ड ऑफिस में उपलब्ध हैं, जहां पर बॉम्बे अभिलेख न्यायालय एवं सुप्रीम कोर्ट के अभिलेख भी रखे गए हैं।

ऐतिहासिक अनुसंधान के दृष्टिगत, तीन प्रेसिडेंसियों के सदर कोर्ट—सदर दीवानी और फौजदारी अदालतें—के न्यायिक अभिलेख बेहद उपयोगी हैं। इनसे संबंधित अभिलेखों को कलकत्ता, मद्रास एवं बॉम्बे उच्च न्यायालयों में सुरक्षित रखा गया है।

प्रकाशित अभिलेख

प्रकाशित अभिलेखीय सामग्री आधुनिक भारत के इतिहास के सृजन हेतु बेहद महत्वपूर्ण सूचना स्रोत हैं। संसदीय पत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण पुरालेखीय प्रकाशन होते हैं जिसमें क्राउन के अंतर्गत ईस्ट इंडिया कंपनी और भारत सरकार के अभिलेखों से विपुल उद्धरण शामिल हैं। 1801-1907 के बीच जारी संसदीय पत्रों की सूची उपलब्ध है।

राष्ट्रीय अभिलेखागार और विभिन्न राज्य अभिलेखागारों द्वारा जारी अभिलेख प्रकाशन आधुनिक भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। भारतीय एवं प्रांतीय विधानमण्डलों की कार्यवाहियां, केंद्रीय एवं प्रांतीय सरकारों द्वारा प्रकाशित गजट और समय-समय पर जारी विधियों एवं विनियमों का संग्रह भी ऐतिहासिक शोध हेतु उपयोगी सामग्री है।

निजी पुरालेख

निजी अभिलेखों में व्यक्तियों एवं परिवारों से सम्बद्ध पत्र एवं दस्तावेज होते हैं जिन्होंने आधुनिक भारत, व्यवसाय एवं औद्योगिक निगमों तथा राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को समर्पित संस्थाओं, समाजों एवं संगठनों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। देश की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन से सम्बद्ध समृद्ध सामग्री विश्वविद्यालयों एवं शैक्षिक संस्थानों के पुरालेखों में उपलब्ध है।

बैंकों, व्यापार घरानों और चैम्बर ऑफ कॉमर्स के अभिलेख आर्थिक परिवर्तनों के अध्ययन में बेहद उपयोगी हैं। राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रसिद्ध एवं प्रमुख नेताओं के पत्र तथा नई दिल्ली स्थित नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एवं लाइब्रेरी में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे संगठनों के अभिलेख भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास के संवर्द्धन में अत्यधिक उपयोगी हैं।

विदेशी संग्रहालयों की पुरालेख सामग्री

विदेशी संग्रहालयों में आधुनिक भारतीय इतिहास से संबंधित बड़ी मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री है। उदाहरणार्थ, यूरोपियन संग्रहालय में भारतीय महत्व की पुरालेखीय एवं पांडुलिपि सामग्री व्यापक एवं विविध है। इंडिया ऑफिस रिकॉर्ड्स (कॉमनवेल्थ रिलेशंस ऑफिस, लंदन) में कई सारे महत्वपूर्ण पुरालेखीय समूह हैं जो हमारे देश में उपलब्ध नहीं हैं।

ब्रिटेन में कई पुरालेखीय एवं पांडुलिपि संग्रहालय, विशेष रूप से लंदन में ब्रिटिश संग्रहालय, में ब्रिटिश वायसराय, राज्य सचिवों एवं अन्य उच्च स्तरीय सिविल एवं सैन्य अधिकारियों के पत्रों का संग्रह है जिन्होंने भारत में कार्य किया और जिनकी उपयोगिता को बमुश्किल ही आकलित किया गया। चर्च मिशनरी सोसायटी ऑफ लंदन जैसी मिशनरी सोसायटी के पुरालेख विशेष महत्व के हैं जिनके पुरालेख देश (भारत) में शैक्षिक एवं सामाजिक विकास के बारे में समृद्ध सूचना लिए हुए हैं।

भारत में फ्रांसीसियों के इतिहास के अध्ययन के लिए, 'अर्काइव्स नेशनल', पेरिस और 'फ्रेंच मिनिस्ट्री ऑफ फॉरेन अफेयर्स, कॉलोनीज एंड वार' के पुरालेख समृद्ध स्रोत हैं और अत्यधिक उपयोगी हैं।

रिकसरचीफ, हेग में उपलब्ध डच ईस्ट इंडिया कंपनी के बड़ी मात्रा में अभिलेख भारत में डचों के वृहद् इतिहास को लिखने के लिए पर्याप्त हैं। इन अभिलेखों को 17वीं एवं 18वीं शताब्दियों के भारत के आर्थिक इतिहास के प्राथमिक स्रोत के तौर पर भी प्रयोग किया जा सकता है।

भारत में 1777 के पश्चात् डच उपनिवेशों से संबंधित दानिश क्राउन और डच ईस्ट इंडिया कंपनी के रिगसरकेविट, कोपेनहेगन में उपलब्ध अभिलेख त्रैकोम्बर और सेरामपुर के बंदोबस्त के बारे में जानकारी का प्राथमिक स्रोत हैं। इसी प्रकार 'नेशनल अर्काइव्स ऑफ पोर्तुगाल', लिस्बन, में भारत में पुर्तगालियों से संबंधित मौलिक पत्रों का संग्रह है।

भारतीयों द्वारा विदेशों में चलाई गई राष्ट्रवादी गतिविधियों के इतिहास के सृजन के लिए, विभिन्न देशों के विदेश मामलों संबंधी कार्यालयों के पुरालेख बेशकीमती हैं। उदाहरणार्थ, यूरोप में भारतीय क्रांतिकारियों के बारे में उपयोगी सूचना या जानकारी जर्मनी फॉरेन ऑफिस के अभिलेख में है और संयुक्त राज्य अमेरिका में भारतीय

क्रांतिकारियों पर जानकारी अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेंट और जस्टिस डिपार्टमेंट के पुरालेखों में उपलब्ध है।

हालांकि, आधुनिक भारतीय इतिहास के 1947 से पूर्व के बेहद महत्वपूर्ण और समृद्ध पुरालेख स्रोत अब पाकिस्तान में अवस्थित हैं। इन अभिलेखों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संग्रह लाहौर के वेस्ट पाकिस्तान रिकॉर्ड ऑफिस में हैं जिसमें, 1894 से पंजाब सरकार के अभिलेखों के अतिरिक्त, 1804-1857 के दिल्ली रेजीडेंसी और विभिन्न राजनीतिक अभिकरणों के अभिलेख शामिल हैं जिन्होंने समामेलन-पूर्व पंजाब में कार्य किया था। पेशावर में स्थित अभिलेख कार्यालय में 1849-1900 में पेशावर के कमिश्नर के अभिलेख और 1901 से उत्तर-पश्चिम सीमा के प्रांतों के अभिलेख उपलब्ध हैं। ये अभिलेख भारतीय उपमहाद्वीप के प्रादेशिक इतिहास के अध्ययन के लिए मूल्यवान हैं और भारत के अफगानिस्तान, ईरान और सीमावर्ती क्षेत्रों की जनजातियों के साथ संबंधों के बारे में भी उपयोगी सूचना प्रदान करते हैं।

जीवनी साहित्य, संस्मरण एवं यात्रा वृत्तांत

जीवनी साहित्य, संस्मरण या यात्रा वृतांत जैसे समकालीन या अर्द्ध-समकालीन दस्तावेज एवं प्रमाण भी उपलब्ध हैं जो हमें 18वीं और 19वीं शताब्दियों के भारत के इतिहास की उपयोगी झलकी प्रदान करते हैं।

व्यक्तिगत अभिलेखों का महत्व

कई यात्री, व्यापारी, मिशनरी एवं सिविल सर्वेंट, जो इन शताब्दियों के दौरान भारत आए, ने देश के विभिन्न हिस्सों पर अपने अनुभवों एवं प्रभावों की छाप छोड़ी। इन वृत्तांतों ने आधुनिक भारतीय इतिहास के अध्ययन हेतु बेहद उपयोगी स्रोत का कार्य किया है। इन लेखकों के समूह में सर्वप्रथम मिशनरीज (ईसाई धर्म प्रचारक) आते हैं जिन्होंने स्थानीय निवासियों में सुसमाचार का प्रचार करने के लिए भारत में अधिकाधिक मिशनरीज भेजने के लिए तथा अपने सम्बद्ध समाजों को प्रोत्साहित करने हेतु लेखन किया। कुछ सिविल सर्वेंट्स ने भी इस सुसमाचार के (ईसाई धर्म का प्रचार) दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व भी किया। उदाहरणार्थ, सर जॉन शोर और चार्ल्स ग्रांट, दोनों ने बंगाल में लम्बी सेवाएं प्रदान कीं, ने ईसाई धर्म प्रचारकों (मिशनरीज) एवं उनकी गतिविधियों का पुरजोर समर्थन किया।

यात्रा वृतांत

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के कुछ कर्मचारियों के यात्रा वृतांत भी बेहद मूल्यवान हैं। जॉर्ज फोस्टर के यात्रा वृत्तांत, जिन्होंने 1783 में बंगाल, लखनऊ, श्रीनगर, नादौन, कश्मीर की यात्रा की और काबुल, कैस्पियन सागर एवं सेंट पीटर्सबर्ग होते हुए इंग्लैंड वापस गए, ने उत्तरी भारत की राजनीतिक दशाओं के बारे में जानकारी प्रदान की।

बेंजामिन हेन के 1814 में प्रकाशित *'सेवरल टूअर्स थ्रू वेरियस पाट्र्स ऑफ द पेनिनसुला'* जर्नल ने उस समय के दौरान प्रायद्वीप के आर्थिक उत्पादों पर बेहतरीन जानकारी प्रदान की। 1831 में प्रकाशित जेम्स बर्न्स की भुज की चिकित्सकीय स्थलाकृति पर टिप्पणी और *'विजिट टू द कोर्ट ऑफ सिंध'* के लेखन ने कच्छ के इतिहास पर जानकारी प्रदान की। एलेक्जेंडर बर्न्स का वृत्तांत, *'ट्रेवल्स इन्टू बोखारा'* जो 1834 में तीन वॉल्यूम में प्रकाशित हुआ, भारत से काबुल की उसकी यात्रा का वर्णन है। इस यात्रा का राजनीतिक उद्देश्य यह पता लगाना था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए सिंधु क्षेत्र किस प्रकार लाभदायक रहेगा। सी.जे.सी. डेविडसन का 1843 में प्रकाशित *डायरी ऑफ द ट्रेवल्स एंड एडवेंचर्स इन अपर इंडिया* भी बेहद उपयोगी कार्य है। जॉन बटलर द्वारा असम प्रांत (1855) में लिखा यात्रा वृतांत *ट्रेवल्स एंड एडवेंचर्स* राज्य की पहाड़ी जनजातियों की प्रथाओं, आदतों एवं समाज का वर्णन है। डब्ल्यू.एच. स्लीमैन की *'जर्नी थ्रू द किंगडम ऑफ अवध'* अवध की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं को प्रतिबिम्बित करती है।

अंग्रेजों के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय देशों के यात्रियों ने भी रोचक वृत्तांत प्रस्तुत किए हैं। इस श्रेणी में विक्टर जेकमोन्ट, कैप्टन लियोपोल्ड वॉन ऑरलिच, बरोन चार्ल्स ह्यूगल, जॉन मार्टिन हॉनिगबर्जर, विलियम मूरक्रॉफ्ट एवं जॉर्ज ट्रेबेक इत्यादि प्रमुख रूप से शामिल हैं।

समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएं

19वीं और 20वीं शताब्दियों के समाचार-पत्र और पत्रिकाओं, अंग्रेजी के साथ-साथ विभिन्न देशी भाषाओं में प्रकाशित, ने आधुनिक भारतीय इतिहास के सृजन हेतु जानकारी के बेहद महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक स्रोत का निर्माण किया। कुछ समाचार-पत्र 1780 के दशक से भी पूर्व प्रकाशित हुए। भारत में समाचार-पत्र प्रकाशित करने का प्रथम प्रयास अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के असंतुष्ट कर्मचारियों द्वारा किया गया जो निजी व्यापार में कुरीतियों को उद्घाटित करना चाहते थे। भारत में जेम्स आगस्टस हिके ने 1780 में *बंगाल गजट* या *कलकत्ता जनरल एडवर्टाइजर* नामक पहला समाचार पत्र प्रकाशित किया। तत्पश्चात् *द कलकत्ता गजट* (1784), *द बंगाल जर्नल* (1785), *द ऑरिएंटल मैग्जीन ऑफ कलकत्ता* या *कलकत्ता अम्यूजमेंट* (1785), *द कलकत्ता क्रॉनिकल* (1786), *द मद्रास कूरिअर* (1788) और *द बाम्बे हेराल्ड* (1789) जैसे कई प्रकाशन प्रकट हुए।

महत्वपूर्ण समाचार-पत्र

प्रेस एक्ट 1835 की नरम नीति, जो 1856 तक जारी रही, ने देश में समाचार-पत्रों के विकास को प्रोत्साहित किया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कई प्रभावशाली

समाचार-पत्र प्रसिद्ध एवं निडर पत्रकारों के नेतृत्व में सामने आए। कुछ महत्वपूर्ण समाचार-पत्र थे—जी. सुब्रमण्यम अय्यर के संपादकत्व में *द हिंदू* और *स्वेदेशमित्रन,* बालगंगाधर तिलक के नेतृत्व में *केसरी* और *महाराट्टा,* सुंदर नाथ बनर्जी के तहत् *बेंगाली,* शिशिर कुमार घोष और मोतीलाल घोष के नेतृत्व में *अमृत बाजार पत्रिका,* गोपाल कृष्ण गोखले के तहत् *सुधारक,* एन.एन. सेन का *इंडियन मिरर,* दादाभाई नौरोजी का *वॉयस ऑफ इंडिया,* जी.पी. वर्मा का *एडवोकेट,* पंजाब में *ट्रिब्यून* एवं *अखबार,* बॉम्बे में *इंदु प्रकाश, ध्यान प्रकाश, कल* एवं *गुजराती,* बंगाल में *सोम प्रकाश बंग निवासी* एवं *सधारनी।* यह रोचक तथ्य है कि 1885 में गठित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लगभग एक-तिहाई संस्थापक पत्रकार थे।

विदेशी प्रकाशन

कुछ समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन विदेशों में भी हुआ। उदाहरणार्थ, श्यामजी कृष्णवर्मा ने लंदन में *इंडियन सोशियोलॉजिस्ट* का प्रकाशन किया। इसी प्रकार, मैडम भीकाजी कामा ने पेरिस से *बंदे मातरम्* और वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय ने बर्लिन से *तलवार* प्रकाशित किया। इस संदर्भ में, 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक के दौरान सैन फ्रांसिस्को से *गदर पत्र* गदर पार्टी के मुखपत्र के तौर पर प्रकाशित किया गया, और वैंकुवर से तारकनाथ दास का *हिंदुस्तान* प्रकाशित हुआ। इन सभी ने विदेशों में क्रांतिकारी एवं राष्ट्रवादी गतिविधियों पर पर्याप्त प्रमाण एवं जानकारी प्रदान की।

समाचार-पत्रों का महत्व

समाचार-पत्र जनमत का निर्माण करते हैं और उनके द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट का लोगों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। समाचार-पत्र विभिन्न घटनाओं पर लोगों की भावनाओं एवं दृष्टिकोण को आकार प्रदान करते हैं। समाचार-पत्र आधुनिक भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत रहे हैं। इसे इस तथ्य से समझा जा सकता है कि 1870 के दशक से इन अखबारों (अंग्रेजी एवं देशी भाषाओं दोनों) ने भारतीय औपनिवेशिक से वर्तमान समय तक जीवन के लगभग सभी पहलुओं को चित्रित किया है। 1920 के दशक से अखबारों ने गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता हेतु राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान प्रमुख घटनाओं को सूक्ष्म तरीके से विश्लेषित एवं शामिल किया।

हालांकि, समाचार-पत्रों को निष्पक्ष तौर पर नहीं देखा गया। इन्हें ऐसे लोगों द्वारा प्रकाशित किया गया जिनके अपने राजनीतिक विचार एवं वैश्विक मत थे।

मौखिक प्रमाण

मौखिक इतिहास अलिखित स्रोतों की मदद से इतिहास के सृजन को संदर्भित करता है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक संस्मरण एक प्रकार का मौखिक स्रोत है। मौखिक स्रोतों से इतिहासकार अपने विषय की सीमाओं का विस्तार कर सकते हैं। हालांकि, कई

इतिहासकार मौखिक इतिहास के प्रति संशक्ति हैं। वे इसे नकारते हैं, चूंकि मौखिक तथ्यों में प्रमाणिकता एवं कालक्रम का अभाव होता है और वे अस्पष्ट हो सकते हैं। इतना होते हुए भी, ये स्रोत महत्वपूर्ण हैं जैसाकि वे इतिहासकारों की अन्य स्रोतों से जुटायी जानकारी की पुष्टि करने में मदद करते हैं।

सृजनात्मक साहित्य

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत के तौर पर सृजनात्मक साहित्य के संदर्भ में, हम स्वयं को पश्चिम के प्रभावाधीन भारत में 19वीं और 20वीं शताब्दियों में विकसित (अंग्रेजी एवं देशी भाषाओं दोनों में) नवीन साहित्यिक रूपों तक सीमित करेंगे। देशी भाषाओं में प्राचीन साहित्य पूरी तरह से पद रूप में है और यह साहित्य 18वीं और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान मौजूद था।

नवीन साहित्यिक केंद्रों का विकास

19वीं शताब्दी में अंग्रेजी साहित्य के प्रभावाधीन, भारतीय काव्य ने अपने नयेपन को पुनः हासिल किया और यह छंद, गीतात्मक एवं चतुष्पद जैसे नवीन रूपों के साथ प्रयोग था। सबसे ऊपर, नवीन सृजनात्मक भावना का बाहुल्य था जिसने काव्य के रूप को बदल डाला। मंच के अभ्युदय ने आधुनिक युग के सृजनात्मक साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। मंच की स्थापना ने शास्त्रीय संस्कृत नाट्य और पश्चिमी मंचन दोनों के प्रभाव में नाटकरूपी साहित्य की अत्यधिक उन्नति को आवेग प्रदान किया। इन सभी साहित्यिक विकास एवं लेखन ने औपनिवेशिक समय के लोगों के जीवन पर प्रचुर जानकारी प्रदान की।

वास्तव में भारतीय रोमांटिक काव्य स्वतंत्रता के भारतीय संघर्ष का मुखरित प्रतिनिधि था। इनमें से कुछ प्रमुख थे—उर्दू के मोहम्मद इकबाल (1876-1938), हिंदी में निराला (1897-1961), बंगाली में काजी नजरूल इस्लाम (1899-1976), मराठी में केशवसुत (1866-1905), मलयालम में जी. शंकर कुरूप (1902)। सुब्रमण्यम भारती (1882-1921), प्रसिद्ध तमिल राष्ट्रवादी कवि, भी इसी काल से संबंधित थे।

स्रोत के रूप में उपन्यास

इंडो-यूरोपियन संपर्क का महत्वपूर्ण परिणाम उपन्यास था जो 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उदित हुआ। उस समय के प्रथम महत्वपूर्ण लेखक बंकिम चंद्र चटर्जी (1838-94), प्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार, थे। उनके उपन्यास अधिकतर ऐतिहासिक हैं और इनमें से *आनंद मठ* (1882) बेहद लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध हुआ, विशेष रूप से इसके प्रभावशाली राष्ट्रीय गीत *वंदेमातरम्* के लिए। इच्छाराम सूर्यराम देसाई (1853-1912) मध्यकालीन गुजराती साहित्यिक इतिहास के बेहतरीन विद्वान थे। उनका प्रथम उपन्यास *हिंद आने ब्रिटानिका* राजनीतिक अधिस्वर वाले शुरुआती उपन्यासों में से एक था।

गिरिजा देवी और रामतीरथ थम्माल, जिन्होंने क्रमशः *मोहनरा रजनी* (1931) और *दसिकलिन मोसा बलई* (1936) उपन्यास लिखे, ने भी उपन्यास को सामाजिक अनुभव का एक प्रभावी माध्यम बनाया।

यह प्रेमचंद (1880-1936) थे, एक उपन्यासकार एवं उर्दू-हिंदी के लघु कहानीकार, जिन्होंने कल्पित साहित्यिक संसार में भारत को एक अलग स्थान दिलाया। उन्होंने उपन्यास का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के रूप में किया और उनके उपन्यासों ने भारतीय ग्रामीण समाज के आयामों की समझ और गहरी सामाजिक चिंताओं को प्रतिबिम्बित किया। उनके लेखन में *रंगभूमि* (1924), *गोदान* (1936), *सेवासदन* (1919), *प्रेमाश्रम* (1924) जैसे प्रमुख उपन्यास एवं *कफन, पूस की रात, शतरंज के खिलाड़ी* इत्यादि लघु कहानियां शामिल हैं। ग्रामीण जीवन को उद्घाटित करने की उपन्यास की परम्परा को फणीश्वर नाथ रेणु (1921-1973), के हिंदी उपन्यास *'मैला आंचल'* ने आगे बढ़ाया। इस दिशा में बिभूति भूषण बंधोपाध्याय (1899-1954) ने *पाथेर पांचाली* (1929), ओडिया में मोहंती का *प्रजा,* गुजराती में पन्नालाल पटेल का *मेकलजीत,* मराठी में भालचन्द्र नमाडे का *कोसला* प्रमुख हैं। मुल्कराज आनंद एवं राजा राव जैसे एंग्लो-इंडियन लेखकों के उपन्यास क्रमशः *अनटचेबल* (1935) और *कंथापुरा* (1938) ने सामाजिक एवं राजनीतिक कोलाहल एवं संक्रमण को दर्शाया है। आर.के. नारायण की *स्वामी एंड फ्रैंड्स* (1935) भारत के अद्भुत लघु रूप को प्रस्तुत करती है।

लघु कहानी

लघु कहानी लेखन के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर एक प्रसिद्ध लेखक के रूप में उदित हुए। उनकी कहानियां जिसमें *पोस्ट मास्टर* (1891), *काबुलीवाला* (1892) इत्यादि शामिल हैं, ग्रामीण भारत के प्रामाणिक अनुभव के रूप में सामने आयीं। प्रेमचंद की वास्तविक कहानियों ने समाज एवं लोगों के व्यवहार का दर्पण प्रस्तुत किया। ऐसे कई अन्य लघु कहानी लेखक हुए जिन्होंने औपनिवेशिक भारत की समकालीन सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बत किया।

चित्रकला

औपनिवेशिक काल के दौरान सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के बारे में जानकारी उस समय की चित्रकारी से प्राप्त की जा सकती है। इन्हें आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

स्रोत के रूप में चित्रकला

ऐसा ही एक चित्रकला विद्यालय था 'कंपनी चित्रकला'। 'कंपनी पेंटिंग्स' शब्द का प्रयोग गैर-इतिहासकारों द्वारा यूरोपियों के लिए निर्मित एक विशेष प्रकार की भारतीय

चित्रकारी के लिए प्रयोग किया गया जो बड़े पैमाने पर यूरोपियों की इच्छा एवं पसंद से प्रभावित थी।

कंपनी चित्रकला का विकास

यह ऐसा समय था जब चित्रकारों के संरक्षण के अभाव के चलते मुगल और राजपूत लघु चित्र कला का पतन हो गया। भारतीय कलाकारों को रेलवे प्रोजेक्ट, और प्राकृतिक इतिहास सर्वेक्षण के ब्लूप्रिंट का खाका तैयार करने के लिए अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भर्ती किया गया या इन्होंने ब्रिटिश नागरिकों के लिए स्वतंत्र रूप से काम किया जो वापसी पर (इंग्लैंड) एक निशानी ले जाना चाहते थे।

1760 के आस-पास, मुर्शिदाबाद से कई चित्रकार पटना आ गए। 18वीं शताब्दी के अंत तक, पटना 11 कला केंद्रों का मुख्यालय बनाया गया जिसमें से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल को विभाजित कर लिया। कंपनी स्कूल की चित्रकारी शैली पटना स्कूल के तौर पर भी जानी जाती है।

अन्य प्रभावशाली चित्रकारी केंद्र वाराणसी, एक प्रमुख हिंदू तीर्थ स्थल, एवं मद्रास, जहां 1798 से 1804 लॉर्ड क्लाइव रहे, थे।

ब्रिटिश बाजार में अनाज, फल एवं सब्जियां बेचने जैसे दैनंदिन जीवन के चित्रों को सहेजना चाहते थे। चित्रकारी दिखाती हैं कि 1850 के बाजार आज के भारत में खाद्य बाजारों के समान थे। धर्म, जाति एवं व्यवसाय भी बेहद लोकप्रिय विषय थे, विशेष रूप से दक्षिण भारत में। कंपनी स्कूल के चित्रकारों ने गहरे भारतीय अपारदर्शी रंगों की जगह पानी वाले हल्के रंगों का प्रयोग करना शुरू किया। भारतीय लघु चित्र कला में परम्परागत रूप से प्रयुक्त चमकीले रंगों की जगह हल्के नीले, हरे, एवं भूरे रंगों का प्रयोग होने लगा।

कंपनी चित्रकारी को भारत के लोगों के अभ्युदय के ऐतिहासिक दस्तावेजीकरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

1857 के विद्रोह पर चित्रकारी

पेंटिंग्स, पेंसिल ड्राइंग, पोस्टर्स, कार्टून्स एवं बाजार प्रिंट के रूप में भारतीयों एवं ब्रिटिश या अंग्रेजों द्वारा 1857 के विद्रोह की चित्रित तस्वीरें एक महत्वपूर्ण अभिलेख है। विद्रोह की पेंटिंग्स इस प्रमुख घटना पर अंग्रेजों एवं भारतीयों के विश्वमत को समझने एवं व्याख्या करने में इतिहासकारों के लिए महत्वपूर्ण हैं।

कालीघाट चित्रकला

कालीघाट चित्रकला, जो उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता में विकसित हुई, ने न केवल पौराणिक चरित्रों एवं आकृतियों को उकेरा अपितु अपने दैनंदिन जीवन में संलग्न आम लोगों को भी दर्शाया। साधारण जन के जीवन की तस्वीरों ने तत्कालीन कलकत्ता में

सामाजिक जीवन के परिवर्तनों को चित्रित किया। इन चित्रकलाओं ने तत्कालीन सामाजिक बुराइयों पर भी टिप्पणी की।

कला स्कूल

1857 के थोड़े समय पश्चात्, बॉम्बे, कलकत्ता और मद्रास में कला स्कूल खोले गए। इनमें शिक्षण पद्धति एवं पाठ्यक्रम ब्रिटिश रॉयल एकेडमी पर आधारित था। भारतीय विद्यार्थियों ने ऑयल रंगों को कैनवास पर वाटर कलर को पेपर पर प्रयोग करने जैसी नवीन कला सामग्री को समझा। भारत में अंग्रेजी-शिक्षित शहरी मध्य वर्ग की विचारधारा एवं दृष्टिकोण में गहरा बदलाव आया। अंग्रेजी साम्राज्य के नकारात्मक परिणामों के प्रति जागरूकता में वृद्धि हुई।

कला पर राष्ट्रवाद का प्रभाव

19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में सृजित नए प्रकार की भारतीय कला की प्रारम्भिक प्रेरणा राष्ट्रवादी एवं देशभक्ति थी। इस नवीन कला आंदोलन ने अपना शुरुआती अभिप्रेरण उदीयमान राष्ट्रवाद से ग्रहण किया। नंदलाल बोस एवं राजा रवि वर्मा जैसे कलाकार इस नवीन कला रूप के प्रतिनिधि थे। अबनीन्द्रनाथ टैगोर, ई.बी. हॉबेल एवं आनंद केन्टिश कुमारास्वामी के नेतृत्व में बंगाल स्कूल के अभ्युदय ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि इस नवीन कला रूप की चित्रकारी ने शुरुआती रूप में भारतीय प्रणाली विज्ञान एवं सांस्कृतिक विरासत की विषय-वस्तु पर ध्यान केन्द्रित किया। ये भारत में आधुनिक कला आंदोलन के अध्ययन एवं कला इतिहासकारों के लिए महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

सारांश

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत

पुरालेखीय सामग्रीः (i) पुरालेख, लोक एवं निजी, आधुनिक भारतीय इतिहास के अध्ययन हेतु अत्यधिक मूल्यवान स्रोत सामग्री का निर्माण करते हैं।

(ii) भारत सरकार के पुरालेख, अधिकतर 'नेशनल अर्काइव्स ऑफ इंडिया', नई दिल्ली में सुरक्षित हैं, 18वीं शताब्दी के मध्य से वर्तमान समय तक के राजकीय अभिलेखों को प्रदान करते हैं।

(iii) तीन प्रेसिडेंसियों—बंगाल, मद्रास और बॉम्बे—के पुरालेख विशेष रूप से बेहद उपयोगी हैं।

(iv) न्यायिक अभिलेख अत्यधिक मूल्यवान होते हैं जैसाकि ये न्यायिक न्यायालयों के पुरालेखों का संग्रह करते हैं जिसने भारत में न्यायिक प्रशासन के विकास के अध्ययन हेतु प्राथमिक स्रोत के तौर पर सेवा प्रदान की।

(v) निजी पुरालेखों में व्यक्तियों एवं परिवारों के पत्र एवं दस्तावेज होते हैं जिन्होंने आधुनिक भारत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(vi) विदेशी संग्रहालयों के पुरालेखीय सामग्री ने आधुनिक भारत के इतिहास के सृजन हेतु उपयोगी, विविध एवं व्यापक अभिलेख मुहैया कराए हैं।

(vii) 1947 के पूर्व से सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण पुरालेख, लाहौर के रिकॉर्ड ऑफिस, पाकिस्तान में उपलब्ध हैं।

जीवनी साहित्य एवं संस्मरणः ● 18वीं एवं 19वीं शताब्दियों के दौरान यात्रियों, व्यापारियों, मिशनरियों एवं लोक सेवकों के वृत्तांतों ने समकालीन अवधि पर रोचक अंतर्दृष्टि एवं उपयोगी सूचना प्रदान की है।

समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएंः (i) 1780 के दशक से औपनिवेशिक समयावधि के दौरान अवतरित समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं ने तत्कालीन समाज के सभी पहलूओं पर व्यापक जानकारी प्रदान की।

(ii) *इंडियन सोशियोलॉजिस्ट* (लंदन), बंदे मातरम् (पेरिस), *तलवार* (बर्लिन) एवं *गदर* (सेनफ्रांसिस्को) जैसे कुछ पत्र विदेशों से प्रकाशित हुए।

मौखिक प्रमाणः ● मौखिक प्रमाणों एवं आंकड़ों ने इतिहासकारों एवं लेखकों को उनके विषय की सीमाओं को व्यापक करने में मदद की है यद्यपि इन मौखिक स्रोतों में प्रमाणिकता का अभाव प्रतीत होता है और इनका कालक्रम अस्पष्ट है।

सृजनात्मक साहित्यः (i) साहित्य के नए रूप, जो पश्चिमी साहित्य के प्रभावाधीन औपनिवेशिक काल के दौरान उदित हुआ, ने तत्कालीन समय का सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य प्रतिबिम्बित किया।

(ii) लघु कहानियों के विभिन्न लेखकों ने औपनिवेशिक काल के विभिन्न पहलुओं को प्रकट किया।

चित्रकलाः (i) औपनिवेशिक काल के दौरान *कंपनी स्कूल ऑफ पेंटिंग्स* चित्रकला का महत्वपूर्ण संस्थान था जिसने समकालीन समय के दृश्य चित्रों को प्रदान किया।

(ii) 1857 के महान विद्रोह की कुछ यूरोपियन चित्रकारी भी बेहद महत्वपूर्ण है।

(iii) 1857 के पश्चात् चित्रकला के क्षेत्र में कई नवीन विकास हुए और भारतीय कला में नवीन प्रवृत्ति का विकास 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में हुआ जो विशेषताओं में राष्ट्रवादी एवं देशभक्ति था।

(iv) अबनीन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में *बंगाल स्कूल आफ पेंटिंग्स* ने भारतीय पौराणिक कथा एवं सांस्कृतिक विरासत जैसे विषय पर ध्यान दिया।

अध्याय 2

आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन के प्रमुख उपागम

इतिहास-लेखन (हिस्टोरियोग्राफी) इतिहास का ऐतिहासिक लेखन या ऐतिहासिक व्याख्या है। इतिहास एक ऐसी जानकारी नहीं है जिसे अपरिवर्तित रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सौंपा जाए। ऐतिहासिक परिस्थितियों की व्याख्या की जानी चाहिए और स्पष्टीकरण प्रमाणों के विश्लेषण पर आधारित होने चाहिए, तर्क-वितर्क से उपजे सामान्यीकरण प्रदान किए जाने चाहिए। नवीन प्रमाणों के साथ या मौजूदा प्रमाणों की नवीन व्याख्या या स्पष्टीकरण सहित अतीत की एक नई समझ प्राप्त की जा सकती है। इसका अनुसरण करने के लिए, उन तरीकों एवं शैलियों के प्रति संवेदनशीलता की आवश्यकता है जिसमें उस समय के लोग जीवन-यापन करते थे और अपने अतीत के बारे में सोचते थे। इतिहास-लेखन के उपागम ज्ञान के रूप में इतिहास को समझने की भूमिका बन जाते हैं।

व्यापक रूप से इतिहास के चार संप्रदाय (स्कूल) हैं—(i) औपनिवेशिक, (ii) राष्ट्रवादी, (iii) मार्क्सवादी, एवं (iv) अधीनस्थ/उपाश्रित। हालांकि इतिहास-लेखन के दो अन्य संप्रदाय—संप्रदायवादी एवं कैम्ब्रिज-भी हैं।

औपनिवेशिक उपागम

औपनिवेशिक उपागम या इतिहास लेखन दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। एक औपनिवेशिक देशों के इतिहास से संबंधित है, जबकि दूसरा ऐसे कार्य की ओर इशारा करता है जो प्रभुत्व की औपनिवेशिक विचारधारा से प्रभावित था। आज अधिकतर इतिहासकारों ने औपनिवेशिक उपागम के दृष्टिगत लिखा है। वास्तव में औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा औपनिवेशिक देशों के बारे में लेखन कार्य प्रभुत्व की इच्छा एवं औपनिवेशिक शासन के औचित्य से सम्बद्ध था। साथ-ही-साथ, पश्चिमी संस्कृति एवं मूल्यों की प्रशंसा तथा व्यक्तियों का महिमामंडन किया गया जिन्होंने औपनिवेशिक साम्राज्य को स्थापित किया।

जेम्स मिल, माउंटस्टुअर्ट एल्फिंस्टन, विन्सेंट स्मिथ एवं अन्यों द्वारा लिखा गया भारत का इतिहास औपनिवेशिक उपागम का उचित उदाहरण है। इस प्रकार के वर्णन में भारत को अवरुद्ध समाज, पिछड़ी सभ्यता एवं सांस्कृतिक रूप से निकृष्ट दिखाया गया है जबकि ब्रिटेन को उत्कृष्ट सभ्यता एवं उन्नत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी वाले देश के रूप में महिमामंडित किया गया है। हालांकि, सभी ब्रिटिश ऐतिहासिक लेखन को एकसमान रूप से औपनिवेशिक मानना सही नहीं है, क्योंकि 19वीं और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान औपनिवेशिक संप्रदाय के तहत् विभिन्न उपागम एवं व्याख्यात्मक फ्रेमवर्क विकसित हुए।

सारगर्भित रूप में, औपनिवेशिक उपागम सांस्कृतिक आधिपत्य स्थापित करने और भारत पर ब्रिटिश शासन के वैधीकरण के रूप में इतिहास को औचित्य प्रदान करने हेतु विचारधारात्मक प्रयास का एक भाग था।

राष्ट्रवादी उपागम

राष्ट्रवादी उपागम का विकास औपनिवेशिक उपागम से सामना करने और प्रत्युत्तर देने के रूप में हुआ। यह भारतीय लोगों और उनके ऐतिहासिक अभिलेख की औपनिवेशिक झूठी निंदा के सम्मुख राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के निर्माण का एक प्रयास था। इस उपागम के इतिहासकारों ने मौजूदा ऐतिहासिक स्रोतों के विश्लेषण के आधार पर औपनिवेशिक ऐतिहासिक विवरणों की असत्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया। भारतीय इतिहास के राष्ट्रवादी उपागम को ऐसे उपागम के रूप में विवेचित किया जा सकता है जिसने राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ाने में योगदान किया और धार्मिक, जाति, भाषायी या वर्ग भेदभाव के सम्मुख लोगों को एकजुट किया।

राष्ट्रवादी उपागम मुख्य रूप से भारतीय इतिहास के प्राचीन एवं मध्य कालीन युग के बारे में वर्णन करता है। यह आधुनिक काल में मौजूद नहीं था और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अस्तित्व में आया। 1947 से पूर्व आधुनिक भारत के राष्ट्रवादी इतिहासकारों का कोई संप्रदाय (स्कूल) मौजूदा नहीं था।

दादा भाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे, जी.वी. जोशी, आर.सी. दत्त, के.टी. तेलंग, जी. के. गोखले, एवं डी.ई. वाचा जैसे गैर-अकादमिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा 19वीं शताब्दी के अंत में उपनिवेशवाद की विस्तृत एवं वैज्ञानिक आलोचना विकसित की गई। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, के.टी. शाह, वी.सी. काले, सी.एम. वकील, डी.आर. गाडगिल, ज्ञान चंद, वी.के.आर.वी.राव, वाडिया एवं मर्चेंट जैसे कई अकादमिक अर्थशास्त्रियों ने उनके पदाचिन्हों का अनुसरण किया।

राष्ट्रवादी उपागम ने सामाजिक सुधार आंदोलनों को उचित स्थान दिया, लेकिन उनका इस ओर आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रहा, और उन्होंने अकसर निम्न जाति

और जनजातियों द्वारा चलाए गए मुक्ति आंदोलनों की उपेक्षा की। उन्होंने ऐतिहासिक विकास में भारत की उत्कृटता को सिद्ध करने के प्रयास में भारतीय सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक मूल्यांकन की उपेक्षा कर दी। कुल मिलाकर, इस उपागम ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की उपेक्षा की।

मार्क्सवादी उपागम

मार्क्सवाद ने उल्लेखनीय रूप से भारतीय इतिहास-लेखन की अधिकांश प्रवृत्ति को किसी न किसी तरीके से प्रभावित किया। भारतीय इतिहास के सभी क्षेत्रों में, चाहे इसे काल या विषय द्वारा विभाजित करें, मार्क्सवादी इतिहासकारों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। विभिन्न क्षेत्रों में, उनके कार्यों ने इतिहास लेखन के मार्ग या दिशा को परिवर्तित किया। औपनिवेशिक/साम्राज्यवादी संप्रदाय (स्कूल) की तरह, मार्क्सवादी इतिहासकारों ने औपनिवेशिक स्वामियों एवं अधीन लोगों के हितों के बीच प्रारंभिक संघर्ष एवं विरोध को स्पष्ट रूप से देखा। राष्ट्रवादियों के समान, वे भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच अंतर्विरोधों के प्रति भी पूरी तरह सजग थे। हालांकि, उनमें से कुछ, विशेष रूप से रजनी पाम दत्त, प्रारंभिक साम्राज्यवादी विरोधी संघर्षों और द्वितीय अंतर्विरोधों के उपचार को समन्वित करने में पूरी तरह असफल रहे और औपनिवेशिक विरोधी संघर्ष को वर्ग या सामाजिक संघर्ष से संतुलित करने का प्रयास किया। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आंदोलन को भी संरचित बुर्जुआ आंदोलन के रूप में देखने का प्रयास किया, और इसके मुक्त एवं सर्ववर्गीय रूप की उपेक्षा की।

अधीनस्थ/उपाश्रित उपागम

अधीनस्थ या उपाश्रित अध्ययन शीर्षक ऐसे विवरणों की शृंखला है जिसे शुरू में रंजीत गुहा के संपादकत्व में प्रकाशित किया गया। अधीनस्थ उपागम संप्रदाय की शुरुआत मौजूदा इतिहास लेखन के आलोचक के रूप में 1980 के दशक में हुई। इसने अपने प्रवर्तकों के माध्यम से अन्य ऐतिहासिक उपागमों पर लोगों की आवाज की उपेक्षा करने का आरोप लगाया। शुरू से ही, अधीनस्थ उपागम ने बताया कि भारतीय इतिहास लेखन की समस्त परम्परा का झुकाव अभिजात्य वर्ग की तरफ है, अतः यह पक्षपाती है। अधीनस्थ/उपाश्रित इतिहासकारों के दृष्टिकोण से, औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज में मूलभूत विरोध एवं संघर्ष एक तरफ कुलीन, भारतीय एवं विदेशी दोनों, और दूसरी तरफ उपाश्रितों के बीच था, न कि उपनिवेशवाद और भारतीय लोगों के बीच। वे विश्वस्त हैं कि, भारतीय लोग कभी भी एक साझा साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में एकजुट नहीं हुए थे। इसके बावजूद, वे मानते हैं कि दो भिन्न आंदोलन या धाराएं थीं—एक उपाश्रितों की वास्तविक साम्राज्यवाद-विरोधी धारा और, दूसरी कुलीन की

झूठी राष्ट्रीय आंदोलन धारा। कुलीन धारा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पदाधिकारियों के नेतृत्व में, कुलीनों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष हेतु झुंड से थोड़ा अधिक थी।

हालांकि, अधीनस्थ/उपाश्रित संप्रदाय (स्कूल), जिसने शुरू में आम लोगों के दृष्टिगत इतिहास लिखने की वचनबद्धता दिखाई थी, लोगों की स्वयं की सचेतता पर आधारित थी, नवीन स्रोतों की खोज नहीं कर पाया जो लोकप्रिय अवधारणाओं को अधिकाधिक प्रतिबिम्बित कर सके। इसका नवीन लेखन निरंतर उसी पुराने 'कुलीन' स्रोतों पर आधारित था।

संप्रदायवादी उपागम

राष्ट्रवादी इतिहासकारों की भांति, संप्रदायवादी इतिहासकारों ने मध्यकालीन भारत और औपनिवेशिक काल की पाठ्यपुस्तकों के औपनिवेशिक इतिहास लेखन तक स्वयं को पूरी तरह सीमित किया। भारतीय संप्रदायवादी इतिहासकारों द्वारा निर्मित सामान्यीकरण को ब्रिटिश इतिहासकारों और प्रशासकों के लेखन में ढूंढा जा सकता है।

संप्रदायवादी मतानुसार, भारत का मध्यकालीन इतिहास हिंदू-मुस्लिम मतभेद एवं संघर्ष की एक लम्बी कहानी थी। हिंदू और मुस्लिम स्थाई रूप से शत्रुता शिविरों में विभाजित थे जिनके आपसी संबंध कड़वे, शत्रुतापूर्ण, विरोधात्मक एवं अविश्वासी थे। ये विचार न केवल इतिहासकारों के लेखन में प्रतिबिम्बित हुआ अपितु सांप्रदायिक राजनीतिक नेताओं के हाथ में यह अधिक उग्र एवं विषाक्त रूप में सामने आया।

दूसरे, यह विचार कि, मध्यकालीन भारत में मुसलमानों ने शासक वर्ग का निर्माण किया और हिंदुओं पर शासन किया तथा हिंदू शासित, अधीन एवं पराधीन थे, प्रचारित किया गया।

कैम्ब्रिज स्कूल उपागम

कैम्ब्रिज संप्रदाय (स्कूल) उपागम का मत है कि औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय समाज मूलतः क्षैतिज एवं लम्बवत् भागों द्वारा चरितार्थ हुआ और भारतीय राजनीति का स्थानीय एवं क्षेत्रीय सरदारों के बीच गुटीय शत्रुता एवं प्रतिस्पर्द्धा द्वारा सीमांकन हुआ। इस प्रकार, उनके मतानुसार, औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत मूलभूत विरोध साम्राज्यवाद और भारतीय लोगों के बीच नहीं था, अपितु भारतीयों के बीच था। इसके अतिरिक्त, कैम्ब्रिज स्कूल इतिहासकार कहते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोगों का औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष का उत्पाद नहीं था, अपितु ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रदत्त लाभों को प्राप्त करने के लिए भारतीयों के बीच था। राष्ट्रीय आंदोलन के नेता महान विचारों से प्रेरित नहीं थे, अपितु उसके पश्चात् मिलने वाले भौतिक लाभों एवं शक्ति से प्रेरित थे। इस उपागम की कई इतिहासकारों एवं

शोधार्थियों तथा विद्वानों द्वारा इस आधार पर आलोचना की गई है कि यह तथ्यों को मानव व्यवहार से हटाकर देखता है और राष्ट्रवाद को पाश्विक राजनीति के स्तर पर ले जाता है।

उदारवादी एवं नव-उदारवादी व्याख्या

साम्राज्यवाद/उपनिवेशवाद का पूनर्मूल्यांकन 1980 के दशक से प्रारंभ हुआ। कैन एवं हॉपकिन्स (1993), पैट्रिक ओ ब्राइन (1988) तथा डेविस एवं हट्टनबैक (1986) ने उपनिवेशवाद के चरित्र को लेकर मार्क्सवादी एवं वाम-उदारवादी प्रबुद्ध वर्ग के कुछ निष्ठापूर्ण विचारों एवं दृष्टिकोण पर प्रश्न उठाना शुरू किया। इस उपागम के प्रस्तावक तर्क देते हैं कि उपनिवेशों का आर्थिक शोषण पूरी तरह से ब्रिटिश लोगों के लिए फायदेमंद नहीं था। औपनिवेशिक क्षेत्रों में ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुओं के लिए बाजारों की उपलब्धता और बाहरी देशों या बाजारों में पूंजी निवेश (भारत में रेल परिवहन की व्यवस्था करना) ब्रिटेन में घरेलू निवेश को हतोत्साहित और नवीन औद्योगिक विकास को प्रभावित कर सकता था।

नारीवादी उपागम

इतिहास-लेखन में लगभग सभी मुख्य प्रवृत्तियां—औपनिवेशिक से लेकर अधीनस्थ/उपाश्रित उपागम—इतिहास में महिलाओं की वास्तविक स्थिति, भूमिका, दर्जा, एवं योगदान को स्पष्ट करने में असफल रहीं। इतिहास में महिलाओं के योगदान को लेकर लेखन 1970 के महिला आंदोलन से माना जा सकता है जिसने भारत में महिलाओं के अध्ययन के अभ्युदय हेतु संदर्भ एवं आवेग प्रदान किया। तनिका सरकार ने बताया कि स्थापित एवं स्व-चेतन परम्परा के तौर पर महिला इतिहास की शुरुआत 1970 के दशक से शुरू हुई क्योंकि कई नारीवादी बुद्धिजीवियों ने बलात्कार, दहेज एवं घरेलू हिंसा के विरुद्ध शक्तिशाली एवं उग्र आंदोलनों में स्वयं को संलग्न किया। महिलाओं के प्रति लेखन बी. आर. नंदा द्वारा संपादित *'इंडियन वूमेनः फ्रॉम पर्दा टू मॉडरनिटी'* जैसे कार्य के साथ शुरू हुआ। महिलाओं की अत्यंत दयनीय स्थिति को पंडिता रमाबाई द्वारा लिखित *'द हाई कास्ट हिंदू वूमेन'* (1887), और कैथरीन मेयो द्वारा लिखित *मदर इंडिया* (1927), में दर्शाया गया है। भारतीय सभ्यता में महिलाओं की स्थिति और दर्जे से सम्बद्ध अन्य लेखकों में बी.सी. लॉ (वूमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, 1927), आई.बी. हॉर्नर (वूमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिस्म, 1930), और ए.एस. अल्टेकर (द पॉजीशन ऑफ वूमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन फ्रॉम द प्रिहिस्टोरिक टाइम्स टू द प्रजेन्ट, 1938) प्रमुख हैं।

प्रमुख विचार

''दिन-ब-दिन सैकड़ों हाजिर जवाब बाबू उनके अंग्रेज अत्याचारियों के खिलाफ अपने क्रोध/रोष को बेहद तीक्ष्ण एवं प्रभावी समालोचना के तहत् सामने रख रहे हैं। इस प्रकार इसमें कोई शंका नहीं है कि इन अखबारों को पढ़ने वालों के मस्तिष्क में गंभीर विश्वास उपजेगा कि हम सभी समस्त मानवजाति के शत्रु हैं और विशेष रूप में भारत के।''

लॉर्ड डफरिन (1886 में समाचार-पत्र में छपी सामग्री पर)

''हाल के वर्षों में भारत के इतिहास का सृजन बेहद तीव्र हो गया है तथा इसकी कुछ व्याख्या का आह्वान किया जा सकता है। इसके दोतरफा कारण हैंः भारतीय परिदृश्य में होते परिवर्तनों को तथ्यों की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है और भारतीय इतिहास के जरूरी तत्वों के बारे में इतिहासकारों के दृष्टिकोण में होते परिवर्तन हैं।''

पर्सीवल स्पीयर

''कुछ इतिहासकारों ने विलम्ब से शुरू नवीन प्रवृत्ति, जिसे इसके प्रस्तावकों द्वारा उपाश्रित उपागम के रूप में विवेचित किया गया, जिसने सभी पूर्व के ऐतिहासिक लेखन, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित समेत, को नकार दिया, और इस पुरातन, 'दिशाहीन' इतिहास-लेखन को उपाश्रित उपागम से प्रतिस्थापित करने का दावा किया।''

बिपिन चन्द्रा

सारांश

आधुनिक भारत के अध्ययन हेतु इतिहास के प्रमुख उपागम

जेम्स मिल, एल्फिन्स्टन, वी.ए. स्मिथ एवं अन्य जैसे इतिहासकारों एवं लेखकों द्वारा प्रस्तुत *औपनिवेशिक उपागम* ने भारत को अवरुद्ध एवं पिछड़े समाज एवं सभ्यता के तौर पर चित्रित किया और जबकि अपने देश ब्रिटेन को गौरवशाली रूप में प्रस्तुत किया। इस उपागम ने भारत का ब्रिटिश द्वारा औपनिवेशकरण को न्यायोचित ठहराया।

राष्ट्रवादी उपागम ने औपनिवेशिक उपागम के दावे को नकार दिया और ब्रिटिश शासन द्वारा भारत के शोषण को प्रस्तुत किया।

मार्क्सवादी उपागम ने भारत में इतिहास लेखन की कला को प्रभावित किया। मार्क्सवादी उपागम ने औपनिवेशिक और साथ ही साथ राष्ट्रवादी उपागम की मूलभूत कमजोरियों को सामने रखा।

संप्रदायवादी उपागम ने, जो मध्यकालीन भारत के औपनिवेशिक इतिहास लेखन पर आधारित था, हिंदू और मुस्लिम को दो भिन्न समूहों के रूप में देखा जो स्थायी रूप से शत्रु शिविरों में विभाजित थे।

कैम्ब्रिज उपागम ने भारतीयों के बीच अंतर्विरोधों को देखा न कि साम्राज्यवाद और भारतीय लोगों के बीच।

उपाश्रित उपागम ने लोगों की आवाज की उपेक्षा करने का आरोप मौजूदा सभी उपागमों पर लगाया। यद्यपि उसने लोगों की स्व-चेतना पर आधारित नवीन इतिहास लिखे जाने का दावा किया, तथापि यह अपने कार्य में सफल नहीं हो पाया।

उदारवादी और नव-उदारवादी उपागम की शुरुआत 1980 के दशक में इंग्लैंड में हुई। इस उपागम के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन उतना दमनात्मक या शोषणकारी नहीं था जितना वाम-राष्ट्रवादी उन्मुख उपागम ने इसे प्रचारित किया। इसके प्रस्तावकों में पैट्रिक ओ ब्राइन, कैन, हॉपकिन्स एवं हट्टनबैक प्रमुख हैं।

भारत में *नारीवादी उपागम* की शुरुआत 1970 के दशक में हुई जिसने महिला आंदोलन से आवेग प्राप्त किया।

इकाई 2

यूरोपियों का आगमन एवं ब्रिटिश शासन का सुदृढ़ीकरण

- भारत में यूरोपियों का आगमन
- ब्रिटिश विजय के समय भारत की स्थिति
- ब्रिटिश शक्ति का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण

अध्याय 3

भारत में यूरोपियों का आगमन

यूरोप में 15वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक आशातीत आर्थिक रूपांतरण हुआ। इस कालावधि के दौरान कृषि एवं विशेष रूप से विनिर्माण में अपनाई गई प्रौद्योगिकी के आधार पर व्यापार एवं बाजारों में विस्मयकारी एवं तीव्र वृद्धि हुई। पूंजीवाद सामंती अर्थव्यवस्था एवं समाज को प्रतिस्थापित कर रहा था। हालांकि, यूरोप में हाने वाले परिवर्तन यहीं तक सीमित नहीं थे। 1500 ईस्वी के पश्चात् विकास से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध विश्व इतिहास यूरोप में साकार हुआ। ऐसा इसलिए हुआ कि पूंजीवाद व्यवस्था के रूप में लाभार्जन और बाजार में प्रतियोगिता पर आधारित है। इसे कच्चे माल एवं वस्तुओं की बिक्री के लिए निरंतर विस्तार की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, इसका विस्तार विश्वव्यापी था जो अन्य प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं, समाजों और संस्कृतियों को निगल रहा था।

15वीं शताब्दी में महत्वपूर्ण बदलाव तब शुरू हुए जब यूरोपीय औपनिवेशिक

शक्तियां नवीन विकल्पों की खोज में बाहर निकलीं, इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य मौजूदा संस्कृतियों से उनका पहले सम्पर्क नहीं था। भारत के ग्रीक (यूनान) और रोम (इटली) के साथ क्रिश्चियन युग शुरू होने से पूर्व और पश्चात् से ही व्यापारिक संबंध थे। चीन एवं एशिया के अन्य हिस्सों से सम्पर्क बेहद प्राचीन थे, जो समस्त मध्य युग तक जारी रहे। मार्को पोलो (1254-1324 ईस्वी), जिसने चीन की यात्रा की, के यात्रा वृतांतों ने यूरोपियों को बेहद आकर्षित किया। पूर्व की बेशुमार धन-सम्पदा और समृद्धि की कहानियों ने यूरोपियों की लालसा में वृद्धि की।

इटली ने लगभग 12वीं शताब्दी से यूरोप के साथ पूर्व के व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया। दक्षिण-पूर्व एशिया और भारत के साथ व्यापार विभिन्न स्थल मार्गों और जलमार्गों से किया गया। एक मार्ग से पूर्वी वस्तुओं को फारस की खाड़ी से होते हुए इराक एवं तुर्की लाया गया। वहां से इन्हें स्थल मार्गों से जेनोआ और वेनिस पहुंचाया जाता था। एक अन्य मार्ग से लाल सागर होते हुए वस्तुओं को मिस्र में अलेक्जेंड्रिया लाया जाता था लेकिन तब वहां स्वेज नहर नहीं थी, इसलिए अलेक्जेंड्रिया को भूमध्यसागर के माध्यम से इटली के शहरों को जोड़ा गया था।

उत्तर मध्यकाल के दौरान, विशेषकर इटली में विश्वविद्यालय में पुनर्जागरण संबंधी विचारों का प्रस्फुटन हुआ और सोलहवीं शताब्दी के दौरान साहित्य और विभिन्न कलाओं में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई। व्यापारियों, व्यवसायियों और बैंकरों के उदित हो रहे वर्ग से यूरोप के नवीन मध्य वर्ग का निर्माण हुआ। यह वर्ग पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन से बेहद प्रभावित हुआ।

पुनर्जागरण के उद्गम स्थल इटली में व्यापारी 11वीं-12वीं शताब्दी से ही यूरोपीय देशों को कलात्मक एवं विलासिता की वस्तुओं की आपूर्ति कर रहे थे जिससे वे बेहद सम्पन्न थे। इस प्रकार पूर्वी देशों के साथ इटली का व्यापार में वर्चस्व था और यूरोपीय देशों को सामान की बड़ी आपूर्ति इटली द्वारा की जाती थी।

यूरोप के कई देश व्यापार के क्षेत्र में इटली के एकाधिकार को तोड़ना चाहते थे। 15वीं शताब्दी से ही अटलांटिक तट पर बसे देश अफ्रीका होकर पूर्व की ओर जाने का वैकल्पिक मार्ग खोज रहे थे। उल्लेखनीय है कि 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न केंद्रीयकृत राज्यों और शक्तिशाली नरेशों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने भौगोलिक खोजों को बढ़ावा दिया तथा साथ ही खोजियों को वित्तीय मदद भी मुहैया की। पुर्तगाल एवं स्पेन ऐसे देशों में प्रमुख हैं। 15वीं और 16वीं शताब्दियों में मुद्रण और नक्शा बनाने का कार्य तेजी से विकसित हुआ और कंपास, खगोलिकी प्रेक्षणशाला, बारूद इत्यादि जैसी प्रौद्योगिकीय उपलब्धियों ने खोजियों की अत्यधिक सहायता की।

इस प्रकार, पुनर्जागरण का अभ्युदय, कृषि में निवेश कम लाभ वाला सिद्ध होना, कच्चे माल की आवश्यकता, नवीन बाजारों की प्राप्ति एवं विस्तार, पूर्व की धन-संपदा

का आकर्षण, ईसाई मत के प्रसार की उत्कट इच्छा एवं यूरोप में पुरातन व्यवस्था (सामंतवाद) के स्थान पर नवीन व्यवस्था (पूंजीवाद) के स्थापित होने के कारणों ने भारत में यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों के आगमन का मार्ग प्रशस्त किया।

पुर्तगाली

भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज एवं पुर्तगालियों का आगमन

यद्यपि 15वीं शताब्दी में भारत में वास्को-दा-गामा के आगमन से कई शताब्दी पूर्व यूरोपीय यात्री आते रहे थे, लेकिन केप ऑफ गुड होप होकर जब वास्को-दा-गामा 17 मई, 1498 में कालिकट पहुंचा, तो इसने भारतीय इतिहास की दिशा को गहरे रूप से प्रभावित किया। पश्चिम में अमेरिका के विपरीत, पूरब में यूरोपीय शक्तियां सीधे औपनिवेशीकरण से शुरुआत नहीं कर सकीं। ऐसा करने में उन्हें कुछ समय लगा लेकिन अपनी विकसित समुद्री शक्ति, तकनीक एवं अस्त्र (बारूद इत्यादि) के कारण उन्होंने तीव्रता से समुद्री शक्ति के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया और समुद्री व्यापार पर नियंत्रण कायम कर लिया।

पुर्तगालियों का मंतव्यः पुर्तगालियों का स्पष्ट मंतव्य था कि वे व्यवसाय करने भारत आए थे लेकिन उनका छुपा हुआ एजेंडा था ईसाई मत का प्रचार कर भारतीयों को ईसायत में परिवर्तित करना और अपने प्रतिस्पर्द्धियों, विशेष रूप से अरब को बाहर खदेड़ कर व्यापक रूप से मुनाफे वाले पूर्वी व्यापार पर एकाधिकार कायम करना। उस समय तक हिन्द महासागर के व्यापार पर अरब व्यापारियों का एकाधिकार था। आगामी पंद्रह वर्षों में पुर्तगालियों ने अरब नौपोतों को पूरी तरह नष्ट कर दिया। उन्होंने उनके जहाजों को लूटा, उन पर आक्रमण किए, जहाजियों को लूटा और अन्य दमनात्मक कार्रवाइयां कीं। पुर्तगालियों की सुदृढ़ स्थिति के परिप्रेक्ष्य में पुर्तगाल के शासक मैनुअल प्रथम ने 1501 में अरब, फारस और भारत के साथ व्यापार का स्वयं को मालिक घोषित कर दिया।

पुर्तगालियों के आगमन के समय भारत की स्थितिः भारत में पुर्तगालियों ने जिस समय आगमन किया, उसने पूर्वी व्यापार को हासिल करने में उनकी अत्यधिक मदद की। गुजरात के सिवाय, जहां शक्तिशाली महमूद बेगड़ा का शासन था, समस्त उत्तर भारत कई छोटी-छोटी शक्तियों के बीच विभाजित था। दक्कन में, बहमनी साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बिखर गया। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं थी जिसके पास नौसैनिक शक्ति हो, और न ही उन्होंने अपनी नौसैनिक शक्ति को विकसित करने के बारे में सोचा। सुदूर पूर्व में चीनी शासक की शासकीय डिक्री मात्र चीनी जहाजों की नौवहनीय पहुंच तक सीमित थी। जहां तक अरब व्यापारियों और जहाजों के मालिकों

का संबंध है, जिन्होंने पुर्तगालियों के आने से पूर्व तक हिंद महासागर व्यापार पर वर्चस्व कायम किया हुआ था, वे पुर्तगाली संगठन एवं एकता से बराबरी नहीं कर सके।

भारत आगमन के अभिप्रेरणः वास्तव में, 15वीं शताब्दी में पुर्तगाली वेनिस (इटली का एक राज्य) की समृद्धि से ईर्ष्या करने लगे और उनके लाभदायी व्यापार में हिस्सा प्राप्त करने के हर संभव प्रयास करने लगे। जैसाकि अरब ने मिस्र एवं पर्शिया पर सातवीं शताब्दी में विजय प्राप्त कर ली, तो यूरोप एवं भारत के मध्य सीधे संचार या सम्पर्क के मार्ग बंद कर दिए गए। पूरब से वस्तुएं यूरोपीय बाजारों में मुस्लिम मध्यवर्तियों के माध्यम से पहुंचने लगीं। वेनिस ने प्राचीन समय से इस व्यापार पर एकाधिकार बनाए रखा और परिणामस्वरूप वेपनाह धन संपदा एवं प्रभाव अर्जित किया। राजकुमार हेनरी, पुर्तगाल का नाविक, ने अपना पूरा जीवन भारत को जाने वाले समुद्री मार्ग की खोज में समर्पित कर दिया। 1487 ईस्वी में बार्थोलोम्यो दियाज नामक एक पुर्तगाली अफ्रीका के दक्षिणी सिरे तक पहुंच गया और इस जगह को केप ऑफ गुड होप कहा गया। यद्यपि वह 1488 में लिस्बन लौट आया और इसके लगभग 10 वर्ष के अंतराल पर 1498 में वास्को-दा-गामा भारत पहुंचा। वास्को-दा-गामा की लिस्बन में विजयी वापसी पर, पुर्तगाल के सम्राट ने पेड्रो अल्वारेज केबरेल (ब्राजील का खोजी) के नेतृत्व में बार्थोलोम्पो डियाज के साथ 13 जहाजों और 1200 लोगों का एक अधिक बड़ा बेड़ा भेजा। लेकिन केबरेल को कालिकट में, जमोरिन को परास्त करने के लिए अरबों से युद्ध करना पड़ा। केबरेल ने कोचीन और केन्नौर में व्यापार सुरक्षित करने हेतु कालिकट छोड़ दिया। वह काफी बड़े मुनाफे के साथ लिस्बन लौटा।

पुर्तगाली एवं जमोरिनः वास्को-दा-गामा अक्टूबर, 1502 में कालिकट आया। व्यापार एवं विजय हेतु उसके नेतृत्व में एक बड़ा सुसज्जित बेड़ा भेजा गया। जमोरिन से उसके संबंध मित्रतापूर्ण नहीं थे। पूर्वी समुद्र में विशिष्ट वाणिज्यिक प्रभुता हासिल करने की अपनी महत्वाकांक्षा के चलते, पुर्तगालियों ने अन्य देशों, विशेष रूप से अरब व्यापारियों को व्यापार के लाभों से वंचित करना शुरू कर दिया और यहां तक कि उनका उत्पीड़न किया।

पुर्तगाली एशिया के महत्वपूर्ण व्यापारिक स्थलों या अड्डों (फितोरिया) पर कब्जा स्थापित करके अपनी नौसेना की वर्चस्वता को कायम रखना चाहते थे और उसका विकास करने के लिए कटिबद्ध थे। फितोरिया ऐसे व्यापारिक स्थल या अड्डे होते थे, जहां से नौसैनिक बेड़ों को सहायता प्रदान की जाती थी। पुर्तगालियों ने अपने पारसमुद्रीय विस्तार के लिए, विशेष रूप से अफ्रीकी तट पर, इसी प्रकार के अड्डों का इस्तेमाल किया। कुछ ही दिनों में उन्हें आभास हुआ कि भारत में इन अड्डों पर कब्जा करना आसान नहीं होगा और इसके लिए उन्हें संघर्ष करना पड़ेगा।

कालिकट का हिंदू शासक, जमोरिन, हालांकि, पुर्तगालियों की मंशा से चिंतित नहीं

था। जब जमोरिन ने अपने बंदरगाह से मुसलमान व्यापारियों को हटाने से मना कर दिया, तब पुर्तगालियों ने वहां गोलाबारी की। तत्पश्चात् पुर्तगालियों ने बेहद चतुराई पूर्वक कोचीन और कालिकट की शत्रुता का लाभ उठाया एवं कोचिन के राजा के मालाबार क्षेत्र में पहला किला बनाया। 1509 ईस्वी में पुर्तगालियों ने मिस्र के शासक ममलूक द्वारा भेजे गए जहाजी बेड़ों को पराजित कर दीव पर अधिकार जमा लिया। उन्होंने 1510 में गोवा पर अधिकार किया और उसे अपना प्रशासनिक केंद्र बनाया। स्पेनिश सम्राट चार्ल्स पंचम द्वारा हिंद महासागर में अपने हितों को छोड़ने और सुदूर पूर्व में फिलिपीन्स तक अपने को सीमित रखने की घोषणा के पश्चात् पुर्तगाली पूर्वी समुद्री क्षेत्र के एकछत्र बादशाह हो गए और जिसे एस्तादो द इंडिया के नाम से जाना गया।

भारत में पुर्तगाली साम्राज्य का सूत्रपात

पुर्तगाली भारत का एक नया इतिहास वर्ष 1505 में प्रारंभ हुआ जब पुर्तगाल के सम्राट ने तीन वर्षों के लिए भारत में एक गवर्नर नियुक्त किया और उसे पुर्तगाली हितों की रक्षा हेतु पर्याप्त सुविधा एवं बल प्रदान किया गया। फ्रांसिस्को डी अल्मेडा, नव नियुक्त गवर्नर, को भारत में पुर्तगाली स्थिति को सुदृढ़ करने को कहा गया और अदन, ऑर्मुज और मलक्का को जब्त करके मुस्लिम व्यापार बर्बाद करने का निर्देश दिया गया। उसे अंजादिवा, कोचीन, केन्नोर और किल्वा में किलेबंदी करने की भी सलाह दी गई। वेनिस के घटते व्यापार पर नजर रखते हुए, जिनका आकर्षक व्यापार पुर्तगाली हस्तक्षेप के कारण खतरे में था, मिस्र ने पुर्तगालियों को रोकने के लिए लाल सागर में अपनी चौकसी बढ़ा दी। डी अलमेडा, जिसे उत्तरी अफ्रीका में मूर से युद्ध करना पड़ा, जल्द ही इस चुनौती से उबर गया। हालांकि, 1507 में, पुर्तगाली स्कवेड्रन को मिस्र की और गुजराती नौसेना ने संयुक्त रूप से दीव से हटकर समुद्री युद्ध में हरा दिया, और अल्मेडा का पुत्र मारा गया। अगले वर्ष, अल्मेडा ने दोनों की नौसेना को पूरी तरह ध्वस्त करके हार का बदला ले लिया।

विस्तार की रणनीतिः अल्फांसों डी अलबुकर्क, जिसने भारत में पुर्तगाली गवर्नर के रूप में अल्मेडा का स्थान लिया, के पास अधिक बड़ी एवं व्यापक रणनीति थी। वह पूरब में, अपनी मृत्यु से पहले, पुर्तगाली साम्राज्य की स्थापना का कार्य पूरा कर लेना चाहता था। उसने पुर्तगाल के लिए हिंद महासागर के रणनीतिक नियंत्रण हेतु समुद्र के सभी प्रवेश द्वारों पर अपने बेस स्थापित किए। भारत में पुर्तगाली सत्ता की स्थापना में निर्णायक भूमिका द्वितीय गवर्नर अलफांसों डी अलबुकर्क की रही।

अलबुकर्क स्क्वैड्रेन कमाण्डर के रूप में 1503 ई. में भारत आया था। 1509 ई. में उसे वायसराय नियुक्त किया गया और 1515 ई. तक उसने भारत में पुर्तगाली सत्ता की स्थापना में विशेष भूमिका निभाई। उसने 1510 ई. में बीजापुर से गोवा छीनकर ठोस शुरुआत की। गोवा एक प्राकृतिक बंदरगाह था और एक सामरिक स्थल भी। यहां

से पुर्तगाली मालाबार व्यापार पर नियंत्रण करते थे एवं दक्षिण के राजाओं की नीति का निरीक्षण भी। इस आधार पर, पुर्तगाली गोवा के सामने की मुख्य भूमि, दमन, राजौरी और दाभोल के बंदरगाहों पर कब्जा जमाने में सफल रहे। अलबुर्कक ने हिन्दू महिलाओं के साथ विवाह की नीति अपनाई। 1515 ई. में ही मलक्का और कुरमुस (ईरान) पर पुर्तगाली आधिपत्य कायम हो गया। अलबुकर्क के समय पुर्तगाली भारत में एक मजबूत नौ-सैनिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुके थे।

गोवा पर कब्जाः 1510 में अलबुकर्क ने गोवा पर आसानी से कब्जा कर लिया, जो बीजापुर के सुल्तान का प्रमुख पत्तन था, यह एलेक्जेंडर के बाद पहला भारतीय क्षेत्र था जो यूरोपियों के अधीन आया। मलक्का पर 1511 ई. में ही पुर्तगाली प्रभुत्व कायम हो चुका था। लाल सागर के मुहाने पर स्थित सोकोत्रा द्वीप, सुमात्रा के सचिन दुर्ग, श्रीलंका के कोलम्बो इत्यादि में नए किले स्थापित किए गए। जावा, थाईलैण्ड, पेगू इत्यादि से भी सम्पर्क स्थापित किए गए। 1518 ई. से पुर्तगालियों ने चीन के संचाओं द्वीप पर बस्ती बसानी शुरू की।

पुर्तगालियों ने पश्चिमी भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। 1531 *ई. में चाउल,* 1532 *ई.में दीव,* 1534 *ई. में सॉलसेट और बेसिन,* 1536 *ई. में क्रैगानोर तथा मैंगलोर, होनावर, भतकल, कैन्नौर, क्वीलोन, भावनगर* इत्यादि क्षेत्रों में अपना कब्जा जमाकर इनमें से कुछ क्षेत्रों में अपने कारखाने खोले। उन्होंने कारखानों का दुर्गीकरण आरम्भ कर दिया। कारखानों का सर्वोच्च अधिकारी पुर्तगाली सम्राट् द्वारा नियुक्त होता था।

पुर्तगालियों का व्यापार पर प्रभुत्वः पुर्तगालियों ने पूर्वी तट के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया। कोरोमण्डल तट पर स्थित *मसुलीपट्टम, पुलिकट* इत्यादि शहरों से वे वस्त्रादि वस्तुएं इकट्ठा करते थे। मलक्का, मनीला इत्यादि पूर्वी एशियाई क्षेत्रों से व्यापार करने के लिए *नागापट्टम्* पुर्तगालियों का एक प्रमुख बंदरगाह था। नागापट्टम् के उत्तर में स्थित *सैनथोम (मैलपुर)* में पुर्तगालियों की बस्ती थी। बंगाल के शासक *महमूद शाह* ने पुर्तगालियों को 1536 ई. में *चटगांव और सतगांव* में फैक्ट्री खोलने की अनुमति दी। अकबर की अनुमति से *हुगली* में तथा शाहजहां के फरमान से *बुंदेल* में भी कारखाने खुले। 16 वीं सदी के दौरान पूर्वी तट पर किलेबंदी नहीं हुई।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ तक पुर्तगालियों का एशियाई व्यापार पर प्रभुत्व बना रहा। 1506 ई. में मसाले के लाभदायक व्यापार को राजा ने अपने अधीन कर लिया और दूसरी तरफ पुर्तगाली अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए जी जान से भिड़ पड़े। कभी-कभी व्यापार और लूट में अंतर करना मुश्किल हो जाता था। भारतीय जहाजों से कई तरीके से पैसा वसूल किया जाता था, इनमें प्रभुख थी **''कार्टेज व्यवस्था''**। इस व्यवस्था के तहत् भारतीय जहाजों के कप्तानों को गोवा के वायसराय से लाइसेंस या पास लेना पड़ता था जिससे पुर्तगाली भारतीय जहाजों पर हमला नहीं

करते थे, अन्यथा उसे लूट लेते थे। पुर्तगालियों के समुद्र पर वर्चस्व रहने का एक महत्वपूर्ण कारण था कि मुगल शासकों ने कभी भी मजबूत नौसेना तैयार करने का प्रयत्न नहीं किया तथा सुदूर दक्षिण में मुगलों का प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं था।

पुर्तगालियों के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिससे वस्तु-विनिमय द्वारा व्यापार हो। इसलिए, पूर्व की वस्तुओं के लिए वे पश्चिम से सोना, चांदी और अन्य बहुमूल्य रत्न लाया करते थे। *मालाबार और कोंकण तट से सबसे ज्यादा काली मिर्च का निर्यात होता था।* मालाबार से अदरक, दालचीनी, हरड़, चंदन, हल्दी, नील इत्यादि निर्यात किए जाते थे। उत्तर-पश्चिमी भारत से टाफ्टा (एक प्रकार का कपड़ा), चिंट्स इत्यादि पुर्तगाली ले जाते थे। जटामांसी बंगाल से लाया जाता था। दक्षिण-पूर्व एशिया से लाख, लौंग, कस्तूरी इत्यादि इकट्ठा किए जाते थे। भारत से पुर्तगालियों का व्यापार इतना बढ़ गया था कि मात्र काली मिर्च की खरीद के लिए संयुक्त व्यापार-संघ ने 1,70,000 क्रूजेडो प्रतिवर्ष भारत भेजने का निर्णय लिया था।

पुर्तगाली फ्लैण्डर्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड इत्यादि क्षेत्रों से गुलाब जल, मूंगा, तांबा, पारा, सिंदूर आदि वस्तुएं भारत में लाते थे। ढाले हुए सिक्के भी कोचीन व गोवा बंदरगाह पर लाए जाते थे।

इस प्रकार पुर्तगालियों ने न केवल मसाले के व्यापार से लाभ अर्जित किया अपितु विभिन्न एशियाई देशों के बीच सामान लाने और ले जाने के कार्य से भी लाभ कमाया।

भारत में पुर्तगाली प्रशासन

भारत में पुर्तगाली प्रशासन का मुखिया वायसराय था जो तीन वर्षों तक अपने सचिव के साथ कार्य करता था और बाद के वर्षों में एक परिषद् के साथ कार्य करता था। गिरिजा संबंधी प्राधिकरणों के साथ मतभेद एवं संघर्ष के चलते उसकी शक्तियों का ह्रास हुआ। इसके अतिरिक्त *वेडोर दा फजेंडा* का महत्व बढ़ गया जो राजस्व तथा कार्गो एवं नौसैनिक बेड़ा भेजने के लिए जिम्मेदार था। अफ्रीका से लेकर चीन तक के किले कैप्टन के नियंत्रणाधीन थे जिसकी शक्तियों में संचार की कठिनाइयों ने वृद्धि की। संभवतः पुर्तगाल और गोवा से नियंत्रण के अभाव ने सत्यनिष्ठ एवं पारदर्शी प्रशासन के लिए निरंतर खतरा बनाए रखा।

वायसराय नीनो दा कुन्हाः भारत में *नीनो दा कुन्हा* का वायसरायकाल, जिसने नवम्बर 1529 में कार्यभार संभाला, भी कुछ हद तक महत्वपूर्ण है। एक वर्ष के पश्चात् वह भारत में पुर्तगाली सरकार के मुख्यालय को कोचिन से गोवा ले गया। गुजरात के बहादुर शाह ने, मुगल शासक हुमायूं से अपने संघर्ष के दौरान, पुर्तगालियों को 1534 में बेसिन द्वीप सौंपकर उनसे मदद ली। उसने उन्हें दीव में बेस प्रदान करने का भी वादा किया। नीनो दा कुन्हा ने अपने मुख्यालय के तौर पर हुगली के साथ कई पुर्तगाली नागरिकों को बसा कर बंगाल में पुर्तगाली प्रभाव में वृद्धि करने का भी प्रयास किया।

गुजरात के बहादुरशाह के साथ पुर्तगालियों के संबंधः बहादुर के पुर्तगालियों के साथ संबंध उस समय बिगड़ गए जब 1536 में हुमायूं गुजरात से चला गया। चूंकि शहर के निवासियों ने पुर्तगालियों से लड़ना शुरू कर दिया था, बहादुर शाह विभाजन की एक दीवार खड़ी करना चाहते थे। इसका विरोध करते हुए, पुर्तगालियों ने आपसी बातचीत शुरू की, वार्ता की एक प्रक्रिया के दौरान बहादुर को एक पुर्तगाली जहाज में बुलाया गया और मार दिया गया।

पुर्तगालियों की धार्मिक नीति एवं इसके निहितार्थ

उत्तरी अफ्रीका में मूर पुर्तगालियों के बड़े शत्रु थे। पूरब में आकर, पुर्तगालियों ने मूर के साथ मिलकर उसी उत्साह और ईर्ष्या के साथ सभी मुसलमानों का उत्पीड़न किया। हालांकि, भारत में वाणिज्यिक हित धीरे-धीरे प्रधान हो गए और पुर्तगालियों की मंशा सदैव मिली-जुली रही। इसलिए, यद्यपि पुर्तगाली सम्राट को भारत में सभी गिरिजाघरों और मिशनों का संरक्षक बनाया गया लेकिन ऐसा 1542 में जेसुइट (ईसा मसीह के रोमन कैथोलिक समाज का सदस्य) के भारत आगमन के पश्चात् हुआ। अकबर के दरबार में जेसुइटों ने अच्छा प्रभाव बनाया, जिसकी मदद से पुर्तगालियों ने कुछ लाभ अर्जित किया।

अकबर एवं पुर्तगालीः पहली बार अकबर कुछ यूरोपीय ईसाइयों, नामत् कुछ पुर्तगाली व्यापारी, से उस समय मिला जब उसने 1572 में कैम्बे का दौरा किया। बाद के वर्षों में, सूरत में, उसने फिर से उनसे मुलाकात की जब एंटोनियो केबरेल, गोवा के वायसराय का दूत, शांति-शर्तों के समायोजन हेतु आया। कुछ समय बाद, धर्म एवं मीमांसा के प्रश्नों पर अकबर की गहरी रुचि जगी, और उसने फादर जूलियन परेरा, विकार (चर्च में पुजारी) जनरल ऑफ बंगाल, एवं कुछ अन्य स्रोतों से ईसाई धर्म का ज्ञान प्राप्त किया। इसने अकबर को अधिक सटीक जानकारी प्राप्त करने हेतु उत्सुक किया, और एंटोनियो केबरेल, जिसने पुनः 1578 में मुगल राजधानी का दौरा किया, भी उसके सभी प्रश्नों के संतुष्ट उत्तर नहीं दे पाया। अकबर ने तब गोवा से धर्म मीमांसक बुलाने का निर्णय लिया जो उसकी शंकाओं का समाधान करने की स्थिति में हो और उसकी उत्कट जिज्ञासा को शांत करे। इसके लिए अकबर ने सितंबर 1579 में, गोवा में अधिकारियों को पत्र भेजकर दो विद्वान पादरी भेजने का निवेदन किया। गोवा में चर्च के प्राधिकारियों ने उत्सुकतापूर्वक इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया क्योंकि वे इसे शासक को और साथ ही उसके दरबार एवं लोगों को ईसाई मत में परिवर्तित करने के अवसर के तौर पर देख रहे थे। अकबर के निवेदन पर 28 फरवरी, 1580 को दो पादरी, रोडक्लफो एक्वाविवा और एंटोनियो मॉन्सरेट, फतेहपुर सीकरी पहुंचे, जो 1583 में वापस लौटे। इसी प्रकार अकबर ने दूसरे मिशन को 1590 में बुलाया जो 1592 में वापस लौटा। तीसरा मिशन अकबर द्वारा 1595 में बुलाया गया।

मिशनरीज न तो अकबर और उसके दरबार और न ही उसके लोगों को ईसाई मत में परिवर्तित कर सके। अकबर और उसके पुत्र सलीम (भविष्य में जहांगीर) दोनों ने मैरी और ईसाई चिन्हों के प्रति तथाकथित आदर भाव प्रकट किया। यह स्पष्ट है कि पादरियों पर ध्यान देना धार्मिक उत्साह का परिणाम नहीं था, अपितु यह मुख्य रूप से पुर्तगाली सैन्य सहायता सुनिश्चित करने की इच्छा से निर्देशित हो रहा था।

ईसाइयों के संरक्षण के पीछे राजनीतिक मंशाः जबकि अकबर अपनी परेशानियों से उबरने के लिए पुर्तगाली बंदूकों को उधार लेने पर विचार कर रहा था, उसका बेटा (राजकुमार सलीम) अकबर के विरुद्ध विद्रोह पर ध्यान दे रहा था और इस उद्देश्य के लिए पुर्तगाली सेना की मदद प्राप्त करने की योजना बना रहा था। ईसाई धर्म उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं था। सभी दिखावों या बहानों को छोड़ते हुए, अकबर ने सैन्य सहायता की प्राप्ति हेतु 1601 में गोवा में एक अंतिम दूत भेजा। पुर्तगाली प्राधिकारियों ने शुरू से चलने वाले इस खेल को समझते हुए नम्रता पूर्वक मना कर दिया।

जेसुइट ने, अपनी तरफ से, मिशनरी उत्साह के साथ देशभक्ति की राजनीति की और यथासंभव लाभ प्राप्त करने का प्रयास किया। पुर्तगालियों (या स्पेनवासियों, जैसाकि पुर्तगाल उस समय स्पेन से जुड़ा था) के अनाधिकारिक एजेंट के तौर पर काम करते हुए, जेसुइट ने मुगल दरबार में महत्वपूर्ण प्रभाव का उपयोग किया।

जहांगीर और पुर्तगालीः राजकुमार सलीम, जहांगीर के रूप में सिंहासन ग्रहण करने पर, ने जेसुइट फादर्स की इस प्रकार उपेक्षा करके जैसे वह कभी उन्हें जानता ही नहीं था, मुसलमानों को शांत किया। धीरे-धीरे, हालांकि, जेसुइट से उसका अस्थायी अलगाव दूर हो गया, और 1606 में उसने फिर से उन्हें समर्थन देना शुरू किया। लाहौर में एक भव्य एवं विशाल चर्च को कॉलेजियम या पादरी आवास के साथ बनाए रखने की उन्हें अनुमति दी गई। 1608 में, आगरा में 20 दीक्षा स्थान (बपतिस्मा) आयोजित किए गए, और पादरियों को पुर्तगाल जितनी ही कार्य की स्वतंत्रता दी गई। गलियों एवं सड़क मार्गों पर पूरे कैथोलिक रीति-रिवाजों के साथ चर्च के जुलूसों को निकालने की अनुमति दी गई और चर्च के खर्चों और धर्मांतरित लोगों की सहायता के लिए खजाने से नकद सहायता दी गई।

जहांगीर का व्यवहार इस प्रकार था कि जेसुइट पादरी उसे ईसाई मत में लाने के प्रति आशावान हो उठे। उसने ओल्ड एवं न्यू टेस्टामेंट तथा संतों के जीवन से लिए गए धार्मिक विषयों के चित्रों के प्रति असाधारण रुचि दिखाई। आगरा में उसका सिंहासन बपतिस्मा दाता जॉन और अन्य संतों की पेंटिंग्स से घिरा था। यह अफवाह थी कि जहांगीर ईसाई बन गया और पादरियों के पास यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण थे कि वे वास्तव में उसे ईसाई बनाने में सफल होंगे।

अंग्रेजों के प्रति शत्रुता

मुकारब खान, जो एक अच्छा खिलाड़ी और जहांगीर का घनिष्ठ मित्र था, को जहांगीर के दूत के तौर पर पुर्तगाली वायसराय से मिलने के लिए एक लंबा इंतजार करना पड़ा। जब वह अप्रैल 1608 में गोवा पहुंचा, वह अपना परिचय-पत्र प्रस्तुत नहीं कर सका (जैसाकि पदस्थ वायसराय पुर्तगाल से नहीं आया था)। वस्तुतः वह कभी नहीं आया, और गोवा में डॉन मेंडोसा ने 1609 में पदभार संभाला। उससे पूर्व, सन् 1608 में कैप्टन विलियम हॉकिन्स सूरत में आ गया। वह अपने साथ भारत में व्यापार की अनुमति हेतु इंग्लैंड के सम्राट जेम्स प्रथम का जहांगीर के नाम एक प्रार्थना-पत्र लाया।

कैप्टन हॉकिन्स की यात्राः फादर पिनहेरो और पुर्तगाली अधिकारियों ने मुगल दरबार में हॉकिन्स को पहुंचने से रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया लेकिन सफल नहीं हुए। जहांगीर ने हॉकिन्स द्वारा लाए गए उपहारों, जिनकी कीमत 25,000 सोने के सिक्कों के समान थी, को स्वीकार किया और हॉकिन्स का बेहद आत्मीय स्वागत किया। जैसाकि हॉकिन्स तुर्की भाषा अच्छी प्रकार जनता था, उसने उस भाषा में जहांगीर के साथ प्रत्यक्ष संवाद किया। हॉकिन्स से खुश होकर, जहांगीर ने उसे 30,000 के वेतन पर 400 का मनसबदर नियुक्त किया। हॉकिन्स ने आर्मेनियन ईसाई मुबारक शाह की बेटी से विवाह भी किया।

मुगल एवं पुर्तगालियों के आपसी संबंधों में सुलझावः हॉकिन्स एवं अन्य अंग्रेजी लोगों को बड़ी व्यापार सुविधाएं प्रदान करने को गोवा के वायसराय, डॉन मेंडोसा, ने पुर्तगाली एकाधिकार के वाणिज्यिक क्षेत्रों का अतिक्रमण माना और इसलिए इसे शत्रुतापूर्ण कार्रवाही कहा। भारत में पुर्तगालियों की जहांगीर के साथ युद्ध की स्थिति को देखते हुए, मेंडोसा ने मुगल दूत मुकारब खान से मिलने से मना कर दिया। उतावलेपन में उठाए गए इस कदम ने पुर्तगाली व्यापारियों एवं उनके व्यापार को बेहद प्रभावित किया और जहांगीर ने पुर्तगालियों को दी जाने वाली छूटों पर रोक लगा दी। तब मेंडोसा ने फादर पिनहेरो को औपचारिक आधार पर मुकारब खान से शांति स्थापित करने हेतु बातचीत करने को कहा। तत्पश्चात् शत्रुता समाप्त हो गई, और अंग्रेजी जहाज को सूरत के पत्तन पर जाने की अनुमति नहीं दी गई। पुर्तगाली आगंतुकों को रोकने में असमर्थ व्यथित हॉकिन्स ने सन् 1611 में मुगल दरबार छोड़ दिया।

एंग्लो-पुर्तगाली झगड़ा या हाथापाईः अंग्रेजों ने, हालांकि, 1612 में पुर्तगालियों के विरुद्ध प्रतिशोध लिया, जिसने हिंद महासागर में ब्रिटिश नौसेना के प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया। उस वर्ष नवम्बर में, अंग्रेजी जहाज *ड्रैगन* ने एक छोटे जहाज *ओसिएन्डर* सहित कैप्टन बेस्ट के नेतृत्व में पुर्तगाली जहाजी बेड़े के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किया। जहांगीर, जिसके पास अच्छी नौसेना नहीं थी, अंग्रेजों की सफलता से बेहद प्रभावित हुआ। पुर्तगालियों ने अपनी बचकानी हरकतों से जहांगीर को अप्रसन्न कर दिया। वी.ए. स्मिथ के अनुसार, पुर्तगालियों ने मुगल सरकार की नौसैनिक कमजोरी के चलते

चार इम्पीरियल जहाजों को जब्त कर लिया और कई मुसलमानों को बंदी बना लिया, और सामान को लूट लिया। जहांगीर की मां की इस सामान में गहरी रुचि थी और इससे करोड़ रुपए की चपत लगी थी। गुस्साएं जहांगीर ने मुकारब खान, जो उस समय सूरत का प्रभारी था, को क्षतिपूर्ति वसूलने का आदेश दिया।

शाहजहां एवं पुर्तगाली: यह शाहजहां का शासन काल था, हालांकि, जिसमें मुगल दरबार में पुर्तगालियों को मिलने वाले लाभों का हमेशा के लिए अंत हो गया और साथ ही इस आशा ने भी दम तोड़ दिया कि वे शाही परिवार और मुगल भारत के लोगों का ईसाई मत में धर्मांतरण करा पाएंगे जिसका पल्लवन अकबर और जहांगीर द्वारा किया गया था। शाहजहां द्वारा राजगद्दी संभालने से पूर्व ही उसे पुर्तगालियों के

पुर्तगालियों का व्यापारिक घटनाक्रम

1498 ई.– वास्को-डी-गामा ने कालीकट तक की यात्रा की।
1503 ई.– पुर्तगालियों ने भारत में अपना पहला दुर्ग कोचीन में स्थापित किया।
1505 ई.– पुर्तगालियों ने भारत में अपना दूसरा दुर्ग कन्नूर में स्थापित किया।
– फ्रांसिस्को अल्मीडा को भारतीय क्षेत्र का गवर्नर बनाया गया।
1509 ई.– अल्मीडा ने गुजरात और मिस्र के संयुक्त बेड़े को पराजित किया।
1509 ई.– अल्फांस-डी-अल्बुकर्क को वायसराय बनाया गया।
– अल्बुकर्क ने बीजापुर के सुल्तान को पराजित कर गोवा पर अधिकार कर लिया।
1511 ई.– पुर्तगालियों ने मलाया द्वीप में स्थित मलक्का पर अधिकार कर लिया।
1515 ई.– पुर्तगालियों ने फारस की खाड़ी के मुहाने पर स्थिति हरमुज पर अधिकार कर लिया।
– वायसराय अल्बुकर्क की मृत्यु।
1530 ई.– पुर्तगालियों ने गोवा को अपने भारतीय राज्य की राजधानी बनाया।
1535 ई.– पुर्तगालियों ने दीव पर अधिकार कर लिया।
1559 ई.– पुर्तगालियों ने दमन पर अधिकार कर लिया।
1566 ई.– पुर्तगालियों एवं तुर्कों के बीच समझौता।
1596 ई.– डचों ने पुर्तगालियों को दक्षिण-पूर्व एशिया से बाहर किया।
1612 ई.– सूरत में पुर्तगालियों को पराजित कर अंग्रेजों ने अपना कारखाना स्थापित किया।
1641 ई.– मलक्का दुर्ग पुर्तगालियों से डचों ने छीन लिया।
1659 ई.– श्रीलंका पुर्तगालियों के हाथ से बाहर चला गया।
1663 ई.– मालाबार के सभी दुर्गों को डचों ने जीत कर पुर्तगालियों को भारत से निर्णायक रूप से खदेड़ दिया।

दुर्व्यवहार की जानकारी थी। जब उन्होंने रानी मुमताज महल की दो दासियों को बंदी बनाकर उनका अपमान किया।

पुर्तगालियों की गतिविधियां: 1579 में शासकीय फरमान के आधार पर पुर्तगालियों को नदी के तट तक सीमित कर दिया गया जो बंगाल में सतगांव से थोड़ी दूरी पर था और वहां से वे व्यापारिक गतिविधियां संचालित करते थे। विभिन्न वर्षों के दौरान, उन्होंने बड़े भवनों के निर्माण द्वारा अपनी स्थिति मजबूत कर ली जिसने उनके व्यापार को सतगांव से नए पत्तन हुगली की ओर प्रवासित किया। उन्होंने नमक के उत्पादन पर एकाधिकार कर लिया। स्वयं का एक कस्टम हाउस निर्मित किया और तंबाकू पर सख्ती से कर आरोपित करना शुरू कर दिया, जो 17वीं शताब्दी में भारतीय उपमहाद्वीप में आने के पश्चात् व्यापार की एक प्रमुख वस्तु बन गया। ऐसे कृत्यों से, उन्हें प्रांतीय कस्टम राजस्व के संग्रहण में भारी नुकसान उठाना पड़ा।

अहंकारी/घमण्डी पुर्तगालियों ने न केवल व्यापार के रूप में धनार्जन किया अपितु हिंदू और मुस्लिम बच्चों को खरीदकर या बंदी बनाकर क्रूर दास व्यापार भी शुरू किया।

हुगली पर अधिकार: 24 जून, 1632 को हुगली पर पुर्तगालियों के कब्जे को तीन महीने पश्चात् समाप्त कर दिया गया। गंगा के किनारे खुले मैदान में स्थित हुगली, सभी तरफ से खुला था। यहां किला नहीं था, न तो दीवार थी और न ही परकोटा, मात्र कीचड़ का एक तटबंध/पुश्ता था जो ज्यादा महत्व का नहीं था। बारूद एवं नौवहन में पुर्तगाली कौशल से भयभीत, कासिम खान को 1,50,000 की सेना के साथ पुर्तगाली बस्ती पर हमला करने को कहा गया। ठीक 3 महीने तक (24 सितंबर तक) सैन्य दुर्ग के 300 पुर्तगाली और 600 निवासी ईसाई सैनिक सामना करते रहे, जिसके पश्चात् वह भाग खड़े हुए। अधिकतर जहाज खो गए, लेकिन कुछ किसी प्रकार सागर द्वीप तक पहुंचने में कामयाब हो गए, लेकिन वहां व्याप्त महामारी से अधिकतर जिंदा बचे लोग मर गए। मुगलों के 1000 लोग मारे गए, लेकिन उन्होंने 400 लोगों को बंदी बना लिया जिन्हें आगरा लाया गया। बंदियों को इस्लाम धर्म अपनाने या दासता स्वीकार करने का विकल्प दिया गया। ईसाईयों का अत्याचार कुछ समय तक जारी रहा जिसके बाद यह धीरे-धीरे खत्म हो गया।

पुर्तगालियों का पतन

सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पूरब में स्थापित पुर्तगाली साम्राज्य लगभग समाप्त हो गया और इसका स्थान डचों और अंग्रेजों ने ले लिया। इसके कई कारण थे–

- 1580 में पुर्तगाल स्पेन के राजा के साथ जुड़ गया और स्पेन के पतन के साथ-साथ इसका भी पतन हो गया।
- 1588 के नौसेना युद्ध में अंग्रेजों ने स्पेन को करारी शिकस्त दी जिसके बाद स्पेन की नौसैनिक शक्ति क्षीण हो गई।
- पुर्तगाल के अंदरूनी मामलों ने उसकी शक्ति कमजोर की।

- समाज में कुलीन वर्ग का प्रभुत्व था और व्यापारियों का इतना सामाजिक प्रभाव नहीं था कि वे राज्य को अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावित कर सकें।
- पुर्तगाल में सम्राट निरंकुश था।
- धर्म के मामले में पुर्तगाली असहिष्णु एवं धर्मांध थे और कई स्थानों पर उन्होंने लोगों का जबरन धर्म परिवर्तन किया।
- फितोरिया मात्र एक व्यापारिक अड्डा था जिसे क्षेत्रीय राज्य के रूप में बदलने की राजनीतिक इच्छा शक्ति नहीं दिखाई गई।
- पुर्तगालियों ने स्वयं को एकाधिकार व्यापार के मुनाफों तक ही सीमित रखा।
- उनका नियंत्रण कुछ क्षेत्रों—उत्तरी अफ्रीका, दीव, दमन, गोवा, तिमोर और माकाओ—तक ही सीमित रह गया।
- भारतीय शासकों एवं जनता के प्रति धार्मिक असहिष्णुता।
- उन्होंने डकैती और लूटमार को अपनी नीति का भाग बनाया।
- उन्हें डचों और अन्य यूरोपीय व्यापारिक शक्तियों से संघर्ष करना पड़ा।
- वास्तव में, पुर्तगाली आर्थिक और राजनैतिक रूप से दूसरी पश्चिमी शक्तियों से प्रतिस्पर्धा करने में अक्षम थे।
- ब्राजील की खोज के बाद उनका भारत की ओर ध्यान कम हो गया।
- पुर्तगाल में उनके उद्योग-धंधे अधिक विकसित नहीं हो पाए और वे वितरक के रूप में व्यापार करते रहे।
- पुर्तगाली व्यापारियों पर पुर्तगाली राजा का अत्यधिक नियंत्रण था।

डच

आगमन एवं गतिविधियां

स्पेन का पतन होने के पश्चात् पुर्तगाली शक्ति बिखर गई और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक डचों ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। सोलहवीं शताब्दी से ही डच अपनी वाणिज्यिक और नौसैनिक शक्ति को बढ़ा रहे थे। वे पुर्तगालियों द्वारा लाए गए पूरब के सामान को लिस्बन से एंटवर्प पहुंचाया करते थे, जहां से वह यूरोप के बाजारों में पहुंचाया जाता था। डचों ने व्यापारिक संगठन और तकनीक तथा जहाजरानी में नवीन प्रयोग किए। सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने फ्लूटशिप का निर्माण किया, जो अपने आप में एक अनोखा और अद्भुत जहाज था। यह फ्लूटशिप बेहद हल्का था और इसे खेने के लिए कम लोगों की जरूरत पड़ती थी। इससे आने-जाने के खर्च में कटौती हुई। डच जहाज भारी और धीमी गति से चलने वाले पुर्तगाली जहाजों से श्रेष्ठ सिद्ध हुए। डचों ने नीदरलैंड से स्पेनवासियों को हटाने के लिए कड़ा संघर्ष किया था। उन्होंने एक राष्ट्रीय भावना के अंतर्गत भी पुर्तगालियों से मसाले का व्यापार छीनने का भी संकल्प किया।

डचों ने अंग्रेजों की भांति भारत समेत अंतरराष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था को एक नया मोड़ दिया था। डचों की व्यापारिक कम्पनी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह पूर्णतः व्यापारिक संस्था थी। सत्रहवीं शताब्दी में हॉलैण्ड यूरोप में आरम्भिक वाणिज्यवादी गतिविधियों का एक प्रमुख केंद्र था। एम्स्टर्डम में 1609 ई. में एक्सचेंज बैंक तथा 1614 ई. में क्रेडिट बैंक ऑफ एम्स्टर्डम आरंभ हुए। एशियाई वस्तुओं की बिक्री एमस्टर्डम में होने लगी, जिससे कि यह पुनः निर्यात-व्यापार का एक मुख्य केंद्र बन गया। एशियाई वस्तुओं के व्यापार द्वारा अधिक मुनाफा कमाने की महत्वाकांक्षा ने डचों को हिंद-महासागरीय एवं एशियाई क्षेत्रों की ओर प्रवृत्त किया।

डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापनाः यह एक वाणिज्यिक उद्यम था जिसने डच को पूरब की यात्रा करने के लिए प्रवृत्त किया। कार्नेलिस डी हाउटमेन पहला डच था, जो 1596 में सुमात्रा और बंताम पहुंचा। इसने डच को आगामी उद्यम के लिए प्रोत्साहित किया, और अगले कुछ वर्षों के दौरान भारतीय व्यापार के लिए एक नई कंपनी बनाई गई।

मार्च, 1602 ई. में डच संसद द्वारा पारित उद्घोषणा से डच संयुक्त कम्पनी की स्थापना हुई, जिसमें कई स्वतंत्र एवं समृद्ध डच व्यापारी सम्मिलित हो गए। डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी 'Vereenigde Oost-Indische Compagnie (VOC)' की कुल आरम्भिक पूंजी 6,500.000 गिल्डर थी। इस कम्पनी को भू-मध्यसागर के पूर्व में व्यापार करने की अनुमति मिली थी। कम्पनी का पूर्वी केंद्र *बेटविया* में स्थित था।

भारत में डच फैक्ट्रियों की स्थापनाः डचों ने भारत और हिंद महासागरीय-क्षेत्रों में पुर्तगाली सत्ता को चुनौतियां देते हुए अनेक बस्तियों और व्यापारिक केंद्रों की स्थापना की। भारत में डच संस्थापना की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि पुलिकट स्थित गेलड्रिया के दुर्ग को छोड़कर शेष बस्तियां अदुर्गीकृत थीं। भारत के पूर्वी भाग, पूर्वी तटीय क्षेत्र और पश्चिमी तट पर डचों ने अपनी फैक्ट्रियां स्थापित की 1605 *ई. में मसुलीपट्टम् में,* 1610 *ई. में पुलिकट में,* 1616 *ई. में सूरत में, बिमिलिपट्टम* (1641 *ई.*) *में;* 1645 *ई. में करिकल में,* 1653 *ई. में चिंन्सुरा में;* 1658 *ई. में कासिमबाजार, पटना, बालासोर व नेगापट्टम में तथा* 1663 *ई. में* कोचीन में डचों ने अपनी फैक्ट्रियां स्थापित कीं।

भारत के अतिरिक्त, बाह्य समीपवर्ती क्षेत्रों पर भी डचों ने अपना प्रभुत्व जमाया था। डचों ने 1605 ई. में *अम्बोयना,* 1619 ई. में *मसाला द्वीप,* तथा 1658 ई. में *श्रीलंका जीते।* 1641 ई. में *मलक्का* में भी डचों की पुर्तगालियों पर विजय हुई।

भारत में अपनी व्यापारिक धाक जमाने में डचों को स्थानीय शासकों से व्यापारिक सुविधाएं मिलीं। गोलकुण्डा के सुल्तान; जिंजी, मदुरै और तंजौर (तंजावुर) के नायकों ने डचों को कम शुल्क पर व्यापार करने की छूट दी। कोचीन के मुट्टा शासन ने विशेष व्यापारिक सुविधाएं प्रदान कीं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था, पुड़ाक्कड़ और क्रांगनूर के

मध्य-क्षेत्र में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार। उत्तरी तथा दक्षिणी कोरोमण्डल में डचों को चुंगी में रियायत मिली तथा वस्त्र-व्यापार में उन्हें मुहर शुल्क से मुक्त कर दिया गया, जबकि अन्य विदेशी व्यापारिक कंपनियों को यह कर देना पड़ता था।

पुर्तगाली सत्ता पर डचों का प्रहारः डचों की व्यापारिक संस्था *वोक* (VOC) एक नवीन प्रकार की संस्था थी और डचों के इस प्रयोग से पुर्तगालियों की व्यापारिक सत्ता को तोड़ने में मदद मिली। मुनाफे और पूंजी पर नियंत्रण तथा उनके निवेश द्वारा स्थायी पूंजी का निर्माण—कम्पनी की मुख्य कार्यनीति थी। 1632 ई. में हुगली-क्षेत्र से पुर्तगालियों को डचों ने हटाना शुरू किया। 1658 ई. में श्रीलंका से डचों ने पुर्तगालियों को हटाया। 1659 ई. में तंजौर तट पर स्थिति नेगापट्टम् डचों ने पुर्तगालियों से जीता।

डच व्यापारः एशियाई सम्पर्क के आरंभिक चरण में डच मूलतः काली मिर्च एवं अन्य मसालों के प्रति रुचि रखते थे। चूंकि, ये मसाले मुख्यतः इण्डोनेशिया में मिलते थे, अतः डचों का वह मुख्य केंद्र बन गया। इन्होंने कोरोमण्डल तट से भारतीय वस्त्रों को दक्षिण-पूर्व एशिया में लाकर भारी मुनाफा कमाया। मद्रास के दक्षिण में से ड्रासपट्टम् विशेष वस्त्र हेतु प्रसिद्ध था। एशियाई व्यापार में पुर्तगाली सर्वोच्चता को तोड़ने के लिए डचों ने उनके जहाजों पर प्रहार किए और स्थलीय अड्डों पर आक्रमण किए।

मसुलीपट्टम् से नील का निर्यात किया जाता था। डचों ने शोरे के निर्यात-व्यापार को बहुत प्रोत्साहित किया। अफीम, रेशम और सूती-वस्त्र को जावा और चीन में बेचकर डचों ने लाभ कमाया।

डच, दलालों के माध्यम से बुनकरों से सम्पर्क करते थे। वैसे, कभी-कभी वे कारीगरों को सीधा रोजगार भी देते थे। गोलकुण्डा के एक गांव के निवासी जब लगान नहीं चुका सके, तब डचों ने लगान की रकम चुकाकर, उनसे सेवाएं प्राप्त कीं। 1650 के दशक में डच कम्पनी ने कासिम बाजार में स्वयं रेशम की चक्री का उद्योग स्थापित किया था।

डच-अंग्रेज संघर्षः समस्त 17वीं शताब्दी के दौरान, डच ने पुर्तगालियों के प्रभाव को समाप्त करके पूरब में मसाले के व्यापार पर एकाधिकार सुनिश्चित कर लिया। मसाले के व्यापार पर उनके अधिकार, कंपनी की संपत्ति और उनकी योग्यता ने इन सभी क्षेत्रों में व्यापार में उनके एक बड़े हिस्से को सुनिश्चित किया। पुर्तगालियों द्वारा नियंत्रित अंतर-एशियाई व्यापार पर डच ने कब्जा कर लिया। पुर्तगालियों के नियंत्रित क्षेत्रों गोवा, मालाबार के कारखाने और श्रीलंका के साथ उनके दाल चीनी के व्यापार पर कई आक्रमण किए गए। व्यापार के दिनों में गोवा को चारों तरफ से बंद कर दिया गया। 1641 में मलक्का पर कब्जा कर लिया गया और 1655-56 में कोलम्बो और 1659-63 में कोचिन पर कब्जा हासिल कर लिया गया। इसके साथ ही डचों ने वास्तविक रूप से पुर्तगालियों का वर्चस्व समाप्त कर दिया, लेकिन अंग्रेजों के रूप में उनका एक प्रतिद्वंदी बाकी था। उन्होंने यमुना घाटी और मध्य भारत में नील का

उत्पादन, कपड़ा एवं सिल्क का बंगाल, गुजरात एवं कोरोमण्डल, बिहार में साल्टपीटर (शोरा) और अफीम तथा चावल का उत्पादन गंगा घाटी में किया।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से भारत तथा हिंद-महासागरीय क्षेत्र में प्रभुता की स्थापना के लिए डच और अंग्रेजों में संघर्ष आरंभ हो गए। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीन 'आंग्ल-डच-युद्ध' यूरोप में लड़े गए जिनमें अंग्रेजों की विजय हुई। उल्लेखनीय है कि 1717 ई. में अंग्रेजों को मुगल व्यापारिक फरमान मिलने पर डच शक्ति पिछड़ने लगी। तीसरे एंग्लो-डच युद्ध (1672-74) में, सूरत और बॉम्बे की अंग्रेजों की नई बस्ती के बीच संचार निरंतर ध्वस्त होने लगे, दो-तीन अंग्रेजी जहाजों पर बंगाल की खाड़ी में कब्जा कर लिया। 1759 में *बेदरा युद्ध* में अंग्रेजों द्वारा पराजित होने पर भारत में डच महत्वाकांक्षाएं चकनाचूर हो गईं और डच शक्ति पूर्वी एशिया के द्वीपों तक सिमट कर रह गई।

डचों का पतन

लगभग तीन शताब्दियों तक पूर्वी द्वीप समूहों पर डचों का अधिकार रहा, परंतु अंग्रेजों ने भारत में उन्हें स्थापित नहीं होने दिया। जिस शक्ति के साथ डचों ने पुर्तगालियों को पराजित किया था, वह शक्ति अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई में काम नहीं आ सकी। आरंभिक वर्षों में डचों एवं अंग्रेजों के बीच अच्छे संबंध थे, किंतु बाद में व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता के कारण वे एक-दूसरे के शत्रु बन गए। आरम्भ में डचों ने कुछ हद तक अंग्रेजों का मुकाबला भी किया, परंतु बाद में अंग्रेजों ने उन्हें दबा दिया।

डच कम्पनी राष्ट्रीय अधिकारिता में थी, जिससे डच कर्मचारियों में अंग्रेजी कम्पनी के कर्मचारियों के समान नेतृत्व की भावना तथा उत्साह का अभाव था। डच कम्पनी के अधिकारियों का वेतन बहुत कम था, इसलिए वे अपने निजी व्यापार में ही ज्यादा सक्रियता दिखाते थे। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वे कम्पनी के हितों की अनदेखी करते थे। अधिकारियों की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण डच कम्पनी की स्थिति निरंतर खराब होती गयी।

हॉलैण्ड लम्बी अवधि तक पराधीन रहा था, इसलिए उसके पास साधनों की पर्याप्तता नहीं थी, जबकि दूसरी ओर इंग्लैण्ड सदा स्वाधीन रहा था और उसके पास साधनों की प्रचुरता थी। इसलिए, इंग्लैण्ड अपनी इच्छा के अनुसार साधनों एवं शक्ति में वृद्धि करने तथा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करने में भी सफल रहा। बाद के वर्षों में डच व्यापारियों ने भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्वी एशिया के मसालों के द्वीपों की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया। इन्हीं द्वीपों में अपनी विकासात्मक गतिविधियों को केंद्रित करने के कारण डचों को भारत में स्थित अपनी बस्तियों से हाथ धोना पड़ा।

यूरोप में अपनी स्थिति खो देने तथा समुद्र पर अधिकार खो देने के पश्चात् कोई भी शक्ति पूर्व में अपनी प्रमुखता नहीं बनाए रख सकती थी और ऐसा ही डचों के साथ भी हुआ। डचों ने यूरोप में फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों से युद्ध करके अपनी शक्ति में ह्रास

कर लिया था और इस कारण वे पूर्व में अपने साम्राज्य को कायम रखने में असफल हो गए।

अंग्रेज

अंग्रेजों का आगमन एवं सफलता

उन यूरोपीय शक्तियों में, जिन्होंने भारत और हिंद महासागरीय क्षेत्र में आकर नवीन व्यापारिक गतिविधियां आरम्भ की थीं, अंग्रेज सर्वाधिक सफल एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए। गौर करने लायक बात यह है कि पूर्वी देशों की ओर व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में अंग्रेज अपेक्षाकृत देर से आए, किंतु वे शेष यूरोपीय शक्तियों को हराते हुए सबसे आगे निकल गए। इसकी मुख्य वजह यह थी कि अंग्रेज भारत-सहित एशियाई व्यापार के स्वरूप को समझने में सफल रहे और उन्होंने इसके लिए सैनिक-राजनैतिक शक्ति का सहारा लिया। मौलिक कारण यह था कि इंग्लैंड की उपभोक्ता संस्कृति, औद्योगिक विकास, मांग व आपूर्ति का संतुलन तथा अनुकूल राजनैतिक स्थिति ने पूंजी निवेश की प्रवृत्ति को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया।

16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक एशियाई वस्तुएं यूरोप में पहुंचने लगीं थी। इस लाभ के व्यापार ने अंग्रेजों को पूर्व की ओर आने के लिए प्रेरित किया। 1599 ई. में एक दुस्साहसी व्यापारी *मिल्डेनहॉल* भारत आया था।

महारानी एलिजाबेथ प्रथम का चार्टरः ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1600 ईस्वी में हुई। पूर्व में अंग्रेजों या इंग्लैंड के व्यापार के संदर्भ में प्रथम महत्वपूर्ण कदम 31 दिसंबर, 1600 ईस्वी में उठाया गया जब महारानी एलिजाबेथ प्रथम ने एक चार्टर (आदेश-पत्र) जारी करके गवर्नर और लंदन की कंपनी के व्यापारियों को पूरब में व्यापार के विशिष्ट अधिकार प्रदान किए। प्रारंभ में यह विशेषाधिकार 15 वर्षों के लिए प्रदान किए गए जिन्हें मई 1609 में एक नवीन चार्टर (आदेश-पत्र) के माध्यम से अनिश्चित काल के लिए विस्तारित कर दिया गया। शुरुआती वर्षों में, सामान्य तौर पर व्यापारियों के एक समूह का स्वतंत्र बेड़ा भेजा जाता था, ऐसी यात्रा से प्राप्त लाभ को वे आपस में बांट लेते थे।

वित्तीय दृष्टि से ईस्ट इंडिया कंपनी डच कंपनी की तुलना में छोटी कंपनी थी। अपनी प्रथम व्यापार यात्रा में डच कंपनी की तुलना में कम आमदनी हुई। इसके बावजूद अंग्रेजी कंपनी की एक विशेषता यह थी कि उसका संगठन बड़ा ही सहज था, इसमें 24 निदेशकों का समूह था, जिसका चुनाव प्रत्येक वर्ष शेयर होल्डर्स की आम सभा में होता था। शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना ध्यान मसाले के व्यापार विशेष रूप से इंडोनेशिया से काली मिर्च और मसाला प्राप्त होने वाले द्वीप तक केन्द्रित रखा। प्रथम बारह वर्षों तक इन्हें प्रत्येक वर्ष 20 प्रतिशत लाभ होता रहा। शीघ्र ही अंग्रेजों ने भारत की वस्तुओं, विशेषकर कपड़े का महत्व समझा और वे उसका उपयोग मसाला

खरीदने के लिए करने लगे। गुजरात में सूरत में कारखाना खोलने की योजना बनाई गई और कैप्टन विलियम हॉकिन्स को मुगल बादशाह जहांगीर के दरबार में भेजा गया जो 1609 में दरबार (आगरा) में पहुंचा। किंतु पुर्तगालियों के षड्यंत्र के कारण उसे खाली हाथ लौटना पड़ा। जब 1611 में कैप्टन मिड्डलेटन ने सूरत के निकट स्वाली होल में पुर्तगालियों के जहाजी बेड़े को परास्त किया तो मुगल सम्राट जहांगीर ने प्रभावित होकर 1613 ईस्वी में सूरत में स्थायी कारखाना स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी। इससे पूर्व 1611 ई. में मसुलीपट्टम में अंग्रेज एक कारखाना स्थापित कर चुके थे। बाद में पश्चिम तट के अनेक स्थानों पर उन्हें कारखाना खोलने की अनुमति मिली।

हॉकिन्स एवं थॉमस रोः जैसाकि विलियम हॉकिन्स 1609 ई. में जहांगीर के दरबार में पहुंचा लेकिन सूरत में कारखाना खोलने की अनुमति प्राप्त करने में असफल रहा। सन् 1615 में सर थॉमस रो को मुगल दरबार में भेजा गया जो 1619 ईस्वी तक वहां रुका। यद्यपि वह मुगल शासक जहांगीर के साथ वाणिज्यिक संधि करने में असफल रहा, तथापि मुगल भारत में विभिन्न स्थानों पर कारखाने स्थापित करने के उसने विभिन्न विशेषाधिकार सुनिश्चित किए। रो ने शाही सहायता प्राप्त करने के लिए अपने कूटनीतिक कौशल का इस्तेमाल किया। इसके साथ-साथ उन्होंने पुर्तगालियों के जहाज को लूटना और नष्ट करना जारी रखा और भारतीय जहाजों से भारी हर्जाना वसूल करते रहे। उन्होंने अपनी नीति के अंतर्गत चेतावनी, संधियों, षड्यंत्र और आक्रमण का सहारा लिया। 1620 ई. के नौसेना युद्ध में अंग्रेजों ने पुर्तगालियों को परास्त किया और इसके बाद पुर्तगालियों का खतरा लगभग समाप्त हो गया। 1633 ई. में मुगल सेना ने बंगाल में हुगली से पुर्तगालियों को मार भगाया।

अंग्रेजों का व्यापारिक विस्तारः पुर्तगालियों के प्रभाव और शक्ति को समाप्त कर अंग्रेजों ने भारत के विभिन्न हिस्सों में कारखानों की स्थापना की। 1623 ई. तक सूरत और मसुलीपट्टनम के अतिरिक्त भड़ोंच और अहमदाबाद में कारखाने खोले गए और कंपनी की सुरक्षा की दृष्टि से इनकी किलेबंदी की गई। 1625 में अंग्रेजों ने सूरत की किलेबंदी की। इससे उनकी क्षेत्र विस्तार की और साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का पता चलता है। डचों एवं मुगल सत्ता से टकराव से बचने के लिए अंग्रेजों ने दक्षिण भारत के छोटे-छोटे राज्यों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। 1622 ई. में अंग्रेजों ने ओर्मुजपुर पर कब्जा कर लिया। यह एक महत्वपूर्ण विजय थी, क्योंकि इसके पश्चात् वे पुर्तगालियों के आक्रमण से सुरक्षित हो गए।

अंग्रेजों ने 1639 में स्थानीय राजा से मद्रास लीज पर ले लिया। मद्रास एक बंदरगाह था और अंग्रेजों ने राजा को आधा सीमा शुल्क देने का वादा किया। इसके बदले में उन्होंने किलेबंदी करने और अपना सिक्का जारी करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। 1640 ई. में अंग्रेजों ने विजयनगर शासकों के प्रतिनिधि चंद्रगिरि के राजा से

मद्रास छीन लिया। यहां पर सेंट जार्ज किले का निर्माण किया गया, जिसके भीतर कारखाने खोले गए।

1652-54 के दौरान, अंग्रेज डच से शत्रुता के कारण भारत के पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों के नजदीक आ गए। 1661 ई. में ब्रिटेन के सम्राट चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की राजकुमारी से विवाह कर लिया, जिसमें दहेजस्वरूप उसे बम्बई टापू मिल गया। चार्ल्स ने इसे 10 पौण्ड वार्षिक के मामूली से किराए पर ईस्ट इंडिया कंपनी को दे दिया। 1687 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्यालय सूरत से बम्बई लाया गया और धीरे-धीरे सर चार्ज ऑक्सेनडेन (1662-1669), जेराल्ड ऑगिंयर (1669-77) और सर जॉन चाइल्ड (1682-90) के प्रशासन के दौरान समृद्धि की तरफ बढ़ने लगा।

पूर्वी भारत में कंपनी का बढ़ता प्रभावः 1630 के बाद पूर्वी भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभाव तेजी से बढ़ा। 1633 ई. में ओडिशा के बालासोर और 1651 में बंगाल के हुगली में कारखाने स्थापित किए गए। बिहार में पटना और बंगाल में ढाका और कासिम बाजार में भी कई कारखाने खुले। 1658 ई. में बंगाल, बिहार, ओडिशा और कोरोमंडल तट सेंट जॉर्ज किले के नियंत्रण में आ गए। पूर्वी भारत में, कंपनी को अपने व्यापार के लिए माल, जैसे कपड़े का थान, सिल्क, चीनी और शोरा देश के अंदरूनी हिस्सों में लाना पड़ता था। इसके लिए उन्हें कई जगह चुंगी और सीमा शुल्क देना पड़ता था। कंपनी ने बराबर इन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। 1651, 1656 और 1672 में प्राप्त फरमानों से उन्हें इन बाधाओं से मुक्ति मिली। अब उन्हें कुछ निश्चित राशि भारतीय राजाओं को देनी पड़ती थी। 1680 में मुगल सम्राट ने कंपनी पर जजिया कर लगाया और इसके बदले में कंपनी को सूरत के अलावा सभी जगह सीमा शुल्क रहित व्यापार करने की अनुमति दे दी।

कलकत्ता में व्यापार की शुरुआतः 1690 ई. में बंगाल के नवाब इब्राहिम खां ने ईस्ट इंडिया कंपनी को निमंत्रित किया। 1691 ई. के फरमान द्वारा औरंगजेब ने एक निश्चित वार्षिक राशि के बदले में बंगाल में चुंगी रहित व्यापार की अनुमति अंग्रेजी कंपनी को दी। शीघ्र ही अंग्रेजों ने सूतानती में एक कारखाना स्थापित कर लिया और इसे किलाबंद कर लिया। 1696 में एक जमींदार शोभा सिंह ने बगावत कर दी। 1698 ई. में 1200 रुपए में कंपनी ने जमींदार अर्थात् राजस्व वसूलने का अधिकार खरीद लिया। इससे उन्हें सूतानती, गोविंदपुर और कलिकता गांव की जमींदारी मिल गई। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी ने 90 वर्षों के अंदर तीन प्रमुख बंदरगाहों—बम्बई, मद्रास एवं कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। 17वीं शताब्दी के मध्य तक डच ईस्ट इंडिया कंपनी का सफाया हो गया। 1700 ई. में बंगाल के कारखाने प्रेसिडेंट और परिषद् के अधिकार में आ गए, जिनका मुख्यालय फोर्ट विलियम नामक किलेबंद बस्ती में था। कलिकत्ता नाम का अंग्रेजीकरण करके कलकत्ता कर दिया गया। तत्पश्चात् इस बस्ती का तेजी से विकास हुआ।

फर्रुखसियर फरमान एवं कंपनी व्यापार का विस्तारः औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य कमजोर हो गया और अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाते हुए कई छूटें और विशेषाधिकार प्राप्त किए। 1717 ई. में जॉन सरमैन की अध्यक्षता में अंग्रेजी शिष्ट मण्डल मुगल सम्राट फर्रुखसियर से फरमान पाने में सफल रहा जिससे 1691 के फरमान के निमित्त सुविधाएं गुजरात एवं दक्कन में बढ़ा दी गई थीं। 1717 में मुगल बादशाह फर्रुखसियर ने एक शाही फरमान जारी करके कंपनी को विभिन्न विशेषाधिकार प्रदान किए। इसके अंतर्गत—(i) ईस्ट इंडिया कंपनी को कलकत्ता के आस-पास के और अधिक क्षेत्रों में राजस्व वसूली के अधिकार प्रदान किए गए; (ii) 10,000 रुपए सालाना राशि देने के एवज में सूरत के सभी करों से उन्हें मुक्ति मिल गई; (iii) कंपनी को बिना शुल्क दिए बंगाल में मुक्त रूप से व्यापार करने की छूट मिली जिसके बदले में कंपनी को 30,000 रुपए की एक रकम वार्षिक रूप से अदा करनी थी; (iv) बंबई में ढाले गए कंपनी के सिक्के को पूरे मुगल साम्राज्य में वैधता प्रदान करने की भी घोषणा की गई; (v) कंपनी के हैदराबाद के पुराने विशेषाधिकारों को बनाए रखा गया और उस क्षेत्र में उन्हें कर छूट दी गई, इत्यादि विशेषाधिकार शामिल थे।

पुर्तगालियों एवं डचों के साथ अंग्रेजों का संघर्षः स्वयं को स्थापित करने में एक ओर अंग्रेजी कंपनी को मुगल और भारतीय राज्यों से निपटना पड़ा, तो दूसरी ओर उन्हें पुर्तगालियों और डचों से भी लोहा लेना पड़ा। 17वीं शताब्दी के शुरुआती तीन दशकों में उन्हें पुर्तगालियों का सामना करना पड़ा। 1630 में मैड्रिड संधि के पश्चात् अंग्रेजों और पुर्तगालियों की शत्रुता समाप्त हुई। 1634 ई. में सूरत स्थित अंग्रेजी कारखाने के अध्यक्ष और गोवा स्थित पुर्तगाली वायसराय के बीच एक दूसरी संधि हुई, जिसके अनुसार भारत के वाणिज्यिक मामलों में दोनों देशों ने एक-दूसरे की सहायता करने का निर्णय लिया। 1654 ई. में पुर्तगालियों ने पूर्व के व्यापार पर अंग्रेजों के अधिकार को स्वीकार कर लिया और 1661 की संधि के अंतर्गत भारत के डचों के विरुद्ध दोनों एकजुट हो गए।

डच व्यापारिक शक्ति के संदर्भ में गौर करें तो स्पष्ट होता है कि डचों ने मसाले के व्यापार से न केवल पुर्तगालियों को निष्कासित कर दिया था, अपितु दक्षिण-पूर्वी एशिया से अंग्रेजों को भी मार भगाया था। यद्यपि डचों की रुचि मुख्य रूप से मसाला उत्पादक द्वीपों में थी, पर उन्होंने पुलिकट (1610), सूरत (1616), चिनसुरा (1653), कासिम बाजार, बरंगगोर, पटना, बालासोर, नागपट्टम (1659) और कोचिन (1663) में अपने कारखाने भी खोल रखे थे। डच अंग्रेजों की अपेक्षा सुरक्षित स्थिति में थे। उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया पर अपना अधिकार जमा रखा था, इसलिए उन पर अंग्रेजों की तरह भारत में राज्य क्षेत्र हासिल करने का दबाव नहीं था। 1653-54 के बाद कई बार डचों और अंग्रेजों की शत्रुता मुठभेड़ की स्थिति में पहुंच गई। इसी समय डच

जहाजी बेड़े स्वाली के निकट पहुंच गए और अंग्रेजों को सूरत में अपना कारोबार स्थगित करना पड़ा। 1667 में डच भारत में स्थापित अंग्रेजी अड्डों को छोड़ने के लिए राजी हो गए और अंग्रेजों ने इंडोनेशिया पर अपना दबाव छोड़ दिया। इस प्रकार दोनों शक्तियों ने पारस्परिक समझौता कर लिया। इसके बावजूद अंग्रेज निरंतर डचों को भारत भूमि से बाहर निकालने का प्रयत्न करते रहे; और डचों ने देशी व्यापार तक स्वयं को सीमित कर लिया। अठारहवीं शताब्दी में डचों का तेजी से पतन हुआ। अंग्रेजों के विशेषाधिकारों में वृद्धि हुई और उन्होंने कई वस्तुओं के व्यापार पर नियंत्रण कर लिया। अंत में 1795 में अंग्रेजों ने डचों को भारत से निकाल बाहर किया जिससे उनका भारत अधिकार क्षेत्र समाप्त हो गये।

अंग्रेजों के व्यापार एवं विस्तार का प्रभाव

अंग्रेजों ने शीघ्र ही अरब सागर और फारस की खाड़ी पर अपना एकाधिकार कर लिया। अंग्रेज भारत से वस्त्र, नील, शोरा, मसाले, मलमल इत्यादि ले जाते थे। आरम्भ में, अंग्रेजों द्वारा भारतीय वस्तुओं का बड़े पैमाने पर आयात किए जाने के कारण भारतीय दस्तकारी को बहुत लाभ पहुंचा। बड़े-बड़े भारतीय व्यापारी कम्पनी के मध्यस्थ व्यापारी के रूप में काम करने लगे। अपनी समकालीन यूरोपीय तथा भारतीय शक्तियों को पराजित करने के बाद, अंग्रेजों ने भारत में अपना राजनीतिक प्रसार आरम्भ कर दिया, ताकि व्यापारिक आवश्यकताएं पूरी की जा सकें। इसी क्रम में अंग्रेज, भारत में मुगलों की वैकल्पिक शक्ति के रूप में उभरे। 1764 ई. तक बंगाल-विजय के बाद से तो अंग्रेजों ने ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यापार को स्वरूप प्रदान किया।

फ्रांसीसी

फ्रांसीसियों का भारत आगमन

अन्य यूरोपीय कंपनियों की भांति फ्रांसीसी कंपनी भी वाणिज्यिक गतिविधियों और विचारों की उपज थी।

अन्य समकालीन यूरोपीय शक्तियों की तुलना में फ्रांसीसी शक्ति को भारतीय तटों तक पहुंचने में देर लग गई। फ्रांसीसी 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मैडागास्कर इत्यादि क्षेत्रों में व्यस्त थे। लुई चौहदवें के शासनकाल में फ्रांसीसी इतिहास में कई युगांतरकारी घटनाओं के क्रम में उसके एक मंत्री कॉल्बर्ट द्वारा 1664 ई. में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी The compaginie des Indes Orientales की स्थापना की गयी। यह पूर्णतः राज्याधीन थी।

1667 ई. में फ्रांसिस केरॉन की अध्यक्षता में एक अभियान दल भारत पहुंचा। 1668 ई. में इस दल ने सूरत में अपना पहला कारखाना स्थापित किया। 1669 ई.

में फ्रांसीसियों ने भारत के पूर्वी तट पर स्थित मसूलीपट्टनम् नामक स्थान पर एक कारखाना स्थापित किया और फ्रांसिस मार्टिन को सूरत और मसूलीपट्टनम् की बस्तियों का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

1672 ई. में एडमिरल डे ने गोलकुण्डा के सुल्तान से सैनथोम छीन लिया। 1673 ई. में फ्रैंको मार्टिन तथा लेस्पिने ने वलिकोण्डापुरम् के शासक शेर खां लोदी से एक छोटा क्षेत्र पुदुचेरी प्राप्त किया। फ्रैंकों मार्टिन के नेतृत्व में यहीं *पाण्डिचेरी* का विकास आरम्भ हुआ। हालांकि, 1698 ई. में डचों ने पाण्डिचेरी छीन लिया था, किंतु 1697 ई. की *रेजविक की संधि* से पुनः पाण्डिचेरी फ्रांसीसियों को दे दी गई। इसी प्रकार, 1690 ई. में मुगल गवर्नर से चंद्रनगर फ्रांसीसी कम्पनी ने प्राप्त किया।

हालांकि 1665 ईस्वी और 1695 ई. के मध्य फ्रांसीसी कम्पनी ने 74 सुसज्जित जहाज भारत भेजे थे, लेकिन अंग्रेजों और डचों की तुलना में उनकी गतिविधि अभी भी बेहद कम थे।

फ्रांसीसी कम्पनी का पुनर्गठनः फ्रांसीसी कंपनी की वित्तीय स्थिति बेहद कमजोर थी, लेकिन 1720 में इसके पुनर्गठन के पश्चात् कंपनी की स्थिति बेहतर हुई। 1721 ई. में फ्रांसीसियों ने मॉरीशस पर कब्जा कर लिया। इससे उनकी नौसैनिक शक्ति में वृद्धि हुई और अंग्रेजों से मुकाबला करने की शक्ति अर्जित की। 1725 में मालाबार तट और 1739 में कारिकल पर उन्होंने अपना कब्जा जमाया। इसके बावजूद फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी डचों और अंग्रेजों की तुलना में अपनी सरकार पर अधिक निर्भर थी। इसके पास सशक्त संगठन और पर्याप्त पूंजी का अभाव था। इसकी वाणिज्यिक गतिविधियों पर सरकार का अत्यधिक नियंत्रण था जिससे कंपनी की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा। इसकी नियति और विकास फ्रांस में हो रही गतिविधियों पर काफी कुछ निर्भर था। इसके अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी समाज अपने समकालीन अंग्रेजी समाज की तुलना में कम सक्रिय था।

भारत में फ्रांसीसी शक्ति का प्रसार, फ्रांस की वैदेशिक नीति से बहुत अधिक प्रभावित था। 1672 ई. से 1713 ई. के मध्य फ्रांस प्रायः हॉलैण्ड के साथ लगातार युद्ध में व्यस्त रहा। यही वज़ह है कि 1706-1720 ई. की अवधि में भारत में फ्रांसीसी प्रभाव में भारी ह्रास हुआ। इसके बाद, 1720 ई. में कम्पनी का पुनर्निर्माण हुआ तथा 1742 ई. तक पाण्डिचेरी के गवर्नर लिनो (Lenior) तथा ड्यूमा (Dumas) के कूटनीतिपूर्ण शासन से फ्रांसीसी प्रभुसत्ता की पुनःप्राप्ति हुई।

1742 ई. तक भारत में फ्रांसीसियों ने अपनी गतिविधियों को व्यापार तक ही केन्द्रित रखा। परंतु, 1742 ई. के बाद फ्रांसीसियों की नीति में आमूल परिवर्त्तन हुआ और उन्होंने अपना उद्देश्य साम्राज्यवाद का विस्तार निर्धारित किया।

1742 ई. में डूप्ले की फ्रांसीसी गर्वनर के रूप में नियुक्ति-भारत में फ्रांसीसी व्यापार

के इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत थी। इसके बाद अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के मध्य तीन कर्नाटक-युद्ध हुए, जिनमें अंतिम हार फ्रांसीसियों की हुई।

सर्वोच्चता हेतु आंग्ल–फ्रांसीसी संघर्ष

सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक अंग्रेजों ने पुर्तगाली और डच प्रतिद्वंदियों को समाप्त कर दिया था, लेकिन अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस एक नया प्रतिद्वंद्वी बनकर सामने आया। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 1668 ई.में फ्रांसीसियों ने सूरत में पहली व्यापारिक कोठी स्थापित करने में सफलता पाई। 1690-92 के दौरान उन्होंने कलकत्ता में भी व्यापारिक-केंद्र स्थापित कर लिया। अठारहवीं शताब्दी के आरंभिक दो वर्षों में फ्रांसीसी कम्पनी के व्यापार में काफी प्रगति हुई। फ्रेंच-ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच संघर्ष का मुख्य कारण व्यापार में एकाधिकार और राजनीतिक नियंत्रण था।

यद्यपि आरंभ में फ्रेंच-ईस्ट इंडिया कम्पनी का मूलोद्देश्य व्यापार मात्र था, तथापि 1742 में पांडिचेरी के गवर्नर पद पर डूप्ले की नियुक्ति के साथ ही उसके राजनीतिक उद्देश्य भी सामने आने लगे। 1746 ई. में फ्रांसीसियों ने मद्रास पर कब्जा कर लिया।

तत्कालीन भारत का स्वरूप एकीकृत न होकर स्थानीय क्षेत्रों में विभक्त था। इस स्थिति का लाभ सभी यूरोपीय कंपनियों को हुआ। दक्षिणी क्षेत्रों में विशेषकर कर्नाटक, मद्रास और पांडिचेरी में राजनीतिक अनिश्चितता कायम थी। 1740 में यूरोप में ऑस्ट्रियाई उत्तराधिकार का युद्ध फ्रांस व इंग्लैण्ड के परस्पर संघर्ष का समय रहा। उस युद्ध में इंग्लैण्ड का विशेष ध्यान ऑस्ट्रिया की ओर था, इसलिए उनका कोई जहाजी बेड़ा मद्रास के समुद्री तट पर तैनात नहीं था, लेकिन वहां फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा उपस्थित था। इस स्थिति का फ्रांसीसियों ने पूरा लाभ उठाया और मद्रास पर कब्जा कर लिया। दो वर्ष बाद यूरोप में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध की समाप्ति एक्स-ला-शापेल की संधि के साथ हुई। इस संधि के अनुसार मद्रास ईस्ट इंडिया कम्पनी को लौटा दिया गया।

1740 से 1765 ई. के बीच अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध चलता रहा। कर्नाटक, दक्कन के सूबेदार के अधीन एक प्रांत था जिसका शासन नवाब के हाथों में था। व्यापारिक अधिकार के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच तीन युद्ध हुए

प्रथम कर्नाटक युद्ध (1740-1748 ई.): यह युद्ध 1740 ई. से 1748 ई. के बीच लड़ा गया था। युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से कर्नाटक के नवाब पद के उत्तराधिकार का संघर्ष दृष्टिगोचर हो रहा था, परंतु अप्रत्यक्ष रूप से इसमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और फ्रेंच ईस्ट इंडिया कम्पनी की शक्तियां लड़ रही थीं। इस युद्ध में फ्रांसीसी शक्ति पूरे समय तक हावी रही, परंतु आपसी मनमुटाव के कारण वे लाभ उठाने में असमर्थ रहे।

अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों की व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता ही इस युद्ध का सर्वप्रमुख कारण था, क्योंकि दोनों कम्पनियां एक दूसरे के व्यापार को हानि पहुंचाकर अधिक-से-अधिक

लाभ उठाने की कोशिश कर रही थीं। 1740 ई. में ऑस्ट्रिया का उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध का प्रभाव भारत में भी अंग्रेजों एवं फ्रांसीसियों पर हुआ। चूंकि यूरोप में अंग्रेज और फ्रांसीसी आपस में लड़ रहे थे, इसलिए भारत में भी वे लड़ने लगे। ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का समाचार जिस समय भारत पहुंचा, उस समय पाण्डिचेरी का फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले था और मद्रास का अंग्रेज गवर्नर मोर्स था। मद्रास तथा पाण्डिचेरी के बंदरगाह कर्नाटक राज्य में आते थे। डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन से निवेदन किया कि वह अपने राज्य में किसी प्रकार का युद्ध न होने दे। इसके पूर्व उसने मोर्स से भी युद्ध न होने देने का प्रस्ताव किया था।

डूप्ले ने कूटनीति का सहारा लिया और आरम्भ में अंग्रेजों को शांत करने के पश्चात् उसने सितम्बर, 1746 में मॉरीशस के गवर्नर लाबोर्दोने की सहायता से मद्रास को अपने अधिकार में ले लिया। इस बीच डूप्ले और लाबोर्दोने के बीच मतभेद हो गया तथा लाबोर्दोने ने चार लाख पौण्ड की रिश्वत लेकर मद्रास फिर से अंग्रेजों को सौंप दिया। लाबोर्दोने के मॉरीशस वापस जाने पर डूप्ले ने फिर से मद्रास पर अधिकार कर लिया।

डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन को यह आश्वासन दिया था कि वह मद्रास को जीतने के बाद उसे सौंप देगा। परंतु, डूप्ले ने ऐसा नहीं किया। इस कारण अनवरुद्दीन के पुत्र महफूज खां ने विशाल सेना की सहायता से फ्रांसीसियों पर आक्रमण कर दिया। डूप्ले के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना ने अडयार के समीप नवाब की सेना को पराजित कर दिया।

मद्रास तथा नवाब की सेना पर विजयों से फ्रांसीसियों की महत्त्वाकांक्षा बढ़ गई और उन्होंने पॉण्डिचेरी के दक्षिण में स्थित अंग्रेजों की एक अन्य बस्ती फोर्ट सेंट डेविड पर अधिकार करने का प्रयास किया, परंतु लगभग डेढ़ वर्ष के घेरे के बाद भी डूप्ले इस बस्ती पर अधिकार करने में असमर्थ रहा। इस बीच इंग्लैण्ड से भारत में अंग्रेजों की सहायता के लिए सेना पहुंच गयी। इस सहायता से उत्साहित होकर अंग्रेजों ने भी पॉण्डिचेरी का घेरा डाल दिया, परंतु उस पर अधिकार करने में अंग्रेज भी असफल रहे और उन्हें फोर्ट सेंट डेविड वापस आना पड़ा।

1748 ई. में यूरोप में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच एक्स-ला-शापेल की संधि हुई जिससे यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया। इस संधि के परिणामस्वरूप भारत में भी दोनों पक्षों के बीच युद्ध समाप्त हो गया। इस संधि के प्रावधानों के तहत अंग्रेजों को भारत में मद्रास तथा फ्रांसीसियों को उत्तरी अमरीका में लुईसबर्ग फिर से प्राप्त हो गए।

प्रथम कर्नाटक युद्ध का कोई तात्कालिक राजनीतिक प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा—न तो इस युद्ध से फ्रांसीसियों को कोई लाभ हुआ और न ही अंग्रेजों को। इस युद्ध ने भारतीय राजाओं की कमजोरियों को उजागर किया। प्रथम कर्नाटक युद्ध के समय से जल सेना का महत्त्व बढ़ा और यह स्पष्ट हो गया कि अब भारतीय सेना, यूरोपीय सेना से स्पष्ट रूप से कमजोर हो गयी है और जिस शक्ति के पास जल सेना

मजबूत होगी भारत में उसी की सत्ता स्थापित होगी। देशी राजाओं की कमजोरियों को जानने के बाद फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने साम्राज्य-विस्तार का निश्चय किया। सबसे बढ़कर इस युद्ध ने फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले तथा अंग्रेजी सेनापति क्लाइव की महत्त्वाकांक्षाओं को बढ़ा दिया।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1751-1755 ई.): यह युद्ध 1751 ई. से 1755 ई. के बीच लड़ा गया। इस युद्ध की पृष्ठभूमि भारतीय परिस्थितियों में निर्मित हुई थी। कर्नाटक में हैदराबाद के निजाम एवं मराठों के हस्तक्षेप से युद्ध की परिस्थितियां उत्पन्न हुई थीं। 1748 ई. में हैदराबाद के निजाम आसफजाह निजामुल्मुल्क का देहावसान हो जाने पर उसके पुत्र मुजफ्फरजंग तथा नासिरजंग के बीच उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हो गया। ठीक उसी समय कर्नाटक में भी इसी प्रकार का संघर्ष कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन तथा भूतपूर्व नवाब दोस्त अली के दामाद चंदा साहब के बीच शुरू हो गया।

हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार के युद्ध में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने खुलकर भाग लिया। अंग्रेजों ने हैदराबाद में नासिरजंग का तथा कर्नाटक में अनवरुद्दीन का साथ दिया, जबकि फ्रांसीसियों ने कर्नाटक में चंदा साहब को और हैदराबाद में मुजफ्फरजंग का साथ दिया। इस कारण एक बार फिर दोनों यूरोपीय शक्तियां आपस में लड़ पड़ीं। उधर 1749 ई. में तंजावुर में भी उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध में भाग लेकर अंग्रेजों ने देवी कोटाई नामक क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया। इससे फ्रांसीसी क्षुब्ध हो गए और अंग्रेजों का विरोध करने लगे।

फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले चंदा साहब तथा मुजफ्फरजंग से संधि करने के पश्चात् अपने समर्थकों को सत्तासीन करने का प्रयत्न करने लगा। डूप्ले ने इन दोनों की सहायता से कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन पर आक्रमण कर दिया। 3 अगस्त, 1749 ई. को वेल्लोर के निकट अम्बर के युद्ध में पराजित होकर अनवरुद्दीन मारा गया। युद्ध क्षेत्र से अनवरुद्दीन का पुत्र मुहम्मद अली भाग गया। इस तरह कर्नाटक पर चंदा साहब का अधिकार हो गया। डूप्ले की सहायता से प्रसन्न होकर चंदा साहब ने पाण्डिचेरी के निकट एक विशाल क्षेत्र फ्रांसीसियों को उपहारस्वरूप प्रदान किया।

कर्नाटक में फ्रांसीसी प्रभाव को सीमित करने के लिए अंग्रेजों ने हैदराबाद के नासिरुद्दीन को कर्नाटक के विरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित किया। 1750 ई. में नासिरजंग ने कर्नाटक पर आक्रमण किया। नासिरजंग ने मुजफ्फरजंग को बंदी बना लिया। इस समय डूप्ले ने कूटनीति का सहारा लिया और नासिरजंग के सैन्य अधिकारियों को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया। इन अधिकारियों ने 1750 ई. के अंत में नासिरजंग की हत्या कर दी। मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का नवाब घोषित कर दिया गया। परंतु, मुजफ्फरजंग की पद पर आसीन होने के पूर्व ही हत्या कर दी गयी। इस स्थिति में नासिरजंग के छोटे भाई सलावतजंग को हैदराबाद का नवाब बनाया गया। सलावतजंग ने फ्रांसीसियों को उपहारस्वरूप उत्तरी प्रदेश प्रदान किया।

1751 ई. में अंग्रेजों की ओर से मद्रास में साण्डर्स को गवर्नर बनाया गया। उसने कर्नाटक में मुहम्मद अली की सहायता के लिए मई, 1751 ई. में अंग्रेजी सेना त्रिचनापल्ली की ओर भेज दी। परिस्थितियों को देखते हुए फ्रांसीसियों ने भी चंदा साहब की रक्षा के लिए सेना भेज दी। दोनों ओर से सेना भेजे जाने के कारण कर्नाटक युद्धक्षेत्र बन गया। इसी वर्ष तंजावुर और मैसूर के शासक तथा मराठा सरदार मुरारी राव अंग्रेजों के पक्ष में हो गए, जिससे परिस्थितियां और विकट हो गईं।

जब अंग्रेज और फ्रांसीसी त्रिचनापल्ली की घेरेबंदी में लगे थे, ठीक उसी समय रॉबर्ट क्लाइव ने गवर्नर साण्डर्स को कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर आक्रमण करने की सलाह दी। अगस्त, 1751 ई. में क्लाइव ने अर्काट पर विजय प्राप्त कर ली। चंदा साहब को जब इसका समाचार मिला, तब उसने अपने पुत्र रजा खां के नेतृत्व में एक विशाल सेना अर्काट की ओर भेजी। रजा खां ने अर्काट में क्लाइव को घेर लिया और उस पर दबाव बनाने में भी सफल रहा, परंतु इसी बीच मेजर लॉरेंस की अध्यक्षता में एक अंग्रेजी सेना क्लाइव की सहायता के लिए पहुंच गई। रजा खां को विवशतापूर्वक पीछे हटना पड़ा।

अर्काट में जीत हासिल करने के बाद क्लाइव और लॉरेंस ने अपने कदम आगे बढ़ाए और 1751 ई. में ही चंदा साहब तथा फ्रांसीसी कमांडर लॉ को पराजित कर त्रिचनापल्ली पर अधिकार कर लिया। चंदा साहब तत्काल भागने में सफल रहा, परंतु बाद में उसकी हत्या कर दी गयी। अंग्रेजों ने चंदा साहब की जगह मुहम्मद अली को कर्नाटक का नवाब बनाया।

विपरीत परिस्थितियों में भी फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने अपना धैर्य बनाए रखा और शीघ्र ही मराठों तथा मैसूर के शासक को अपने पक्ष में कर लिया। उसने तंजावुर के शासक को तटस्थ रहने का परामर्श दिया तथा 1753 ई. में फिर से त्रिचनापल्ली का घेरा डाला। 1753 ई. में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की जीत का सिलसिला चलता रहा। फ्रांस की सरकार डूप्ले की लगातार संघर्ष की नीति से तंग आ गयी थी और इसीलिए उसने डूप्ले को फ्रांस बुलाने का निर्णय लिया। डूप्ले को फ्रांस बुला लिया गया तथा उसकी जगह गोडह्यू को गवर्नर नियुक्त किया गया। गोडह्यू अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ था, इसलिए भारत में अपना पद संभालने के साथ ही अंग्रेजों के साथ समझौते के लिए वार्ताएं शुरू कर दीं।

1755 ई. में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच पाण्डिचेरी में संधि हो गयी और द्वितीय कर्नाटक युद्ध समाप्त हो गया। संधि में इस प्रावधान को केंद्रित किया गया कि दोनों शक्तियां भारतीय राज्यों के आंतरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगी। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने एक-दूसरे के विजित प्रदेशों को वापस कर दिया। यह भी प्रावधान किया गया कि यदि दोनों देशों की सरकारें इसे मान्यता प्रदान कर

देंगी, तो यह संधि स्थायी होगी। 1755 ई. में ही फ्रांस तथा इंग्लैण्ड के बीच सप्तवर्षीय युद्ध शुरू हो गया और पाण्डिचेरी की संधि अप्रासंगिक हो गयी।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध ने भारतीय इतिहास पर दूरगामी प्रभाव छोड़ा। इस युद्ध के दौरान डूप्ले के नेतृत्व में फ्रांसीसी, अंग्रेजों पर हावी रहे थे, किंतु युद्ध के अंतिम समय में डूप्ले को वापस बुला लिए जाने से फ्रांसीसियों का प्रभाव घटने लगा। इस युद्ध के अंत ने भारत में डूप्ले की सफलताओं को खाक कर दिया, जबकि इस समय से रॉबर्ट क्लाइव का महत्त्व बढ़ने लगा। वस्तुतः, पाण्डिचेरी की संधि द्वारा अंग्रेजों ने वह सब कुछ प्राप्त कर लिया, जिसकी प्राप्ति के लिए डूप्ले के नेतृत्व में फ्रांसीसी प्रयासरत थे। कर्नाटक के द्वितीय युद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि भारत में आने वाला समय अंग्रेजों का है। फ्रांसीसी अपने देश की अंतर्विरोधात्मक नीतियों के चंगुल में फंसे थे, जबकि अंग्रेजों को उनके देश ने पूर्ण सहयोग दिया। वस्तुतः, फ्रांसीसी गवर्नर गोडह्यू ने भारत में फ्रांसीसियों के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

तृतीय कर्नाटक युद्ध (1758-1763 ई.): द्वितीय कर्नाटक युद्ध की समाप्ति पाण्डिचेरी की संधि से हुई थी। पाण्डिचेरी की संधि अस्थायी साबित हुई। 1756 ई. में यूरोप में फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के बीच सप्तवर्षीय युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध ने एक बार फिर भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध का वातावरण उपस्थित कर दिया। तृतीय कर्नाटक युद्ध 1758 ई. से 1763 ई. के बीच लड़ा गया।

भारत में अंग्रेजों के बढ़ते वर्चस्व को रोकने के लिए फ्रांसीसी सरकार ने सेनापति काउण्ट-डी-लाली को एक विशाल सेना के साथ भारत भेजा। लाली अप्रैल, 1758 ई. में भारत पहुंचा। जब तक वह भारत पहुंचता, तब तक अंग्रेजों ने बंगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। बंगाल-विजय से अंग्रेजों की स्थिति सुदृढ़ हो चुकी थी। 1757 ई. में रॉबर्ट क्लाइव ने वाट्सन के सहयोग से बंगाल में फ्रांसीसियों की महत्त्वपूर्ण बस्ती चंद्रनगर पर भी अधिकार कर लिया था। इसी वर्ष अंग्रेजों ने प्लासी के युद्ध में विजय प्राप्त कर बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

लाली ने भारत में आने के बाद सबसे पहले अंग्रेजों की बस्ती फोर्ट सेंट डेविड पर घेरा डाला और जून, 1758 में उस पर कब्जा कर लिया। फोर्ट सेंट डेविड को जीतने के बाद लाली ने तंजावुर का घेरा डाला। यह घेरा बहुत लंबे समय तक रहा, जिसका पूरा-पूरा फायदा अंग्रेजों ने उठाया। अंग्रेजों ने एक सैनिक टुकड़ी बंगाल से तंजावुर की ओर भेजी। बाद में लाली को मजबूरीवश तंजावुर पर से घेरा उठाना पड़ा और इससे फ्रांसीसियों के प्रभाव में कमी आयी।

तंजावुर से खाली हाथ लौटने के बाद लाली ने मद्रास पर घेरा डालने का निर्णय लिया। इसके लिए उसने हैदराबाद के गवर्नर बुस्सी को सहयोग के लिए बुलाया। बुस्सी के हैदराबाद छोड़ने का अंग्रेजों को लाभ हुआ। अंग्रेज कर्नल फोर्ड ने उत्तरी सरकार पर अधिकार कर लिया और भयवश हैदराबाद का शासक सलावतजंग भी अंग्रेजों के

भारत में डूप्ले का उत्थान एवं पतन

जोसेफ फ्रांसिस डूप्ले, 1697 में जन्मा, इंडीज कंपनी के धनवान महानिदेशक का पुत्र था। डूप्ले को 1720 में अपने पिता के प्रभाव के आधार पर पांडिचेरी में एक ऊंचा पद प्राप्त हुआ। उसने निजी व्यापार के माध्यम से पांडिचेरी में काफी धन अर्जित किया। बाद में उसे फ्रांसीसी कम्पनी में नौकरी करने की अनुमति मिली। दिसंबर, 1726 में, उसे फ्रांसीसी कंपनी के संविधान में व्यापक बदलाव करने के कारण निलम्बित कर दिया गया जिससे कुछ शंकाएं भी उत्पन्न हुईं। 1730 में, डूप्ले अपना मुकदमा जीत गया और उसे क्षतिपूर्ति के रूप में चंद्रनगर का गवर्नर नियुक्त किया गया। 1741 में, उसे भारत में फ्रांसीसी कॉलोनियों का महानिदेशक नियुक्त किया गया। बाद में, उसे मुगल बादशाह द्वारा नवाब की उपाधि प्रदान की गई।

इतिहासकारों के अनुसार, डूप्ले में व्यापक दृष्टि के साथ राजनैतिक अंतर्दृष्टि के अतिरिक्त एक प्रशासक, एक राजनयिक और एक नेता के गुण मौजूद थे।

प्रशासक की भूमिका में डूप्ले

1741 में, डूप्ले पांडिचेरी का गवर्नर-जनरल बन गया। उसने देखा कि पांडिचेरी कई समस्याओं—मराठा आक्रमण, अकाल, बंजर भूमि और कर्नाटक में अव्यवस्थित दशाओं—का सामना कर रहा है। इसके अलावा, कंपनी के निदेशकों ने उत्तरी अमेरिका में फ्रांसिसी उपनिवेशों को प्रमुखता देने के कारण फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी के खर्चों में व्यापक कटौती की। अतः डूप्ले ने अपनी परिषद् के विरोध के बावजूद अधिकारियों के वेतन में कटौती के साथ-साथ सार्वजनिक व्यय में कमी की। हालांकि, उसने बस्तियों की किलेबंदी के मामले पर निदेशकों के आदेश को न मानने का निर्णय किया। उसने पांडिचेरी के रक्षा व्यय में वृद्धि की और यहां तक कि अपनी व्यक्तिगत संपत्ति से भी इस पर बड़ी राशि व्यय की। उसने उपनिवेश के व्यापार के विकास के लिए व्यवहारपरक कदम उठाकर दक्षिण भारत में पांडिचेरी को वाणिज्य स्थान बनाया। बाद में, कंपनी के निदेशकों ने डूप्ले द्वारा सही निर्णय लेने के लिए उसकी प्रशंसा की।

कूटनीति के विशेषज्ञ के रूप में डूप्ले

प्रथम दो कर्नाटक युद्धों का विश्लेषण नेता के रूप में डूप्ले की कूटनीति सिद्ध करता है जिसने भारत पर यूरोपीय जीत का मार्ग प्रशस्त किया।

डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब का इस्तेमाल अंग्रेजों को उसके शासित क्षेत्र के युद्ध के लिए प्रयोग करने से मना किया। ताकि जब तक फ्रांसीसी सेनाएं पर्याप्त शक्ति प्राप्त नहीं कर लेतीं, पांडिचेरी 'को पूरी तरह सुरक्षा प्राप्त हो सके। इसके बदले में नवाब को अंग्रेजों की हार के पश्चात् मद्रास सौंपने का वचन दिया गया। लेकिन डूप्ले ने, अपनी कूटनीति का इस्तेमाल करते हुए, नवाब को मद्रास नहीं दिया और सेंट थॉम (1746) में उसे पराजित किया।

डूप्ले ने इतिहास से उदाहरण देकर कि विशिष्ट परिस्थितियों में किए गए वादे कभी भी निभाए नहीं गए, एडमिरल ला बोर्दोनोइस को अंग्रेजों से किए गए वादों को तोड़ने के लिए राजी किया।

डूप्ले प्रथम यूरोपीय था जिसने भारतीय शासकों की आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने हैदराबाद के लिए मुजफ्फर जंग और कर्नाटक के लिए चंदा साहिब का समर्थन किया और वे सफल हुए, जिसके बदले में उन्होंने डूप्ले को कई सारी छूट प्रदान कीं।

डूप्ले ने, वास्तव में, भारत में सहायक संधि की प्रथा को स्थापित किया। उसने हैदराबाद में सूबेदार के खर्च पर फ्रांसीसी सेना को रखा।

डूप्ले भारत में असफल क्यों हुआ?

डूप्ले को द्वितीय कर्नाटक युद्ध में फ्रांसीसी सेना की शुरुआती हार और डूप्ले के राजनीतिक निर्णयों के परिणामस्वरूप कंपनी को भारी कीमत चुकाने के चलते 1754 में वापिस बुला लिया गया। कई इतिहासकारों ने इस घटना को कंपनी के निदेशकों की भारी भूल कहा है। हालांकि, डूप्ले में कुछ कमियां भी थीं, जिन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है:

(i) डूप्ले जरूरत से ज्यादा आशावादी था। वह काफी लंबे समय तक भी आशा बनाए रखता था जिससे वह संकटपूर्ण स्थितियों का लाभ नहीं उठा पाता था।

(ii) डूप्ले के मित्र उसके निरंकुश व्यवहार को पसंद नहीं करते थे।

(iii) डूप्ले कार्यों का क्रियान्वयन नहीं कर पाता था। वह अभियान की योजना बनाता था, अपने अधीनस्थों को निर्देशित करता था, लेकिन उसने लॉरेंस या क्लाइव की तरह कभी भी युद्ध भूमि में सेना का नेतृत्व नहीं किया। फ्रांसीसी त्रिचिनापल्ली (1752-53) को हासिल करने में असफल रहे, क्योंकि डूप्ले द्वारा सोची गई योजना को उसके कमांडर क्रियान्वित नहीं कर सके।

पक्ष में हो गया। फ्रांसीसी मद्रास का घेरा डालने में तो सफल रहे, परंतु बाद में खाली हाथ ही यहां का घेरा भी उठाना पड़ा।

मद्रास के घेरे के एक वर्ष बाद तक अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच छोटी-मोटी झड़पें होती रहीं, जिसमें फ्रांसीसियों का प्रभाव दिन-ब-दिन घटता गया। 1759 ई. में अंग्रेजी सेनानायक कूक एक विशाल सेना के साथ मद्रास पहुंचा। 1760 ई. में मद्रास तथा पाण्डिचेरी के बीच स्थित वाण्डिवाश नामक स्थान में अंग्रेजी सेना ने फ्रांसीसी सेना को बुरी तरह पराजित किया। फ्रांसीसी सेनापति बुस्सी बंदी बना लिया गया। वस्तुतः, वाण्डिवाश के युद्ध ने भारत में फ्रांसीसियों के भाग्य का अंत कर दिया।

1763 ई. में यूरोप में फ्रांसीसियों एवं अंग्रेजों के बीच पेरिस में संधि हो गई। इस संधि के बाद भारत में भी दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष समाप्त हो गया। पाण्डिचेरी, चंद्रनगर आदि प्रदेश संधि के तहत फ्रांसीसियों को लौटा दिए गए। परंतु, संधि में यह

शर्त भी रखी गयी कि फ्रांसीसी भारत में सेना नहीं रख सकेंगे। इस संधि के बाद फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों का विरोध करना छोड़ दिया और अपना सारा ध्यान व्यापार पर केंद्रित कर लिया। पेरिस की संधि ने भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य के विस्तार के लिए डूप्ले द्वारा रखी गयी मजबूत नींव को उखाड़ कर फेंक दिया। फ्रांसीसियों की पराजय ने भारत के लिए राजनीतिक गुलामी का मार्ग खोल दिया। पुर्तगालियों एवं डचों को पराजित करने के बाद फ्रांसीसियों को हराकर अंग्रेजों ने अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर लिया।

फ्रांसीसियों की असफलता के कारण

नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रांसीसियों ने सम्पूर्ण विश्व में अपनी शक्ति का लोहा मनवा रखा था और डूप्ले के नेतृत्व में भी वे साम्राज्य विस्तार की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे थे, किंतु 1754 ई. में डूप्ले की वापसी और 1758 ई. में काउण्ट-डी-लाली को गवर्नर बनाकर भारत भेजे जाने से फ्रांसीसियों की सभी योजनाएं धूल-धूसरित हो गईं। डूप्ले ने लगातार संघर्ष और अपनी कूटनीतिक सूझ के द्वारा भारत में फ्रांसीसियों के अनुकूल जिस वातावरण का निर्माण किया था, उसे उसके देश के ही अयोग्य अधिकारियों ने प्रतिकूल बना दिया। द्वितीय कर्नाटक युद्ध के बाद डूप्ले की वापसी के कारण रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में अंग्रेजों के प्रभाव में नियमित रूप से वृद्धि होने लगी। लाली की अदूरदर्शितापूर्ण नीति ने फ्रांसीसियों को उन गतिविधियों की ओर प्रेरित किया जिनसे भारत में उनकी राजनीतिक शक्ति पूर्ण रूप से प्रतिबंधित हो गई। भारत में फ्रांसीसियों की पराजय अथवा असफलता के लिए अनेक कारण छोटे एवं बड़े स्तर पर उत्तरदायी थे। इन्हीं कारणों की चर्चा आगे की जा रही है–

अंग्रेजों की व्यापारिक तथा आर्थिक श्रेष्ठताः अंग्रेजों की सफलता का एक कारण यह था कि फ्रांसीसियों की तुलना में उनकी कम्पनी आर्थिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ थी। फ्रांसीसियों की तुलना में अंग्रेजों ने 1736 से 1756 ई. के बीच लगभग $2\frac{1}{2}$ गुना अधिक व्यापार किया। युद्ध होने की स्थिति में भी अंग्रेजों ने अपना पूरा ध्यान व्यापार पर केंद्रित रखा जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर नहीं हुई।

कम्पनी का स्वरूपः फ्रांसीसी कम्पनी एक सरकारी संस्था थी जबकि अंग्रेजी कम्पनी एक प्राइवेट कम्पनी थी। इसका प्रभाव यह पड़ा कि फ्रांसीसी कम्पनी के कर्मचारियों में लगन एवं निष्ठा की कमी थी। फ्रांसीसी कम्पनी को ब्याज एक निश्चित दर पर प्राप्त होता था, इसलिए वह भी कम्पनी के कार्यों में अधिक रुचि नहीं लेते थे। फ्रांसीसी कम्पनी पर सरकार की नीतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था जबकि अंग्रेज कम्पनी का स्वरूप निजी होने के कारण उस पर सरकारी निर्णयों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था।

अंग्रेजों की बंगाल विजयः बंगाल पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अंग्रेजों की प्रतिष्ठा तो बढ़ी ही, साथ ही उसे बंगाल का अपार धन एवं जनशक्ति भी प्राप्त हुई।

बंगाल से प्राप्त होने वाली आय का प्रयोग वे मद्रास के युद्ध में करते थे। फ्रांसीसियों के पास बंगाल जैसा कोई प्रदेश नहीं था तथा वे दक्षिण तक ही सीमित थे। यद्यपि डूप्ले ने भारत के दक्षिणी भाग को प्रमुख व्यापारिक केंद्र बनाने का प्रयत्न किया तथापि बंगाल की खोज के रूप में क्लाइव ने डूप्ले की नीति को विफल कर दिया।

डूप्ले की फ्रांस वापसीः फ्रांसीसियों की असफलता का यह एक मुख्य कारण बना कि फ्रांस सरकार ने गलत निर्णय के द्वारा 1754 ई. में डूप्ले को वापस बुला लिया। यदि वह भारत में कुछ दिनों तक और टिक जाता तो सम्भवतः फ्रांसीसियों की स्थिति सुधर जाती। डूप्ले की वापसी के बाद फ्रांसीसियों का वर्चस्व समाप्त होना तय हो गया, क्योंकि भारतीय परिवेश की जितनी जानकारी उसे थी, उतनी लाली को नहीं थी।

लाली की अदूरदर्शिताः डूप्ले की वापसी के बाद जब काउण्ट-डी-लाली को फ्रांसीसी प्रतिनिधि बनाकर भारत भेजा गया तब फ्रांसीसी अधिकारियों में परस्पर सहयोग की भावना कम हो गई। लाली एक क्रोधी, अदूरदर्शी और कटुभाषी व्यक्ति था, इसलिए उसके नेतृत्व में फ्रांसीसी अधिकारियों ने पूर्ण निष्ठा नहीं दिखाई।

विलियम पिट की नीतिः इंग्लैण्ड का युद्धमंत्री विलियम पिट एक कूटनीतिज्ञ था। उसने यूरोप में फ्रांस के विरुद्ध ऐसे अभियान छेड़े, जिसमें उलझने के बाद वह भारत में अपनी स्थिति को नियंत्रण में नहीं रख सका।

यूरोपीय राजनीतिः भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के दौरान फ्रांस यूरोप के अनेक देशों के साथ युद्ध में उलझा हुआ था। इंग्लैण्ड इन युद्धों से बचा रहा क्योंकि यह एक पृथक् द्वीप के रूप में स्थित है। अंग्रेजों ने इस बीच भारत में अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

अंग्रेजों में परस्पर सहयोग की भावनाः अंग्रेज अधिकारियों तथा सेनापतियों में योग्यता के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग की भावना भी विद्यमान थी। उन्होंने इसी एकता के बल पर फ्रांसीसियों को मात दी। जबकि फ्रांसीसियों में नेतृत्व का मुद्दा और एकता का अभाव अंग्रेजों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

फ्रांसीसी जल सेना का कमजोर होनाः अंग्रेजों के पास बड़ी जल सेना थी तथा जलशक्ति के अन्य साधन भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। इनका लगभग सभी जलमार्गों पर वर्चस्व था, जिससे व्यापारिक लाभ के साथ-साथ उन्हें सामरिक लाभ भी प्राप्त हुआ। डॉडवैल के अनुसार समुद्री शक्ति का प्रभाव ही मुख्य कारण था जो अंग्रेजी सफलता का कारण बना। यद्यपि फ्रांसीसियों के पास थल सेना की प्रचुरता थी तथापि जल सेना के अभाव में वह निरर्थक या नाकामयाब साबित हुई।

निष्कर्षतः, भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के परिणामस्वरूप फ्रांसीसियों की पराजय के कारण आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक तीनों ही थे। इन सभी परिप्रेक्ष्यों में अंग्रेजी शक्ति फ्रांसीसियों की तुलना में प्रभावशाली थी।

अन्य यूरोपीय

डेन्स

भारत में यूरोपीय व्यापारिक शक्तियों के आगमन के संदर्भ में डेनमार्क के व्यापारियों (डेन्स) का उल्लेख करना भी जरूरी है। डेनिश ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1616 में हुई। इसने 1620 ई. में त्रैंकोबर (तमिलनाडु) के पूर्वी तट पर एक कारखाना स्थापित किया। डेन्स अपनी व्यापारिक गतिविधियों से अधिक मिशनरी गतिविधियों के लिए जाना जाता था। डेन्स ने कलकत्ता के नजदीक सेरामपुर में 1755 से मुख्य व्यापारिक बस्ती की स्थापना की और यह इनकी व्यापारिक गतिविधियों का मुख्य केंद्र रहा। भारत में अपनी वाणिज्यिक अवस्थापनाओं, जो कभी भी महत्वपूर्ण नहीं रहीं, 1854 ई. में ब्रिटिश सरकार को बेच दी गईं।

यूरोपीय व्यापार की संरचना और तरीके

जब यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों ने भारत से व्यापार करना शुरू किया तो उनके सामने एक ही समस्या थी कि भारत से लाए गए सामान के बदले भारत को किस चीज की आपूर्ति की जाए। उन्हें वित्तीयन की समस्या और एशिया के साथ प्रतिकूल व्यापार संतुलन की समस्या से जूझना पड़ा। उन्होंने सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण अमेरिका की खानों से सोना और चांदी निकालकर यूरोप को समृद्ध किया और इसका उपयोग, अनिच्छुक रूप से, पूर्व से आयातित वस्तुओं को खरीदने में भी किया। यह दर्ज किया गया कि 1660 और 1699 के बीच पूरब को निर्यातित सोना और चांदी की मात्रा कुल निर्यात का 66 प्रतिशत थी। 1680-89 के मध्य यह प्रतिशत बढ़कर 87 तक पहुंच गया। अंग्रेजों ने 1700 और 1750 के बीच 270 लाख रुपए कीमत की चांदी और 90 लाख की अन्य वस्तुएं भारत भेजीं। लेकिन 1750 के बाद औद्योगिक क्रांति के आगमन के साथ स्थितियों में परिवर्तन होना शुरू हो गया। 1760 और 1809 के बीच 140 लाख रुपए मूल्य की चांदी निर्यात की गई जबकि अन्य वस्तुओं का निर्यात 485 लाख तक बढ़ गया।

वाणिज्यवादी विश्वास के अनुसार, बुलियन (सोने-चांदी की ईंटें) का निर्यात किसी देश की अर्थव्यवस्था एवं समृद्धि के लिए नुकसानदेह होता है। अतः इस दौरान यूरोपीय कंपनियां पूरब की वस्तुओं के बदले दूसरी चीजें देने का विकल्प ढूंढ रही थीं। अंतर-एशियाई व्यापार पर कब्जा करके उन्होंने इस समस्या का आंशिक समाधान खोजा। यूरोपीय व्यापार मसालों के द्वीप से लौंग और जापान से तांबा भारत और चीन तक पहुंचाते थे, भारतीय सूती वस्त्र को दक्षिण-पूर्व एशिया और फारसी कालीन भारत पहुंचाते थे और इस तरह भारत से आयातित माल का कुछ मूल्य चुकाते थे। हालांकि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही, अंग्रेज व्यापार घाटे का सम्पूर्ण समाधान तभी प्राप्त

कर पाए, जब अंग्रेजों ने बंगाल से राजस्व वसूलना शुरू किया और चीन को अफीम का निर्यात करने लगे।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोपीय कंपनियां एशिया से लाई गई वस्तुओं की यूरोप, अफ्रीका, अमेरिकी महाद्वीप और मध्य-पूर्व के बाजारों में बिक्री से भारी मुनाफा कमाते थे। यूरोपीय शक्तियों ने यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका के बीच एक त्रिकोणीय व्यापार आरंभ किया। यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियां अमेरिका के बागानों के लिए दासों की नियुक्ति करती थीं और ये दास अफ्रीका के पश्चिमी तट से लाए जाते थे। इस पृष्ठभूमि में पूरब के साथ व्यापार आगे बढ़ा।

आरंभ से ही, यूरोपीय बाजारों में मसालों की मांग अत्यधिक थी। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में काली मिर्च का व्यापार अपने उत्कर्ष पर था। हालांकि, सत्रहवीं शताब्दी का अंत होते-होते व्यापार में दूसरी वस्तुओं का भी महत्व बढ़ा। मसाले के स्थान पर कपड़ा, रेशम और शोरा का महत्व तेजी से बढ़ा। सत्रहवीं शताब्दी के दूसरे दशक से अंग्रेजी और डच कंपनियों में भारतीय वस्त्रों की मांग बढ़ गई। एशिया के दूसरे देशों में भारतीय कपड़ों की मांग बहुत थी और इसका उपयोग विनिमय वस्तु के रूप में किया जाता था। भारतीय कपड़े अपनी विविधता, उत्कृष्टता, प्रकार और डिजाइन के लिए प्रसिद्ध थे। उदाहरणार्थ, गुजरात, कोरोमण्डल और बंगाल में सादे, रंगे हुए, कढ़ाई वाले विभिन्न प्रकार के कपड़ों का उत्पादन किया जाता था। भारतीय रेशम और मलमल, मोटे और परिष्कृत दोनों प्रकार के, यूरोप और साथ ही साथ अफ्रीका और वेस्टइंडीज के बाजारों में भी पाए जाते थे। आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार, 1614 में अंग्रेज कंपनी ने सूरत से 12,000 कपड़े के थान की मांग की, जो 1664 में 750,000 थान से भी अधिक पहुंच गई जिसकी मात्रा कंपनी के समस्त व्यापार का 73 प्रतिशत आंकी गई। 1690 तक, कुल व्यापार में कपड़े का हिस्सा 83 प्रतिशत तक पहुंच गया। इस समय यूरोप में उच्च वर्गों के बीच बंगाल के मलमल और कोरोमंडल के छींटदार कपड़ों की मांग विशेष रूप से बढ़ गई।

इस बढ़ते हुए आयात से अंग्रेजी उत्पादक घबरा गए और उन्होंने भारतीय वस्त्रों के आयात पर प्रतिबंध लगाने के लिए राजनीतिक दबाव डाला। इसके परिणामस्वरूप, अंग्रेजी सरकार ने 1700, 1721 और 1735 में विभिन्न संरक्षणवादी विनियम पारित किए। इसके अतिरिक्त सत्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय बाजार में कच्चे रेशम की भी मांग बढ़ी।

फ्रांसीसियों और अंग्रेजों द्वारा साल्टपीटर (शोरा), जिसका उपयोग बारूद बनाने में किया जाता था, की बेतहाशा मांग की गई। इसके अतिरिक्त, एक महत्वपूर्ण कच्चा माल होते हुए, शोरा, भारी वस्तु होने के कारण, का उपयोग जहाजों को संतुलित करने में भी किया जा सकता था। पटना शोरे के व्यापार के एक प्रमुख केंद्र के रूप में उभरा। इसी प्रकार, नील भी आयात की एक अन्य वस्तु थी जिसका उपयोग कपड़ों को रंगने

में किया जाता था, क्योंकि यह यूरोप में नीले रंग के लिए प्रयोग होने वाले परम्परागत पौधे की पत्तियों की तुलना में सस्ता एवं प्रयोग करने में आसान था।

अन्य यूरोपीय शक्तियों की तुलना में अंग्रेज

सफल क्यों हुए

सभी यूरोपीय राष्ट्रों, जो नवीन समुद्री मार्ग की खोज के पश्चात् भारत में व्यापारी के तौर पर आए, में से इंग्लैंड अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक सर्वाधिक शक्तिशाली एवं सफल राष्ट्र के रूप में उभरा। अन्य यूरोपीय शक्तियों—पुर्तगाल, नीदरलैण्ड, फ्रांस एवं डेनमार्क—के विरुद्ध अंग्रेजों की सफलता (सामान्यतः विश्व में और विशिष्ट रूप से भारत में) के लिए उत्तरदायी मुख्य कारक निम्न हैं:

व्यापारिक कंपनियों की संरचना एवं प्रकृति

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कंपनी, इंग्लैंड में विभिन्न प्रतिस्पर्द्धी कंपनियों को मिलाकर बनी। यह निदेशक मण्डल द्वारा नियंत्रित होती थी जिसके सदस्य वार्षिक रूप से चुने जाते थे। कंपनी के शेयरधारकों का इस पर अत्यधिक प्रभाव था, क्योंकि शेयरों की खरीद के माध्यम से मतों को खरीदा एवं बेचा जा सकता था। फ्रांस एवं पुर्तगाल की व्यापारिक कंपनियां व्यापक रूप से राज्य के स्वामित्वाधीन थीं और कई तरीके से इनकी प्रकृति सामंतवादी थी।

फ्रांसीसी कंपनी में, राजा के 60 प्रतिशत से अधिक शेयर होते थे और राजा द्वारा शेयरधारकों में से दो निदेशकों को मनोनीत किया जाता था जो सरकार द्वारा नियुक्त दो उच्चायुक्तों का निर्णय करते थे। शेयरधारक कंपनी की उन्नति एवं समृद्धि में बेहद कम रुचि लेते थे, क्योंकि सरकार शेयरधारकों को लाभांश प्रदान करने का वचन देती थी। शेयरधारकों की रुचि के अभाव में 1725-1765 के बीच शेयरधारकों की कोई बैठक नहीं हुई, और साधारण तौर पर कंपनी को राज्य के एक विभाग के तौर पर प्रबंधित किया गया।

नौसैन्य सर्वोच्चता

ब्रिटेन की शाही नौसेना न केवल आकार में सबसे बड़ी थी, अपितु यह अपने समय की सबसे उन्नत नौसेना भी थी। स्पेन के अर्मडा और ट्रफलगर में फ्रांसीसियों पर मिली जीत ने यूरोपीय नौसेना शक्तियों में शाही नौसेना (रॉयल नेवल) को सबसे ऊंचा स्थान प्रदान किया। भारत में भी, ब्रिटेन नौसेना बेड़ों के तीव्र एवं सशक्त परिचालन के कारण पुर्तगाली एवं फ्रांसीसी नौसना को पराजित करने में सफल रहा। अंग्रेजों ने पुत्ग्रालियों से दक्ष नौसेना के महत्व को समझा एवं सीखा तथा अपने जहाजी बेड़ों को प्रौद्योगिकीय रूप से बेहतर बनाया।

औद्योगिक क्रांति

इंग्लैंड में सूत कताई, भाप इंजन, मशीन करघा जैसी कई अन्य नवीन मशीनों की खोज के साथ अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक क्रांति प्रारंभ हुई। इन मशीनों ने कपड़ा, धातुकर्म, भाप शक्ति एवं कृषि के क्षेत्र में उत्पादन में अत्यधिक सुधार किया। बाद में औद्योगिक क्रांति अन्य यूरोपीय राष्ट्रों तक पहुंच गई और इसने इंग्लैंड को अपना आधिपत्य/नेतृत्व बनाए रखने में मदद की।

सैन्य कौशल एवं अनुशासन

ब्रिटेन के सिपाही अत्यधिक अनुशासित और सुप्रशिक्षित थे। ब्रिटिश कमांडर रणनीतिकार थे जो युद्ध क्षेत्र में नवीन तरीके अपनाते थे। प्रौद्योगिकीय उन्नति ने सेना को और अधिक सुसज्जित किया। इन सब कारकों ने संयुक्त रूप से मिलकर छोटी अंग्रेजी सेना को बड़ी सेनाओं को पराजित करने में सक्षम बनाया।

स्थायी सरकार

1688 की गौरवमयी क्रांति के अपवाद सहित, ब्रिटेन में दक्ष राजशाही/राजतंत्र के साथ स्थायी सरकार रही। फ्रांस जैसे अन्य यूरोपीय राष्ट्रों में 1789 में हिंसक क्रांति हुई और उसके बाद नेपोलियन युद्ध हुआ। 1815 में नेपोलियन की पराजय ने फ्रांस की स्थिति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इटली 1861 के उत्तरार्द्ध में एक राष्ट्र के तौर पर एकीकृत हुआ। 17वीं शताब्दी में डच एवं स्पेन 80 वर्ष तक युद्ध में संलग्न रहे। डच ईस्ट इंडिया कम्पनी, 1800 में दिवालियापन से प्रभावित, को अपने अधिकार क्षेत्र ब्रिटेन को बेचने और एशिया छोड़ने हेतु बाध्य होना पड़ा।

धर्म के प्रति न्यून उत्साह

ब्रिटेन का स्पेन, पुर्तगाल एवं डच की अपेक्षा ईसाईयत के प्रसार में कम रुझान था। इस प्रकार, इसका शासन अन्य औपनिवेशिक शक्तियों की तुलना में कहीं अधिक स्वीकार था।

ऋण बाजार का उपयोग

ब्रिटेन की अन्य यूरोपीय शक्तियों की अपेक्षा सफलता प्राप्ति के पीछे युद्धों के वित्तीयन के लिए ऋण बाजार का उपयोग करना भी एक बड़ा कारण रहा। सरकारी ऋण-पत्रों को पूंजी बाजार में इस वचन के साथ बेचने कि फ्रांस एवं स्पेन जैसे प्रतिद्वंदी देशों को ब्रिटेन द्वारा पराजित करने पर अच्छा प्रतिफल प्रदान किया जाएगा, के लिए विश्व का प्रथम केंद्रीय बैंक—बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थापना की गई। इस प्रकार ब्रिटेन अपने प्रतिद्वंदी की अपेक्षा सेना पर अधिक व्यय कर सका। ब्रिटेन का प्रतिद्वंदी फ्रांस अंग्रेजों द्वारा सेना पर व्यय से तालमेल नहीं बैठा सका। 1694 और 1812 के बीच, प्रथम

राजतंत्र के अंतर्गत, और फिर क्रांतिकारी सरकारों के अधीन तथा अंत में नेपोलियन बोनापार्ट के नेतृत्व में, अपने अप्रचलित धन जुटाने के तरीकों से फ्रांस दिवालिया हो गया।

प्रमुख विचार

1. 1498 में तीन जहाजों, जिन्हें गुजराती पायलट अब्दुल मजीद द्वारा मार्गदर्शित किया गया, के साथ वास्को-दा-गामा कालिकट पर उतरा, जिसे विश्व इतिहास में सामान्य तौर पर एक नए युग का प्रारंभ समझा गया, विशेष रूप से एशिया और यूरोप के बीच संबंधों में। यद्यपि एशिया एवं यूरोप के प्राचीन समय से ही एक-दूसरे से वाणिज्यिक संबंध थे, तथापि दोनों के मध्य प्रत्यक्ष समुद्री संबंधों की शुरुआत न केवल एक पुराने स्वप्न (ग्रीक इतिहासकार हेरोडोट्स, के अनुसार, फोनेसियन्स ने छठी शताब्दी बी.सी. में अफ्रीका का चक्कर लगाया था) के पूरा होने जैसा था अपितु इसने दोनों के बीच व्यापार में भारी वृद्धि होने का पूर्व संकेत भी दिया। यह, हालांकि, पुर्तगालियों का एकमात्र उद्देश्य था। पुर्तगालियों के लिए, भारत के लिए नया समुद्री मार्ग खुलने से मुस्लिमों, अरब एवं तुर्की, को बड़ा धक्का लगेगा, जो ईसाईयत के परम्परागत शत्रु थे और तुर्की की बढ़ती सैन्य एवं नौसैनिक शक्ति के अंतर्गत यूरोप के लिए एक नया खतरा पैदा कर रहे थे। भारत के साथ प्रत्यक्ष समुद्री सम्पर्क पूर्वी वस्तुओं, विशेष रूप से मसाले के व्यापार पर अरबों एवं तुर्कों के एकाधिकार को विस्थापित कर देगा। वे अस्पष्टतः अफ्रीका में अपने प्रसार से आशान्वित थे कि प्रियर जॉन के साम्राज्य से सम्पर्क में सफल हो जाएंगे, और मुस्लिमों पर दोतरफा हमला करने की स्थिति में होंगे। इस प्रकार, वाणिज्यिक एवं धार्मिक उद्देश्यों ने एक-दूसरे को समर्थन प्रदान किया और न्यायोचित ठहराया।

डा. सतीश चन्द्रा

2. ''पुर्तगालियों ने एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में क्रूस पर ईसा मसीह की मूर्ति लेकर भारत में प्रवेश किया; अत्यधिक सोना देखकर उन्होंने अपनी जेबें भरने के लिए क्रूसमूर्ति को एक तरफ रख दिया, और उसे एक हाथ से समेटने में अक्षम पुर्तगालियों ने अपनी तलवार को भी छोड़ दिया; उनके बाद आने वाली यूरोपीय शक्तियों ने उन्हें इस स्थिति में देखकर सुगमता से पराजित कर दिया।''

अल्फांसो डी सूजा,
भारत में पुर्तगाली गवर्नर (1542-45)

3. अंग्रेजों के साथ डच की शत्रुता, सत्रहवीं शताब्दी के दौरान, उस समय पुर्तगालियों की तुलना में अधिक थी। पूरब में डच की नीति दो प्रयोजनों—(i) कैथोलिक स्पेन, उनकी स्वतंत्रता का दुश्मन, और उसके सहयोगी पुर्तगाल से प्रतिशोध लेना, और (ii) ईस्ट इंडीज में, वाणिज्य पर एकाधिकार करने के उद्देश्य से, उपनिवेश स्थापित करना और बस्ती कायम करना—से प्रभावित थी। उन्होंने पुर्तगालियों के निरंतर

होते पतन द्वारा अपने प्रथम उद्देश्य को प्राप्त किया। अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे अंग्रेजों के साथ कड़ी प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ी।

आर.सी. मजूमदार, एच.सी. राय चौधरी और के. दत्ता

(एन. एडवांस हिस्ट्री ऑफ इंडिया में)

4. ''भारत में डूप्ले और क्लाइव के बीच संघर्ष, अर्काट की रक्षा और संधियां जिन्होंने हमारे भारतीय साम्राज्य की नींव रखी, ये सभी घटनाएं इंग्लैंड और फ्रांस के बीच सर्वोच्चता के खतरनाक संघर्ष का हिस्सा थीं।''

जे.आर. सीले

5. ''भारत में सफलता, चाहे व्यापारिक हो या सैन्य, की दो प्राथमिक दशाएं थीं, तट पर मजबूत केंद्र की स्थापना, और नौसैनिक शक्ति का प्रबंध जो यूरोप के साथ निर्बाध संचार बनाए रख सकती थी; लेकिन अंग्रेजों ने समुद्र पर प्रभुत्व हासिल किया, जबकि फ्रांसीसी अब स्थल पर भी अपना धरातल खोते जा रहे थे। उनकी असफलता के कारणों को, वैयक्तिक पदाधिकारियों की अक्षमता या दुर्भाग्य में न खोज कर, अपितु परिस्थितियों के उन व्यापक संयोगों में खोजा जाना चाहिए जिन्होंने उस समय अंग्रेजों पर फ्रांस की विजय के विरुद्ध कार्य किया।''

अल्फ्रेड ल्याल

(द राइज एंड एक्सपेन्शन ऑफ ब्रिटिश डोमिनियन इन इंडिया)।

6. ''प्रधान कारण जिसने इस सम्पूर्ण विजय (अंग्रेजों की) में योगदान दिया, निश्चित रूप से समुद्री शक्ति का अनवरत दबाव था। यद्यपि फ्रांसीसी बेड़े को कभी भी बर्बाद नहीं किया गया, फिर भी तीन कार्यों के संचयी प्रभाव ने निर्विरोध सर्वोच्चता को स्थापित किया। जबकि अंग्रेजों को बंगाल से भोजन एवं धन की आपूर्ति प्राप्त हुई, यूरोप से लोगों की भर्ती की गई, और उनके उत्तरी रिहायश से अनाज प्राप्त हुआ, जबकि फ्रांसीसियों को कुछ प्राप्त नहीं हुआ लेकिन बड़ी कठिनाई से स्थल मार्ग से थोड़ा-बहुत उन्हें प्राप्त हुआ। अंग्रेज निरंतर मजबूत हुए और फ्रांसीसी निरंतर कमजोर हुए। इसने युद्ध क्षेत्र में लाली पर कूटे की सैन्य सर्वोच्चता स्थापित करने में उसे सक्षम बनाया और उसे पांडिचेरी की चार दीवारी में समेट दिया।''

एच.एच. डॉडवेल

(द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वाल्यूम V)

सारांश

यूरोपीय वाणिज्य के आरम्भ से सम्बद्ध तिथियां

1486 ई.: पुर्तगाली यात्री बार्थालोम्योडियाज का केप ऑफ गुडहोप (उत्तमाशा अंतरीप) तक पहुंचना

1498 ई.: पुर्तगाली नाविक यात्री वास्को डी गामा का भारत के कालीकट बंदरगाह में आगमन

1501 ई.: वॉस्को डी गामा की दूसरी भारत-यात्रा
1503 ई.: पुर्तगाली गवर्नर अलफांसों डि अलबुकर्क का भारत में आगमन
1510 ई.: अलबुकर्क ने गोआ को बीजापुर से छीना
1530 ई.: पुर्तगालियों की भारत में राजधानी कोचीन से गोवा स्थानांतरित
1534 ई.: पुर्तगालियों को नीनू डा कुन्हा के नेतृत्व में गुजरात के बहादुरशाह से दियू और बेसिन की प्राप्ति
1599 ई.: स्थल-मार्ग से अंग्रेज साहसी व्यापारी मिल्डेनहॉल का भारत में आगमन
1599 ई.: अंग्रेजी व्यापारिक कम्पनी 'मर्चेंट एडवेंचर्स' की स्थापना
1602 ई.: डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना
1615 ई.: थॉमस रो का जहांगीर के दरबार में आगमन
1661 ई.: पुर्तगाल ने बम्बई का क्षेत्र ब्रिटिश शासक चार्ल्स द्वितीय को दिया
1664 ई.: फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना
1690 ई.: जॉब चॉरनॉक द्वारा कलकत्ता शहर की स्थापना

यूरोपीय वाणिज्य के आरम्भ से सम्बद्ध व्यक्तित्व

- **वास्को डि गामाः** पुर्तगाली यात्री, जो समुद्री मार्ग उत्तमाशा अंतरीप से 1498 ई. में भारत के कालीकट बंदरगाह पर उतरा।
- **पेड्रो अल्वारेज़ केब्रेलः** पुर्तगाली यात्री जो 1500 ई. में भारत पहुंचा।
- **फ्रांसिस्को डि अल्मेडाः** भारत में पहला पुर्तगाली गवर्नर।
- **अलफांसो डि अलबुकर्कः** भारत में पुर्तगाली शक्ति का वास्तविक संस्थापक द्वितीय गवर्नर।
- **नीनू डा कुन्हाः** पुर्तगाली गवर्नर, जिसने राजधानी-परिवर्तन 1530 ई. में कोचीन से गोवा में किया था।
- **मार्टिन अलफांसो डिसूजाः** पुर्तगाली गवर्नर, जिसके साथ प्रख्यात जेसुइट संत फ्रांसिस्को जेवियर भारत आए थे।
- **कासिम खानः** मुगल सरदार, जिसने 1631 ई. में हुगली तट पर पुर्तगालियों को हराया था।
- **जॉन मिल्डेनहॉलः** साहसी अंग्रेज व्यापारी, जो स्थलमार्ग से 1599 ई. में भारत आया।
- **कैप्टन हॉकिन्सः** अंग्रेज यात्री, जो जहांगीर-दरबार में 1609 ई.में पहुंचा था।
- **कैप्टन बेस्टः** अंग्रेज यात्री, जिसने सूरत के निकट पुर्तगालियों को 1612 ई. में हराया था और इसके बाद जहांगीर ने अंग्रेजों को व्यापार के लिए सूरत में फैक्ट्री की स्थापना हेतु अनुमति दी।
- **जॉब चॉरनॉकः** कलकत्ता का अंग्रेज संस्थापक।
- **थॉमस रोः** ब्रिटिश सम्राट् जेम्स I का दूत, जो जहांगीर के दरबार में 1615 ई.से 1618 ई. की अवधि में रहा और साम्राज्य के विभिन्न भागों में कम्पनी के लिए अनुमति प्राप्त करने में सफल रहा।

- **चार्ल्स आयरः** कलकत्ता के फोर्ट विलियम का प्रथम प्रशासक।
- **जॉन चाइल्डः** अंग्रेजी कम्पनी का अधिकारी, जिसने पश्चिमी तट पर मुगल जहाज़ों पर कब्जा कर लिया था और बाद में मुगल सम्राट औरंगजेब से क्षमा मांगी।
- **फर्रुखसियरः** मुगल सम्राट्, जिसने अंग्रेजी व्यापारिक कम्पनी को 1717 ई. में फरमान दिया था।
- **विलियम नौरिसः** अंग्रेजी कम्पनी का दूत, जो मुगल शासक औरंगजेब के पास व्यापारिक सुविधाओं की प्राप्ति हेतु गया था।
- **फ्रैंको मार्टिनः** पाण्डिचेरी का प्रथम फ्रांसीसी गवर्नर।
- **फ्रांसिस डेः** मद्रास का प्रसिद्ध अंग्रेज संस्थापक।
- **शोभा सिंहः** बर्दमान का जमींदार, जिसने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह 1690 के दशक में किया था।
- **भीमाजी पारिखः** अंग्रेजी कम्पनी का मध्यस्थ व्यापारी, जिसने भारत में प्रिटिंग प्रेस के प्रसार हेतु विशेष प्रयास किया था।
- **फादर मॉनसरेटः** मुगल दरबार में जाने वाले प्रथम पुर्तगाली शिष्टमण्डल का अध्यक्ष।
- **जॉन सरमैनः** मुगल सम्राट फर्रुखसियर से फरमान प्राप्त करने वाले अंग्रेजी शिष्टमंडल का नेतृत्वकर्ता।
- **करोन फ्रैंकोः** भारत में पहली फ्रांसीसी फैक्ट्री की स्थापना करने वाला फ्रांसीसी।
- **गैरोल आंगियारः** बम्बई का वास्तविक अंग्रेज संस्थापक।

यूरोपीय वाणिज्य के आरम्भ से सम्बद्ध स्थल

- **कालीकटः** केरल में स्थित मालाबार-तटीय बंदरगाह, जहां वॉस्को डि गामा पहली बार 17 मई, 1498 ई. को उतरा था।
- **कोचीनः** केरल में स्थित बंदरगाह, जो भारत में पुर्तगालियों की आरंभिक राजधानी थी।
- **गोवाः** गोवा राज्य, जो पुर्तगालियों का भारत में सर्वप्रमुख केंद्र रहा।
- **सैन थोमः** दक्षिण-पूर्व क्षेत्र में पुर्तगालियों का एकमात्र स्थल।
- **पुलिकटः** तमिलनाडु में स्थित बंदरगाह, जो भारत में डचों का सर्वप्रमुख केंद्र रहा।
- **सेड्रासः** मद्रास से दक्षिण में स्थित बंदरगाह, जो डचों का केंद्र था
- **बेदराः** बेदरा के युद्ध, 1759 ई. में अंग्रेजों ने डचों को हराया था।
- **स्वालीः** सूरत के निकट अवस्थित, जहां कप्तान बेस्ट ने पुर्तगालियों को हराया था।
- **हरिहरपुरः** उड़ीसा में अवस्थित, जहां 1633 ई. में अंग्रेजों ने अपनी फैक्ट्री स्थापित की।

- **सुतानाती, कलिकाता व गोविंदपुरः** इन तीन गांवों को मिलाकर कलकत्ता की स्थापना हुई थी।
- **त्रैंकोबरः** तमिलनाडु में स्थित, जहां डेनिशों ने अपनी फैक्ट्री स्थापित की।
- **सेरामपुरः** बंगाल में स्थित, जहां डेनिशों ने 1676 ई. में अपनी फैक्ट्री स्थापित की।
- **पाण्डिचेरीः** भारत में फ्रांसीसी गतिविधियों का प्रमुख केंद्र, जो कोरोमण्डल तट पर है।
- **चाउलः** महाराष्ट्र में पश्चिमी घाट पर अवस्थित, जहां पुर्तगाली व्यापारिक केंद्र था।
- **पटनाः** बिहार राज्य की राजधानी, जो शोरे के उत्पादन के कारण प्रसिद्ध था और यहां डचों की फैक्ट्री स्थापित थी।
- **चटगांवः** वर्तमान बांग्लादेश में स्थित, जिसे पुर्तगाली हतंदक चवतज कहते थे।
- **केन्नूरः** मालाबार तटीय क्षेत्र में स्थित, जहां वॉस्को डि गामा ने 1501 ई. में फैक्ट्री खोली।

पुर्तगाली

(i) पुर्तगाली नाविक वास्को डी गामा की 1498 में भारत पहुंचने के समुद्री मार्ग की खोज ने भारतीय इतिहास के मार्ग एवं दिशा को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया।

(ii) अल्फांसो डी अल्बुकर्क, (1509-1515) ने दूसरे पुर्तगाली गवर्नर के रूप में अल्मेडा (1505-1509) का स्थान लिया, उसने बीजापुर सुल्तान से गोवा हासिल किया, पुर्तगाल के लिए हिंद महासागर पर सामरिक नियंत्रण सुनिश्चित किया और अपने देशवासियों को भारतीयों की चिंता करने को प्रोत्साहित किया। हालांकि, उसने मुसलमानों का उत्पीड़न किया।

(iii) पुर्तगालियों द्वारा अपनाई गई धार्मिक नीति ने उन्हें बदनाम किया, जैसाकि उन्होंने पूरब में मुसलमानों को सताया (उत्तरी अफ्रीका में मूर्स के खिलाफ अपने धार्मिक युद्ध के अतिरिक्त)। मुगल शासकों, (विशेष रूप से, अकबर और जहांगीर, जो स्पष्ट रूप से इच्छुक जान पड़ रहे थे) को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने में जेसुइट असफल हो गए।

(iv) भारत में पुर्तगाली शक्ति के पतन के प्रमुख कारण थेः (1) मिस्र, पर्शिया और उत्तरी भारत में शक्तिशाली राजवंशों का उदय; (2) जेसुइट मिशनरियों की गतिविधियों से उत्पन्न राजनीतिक भय, और उत्पीड़न के प्रति घृणा जिसने पुर्तगाली आध्यात्मिक दबाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न की; (3) अंग्रेजी और डच वाणिज्यिक महत्वाकांक्षाओं के उत्थान ने पुर्तगाली सर्वोच्चता को चुनौती दी; (4) भारत में पुर्तगाली प्रशासन की समुद्री डकैती और प्रच्छन्न व्यापार गतिविधियों के साथ व्यापक भ्रष्टाचार, लालसा एवं स्वार्थसिद्धि; (5) ब्राजील की खोज के कारण पुर्तगालियों का औपनिवेशीकरण की महत्वाकांक्षा का पश्चिम की ओर दिक्परिवर्तन।

(v) भारतीय वाणिज्य पर पुर्तगालियों का प्रभाव थाः (1) काली मिर्च, शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद तथा घोड़े के व्यापार पर पुर्तगाली शाही एकाधिकार; (2) अन्य वस्तुओं के व्यापार हेतु जहाजों के लिए पुर्तगाली *कार्टेज (अनुमति-पत्र)* प्राप्त करना अनिवार्य; (3) पूर्व अथवा अफ्रीका की ओर जाने वाले जहाजों पर गोवा से होकर जाने के लिए दबाव; (4) निषिद्ध माल के व्यापार में लगे संदेहात्मक जहाजों की तलाशी पुर्तगालियों द्वारा आरंभ; (5) एशियाई व्यापार के प्रचलित तौर-तरीकों में मामूली परिवर्तन; गुजराती एवं अरबी व्यापारियों का चावल, चीनी, मसाला, रेशम आदि के व्यापार पर अधिकार बरकरार; (6) भारत-जापान व्यापार की शुरुआत; जापान से तांबा और चांदी का आगमन; (7) पुनर्जागरण-प्रेरित तकनीक का भारत-आगमन पुर्तगालियों द्वारा नहीं; (8) मध्य अमेरिका से आलू, मक्का, तम्बाकू, इत्यादि का भारतीय वाणिज्य में प्रवेश।

डच

(i) दूसरी यूरोपीय शक्तियों (जैसे अंग्रेज, फ्रांसीसी और पुर्तगाली) की तुलना में भारत में डचों की उपस्थिति थोड़े समय की थी।

(ii) नीदरलैंड की यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना वर्ष 1602 में हुई और यह व्यापक वित्तीय संसाधनों और राज्य संरक्षण के कारण पूरब में अपना प्रभाव फैलाने में सफल हुई।

(iii) डच ने पूरी सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों के प्रभाव को हटाकर पूरब में मसाले के व्यापार पर एकाधिकार सुनिश्चित कर लिया।

(iv) भारत में डच की मुख्य कारखाने मसूलीपट्नम (1605), पुलीकट (1610), सूरत (1616), बिमलीपट्नम (1641), करिकास (1645), चिनसुरा (1653), कासिम बाजार, बड़ानागोर, पटना, बालासोर, नागपट्टम (1658) और कोचीन (1663) में थे।

(v) अंग्रेज-डच प्रतिस्पर्द्धा में डच की पराजय एवं उनका ध्यान मलय द्वीप समूह की तरफ केंद्रित होने से भारत में डच शक्ति के पतन का मार्ग प्रशस्त किया।

डच का व्यापारिक घटनाक्रमः 1581 ई.–डचों ने स्पेन से स्वतंत्रता की प्राप्ति; 1602 ई.–यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना, पुर्तगालियों को बेंटम में पराजित किया, मलक्का के द्वीपों पर अधिकार; 1605 ई.–पुर्तगालियों को अम्बोयना द्वीप में पराजित किया; 1609 ई.–हॉलैण्ड एक्सचेंज बैंक की स्थापना; 1614 ई. –क्रेडिट बैंक ऑफ एम्टर्स्डम की स्थापना। 1619 ई.–जकट्रा पर अधिकार और प्रसिद्ध राजधानी बटाविया की स्थापना। 1632 ई.–बंगाल के हुगली से पुर्तगालियों को बाहर किया। 1641 ई.–मलक्का पर पूर्ण अधिकार की स्थापना। 1658 ई. –श्रीलंका से पुर्तगालियों को बाहर किया। 1663 ई.–कोचिन पर अधिकार कर पुर्तगालियों की शक्ति को सीमित कर दिया।

अंग्रेज

(i) ड्रेक की पूरे विश्व की यात्रा और सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शक्तिशाली स्पेनी अर्मडा पर अंग्रेजों की विजय जैसी दो घटनाओं ने ब्रिटिश वाणिज्यिक उद्यम को बढ़ावा दिया।

(ii) महारानी एलिजाबेथ प्रथम द्वारा जारी चार्टर ने 1600 ईस्वी में ईस्ट इंडिया कंपनी (पहला नाम शीर्षक) 'द गवर्नर एंड कंपनी मर्चेंट्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग इनटू द ईस्ट इंडीज') के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

(iii) कैप्टन थॉमस बेस्ट की पुर्तगालियों पर 1612 में विजय के साथ, अंग्रेजों ने सूरत में 1613 में अपना प्रथम कारखाना स्थापित किया। तत्पश्चात् सर थॉमस रो ने आगरा, अहमदाबाद एवं बड़ौच में कारखाने स्थापित करने की अनुमति मुगल सम्राट जहांगीर से प्राप्त कर ली।

(iv) पुर्तगाली दहेज के रूप में इंग्लैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय के मुम्बई प्राप्त करने से यह अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया तथा चार्ल्स द्वितीय ने मुम्बई को 10 पौंड के नाममात्र के वार्षिक किराए पर अंग्रेज कंपनी को दे दिया।

(v) पूर्वी तट पर अंग्रेजों के मुख्यालय के तौर पर मसूलीपट्नम को फोर्ट सेंट जार्ज सहित मद्रास से प्रतिस्थापित कर दिया गया, जब मद्रास को चंद्रगिरी के प्रमुख ने 1639 में अंग्रेजों को सौंपा।

(vi) कलकत्ता शहर का जन्म बंगाल के मुगल गवर्नर से प्राप्त तीन गांवों—सुतानती, गोबिंदपुर और कलिकत्ता—के विकास से हुआ। किलेबंद बसावट का नाम फोर्ट बिलियम (1700) रखा गया और यह 1911 तक भारत में ब्रिटिश शक्ति का स्थान बना रहा।

(vii) 1717 में मुगल बादशाह फर्रुखसियर द्वारा जारी फरमान ने बंगाल, गुजरात, और हैदराबाद में कंपनी के लिए महत्व विशेषाधिकार सुनिश्चित हुए।

फ्रांसीसी

(i) लुई चौदहवें के योग्य मंत्री कोल्बर्ट ने 1664 में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी (कम्पेग्ने डेस इंडेस ओरियन्टेड्स) की नींव रखी।

(vii) फ्रांसीसियों ने पॉण्डिचेरी को अपने मुख्यालय के तौर पर विकसित किया, जिसकी अनुमति फ्रैंकोइस मार्टिन, मसूलीपट्टम कारखाने का निदेशक, को वली कोंडापुरम गवर्नर शेर खान लोदी द्वारा 1673 में प्रदान की गई।

(vii) यद्यपि फ्रांसीसियों को डच एवं अंग्रेजों के विपरीत समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनकी कंपनी को 1720 में 'परपेचुअल कंपनी ऑफ इंडिया' के तौर पर स्वीकार किया गया।

(viii) लिनोइर और डूमास ने भारत में 1720 और 1742 के बीच फ्रांसीसी शक्ति को सुदृढ़ किया और बंगाल, कोरोमण्डल एवं मालाबार तट में अन्य कारखाने स्थापित किए गए।

सर्वोच्चता के लिए आंग्ल—फ्रांसीसी संघर्ष

(i) अपने-अपने वाणिज्यिक हितों के संरक्षण एवं विस्तार की आवश्यकता ने भारत में अंग्रेज एवं फ्रांसीसी कंपनियों को सर्वोच्चता की लड़ाई लड़ने का मार्ग प्रशस्त किया।

(ii) कर्नाटक एवं यूरोप में राजनीतिक घटनाओं ने उन्हें अपने दावे करने का बहाना प्रदान किया जिसके परिणामस्वरूप तीन कर्नाटक युद्ध लड़े गए।

(iii) 1740 में शुरू हुए कर्नाटक युद्ध यूरोप में आंग्ल-फ्रांसीसी शत्रुता का विस्तार था और इसकी समाप्ति 1740 की एक्स-ला-चैपल की संधि से हुई।

(iv) दूसरा कर्नाटक युद्ध (1749-54) भी प्रथम कर्नाटक युद्ध की भांति अनिर्णीत रहा लेकिन इसने अंग्रेजों के मुकाबले दक्षिण भारत में फ्रांसीसी स्थिति को कमजोर किया।

(v) तीसरा कर्नाटक युद्ध (1758-63), वांडीवाश के युद्ध (1760-61) के लिए जाना जाता है, यूरोप में संघर्ष की एक गूंज थी। इसने भारत में फ्रांसीसियों के राजनीतिक भविष्य पर रोक लगा दी और अंग्रेजों को दक्षिण भारत का स्वामी बना दिया।

फ्रांसीसी असफलता के कारण

यद्यपि फ्रांसीसियों के पास कुछ असाधारण रूप से कुशाग्र नेतृत्व था, वे अपने नेताओं, विशेष रूप से काउंट डी लाली, की तरफ से की गई कुछ सामरिक भूलों के कारण अंग्रेजों से पराजित हो गए। अन्य कारणों में फ्रांस के सम्राट की असंगठित नीति, फ्रांसीसियों के लिए वाणिज्यिक प्रेरणा का अभाव, अंग्रेजी सरकार का मजबूत समर्थन और उनका बेहतरीन वाणिज्यिक आधार शामिल हैं जिन्होंने फ्रांसीसियों पर अंग्रेजों की विजय सुनिश्चित की।

अध्याय 4

ब्रिटिश विजय के समय भारत की स्थिति

मुगल साम्राज्य का पतन

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महान मुगल शासन की शक्ति एवं प्रतिष्ठा का भारी पतन हुआ। साम्राज्य जिसने दो शताब्दियों से अधिक समय तक भारत के अधिकतर हिस्से पर नियंत्रण किया, उत्तर से दक्षिण लगभग 250 मील और 100 मील चौड़े समकोणीय पत्ती के आकार तक सिमट गया। साम्राज्य की न केवल राजनीतिक सीमा सिकुड़ी अपितु प्रशासनिक ढांचा भी ध्वस्त हो गया, जिसे स्वयं के अंतर्विरोधों के अंतर्गत अकबर एवं शाहजहां जैसे महान शासकों द्वारा परिश्रमपूर्वक निर्मित किया गया। साम्राज्य के ढहने पर, देश के विभिन्न हिस्सों में कई स्वतंत्र राजवंश उठ खड़े हुए।

औरंगजेब की गलत नीतियों ने मुगल साम्राज्य की स्थिरता को क्षीण किया। लेकिन सेना एवं प्रशासनिक व्यवस्था नामक दो स्तम्भ 1707 ई. तक सीधे खड़े रहे। उत्तराधिकार की लड़ाईयों और कमजोर शासकों ने 1707-1719 तक दिल्ली को त्रस्त एवं परेशान किया। यद्यपि मुहम्मद शाह ने 29 वर्षों की लम्बी समयावधि तक शासन किया, तथापि उसकी अक्षमता के कारण शाही भाग्य का पुनरुद्धार असंभव था। मुहम्मद शाह के शासनकाल के दौरान निजाम-उल-मुल्म ने 1724 में वजीर के पद से इस्तीफा दे दिया और स्वतंत्र हैदराबाद राज्य की स्थापना करने हेतु दक्कन चला गया। बंगाल, अवध और पंजाब ने भी इसी राह का अनुसरण किया और साम्राज्य उत्तराधिकारी राज्यों में विघटित हो गया। कई स्थानीय प्रमुखों ने अपनी स्वतंत्रता का दावा करना शुरू कर दिया और मराठों ने शाही दायित्व उत्तराधिकार में प्राप्त करने के प्रयास करने शुरू कर दिए।

साम्राज्य की अक्षुण्णता में मुगलों के समक्ष चुनौतियां

उपर्युक्त आंतरिक कमजोरियों के अलावा, मुगल साम्राज्य को उत्तर-पश्चिम से विभिन्न आक्रमणों के रूप में बाहरी चुनौतियों का भी सामना करना पड़ा। फारस के शासक,

नादिरशाह, ने 1738-39 में भारत पर हमला कर दिया तथा लाहौर को जीत लिया और 13 फरवरी, 1739 को करनाल में मुगल सेना को पराजित कर दिया। दिल्ली को ध्वस्त कर दिया गया जब आक्रमणकारी ने मुगल बादशाह, मुहम्मद शाह, को बंदी बना लिया और शहर मलबे में तब्दील हो गया। राजकीय खजाने और धनवान कुलीन लोगों की तिजोरियों से 70 करोड़ रुपए इकट्ठा किए गए। मयूर सिंहासन एवं कोहिनूर हीरा नादिर शाह की लूट की चीजों में दो बेहद कीमती चीजें थी। वह लूटी गई राशि एवं चीजों से बेहद खुश हुआ कि उसने फारसियों (फारस के नागरिकों) को आगामी तीन वर्षों तक कर से छूट प्रदान कर दी। नादिर शाह ने काबुल सहित सिंधु नदी के पश्चिम का सामरिक रूप से महत्वपूर्ण मुगल क्षेत्र भी हथिया लिया, जिसने भारत को उत्तर-पश्चिम की तरफ से होने वाले आक्रमणों के प्रति एक बार फिर कमजोर बना दिया।

नादिर शाह के पश्चात्, अहमद शाह अब्दाली ने अफगानिस्तान पर अपना शासन कायम किया और 1748 से 1767 के बीच कई बार उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। उसने लगातार मुगलों को परेशान किया। 1757 में, जब अंग्रेजों ने प्लासी का युद्ध जीतकर बंगाल में कदम रखा, उसने दिल्ली पर आधिपत्य जमा लिया और मुगल बादशाह पर नजर रखने के लिए एक अफगान केयर टेकर को पीछे छोड़ गया। उसने 1761 में मराठाओं पर एक महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की जो इतिहास में 'पानीपत का तीसरा युद्ध' के नाम से सुप्रसिद्ध है।

मुगल साम्राज्य के विघटन के कारण

कुछ इतिहासकार विश्वास करते हैं कि 18वीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था में तीव्र गिरावट के कारण मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। यह सत्य है कि साम्राज्य के कई हिस्सों में अलग-अलग समय के लिए अराजकता एवं युद्ध हुए जिसने प्रतिकूल वित्तीय विपदा को जन्म दिया। केंद्रीय शासन ने अपनी शक्ति खो दी जिसने दिल्ली के पतन को प्रवृत्त किया। लोगों ने प्रांतों की ओर प्रस्थान कर लिया, बाजारों ने अपनी प्राथमिकता खो दी, कलाकारों ने आजीविका प्राप्ति के लिए अन्य स्थानों को गमन कर दिया। इसी प्रकार की स्थिति आगरा एवं अवध की थी। सिख विद्रोह ने स्थिति को और अधिक गंभीर बना दिया जिन्होंने लाहौर एवं अन्य स्थानों के व्यापारिक मार्गों को अवरुद्ध कर दिया। सामान्य तौर पर, 18वीं शताब्दी के मध्य तक उत्तरी-पश्चिमी भारत के समृद्ध शहरी केंद्र अपक्षय की स्थिति में आ चुके थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के पूर्वी प्रांतों में, मराठाओं के आकस्मिक हमलों ने विनाशकारी युद्ध को बढ़ावा दिया।

मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया

मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया औरंगजेब के शासनकाल के दौरान शुरू हो चुकी थी, लेकिन इसमें तीव्रता 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही आई। यहां तक कि, परिस्थितियां इतनी भी शोचनीय या चिंताजनक नहीं थी कि प्रक्रिया को रोका ना

जा सकता था। यद्यपि कई प्रांतीय मुखियाओं और शासकों द्वारा मुगल सत्ता के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की गई, तथापि कोई भी मुगल शक्ति के समक्ष स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सका। सिख, मराठा और राजपूत इतनी क्षमता हासिल नहीं कर सके कि मुगल साम्राज्य को उखाड़ फेंक सकें। उन्होंने मुगल शक्ति का मात्र इतना विरोध किया जिससे वे अपने सम्बद्ध क्षेत्र में स्वतंत्रता हासिल कर सकें। इस प्रकार यदि औरंगजेब के उत्तराधिकारी सक्षम एवं योग्य शासक होते तो मुगल सत्ता का पतन नहीं होता। मध्यकालीन युग में, साम्राज्य का भविष्य शासक की क्षमताओं पर निर्भर होता था। औरंगजेब के उत्तराधिकारी, अक्षम, कमजोर एवं निर्लज्ज शासकों का समूह सिद्ध हुए जिसने विघटन की प्रक्रिया को तीव्र किया और अंततः इसे धूल-धूसरित करने में योगदान दिया।

औरंगजेब के पश्चात् साम्राज्य के सम्मुख अन्य समस्याएं

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बाद के मुगलों द्वारा अन्य समस्याओं का भी सामना करना पड़ा।

दो वर्गों द्वारा राज्य शक्ति में हिस्सेदारीः मध्यकालीन युग के दौरान दो वर्गों—जमींदार और कुलीन वर्ग—द्वारा शासक के साथ राज्य शक्ति में हिस्सेदारी की गई। जमींदार अपनी जमीन के वंशानुगत स्वामी थे जिन्हें वंशानुगत आधार पर कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे जिन्हें राय, राजस, ठाकुर, खुत और देशमुख जैसे विभिन्न नामों से जाना जाता था। राजस्व संग्रहण में मदद और स्थानीय प्रशासन के लिए सैनिकों का प्रबंध करने के कारण जमींदारों को साम्राज्य में मुख्य स्थान प्राप्त था। यद्यपि मुगलों ने जमींदारों की शक्ति नियंत्रित करने का प्रयास किया और किसानों से सीधा सम्पर्क साधने की व्यवस्था की, जिसमें वे पूरी तरह सफल नहीं हो पाए। स्वयं औरंगजेब के शासनकाल के दौरान, उनकी शक्ति एवं प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इसका बड़ा नतीजा यह हुआ कि क्षेत्रीय निष्ठा को प्रोत्साहित किया गया। कई स्थानीय जमींदारों ने साम्राज्य के भीतर अन्य शक्तिशाली वर्गों की सहायता की।

इसी प्रकार एक अन्य वर्ग कुलीन वर्ग था जिसमें ऐसे लोग थे जिन्हें बड़ी जागीर और मनसब सौंपे जाते थे या जिन्हें मुगल सूबों का सूबेदार नियुक्त करके इसके प्रबंधन की जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। इस वर्ग में कई राजपूत शासक, सूबेदार और मनसबदार शामिल थे। मुगल शासन को अकसर 'कुलीन वर्ग के शासन' के तौर पर भी परिभाषित किया जाता था क्योंकि साम्राज्य को प्रशासित करने में मुगल कुलीनों ने एक केंद्रीय भूमिका निभाई। औरंगजेब के बाद के मुगल शासकों के शासन काल के दौरान विभिन्न समूहों के बीच बढ़ती पारस्परिक शत्रुता, ईर्ष्या एवं शक्ति प्राप्ति की प्रतिस्पर्द्धा ने न केवल शासकों की प्रतिष्ठा को घटाया, अपितु मुगल शक्ति के पतन में भी एक अहम भूमिका निभाई।

विभिन्न क्षेत्रीय शक्तिशाली समूहों का उद्गमः औरंगजेब के शासन काल में जाट, सिख और मराठा जैसे शक्तिशाली क्षेत्रीय समूहों का पदार्पण हुआ जिन्होंने स्वयं

के राज्य बनाने हेतु मुगल साम्राज्य से युद्ध शुरू कर दिया था। तब वे अपने प्रयास में सफल नहीं हुए, लेकिन उनमें से प्रत्येक ने अपने सम्बद्ध क्षेत्रों में राजनीतिक घटनाक्रमों के भविष्य का मार्ग तैयार किया। राजनीतिक बढ़त के लिए मुगल शासन से उनके निरंतर संघर्ष ने मुगल सत्ता को महत्वपूर्ण रूप से कमजोर किया। औरंगजेब और उनके पश्चात् बहादुर शाह ने, राजपूतों के दमन के प्रयास द्वारा, मुगलों के खिलाफ निरंतर युद्ध करने के लिए उन्हें उकसाया। औरंगजेब के पश्चातवर्ती मुगल शासकों ने राजपूतों के साथ समझौते की नीति करने का प्रयास किया लेकिन तब तक काफी देर हो चुकी थी। राजपूतों ने साम्राज्य के विकास एवं कल्याण के लिए मुगलों के साथ गठबंधन करने पर विश्वास नहीं किया।

मराठा भी मुगलों के लिए दुर्जेय शत्रु सिद्ध हुए। शुरुआत में उनका लक्ष्य केवल महाराष्ट्र पर नियंत्रण हासिल करने तक सीमित था, जिसमें आगे चलकर पूरे भारत में सरदेशमुखी, और चौथ वसूलने की अनुमति मुगल शासक से प्राप्त करना भी शामिल हो गया। 1740 तक मराठा उत्तर भारत में प्रवेश कर गए और गुजरात, मालवा और बुंदेलखंड प्रांतों पर अपना प्रभाव फैलाने में सफल हो गए। इस प्रकार मुगल साम्राज्य के विरुद्ध राजपूतों के संघर्ष और मराठाओं की बढ़ती शक्ति और महत्वाकांक्षाओं ने मुगल शक्ति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया।

आर्थिक एवं प्रशासनिक समस्याएं: ऐसी विभिन्न आर्थिक एवं प्रशासनिक समस्याओं का जन्म हुआ जिन्होंने मुगल सत्ता को परेशानी में डाल दिया। अमीर या मनसबदारों की संख्या में तीव्र वृद्धि के कारण उनके बीच जागीर के तौर पर भूमि वितरित करने हेतु भूमि की कमी हो गई। औरंगजेब ने जागीर या बेजागीरी की बेतहाशा कमी की समस्या का समाधान ढूंढने के प्रयास के तहत् जागीर से बढ़ी आय को अभिलिखित करना और प्रस्तुत करना शुरू किया। जिसके परिणामस्वरूप अमीर ने किसानों पर दबाव डालकर अपनी जागीर से अधिक आय प्राप्त करना शुरू कर दिया। इस कदम से मुगल शासन ने दोनों—अमीर और बोझ से दबे किसान—से दुश्मनी मोल ले ली। युद्धों, शासकों एवं अमीरों की विलासितापूर्ण जिंदगी, खलीसा (क्राउन) भूमि में कमी इत्यादि ने मिलकर राज्य पर भारी वित्तीय बोझ डाला। इसका परिणाम हुआ कि राज्य की आय इसके व्यय को पूरा नहीं कर सकी। बदतर आर्थिक स्थिति ने सभी वर्गों के लोगों, चाहे वे अमीर, व्यापारी, शिल्पकार, श्रमिक या किसान हों, पर नकारात्मक प्रभाव डाला। दरबार में बढ़ती समूहों की शत्रुता सहित राजनीतिक निहितार्थों ने केंद्रीय प्रशासन एवं सेना को कमजोर किया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् इन आर्थिक एवं प्रशासनिक समस्याओं में कई गुना वृद्धि हुई।

संक्षेप में मुगलों के पतन के कुछ मुख्य कारण निम्न हैं—

(i) मुगलों की सरकार वैयक्तिक रूप से निरकुंश थी और इसलिए इसकी सफलता

शासन करने वाले निरंकुश शासक के चरित्र पर निर्भर थी। औरंगजेब के बाद के मुगल शासक प्रभावहीन थे और राज्य के प्रशासन की उपेक्षा की।

(ii) उत्तराधिकार के एक निश्चित कानून के अभाव के साथ, सदैव उत्तराधिकार को लेकर युद्ध हुए, इसने सरकार के स्थायित्व को कमजोर किया, और राष्ट्रभक्ति की कीमत पर बंटवारे को पोषित किया।

(iii) शासकों के क्षय ने सच्चरित्रता का क्षय किया जिसने आपसी युद्धों एवं झगड़ों को बढ़ावा दिया और साम्राज्य को ध्वस्त करने का काम किया।

(iv) सेना की बिगड़ती स्थिति भी साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई।

(v) साम्राज्य की सीमाएं बेहद व्यापक थीं जिसे कमजोर शासकों द्वारा सम्भालना मुश्किल हो गया।

(vi) औरंगजेब की धार्मिक नीति ने राजपूतों, सिखों, जाटों और मराठों को नाराज कर दिया और उन्होंने विद्रोह कर दिया।

(vii) औरंगजेब की दक्कन नीति पूरी तरह असफल रही और, काफी हद तक, यह मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बना।

(viii) ईरानी और दुर्रानी साम्राज्यों के आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य को ध्वस्त करने में योगदान दिया।

(ix) निरंतर युद्ध, कृषि में विकास की गति का स्थिर होना, और व्यापार एवं उद्योग में ह्रास आर्थिक पतन का कारण बना।

(x) यूरोपीय शक्तियों का आगमन, जिन्होंने भारत में व्याप्त दशाओं का लाभ उठाया, ने भी मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया।

स्वायत्त क्षेत्रीय राज्यों का उदय

मुगल प्रशासन प्रकृति में केंद्रीकृत था और इसकी सफलता काफी हद तक शासक की शक्ति और कुलीनों, जमींदारों, जागीरदारों और प्रांतीय अधिकारियों को विनियमित करने की उसकी क्षमता पर निर्भर करती थी। वास्तव में, यह सम्राट एवं अन्यों के बीच हितों एवं इच्छाओं का संतुलन एवं समन्वय था। 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात्, यह संतुलन बिगड़ गया, जिसके परिणामस्वरूप मुगल शासक की सत्ता का दुर्बलीकरण हुआ। दुर्भाग्यवश, केंद्रीय प्रशासन वित्तीय संकट एवं कुलीनों के बीच गुटीय शत्रुता, जिसे औरंगजेब के उत्तराधिकारी रोक नहीं पाए, के कारण ढह गया। मुगल सम्राट प्रांतीय गवर्नरों को जरूरी संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान करने में असफल हो गए। जिसके परिणामस्वरूप, प्रांतीय गवर्नर, 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में, एक स्वतंत्र शक्ति आधार बनाने लगे। उनमें से कई ने शासक की पूर्वानुमति से स्थानीय नियुक्तियां करनी शुरू कर दी और प्रांतों में राजवंशीय शासन की स्थापना करने का प्रयास किया। उन्होंने

सैद्धांतिक तौर पर सम्राट के प्रति भेंट भेजकर अपनी निष्ठा प्रदर्शित की लेकिन वास्तव में उन्होंने स्वतंत्र शक्ति प्राप्त कर ली थी।

1724 में दक्कन में निजाम-उल-मुल्क के साथ शुरू होकर, लगभग 1740 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा (वर्तमान में ओडिशा) के पूर्वी प्रांत भी दिल्ली के नियंत्रण से बाहर हो गए जिसके बाद 1750 में गुजरात और सिंध तथा 1754 में अवध में ऐसा ही हुआ। दिल्ली के नजदीक, फर्रुखाबाद एवं रोहेलखंड में, स्वतंत्र पठान राजवंश शासन करते थे, लेकिन वापस लौटे राजपूतों के गठबंधन को औरंगजेब ने तोड़ दिया लेकिन उन्हें कभी भी पूरी तरह दबाया नहीं जा सका। सुदूर दक्षिण में, साहसी हैदर अली ने मैसूर साम्राज्य को बेहद शक्तिशाली बना दिया। कई छोटी-छोटी रियासतें देश के दक्षिणी क्षेत्र में शासन कर रही थीं। इस प्रकार मुगल भारत के विभिन्न हिस्सों में राज्यों की तीन मुख्य श्रेणियां उदित हुईं–

(i) उत्तराधिकारी राज्य जो मुगल साम्राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से छूट गए (जैसे अवध, बंगाल, हैदराबाद)।

(ii) स्वतंत्र राज्य जो प्रमुख रूप से मुगल साम्राज्य का प्रांतों पर नियंत्रण में कमी के कारण सामने आए (नामतः मैसूर, केरल, राजपूत राज्य)।

(iii) मुगलों के विरुद्ध विद्रोहियों द्वारा स्थापित नए राज्य (जैसे–मराठा राज्य, पंजाब राज्य, जाट राज्य)।

उत्तराधिकारी राज्य

हैदराबाद, अवध एवं बंगाल मुगल साम्राज्य के आधिपत्य से छूट गए और स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। यह अलगाव या संबंध-विच्छेद विभिन्न चरणों में हुआ। वैयक्तिक विद्रोह का अनुसरण शुरू में सामाजिक समूहों, समुदायों एवं अंततः पूरे क्षेत्र ने किया। इन प्रांतों में जमींदारों ने शाही मांगों का विरोध किया और प्रांतीय गवनर्स, जिन्हें दिल्ली से मदद एवं संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ, ने स्थानीय अभिजात्य या कुलीन वर्गों से मदद प्राप्त करने का प्रयास किया। इन राज्यों ने औपचारिक तौर पर मुगल साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का त्याग नहीं किया, उन्होंने मात्र पूरी स्वायत्तता का निर्वहन करना शुरू कर दिया। मुगल संस्थागत ढांचे के भीतर एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण हुआ।

हैदराबादः 1748 में निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु ने हैदराबाद के इतिहास में प्रथम गौरवान्वित अध्याय का अंत कर दिया। यह गौरवशाली शुरुआत निजाम-उल-मुल्क, जो सैयद बंधुओं के समय एक प्रमुख कुलीन था, द्वारा 1724 में हैदराबाद राज्य की स्थापना के साथ शुरू हुआ। निजाम-उल-मुल्क ने सैयद बंधुओं को ठिकाने लगाने में मुहम्मद शाह की मदद की और बदले में उसे दक्कन का सूबेदार बना दिया गया।

निजाम-उल-मुल्क ने प्रशासन को पुनर्गठित किया और राजस्व व्यवस्था को सरल एवं कारगर बना दिया। दिल्ली में 1722-1724 के बीच वजीर के रूप में एक छोटे

कार्यकाल के बाद, वह एक राज्य की स्थापना करने के लिए दक्कन लौट आया, जो व्यवहार में स्वतंत्र हो, यद्यपि उसने निरंतर मुगल सम्राट के प्रति अपनी निष्ठा घोषित की। प्रादेशिक अभिजात्यों की संरचना ने इस स्वतंत्रता को स्थायित्व प्रदान किया, जैसाकि केरेन लियोनार्ड ने हैदराबाद के राजनीतिक तंत्र के अपने अध्ययन में इसे प्रकट किया। राजस्व तंत्र का सुधार, जमींदारों का नियंत्रण, और हिंदुओं के प्रति सहिष्णुता उसकी समझ-बूझ भरी नीतियां थीं।

लेकिन 1748 में उसकी मृत्यु ने हैदराबाद को मराठाओं और बाद में विदेशी कंपनियों के षड़यंत्रों एवं कपट योजनाओं के लिए खोल दिया। मराठाओं ने राज्य पर पूरी शक्ति से आक्रमण किया और असहाय निवासियों पर चौथ आरोपित की। निजाम-उल-मुल्क का बेटा, नासिर जंग, और पोते, मुजफ्फर जंग, के बीच उत्तराधिकार के लिए खूनी जंग हुई। डूप्ले के अंतर्गत फ्रांसीसियों ने इस अवसर को अपने हित में प्रयोग करने के लिए एक समूह की दूसरे समूह के विरुद्ध मदद की। फ्रांसीसियों ने इसमें मुजफ्फर जंग की मदद की, जिसने बाद में फ्रांसीसियों को बड़ी धनराशि एवं कुछ क्षेत्र ईनाम में दिए।

बंगालः व्यवहार में स्वतंत्रता और दिल्ली की सल्तनत (मुगल शासन) के प्रति औपचारिक निष्ठा ने बंगाल में नवाब के शासन को सुदृढ़ किया। मुर्शीद कुली खां मुगल संरक्षण के अंतर्गत 1717 में बंगाल का गवर्नर बना लेकिन दिल्ली से उसका संबंध मात्र भेटें भेजने तक सीमित था। शुजा-उद-दीन 1727 में नवाब बना और अलीवर्दी खां के 1739 में नवाब बनने तक बंगाल का नवाब रहा। 1756 में, अपने दादा अलीवर्दी खां की मृत्यु के पश्चात् सिराज-उद-दौला बंगाल का नवाब बना।

बंगाल के शासकों ने लोक नियुक्तियों में धार्मिक आधार पर भेदभाव नहीं किया और हिंदू लोक सेवाओं में उच्च पदों पर आसीन हुए तथा आकर्षक जमींदारी हासिल की। नवाब अत्यधिक स्वतंत्र थे और अपने क्षेत्राधिकार में उन्होंने विदेशी कंपनियों के व्यापार पर कठोर नियंत्रण बनाए रखा। चंद्र नगर और कलकत्ता (अब कोलकाता) में फ्रांसीसी और अंग्रेज कारखानों को किलेबंदी करने की अनुमति नहीं थी, न ही नवाब ने विदेशी कंपनियों को विशेषाधिकार प्रदान किए। शासकों की प्रभुसत्ता तब भी बनी रही जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बल प्रयोग करके इसकी शक्ति का अंत कर देने का खतरा था।

हालांकि, नवाबों को अपनी कमजोर एवं अल्प सेना तथा कंपनी द्वारा प्रस्तुत खतरे को कमतर आंकने के कारण ब्रिटिश कंपनी के हाथों हार झेलनी पड़ी। 1757 में प्लासी के युद्ध में ब्रिटिश कंपनी की विजय ने भारत के साथ ब्रिटिश संबंधों के एक नए चरण का सूत्रपात किया।

अवधः सादत खान बुरहान-उल-मुल्क ने 1722 में अवध के गवर्नर के रूप में उसकी नियुक्ति के समय से ही धीरे-धीरे स्वतंत्रता प्राप्त करना शुरू कर दिया था। अवध में

मुख्य समस्या जमींदारों ने खड़ी की थी जिन्होंने न केवल भू-राजस्व देने से मना कर दिया था अपितु अपने किलों एवं सेना के स्वायत्त मुखिया की तरह व्यवहार करना शुरू कर दिया था। सादत खान ने उन्हें दबा दिया और एक नवीन भूमि बंदोबस्त शुरू किया जिसने किसानों को जमींदारों के शोषण से सुरक्षा प्रदान की। जागीरदारी व्यवस्था में सुधार किया गया और जागीरदारी स्थानीय कुलीन लोगों को दी गई, जिन्हें प्रशासन एवं सेना में भी उच्च पद प्रदान किए गए। एक 'क्षेत्रीय शासक समूह' का उदय हुआ जिसमें शेखजादा, अफगान एवं हिंदू वर्ग शामिल थे।

स्वतंत्र राज्य

राजपूत राज्यः राजपूत शासक मुगल साम्राज्य के विघटन से लाभ उठाकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में पीछे नहीं रहे। कोई भी राजपूत शासक इतना शक्तिशाली नहीं था कि सर्वोच्च शक्ति बनने के लिए मराठाओं या ब्रिटिश शक्ति से भिड़ सके। दिल्ली के साथ संबंधों को थोड़ा ढीला छोड़ना और व्यवहार में स्वतंत्र राज्य की भांति कार्य करना उनकी पद्धति थी।

उन्होंने दिल्ली दरबार में शक्ति के लिए संघर्ष में हिस्सा लिया और मुगल शासकों से आकर्षक एवं प्रभावशाली पद हासिल किए।

मुगल काल के पश्चात् राजपूतों की नीति निरंतर बदलती रही। प्रत्येक राजपूत राज्य ने जब भी संभव हुआ अपने कमजोर पड़ोसी के शासन को हथिया कर निरंतर विस्तार की नीति का अनुसरण किया। यह नीति उन्होंने मुगल दरबार में भी अपनाई। अंबेर के जयसिंह, जिन्होंने 1699 से 1743 तक जयपुर पर शासन किया, एक बेहद सुप्रसिद्ध राजपूत शासक थे।

मैसूरः अठारहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण भारत में मैसूर का एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उदय हुआ। हैदर अली ने शक्तिशाली मैसूर राज्य की नींव रखी जिसे उसके योग्य पुत्र, टीपू सुल्तान, ने सुदृढ़ किया। यद्यपि हैदर अली मैसूर सेना में मात्र एक कनिष्ठ अधिकारी था, धीरे-धीरे वह एक कुशल एवं कुशाग्र सेनापति के रूप में उभरा। उसकी बेहद उल्लेखनीय उपलब्धि यह थी कि उसने इस बात को महसूस कर लिया था कि केवल एक आधुनिक सेना ही शक्तिशाली राज्य का आधार हो सकती है। परिणामस्वरूप, उसने शास्त्रागार स्थापित करने और पश्चिमी तर्ज पर सैनिकों को प्रशिक्षित करने के लिए एक फ्रांसीसी विशेषज्ञ को नियुक्त किया। जल्द ही, वह 1761 में मैसूर सिंहासन के पीछे की वास्तविक शक्ति, मंत्री नंनजाराज, को उखाड़ फेंकने में सफल हो गया।

मैसूर राज्य की सीमाएं, तब तक, कनारा एवं मालाबार के समृद्ध तटीय क्षेत्र को शामिल करते हुए विस्तारित की जा चुकी थीं। हैदर अली, एक सच्चा विस्तारवादी, को क्षेत्र में अन्य शक्तियों, मराठा, हैदराबाद और अंग्रेजों, से भी भिड़ना पड़ा। 1769 में मद्रास के निकट हैदर अली ने अंग्रेजों को करारी शिकस्त दी। 1782 में उसकी मृत्यु

के पश्चात् उसका पुत्र टीपू सुल्तान बना और उसने अपने पिता की नीतियों को आगे बढ़ाया।

केरलः तीन राज्यों—कोचीन, त्रावणकोर और कालिकट ने एक साथ मिलकर वर्तमान केरल राज्य का निर्माण किया। बड़ी संख्या में मुखियाओं एवं राजाओं के क्षेत्रों को 1763 तक इन राज्यों में शामिल कर लिया गया। लेकिन मैसूर का विस्तार केरल के स्थायित्व के लिए विध्वंसक सिद्ध हुआ। हैदर अली ने केरल पर 1766 में आक्रमण किया और मालाबार एवं कालिकट को मैसूर में मिला लिया। त्रावणकोर, सुदूर दक्षिणी राज्य और तब तक बेहद महत्वपूर्ण राज्य हो गया, को छोड़ दिया गया। त्रावणकोर ने 1729 के पश्चात् महत्व हासिल किया जब इसके राजा, मार्तंड वर्मा, ने पश्चिमी तर्ज पर प्रशिक्षित और आधुनिक हथियारों से सुसज्जित शक्तिशाली और आधुनिक सेना की मदद से अपने राज्य का विस्तार किया। डच को केरल से बाहर कर दिया गया और सामंती प्रमुखों को दबा दिया गया। मार्तंड वर्मा की दृष्टि विस्तार करने की नीति से आगे अपने राज्य का विकास करना और सिंचाई एवं परिवहन तथा संचार की व्यवस्था करना था। उसके उत्तराधिकारी राम वर्मा, जो बेहद सृजनात्मक एवं विद्वान था, ने पश्चिमी ज्ञान को शामिल किया एवं त्रिवेन्द्रम, राजधानी, को ज्ञान एवं कला का केंद्र बनाया।

नवीन राज्य

मराठाः मराठाओं को पूरी तरह कुचलने की औरंगजेब की महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हो सकी। मराठाओं ने 1707 की कालावधि के पश्चात् मुगल साम्राज्य के अपक्षय में ठोस चुनौती प्रस्तुत की। यद्यपि वे एक ऐसी शक्तियों में से थे जो अखिल भारतीय शक्ति के तौर पर मुगलों को प्रतिस्थापित कर शक्ति शून्य को भर सकते थे। वे अपने एकता के अभाव और गैर-प्रगतिशील विचारों एवं दृष्टिकोण के कारण ऐसा करने में विफल हो गए।

शाहू, शिवाजी का पोता, जो उन्नीस वर्षों तक सम्मानपूर्वक मुगलों की कैद में रहा, को 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् जल्द ही रिहा कर दिया गया। शाह और ताराबाई, उसकी ताई, के बीच 1714 तक खुला संघर्ष चलता रहा। अपने विश्वसनीय और सक्षम मंत्री, बालाजी विश्वनाथ, की मदद से शाहू विजयी हुआ। 1713 में, शाहू ने बालाजी को पेशवा या प्रधानमंत्री बनाया, क्योंकि उसे स्वयं प्रशासनिक अनुभव नहीं था। नए पेशवा ने तेजी से मराठा सरदारों और महाराष्ट्र के अधिकतर हिस्सों पर शाहू एवं अपने नियंत्रण को सुदृढ़ किया। उसने मुगल दरबार के संघर्षों और आंतरिक कमजोरियों का लाभ उठाकर मराठा साम्राज्य को सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बनाया। 1719 में सैय्यद बंधुओं के साथ उसके समझौते के फलस्वरूप शाहू को अपने क्षेत्र के वैध शासक के तौर पर मुगल मान्यता मिली, और मुगलों की कैद से शाहू के परिवार के लोगों को रिहा किया गया तथा छह मुगल प्रांतों—बीदर, बरार, बीजापुर, गोलकोंडा,

औरंगाबाद, और खानदेश—से चौथ एवं सरदशेमुखी वसूलने के अधिकार मराठाओं को प्राप्त हुए। इसके बदले में शाहू मुगल शासक फर्रुखसियर की सेवा में 15,000 अश्वारोही सेना का एक दल देने, दक्कन में विद्रोह एवं लूटपाट रोकने और वार्षिक रूप से मुगल शासक को 10 लाख रुपए की भेंट देने पर सहमत हुआ। हालांकि, बालाजी ने फर्रुखसियर को उखाड़ फेंकने में सैय्यद बंधुओं की मदद की। बालाजी विश्वनाथ, पेशवा का पद बेहद शक्तिशाली हो गए और मराठा राज्य ने प्रभुत्वशाली विस्तारवादी राज्य का दर्जा प्राप्त किया।

बाजीराव प्रथम ने अपने पिता (बालाजी विश्वनाथ) की मृत्यु के पश्चात् 1720 में मात्र 20 वर्ष की आयु में पेशवा का पद संभाला। बाजीराव मराठा शक्ति को उल्लेखनीय रूप से विस्तारित करने में सफल हुआ। उत्तर में, उसने 1728 में मालवा और 1731 में गुजरात पर विजय प्राप्त की उसने बुंदेलखंड पर भी कब्जा किया और दक्कन में पालखेड़ में हैदराबाद के निजाम को पराजित किया और इन क्षेत्रों से राजस्व एकत्रित करने के अधिकार सुनिश्चित किए। 1733 में, उसने जंजीरा के सिद्धियों के खिलाफ अभियान के नेतृत्व किया और उन्हें मुख्यभूमि से मार भगाया।

बाजीराव ने 1737 में दिल्ली पर छापा मारा, और मुगल शासक ने निजाम से मदद करने को कहा। लेकिन निजाम को भोपाल के पास फिर से पराजित कर दिया गया और सम्पूर्ण मालवा और नर्मदा तथा चम्बल के बीच के क्षेत्र बाजीराव को सौंपने को बाध्य किया गया। निजाम को मराठाओं को युद्ध की क्षतिपूर्ति का भुगतान करने को कहा गया तथा दक्कन प्रांतों में चौथ एवं सरदेशमुखी वसूलने के अधिकार के अतिरिक्त अनुदान देने को बाध्य किया गया। इस प्रकार 1740 तक, जब बाजीराव की मृत्यु हुई, मराठा केवल क्षेत्रीय शक्ति नहीं रह गए थे, अपितु उन्होंने विस्तारवादी साम्राज्य का दर्जा प्राप्त कर लिया।

बालाजी बाजीराव (नाना साहब के नाम से भी जाने जाते थे) 1740 में पेशवा बने और 1761 तक उन्होंने शासन किया। वह अपने पिता के सही उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। 1749 में राजा शाहू की मृत्यु के साथ, बालाजी बाजीराव मराठा राज्य के वास्तविक और व्यावहारिक शासक बन गए। उन्होंने पूना, पेशवा का मुख्यालय, में सरकार को स्थानांतरित किया। मराठा शक्ति का विस्तार तीसरे पेशवा के अंतर्गत भी निरंतर जारी रहा। बालाजी राव के अंतर्गत मराठा शक्ति ने मालवा, गुजरात और बुंदेलखंड के क्षेत्रों पर नियंत्रण करके मध्य भारत पर नियंत्रण कर लिया। दक्षिण भारत पर पारस्परिक रूप से आसानी से नियंत्रण कर लिया गया। बाजीराव के नेतृत्व में मराठा शक्ति ने उत्तरी भारत की ओर कूच किया और दिल्ली दरबार में मराठा प्रभाव को स्थापित किया। इमाद-उल-मुल्क को मराठाओं के मौन समर्थन से मुगल दरबार में वजीर बना दिया गया जो वास्तव में मुगल सिंहासन के पीछे की शक्ति बन गए थे। बालाजी बाजीराव ने जल्द ही पंजाब को भी अपने नियंत्रण में कर लिया जिस पर उस

समय अहमद शाह अब्दाली का सहायक शासन कर रहा था। इसके परिणामस्वरूप मराठा और अफगानों के बीच झगड़े का जन्म हुआ और 1761 में पानीपत के युद्ध के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा।

14 जनवरी, 1761 को दोनों सेनाएं ऐतिहासिक स्थल पानीपत में एक-दूसरे के सामने खड़ी हो गईं। मराठा सेना का अफगान की सेना के सामने कोई मुकाबला नहीं था जैसाकि अफगानी सेना पश्चिमी तर्ज पर प्रशिक्षित थी। सेनापति, विश्व राव (पेशवा का छोटा पुत्र) और सदाशिव राव भाऊ (पेशवा का चचेरा भाई) सहित युद्ध भूमि में लगभग 28,000 मराठा मारे गए। पेशवा करारी हार की खबर सुनकर स्वयं भी काफी समय तक जीवित नहीं रह पाए।

पानीपत का युद्ध नकारात्मक रूप से निर्णायक रहा। पानीपत युद्ध में पराजय मराठाओं के लिए विध्वंसक साबित हुई जिसने उनके अखिल भारतीय साम्राज्य के स्वप्न को चकनाचूर कर दिया, जैसाकि वे अपनी सेना के मुख्य लोगों के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिष्ठा भी खो चुके थे। ऐसा प्रतीत हुआ कि साम्राज्य अहमद शाह अब्दाली की गिरफ्त में आ चुका है लेकिन इसी समय उसके मुलाजिमों ने दो वर्षों से बकाया वेतन न मिलने के कारण बगावत कर दी और अब्दाली को मजबूरन अफगानिस्तान वापस लौटना पड़ा। इस प्रकार राजसी साम्राज्य ने अफगान एवं मराठा दोनों को नकार दिया। उत्तरी भारत में शक्ति शून्य पैदा हो गया जिसे विभिन्न साम्राज्य आगामी चार दशकों तक भरने का व्यर्थ प्रयास करते रहे। इस प्रकार पानीपत के तीसरे युद्ध ने 'यह निर्णय नहीं किया कि भारत पर कौन शासन करेगा अपितु यह निर्णय किया कि कौन शासन नहीं करेगा'।

युवा माधव राव 1761 में चौथे पेशवा के रूप में मराठा के भविष्य को अपने योग्य मंत्री, नाना फडनवीस, की सहायता से 11 वर्षों की छोटी समयावधि तक संभालने में सफल रहा। 1771 में मराठाओं ने दिल्ली में शाह आलम को मुगल शासक बनने में मदद की। लेकिन माधव राव की समय पूर्व मृत्यु ने फिर से असमंजस की स्थिति खड़ी कर दी और उत्तराधिकार की लड़ाई ने पूना में केंद्रीय सत्ता को फिर से प्रभावित किया।

पेशवा-नियंत्रित मराठा पांच स्वतंत्र राज्यों—बड़ौदा में गायकवाड़, नागपुर में भोंसले, इंदौर में होल्कर, ग्वालियर में सिंधिया और पूना में पेशवा—में विघटित हो गए।

इनमें सिंधिया और होल्कर बेहद महत्वपूर्ण थे और महादजी सिंधिया बेहद मेधावी थे। लेकिन दिल्ली का नियंत्रण प्राप्त करने के पश्चात्, उन्होंने राजपूतों के साथ-साथ अपने प्रतिस्पर्द्धी होल्कर और नाना फडनवीस को भी पराजित कर दिया, और पूना की शक्ति प्राप्त कर ली। महादजी सिंधिया की उस समय मृत्यु, 1794 में, हुई जब यह प्रतीत होने लगा था कि वे साम्राज्य का निर्माण कर सकते हैं। महादजी की मृत्यु अपूर्णनीय क्षति थी, और 1800 में नाना फडनवीस की मृत्यु के साथ मराठा शक्ति के पुनर्जीवित होने की सारी संभावनाएं समाप्त हो गईं।

जाटः जाट कृषक दिल्ली, मथुरा और आगरा के आस-पास रहते थे और उन्होंने औरंगजेब की अत्याचारपूर्ण नीतियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। शुरुआती असफलताओं के पश्चात्, चूरामन और बदन सिंह भरतपुर जाट राज्य की स्थापना करने में सफल रहे। लेकिन सूरजमल के नेतृत्व में जाट शक्ति अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुंची। उसने न केवल कुशल प्रशासनिक व्यवस्था प्रदान की अपितु राज्य की सीमाओं का भी बेहद विस्तार किया। उसके राज्य की सीमाएं पूर्व में गंगा से दक्षिण में चम्बल तक लगती थी जिसमें आगरा, मथुरा, मेरठ और अलीगढ़ सूबे शामिल थे। हालांकि, जाट राज्य 1763 में सूरजमल की मृत्यु के पश्चात् पतन की ओर अग्रसर हो चला। तत्पश्चात्, राज्य छोटे-छोटे जमीदारों से नियंत्रित क्षेत्रों में बिखर गया जो लूटपाट करते थे।

सिखः गुरु गोविंद सिंह ने सिखों को उनके धर्म एवं स्वतंत्रता की रक्षा करने हेतु एक आक्रामक पंथ में रूपांतरित किया। बंदा बहादुर, जिसने 1708 में सिखों का नेतृत्व संभाला, पराजित हुआ और मारा गया। नादिरशाह एवं अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के संदर्भ में, सिखों ने एक बार फिर अपनी सत्ता प्राप्त की। इस स्थिति में उन्होंने स्वयं को 12 मिस्लों या संधियों में विभाजित किया जिन्होंने राज्य के विभिन्न हिस्सों पर नियंत्रण रखा। एक शक्तिशाली एवं सुदृढ़ पंजाब राज्य की स्थापना करने का श्रेय रंजीत सिंह को जाता है, जो महा सिंह के पुत्र थे। महा सिंह सुकर चकिया मिस्ल के सरदार थे। रंजीत सिंह के साम्राज्य के अंतर्गत सतलुज से झेलम तक का क्षेत्र आता था। उसने 1799 में लाहौर पर और 1802 में अमृतसर पर विजय प्राप्त की। अंग्रेजों के साथ अमृतसर की संधि के द्वारा रंजीत सिंह ने सतलुज क्षेत्र पर अंग्रेजों के अधिकार को मान्यता प्रदान की। रंजीत सिंह ने एक दक्ष प्रशासन की व्यवस्था की। यूरोपीयों की मदद से उसने अपनी सेना को अत्यधिक आधुनिकृत किया। लेकिन अपने साम्राज्य के नजदीक रंजीत सिंह को अंग्रेजों द्वारा बाध्य करने पर शाह शुजा और ब्रिटिश कंपनी के साथ 1838 में एक त्रिपक्षीय संधि करनी पड़ी जिसके अंतर्गत शाह शुजा को काबुल के सिंहासन पर आसीन करने के दृष्टिगत रंजीत सिंह ब्रिटिश सेना को पंजाब के रास्ते जाने देने पर सहमत हुए। रंजीत सिंह की मृत्यु 1839 में हुई। उनके उत्तराधिकारी राज्य को शासित नहीं कर पाए, और उन्होंने इसे अंग्रेजों को सौंप दिया।

रोहेला एवं बंगश पठानः रोहेलखण्ड एवं बंगश पठान के राज्यों का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में भारत की ओर अफगान लोगों के प्रवास का परिणाम था। अफगानिस्तान में राजनीतिक एवं आर्थिक अस्थिरता के कारण 18वीं शताब्दी के मध्य में अफगानियों का भारत में बड़े पैमाने पर आव्रजन हुआ। नादिर शाह के आक्रमण के पश्चात् उत्तर भारत में सत्ता के पतन का लाभ अली मुहम्मद खान ने उठाया और एक छोटे-से राज्य रोहेलखण्ड की स्थापना की। यह क्षेत्र हिमालय के गिरिपीठ में उत्तर में कुमाऊं और दक्षिण में गंगा के मध्य अवस्थित था।

इस प्रकार, गंगा की घाटी में रोहेला एवं बंगश पठानों ने अपने लिए स्वतंत्र राज्यों का निर्माण किया। दाउद, एक अफगानी सैनिक, और उसके पुत्र अली मुहम्मद खान ने बरेली जिले में एक छोटी एस्टेट को रोहेलखंड नामक स्वतंत्र राज्य में बदल दिया। पूरब में, मोहम्मद खान बंगश, एक अन्य अफगानी साहसी, ने स्वयं को फर्रुखाबाद का शासक घोषित कर दिया और बाद में अपना साम्राज्य इलाहाबाद और बुंदेलखंड तक विस्तारित किया।

क्षेत्रीय राज्यतंत्रों की प्रकृति एवं सीमाएं

18वीं शताब्दी के भारत में स्वायत्त राजनीतिक तंत्र का विकास हुआ जो क्षेत्रवार भिन्न-भिन्न था। इन स्वतंत्र राजनीतिक तंत्रों, जिनका उदय प्रांतों में हुआ, ने मुगल सत्ता के साथ निरंतर गठजोड़ कायम रखा। यद्यपि मुगल शासक ने प्रांतीय प्रशासन पर पहले जैसा नियंत्रण खो दिया था, तथापि प्रांतीय सत्ता पर उसकी छत्रछाया का महत्व अभी भी बना हुआ था। नवीन उदित क्षेत्रीय शक्तियों ने इस महत्व को स्वीकार किया। यहां तक कि मराठाओं एवं सिखों के विद्रोही मुखियाओं ने भी मुगल शासक या सर्वोच्च सत्ता को मान्यता दी। प्रत्येक राज्य ने अपनी जरूरतों के मुताबिक अपने प्रशासनिक संगठन एवं सेना को पुनर्गठित किया, परंतु इन राज्यों द्वारा प्रायः मुगल प्रशासनिक व्यवस्था को अपनाया गया।

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उदीयमान राजव्यवस्था प्रकृति में क्षेत्रीय थी और जमींदारों, व्यापारियों, स्थानीय कुलीनों एवं मुखियाओं जैसे स्थानीय समूहों के सहयोग से कार्य करती थी। 18वीं शताब्दी में मुगल शासन की सत्ता एवं वित्तीय स्थिति कमजोर होने के साथ, कुलीनों एवं शासकों को आवश्यक वित्तीय मदद प्रदान करके क्षेत्रीय राजव्यवस्था के उदय एवं कार्यकरण में व्यापारियों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। साथ ही साथ, जमींदार एवं स्थानीय मुखिया, केंद्रीय सत्ता के अभाव में, स्थानीय लोगों के संरक्षक के रूप में सामने आए। प्रांतीय शासकों ने स्वयं के शासन को बनाए रखने के लिए इन विभिन्न स्थानीय हितों को ध्यान में रखा। निश्चित रूप से, कुछ अपवाद भी थे, उदाहरणार्थ, मैसूर के शासक ने स्थानीय मुखियाओं को मान्यता नहीं दी। इसे क्षेत्रीय राजव्यवस्था की एक कमजोरी समझा जा सकता है, चूंकि प्रांतीय शासक बेहतरीन वित्तीय, प्रशासनिक एवं सैन्य संगठन पर आधारित व्यवस्था को विकसित करने में असफल रहे। विभिन्न पड़ोसी शक्तियों के बीच निरंतर युद्ध एक अन्य कमजोरी थी जिसमें किसी को भी प्रभुत्व हासिल नहीं हुआ।

ये राज्य मुगल साम्राज्य को नेस्तनाबूद करने के लिए पर्याप्त रूप से शक्तिशाली थे, लेकिन इनमें से कोई भी अखिल भारतीय स्तर पर स्थायी राजव्यवस्था कायम करने में सक्षम नहीं था।

सामाजिक-आर्थिक दशाएं

18वीं शताब्दी के भारत को अव्यवस्था के शिकार के तौर पर चित्रित किया जाता है जैसाकि यह दो महान साम्राज्यों, मुगल एवं ब्रिटिश, के बीच का समय था। अभी तक, इस शताब्दी को अंधा युग (डार्क ऐज) के रूप में विवेचित किया जाता है। वैश्विक संदर्भ में, भारत आर्थिक रूप से पिछड़ा क्षेत्र नहीं था, न ही यूरोप एवं उत्तरी अमेरिका इतने धनवान थे जितना वे 19वीं और 20वीं शताब्दी में बने।

मुगलों द्वारा निर्मित साम्राज्य निश्चित रूप से क्षीण हो गया था लेकिन समाप्त नहीं हुआ था। मुगल साम्राज्य का पतन शताब्दी की प्रबल विशेषता नहीं थी। क्षेत्रीय राजव्यवस्थाओं की स्थापना और ब्रिटिश शक्ति का उदय समान रूप से महत्वपूर्ण घटनाक्रम थे। मुगल से क्षेत्रीय और ब्रिटिश राजनीति तक परम्पराओं की निरंतरता विशिष्ट एवं विलक्षण थी। लेकिन इन तीनों राजव्यवस्थाओं के बीच अंतर समान रूप से असाधारण एवं आश्चर्यजनक थे।

कई मामलों में उत्तराधिकारी राज्य स्थायी राजव्यवस्था वाले सिद्ध हुए। मराठा जो मुगलों की बर्बादी पर एक अखिल भारतीय शक्ति के रूप में उदित हुए, दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों, बाहरी चुनौतियों एवं आंतरिक कमजोरियों के संयोग के कारण उफनती ब्रिटिश शक्ति के समक्ष टिक पाने में असफल हो गए।

यह सत्य है कि 18वीं शताब्दी में भारत आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक रूप से पर्याप्त प्रगति नहीं कर सका। बढ़ती राजस्व मांग, अधिकारियों के अत्याचारों, कुलीनों की लालसा एवं लालच, जमींदारों की अनियंत्रित लगान वसूली और निरंतर युद्ध एवं मतभेदों के कारण आम जनता को भयानक शोषण एवं अत्याचार सहने पड़े। किसान निर्धन, पिछड़े एवं शोषित बने रहे और जीवन निर्वाह के स्तर पर जी रहे थे। जबकि धनी एवं शक्तिशाली वर्ग विलासिता एवं ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत कर रहे थे।

आर्थिक स्थिति

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलभूत इकाई—ग्राम या ग्राम समुदाय—अभी भी आत्मनिर्भर एवं स्व-शासित थी जो अपनी सभी स्थानीय जरूरतों को पूरा कर लेती थी।

राज्य के साथ इसका संबंध मात्र भू-राजस्व के भुगतान तक सीमित था। जब शासक और राजवंश परिवर्तित हो जाते, ग्रामीण समुदाय पहले जैसे बने रहते। 'एशियाटिक समाजों' की इस अपरिवर्तनीयता ने यूरोपीय पर्यवेक्षकों का ध्यान खींचा। इन ग्रामीण समुदायों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिरता आर्थिक गतिहीनता के लिए भी जिम्मेदार थी।

भारत में दस्तकारी का विकास उच्च स्तर पर पहुंच गया था और उसने विश्व-व्यापी बाजार का ध्यान आकर्षित किया। ढाका, अहमदाबाद और मसूलीपट्टम का सूती वस्त्र,

मुर्शिदाबाद, आगरा, लाहौर एवं गुजरात का सिल्क के कपड़े, कश्मीर, लाहौर एवं आगरा के उत्कृष्ट ऊनी शॉल एवं कालीन, स्वर्ण एवं चांदी के आभूषण, धातु कार्य, धातु के बर्तन, हथियार इत्यादि भारत एवं विदेशी दोनों बाजारों में पाए जाते थे।

बड़े पैमाने पर घरेलू एवं विदेशी व्यापार व्यापारी-पूंजीपति गठजोड़ को अस्तित्व में लाया और बैंकिंग व्यवस्था का विकास हुआ। उत्तर भारत में जगत सेठ, नगर सेठ और दक्षिण भारत में चेट्टी का उनके विस्तृत बैंकिंग समूहों के साथ उदय हुआ और हुण्डी एवं अन्य बैंकिंग संव्यवहारों के व्यापक प्रयोग ने व्यापार एवं वाणिज्य को तीव्रता प्रदान की।

सत्रहवीं एवं अट्ठारहवीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था में इस विकास ने इस बात के संकेत दिए कि पूंजीवाद के तीव्र विकास हेतु यहां कुछ पूर्व-दशाएं मौजूद थीं।

शैक्षिक स्थिति

शिक्षा व्यवस्था परम्परागत थी और पश्चिम में तीव्र विकास से अनभिज्ञ थी। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अध्ययन की उपेक्षा की गई और साहित्य, विधि, धर्म, तर्क एवं दर्शनशास्त्र के अध्ययन पर बल दिया गया। प्राथमिक शिक्षा व्यापक थी लेकिन उच्च शिक्षा बेहद सीमित थी। नवाब, राजा और धनी जमींदारों ने उच्च शिक्षा के संस्थानों को संरक्षण प्रदान किया। हिंदुओं के बीच उच्च शिक्षा, मुख्य रूप से ब्राह्मणों के बीच, संस्कृत अधिगम पर आधारित थी, जबकि फारसी शिक्षा, तात्कालिक समय की राजकीय भाषा पर आधारित होने, हिंदुओं एवं मुसलमानों दोनों के बीच लोकप्रिय थी। हालांकि, यह गौरतलब है कि 18वीं शताब्दी में साक्षरता का औसत बाद के ब्रिटिश शासन से बेहतर था। वारेन हेस्टिंग्स ने 1813 में लिखा कि ''सामान्य तौर पर भारतीय पढ़ने, लिखने एवं गणित में यूरोप में किसी भी देश के आम लोगों की अपेक्षा बेहद प्रतिभा रखते हैं। हालांकि, उच्च वर्गों की महिलाओं को छोड़कर महिलाओं की शिक्षा की उपेक्षा की गई।

महिलाओं की स्थिति

महिलाओं को घर एवं समाज में आदर एवं सम्मान दिया जाता था लेकिन समानता नहीं दी गई थी। भारत में पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था (केरल जैसे कुछ हिस्सों में) में महिलाओं को बेहद न्यून वैयक्तिकता हासिल थी, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी थे। जबकि उच्च वर्ग की महिला घर पर रहती थी, निम्न वर्ग की महिलाएं परिवार की आय में हाथ बंटाने के लिए खेतों एवं घर से बाहर काम करती थी। हिंदू एवं मुस्लिम दोनों ही महिलाओं के बीच पर्दा प्रथा आम थी यद्यपि गरीब परिवारों की महिलाएं आजीविका के लिए घर से बाहर काम करने के लिए जाती थी तो इसका पालन नहीं करती थीं। सती, बाल विवाह एवं बहुविवाह जैसी शोषक सामाजिक प्रथाओं एवं परम्पराओं ने

महिलाओं की प्रगति में बाधा डाली। हिंदू विधवा महिलाओं की स्थिति बेहद दयनीय थी। दहेज जैसी बुरी प्रथा विशेष रूप से बंगाल एवं राजपूताना में व्यापक थीं।

सांस्कृतिक स्थिति

18वीं शताब्दी के दौरान भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में संपूर्णता के कुछ परिलक्षण दिखाई दिए। पूर्व की शताब्दियों के साथ सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखी गई और स्थानीय परम्पराओं का निरंतर विकास हुआ। लेकिन भारतीय संस्कृति की मुख्य कमजोरी विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ना थी और भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पश्चिम से बेहद पीछे छूट गए थे। भारतीय सोच परम्परा से बंधी हुई थी और सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों का घर बनी हुई थी। अधिकतर भारतीय शासकों ने सैन्य प्रशिक्षण, आयुद्ध एवं युद्ध कला की तकनीकियों के अलावा पश्चिमी चीजों में रुचि नहीं दिखाई। भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में कुछ सकारात्मक संकेत दृष्टिगोचर हुए। 18वीं शताब्दी के दौरान, उदाहरणार्थ, हिंदी, मलयालम एवं सिंधी के साथ उर्दू भाषा एवं काव्य भी फला-फूला। विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच सांप्रदायिक सौहार्द इस समय के भारतीय समाज की एक अद्‌भुत विशेषता थी।

दासता

दासता की व्यापकता एक अन्य सामाजिक बुराई थी। व्यापक रूप से कहा जाए तो, दासों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया—घरेलू दास और कृषि दास। कृषि दास को भूमि की बिक्री के साथ नए स्वामी को बेच दिया जाता था। यूरोपीय यात्रियों एवं प्रशासकों ने भारत में दासता या दास प्रथा की व्यापकता को प्रमाणित किया। आर्थिक तंगी, अकाल, प्राकृतिक आपदाओं, अत्यंत निर्धनता ने लोगों को अपने बच्चे बेचने को मजबूर किया। राजपूत, खत्री एवं कायस्थ परिवार घरेलू कार्य के लिए दास महिलाओं को रखते थे। हालांकि, भारत में दासों की स्थिति अमेरिका एवं यूरोप के दासों से बेहतर थी। दासों को सामान्यतः परिवार के वंशानुगत नौकर के तौर पर देखा जाता था। दासों को आपस में विवाह करने की अनुमति थी और उनके बच्चों को स्वतंत्र नागरिक समझा जाता था।

भारत में यूरोपीयों के आगमन पर, विशेष रूप से पुर्तगाली, डच और अंग्रेजों के आने से, दासता एवं दास व्यापार को एक नया आयाम प्राप्त हुआ। 1752 में दासों की नियमित खरीदारी एवं पंजीकरण के लिए कलकत्ता में एक कोर्ट-हाउस बनाया गया।

कला एवं स्थापत्य

दिल्ली में कला, स्थापत्य एवं साहित्य के संरक्षण के अभाव में सम्बद्ध प्रतिभाएं हैदराबाद, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, जयपुर इत्यादि नए राज्यों की ओर कूच कर गईं। असफ-उद्द-दौला ने 1784 में लखनऊ में एक बड़ा इमामबाड़ा (मुहर्रम त्योहार मनाने

के लिए एक भवन) का निर्माण किया। इसमें सहारे के लिए किसी भी प्रकार के स्तम्भ का न होना ने इसे स्थापत्य के दृष्टिकोण से बेहद खास बना दिया। सवाई जयसिंह (1686-1743) ने भारत में सुप्रसिद्ध गुलाबी शहर 'जयपुर' एवं पांच खगोलीय वेधशालाओं का निर्माण किया जिसमें जयपुर, नई दिल्ली एवं बनारस की वेधशालाएं शामिल हैं। अमृतसर में महाराजा रणजीत सिंह ने सिख तीर्थस्थान का नवीनीकरण किया और इसके निचले आधे हिस्से को मार्बल से सज्जित किया तथा ऊपरी आधे हिस्से को तांबे से तैयार कर उस पर सोने की पतली परत चढ़वाई और इसे स्वर्ण मंदिर नाम दिया।

उर्दू, हिंदी, बंगाली, असमिया, पंजाबी, मराठी, तेलुगू और तमिल जैसी देशी बोलियों का बेहद विकास हुआ। भारत में अठारहवीं शताब्दी के दौरान ईसाई मिशनरियों ने प्रेस की स्थापना की और बाईबल का देशी संस्करण निकाला। जिजेनबेग, एक दानिश मिशनरी, ने तमिल व्याकरण का संकलन किया और बाइबिल के तमिल संस्करण का प्रकाशन किया। इन मिशनरियों द्वारा एक तमिल शब्दकोश का भी संकलन किया गया। बंगाल में, बपतिस्मा-दाता मिशनरियों (केरी, वार्ड एवं मार्शमैन) ने सेरामपुर में एक प्रिंटिंग प्रेस स्थापित की और बाईबिल के एक बंगाली संस्करण को प्रकाशित किया।

प्रमुख विचार

मुगल साम्राज्य और इसके साथ मराठा का हिन्दुस्तान पर आधिपत्य भारतीय समाज के केंद्र में भ्रष्टाचार व्याप्त होने के कारण ढह गया। सैन्य एवं राजनीतिक पंगुता के रूप में भ्रष्टाचार ने स्वयं को प्रकट किया। देश स्वयं की रक्षा नहीं कर सका; राजपरिवार भ्रष्ट एवं अल्पबुद्धि था; कुलीन स्वार्थी एवं अदूरदर्शी थे; भ्रष्टाचार, अदक्षता एवं धोखेबाजी ने लोक सेवा की सभी शाखाओं को कलंकित किया। इस क्षीणता एवं असमंजस के बीच हमारा साहित्य, कला और यहां तक कि सच्चा धर्म भी नष्ट हो गया।

जे.एन. सरकार, फॉल ऑफ द मुगल एम्पायर, वॉल्यूम IV

मुगल साम्राज्य के ढहने पर उठे विद्रोहों के लिए विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं। यहां हमारी मुख्य चिंता है कि 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की सत्ताओं को क्या कहना पड़ा। और यह दिखाई पड़ेगा कि उन्होंने, किसी भी कीमत पर, इस खलबली या कायापलट के आर्थिक एवं प्रशासनिक कारणों द्वारा भारी संचित तथ्यों को सामने रखा और धार्मिक प्रतिक्रिया या राष्ट्रीय चेतना को बेहद कम जाना जो मुगल साम्राज्य के विनाश का कारण बना। इसके विरुद्ध ताकतों द्वारा कोई नवीन व्यवस्था नहीं की गई।

इरफान हबीब, द एगरेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया

मुगल साम्राज्य के विखण्डन की जड़ें मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था; उस

अर्थव्यवस्था की सीमाओं के भीतर व्यापार, उद्योग एवं वैज्ञानिक विकास का गतिरोध या गतिहीनता; बढ़ता वित्तीय संकट जिसने जागीरदारी व्यवस्था के संकट का रूप लिया और राज्य गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया; कुलीनों की राज्य की सेवा में बने रहकर इन परिस्थितियों में अपनी महत्वाकांक्षाओं को साकार करने की अक्षमता या अयोग्यता जिसके परिणामस्वरूप गुटों का आपसी संघर्ष हुआ और महत्वाकांक्षी कुलीनों ने स्वतंत्र क्षेत्र का मार्ग तैयार किया; मराठाओं एवं उनके दावों को मुगल साम्राज्य के ढांचे के भीतर सुलझाने एवं बनाए रखने में मुगल शासकों की अयोग्यता के तहत् पाई जा सकती हैं। वैयक्तिक असफलताओं एवं चारित्रिक कमियों ने भी अपनी यथोचित भूमिका निभाई।

सतीश चंद्रा, पार्टीज एंड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट, 1707-40

सारांश

- मुगल साम्राज्य का पतन आंतरिक कमजोरी और बाहरी चुनौतियों के कारण हुआ जिसमें प्रमुख हैं–
  औरंगजेब की जिम्मेदारी (धार्मिक एवं दक्कन नीतियां)
  कमजोर उत्तराधिकारी
  उत्तराधिकार की लड़ाई
  उत्तराधिकार के स्पष्ट एवं सुनिश्चित नियमों का अभाव
  मुगल सेना/कुलीन वर्ग का क्षय होना
  दरबारी प्रतिस्पर्द्धा एवं शत्रुता
  मराठा चुनौती
  आर्थिक संकट (जागीरदारी संकट)
  मुगल राजव्यवस्था की प्रकृति
  यूरोपीयों का आगमन
  विदेशी आक्रमण
  राष्ट्रवाद की भावना का अभाव
  वंशानुगत निरंकुशता एवं केंद्रीकृत सरकार
- स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्यों का उदय–तीन श्रेणियां
  (i) उत्तराधिकारी राज्य–हैदराबाद, बंगाल एवं अवध
  (ii) नवीन राज्य–मराठा, सिख, जाट एवं अफगान
  (iii) स्वतंत्र राज्य–मैसूर, केरल एवं राजपूत राज्य
- 18वीं शताब्दी की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति। 18वीं शताब्दी को अंधा युग (डार्क ऐज) के तौर पर वर्णित किया गया है।

अध्याय 5

ब्रिटिश शक्ति का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण

ब्रिटिश विजयः संयोगवश या उद्देश्यपूर्ण

ऐतिहासिक शक्तियों एवं कारकों की समीक्षा करने, जिन्होंने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में उनकी सफलता का नेतृत्व किया, के लिए यह आवश्यक है कि तत्कालीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक दशाओं और ब्रिटेन की वैश्विक साम्राज्यवादी व्यवस्था में भारत के एकीकरण की प्रक्रिया को समझा जाए और इसका विश्लेषण किया जाए।

इतिहासकार इस मूलभूत प्रश्न पर बहस करते हैं कि क्या ब्रिटिश की भारत विजय संयोगवश थी या इरादतन थी? जॉन सीले के नेतृत्व वाला समूह ब्रिटिश की भारत विजय को गैर-इरादतन और संयोगवश मानता है। यह कहता है कि ब्रिटिश भारत में केवल व्यापार करने के लिए आए थे और क्षेत्र पर कब्जा करने की उनकी कोई मंशा नहीं थी। वे न चाहते हुए भी भारतीयों द्वारा स्वयं उत्पन्न किए राजनीतिक संकट में फंस गए थे और भारतीय भू-क्षेत्रों को कब्जा करने के लिए उन्हें बाध्य किया गया। दूसरी ओर इतिहासकारों का एक समूह इस बात से सहमत नहीं हैं और मानता है कि अंग्रेज भारत में एक व्यापक एवं शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हेतु आए थे। उन्होंने इसके लिए एक सुनियोजित रणनीति एवं योजना बनाई और धीरे-धीरे साल-दर-साल इस पर काम किया।

शायद शुरुआती दौर में, अंग्रेजों ने गैर-इरादतन रूप से क्षेत्रों को हासिल किया, लेकिन बाद में भारत भेजे जाने वाले अंग्रेज राजनीतिज्ञों एवं प्रशासकों में क्षेत्रों पर कब्जा करने और एक साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा थी। ज्यूडिथ ब्राउन के अनुसार, अंग्रेजों के अपने राजनीतिक प्रभाव को विस्तृत करने के निर्णय के लिए कई कारक जिम्मेदार थे। अविलंब लाभ, प्रशासकों की वैयक्तिक महत्वकांक्षाएं, लालच और यूरोप में राजनीतिक घटनाक्रमों के प्रभाव कुछ ऐसे कारक थे जिन्होंने भारत में अंग्रेजों को उनका राजनीतिक क्षेत्र बढ़ाने के लिए प्रवृत्त किया।

इस प्रकार यह कहा जा सकता था कि 18वीं शताब्दी में, पश्चिमी यूरोपीय देशों ने अपने व्यापारिक एवं राजनीतिक हितों को सुनिश्चित करने के लिए वैश्विक क्षेत्रीय विस्तार के चरण का आरंभ किया था और उपनिवेशों की स्थापना की। अंग्रेजों की भारत विजय को इस वैश्विक राजनीतिक घटनाक्रम के एक हिस्से के तौर पर देखा जा सकता है।

ब्रिटिश काल की शुरुआत कब हुई?

18वीं शताब्दी के मध्य में, भारत वास्तव में चौराहे पर खड़ा था। इस समय विभिन्न ऐतिहासिक शक्तियां गतिशील थीं, जिसके परिणामस्वरूप देश एक नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ। कुछ इतिहासकार इसे 1740 का वर्ष मानते हैं, जब भारत में सर्वोच्चता के लिए आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष की शुरुआत हुई। कुछ इसे 1757 का वर्ष मानते हैं, जब अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब को प्लासी में परास्त किया। जबकि अन्य इसे 1761 का वर्ष मानते हैं, जब पानीपत के तीसरे युद्ध में अहमद शाह अब्दाली ने मराठाओं को परास्त किया। हालांकि, ये सभी काल क्रमागत सीमांकन कुछ हद तक मनमाने या स्वच्छंद हो सकते हैं क्योंकि राजनीतिक रूपांतरण, जो लगभग इस समय शुरू हुआ, को पूरा होने में लगभग 80 वर्षों का समय लगा।

यह भारतीय इतिहास में ऐसा समय था जब विभिन्न घटनाक्रम घटित हो रहे थे। यह उस समय स्वाभाविक नहीं था, जैसा आज प्रतीत होता है, कि मुगल साम्राज्य अपने अंतिम दौर में था, मराठा राज्य स्थितियों से उबर नहीं पाया, और कि ब्रिटिश सर्वोच्चता को टाला नहीं जा सका। फिर भी, परिस्थितियां, जिनके अंतर्गत ब्रिटिश को सफलता प्राप्त हुई थी, स्पष्ट नहीं थीं, और उनके (अंग्रेजों) द्वारा सामना किए गए कुछ गतिरोध गंभीर प्रकृति के नहीं थे। यह वह विरोधाभास है जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की सफलता के कारणों को विचारणीय महत्व का विषय बना देता है।

ब्रिटिश सफलता के कारण

ब्रिटिश सफलता के कारणों की व्याख्या करते हुए, बी.एल. ग्रोवर कहते हैं कि लगभग एक शताब्दी तक, जब देश के विभिन्न हिस्सों में ब्रिटिश विजय प्रगति पर थी, उन्होंने कई कूटनीतिक और सैन्य प्रतिकूलताओं को झेला, जिसमें से अंत में वे विजयी होकर निकले। इस सफलता के कारणों में निम्नलिखित हैं–

उत्कृष्ट हथियारः अंग्रेज अस्त्रों, सैन्य युक्तियों एवं रणनीति में सर्वोत्कृष्ट थे। 18वीं शताब्दी में भारतीय शक्तियों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले आग्नेयास्त्र बेहद धीमे एवं भारी थे और जिन्हें अंग्रेजों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले यूरोपीय बंदूकों एवं तोपों ने गति एवं दूरी दोनों ही लिहाज से बाहर कर दिया था। यूरोपीय पैदल सेना भारतीय अश्वारोही सेना की तुलना में तीन गुना अधिक तेजी से प्रहार कर सकती थी। यह एच

है कि, कई भारतीय शासकों, जिसमें निजाम भी शामिल है, ने यूरोपीय हथियारों का आयात किया और यूरोपीय हथियारों को चलाने में अपने सैनिकों को प्रशिक्षित करने के लिए यूरोपीय अधिकारियों की सेवाएं लीं। लेकिन, दुर्भाग्यवश, भारतीय सैन्य अधिकारी एवं प्रशासक नौसिखिए के स्तर से कभी भी ऊपर नहीं उठ पाए और अंग्रेज अधिकारियों तथा उनके प्रशिक्षित सैनिकों की जरा भी बराबरी नहीं कर सके।

सैन्य अनुशासनः अंग्रेजों के सैन्य अनुशासन को उनकी सफलता का मुख्य कारण माना जाता है। वेतन के नियमित भुगतान की व्यवस्था और अनुशासन की कड़ी व्यवस्था ऐसे साधन थे जिनके माध्यम से कंपनी ने अधिकारियों एवं सैनिकों की सत्यनिष्ठा को सुनिश्चित किया। अधिकतर भारतीय शासकों के पास सेना के वेतन के नियमित भुगतान के लिए पर्याप्त धन नहीं था। मराठाओं ने राजस्व एकत्रित करने के लिए अपने सैन्य अभियानों को रोक दिया ताकि सैनिकों को वेतन का भुगतान किया जा सके। भारतीय शासक निजी परिवारजनों या किराये के सैनिकों की भीड़ पर निर्भर थे जो अनुशासन के प्रति जवाबदेह नहीं थे और जो विद्रोही हो सकते थे या जब स्थिति ठीक न हो तो विरोधी खेमे में जा सकते थे।

असैनिक अनुशासनः कंपनी के अधिकारियों एवं सैनिकों का असैनिक अनुशासन एक अन्य कारक था। उन्हें उनकी विश्वसनीयता एवं कौशल न कि वंशागत या जाति और कुल के आधार पर कार्य सौंपे जाते थे। वे स्वयं कड़े अनुशासन के अधीन थे और उद्देश्यों के प्रति जागरूक थे। इसके विपरीत, भारतीय प्रशासक और सैन्य अधिकारी अकसर गुणों एवं योग्यता की उपेक्षा करते हुए जाति एवं व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर नियुक्त किए जाते थे। इसके परिणामस्वरूप, उनकी क्षमता संदेहजनक थी और वे प्रायः अपने निहित स्वार्थों को पूरा करने के चलते विद्रोही एवं विश्वासघाती हो जाते थे।

मेधावी नेतृत्वः प्रतिभाशाली नेतृत्व ने अंग्रेजों को एक अन्य लाभ प्रदान किया। क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज, एलफिन्सटन, मुनरो, मारक्यूज, डलहौजी इत्यादि ने नेतृत्व के दुर्लभ गुण का प्रदर्शन किया। अंग्रेजों को सर आयरकूट, लार्ड लेक और आर्थर वेलेजली जैसे द्वितीय श्रेणी के नेताओं का भी लाभ प्राप्त हुआ जिन्होंने नेतृत्व पाने के लिए संघर्ष नहीं किया अपितु अपने देश की प्रतिष्ठा के लिए काम किया। भारत की तरफ भी हैदर अली, टीपू सुल्तान, चिन क्लिच खान, माधव राव सिंधिया और यशवंत राव होल्कर जैसे प्रतिभाशाली नेतृत्व था, लेकिन उनके साथ प्रायः द्वितीय पंक्ति के प्रशिक्षित कार्मिकों का अभाव रहा। सबसे बुरी बात थी कि, भारतीय नेतृत्व एक-दूसरे के खिलाफ युद्धरत रहते थे, जिस प्रकार वे अंग्रेजों के खिलाफ लड़ते थे। इसके अतिरिक्त, वे निजी या राजवंशीय उन्नयन के लिए लड़ते थे। भारत की एकता एवं अखण्डता के लिए संघर्ष या युद्ध भावना की अभिप्रेरणा उनमें नहीं थी।

वित्तीय सुदृढ़ताः अंग्रेज वित्तीय रूप से मजबूत थे क्योंकि कंपनी ने कभी भी व्यापार एवं वाणिज्य के कोण को धूमिल नहीं होने दिया। कंपनी की आय इतनी पर्याप्त थी कि उसने न केवल अपने अंशधारियों को अच्छा लाभांश प्रदान किया अपितु भारत में अंग्रेजों द्वारा लड़े गए युद्धों का वित्तीयन भी किया। इसके अतिरिक्त, इंग्लैंड शेष विश्व के साथ अपने व्यापार से भी अत्यधिक लाभ अर्जित कर रहा था। धन, वस्तुओं एवं व्यक्तियों के रूप में संसाधनों की एक बड़ी राशि अंग्रेजों को जरूरत के समय उपलब्ध थी, जिसका श्रेय उनकी समुद्री शक्ति के रूप में सर्वोच्चता को भी जाता है।

राष्ट्रवादी अभिमानः इन सबसे ऊपर, आर्थिक रूप से अग्रसर ब्रिटिश लोग भौतिक उन्नयन में विश्वास करते थे और अपने राष्ट्रीय गौरव पर अभिमान करते थे। जबकि कमजोर-विभाजित-स्वार्थी भारतीय अज्ञानता एवं धार्मिक पिछड़ेपन में डूबे हुए थे और उनमें अखण्ड राजनीतिक राष्ट्रवाद की भावना का अभाव था। भारतीयों के बीच इस सांसारिक या भौतिकवादी दृष्टि का अभाव भी अंग्रेजी कंपनी की सफलता का कारण था।

अंग्रेजों की बंगाल विजय

ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल

मुगलशासन के अधीन बंगाल एक सूबा था और बंगाल के नवाब इस पर शासन करते थे। बंगाल के नवाब बंगाल, बिहार और ओडिशा के शासक थे। 18वीं सदी में बंगाल से यूरोप को निरंतर कच्चे उत्पादों जैसे शोरा, चावल, नील, काली मिर्च, चीनी, रेशम, सूती कपड़े, कढ़ाई-बुनाई के सामान आदि का निर्यात होता था। प्रारंभिक 18वीं सदी में ब्रिटेन को एशिया से होने वाले आयात का 60 प्रतिशत सामान बंगाल से ही जाता था। बंगाल की व्यापारिक क्षमताएं ही अंग्रेजों के द्वारा इस प्रदेश में ली जाने वाली रुचि का स्वाभाविक कारण थीं। वर्ष 1700 ई. में मुर्शिद कुली खां, बंगाल का दीवान नियुक्त हुआ और मृत्युपर्यन्त (1727 ई. तक) बंगाल की बागडोर संभाले रहा। इसके बाद उसके दामाद शुजा ने चौदह वर्ष तक बंगाल पर शासन किया। इसके बाद एक वर्ष के अल्प समय के लिए शासन मुर्शिद कुली खां के अयोग्य बेटे के हाथ में आ गया, लेकिन शीघ्र ही अलीवर्दी खां ने उसका तख्ता पलटकर सत्ता हथिया ली और 1756 तक बंगाल पर शासन किया। ये तीनों ही शासक बड़े समर्थ और सबल थे। इनके शासनकाल में बंगाल अत्यधिक समृद्ध हो गया। बंगाल में इस समृद्धि के कई अन्य कारण भी थे। जैसे—एक ओर जहां शेष भारत, सीमावर्ती युद्धों, मराठा आक्रमणों और जाट विद्रोह से ग्रस्त था और उत्तरी भारत नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों से विनष्ट हो चुका था, वहीं बंगाल में कुल मिलाकर शान्ति बनी रही।

इस काल में बंगाल में विदेशी व्यापार की भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। 18 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 1706 ई. से 1756 ई. तक, बंगाल ने अपने निर्यात के द्वारा

लगभग 6.5 करोड़ रुपए की चांदी अर्जित की और लगभग 2.3 करोड़ रुपए के सौदे किए।

कलकत्ता की आबादी 1706 में 15,000 थी, जो 1750 में बढ़कर एक लाख तक पहुंच गई और ढाका तथा मुर्शिदाबाद घनी आबादी वाले नगर बन गए। लेकिन समृद्धि की इस जगमगाहट के पीछे की दशा इतनी अधिक निराशाजनक और नाजुक थी कि ऐसा प्रतीत हो रहा था कि यह समृद्धि कच्ची ईंटों की दीवार की भांति है, जो तूफान के एक छोटे से झोंके से भरभराकर समुद्र में विलीन हो जाएगी।

अंग्रेजी कंपनी को विशेषाधिकार देने से बंगाल प्रांत का प्रशासन बेहद नाराज था क्योंकि इससे प्रांतीय राजकोष को बड़ी हानि उठानी पड़ रही थी। इसलिए अंग्रेजी व्यापारिक हितों एवं बंगाल सरकार के बीच यह मतभेद का मुख्य कारण बना। 1757 और 1765 की अल्पावधि के बीच शक्ति का हस्तांतरण धीरे-धीरे बंगाल के नवाबों से अंग्रेजों को होने लगा जैसाकि अंग्रेजों ने बंगाल के नवाबों को दो निर्णायक युद्धों में परास्त किया।

सिराज-उद-दौला और अंग्रेज

1740 ई. में सरफराज खां को अपदस्थ कर अलीवर्दी खां बंगाल का नवाब बना। वह योग्य शासक था, पर उसका पूरा शासनकाल मराठों से युद्ध में ही गुजर गया। 1756 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उत्तराधिकार के लिए कोई पुत्र न होने के कारण उसकी तीन पुत्रियों के परिवार से किसी को नवाब बनना था। विवाद हुआ, षड्यंत्र हुए। अंततः सिराजुद्दौला (छोटी बेटी का लड़का) नवाब बना। बड़ी बेटी घसीटी बेगम, राजवल्लभ, और एक अन्य बेटी के पुत्र शौकतजंग की शत्रुता का सामना तो सिराज को करना ही पड़ा; इधर कम्पनी की उद्दण्डता भी बहुत बढ़ गई थी। 1757 से 1765 तक बंगाल का इतिहास नवाब से अंग्रेजों को राजनैतिक सत्ता के क्रमिक हस्तातरण का इतिहास है। इस संक्षिप्त 8 वर्षों के समय के दौरान बंगाल में तीन नवाबों *सिराजउद्दौला, मीर जाफर* और *मीर कासिम* ने शासन किया।

सिराज के शत्रुः सिराजुद्दौला 1756 में अलवर्दी खां के बाद बंगाल का नवाब बना। वह इतना अविवेकी था कि राज्य की उन समस्याओं का सामना ही नहीं कर सकता था, जिनके समाधान के लिए उसे नवाब बनाया गया था। सिराज के उत्तराधिकार का विरोध उसकी चाची *घसीटी बेगम* तथा पूर्णिया के सूबेदार उसके चचेरे भाई शौकत जंग ने किया। नवाब के दरबार में जगत सेठ, अमीचन्द, राजवल्लभ, राय दुर्लभ, मीर जाफर एवं कुछ अन्य लोगों का एक शक्तिशाली गुट था और उन्होंने भी सिराज के उत्तराधिकार का विरोध किया।

मई 1756 में सिराज ने पूर्णिया के विद्रोही नवाब का दमन करने के लिए पूर्णिया की ओर प्रस्थान किया। परन्तु जब उसे कलकत्ता में अंग्रेजों के अवज्ञाकारी और उद्दंड व्यवहार का पता चला, तो वह राजमहल से ही वापस लौट आया। उसने कलकत्ता पर

आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त उसने पूर्णिया के विरुद्ध प्रभावशाली ढंग से सैनिक अभियान किया। शौकत जंग पराजित हुआ और (अक्टूबर, 1756 में) मनिहारी के युद्ध में मारा गया। सिराज के सौभाग्य का सितारा अब अपने चरमोत्कर्ष पर था। इसी समय उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सूबेदारी पर उसकी नियुक्ति का अनुमोदनकारी शाही (मुगल) फरमान प्राप्त हुआ।

अंग्रेजों के साथ शत्रुता के कारणः सिराजुद्दौला और अंग्रेजों के मध्य विवाद और विच्छेद का वास्तविक कारण अंग्रेजों द्वारा बंगाल में अपनी-अपनी स्थिति एवं प्रभाव को सुदृढ़ करने से सम्बन्धित उनके प्रयास थे। अंग्रेजों ने सिराज की आंतरिक कमजोरी का लाभ उठाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने कलकत्ते की किलेबंदी शुरू कर दी, राजवल्लभ के पुत्र को अपने किले में शरण दे दी, दस्तक का तो वे दुरुपयोग कर ही रहे थे—अपने क्षेत्र में वे बंगाल की सम्प्रभुता के विरुद्ध भारतीय वस्तुओं पर भारी महसूल वसूल रहे थे। सिराज ने अंग्रेजों से इन सबके लिए विरोध जताया। परन्तु, अंग्रेज, जो कि दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों के विरुद्ध अपनी सफलता से उत्साहित थे, सिराज के आदेश से विचलित नहीं हुए। अस्तु, सिराज ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया—पहले कासिम बाजार पर और फिर 20 जून, 1756 ई. को फोर्ट विलियम पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों ने फुल्ता द्वीप पर जाकर शरण ली।

इसी किले की एक कोठरी में कई अंग्रेजों को कैदी बनाकर बंद कर दिया गया, जिससे कई अंग्रेज मारे गए। काल कोठरी से जिंदा निकले अंग्रेजों को सिराजुद्दौला ने मुक्त कर दिया। सिराजुद्दौला के अंग्रेजों से अप्रसन्न रहने का एक कारण यह भी था कि न्यायदंड के भय से भागे राजवल्लभ के पुत्र कृष्णदास को अंग्रेजों ने शरण दे रखी थी।

सिराजुद्दौला की जवाबी कार्रवाई से अंग्रेज कलकत्ता से भागकर फुल्टा द्वीप पर पहुंचे। जब बंगाल से अंग्रेजों के निष्कासन की खबर मद्रास पहुंची तो वहां से एडमिरल वाटसन और कर्नल क्लाइव के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना को कम्पनी की सहायता हेतु बंगाल की ओर भेजा गया। अंग्रेजों ने जनवरी 1757 ई. में फिर से कलकत्ता पर अधिकार कर लिया और मार्च 1757 ई. में चंद्रनगर पर आक्रमण कर उस पर भी अपना अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला अल्पवयस्क होने के कारण इन परिस्थितियों से अच्छी तरह निबट नहीं सका और उसने अंग्रेजों से अलीनगर की संधि भी कर ली। अंग्रेजों ने इस संधि की अवहेलना की और 12 जून को षड्यंत्रपूर्वक दरबारियों से मिलकर क्लाइव के नेतृत्व में एक सेना भेजी। सिराजुद्दौला ने भी अंग्रेजों का मार्ग रोकने के लिए सेना एकत्रित की, लेकिन उसके सेनापति अंग्रेजों से मिल चुके थे। 23 जून 1757 को प्लासी का युद्ध आरंभ हुआ।

इस प्रकार सिराज-उद-दौला के शासनकाल में कुछ निश्चित कारणों ने अंग्रेजों और उसके बीच रिश्तों को तनावपूर्ण कर दिया जो निम्न हैं:

● नवाब की आज्ञा के बिना अंग्रेजी कंपनी द्वारा कलकत्ता की किलेबंदी,

● कंपनी को दिए गए व्यापार अधिकारों का इसके अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए दुरुपयोग किया गया।

● कंपनी ने कलकत्ता में राजवल्लभ के पुत्र कृष्णदास को शरण दी और वह नवाब की इच्छा के विरुद्ध विशाल सरकारी धन को लेकर भाग गया।

इन कारणों से नवाब सिराज-उद-दौला कंपनी के साथ नाराज था। कंपनी इस बात को लेकर सिराज-उद-दौला के बारे में चिंतित हो गई थी क्योंकि कंपनी के अधिकारियों को संदेह हुआ कि सिराज बंगाल में फ्रांसीसियों के साथ गठजोड़ करके कंपनी के अधिकारों में कटौती कर देगा। अंग्रेजों के कलकत्ता किले पर सिराज के आक्रमण ने खुले संघर्ष को तीव्र कर दिया।

अलीनगर की संधि

यह संधि प्लासी युद्ध के पहले बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला और ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच फरवरी, 1757 को हुई थी। इसमें अंग्रेजों का प्रतिनिधित्व क्लाइव और वाटसन ने किया था। अंग्रेजों द्वारा कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लेने के बाद यह संधि की गई थी। इस संधि के द्वारा निम्नलिखित शर्त्तों के अधीन ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा सिराजुद्दौला के बीच सहमति हुई थी—ईस्ट इण्डिया कम्पनी को मुगल बादशाह के फरमान के अनुसार व्यापार की सुविधाएं फिर से दे दी गई; कलकत्ता पर अधिकार करने में अंग्रेजों की जो क्षति हुई उसका हर्जाना नवाब को देना पड़ा; दोनों पक्षों ने भविष्य में शांति बनाए रखने का वादा किया; अंग्रेजों को कलकत्ता में सिक्के ढालने का अधिकार प्राप्त हो गया। अलीनगर की संधि के शीघ्र बाद ही क्लाइव ने चंद्रनगर पर आक्रमण करके उस पर भी अधिकार कर लिया। इस संधि का महत्त्व इसलिए भी है कि अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला के खिलाफ युद्ध के लिए तात्कालिक कारण के रूप में अलीनगर की संधि के उल्लंघन को ही मुद्दा बनाया था।

प्लासी का युद्ध

प्लासी की लड़ाई 23 जून, 1757 ई. को बंगाल के नवाब सिराज-उद-दौला की सेना और रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना के बीच हुई। सिराजुद्दौला की सेना की संख्या लगभग 50000 थी तथा अंग्रेजों की सेना की संख्या मात्र 3200 थी। परंतु, सिराजुद्दौला के सेनापति मीर जाफर के षड्यंत्र में शामिल होने के कारण सेना के एक बड़े हिस्से ने युद्ध में भाग नहीं लिया। जब सिराजुद्दौला को पता चला कि उसके बड़े-बड़े सेनानायक मीर जाफर तथा दुर्लभराय विश्वासघात कर रहे हैं तो वह अपनी जान बचाकर युद्ध क्षेत्र से भाग गया। युद्ध क्षेत्र से भागकर सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद पहुंच गया और फिर वहां से अपनी पत्नी के साथ पटना भाग गया। कुछ

समय पश्चात् मीर जाफर के पुत्र ने सिराजुद्दौला की हत्या कर दी। इस प्रकार अंग्रेजों का षड्यंत्र सफल रहा।

मीर जाफर एवं मीर कासिम तथा अंग्रेज

मीर जाफरः मीर जाफर बंगाल का नया नवाब बना। प्लासी की लड़ाई से पूर्व ही क्लाइव ने मीर जाफर को नवाब का पद देने का वायदा किया था। यह सिराजुद्दौला के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता का उपहार था। कम्पनी को नवाब ने अपनी कृतज्ञता के रूप में बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में मुक्त व्यापार की अनुमति प्रदान कर दी। कलकत्ता के पास 24 परगना की जमींदारी भी अंग्रेजों को मिल गई। ब्रिटिश व्यापारियों एवं अधिकारियों को निजी व्यापार पर भी कर से मुक्ति मिल गई। ये सारी बातें तो सार्वजनिक रूप में हुईं। मीर जाफर को अपने अंग्रेज मित्रों के द्वारा किये गये समर्थन के लिए भारी रकम अदा करनी पड़ी, परन्तु मुर्शिदाबाद के सरकारी कोष में क्लाइव और उसके अन्य साथियों की मांगों को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त धन न था। मीर जाफर ने अंग्रेजों को नजराने एवं हर्जाने के रूप में लगभग 17,50,000 रुपये अदा किये।

मीर जाफर जैसे ही सत्तासीन हुआ उसने तुरन्त निम्नलिखित गंभीर समस्याओं का सामना कियाः

- मिदनापुर के राजा राम सिन्हा तथा पूर्णिया के अली खां जैसे जमीदारों ने उसे अपना शासक मानने से इंकार कर दिया।
- उसको अपने कुछ अधिकारियों विशेषकर दुर्लभराय की वफादारी पर संदेह था। उसे विश्वास था कि दुर्लभराय ने जमींदारों को उसके विरुद्ध विद्रोह के लिए उकसाया था। परंतु दुर्लभराय क्लाइव की शरण में था, इसलिए वह उसको छू भी न सका।
- मुगल बादशाह का पुत्र जो बाद में शाह आलम के नाम से जाना गया ने बंगाल के सिंहासन पर अधिकार करने का प्रयास किया।
- अंग्रेजी कंपनी का ऐसा विचार था कि मीर जाफर, डच कंपनी के सहयोग से बंगाल में अंग्रेजों के बढ़ते प्रभाव में कटौती करने की कोशिश कर रहा था।

इस बीच जाफर के पुत्र मीरान की मृत्यु के कारण उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर फिर एक विवाद पैदा हो गया। मीरान के पुत्र और मीर जाफर के दामाद मीर कासिम के बीच इसके लिए संघर्ष हुआ और कलकत्ता के नये गवर्नर वान्सिटॉर्ट ने मीर कासिम का पक्ष लिया। वान्सिटॉर्ट के साथ एक गुप्त समझौते के द्वारा मीर कासिम कंपनी को आवश्यक धन अदा करने के लिए इस शर्त पर सहमत हुआ, कि यदि वे बंगाल के नवाब के लिए उसके दावे का समर्थन करें।

मीर कासिमः मीर कासिम अलीवर्दी खां के उत्तराधिकारियों में सबसे योग्य था तथा अंग्रेजों की चाल भलीभांति समझता था। इसलिए सत्ता को प्राप्त करने के बाद मीर कासिम ने दो महत्वपूर्ण कार्य किएः

● अपनी पसंद के अधिकारियों के साथ उसने नौकरशाही का पुनर्गठन किया और सेना के कौशल तथा क्षमता को बढ़ाने के लिए उसमें भी सुधार किया।

● कलकत्ता में स्थित कंपनी से सुरक्षित दूरी को बनाये रखने के लिए मीर कासिम ने अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से *मुंगेर* में हस्तांतरित कर दिया। फिर, उसने व्यापार में कम्पनी द्वारा की जाने वाली अनियमितताओं के विरुद्ध कदम उठाने शुरू किए। उसने शाही फरमान के वैयक्तिक उपयोग पर कड़ी आपत्ति की। 1762 ई. के अंत में मुंगेर में अंग्रेज प्रतिनिधि वान्सिटॉर्ट ने मीरकासिम से संधि की। इसमें अंग्रेजों से ली जाने वाली चुंगी की राशि 9 प्रतिशत रखी गई। पर, कलकत्ता की काउंसिल ने इस संधि को अस्वीकार कर दिया। मुक्त व्यापार वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। मीर कासिम जब इस बात से अवगत हुआ, तब उसने एक क्रांतिकारी कदम उठाते हुए भारतीय व्यापारियों को भी कर मुक्त व्यापार करने की आज्ञा दे दी। अंग्रेजों ने मीर कासिम के इस कदम को अपने लिए अपमानजनक माना। 9 जुलाई 1763 को बर्दवान के निकट कहवा में, 2 अगस्त 1763 को मुर्शिदाबाद जिले में गीरिया में तथा 4-5 सितम्बर 1763, को राजकमल के निकट उद्दौनला में अंग्रेजों के हाथों पराजित होने के बाद मीर कासिम मुंगेर की तरफ भागा और तदुपरान्त पटना की ओर।

मीर कासिम अंग्रेजों से बंगाल को हासिल करने के विचार से अवध की ओर भागा और अवध के नवाब शुजा-उद-दौला और मुगल शासक शाह आलम द्वितीय के साथ एक संधि की।

बक्सर का युद्ध (1764)

अवध आकर मीर कासिम ने वहां के नवाब शुजाउद्दौला और शरणार्थी मुगल शहंशाह, शाह आलम द्वितीय के साथ मिलकर एक संघ बनाया। शीघ्र ही शक्ति-परीक्षण भी हो गया। 22 अक्तूबर, 1764 ई. को बक्सर में युद्ध, प्लासी की तर्ज पर नहीं, बिल्कुल तैयारी और अपनी-अपनी क्षमता के साथ हुआ। इस युद्ध में अंग्रेजों ने अपने रण कौशल का परिचय दिया। दक्षिण में फ्रेंच सेना के विरुद्ध उनके अभियानों के अनुभव काम आए। वांडीवाश में 1760 ई. में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को करारी मात दे दी थी। मीर कासिम का संघ बुरी तरह पराजित हुआ। इस युद्ध में उत्तर भारत की प्रत्येक संभावनाओं को अंग्रेजों ने कुचल दिया और मुगल शक्ति की बची हुई साख भी धूल में मिल गई।

युद्ध के बाद 1765 ई. में क्लाइव दूसरी बार बंगाल का गवर्नर बनकर लौटा। उसने बक्सर युद्ध के समझौते के मसौदे तैयार किए, मुगल शहंशाह से बंगाल बिहार व उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली।

परन्तु, क्लाइव के आने से पहले मीर जाफर की मृत्यु हो चुकी थी (फरवरी, 1765 ई.) और उसके बेटे नजीमुद्दौला को अंग्रेजों ने नवाब की गद्दी पर बिठाकर उसके साथ

संधि कर ली थी। नवाब की सेना प्रायः भंग ही कर दी गई थी और बंगाल में एक नायब सूबेदार का प्रावधान किया गया, जिसकी नियुक्ति कम्पनी द्वारा होनी थी। मोहम्मद रजा खां बंगाल का पहला और अंतिम नायब सूबेदार बना।

इलाहाबाद की संधि (1765)

1765 में बंगाल के गवर्नर के रूप में क्लाइव वापस आया। उसने स्वयं को अपूर्ण कार्य को पूरा करने अर्थात् वह अंग्रेजों को बंगाल में सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति बनाने में जुट गया। उसने 1765 में दो संधियां—एक मुगल शासक शाह आलम द्वितीय के साथ और दूसरी अवध के नवाब के साथ—इलाहाबाद में कीं।

अवध के साथ संधिः नवाब और अंग्रेजों के बीच हुई संधि के अंतर्गत नवाब इलाहाबाद एवं कोरा शाह आलम द्वितीय को देने; कंपनी को 50 लाख रुपए युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देने; बलवंत सिंह, बनारस का जमींदार, को उसकी एस्टेट का पूर्ण अधिकार देने; और जरूरत के समय कंपनी को सैन्य सहायता देने पर सहमत हुए। बदले में नवाब के अधिकार क्षेत्र को स्वीकार किया गया। कंपनी उसकी सीमाओं की रक्षा करने हेतु सैनिक मदद देने पर भी राजी हुई।

शाह आलम द्वितीय के साथ संधिः शाह आलम द्वितीय और अंग्रेजों के बीच संधि के अंतर्गत, निम्न निर्णय लिए गएः

- शाह आलम द्वितीय कंपनी के संरक्षण में आ गया था।
- इलाहाबाद और कारा, नवाब द्वारा दिए हुए, मुगल शासक को सौंप दिए गए।
- बादशाह द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी प्रदान कर दी गई। इसके लिए कंपनी द्वारा बादशाह को वार्षिक 26 लाख रुपए का भुगतान करना निर्धारित किया गया।
- अंग्रेजों को दीवानी के अधिकार और बंगाल के राजस्व या वित्तीय प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण प्रदान कर दिया गया।
- मुगल शासक उपरिलिखित प्रांतों में निजामत (प्रशासनिक) कार्यों को पूरा करने के लिए कंपनी को 53 लाख रुपए देने पर सहमत हुआ।

सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था और न्याय के प्रशासन का उत्तरदायित्व नवाबों के हाथों में था। लेकिन बक्सर के युद्ध के पश्चात् नवाबों की सैनिक शक्ति वास्तव में मृतप्रायः हो गई थी। कंपनी को दीवानी मिल जाने के बाद नवाबों की शक्ति पूर्णतः समाप्त हो गई।

प्लासी एवं बक्सर के युद्धों का महत्व

अंग्रेजों ने प्लासी (1757) और बक्सर (1765) के दोनों युद्धों में निर्णायक विजय प्राप्त करके बंगाल में अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता स्थापित की। कुल मिलाकर अंग्रेजों की इन दोनों लड़ाइयों में विजय के अतिरिक्त उनका अपना कुछ निश्चित महत्व था।

प्लासी युद्ध का महत्वः प्लासी की लड़ाई में अंग्रजों की विजय का बंगाल के इतिहास पर विशेष प्रभाव हुआ।

● अंग्रेजों की इस विजय से बंगाल के नवाब की स्थिति कमजोर पड़ गई भले ही यह विजय विश्वासघात या अन्य किसी साधन से प्राप्त की गई हो।

● बाह्य रूप से सरकार में कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था और अभी भी नवाब सर्वोच्च अधिकारी था। लेकिन व्यावहारिक रूप से कंपनी के प्रभुत्व पर निर्भर था और कंपनी ने नवाब के अधिकारियों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया।

● नवाब के प्रशासन की आंतरिक कलह स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगी और अंग्रेजों के साथ मिलकर विरोधियों के द्वारा किए गए षड्यंत्र ने अंततः प्रशासन की शक्ति को कमजोर किया।

● वित्तीय उपलब्धि के अतिरिक्त अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने फ्रांसीसी और डच कंपनियों को कमजोर बनाकर बंगाल के व्यापार पर सफलतापूर्वक अपनी इजारेदारी को स्थापित कर लिया।

बक्सर युद्ध का महत्वः बक्सर की लड़ाई के माध्यम से अंग्रेजों ने बंगाल पर पूर्ण राजनीतिक नियंत्रण स्थापित कर लिया। वास्तव में, हस्तांतरण की इस प्रक्रिया का प्रारंभ प्लासी की लड़ाई से हुआ था और इसकी चरम परिणति बक्सर के युद्ध में हुई।

बक्सर की लड़ाई ने बंगाल नवाब के भाग के सूर्य को अस्त कर दिया और अंग्रेजों का बंगाल में एक शासक शक्ति के रूप में उदय हुआ।

मीर कासिम ने बादशाह शाह आलम और अवध के नवाब शुजा-उद-दौला के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध सफलतापूर्वक एक संघ का गठन किया। यह संघ अंग्रेजों के सम्मुख असफल रहा। इस युद्ध में अंग्रेजों की जीत ने ब्रिटिश शक्ति की सर्वोच्चता को सिद्ध कर दिया और उनके विश्वास को अधिक सशक्त किया। यह विजय केवल अकेले मीर कासिम के विरुद्ध न थी अपितु मुगल बादशाह और अवध के नवाब के विरुद्ध भी थी। इस विजय ने भारत में अंग्रेजों के शासन की स्थापना का मार्ग दृढ़ कर दिया।

इस प्रकार प्रारंभिक स्तर पर अंग्रेजों की रुचि बंगाल के संसाधनों का और बंगाल की व्यापारिक क्षमताओं का उपयोग करके एशिया के व्यापार पर अपनी इजारेदारी कायम करना था। ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके अधिकारियों की बढ़ती वह व्यापारिक रुचि थी जिसके कारण नवाबों के साथ संघर्ष ने जन्म लिया। बंगाल की राजनीति में अंतर्निहित कमजोरी ने अंग्रेजों को नवाब के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करने में बड़ी मदद की। विभिन्न गुटों के शासकों से अलगाव ने बाह्य शक्तियों को व्यवस्था तोड़ने को प्रेरित किया।

बंगाल में द्वैध शासन (1765-72)

बक्सर के युद्ध के पश्चात्, रॉबर्ट क्लाइव ने बंगाल में द्वैध शासन की शुरुआत की जिसमें दीवानी (राजस्व वसूलने) और निजामत (पुलिस एवं न्यायिक कार्य) दोनों कंपनी के नियंत्रण में आ गए। कंपनी ने दीवान के रूप में *दीवानी* अधिकारों का और *डिप्टी सूबेदार* को नियुक्त करके *निजामत* अधिकारों का प्रयोग किया। कंपनी ने मुगल शासक से *दीवानी* कार्य हासिल किए और निजामत कार्य बंगाल के *सूबेदार* से प्राप्त किए।

द्वैध शासन इसलिए कि प्रशासनिक दायित्व तो बंगाल के नवाब पर था, जबकि राजस्व-वसूली का दायित्व ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर। प्रशासन की रीढ़ अर्थ या वित्त होता है, किंतु 1765 ई. के अगस्त महीने में स्थापित द्वैध शासन व्यवस्था के अनुसार वित्त अर्थात् कर वसूली का अधिकार कम्पनी को मिला, जबकि प्रशासन नवाब के हाथों में बने रहने दिया गया। सबसे बड़ी बात यह है कि नवाब और कम्पनी दोनों की अलग-अलग स्वतंत्र सत्ता थी।

दीवानी का अधिकार प्राप्त हो जाने से कम्पनी की स्थिति में आमूल परिवर्तन हो गया। दीवानी का कार्य मालगुजारी के साथ-साथ आंशिक स्तर पर न्याय करना भी था। रॉबर्ट क्लाइव ने दीवानी का भार बंगाल में मुहम्मद रजा खां तथा बिहार में राजा सिताब राय नामक दो भारतीय अधिकारियों को सौंपा। प्रमुख दीवानी कार्यालय मुर्शिदाबाद और पटना में स्थापित किए गए। शासन-प्रबंध और फौजदारी के मामलों को सुलझाने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल के नवाब को 53 लाख रुपए वार्षिक देना निश्चित किया। उस समय बंगाल का नवाब अल्पवयस्क था, इसलिए मुहम्मद रजा खां को नायब सूबेदार की संपूर्ण शक्ति सौंप दी गई और अब नवाब नाममात्र का शासक रह गया। इस तरह कम्पनी ने प्रशासन पर भी अपना प्रभावी नियंत्रण स्थापित कर लिया।

द्वैध शासन के दोषः रॉबर्ट क्लाइव एक कुशल सेनापति के साथ-साथ अच्छा प्रशासक और सफल कूटनीतिज्ञ भी था। उसने द्वैध शासन की स्थापना कर बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अंग्रेजी शक्ति को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। इस शासन प्रबंध से कम्पनी की आय में 30 लाख पौण्ड की वृद्धि हो गई। किंतु, इस व्यवस्था के लागू होने के कुछ दिनों बाद ही इसमें अनेक प्रकार के दोष समाहित होने लगे। व्यवहारिक दृष्टि से द्वैध शासन का प्रबंध पूर्ण रूप से असफल रहा तथा इसके परिणाम बुरे निकले। एक ओर प्रशासन का पूरा दायित्व उठाने में नवाब असमर्थ था, क्योंकि एक तो वह आर्थिक दृष्टि से कमजोर था और दूसरे कम्पनी का उस पर नियंत्रण था, जबकि दूसरी ओर अंग्रेजी कम्पनी के हाथों में शक्ति थी, तो उसके पास प्रशासन का कोई दायित्व नहीं था।

कम्पनी ने अधिक-से-अधिक धन की उगाही को ही अपना लक्ष्य निर्धारित किया। प्रशासन ठीक चल रहा है या नहीं, इस बात की ओर ध्यान देने वाला कोई भी नहीं

था। प्रशासन के प्रति नवाब और कम्पनी की इस उपेक्षा का शिकार जनता को होना पड़ा। नवाब की शक्ति सीमित होने के कारण कम्पनी के अधिकारी नवाब की आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगे। राजस्व वसूली के लिए कम्पनी द्वारा नियुक्त जमींदारों ने कृषकों का अमानवीय शोषण आरंभ कर दिया। इससे जनसाधारण की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गयी। व्यापार की स्थिति भी बदतर हो गई। कम्पनी के अधिकारियों द्वारा किए गए अत्याचारों का नकारात्मक प्रभाव बंगाल के उद्योग-धंधों पर भी पड़ा—यहां का कुटीर उद्योग धीरे-धीरे बंद हो गया और शिल्पियों ने या तो अन्य व्यवसाय अपना लिए या बेरोजगारी का जीवन जीने के लिए बाध्य हो गए।

द्वैध शासन का अंतः क्लाइव ने बंगाल में द्वैध शासन प्रबंध की स्थापना को इसलिए महत्त्व दिया था, क्योंकि उस समय बंगाल-जैसे विशाल प्रांत का संपूर्ण शासन प्रबंध अपने हाथों में लेने के लिए कम्पनी के पास पर्याप्त अधिकारी नहीं थे। क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन को 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने समाप्त कर दिया। द्वैध शासन की समाप्ति का आधार हेस्टिंग्स ने इस व्यवस्था के दोषों के निराकरण को बताया। उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के नायब दीवान मुहम्मद रजा खां और राजा सिताब राय को पदमुक्त कर दिया तथा शासन का संपूर्ण दायित्व अपने हाथों में ले लिया। हेस्टिंग्स ने मुर्शिदाबाद और पटना के राजस्व बोर्ड को समाप्त कर कलकत्ता में एक राजस्व परिषद् की स्थापना की। देशी समाहर्त्ताओं (कलक्टरों) के स्थान पर अंग्रेजी समाहर्त्ताओं की नियुक्ति की गई। हेस्टिंग्स ने बंगाल के नवाब को शासन कार्य से पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया तथा उसके लिए 16 लाख रुपए वार्षिक की पेंशन निश्चित कर दी।

1773 ई. के रेग्युलेटिंग एक्ट से बंगाल के गवर्नर के पद को गवर्नर जनरल का पद बना दिया गया तथा भारत की तत्कालीन सभी प्रेसिडेंसियों का शासन भार उसके हाथों में सौंप दिया गया। 1773 ई. में वारेन हेस्टिंग्स को पहला गवर्नर जनरल बनाया गया। इस तरह से बंगाल, भारत में ब्रिटिश राजनीति का केंद्र बन गया और कम्पनी ने यहीं से अपने साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया शुरू की।

मैसूर विजय

तालीकोटा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक युद्ध में विजयनगर साम्राज्य के पतन के पश्चात् उसके अवशेष पर जितने राज्यों का उदय हुआ, उनमें मैसूर भी एक था। इस पर *'वोडेयार वंश'* का शासन स्थापित हुआ। इस वंश का अंतिम शासक *चिक्का कृष्णराज वोडेयार* द्वितीय था, जिसका शासनकाल 1734 ई. से 1766 ई. था। इसके शासनकाल में वास्तविक सत्ता दो मंत्री भाइयों *देवराज* एवं *नंजराज* के हाथों में केन्द्रित थी। नंजराज ने 1749 ई. में *हैदर अली* को उसके अधिकारी सैनिक जीवन की शुरुआत का अवसर दिया। 1755 ई. में नंजराज ने हैदर को डिंडिगुल के फौजदार पद पर नियुक्त कर दिया।

इस बीच मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टनम् में राजनीतिक अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई थी। जब यह अनिश्चितता अनियंत्रित हो गई और मराठों के आक्रमण का खतरा बढ़ गया, तब 1758 ई. में हैदर अली ने डिंडिगुल से श्रीरंगपट्टनम् आकर हस्तक्षेप किया और नंजराज-देवराज को राजनीति से संन्यास लेने को बाध्य कर दिया। 1761 ई. तक मैसूर राज्य की सारी शक्तियां हैदर अली के हाथों में आ गईं। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान हैदर अली और टीपू सुल्तान के नेतृत्व में मैसूर राज्य उल्लेखनीय शक्ति के रूप में उदित हुआ।

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1768-1769)

बंगाल में अपनी सुगम सफलता के पश्चात्, स्वाभाविक रूप से अंग्रेज अपनी सैन्य शक्ति को लेकर थोड़ा आश्वस्त हो गए और आस-पास के क्षेत्रों में विस्तार करना शुरू कर दिया। प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध अंग्रेजों की आक्रामक नीति का परिणाम था। उन्होंने हैदराबाद के निजाम (1766) के साथ संधि की, और उसे अंग्रेजों को उत्तरी सरकार का क्षेत्र देने के लिए मनाया जिसके बदले में उन्होंने उसकी हैदर अली से सुरक्षा प्रदान करने का वचन दिया। 1766 ई. में हैदर अली मराठों के आक्रमण का सामना कर रहा था। उसी समय अंग्रेजों ने हैदराबाद के निजाम को सामरिक सहायता दी और उसे मैसूर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। हैदर अली को अंग्रेजों के इस दुर्भावनापूर्ण रवैये पर बहुत क्रोध आया और उसने अब पहले अंग्रेजों को ही पाठ पढ़ाने का निश्चय किया। हैदर अली ने मराठों से संधि कर ली और निजाम के साथ ही महफूज खां की सहायता से भी सन्धि कर ली। अब हैदर अली ने अंग्रेजों के मित्र-राज्य कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों ने हैदर अली एवं निजाम को सितम्बर, 1767 ई. में संगम एवं तिरुवन्नमलई नामक स्थानों पर पराजित कर दिया। अवसरवादी निजाम ने फिर से पाला बदला और फरवरी, 1768 ई. में अंग्रेजों से संधि कर ली। हैदर अली ने इस धोखे का सही जवाब देते हुए एक बार फिर से अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया। उसने मंगलोर में बम्बई से आई प्रशिक्षित अंग्रेज सैनिक टुकड़ी को बुरी तरह हराया और 1769 ई. के आते-आते उसने अंग्रेजों को मद्रास तक धकेल दिया। अस्तित्व का संकट देखते हुए अप्रैल, 1769 ई. में अंग्रेजों ने हैदर अली की शर्तों पर *मद्रास की सन्धि* कर ली। इस सन्धि में अन्य शर्तों के अतिरिक्त यह व्यवस्था भी थी कि अंग्रेज हैदर अली को युद्ध का खर्च एवं जुर्माना देंगे। परन्तु, यह युद्ध सन्धि वास्तव में एक विराम सन्धि ही थी।

द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84)

1771 ई. में मराठों ने मैसूर पर आक्रमण कर दिया। मद्रास की सन्धि की शर्तों के अनुसार हैदर अली की सहायता अंग्रेजों को करनी चाहिए थी। परन्तु, अंग्रेजों ने इसमें कोई रुचि नहीं दिखाई। उधर, मराठा एवं निजाम बम्बई प्रेसीडेंसी में अंग्रेजों के खिलाफ

युद्ध में लड़ रहे थे। हैदर अली ने भी अंग्रेजों के विश्वासघात को देखते हुए मराठों एवं निजाम के साथ त्रिगुट संधि कर ली। अंग्रेजों ने आगे और भी गैर-जिम्मेदाराना रुख अख्तियार करते हुए हैदर अली के राज्यक्षेत्र में स्थित माहे में फ्रांसीसियों की बस्ती पर आक्रमण कर मार्च, 1773 ई. में उस पर अधिकार कर लिया। यह स्पष्ट रूप से हैदर अली की प्रभुसत्ता को चुनौती थी।

जुलाई, 1780 ई. में हैदर अली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। और, यहीं से द्वितीय आंग्ल-मैसूर-युद्ध आरम्भ हो गया। हैदर ने अंग्रेज जनरल बेली को कर्नाटक के मैदानों में बुरी तरह परास्त किया और अक्टूबर 1780 ई. में अर्काट पर अधिकार कर लिया। एक बार जब अंग्रेज फिर से एक शर्मनाक हार की कगार पर थे, अंग्रेज गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने कूटनीतिक चाल चली। उसने निजाम को गुण्टूर देकर हैदर अली से अलग कर दिया और सिंधिया-भोंसले को भी अपने में मिला लिया। 1780 में नए अंग्रेज जनरल आयरकूट ने पोर्टानोवो, पोलिलूर, शोलिंगलूर में अकेले पड़े हैदर अली को कई बार परास्त किया। परन्तु, हैदर अली ने एक बार फिर अपना उत्साह दिखाया और सितम्बर, 1782 ई. में आयरकूट को हरा दिया। 7 दिसम्बर, 1782 ई. को हैदर अली की मृत्यु हो गई, उसके पुत्र *टीपू सुल्तान* ने उसके बाद युद्ध जारी रखा। परन्तु, अब न तो अंग्रेज युद्ध जारी रख पाने की स्थिति में थे और न ही टीपू अंग्रेजों को करारी मात देने की स्थिति मे था। ऐसे में मार्च, 1784 ई. में दोनों पक्षों ने *मंगलोर की सन्धि* कर ली, जिसके तहत् दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के भू-भागों को लौटा देने पर सहमति व्यक्त की।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-1792 ई.)

यह युद्ध भी अंग्रेजों की छलपूर्ण नीति का ही परिणाम था। 1788 ई. में कम्पनी ने हैदराबाद के निजाम को फिर से टीपू के खिलाफ युद्ध के लिए तैयार होने के लिए पत्र लिखा। टीपू ने इसे सन्धि के उल्लंघन के रूप में लिया और 1789 ई. में त्रावणकोर पर आक्रमण कर दिया। त्रावणकोर का राजा अंगेजों का मित्र था। टीपू के इस आक्रमण को आधार बनाकर अंग्रेजों ने मराठों एवं निजाम से सन्धि कर ली।

तृतीय आंग्ल-मैसूर-युद्ध तीन चरणों में हुआ। पहले चरण में अंग्रेजों का सेनापति जनरल मिडो था। टीपू सुल्तान की मजबूत सामरिक स्थिति के कारण मिडो को कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं हुई। ऐसे में दूसरा चरण दिसम्बर, 1790 में शुरू हुआ, जिसका नेतृत्व कार्नवालिस ने स्वयं किया। मार्च, 1791 तक उसने वेल्लोर और अम्बूर पर अधिकार कर लिया था। फिर, वह टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टनम् के पास भी आ गया, पर वर्षा ऋतु के आ जाने से वह अभियान को जारी नहीं रख सका और उसे मंगलोर की ओर वापस आना पड़ा। 1791 ई. की गर्मियों में टीपू ने कोयम्बटूर पर अधिकार करते हुए फिर से युद्ध की शुरुआत कर दी। इस तीसरे चरण में कॉर्नवालिस की सहायता करने के लिए मिडो, स्टुअर्ट, मैक्सवेल और हंटर जैसे अंग्रेज सैनिक

अधिकारी भी आए थे। टीपू ने बहादुरी से युद्ध किया, पर अंग्रेजों की सामरिक स्थिति मजबूत होने के कारण उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा और मार्च, 1792 ई. में उसे *श्रीरंगपट्टनम की सन्धि* करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस अपमानजनक सन्धि के अंतर्गत टीपू सुल्तान को अपने राज्य का लगभग आधा हिस्सा अंग्रेजों, मराठों एवं निजाम को दे देना पड़ा। अंग्रेजों को युद्ध के हर्जाने के रूप में तीन करोड़ रुपए देने पड़े और अपने दो बेटों को अंग्रेजों के पास बंधक के रूप में भी रखना पड़ा।

चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध (मार्च 1799-मई 1799 ई.)

श्रीरंगपट्टनम् संधि की अपमानजनक शर्तें टीपू सुल्तान जैसा स्वाभिमानी शासक अधिक समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। भारतीय राज्यों से उसे किसी प्रकार के सहयोग की आशा नहीं थी। अस्तु, अंग्रेजों को खदेड़ने के लिए उसने अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने की दिशा में प्रयास किए। उसने भारत में तो फ्रांसीसी कम्पनी से सम्पर्क किया ही था, नेपोलियन से भी उसने पत्र-व्यवहार किया था। टीपू ने अरब, कुस्तुनतुनिया, अफगानिस्तान एवं मॉरीशस के शासकों से भी पत्र-व्यवहार किया था। टीपू ने अपनी सेना को फिर से संगठित किया और फ्रांसीसी पद्धति पर उन्हें प्रशिक्षित किया। उधर, अंग्रेजों ने मराठों एवं निजाम से इस शर्त पर संधि कर ली कि युद्ध से प्राप्त लाभ का तीनों के बीच बराबर-बराबर बंटवारा किया जाएगा। इस बार अंग्रेजों के मुख्य सेनापति थे—आर्थर वेलेस्ली, हैरिस और स्टुअर्ट। दो घमासान युद्धों में टीपू सुल्तान पराजित हुआ और उसने श्रीरंगपट्टनम् के किले में शरण ले ली। अंग्रेजों ने इस दुर्ग पर लगभग पन्द्रह दिनों तक घेरा डालने के बाद 4 मई, 1799 ई. को उस पर कब्जा कर लिया। टीपू बहादुरी से दुर्ग की रक्षा करता हुआ मारा गया।

टीपू सुल्तान का आकलन

टीपू सुल्तान का जन्म नवम्बर 1750 में हैदरअली और फातिमा के घर हुआ। वह एक सुशिक्षित व्यक्ति था, और अरबी, फारसी, कनारिस एवं उर्दू में धाराप्रवाह बोल सकता था।

टीपू एक महान योद्धा था (उसे मैसूर के शेर के नाम से जाना जाता था) और उसने एक दक्ष सैन्य बल तैयार करने और उसके प्रबंधन पर अत्यधिक ध्यान दिया। उसने अपनी सेना को यूरोपीय तर्ज पर संगठित किया। यद्यपि, उसने अपने सिपाहियों को प्रशिक्षित करने में फ्रांसीसी अधिकारियों की मदद ली, तथापि उसने कभी भी उन्हें (फ्रांसीसी अधिकारी) सेना में दबाव समूह बनाने की अनुमति नहीं दी। अपने पिता की भांति, टीपू ने नौसेना के महत्व को समझा। 1796 में, उसने नौकाधिकरण/नौसेना बोर्ड गठित किया और 22 जंगी जहाजों और 20 बड़े पोतों के बेड़े की योजना बनाई। उसने मंगलौर, वजेदाबाद एवं मोलिदाबाद में तीन गोदियों की स्थापना की। हालांकि, उसकी योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी।

टीपू विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का संरक्षक था। उसे भारत में रॉकेट तकनीक का खोजकर्ता माना जाता है। उसके द्वारा लिखे गए मिलिट्री मैनुअल में रॉकेट के संचालन की व्याख्या की गई है। उसने मैसूर राज्य में सर्वप्रथम रेशम उत्पादन भी शुरू किया।

टीपू सुल्तान की लोकतंत्र में अत्यंत निष्ठा थी और वह एक महान राजनयिक था। उसने 1797 में श्रीरंगपट्टम में एक जैकोबिन क्लब स्थापित करने में फ्रांसीसी सैनिकों की मदद की। उसने इस अवसर पर उत्सव के लिए सलामी हेतु 2,300 गोले और 500 रॉकेट का आदेश दिया। टीपू स्वयं इस क्लब का सदस्य बना और स्वयं को 'नागरिक टीपू' कहने की अनुमति दी। उसने श्रीरंगपट्टम में स्वतंत्रता के वृक्ष का रोपण किया।

कुछ इतिहासकारों ने टीपू को एक कट्टर राजा के रूप में दर्शाया है। यह औपनिवेशक इतिहासकारों का मुख्य विचार था। सुल्तान का यह आकलन पूरी तरह सही नहीं है। यह सत्य है कि उसने हिंदू कुर्ग और नायरों का दमन किया। लेकिन उसने मुस्लिम मोपलाओं द्वारा शक्तियों का दुरुपयोग करने के लिए उन्हें दण्डित भी किया। यद्यपि केरल में महलों को विजित करने के लिए उसने मंदिरों को नष्ट किया, लेकिन टीपू को अपने क्षेत्र में हिंदू मंदिरों के संरक्षण के लिए भी जाना जाता है। उसने शृंगेरी मंदिर की मरम्मत एवं देवी शारदा की मूर्ति (इस मूर्ति को 1791 में मराठा आक्रमण के दौरान क्षतिग्रस्त कर दिया गया था) स्थापित करने के लिए धन प्रदान किया। यह आवश्यक नहीं है कि अतीत के व्यक्तियों का आकलन धर्मनिरपेक्षता एवं लोकतंत्र के आधुनिक पैमाने के साथ किया जाए।

टीपू ने पालकी के इस्तेमाल को बंद किया और उसे केवल महिलाओं एवं विकलांग लोगों के लिए सही समझा। उसको सामंतवाद के समय पूंजीवादी विकास के प्रारंभ का भी श्रेय दिया गया।

टीपू बहुविध परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति था।

टीपू सुल्तान के पश्चात् मैसूर

चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध के परिणामस्वरूप मैसूर राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया। अंग्रेजों ने मैसूर के इस्लामिक राज्य का अंत कर दिया और टीपू के परिवार के सदस्यों को पेंशनयाफ्ता बनाकर वेल्लौर भेज दिया। मैसूर को अंग्रेजों तथा निजाम ने आपस में बांट लिया। अंग्रेजों को कोयम्बटूर, कनारा और श्रीरंगपट्टम् के कुछ भाग प्राप्त हुए। निजाम को गूटी, गुर्रमकोंडा और चित्तलदुर्ग के कुछ भाग प्राप्त हुए। मराठों के लिए सून्दा और हारपोनेली का प्रस्ताव रखा गया, परंतु उनकी अस्वीकृति के बाद इन जिलों को भी अंग्रेजों और निजामों ने आपस में बांट लिया। मैसूर राज्य के शेष भाग को हिंदू राजकुमार कृष्णराव के अधीन कर दिया गया और उसके साथ सहायक संधि कर ली गई। मैसूर के विरुद्ध सफलता के लिए ही वेलेस्ली को 'मार्क्विस' (Marques) की उपाधि मिली। इस युद्ध के बाद मैसूर पर फ्रांसीसी प्रभाव का भी अंत हो गया।

सर्वोच्चता हेतु आंग्ल-मराठा संघर्ष

मराठा शक्ति का उदय

एक छोटे भूमिया स्तर से उठकर बड़े शासक के स्तर तक पहुंचने वाली मराठा शक्ति ने दक्खनी राजनीति को एक नया आयाम दिया। इससे न केवल मुगल-दक्कन-संबंध प्रभावित हुए, अपितु मुगलों की राजनीति भी प्रभावित हुई। गौरतलब है कि अंग्रेजी कम्पनी के भारत में क्षेत्रीय विस्तार में भी मराठा शक्ति एक निर्णायक तत्व बनी रही।

अन्य दक्षिणी राज्यों में सैनिक एवं असैनिक पदों पर कार्य करने वाले मराठों ने मराठा प्रशासन और सैन्य संगठन की भी प्रस्तुति की। 18वीं शताब्दी के मध्य तक, वे लाहौर तक जा पहुंचे और उत्तर भारतीय साम्राज्य का स्वप्न देखने लगे। मुगल दरबार में उन्होंने किंगमेकर की भूमिका निभाई। पानीपत के तृतीय युद्ध (1761) में मराठा अहमद शाह अब्दाली के हाथों परास्त हुए, जिसने, हालांकि, सब कुछ बदल कर रख दिया। फिर भी वे पुनः संगठित हुए, अपनी शक्ति पुनर्अर्जित की और एक दशक के भीतर भारत में एक शक्ति के रूप में सामने आ गए। बाजीराव प्रथम (1720-40) सभी पेशवाओं में सबसे महान शासक था, जिसने तेजी से फैलती मराठा शक्ति को व्यवस्थित करने और कुछ हद तक सेनापति दाबोली के नेतृत्व में मराठाओं के क्षत्रिय वर्ग (पेशवा ब्राह्मण थे) को संतुष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण मराठा सरदारों का संघ शुरू किया। मराठा परिवार जो मुख्य तौर पर उदित हुए—(i) बड़ौदा के गायकवाड़, (ii) नागपुर के भोंसले, (iii) इंदौर के होल्कर, (iv) ग्वालियर के सिंधिया, तथा (v) पूना के पेशवा। बाजीराव प्रथम और माधवराव प्रथम के अंतर्गत राज्यसंघ/संघ ने सौहार्दपूर्वक काम किया, लेकिन पानीपत के तृतीय युद्ध (1761) ने सब कुछ बदल दिया। पानीपत की हार और 1772 में युवा पेशवा माधवराव प्रथम ने राज्यसंघ/ संघ पर पेशवाओं के नियंत्रण को कमजोर कर दिया। यद्यपि किसी अवसर पर राज्यसंघ के मुखिया एकत्रित होते थे, जैसाकि ब्रिटिश शासकों (1775-82) के विरुद्ध, अन्यथा वे प्रायः आपस में लड़ते रहते थे।

मराठा राजनीति में अंग्रेजों का प्रवेश

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग 50 वर्षों में अंग्रेजों और मराठों के बीच राजनीतिक सर्वोच्चता के लिए तीन बार मुठभेड़ (युद्ध) हुई, जिसमें अंग्रेज अंतिम रूप से विजयी होकर उदित हुए। अंग्रेजों की अत्यधिक महत्वाकांक्षा और मराठाओं के विभाजित घराने इन युद्धों एवं संघर्षों के कारण थे। इस प्रकार उत्तरकालीन मुगल शासकों की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर मराठों ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर दिल्ली पर पकड़ बनाने का प्रयत्न शुरू कर दिया। इधर अंग्रेज भी सर्वोच्च शक्ति के रूप में उभरना चाहते थे जिससे दोनों शक्तियों में टकराव की स्थिति बनी जिसने दोनों के मध्य तीन युद्धों को जन्म दिया।

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-82)

अंग्रेजों को मराठों के मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर तब मिला जब मराठा संघ के प्रमुख *पेशवा* पद के लिए मराठों में मतभेद हुआ। 1772 ई. में माधव राव की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र नारायण राव अपने चाचा रघुनाथ राव, जो पेशवा बनना चाहता था, के षड्यंत्रों का शिकार बन गया। नारायण राव की मृत्यु के पश्चात रघुनाथ राव पेशवा बना किंतु नाना फड़नवीस के नेतृत्व में पेशवा पद के उसके अधिकार को चुनौती देते हुए नारायण राव के मरणोपरांत उसकी पत्नी गंगा बाई से उत्पन्न पुत्र को पेशवा के पद पर स्थापित कर दिया गया।

सूरत की संधिः पेशवा पद प्राप्त करने में असफल सिद्ध होने पर रघुनाथ राव ने अंग्रेजों से सूरत की संधि (1775 ई.) कर ली ताकि वह अंग्रेजों की सहायता से पेशवा बन जाए। संधि के अनुसार, रघुनाथ राव ने सालसेट एवं बेसिन का क्षेत्र सूरत एवं बहराइच जिलों से राजस्व हिस्से के साथ अंग्रेजों को सौंप दिया। बदले में, अंग्रेजों ने रघुनाथराव को 2,500 सैनिकों की टुकड़ी सौंपी। 1777 में नाना फडनवीस ने फ्रांसीसियों को पश्चिमी तट पर पत्तन की मंजूरी देकर कलकत्ता परिषद के साथ उसकी संधि का उल्लंघन किया। अंग्रेजों ने प्रतिक्रिया स्वरूप पुणे में सेना भेजी और मराठा और अंग्रेजी सेना का पुणे में आमना-सामना हुआ। मराठाओं का नेतृत्व महादजी सिंधिया ने किया। इसमें मराठाओं ने अंग्रेजों को भारी क्षति पहुंचाई और अंग्रेजों ने जनवरी 1779 में आत्मसमर्पण करके वडगांव की संधि की जिसमें बाम्बे सरकार को अंग्रेजों द्वारा 1775 से हासिल किए गए सभी क्षेत्रों को छोड़ने को बाध्य होना पड़ा।

बंगाल में ब्रिटिश गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने इस संधि को रद्द कर दिया और कर्नल गोडार्ड के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। गोडार्ड ने फरवरी 1779 में अहमदाबाद पर और दिसंबर 1780 में बेसीन पर कब्जा कर लिया। फरवरी 1781 में जनरल केमे के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने अंततः सिपरी में सिंधिया को पराजित कर दिया।

सालबाई की संधि (1782)

पराजय के पश्चात्, सिंधिया ने पेशवा और अंग्रेजों के मध्य एक नई संधि प्रस्तावित की जो युवा माधवराव को पेशवा के तौर पर मान्यता प्रदान करे और रघुनाथ राव को पेंशन की मंजूरी प्रदान करे। मई 1782 में हुई इस संधि को सालबाई की संधि के नाम से जाना जाता है जिसकी जून 1782 में हेस्टिंग्ज द्वारा और फरवरी 1783 में फडनवीस द्वारा पुष्टि की गई। इस संधि ने सिंधिया को उसके सभी क्षेत्र लौटा दिए और दोनों पक्षों के बीच 20 वषो ं तक शांति सुनिश्चित करने की बात कही, इस प्रकार युद्ध का अंत हो गया।

संधि का महत्वः अंग्रेजों को इस संधि से हैदर अली को अलग-थलग करने और सालसेट को हासिल करने में सफलता मिली। इस संधि से युद्ध पूर्व की स्थिति स्थापित

हो गई। यद्यपि कंपनी की प्रतिष्ठा बच गई, परंतु उसे भारी वित्तीय हानि उठानी पड़ी। इससे कंपनी को केवल मैसूर के मामले में पूर्ण स्वतंत्रता मिल गई। दूसरी ओर कंपनी को मराठों की शक्ति का भी पता चल गया और आगामी 20 वर्षों तक दोनों पक्षों में शांति कायम रही।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1803-1805)

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध प्राथमिक रूप से भारत में फ्रांसीसियों को रोकने के लॉर्ड वेलेजली के प्रयासों के कारण हुआ। भारत में 1798 में गवर्नर जनरल के रूप में आए, वेलेजली का विश्वास था कि फ्रांसीसियों द्वारा प्रदत्त हानियों से तभी उबरा जा सकता है यदि समस्त भारत को सैनिक सहायता के लिए अंग्रेजों पर निर्भर बना दिया जाए। ऐसी सुरक्षा प्रदान करने के लिए, उसने कुख्यात सहायक संधि तैयार की, लेकिन शुरू में मराठाओं ने इसे स्वीकार करने से मना कर दिया। हालांकि, मराठा राजनीति के वरिष्ठ रणनीतिकार, नाना फडनवीस की मार्च 1800 में मृत्यु हो गई, और उसकी मृत्यु के साथ वेलेजली के प्रस्ताव को स्वीकार करने का प्रतिरोध भी समाप्त हो गया।

नाना के नियंत्रण से मुक्त हुए पेशवा बाजीराव-II ने अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए मराठा सरदारों में झगड़े करवाए। परंतु यह स्वयं उनका शिकार बन गया। दौलतराव सिन्धिया तथा जसवन्तराव होल्कर (कुछ इतिहाकारों द्वारा इसे यशवंतराव होल्कर भी कहा जाता है) दोनों ही पूना में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे। इसमें सिन्धिया सफल रहा तथा बाजीराव पर सिन्धिया का प्रभुत्व स्थापित हो गया। अप्रैल 1801 ई. में पेशवा ने जसवंतराव होल्कर के भाई विट्ठूजी की हत्या कर दी। होल्कर ने पूना पर आक्रमण कर पेशवा तथा सिन्धिया की सेनाओं को पराजित कर पूना पर अधिकार कर लिया। बाजीराव द्वितीय ने भाग कर बेसीन में शरण ली और 1802 ई. में अंग्रेजो से एक संधि की जिसे 'बेसीन की संधि' के नाम से जाना जाता है।

इसके पश्चात् तात्कालिक गवर्नर-जनरल वेलेजली ने 1803 ई. में होल्कर के आधिपत्य से पूना को मुक्त कराया और पेशवा को पुनः उसका राज्य वापस सौंप दिया। 1804 ई. में जसवंतराव होल्कर ने भारतीय राजाओं की संयुक्त सेनाओं के साथ अंग्रेजों को युद्ध में परास्त करने का एक और प्रयास किया, किन्तु यह प्रयास भी विफल रहा। दूसरे युद्ध में यद्यपि मराठा शक्ति समाप्त तो नहीं हुई परंतु निर्बल अवश्य हो गई।

बेसीन की संधिः इस संधि की निम्न शर्तें थीं:

(i) अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर भारतीय तथा अंग्रेज पैदल सैनिकों को पूना में रखना स्वीकार कर लिया।

(ii) गुजरात, ताप्ती तथा नर्मदा के मध्य के प्रदेश तथा तुंगभद्रा नदी के सभी समीपवर्ती प्रदेश, जिनकी आय 26 लाख रुपया थी, पेशवा ने कम्पनी को दे दिए।

(iii) कम्पनी को सूरत नगर दे दिया।

(iv) अन्य राज्यों से संबंध स्थापित करने के सारे अधिकार पेशवा ने कम्पनी के अधीन कर दिए।

(v) निजाम से चौथ प्राप्त करने के अपने अधिकार को छोड़ दिया तथा गायकवाड़ के विरूद्ध युद्ध न करने का वचन दिया।

(vi) अंग्रेज विरोधी अन्य यूरोपीय लोगों को अपनी सेना से निवृत करना स्वीकार किया।

(vii) निजाम तथा गायकवाड़ शासकों के साथ झगड़े में कम्पनी की मध्यस्थता स्वीकार कर ली।

बेसीन की संधि का महत्वः निस्संदेह पेशवा द्वारा स्वीकार की गई इस संधि से, जिन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता क्षीण कर ली थी, अंग्रेजों को होने वाले लाभ अत्यधिक थे। अब वे पूना में सर्वोच्चता की स्थिति में थे। पेशवा, मराठा परिसंघ का मुखिया, अंग्रेजों पर निर्भर हो गया, और अन्य मराठा सरदारों ने भी इस पद की गरिमा का ह्रास किया। यह सब अंग्रेजों ने इस संधि के माध्यम से बिना किसी बड़े एवं लम्बे युद्ध के हासिल किया। कंपनी की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि थी कि वह प्रत्येक उस मामले में मध्यस्थ बन गई जिसमें भविष्य में पेशवा के संलग्न होने की संभावना थी। इसके साथ वेलेजली का एक उद्देश्य पूर्ण हो गया, कि मराठाओं ने निजाम को परेशान करना बंद कर दिया, जो कंपनी के संरक्षण में था। यह सच है कि बेसीन की संधि ने कंपनी को 'भारत' थाली में सजाकर नहीं दिया, तथापि इस दिशा में यह महत्वपूर्ण घटनाक्रम था।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-19)

आंग्ल-मराठा टकराव का तृतीय एवं अंतिम चरण लार्ड हेस्टिंग्स के आने पर आरंभ हुआ। 1805 ई. के पश्चात जो शांति के वर्ष मराठों को मिले थे उनका प्रयोग उन्होंने अपने आप को सुदृढ़ बनाने के लिए न कर आपसी कलह में खो दिए। हेस्टिंग्स के पिण्डारियों के विरूद्ध अभियान से मराठों के प्रभुत्व को चुनौती मिली अतएव दोनों दल आमने-सामने आ गए। इस अभियान के दौरान हेस्टिंग्स ने पेशवा, सिन्धिया तथा भोंसले को अपमानजनक संधिंया करने पर बाध्य किया। विवश होकर मराठों ने अंग्रेजों से मुक्ति के लिए अंतिम प्रयत्न किया। दौलतराव सिन्धिया, नागपुर के अप्पा साहिब तथा मल्हारराव होल्कर द्वितीय ने युद्ध की घोषणा कर दी। किन्तु अंग्रेजों ने पेशवा को किर्की, भोंसले को सीताबर्डी तथा होल्कर को महीदपुर नामक स्थान पर परास्त किया। इसके साथ ही अंग्रेंजों की शक्ति नष्ट करने के मराठों के सपने चूर-चूर हो गए।

मराठों के तृतीय और अंतिम युद्ध से मराठा शक्ति मृतप्राय हो गई। बाजीराव द्वितीय का पूना का प्रदेश कम्पनी में विलय कर दिया गया। अन्य मराठा राज्यों सिन्धिया, होल्कर, भोंसले और गायकवाड़ की राजनीतिक और सैनिक शक्ति में कटौती

करके, उन्हें अंग्रेजों के निरीक्षण में शासन करने का अधिकार मिला। इस प्रकार मराठा शक्ति को नष्ट करके अंग्रेजों ने अपने क्षेत्र का विस्तार किया।

वस्तुतः उन्नसीवीं शताब्दी के आरंभ में वे सभी भारतीय शक्तियां, जो मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर खड़ी हुई थीं और अपनी सत्ता और शक्ति स्थापित करने के प्रयास में लगीं थीं, अंग्रेजों द्वारा पराजित हुई और अंग्रेज भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में उभरे।

मराठा शक्ति की पराजय के कारण

छत्रपति शिवाजी ने जिस मराठा-शक्ति की स्थापना की थी और बालाजी विश्वनाथ, बाजीराव, बालाजी बाजीराव आदि पेशवाओं ने जिसे चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया था, वह मराठा-शक्ति दो शताब्दियों तक भी कायम नहीं रह सकी। पेशवाओं ने जब मराठा-शक्ति को चरमोत्कर्ष तक पहुंचाया था, उस समय मुगल पतन की ओर अग्रसर थे और भारत की कोई भी अन्य शक्ति मराठों के इर्द-गिर्द भी नजर नहीं आ रही थी। अचानक अंग्रेजों ने भारत में विस्तारवादी नीति अपनाई और उनकी इसी नीति का शिकार मराठा-शक्ति भी बनी। मराठों का अपकर्ष अनेक कारणों से हुआ। कुछ कारण आंतरिक थे, तो कुछ बाह्य।

परस्पर विश्वास का अभाव एवं महत्त्वाकांक्षाः मराठा राज्य भारतीय राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली था, परंतु कालांतर में उनमें पारस्परिक अविश्वास तथा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की भावना घर कर गयी, जिसके कारण उनका कई राज्यों में विभाजन हो गया। इस प्रकार, मराठा साम्राज्य कई स्वतंत्र राज्यों का एक संघ बन गया। संघ की जितनी भी इकाइयां थीं, उन सभी के क्षेत्र और अधिकार अलग-अलग थे। मराठों के सरदार पेशवा, होल्कर, सिंधिया, भोंसले आदि बहुधा आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। उनमें एकता का सर्वथा अभाव था। फलतः, मराठा संघ अत्यंत शिथिल और कमजोर हो गया था।

दोषपूर्ण आर्थिक संगठनः मराठा साम्राज्य के आर्थिक संगठन के दोषपूर्ण होने के कारण भी मराठों का पतन अवश्यम्भावी था। किसी ठोस अर्थनीति के अभाव में आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाना कठिन होता है और अर्थ के अभाव में किसी भी राष्ट्र का राजनीतिक उत्थान और विकास संभव नहीं है। मराठों की सबसे बड़ी त्रासदी यह थी कि महाराष्ट्र की बंजर भूमि कृषि के लिए उपयुक्त नहीं थी और न ही वहां व्यापार चल सकता था, जिससे मराठों को 'चौथ' पर निर्भर रहना पड़ता था। यही कारण है कि पड़ोसी राज्य उनसे सदा अप्रसन्न रहते थे और संकट के समय मराठों की सहायता करने से मुकरते थे।

विकेंद्रीकरणः शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठों में जागीर की प्रथा फिर से आरंभ कर दी गयी थी, जिसे प्राप्त करने के लिए मराठा सरदार निरंतर संघर्ष करते रहते थे। दुर्भाग्यवश 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अहिल्याबाई, तुकोजी, माधवजी,

नाना फड़नवीस-जैसे योग्य मराठा नेताओं की मृत्यु के पश्चात् उनकी जगह पेशवा द्वितीय बाजीराव, दौलतराव सिंधिया, यशवंतराव होल्कर आदि स्वार्थी तथा अदूरदर्शी तत्वों ने ली। इन सबके मध्य पारस्परिक कलह तथा आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण मराठा साम्राज्य में विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति सक्रिय हो रही थी।

आर्थिक विषमता: मराठों की सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वे कभी आर्थिक विकास की ओर ध्यान केंद्रित नहीं करते थे, बल्कि आर्थिक संकट उत्पन्न होने पर लूटपाट किया करते थे। ऐसी सरकार न तो जनता से सहानुभूति प्राप्त कर सकती थी और न ही सहयोग। ऐसी व्यवस्था में मराठों का पतन अनिवार्य था। मराठों का आर्थिक प्रबंध भी सुव्यवस्थित नहीं था। वे न तो आर्थिक ढांचे को सुदृढ़ बना पाये थे और न ही शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने में सफल हुए थे। उन्होंने प्रजा को शिक्षित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया और प्रजा की सुख-सुविधाओं का उन्हें कभी ख्याल ही नहीं रहा।

दोषपूर्ण सैन्य व्यवस्था: मराठों का सैन्य संगठन भी दोषपूर्ण था। एक तो उन्होंने अपनी प्राचीन सैनिक प्रणाली तथा छापामार रणनीति को त्याग दिया था दूसरी ओर यूरोपीय आधार पर वैज्ञानिक संगठन बनाने में भी वे पूर्णतया असमर्थ थे यद्यपि कई मराठा सरदारों ने यूरोपीय रणनीति में पारंगत कई यूरोपीय विशेषकर फ्रांसीसी अफसरों को अपने यहां नियुक्त कर पाश्चात्य युद्ध प्रणाली में स्वयं को दक्ष कर लिया था, तथापि उनका यह संगठन अंग्रेजों की अपेक्षा सदैव निम्न कोटि का बना रहा।

उग्र राष्ट्रीयता का अभाव: मराठों में आपसी वैमनस्य, कलह और ईर्ष्या-द्वेष के कारण एकता का सर्वथा अभाव था जिससे उनमें उग्र राष्ट्रीयता का अभाव व्याप्त हो गया। दूसरी ओर, अंग्रेजों में एकता थी, उच्चकोटि की सैनिक शक्ति तथा उग्र राष्ट्रीयता की भावना थी।

आत्मनिर्भरता का अभाव: मराठा सरदार साधारणतया अपनी सुरक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर रहते थे। इसी आत्मनिर्भरता की कमी के कारण मुट्ठी भर अंग्रेजों के साथ मराठों को पराजित होना पड़ता था। वे मुख्यतः फ्रांसीसियों पर सर्वाधिक विश्वास करते थे, परंतु कभी भी मौके पर फ्रांसीसियों ने उन्हें पर्याप्त सहायता नहीं प्रदान की।

सुदृढ़ शासन-व्यवस्था का अभाव: मराठा साम्राज्य में सुदृढ़ और सुव्यवस्थित शासन का अभाव भी इनके पतन का एक मुख्य कारण था। मराठों ने अपने विजित क्षेत्रों के प्रशासन पर कभी ध्यान नहीं दिया, जनसाधारण की खुशी, सुरक्षा और प्रगति के लिए भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरीत, अपनी आय का प्रमुख साधन लूट-मार, चौथ और सरदेशमुखी को बना रखा था। अवसर पाते ही वे अपने पड़ोसियों और अन्य सरदारों के राज्यों में लूट-मार करते रहते थे। इस प्रकार, वे न तो

विजित प्रदेशों में शांति-व्यवस्था स्थापित कर पाते थे और न ही जनता की सहानुभूति प्राप्त कर पाते थे।

योग्य नेतृत्व का अभावः किसी भी साम्राज्य की शक्ति को विस्तार प्रदान करने और स्थायित्व लाने के लिए योग्य नेतृत्व का होना नितांत आवश्यक है। दुर्भाग्यवश 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महादजी सिंधिया, अहिल्याबाई, पेशवा माधवराव, तुकोजी होल्कर जैसे योग्य मराठा नेताओं की मृत्यु हो गयी। उनके बाद पेशवा बाजीराव द्वितीय, दौलतराव सिंधिया और यशवंतराव होल्कर जैसे अदूरदर्शी अयोग्य और स्वार्थी नेता मराठों के सरदार बने। ये हमेशा एक-दूसरे के साथ लड़कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते रहे। इन्होंने कभी संगठित होकर अंग्रेजों से टक्कर नहीं ली। इस प्रकार, एक ओर मराठों के ऐसे अयोग्य नेता थे, तो दूसरी ओर अंग्रेजों को माल्कम आर्थर, वेलेजली, जनरल लेक और लॉर्ड हेस्टिंग्स जैसे योग्य व्यक्तियों का नेतृत्व प्राप्त था, जिनके सामने स्वार्थी मराठा सरदारों का टिक पाना असंभव था।

अंग्रेज-शक्ति की श्रेष्ठता तथा सुगठित गुप्तचर व्यवस्थाः अंग्रेज, मराठों से कूटनीतिक सैन्य शक्ति और राजनीतिक चालों में श्रेष्ठ थे। अंग्रेज मराठों से कूटनीति की दृष्टि से बहुत आगे थे। कंपनी के गुप्तचर मराठा सैनिक शक्ति, मराठों के घरेलू कलह और आपसी संबंधों की जानकारी अधिकारियों तक पहुंचा देते थे। इसके विपरीत, मराठे अंग्रेजों की गतिविधियों से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते थे। ऐसी स्थिति में मराठों की पराजय लगभग निश्चित थी।

असहयोगः मराठा पेशवाओं ने साम्राज्य विस्तार के क्रम में अनेक दोषपूर्ण नीतियां अपनायीं, जिसके कारण उन्हें अन्य भारतीय राजाओं तथा जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं हो सका। अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए मराठा सरदार शासकों की आज्ञा पर पड़ोसी राज्यों में लूट और कोहराम मचा देते थे। अपने अभियान के समय वे इस बात का तनिक भी ख्याल नहीं रखते थे कि ये हमारे पड़ोसी हैं और विषम परिस्थितियों में हमें सक्रिय सहयोग दे सकते हैं। मराठों ने हिंदुओं और मुसलमानों को समान रूप से दुःख पहुंचाया। इसलिए, जब-जब उन पर संकट आया, तब-तब किसी भी पड़ोसी ने उन्हें सहयोग नहीं दिया। उदाहरण के तौर पर हम देखते हैं कि जब नादिरशाह के आक्रमणों से बचने के लिए बाजीराव प्रथम ने एक संयुक्त मोर्चा गठित करने की कोशिश की, तो उसे सफलता नहीं मिली। फिर, अहमदशाह अब्दाली ने जब मराठों का विनाश करना शुरू किया, तो कोई भी शक्ति उनके बचाव के लिए आगे नहीं आयी। मराठों ने मैसूर के शासक तथा हैदराबाद के निजाम को अपना शत्रु समझा। यदि इन दोनों राज्यों को अपना मित्र बनाकर मराठा अंग्रेजों से मुकाबला करते, तो वे अपनी शक्ति को ज्यादा सुदृढ़ कर पाते और मराठा साम्राज्य का पतन नहीं हो पाता। राजपूत राज्यों के साथ मराठा शासक हमेशा कठोर व्यवहार करते थे और उनकी जनता को हमेशा लूटते-खसोटते थे। इसलिए राजपूतों ने उनके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाई।

उच्चादर्श का अभावः मराठे राष्ट्रीय भावना से तो प्रेरित थे, पर उनमें उच्च विचारों, बंधुत्व, सहयोग और उच्च आदर्शों का सर्वथा अभाव था। उन्होंने कभी भी सम्पूर्ण भारतीयों को बंधुता की भावना से नहीं देखा। हिंदू हों अथवा मुसलमान-सभी को दबाने की प्रवृत्ति मराठों की एक बड़ी कमजोरी थी। मराठों ने साम्राज्यवाद की ऐसी नीति अपना ली थी, जिसमें केवल विस्तार ही दिखता था। उनमें साम्राज्य के लिए व्यवस्थित आर्थिक एवं प्रशासनिक तंत्र का सर्वथा अभाव था। मराठा शासकों ने, न तो खुद अपना आदर्श निर्धारित किया और न ही अपनी जनता के समक्ष आदर्श रखे। मराठा शासकों और सरदारों को लूट-खसोट से कभी फुर्सत नहीं मिलती थी। इसलिए, उनके सामने कोई आदर्श नहीं होता था।

मराठा साम्राज्य उसी पतनशील समाज का प्रतिनिधित्व करता था, जिसका मुगल साम्राज्य। मुगलों की भांति ही मराठे भी राजस्व वसूली तक ही सीमित रहे और नवीन अर्थव्यवस्था के निर्माण पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। सेनानायकों का पारस्परिक मतभेद और एक-दूसरे की सम्पत्तियों की अवहेलना, उनकी अलग योजनाएं, अपनी दोषपूर्ण नीतियों से सहयोगियों की संख्या में कमी लाना, परवर्ती युद्ध और सैन्य-नीति ने मराठों के पतन में अहम भूमिका निभाई।

सिंध विजय

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, अंग्रेजों ने सिंध में रुचि लेना शुरू कर दिया जहां उन्हें 1630 में मुगल शासक द्वारा जारी फरमान के अंतर्गत कुछ व्यापारिक सुविधाओं संबंधी प्राधिकार प्राप्त थे। फरमान ने अंग्रेजों को सिंध के पत्तनों में ऐसे विशेषाधिकार प्रदान किए जिन्हें वे कहीं ओर भी प्रयोग कर सकते थे।

तालपुर अमीरों का उदय

अट्ठारहवीं शताब्दी में, तालपुर के अमीरों के शासन से पूर्व, सिंधु पर काल्लौरा के सरदारों का शासन था। 1758 में, कल्लौरा के राजकुमार गुलाम शाह द्वारा प्रदत्त *परवाना* के कारण थट्टा में एक अंग्रेजी फैक्टरी का निर्माण किया गया। 1761 में, गुलाम शाह ने, अपने दरबार में अंग्रेज रेजीडेंट के आने पर, न केवल पूर्व की संधि की पुष्टि की, अपितु वहां पर व्यापार कर रहे अन्य यूरोपीयों को बाहर कर दिया। इसका लाभ अंग्रेजों द्वारा 1775 तक उठाया गया जब शासक सरफराज खान ने अंग्रेजों को फैक्टरी बंद करने को कहा।

1770 के दशक में, बलूच जनजाति जिसे तालपुरा कहा गया, पहाड़ों पर से उतर कर सिंध के मैदानी क्षेत्र में बस गई। वे उत्कृष्ट सिपाही होने के साथ-साथ प्रतिकूल जीवन दशाओं से भी अभ्यस्त थे। उन्होंने जल्द ही नवीन क्षेत्र में प्रभाव एवं शक्ति हासिल कर ली। 1783 में, तालपुर जनजाति ने मीर फतेह अली खान के नेतृत्व में सिंध

पर पूर्ण अधिकार जमा लिया और काल्लौरा राजकुमार को देश निकाला दे दिया। तत्कालीन दुर्रानी राजतंत्र ने मीर फतह खान के अधिकार की पुष्टि की और आदेश दिया कि मीर फतह खान अपने भाइयों (मीर बंधु, जिन्हें लोकप्रिय रूप से *चार यार* के नाम से जाना जाता था) के साथ देश को चलाए। जब 1800 ईस्वी में मीर फतह की मृत्यु हुई, *चार यार* ने आपस में राज्य को बांट लिया और स्वयं को 'अमीर' या 'सिंध के लॉर्ड' कहा। इन अमीरों ने अपने प्रभुत्वाधीन क्षेत्र को सभी दिशाओं में बढ़ाया। उन्होंने अमरकोट के राजा से जोधपुर, लुज के मुखिया से कराची और अफगानों से शैकरपुर तथा बक्कर को विजित किया।

सिंध पर क्रमिक प्रभुत्व

अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक साझा विचार था कि नेपोलियन टीपू सुल्तान के साथ मिलकर भारत पर आक्रमण करने का षड्यंत्र कर रहा है। 1799 में, सिंध के साथ वाणिज्यिक संबंधों को सुधारने के लार्ड वेलेजली के प्रयासों के पीछे का छुपा हुआ उद्देश्य फ्रांसीसियों, टीपू सुल्तान एवं काबुल के राजा शाह जामन के बीच संधि का सामना करना था। फतह अली खान के साथ बातचीत को जारी रखा गया। टीपू सुल्तान के प्रभावाधीन और स्थानीय व्यापारियों की ईर्ष्या के कारण हैदराबाद (सिंध) की ब्रिटिश विरोधी दल की मदद से, अमीर ने अक्टूबर 1800 में, अंग्रेज एजेंट को दस दिनों के भीतर सिंध छोड़ने का आदेश दिया। ब्रिटिश एजेंट (क्रो) ने सिंध छोड़ दिया और कंपनी ने चुपचाप अपमान को सहन कर लिया।

शाश्वत मित्रता की संधिः जून 1807 में, रूस के अलेक्जेंडर प्रथम के साथ तिलसित की संधि में नेपालियन बोनपार्ट शामिल हुए। इस संधि की एक शर्त थी कि सड़क या भू-मार्ग से भारत में संयुक्त हमला करना। अब अंग्रेज ब्रिटिश भारत और रूस के बीच बाधा उत्पन्न करना चाहते थे। इसके लिए लॉर्ड मिंटो ने विभिन्न प्रमुख व्यक्तियों के नेतृत्व में संधि को आगे बढ़ाने के लिए तीन प्रतिनिधिमण्डलों को भेजा। इसके अनुरूप, मेटकॉफ को लाहौर, एल्फिन्सटन को काबुल और मेलकॉम को तेहरान भेजा गया। निकोलस स्मिथ ने सिंध का दौरा किया जो सुरक्षा एवं सामरिक प्रबंधन करने के लिए अमीरों से मिला। बातचीत के पश्चात्, अमीर अंग्रेजों के साथ संधि करने को सहमत हुए। शाश्वत मित्रता की संधि करने के पश्चात्, दोनों पक्ष सिंध से फ्रांसीसियों को बाहर करने और एक-दूसरे के दरबार में एजेंट भेजने पर सहमत हुए। 1818 में मराठा राज्यसंघ की अंतिम हार के पश्चात् कराची की तरफ से कुछ सीमा विवादों का समाधान करने और अमरीकियों को बाहर करने के लिए वर्ष 1820 में संधि में एक अनुच्छेद जोड़कर इसे नवीनीकृत किया गया।

1832 की संधिः 1832 में विलियम बैंटिक ने अमीरों के साथ एक संधि हस्ताक्षरित करने के लिए कर्नल पोट्टीगंर को सिंध भेजा। संधि के प्रावधान इस प्रकार थेः

(i) अंग्रेज व्यापारियों एवं यात्रियों को सिंध से गुजरने की निःशुल्क अनुमति होगी और व्यापार के लिए सिंध का प्रयोग किया जाएगा।?

(ii) कोई भी अंग्रेज व्यापारी सिंध में नहीं बसेगा और यात्रियों के लिए पासपोर्ट जरूरी होगा।

(iii) प्रशुल्क दरें, अमीरों द्वारा परिवर्तित की जा सकेंगी और किसी प्रकार के सैन्य अधिभारों या टोल की मांग नहीं की जाएगी।

(iv) कच्छ के लुटेरों को नियंत्रित करने के लिए अमीर जोधपुर के राजा के साथ मिलकर कार्य करेंगे।

(v) पुरानी संधियों की पुष्टि की गई और सभी पक्ष एक-दूसरे से ईर्ष्या नहीं करेंगे।

लॉर्ड ऑकलैंड एवं सिंधः लॉर्ड ऑकलैंड, जो 1836 में गवर्नर-जनरल बना, ने भारत को रूस के आक्रमण से बचाने और अफगान पर प्रतिक्रियाबद्ध प्रभाव हासिल करने के परिप्रेक्ष्य में सिंध की ओर देखा। इस संदर्भ में पंजाब में रंजीत सिंह इस दबाव या बल का प्रतिकार करने में पर्याप्त रूप से शक्तिशाली थे, लेकिन अमीर ऐसा कर पाने की स्थिति में नहीं थे। संधि ने अमीरों को इस शर्त पर सुरक्षा प्रदान की कि कंपनी की सेना राजधानी में अमीरों के खर्चे पर रखी जाएगी या वैकल्पिक रूप से अंग्रेजों को बदले में उचित रियायत दी जाएगी। अमीरों ने प्रारंभिक तौर पर मना कर दिया लेकिन बाद में 1838 में अनिच्छुक रूप से संधि करने को सहमत हुए जब उन्हें इस बात का संकेत दिया गया कि दूसरी ओर से रंजीत सिंह इस प्रकार की मदद ले सकते हैं। संधि ने अंग्रेजों को अमीर एवं सिक्खों के बीच विवादों में हस्तक्षेप करने की अनुमति प्रदान की और ब्रिटिश रेजीडेंट की उपस्थिति को भी सुनिश्चित किया जो अंग्रेज सैन्य टुकड़ी से सुसज्जित कहीं भी जा सकता था। इस प्रकार सिंध 1838 में ब्रिटिश संरक्षित क्षेत्र बन गया।

1838 की त्रिपक्षीय संधिः अफगान समस्या को संबोधित करने के लिए (जैसा कि अंग्रेजों ने इसकी कल्पना की) कंपनी ने फिर से छल-कपट का सहारा लिया। प्रथमतः उन्होंने जून 1838 में राजा रणजीत सिंह को त्रिपक्षीय संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मनाया कि वे अपने एवं अमीरों के मध्य विवादों में अंग्रेजों को मध्यस्थता करने पर सहमत हों, और तब शासक शाह शुजा को सिंध पर अपने प्रभुसत्तात्मक अधिकारों को छोड़ने के लिए राजी किया।

सिंधु ने सहायक संधि (1839) स्वीकार कीः कंपनी ने अमीरों को उन्हें धन देने के लिए मनाया या बाध्य किया और 1832 की संधि के उस अनुच्छेद के उन्मूलन के लिए भी सहमत किया जो स्थल मार्ग या जल मार्ग द्वारा सिंध में अंग्रेज सैनिकों के आवागमन का निषेध करता था। बी.एल. ग्रोवर लिखते हैं कि, ''महाशक्तियों के भय से, अमीरों ने फरवरी 1839 को संधि स्वीकार की जिसके अंतर्गत ब्रिटिश सहायक बल को शिकारपुर और बक्कर में जगह दी गई और सिंध के अमीरों द्वारा कंपनी की सेना

के प्रबंधन हेतु वार्षिक तौर पर 3 लाख रुपए अदा किए जाते थे''। इसके अतिरिक्त, अमीरों को कंपनी के संज्ञान में लाए बिना विदेशी राज्यों के साथ किसी प्रकार के समझौते करने से प्रतिबंधित कर दिया गया। अंग्रेजों को कंपनी के सैनिक आपूर्ति हेतु अमीरों द्वारा कराची में भंडारण-कक्ष प्रदान किया गया।

सिंध का आत्मसमर्पणः प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध (1839-42), जिसे सिंध की भूमि पर लड़ा गया, को सिंध के अमीरों ने कभी भी पसंद नहीं किया, न ही वे उनके क्षेत्र में अंग्रेजी सेनाओं की मौजूदगी को पसंद करते थे। हालांकि, संधि के अंतर्गत उन्हें अंग्रेजों के प्रत्येक कार्य के लिए भुगतान करने को कहा गया। उन्हें उनकी सेवाओं के लिए न तो पुरस्कृत किया गया और न ही प्रशंसा की गई जिसने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उनमें द्वेष एवं अलगाव की भावना का संचार किया। अमीर अंग्रेजों, और एलनबर्ग, के विरुद्ध षड्यंत्रकारी एवं धोखेबाजी की गतिविधियों में लिप्त हो गए। नवीन संधि करने के लिए ऑउट्रम को सिंध भेजा गया। इस संधि के अंतर्गत, अमीरों को अतीत में संधि का उल्लंघन करने की एवज में अपने महत्वपूर्ण प्रांतों को अंग्रेजों को सौंपने, सिंधु नदी में चलने वाले कंपनी के स्टीमर्स को ईंधन आपूर्ति करने और सिक्के छापने बंद करने की शर्तें आरोपित की गईं। इससे आगे, उत्तराधिकार के विवाद में, अंग्रेजों ने नेपियर के द्वारा इसमें हस्तक्षेप किया, और जब अमीरों ने विद्रोह कर दिया तो उनके विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया। पूरे सिंध ने थोड़े समय में ही आत्मसमर्पण कर दिया, और अमीरों को बंदी बना लिया गया और सिंध से निर्वासित कर दिया गया। 1843 में, गवर्नर-जनरल एलनबर्ग के अधीन, सिंध को ब्रिटिश राज्य/शासन में मिला लिया गया और चार्ल्स नेपियर को इसका प्रथम गवर्नर नियुक्त किया गया।

सिंध विजय की आलोचना

सामान्यतः इतिहासकार अंग्रेजों द्वारा सिंध विजय की कड़ी शब्दों में आलोचना करते हैं। सिंध को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने की स्थितियों एवं कारणों को जानबूझकर तैयार किया गया। भारत में अंग्रेजों की विजय के प्रकरणों की भांति, अफगान युद्ध भी बाहुबल एवं धमकी भरी चालों तथा धोखों की कहानी है। हालांकि, प्रथम अफगान युद्ध के उदाहरण के तौर पर, अंग्रेज निरंतर सम्मान की हानि समेत अफगानों से बुरी तरह भयभीत एवं पीड़ित थे। इसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए, उन्होंने सिंध को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया।

पंजाब विजय

सिक्खों के अधीन पंजाब का एकीकरण

गुरु गोविंद सिंह की हत्या के बाद फेजुल्लापुर के कपूर सिंह ने खालसा दल की नींव डाली। खालसा दल तथा अन्य सिख सरदारों के एकीकृत हो जाने के कारण पंजाब

में सिखों की स्थिति मजबूत हुई और उनके प्रयासों से मुगल शासन समाप्त-प्राय हो गया। इसके बाद सिखों ने 1773 ई. के अंत तक पंजाब के समस्त मैदानी भाग एवं पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में अटक तथा उत्तर में पहाड़ी भाग से लेकर दक्षिण में मुल्तान तक अपना साम्राज्य विस्तार किया। इस प्रकार सिखों को एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना में सफलता मिली। परंतु, उनमें शासकीय इकाई का अभाव था। वे बारह मिस्लों में बंटे हुए थे।

सुकरचकिया मिस्ल एवं रणजीत सिंह

सुकरचकिया मिस्ल के प्रमुख रणजीत सिंह ने अपनी योग्यता और बुद्धिमत्ता से सम्पूर्ण सिख मिस्लों को मिलाकर एक संगठित सिख-शक्ति का निर्माण किया। रणजीत सिंह के समय में 12 सिख मिस्लें थीं– *अहलूवालिया, भांगि, डलवालिया, फैज्जुलापुरिया, कन्हैया, करोड़ा सिंहिया, नकाई, निहांग, निशानवाला, फुलकिया, रामगढ़िया, सुकरचकिया*। रणजीत सिंह सुकरचकिया मिस्ल के थे। रणजीत सिंह ने न केवल स्थानीय क्षेत्रों को जीतने की चेष्टा की, अपितु डोगरों, नेपालियों एवं अफगानों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित किए। 1799 ई. में अफगानिस्तान के शासक जमानशाह ने रणजीत सिंह को लाहौर के प्रान्तीय शासक का पद दिया। 1805 ई. तक रणजीत सिंह ने अमृतसर एवं जम्मू पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार, अब पंजाब की राजनीतिक राजधानी लाहौर और धार्मिक राजधानी *अमृतसर* दोनों पर रणजीत सिंह का अधिकार हो गया।

रणजीत सिंह एवं अंग्रेज

उधर नेपोलियन की बढ़ती शक्ति एवं फ्रांस तथा रूस की मित्रता के कारण अंग्रेज उत्तर-पश्चिमी-सीमा को असुरक्षित पा रहे थे। अस्तु, उन्होंने 25 अप्रैल, 1809 ई. को रणजीत सिंह के साथ *'अमृतसर की सन्धि'* कर ली, जिसका सर्वप्रमुख उपबन्ध था कि सतलज नदी दोनों राज्यों के बीच की सीमा मान ली गई।

1823 ई. तक रणजीत सिंह और अंग्रेज दोनों अलग-अलग क्षेत्रों में राज्य विस्तार करते रहे। अब तक रणजीत सिंह ने कांगड़ा (1811 ई.), अटक (1813 ई.), मुलतान (1811 ई.), कश्मीर (1819 ई.) और पेशावर (1823 ई.) पर अधिकार कर लिया था। रणजीत सिंह सिन्ध पर भी अधिकार करना चाहता था, पर अंग्रेजों ने कूटनीति से उसे रोके रखा। रणजीत सिंह को *1814 ई. में अफगानिस्तान के शासक ने कोहिनूर हीरा भेंट किया था*। रणजीत सिंह की सैनिक शक्ति किसी भी अन्य समकालीन भारतीय शक्ति से अधिक थी, पर वह अंग्रेजों की क्षमता से भी परिचित था। इसलिए, उसने कभी-भी अंग्रेजों से युद्ध की स्थिति नहीं पैदा की और अंग्रेजों ने भी उसके जीवित रहते पंजाब पर आक्रमण नहीं किया। किंतु, दुर्भाग्यवश 1839 ई. में रणजीत सिंह की

मृत्यु हो गयी और उसका कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी न बन सका। उनके उत्तराधिकारी के रूप में कई दुर्बल और अदूरदर्शी शासक हुए। कुचक्री राजनीतिज्ञों तथा महत्वाकांक्षी सेनापतियों के षड्यंत्रों के फलस्वरूप 1845 से 1849 ई. के चार वर्षों के अल्प समयांतराल में सिखों को दो युद्धों का सामना करना पड़ा, जिससे उनका स्वतंत्र राज्य अस्तित्वहीन हो गया।

रणजीत सिंह के पश्चात् पंजाब

राजदरबार में गुटबंदी की शुरुआतः रणजीत सिंह का एकमात्र वैध पुत्र एवं उत्तराधिकारी, खड़क सिंह, अल्पबुद्धि था, और उसके छोटे-से शासनकाल के दौरान राजदरबार में गुटबंदी तीव्र हो गईं। 1839 में खड़क सिंह की अकस्मात मृत्यु और उसके पुत्र राजकुमार नव निहाल सिंह की दुर्घटनावश मृत्यु (जब वह अपने पिता की अंत्येष्टि से लौट रहा था) ने पंजाब में अराजक स्थिति को जन्म दिया। लाहौर के राजसिंहासन के हासिल करने लिए विभिन्न संगठनों एवं समूहों ने योजनाएं एवं प्रति योजनाएं बनाईं तथा इसने अंग्रेजों को निर्णायक चाल चलने का अवसर प्रदान किया। सेना—जो सिक्ख राज्य का स्तंभ थी—बेहद कमजोर हो गई थी। रणजीत सिंह के योग्य सेनापतियों—मोहकम चंद, दीवान चंद, हरि सिंह नालवा, और राम दयाल—की पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। समय पर वेतन न मिलने के कारण सेना में पहले ही असंतोष बढ़ता जा रहा था। अयोग्य अधिकारियों की नियुक्ति ने अनुशासनहीनता को बढ़ावा दिया। लाहौर सरकार, अंग्रेजी कम्पनी के साथ मित्रता की नीति को जारी रखे हुए थी, ने ब्रिटिश सेना को अपने क्षेत्र से गुजरने की अनुमति दी—एक बार, जब वे अफगानिस्तान से भाग रहे थे, और दूसरी बार, जब वे अपनी हार का बदला लेने के लिए फिर से अफगानिस्तान की ओर कूच कर रहे थे। इन युद्ध संबंधी अंग्रेजी सेना के कूचों के परिणामस्वरूप पंजाब में हो-हल्ला एवं आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न हुई।

रानी जिंद एवं दलीप सिंहः नव निहाल सिंह की मृत्यु के पश्चात्, शेर सिंह, जो रणजीत सिंह का दूसरा बेटा था, को राजगद्दी सौंपी गई, लेकिन 1843 में उसकी हत्या कर दी गई। उसके तुरंत बाद, दलीप सिंह, जो रणजीत सिंह का अवयस्क पुत्र था, को महाराजा घोषित किया गया तथा रानी जिंद को प्रतिशासन व्यवस्थापक और हीरा सिंह डोगरा को वजीर नियुक्त किया गया। हीरा सिंह दरबारी षड़यंत्र का शिकार हो गया और 1844 में उसकी हत्या कर दी गई। रानी जिंद के भाई जवाहर सिंह को नया वजीर नियुक्त किया गया, लेकिन जल्द ही उसने सेना की नाराजगी मोल ले ली और उसे अपदस्थ कर दिया गया तथा 1845 में उसकी मृत्यु हो गई। लाल सिंह, रानी जिंद का एक प्रेमी, सेना को अपने पक्ष में करने में सफल हुआ और उसी वर्ष वजीर बन गया और तेजा सिंह को सेना का सेनापति नियुक्त किया गया।

प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध (1845-1846)

1843 ई. में सिन्ध पर अधिकार कर लेने के बाद और रणजीत सिंह का भय समाप्त हो जाने के बाद अंग्रेज पंजाब पर अधिकार करने की ताक में थे। दिसम्बर, 1845 ई. में पंजाब की सेना ने इसका बहाना भी उन्हें दे दिया। पंजाब की सेना ने अपने अल्पवयस्क *राजा दलीप सिंह* और उसकी संरक्षिका *जिन्द कौर से* बलात् राजाज्ञा लेकर सतलज, जो कि सिख व कम्पनी-राज्य की सीमा मान ली गई थी रणजीत सिंह के समय में, के पार आक्रमण कर दिया। *मुदकी* (18 दिसम्बर), *फिरोजशाह* (21-22 दिसम्बर), *आलीवाल* (28 जनवरी, 1846), *सुब्बारहान* (10 फरवरी) की चार लड़ाइयों में सिख सेना बुरी तरह पराजित हुई और सिखों को *लाहौर की सन्धि* के लिए विवश होना पड़ा। अंग्रेजों ने लाहौर, जम्मू-कश्मीर आदि क्षेत्रों पर तो अधिकार कर ही लिया; सिखों की सेना में भी भारी कटौती कर दी तथा लाहौर में अंग्रेज रेजीडेंट की नियुक्ति कर दी।

लाहौर की संधि (1846): प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध की समाप्ति मार्च, 1846 ई. की लाहौर की संधि से हुई। संधि के प्रावधानों के तहत् पंजाब के राजा दलीप सिंह ने सतलज के दक्षिण के प्रदेश, सतलज तथा व्यास नदियों के दोआब के सभी प्रदेश एवं दुर्ग अंग्रेजों को प्रदान किए। सिख सेना की संख्या सीमित कर दी गई। अंग्रेजी सेना को पंजाब में निर्बाध रूप से विचरण का अधिकार मिला और यह भी निर्धारित हुआ कि पंजाब में अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य विदेशी (यूरोपीय) को नौकरी नहीं दी जाएगी। दलीप सिंह को पंजाब का महाराजा स्वीकार किया गया, झिन्दन उसकी संरक्षिका बनी तथा लाल सिंह को उसका प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। अब पंजाब की जगह लाहौर में सरकार की स्थापना हुई और ब्रिटिश गवर्नर जनरल ने उसके आंतरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करने का आश्वासन दिया।

भैंरोवाल की संधि: सिक्ख, कश्मीर के मामले में लाहौर संधि से संतुष्ट नहीं थे, इसलिए उन्होंने विद्रोह कर दिया। दिसंबर 1846 में भैंरावाल की संधि की गई। इस संधि के प्रावधानों के अनुसार, रानी जिंद को प्रतिशासन व्यवस्थापक के पद से हटा दिया गया और पंजाब के लिए एक प्रतिशासन परिषद् गठित की गई। परिषद् में अंग्रेज रेजीडेंट, हेनरी लॉरिंस की अध्यक्षता में 8 सिक्ख सरदारों को शामिल किया गया, और इस प्रकार अंग्रेजों ने सम्पूर्ण पंजाब पर अपना अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित कर लिया।

द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध (1848-49)

लाहौर की संधि और भैंरोवाल की संधि सिखों के लिए पूर्ण रूप से अपमानजनक थी और इसे स्वीकार कर पाना उनके लिए असंभव था। संधि के बाद बहुत से सिख सैनिकों को सेवामुक्त कर दिया गया था, जिससे वे बहुत ही अधिक रुष्ट थे। इन सैनिकों तथा राजपरिवार के विक्षुब्धों ने अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र शुरू कर दिया।

षड्यंत्र के क्रम में अप्रैल, 1848 ई. में दो अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी गई और आगे अनेक ऐसी घटनाएं घटित हुईं। अंततः, 21 फरवरी, 1849 को अंग्रेजों ने 'गुजरात युद्ध' में सिखों को बुरी तरह से पराजित किया तथा गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी ने पंजाब राज्य को ब्रिटिश राज्य के अतर्गत अधिगृहीत कर लिया। सिखों को कृपाण के अतिरिक्त किसी प्रकार के शस्त्रास्त्र के रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा महाराजा दलीप सिंह को पेंशनयाफ्ता बनाकर इंग्लैण्ड भेज दिया गया। इस प्रकार, एक और राज्य कम्पनी शासन की साम्राज्यवादी नीति का शिकार हुआ।

आंग्ल-सिख युद्धों का महत्व

1845-46 और 1848-49 के आंग्ल-सिख युद्धों से भारत में अंग्रेजों को अद्वितीय सैन्य अनुभव प्राप्त हुआ, जो अपने विरोधियों के सैन्य कौशल पर ध्यान देने की अपेक्षा क्षेत्र या जलवायु जैसे कारकों पर ध्यान देने के अभ्यस्त हो चुके थे। लाहौर के सिख साम्राज्य की सेना नियमित टुकड़ियों और यूरोपियन तर्ज पर शस्त्रों से सुसज्जित सैनिकों ने ब्रिटिश सेना के सम्मुख दृढ़ निश्चयी एवं साधन-संपन्न शत्रु को प्रस्तुत कर दिया था।

आंग्ल-सिख युद्धों ने दोनों पक्षों के युद्ध कौशल को आपसी/पारस्परिक सम्मान प्रदान किया। सिखों ने 1857 के भारतीय विद्रोह में ब्रिटिश शासन के लिए निष्ठापूर्वक युद्ध किया और विभिन्न अन्य अभियानों तथा 1947 में भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति तक कई युद्धों में अंग्रेजों का साथ दिया।

ब्रिटिश प्रभुता का प्रशासनिक नीति द्वारा विस्तार

ब्रिटिश परमोच्चता की साम्राज्यवाद विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया, कंपनी द्वारा 1757-1857 के दौरान, दो-तरफा पद्धति—(i) विजय एवं युद्ध द्वारा समामेलन की नीति; और (ii) कूटनीतिक एवं प्रशासनिक तंत्र द्वारा समामेलन की नीति—के माध्यम से किया गया। हम यह पहले ही विवेचित कर चुके हैं कि कंपनी ने किस प्रकार बंगाल, मैसूर, मराठा और सिख जैसी बड़ी भारतीय शक्तियों को एक-एक कर परास्त एवं अधीन किया, मुख्य रूप से उनके विरुद्ध युद्ध करके। लेकिन अन्य कई शक्तियों को अधीन करने के लिए ब्रिटिश शासकों ने कूटनीतिक एवं प्रशासनिक नीतियों को आजमाया। इस संदर्भ में, हम वारेन हेस्टिंग्ज की 'रिंग-फेन्स' पॉलिसी, वेलेजली की 'सहायक संधि' और डलहौजी की 'व्यपगत सिद्धांत' को उद्धृत कर सकते हैं और देख सकते हैं कि भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व का विस्तार किस प्रकार हुआ।

घेरे (रिंग-फेन्स) की नीति

वारेन हेस्टिंग्स ने गवर्नर-जनरल के रूप में उस नाजुक समय में पद संभाला जब ब्रिटिश (अंग्रेज) मराठा, मैसूर और हैदराबाद जैसे शक्तिशाली संयोग का सामना कर रहे थे। उसने रिंग-फेन्स की नीति का अनुसरण किया जिसका उद्देश्य बफर जोन्स बनाकर

कंपनी की सीमाओं की रक्षा करना था। वारेन हेस्टिंग्ज की यह नीति मराठा और मैसूर के साथ उसके युद्ध में प्रतिबिम्बित हुई। इस प्रकार रिंग-फेन्स के भीतर शामिल किए गए राज्यों को, उनके स्वयं के खर्चों पर, बाहरी आक्रमण के विरुद्ध सैन्य मदद देने का भरोसा दिया गया। वस्तुतः वेलेजली की सहायक संधि की नीति रिंग-फेन्स व्यवस्था का विस्तार थी।

सहायक संधि

यह एक प्रकार की मैत्री संधि थी, जिसका प्रयोग 1798-1805 तक भारत के गवर्नर-जनरल रहे लॉर्ड वैलेजली ने भारत के देशी राज्यों के संबंध में किया था। इस संधि के प्रयोग से भारत में अंग्रेजी सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो गयी तथा नेपोलियन का भय भी टल गया। इस प्रणाली ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार में विशिष्ट भूमिका का निर्वहन किया तथा इसके द्वारा अंग्रेजों को भारत में एक विस्तृत क्षेत्र की प्राप्ति हुई।

यद्यपि वैलेजली इस संस्था का आविष्कारक नहीं था। इस प्रणाली का अस्तित्व पहले से ही था तथा वह धीरे-धीरे विकसित हुई। संभवतः डूप्ले प्रथम यूरोपीय था जिसने इस संधि का प्रयोग पहली बार भारत में किया। कालांतर में वैलेजली ने इसे व्यापक रूप से अपनाया। इस संधि की विशेषतायें निम्नानुसार थीं:

(i) भारतीय राजाओं के विदेशी संबंध कंपनी के अधीन होंगे। वे कोई युद्ध नहीं करेंगे तथा अन्य राज्यों से विचार-विमर्श कंपनी करेगी।

(ii) बड़े राज्य अपने यहां अंग्रेजी सेना रखेंगे, जिसकी कमान अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में होगी। यद्यपि ये राज्य उस सेना का खर्च उठायेंगे।

(iii) राज्यों को अपनी राजधानी में एक अंग्रेज रेजिडेंट रखना होगा।

(iv) राज्य, कंपनी की अनुमति के बिना किसी यूरोपीय को अपनी सेवा में नहीं रखेंगे।

(v) कंपनी, राज्य की शत्रुओं से रक्षा करेगी।

(vi) कंपनी, राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।

सबसे पहले यह संधि 1798 ई. में हैदराबाद के निजाम से की गई। फिर मैसूर (1799), तंजौर (अक्टूबर 1799), अवध (नवंबर 1801), पेशवा (दिसंबर 1801), बराड़ के भोंसले (दिसंबर 1803), सिंधिया (फरवरी 1804), जोधपुर, जयपुर, मच्छेड़ी, बूंदी तथा भरतपुर के साथ की गयी। इस संधि द्वारा अंग्रेजों को अत्यधिक लाभ मिला किंतु, भारतीय रियासतों को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। उनकी स्वतंत्रता समाप्त हो गयी तथा वे अंग्रेजों की दया पर आश्रित हो गये। उन्हें आर्थिक बोझ भी वहन करना पड़ा। जिन राज्यों ने सहायक संधि स्वीकार की, उन पर इस व्यवस्था के दूरगामी परिणाम हुए।

व्यपगत का सिद्धांत (डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स)

इस नीति का प्रयोग 1848-56 ई. तक भारत के गवर्नर जनरल रहे लॉर्ड डलहौजी ने किया। इसे 'व्यपगत का सिद्धांत' या 'शांतिपूर्ण विलय की नीति' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत के द्वारा कुछ महत्वपूर्ण रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर ली गयीं। डलहौजी का मानना था कि झूठे रजवाड़ों और कृत्रिम मध्यस्थ शक्तियों द्वारा प्रशासन की पुरानी-पद्धति से प्रजा की परेशानियां बढ़ती हैं। इसीलिये उसने ऐसे सभी राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। वास्तव में डलहौजी की स्पष्ट एवं सीधी स्कॉटिश मनोभावना यह चाहती थी कि मुगल सर्वसत्ता के मुखौटे को सदैव के लिये समाप्त कर दिया जाये और जो भारतीय राजे मुगलों के उत्तराधिकारी होने का दम भरते हैं, उनका सदैव के लिये अंत कर दिया जाये।

डलहौजी के अनुसार, भारत में तीन प्रकार की रियासतें थीं– (1) वे रियासतें, जो कभी सर्वोच्च सत्ता के अधीन नहीं थीं तथा कर अदा नहीं करती थीं। (2) वे रियासतें, जो कभी मुगलों या मराठों के अधीन थीं तथा अब अंग्रेजों के अधीन आ गयी थीं। तथा (3) वे रियासतें, जो अंग्रेजों द्वारा जीवित या पुनर्स्थापित की गयी थीं।

इस प्रकार डलहौजी ने ऐसी सभी रियासतों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का प्रयास किया जो उसके अधीन नहीं थीं। उसने इस नीति द्वारा जिन राज्यों या रियासतों

अवध का समामेलन

सहायक संधि के अंतर्गत लाए गए राज्यों में अवध सबसे पुराना राज्य था। अवध की स्वतंत्र राज्य के रूप में घोषणा *सआदतख़ां बुरहानमुल्क* ने 1724 ई. में की, जो अवध में मुग़ल का सूबेदार था। इससे पहले वह बयाना का फौज़दार एवं आगरे का सूबेदार भी रह चुका था। सआदत खां के बाद अवध के नवाब मुग़ल सम्राट के वज़ीर भी होते थे और इसलिए ये 'नवाब वज़ीर' भी कहलाते थे। सआदत ख़ां ने 1724 ई. से 1739 ई. तक शासन किया। उसके बाद उसका भतीजा और दामाद *सफदरज़ंग* अवध का नवाब वज़ीर हुआ, जिसने 1754 ई. तक शासन किया। सफदरजंग के बाद *शुजाउद्दौला* (1754-1775 ई.) अवध का नवाब वज़ीर हुआ। 1764 ई. के 'बक्सर युद्ध' में वह भी बंगाल के नवाब एवं मुगल सम्राट् शाहआलम के साथ अंग्रेजों से पराजित हुआ था। अवध का अगला उल्लेखनीय नवाब सआदत खां (1798-1814 ई.) हुआ, जिसके समय में अवध ने अंग्रेजों से सहायक सन्धि कर ली। जब तक अंग्रेजों का मराठों पर नियंत्रण स्थापित नहीं हो गया, तब तक अंग्रेजों ने अवध को *'मध्यवर्ती राज्य'* बनाए रखा। अवध का अंतिम नवाब *वाजिदअली शाह* (1847-1856) हुआ। 1856 ई. में कुशासन का आरोप लगाकर अवध को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

को कंपनी साम्राज्य में मिला लिया, वे इस प्रकार थीं—सतारा (1848), जैतपुर और संभलपुर (1849), बघाट (1850), उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854)।

डलहौजी ने अनेक मनमाने सिद्धांतों के आधार पर इस नीति के द्वारा अनेक रियासतों को कंपनी साम्राज्य के अधीन हड़प लिया। इस नीति से कई भारतीय रियासतों की स्वतंत्रता छिन गयी तथा कई रियासतों का अस्तित्व सदैव के लिये समाप्त हो गया। इस नीति के कारण बची हुई रियासतों के शासक अत्यंत घबरा गये तथा वे मानने लगे कि उनका साम्राज्य छिनना कुछ समय का प्रश्न है। डलहौजी की इस नीति से भारतीय रियासतों में तीव्र असंतोष उत्पन्न हुआ तथा यह 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बना।

इस प्रकार डलहौजी ने अपने गवर्नर-जनरल के रूप में आठ वर्षों के कार्यकाल (1848-56) के दौरान भारत में ब्रिटिश साम्राज्य में आठ राज्यों का समामेलन किया।

ब्रिटिश भारत का सीमावर्ती देशों के साथ संबंध

जिस समय भारत में ब्रिटिश सत्ता कायम थी, उस समय भारत की सीमा पर नेपाल, तिब्बत, बर्मा और अफगानिस्तान मुख्य रूप से अपना अस्तित्व कायम रखे हुए थे। भारतीय शासकों के इन देशों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध थे, परंतु अंग्रेजों ने बारी-बारी से इनकी स्वतंत्रता समाप्त कर दी और वहां अपना अधिकार स्थापित कर लिया। 1816 ई. में नेपाल, 1855 ई. में बर्मा, 1904 ई. में तिब्बत और 1922 ई. में अफगानिस्तान ने अंग्रेजों के साथ संधि कर ली। नेपाल को अंग्रेजों ने अपना मित्र राज्य बना लिया और तीन युद्धों के बाद रूस के हस्तक्षेप के कारण अफगानिस्तान की स्वतंत्रता भी कायम रखी गई।

आंग्ल-भूटान संबंध

1824 में आंग्ल-बर्मा युद्ध के परिणामस्वरूप, 1826 में असम के अंग्रेजों के अधिकार क्षेत्र में आ जाने से, ब्रिटिश साम्राज्य पर्वतीय राज्य भूटान के नजदीकी संपर्क में आया। असम और बंगाल के समीपवर्ती क्षेत्रों में भूटानी लोगों द्वारा निरंतर छापेमारी और 1863-64 में एल्गिन के दूत के साथ बुरा व्यवहार और उस पर थोपी गई संधि, जिसके अंतर्गत असम को जाने वाले दर्रों को अंग्रेजों द्वारा छोड़ने को बाध्य किया गया, ने अंग्रेजों को इन दर्रों का समामेलन करने को प्रवृत्त किया। 1865 में, भूटान को वार्षिक अनुदान के बदले में इन दर्रों को छोड़ने को बाध्य किया गया। समर्पित किए गए जिलों में बेहद उत्पादक चाय बागान बनाए गए।

आंग्ल-नेपाल संबंध

भारत की ओर से नेपाल पर पहला अभियान बंगाल के नवाब मीर कासिम द्वारा 1762 ई. में किया गया था, परंतु उस समय उसकी सेना पराजित होकर लौट गई थी। उसके बाद बेहटा के अंग्रेजी व्यापारिक रेजिडेंट ने नेपाल पर आक्रमण किया, परंतु उसे भी

असफलता ही हाथ लगी। 1792 ई. में अंग्रेजों ने नेपाल के साथ एक व्यावहारिक संधि की। 1802 ई. में कम्पनी की ओर से कैप्टन नौक्स तथा कर्नल कीरपैट्रिक के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमण्डल नेपाल भेजा गया। यह प्रतिनिधिमण्डल भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रहा। नेपाल 18वीं सदी में काफी शक्तिशाली था और अपने राज्य के विस्तार में प्रयत्नशील था। उत्तर में चीन की ओर विस्तार असंभव था, इसलिए उसने दक्षिण में ही विस्तार की नीति अपनायी। 1801 ई. में नेपाल ने गोरखपुर पर अधिकार कर लिया, जिससे ब्रिटिश भारत और नेपाल की सीमाएं मिल गयीं। हिमालय के तराई भाग में नेपाल और ब्रिटिश भारत की सीमाएं निर्धारित नहीं हो पायी थीं। अतः, सीमा-निर्धारण के लिए दोनों के बीच संघर्ष अवश्यंभावी हो गया था। इसी संघर्ष की स्थिति में अंग्रेजों और नेपाल के बीच 1814 ई. में युद्ध की शुरुआत हो गई।

आंग्ल-नेपाल युद्धः 1813 ई. में लॉर्ड हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल बनकर भारत आया और भारत आने के साथ ही उसे गोरखों के साथ संघर्ष करना पड़ा। 1814 ई. में आंग्ल-नेपाल युद्ध शुरु हो गया। हेस्टिंग्स ने तीन ओर से नेपाल को घेरने की योजना बनायी। कर्नल ऑक्टरलोनी को सतलज नदी की ओर से, मेजर जनरल मार्ले को पटना की ओर से तथा जॉनवुड को गोरखपुर से नेपाल की राजधानी की ओर अभियान के लिए भेजा गया। हेस्टिंग्स ने मेजर जिलेस्पी को मेरठ की ओर से कर्नल ऑक्टरलोनी को सहायता देने का निर्देश किया। आरंभ में गोरखा सैनिकों ने अंग्रेजी सेना का वीरतापूर्वक सामना किया, परंतु अप्रैल, 1815 ई. से गोरखा सेना की शक्ति कमजोर पड़ने लगी। इस समय कर्नल निकोलस तथा गार्नर ने अल्मोड़ा तथा कुमायूं पर अधिकार कर लिया। ऑक्टरलोनी ने मई, 1815 ई. में गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा से मालोन का किला छीन लिया।

युद्ध के दौरान ही अंग्रेजों ने कुछ पहाड़ी जातियों को अपनी सेना में भर्त्ती कर लिया, जिससे उन्हें युद्ध में काफी सहायता मिली। युद्ध में पराजय की स्थिति को देखते हुए गोरखों ने अंग्रेजों के साथ संधि का प्रस्ताव रखा। परंतु, नेपाल में उग्रदल के बहुमत में होने तथा अंग्रेजों द्वारा संधि के लिए कठोर शर्त्तें रखे जाने के कारण संधि वार्ता नहीं हो सकी। इन परिस्थितियों में आंग्ल-नेपाल युद्ध फिर से शुरू हो गया। 28 फरवरी, 1816 ई. तक कर्नल डेविड ऑक्टरलोनी ने मकबनपुर में गोरखा सेना को बुरी तरह से पराजित कर दिया। मकबनपुर में निर्णायक युद्ध के बाद दोनों पक्षों के बीच संधि वार्ता चली और नेपाल दरबार ने मार्च, 1816 ई. में सगौली की संधि का प्रस्ताव मान लिया।

सगौली की संधिः मार्च, 1816 ई. में संपन्न सगौली की संधि से आंग्ल-नेपाल युद्ध की समाप्ति हुई। इस संधि में निम्न शर्त्तों का प्रावधान किया गयाः

(i) नेपाल ने अंग्रेजों को गढ़वाल और कुमायूं जिले के साथ-साथ हिमालय की तराई का अधिकांश क्षेत्र अंग्रेजों को प्रदान करना स्वीकार किया।

(ii) अंग्रेजी राज्य (ब्रिटिश भारत) और नेपाल राज्य की सीमा निश्चित की गई।

(iii) नेपाल ने सिक्किम से अपने सभी अधिकार वापस ले लिए।

(iv) नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में एक ब्रिटिश रेजिडेंट को रखे जाने की अनुमति ली।

सगौली की संधि से अंग्रेजों को बहुत अधिक लाभ हुआ। नेपाल, अंग्रेजों का मित्र राज्य बन गया। इसके बाद से अंग्रेजों को भारी मात्रा में गोरखा सैनिक प्राप्त होते रहे। इस संधि के बाद शिमला, मसूरी और नैनीताल भी अंग्रेजों को प्राप्त हुए। अब अंग्रेजों को मध्य एशिया में अभियान के लिए सुगम मार्ग भी उपलब्ध हो गया।

आंग्ल-बर्मा संबंध

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में बर्मा एक स्वतंत्र देश था और बर्मा अंग्रेजों के लिए खतरा साबित हो सकता था। इसलिए, कम्पनी बर्मा के प्रति कुछ अधिक ही सतर्क थी। सतर्क होना आवश्यक भी था, क्योंकि 1817-18 ई. में बर्मा के सैनिक अभियान के कारण असम में खतरा उत्पन्न हो गया था। उस समय स्याम् के लोगों द्वारा हस्तक्षेप करने और बर्मी सेना को पराजित कर दिए जाने के कारण यह खतरा तत्काल टल गया। परंतु, 1823 ई. में बर्मियों ने कम्पनी के द्वीप शाहपुरी पर आक्रमण कर असम की सीमा पर उत्पात मचाना शुरू कर दिया। इन परिस्थितियों में आंग्ल-बर्मा युद्ध का सूत्रपात हुआ। प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध 1823-1824 ई. के बीच लड़ा गया, द्वितीय बर्मा युद्ध 1852 ई. में लड़ा गया तथा तीसरा और अंतिम बर्मा युद्ध 1885 ई. में लड़ा गया। तीसरे बर्मा युद्ध में अंग्रेजों ने निर्णायक विजय प्राप्त की और बर्मा अंग्रेजी राज्य का हिस्सा बना लिया गया।

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्धः सन् 1822 में ब्रह्मा के सेनापति महाबुंदेला ने असम पर अधिकार जमा लिया। फिर उसने मणिपुर भी जीत लिया। जब उसने कछार राज्यों को भी जीतना चाहा तो लॉर्ड एमहर्स्ट ने इसका विरोध किया। इस प्रकार, बर्मा सरकार तथा अंग्रेजों के बीच प्रथम अनबन हुई। आवा सरकार द्वारा शाहपुरी द्वीप पर अधिकार करने से अंग्रेज रुष्ट हो गए। अंग्रेजी सेना ने शाहपुरी द्वीप पर कब्जा कर लिया और बर्मा के विरोध करने पर 24 फरवरी, 1824 ई. को उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

आक्रमण के लिए अंग्रेजों ने दो तरफ से सेनाएं भेजीं। पहली सेना उत्तर-पूर्व के स्थल मार्ग से तथा दूसरी सेना मेजर जनरल सर आर्चीबॉल्ड कैंपबेल के नेतृत्व में समुद्री मार्ग से। बर्मी सेनापति महाबुंदेला ने चटगांव के निकट रामू नामक स्थान पर अंग्रेजों की एक सेना को परास्त कर दिया किंतु दूसरी ओर 11 मई, 1824 ई. को अंग्रेजों ने रंगून जीत लिया। 1825 ई. में अंग्रेजों ने असम भी जीत लिया। इसी समय सेनापति महाबुंदेला अंग्रेजी सेना के साथ युद्ध में मारा गया। कैंपबेल ने तीन हफ्ते पश्चात् नीचे

से 'प्रोम' पर अधिकार कर लिया। जब अंग्रेज बर्मा की राजधानी याडूंब से 60 मील दूर रह गए तब बर्मियों ने संधि का प्रस्ताव किया।

याडूंब की संधि (24 फरवरी, 1826 ई.): इस संधि की प्रमुख शर्तें निम्नानुसार थीं:

1. टेनासिरिम और अराकान के प्रांत बर्मा सरकार ने अंग्रेजों को दे दिया।
2. मणिपुर को स्वतंत्र मान लिया गया।
3. उसने असम और कछार राज्यों से अपने अधिकार को छोड़ दिया।
4. बर्मा सरकार ने एक करोड़ रुपये क्षतिपूर्ति के लिए दिए।
5. आवा सरकार ने अंग्रेज रेजिडेंट रखना स्वीकार किया।

इस युद्ध से अंग्रेजों को बहुत लाभ हुआ तथा उन्हें उत्तर-पूर्व में पर्याप्त भूमि प्राप्त हो गई।

यांडूब की संधि से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और ब्रिटिश सरकार लॉर्ड एम्हर्स्ट के इस कार्य से प्रसन्न हुई और एमहर्स्ट को 'अर्ल ऑफ अराकान' की उपाधि दी गई।

द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध: यांडूब की संधि से प्रथम बर्मा युद्ध की समाप्ति हुई थी, किंतु बर्मा के नए शासक ने इस संधि की शर्तों को अपमानजनक मानते हुए उसके पालन से इनकार कर दिया। इस बीच जनवरी, 1848 ई. में लॉर्ड डलहौजी गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। डलहौजी ने सभी यूरोपीय देशों को बर्मा से अलग रखने की नीति अपनायी और किसी भी प्रकार से बर्मा पर अंग्रेजी आधिपत्य करने का दृढ़ निश्चय किया। फिर, बर्मा के अंग्रेजी व्यापारियों ने भी शिकायतें शुरू कर दी थीं। इस आधार पर डलहौजी ने यह आरोप लगाया कि बर्मा द्वारा यांडूब की संधि का उल्लंघन किया जा रहा है और उसने बर्मा के शासक के पास अंग्रेजी व्यापारियों की क्षतिपूर्ति के लिए आवेदन-पत्र भेजा।

बर्मा के नए शासक धाराबादी ने डलहौजी के प्रस्ताव को तो अस्वीकृत कर ही दिया, राजधानी में स्थापित ब्रिटिश रेजिडेंट को भी बर्मा छोड़ने के लिए कहा जाने लगा। इससे डलहौजी क्रुद्ध हो गया तथा उसने अपनी सभी मांगों को मनवाने के लिए जल सेना के प्रमुख अधिकारी लैम्बर्ट को तीन विशाल युद्धपोतों के साथ रंगून भेजा। शांतिवार्ता के लिए जंगी बेड़ों को भेजना डलहौजी की आक्रामक नीतियों का ही परिचायक था। स्थिति को गंभीर देखते हुए बर्मा के शासक ने अंग्रेजी व्यापारियों की शिकायतों को दूर करने का आश्वासन दिया तथा अपने आश्वासन को विश्वसनीय बनाने के लिए उसने रंगून के गवर्नर को भी पदच्युत कर दिया।

परंतु, लैम्बर्ट ने बाद में रंगून के नए गवर्नर के अंग्रेजी प्रतिनिधियों से नहीं मिलने को अपमानजनक बताया और उसने बर्मा के एक शाही जहाज 'रायल यालोशिप' को लेकर भागने की कोशिश की। इस घटना से बर्मी क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने अपहरण

कर लिए गए जहाज पर गोलीबारी शुरू कर दी। इसी समय 1852 ई. में द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध शुरू हो गया।

डलहौजी ने क्रुद्ध होकर बर्मा के शासक के पास लैम्बर्ट के जहाज पर की गई गोलीबारी के लिए क्षमायाचना का प्रस्ताव भेजा। उसने क्षतिपूर्त्ति के लिए 12,000 पौण्ड देने का वैकल्पिक सुझाव भी दिया। बर्मा के शासक ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया, तो डलहौजी ने जनरल गाडविन को 5,800 सैनिकों तथा अनेक युद्धपोतों के साथ बर्मा अभियान पर भेजा। 14 अप्रैल, 1852 ई. तक गाडविन ने मर्ताबन तथा रंगून पर अधिकार कर लिया। मई, 1852 ई. तक अंग्रेजी सेना ने बसीन के साथ-साथ बर्मा के सम्पूर्ण सागर तट पर अधिकार कर लिया। सितम्बर, 1852 ई. में डलहौजी स्वयं बर्मा पहुंच गया और नवम्बर तक उसने प्रोम और पीगू को अपने कब्जे में कर लिया। दिसम्बर, 1852 ई. की एक घोषणा के अनुसार प्रोम और पीगू अंग्रेजी राज्य का हिस्सा बना लिया गया तथा डलहौजी ने उससे आगे नहीं बढ़ने का निर्णय लिया। इस कारण दोनों पक्षों के बीच किसी संधि के बिना ही युद्ध समाप्त हो गया।

इस युद्ध का मुख्य कारण डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति तथा पूर्व में अंग्रेजों के सम्मान की सुरक्षा की मुख्य भावना थी।

तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्धः बर्मा के राजा भिंडन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र थीबो शासक बना। वह प्रारंभ से ही अंग्रेजों को मित्र नहीं मानता था। अतः 1876 ई. में ही दोनों राज्यों के संबंध खराब हो गए। 1878 ई. में अंग्रेजी रेजिडेंट को बर्मा से वापस बुला लिया गया। 1885 ई. में फ्रांस ने उत्तरी बर्मा से एक व्यापारिक संधि कर ली और अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। माण्डले में एक फ्रांसीसी एजेंट ने भी दौरा किया। अतः लॉर्ड डफरिन सतर्क हो गया।

इस स्थिति को देखते हुए लॉर्ड डफरिन ने बर्मा के शासक के पास माण्डले में एक ब्रिटिश रेजिडेंट रखने की मांग की। इसके साथ ही कई अन्य मांगें भी डफरिन ने बर्मा के शासक के पास भेजीं। परंतु, बर्मा के शासक थीवा ने डफरिन की सभी मांगों को अस्वीकृत कर दिया। इन परिस्थितियों में अंग्रेजी सेना ने 1855 ई. में ऊपरी बर्मा पर आक्रमण कर दिया। मात्र चौदह दिनों के युद्ध में अंग्रेजी सेना ने संपूर्ण ऊपरी बर्मा तथा उसकी राजधानी माण्डले पर भी अधिकार कर लिया। थीबो और उसके कुटुंबी रत्नागिरि भेज दिए गए।

तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध ने स्वतंत्र बर्मा के भाग्य का अंत कर दिया। इस युद्ध के परिणाम अंग्रेजों के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुए। अब संपूर्ण बर्मा पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया तथा अंग्रेजी साम्राज्य की सीमाएं चीन तक विस्तृत हो गयीं। बर्मा के लिए अंग्रेजों ने एक उपराज्यपाल नियुक्त किया तथा संपूर्ण बर्मा की राजधानी रंगून को बनाया गया।

आंग्ल-तिब्बत संबंध

भारत में ब्रिटिश शासन के समय अंग्रेजों के साथ तिब्बत के संबंधों की शुरुआत गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के समय से हुई। हेस्टिंग्स के शासनकाल में 1774-75 ई. में जॉर्ज वोल्गले के नेतृत्व में कम्पनी का एक व्यापारिक शिष्टमण्डल ल्हासा भेजा गया। परंतु, उस समय कोई सकारात्मक परिणाम सामने नहीं आया। 1783 ई. में हेस्टिंग्स ने सैम्युअल टर्नर को ल्हासा भेजा। इसके बाद कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में मैत्रिंग ल्हासा गया, और तिब्बत के दलाई लामा से भी मिला। 1885-86 ई. में चीन की सरकार ने एक ब्रिटिश व्यापार मण्डल को तिब्बत आने की आज्ञा दे दी। यहीं से तिब्बत में अंग्रेजों की घुसपैठ की शुरुआत हो गई।

लॉर्ड कर्जन के समय तिब्बत के साथ संबंधः उन्नीसवीं सदी तक तिब्बत चीन के प्रभाव क्षेत्र में था, लेकिन बाद में उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता के लिए प्रयास शुरू कर दिए। दलाई लामा ने स्वयं को शक्तिशाली शासक के रूप में स्थापित कर लिया। तिब्बत में चीनी प्रभाव को समाप्त करने के लिए दलाई लामा ने रूसी प्रभाव को विस्तार प्राप्त करने दिया। 1898 ई. में दलाई लामा ने रूस की बौद्ध जनता से धार्मिक कार्यों के लिए अनुदान देने का आह्वान किया। भारत की ब्रिटिश सरकार के लिए तिब्बत में रूस का बढ़ता प्रभाव खतरे का संकेतक था। भारत का वायसराय लॉर्ड कर्जन तिब्बत में रूसी प्रभाव के विस्तार को सहन करने की स्थिति में नहीं था।

लॉर्ड कर्जन ने ब्रिटिश सरकार पर इस बात के लिए दबाव डालना शुरू किया कि उसे तिब्बत में सैनिक अभियान के लिए अनुमति प्रदान की जाए। परंतु, ब्रिटिश सरकार ने उसकी सिफारिशों को अस्वीकृत कर दिया। यूरोप में जर्मनी की बढ़ती शक्ति से इंग्लैण्ड घबराया हुआ था और रूस के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना चाहता था, इसलिए कर्जन को तिब्बत अभियान की अनुमति नहीं दी गई। ब्रिटिश सरकार की मजबूरियों को जानने के बाद कर्जन ने सरकार के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि तिब्बत में रूसी प्रभाव को कम करने के लिए खाम्बा जोग में चीनी प्रतिनिधियों के साथ वार्ता की जाए। इस वार्तालाप के द्वारा लॉर्ड कर्जन तिब्बत में अपनी स्थिति मजबूत करना चाहता था। अंततः, ब्रिटिश सरकार ने बाहरी मन से कर्जन को वार्तालाप की स्वीकृति प्रदान कर दी।

यंग हस्बैण्ड अभियानः ब्रिटिश सरकार से अनुमति मिल जाने के बाद लॉर्ड कर्जन ने कर्नल यंग हस्बैण्ड के नेतृत्व में एक मिशन खांबा जोंग भेज दिया। चीनी प्रतिनिधि भी वार्तालाप के लिए निर्धारित स्थल पर यथा समय पहुंच गए, परंतु तिब्बती प्रतिनिधियों ने तब तक वार्ता करने से इनकार किया, जब तक कि अंग्रेजी मिशन तिब्बती सीमा से बाहर नहीं चला जाता है। यंग हस्बैण्ड ने तिब्बती प्रतिनिधियों की शर्त को स्वीकार कर लिया। किंतु, इसी बीच तिब्बती सेना खांबा जोंग के निकटवर्ती

प्रदेशों में एकत्रित होने लगी। ब्रिटिश भारत की अंग्रेजी सरकार के लिए यह स्थिति असहनीय थी।

लॉर्ड कर्जन ने इस अपमानजनक स्थिति से उबरने के लिए ब्रिटिश सरकार से ग्यान्त्से तक अंग्रेजी सेना के प्रवेश की अनुमति मांगी और अनुमति मिलने के बाद मार्च, 1904 ई. में अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी ग्यान्त्से की ओर बढ़ी। तिब्बती सेना ने गुरु नामक स्थल पर अंग्रेजी सेना को रोकने का प्रयास किया, किंतु अंग्रेजी सेना ने तिब्बती सेना को बुरी तरह पराजित किया। अप्रैल, 1904 ई. में अंग्रेजी सेना ने ग्यान्त्से पर अधिकार कर लिया। इस पराजय के बावजूद दलाई लामा अंग्रेजों के साथ संधि के लिए तैयार नहीं हुआ। अब ब्रिटिश सरकार की अनुमति से अंग्रेजी सेना ने तिब्बत की राजधानी ल्हासा की ओर अभियान किया। अगस्त, 1904 ई. में अंग्रेजी सेना ने ल्हासा पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। इस स्थिति में दलाई लामा तिब्बत छोड़कर भाग गया। 7 सितम्बर, 1904 ई. को अंग्रेजों ने दलाई लामा के प्रतिनिधि के साथ ल्हासा की संधि कर ली और आंग्ल-तिब्बत युद्ध समाप्त हो गया।

ल्हासा की संधिः ल्हासा की संधि के द्वारा अंग्रेजों और तिब्बत के बीच युद्ध की समाप्ति हुई और उसमें निम्नांकित प्रावधान किए गएः

(i) अंग्रेजों को ग्यान्त्से, मातुंग और गरतोक में व्यापारिक केंद्र स्थापित करने के अधिकार मिले।

(ii) ग्यान्त्से में ब्रिटिश रेजिडेंट की स्थापना की स्वीकृति मिली। ल्हासा पर भी नियंत्रण रखने का अधिकार मिला। बाद में रूसी हस्तक्षेप से रेजिडेंट के ल्हासा जाने का अधिकार समाप्त कर दिया गया।

(iii) युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए तिब्बत पर 75 लाख रुपए देने का बोझ डाला गया। बाद में रूसी हस्तक्षेप और भारत मंत्री जॉन ब्राडरिक के सुझावों के आधार पर क्षतिपूर्ति की राशि को घटाकर 25 लाख रुपए कर दिया गया।

(iv) हर्जाने की राशि प्राप्त होने तक चुंभी घाटी को अंग्रेजों ने अपने पास बंधक के रूप में रखने का निर्णय किया। बाद में रूसी हस्तक्षेप से तीन वार्षिक किश्तों के भुगतान के बाद ही चुंभी को खाली कर देने का निर्धारण हुआ।

(v) तिब्बत को इस बात के लिए भी बाध्य किया गया कि वह किसी भी विदेशी प्रतिनिधि को तिब्बत में आने की अनुमति नहीं देगा तथा किसी भी विदेशी राज्य को तिब्बत में रेल, सड़क, तार तथा खानों के क्षेत्र में कोई भी सुविधा नहीं दी जाएगी।

संधि का महत्वः इस संधि के तहत कर्जन ने तिब्बत में रूसी प्रभाव के विस्तार मार्गों को अवरुद्ध कर दिया। तात्कालिक परिस्थितियों में कर्जन की तिब्बत नीति सफल प्रतीत होती है, किंतु उसकी इस नीति की आलोचना भी खूब की जाती है। कर्जन की तिब्बत नीति ने ब्रिटिश सरकार के लिए अनेक प्रकार की परेशानियां उत्पन्न कर दीं। कर्जन की इस नीति ने ब्रिटेन तथा रूस के बीच बढ़ रहे मधुर संबंधों में खटास उत्पन्न

कर दी। आलोचकों के एक वर्ग द्वारा यह कहा जाता है कि तिब्बत-विजय से अंग्रेजों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और इस अवधारणा की पुष्टि लोवत फ्रेजर के उस कथन से हो जाती है, जिसमें उसने कहा है कि हम अपने क्षेत्र को आशानुरूप विस्तृत नहीं कर सके और भारत के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रों पर निरर्थक विकट स्थिति उत्पन्न कर ली। परंतु, कर्जन के आलोचकों को यह समझ लेना चाहिए कि उस समय तिब्बत में रूस का बढ़ रहा प्रभाव निश्चित रूप से अंग्रेजों के लिए खतरनाक था और यदि तत्काल भारत की अंग्रेजी सरकार द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया होता, तो तिब्बत के सीमावर्त्ती क्षेत्र से उनके लिए हमेशा खतरा उत्पन्न होता रहता। इस दृष्टि से तत्कालीन परिस्थितियों में कर्जन की सोच सकारात्मक थी, भले ही वह ब्रिटेन की सरकार के लिए संकट उत्पन्न करने वाली साबित हुई।

आंग्ल-अफगान संबंध

भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर अफगानिस्तान राज्य अवस्थित था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूस तीव्र गति से पूर्व दिशा की ओर बढ़ रहा था। धीरे-धीरे वह अफगानिस्तान और फारस की सीमा तक पहुंच गया। यह स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के लिए खतरे का संकेत थी। रूस द्वारा भारत पर आक्रमण का पूर्वानुमान कर रूस से भारत की सुरक्षा हेतु अंग्रेजों द्वारा दो प्रकार की नीतियां बनायी गयीं—(i) अग्रगामी विचारधारा और (ii) कुशल अक्रियता। **अग्रगामी विचारधारा की नीति** के तहत अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया और परिणामस्वरूप अफगान अमीरों के बीच दो युद्ध लड़े गए। **कुशल अक्रियता की नीति** का पालन वायसराय लॉर्ड लारेंस के समय से लेकर वायसराय लॉर्ड नार्थब्रुक तक किया गया। प्रथम अफगान युद्ध में अंग्रेजों को काफी क्षति उठानी पड़ी थी और इसीलिए उसे कुशल अक्रियता की नीति को अपनाना पड़ा था। भारत की ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर इन दोनों ही नीतियों का पालन किया।

प्रथम आंग्ल-अफगान युद्धः यह युद्ध 1839 ई. से लेकर 1842 ई. के बीच चार वर्षों तक लड़ा गया। युद्ध की शुरुआत गवर्नर जनरल लॉर्ड ऑकलैण्ड के समय हुई और समाप्ति गवर्नर जनरल लॉर्ड एलिनबरो के समय। लॉर्ड ऑकलैण्ड 1835 ई. में गवर्नर जनरल बनकर भारत आया।

1826 ई. से अफगानिस्तान में शाहशुजा को हटाकर दोस्त मुहम्मद शासन कर रहा था। रणजीत सिंह ने 1823 ई. में पेशावर को जीत लिया था, जिससे सिख राज्य अफगानिस्तान के लिए एक खतरा बन गया था। अब्दाली वंशज शाहशुजा भी अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने हेतु प्रयासरत था। फारस का शासक मुहम्मद मिर्जा रूस का मित्र था। कंधार का शासक फारस के सहयोग से हेरात प्राप्त करना चाहता था। दोस्त मुहम्मद की स्थिति डांवाडोल थी। इसी समय फारस ने 1837 में हेरात पर

आक्रमण कर दिया। यदि अंग्रेज रणजीत सिंह से पेशावर उसे दिला दें ओर रूस के विरुद्ध अफगानिस्तान का संरक्षण उसे प्राप्त करवा दें तो वह उनसे मित्रता का इच्छुक था। लॉर्ड ऑकलैंड ने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। अतः निराश होकर दोस्त मुहम्मद ने रूस से संधि कर ली।

सितंबर 1836 ई. में कैप्टन एलेक्जेंडर बर्न्स को नाममात्र के लिए व्यापारिक परंतु वास्तव में राजनैतिक उद्देश्यों से अफगानिस्तान भेजा गया और उसी समय रूसी प्रतिनिधि कैप्टन विटकेविच भी अफगानिस्तान गया। लॉर्ड ऑकलैंड उससे अत्यंत रुष्ट हो गया तथा उसने अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

ऑकलैंड ने शाहशुजा को अफगानिस्तान की गद्दी दिलाने के लिए रणजीत सिंह से मिलकर जून 1836 ई. में त्रिदलीय संधि की। नवंबर 1838 ई. में ऑकलैंड ने फिरोजपुर में सेना जमा की। 1839 ई. में अंग्रेजी सेना ने सिंध के मार्ग से अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। इस सेना को 'सिंध की सेना' कहा गया। पहले सर हेनरी फेन तथा बाद में सर जॉन कीन को इसका सेनापति नियुक्त किया गया। सिंध के अमीरों को विवश होकर अंग्रेजों की शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। अंग्रेजों ने भक्कर जीत लिया फिर सिंध के मार्ग से क्वेटा पहुंचे। अप्रैल में शाहशुजा कंधार पहुंचा। 1839 ई. में अंग्रेजों ने गजनी को जीता, फिर 7 अगस्त, 1839 ई. को अंग्रेजी सेना काबुल पहुंच गई। दोस्त मुहम्मद ने आत्मसमर्पण कर दिया फिर उसे बंदी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया। शाहशुजा को सिंहासन मिल गया। 10,000 सेना (अंग्रेजी) काबुल में शाहशुजा की रक्षा के लिए छोड़ दी गई। अंग्रेज भारत वापस आ गए।

ऑकलैंड की अफगान नीतिः ऑकलैण्ड की अफगान नीति सर्वथा दोषपूर्ण थी, क्योंकि इससे अंग्रेजों को सभी दृष्टियों से घाटे का सामना करना पड़ा। गवर्नर जनरल बनने के बाद अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मोहम्मद ने जब उसके पास मित्रता का अनुरोध-पत्र भेजा था और रणजीत सिंह से पेशावर वापस दिलाने का अनुरोध किया था, तब ऑकलैण्ड ने यह कहा था कि स्वतंत्र राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना अंग्रेजों की नीति नहीं है। परंतु, बाद में उसने अपने वक्तव्य को ही धता बताते हुए अफगानिस्तान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति अपनायी।

द्वितीय आंग्ल-अफगान युद्धः द्वितीय अफगान युद्ध प्रारंभ करने का पूर्ण उत्तरदायित्व अंग्रेजों पर था। 1862 से 1872 ई. तक भारत सरकार ने अफगानिस्तान के प्रति तटस्थता की नीति का पालन किया। इससे अफगानिस्तान अंग्रेजों से नाराज हो गया। किंतु लॉर्ड लिटन ने आते ही अग्रगामी नीति अपनाई तथा अमीर शेर अली को शर्तें मानने के लिए राजी कर लिया। परंतु परिस्थितियां विपरीत होने के कारण शेर अली ने कुछ विलंब किया। इसी समय लॉर्ड लिटन ने नैविल चैंबरलिन को राजदूत

बनाकर अफगानिस्तान भेजा। लेकिन उसे खैबर दर्रे से प्रविष्ट होने की अनुमति न मिलने पर लॉर्ड लिटन ने 21 नवंबर, 1778 को युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध की घोषणा होते ही अंग्रेजी सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। एक सेना सर सैमुअल ब्राउन के नेतृत्व में खैबर के दर्रे से, दूसरी मेजर रॉबर्ट्स के नेतृत्व में खुर्रम की घाटी से तथा तीसरी जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में बोलन दर्रे से भेजी गई। शेर अली रूसी तुर्किस्तान की ओर पलायन कर गया। कंधार पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। शेर अली के पुत्र याकूब खां ने अंग्रेजों से गण्डमक की संधि कर ली।

इस संधि के पश्चात् कुछ समय तक शांति बनी रही। कावानगरी ने काबुल में राजदूत का पद संभाल लिया। लेकिन 1879 में काबुल में विद्रोह हो गया। अंग्रेजों ने विद्रोह दबा दिया तथा दोस्त मुहम्मद के नाती तथा अफजलखां के पुत्र अब्दुल रहमान से संधि करके उसे अफगानिस्तान का शासक मान लिया।

गण्डमक की संधिः मई, 1879 ई. में अंग्रेजों एवं याकूब खां के बीच 'गण्डमक की संधि' संपन्न हुई। याकूब खां ने गण्डमक में एक ब्रिटिश रेजिडेण्ट रखना तथा हेरात एवं अन्य सीमावर्ती नगरों में अंग्रेजी प्रतिनिधि रखना स्वीकार कर लिया। उसने अंग्रेजों से परामर्श के बिना किसी विदेशी शक्ति से संपर्क स्थापित नहीं करना स्वीकार किया। याकूब ने खुर्रम दर्रे पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार किया और बोलन दर्रे के निकट पिशीन तथा सिबी नामक दो जिले अंग्रेजों को प्रदान किए। गण्डमक की संधि के तहत अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के अमीर को 6 लाख रुपए वार्षिक देना तथा अफगानिस्तान की सुरक्षा का वचन दिया। इस संधि से भारत का वायसराय लॉर्ड लिटन तथा ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बेंजामिन डिजरैली काफी खुश हुए।

लिटन की अफगान नीतिः 1876 ई. में लॉर्ड लिटन भारत का वायसराय बना। उसके शासनकाल में भारत की ब्रिटिश सरकार द्वारा निश्चित और स्पष्ट विदेश नीति को क्रियान्वित किया गया। लिटन भारत में डिजरैली द्वारा नियुक्त किया गया था। डिजरैली की नीति गौरवपूर्ण पार्थक्य, वैज्ञानिक सीमाओं और अपने प्रभाव क्षेत्रों को कायम रखने की थी। डिजरैली अफगानिस्तान के साथ संबंधों को अनिश्चिततापूर्ण बनाए रखने के पक्ष में नहीं था। इसलिए, उसने लिटन को भारत में यह स्पष्ट आदेश देकर भेजा था कि वह अफगानिस्तान के अमीर के साथ निश्चित, समानांतर और व्यावहारिक संधि स्थापित करे। उसी के आदेश पर लिटन ने अफगानिस्तान के अमीर से यह मांग की कि वह अपने देश में एक ब्रिटिश रेजिडेंट रखे। परंतु, अफगानिस्तान के अमीर ने अनेक कारणों से ब्रिटिश रेजिडेंट को रखने से इनकार कर दिया और अंततः लॉर्ड लिटन को अफगानिस्तान के साथ युद्ध करना पड़ा।

लिटन की अफगान नीति गंभीरतापूर्वक निर्धारित हुई थी और उसका क्रियान्वयन भी दक्षतापूर्वक हुआ था, परंतु उसमें एकमात्र दोष काबुल में एक स्थायी अंग्रेजी रेजिडेंट रखने की जिद थी और इसी दोष ने लिटन की नीति और स्वयं लिटन तथा डिजरैली के सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त किया।

तृतीय आंग्ल-अफगान युद्धः 1884 ई. में जब रूस ने अफगानिस्तान की सीमा पर मर्व पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तब ब्रिटिश सरकार चिंतित हो गई। ब्रिटिश सरकार अब इस बात के लिए प्रयत्नशील हो गई कि रूस और अफगानिस्तान की सीमा का निर्धारण हो जाए। किंतु, रूस एवं अफगानिस्तान के बीच निश्चित सीमा के निर्धारण के क्रम में दोनों पक्षों के बीच पंचदेह मामले को लेकर युद्ध का माहौल उत्पन्न हो गया। अब्दुर्रहमान अंग्रेजों का संरक्षित था, इसलिए इस स्थिति में अंग्रेजों और रूस के बीच युद्ध का संकट उत्पन्न हो गया। परंतु, भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन की दूरदर्शिता तथा अब्दुर्रहमान के व्यवहारिक ज्ञान के कारण युद्ध का संकट टाल दिया गया।

इस बीच अब्दुर्रहमान ने यह घोषणा कर दी कि उसे यह निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि 'पंचदेह' अफगानिस्तान का हिस्सा है या नहीं और इसके साथ ही उसने यह भी कह दिया कि यदि पंचदेह की क्षतिपूर्ति किसी अन्य क्षेत्र से कर दी जाए, तो वह पंचदेह पर अपना अधिकार छोड़ देगा। जुलाई, 1887 ई. में अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा के संबंध में रूस, ब्रिटिश सरकार, भारत सरकार तथा अफगानिस्तान के बीच एक समझौता हो गया। पंचदेह पर रूस का आधिपत्य स्वीकार कर लिया गया, जबकि जुल्फिकार दर्रे पर अफगानिस्तान का आधिपत्य स्वीकार किया गया।

पंचदेह के मामले को लेकर उत्पन्न संकट का माहौल तो 1887 ई. के समझौते से टल गया। परंतु, इस स्थिति में भारत सरकार पर अतिरिक्त आर्थिक दबाव पड़ा। देशी रियासतों के शासकों के साथ मिलकर अंग्रेजी सरकार ने 'इम्पीरियल सर्विस ट्रुप्स' की स्थापना की। इधर अफगानिस्तान के अमीर का रावलपिण्डी में स्वागत हो रहा था और उधर रूस पूर्व की ओर अपने विस्तार में लगा था। 1895 ई. में रूस ने पामीर पर अधिकार कर लिया और इसी वर्ष एंग्लो-रशियन कन्वेंशन (आंग्ल-रूस समझौता) के अनुसार ऑक्सस नदी को रूस की दक्षिणी सीमा मान लिया गया और हेरात में रूस के प्रसार को रोक दिया गया। 1905 ई. में रूस, जापान के साथ युद्ध में उलझ गया और 1907 ई. में ब्रिटेन तथा रूस के बीच समझौता होने के बाद से दोनों पक्षों के बीच मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित हो गए।

अफगानिस्तान ने विदेशी मामलों में स्वतंत्रता प्राप्त कीः 1907 ई. में समझौता करने के समय अफगानिस्तान के अमीर हबीबुल्ला से विचार-विमर्श नहीं

किया गया। इससे आंग्ल-अफगान संबंध में खटास उत्पन्न हो गयी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी द्वारा उकसाने पर अफगानिस्तान के अमीर ने भारत के तटवर्त्ती क्षेत्रों पर आक्रमण कर दिया, परंतु वह युद्ध में परास्त हो गया। 1921 ई. में दोनों पक्षों के बीच एक संधि स्थापित हो गई। 1922 ई. में इंग्लैण्ड और अफगानिस्तान के बीच दूतावास संबंध स्थापित किए गए और इस समय से आंग्ल-अफगान संघर्ष पूर्ण रूप से समाप्त हो गया।

ब्रिटिश भारत एवं उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती प्रदेश

पश्चात्वर्ती भारतीय शासकों ने वैज्ञानिक सीमावर्ती क्षेत्र (सरहद) की खोज में सिंधु एवं अफगानिस्तान के बीच अवस्थित इस क्षेत्र तक पहुंचने के प्रयास किए। सिंध विजय (1843) और पंजाब के समामेलन (1849) ने ब्रिटिश सीमाओं को सिंधु से पार तक विस्तारित कर दिया जिससे वे बलूच और पठान जनजातियों के सम्पर्क में आए, जो अधिकतर स्वतंत्र थे, लेकिन अफगानिस्तान के अमीर उन पर साधारण अधिराजस्व होने का दावा करते थे।

1891-92 के दौरान ब्रिटिश क्षेत्र गिलगित घाटी में हूंजा, नागर, जिन्होंने चित्रल के साथ प्रभावशाली संचार कायम किया, ने अब्दुर रहमान (अफगानिस्तान का अमीर) को भयभीत एवं सतर्क किया। अंततः अफगान एवं ब्रिटिश क्षेत्रों के बीच डूरंड रेखा के नाम से एक सीमा खींचकर एक समझौता हुआ। अमीर को कुछ जिले प्राप्त हुए और उसकी सब्सिडी को बढ़ा दिया गया। लेकिन डूरंड समझौता (1893) शांति कायम रखने में असफल हो गया और जल्द ही वहां जनजातीय विद्रोह हो गए। इसे रोकने के लिए, चित्रल में एक स्थायी ब्रिटिश सैन्य दुर्ग स्थापित किया गया और मलाकंड दर्रा की निगरानी एवं रक्षा के लिए सेना तैनात की गई, लेकिन जनजातीय विद्रोह 1898 तक होते रहे।

कर्जन, 1899 और 1905 के बीच वायसराय, ने निर्लिप्तता और संकेद्रण की नीति का अनुसरण किया। ब्रिटिश सेनाओं को जटिल क्षेत्र से वापस बुलाया गया जिन्हें ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा प्रशिक्षित और निर्देशित जनजातीय लोगों द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। उन्होंने जनजातियों को शांति बनाए रखने के लिए भी प्रोत्साहित किया। उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार (पूर्व में यह पंजाब के लेफ्टिनेंट-गवर्नर के नियंत्रणाधीन था) के नियंत्रणाधीन उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती प्रांत (एनडब्ल्यूएफपी) का सृजन किया। समग्र तौर पर, कर्जन की नीतियों के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिम सीमा क्षेत्र में शांति कायम हुई। कभी-कभी जनजातीय विद्रोहों के साथ वहां निरंतर शांत दशाएं बनी रहीं। जनवरी 1932 में, यह घोषणा की गई कि एनडब्ल्यूएफपी को गवर्नर के प्रांत के तौर पर गठित किया गया। 1947 से, प्रांत पाकिस्तान से संबंधित है।

प्रमुख विचार

- हमने भारत का अंधाधुंध अधिग्रहण किया। अंग्रेजों द्वारा बेहद अनजाने में तथा संयोगवश की गई भारत विजय में कुछ भी महान नहीं था।

जॉन सीले

- क्लाइव संस्थापक नहीं था अपितु भविष्य का अग्रदूत था। वह साम्राज्य का योजनाकार नहीं था अपितु प्रयोगकर्ता था जिसने संभावनाओं को तलाशा। क्लाइव ब्रिटिश साम्राज्य का अग्रदूत था।

पर्सीवल स्पीयर

- वेलीजली ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के ब्रिटिश साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। भारत में राजनीतिक शक्तियों में से एक, कंपनी भारत में सर्वोच्च शक्ति बन गई और पूरे देश को इसके संरक्षित राज्य माना। वेलेजली के समय से आगे भारत की रक्षा कंपनी की जिम्मेदारी थी।

सिडनी जे. ओवन

- टीपू सुल्तान की असफलता उसका दुखद अंत था और उप-महाद्वीप के लिए उसकी हार दुःखद घटना/त्रासदी थी जिसका अर्थ स्वतंत्रता के संघर्ष के प्रथम चरण का अंत था।

हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट ऑफ पाकिस्तान

सारांश

- **ब्रिटिश विजयः संयोगवश या इरादतन?**
  ब्रिटिश काल की शुरुआत कब हुई?
  ब्रिटिश सफलता के कारण
- **अंग्रेजों की बंगाल विजय**
  ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल
  सिराजुद्दौला और अंग्रेज
  अली नगर की संधि
  प्लासी का युद्ध (23 जून, 1757): सिराज-उद-द्दौला पर राबर्ट क्लाइव की जीत ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली।
  बक्सर का युद्ध (1764): बंगाल के नवाब, अवध के नवाब और मुगल बादशाह की संयुक्त सेना पर बक्सर में क्लाइव की विजय ने भारत में अंग्रेजों की शक्ति की वास्तविक नींव डाली।
  इलाहाबाद की संधि (1765): इसने बंगाल, बिहार, उड़ीसा के दीवानी अधिकार अंग्रेजों को प्रदान किए।

(i) अवध के नवाब के साथ संधि।
(ii) मुगल बादशाह, शाह आलम द्वितीय के साथ संधि।
द्वैध सरकारः 1765-72

- **मैसूर पर ब्रिटिश विजयः हैदर अली एवं टीपू सुल्तान का उत्थान।**
  प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (17670
- **सिंध विजय (1843)**
- **पंजाब विजयः रणजीत सिंह एवं अंग्रेज (अमृतसर संधि 1809)**
  प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध (1845-46)
  द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध (1848-49)
- **कार्य में ब्रिटिश परमोच्चता**
  वारेन हेस्टिंग्ज की घेरे की नीति (रिंग-फेन्स)
- **सहायक संधि में शामिल राज्यः**
  हैदराबाद (1798; 1800)
  मैसूर (1799)
  तंजौर (अक्टूबर 1799)
  अवध (नवम्बर 1801)
  पेशवा (दिसंबर 1801)
  बरार के भौंसले (दिसंबर 1803)
  सिंधिया (फरवरी 1804)
  जोधपुर (1818)
  जयपुर (1818)
  मचेरी (1818)
  बूंदी (1818)
  भरतपुर (1818)
- **डलहौजी का व्यपगत सिद्धांत (1848-56)**
  व्यपगत राज्यः
  सतारा (1848)
  संभलपुर (1849)
  भगत (1850)
  उदयपुर (1850)
  नागपुर (1854)
  झांसी (1855)
  अवध (1856; कुप्रशासन के आरोप पर)
- **ब्रिटिश भारत की विदेश नीति**
  आंग्ल-नेपाल संबंध
  सगौली की संधि (1816)

आंग्ल-बर्मा संबंध
प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध, 1824-26
द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध, 1852
तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध, 1885
आंग्ल-तिब्बत संबंध
ल्हासा की संधि (1904)
आंग्ल-अफगान संबंध
ऑकलैंड की अफगान नीति
प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध (1839-42)
जॉन लारेंस की अक्रियता की नीति
लिटन की अफगान नीति
द्वितीय आंग्ल-अफगान युद्ध (1870-80)
गण्डमक की संधि (मई 1879)
- **उत्तर-पूर्व सीमावर्ती क्षेत्र**

डूरंड समझौता (1893)

इकाई

3 कंपनी शासन के विरुद्ध बढ़ता विद्वेष

- 1857 से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जन-असंतोष
- 1857 का विद्रोह

अध्याय 6

1857 से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जन-असंतोष

हममें से अधिकतर यह सोचते हैं कि 1857 का विद्रोह अंग्रेजों, जो ईस्ट इंडिया कंपनी के मार्फत शासन कर रहे थे, के विरुद्ध पहला बड़ा असंतोष था। हालांकि, 1857 के विद्रोह के पूर्व कई ऐसी घटनाएं घटीं, जिन्होंने दर्शाया कि सब कुछ ठीक नहीं था और विदेशी शासन के विरुद्ध जन-असंतोष पनप रहा था। इस असंतोष ने स्वयं को भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों के अलग-अलग समूहों द्वारा परिवर्तन एवं विद्रोह के रूप में उजागर किया।

ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध लोगों के विद्रोह के परिप्रेक्ष्य में 'लोग' शब्द में भारतीय समाज के विभिन्न समुदाय एवं वर्ग शामिल होते हैं, जो नकारात्मक रूप से विदेशी शासन से प्रभावित थे। किसानों, शिल्पकारों, जनजातीय शासक वर्ग (सक्रिय या वंचित), सैन्य कर्मी (कंपनी के अधीन और साथ ही साथ पूर्व शासकों द्वारा बाहर निकाले गए सैनिक) इत्यादि ने कभी अकेले और कई बार मिलकर अपने हितों की रक्षा

हेतु विद्रोह किए एवं लड़ाई लड़ी। इन विद्रोहों के हित भाव/अर्थ में भिन्न थे, जैसाकि प्रत्येक वर्ग की अलग शिकायत थी, लेकिन इन सबका एक ही उद्देश्य था—ब्रिटिश शासन का अंत करना।

औपनिवेशिक सरकार द्वारा आरोपित गृह कर के विरुद्ध 1810 में बनारस में विद्रोह, नमक कर के विरुद्ध 1814 में सूरत दंगे, निगम करों एवं पुलिस कर के विरुद्ध बरेली में बढ़ते विद्रोह, शहरी आंदोलन के कुछ उदाहरण हैं, जिसमें शिल्पकार, छोटे दुकानदार एवं शहरी गरीबों जैसे निचले पायदान पर खड़े लोगों ने समृद्ध शहरी भद्रजनों के साथ मिलकर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लड़ाई की।

बिपिन चंद्रा के अनुसार, जन-विद्रोह को तीन व्यापक रूपों में देखा गया—(i) जन-विद्रोह; (ii) जनजातीय विद्रोह और; (iii) किसान आंदोलन। हमने जन-विद्रोह के रूप में सैन्य विद्रोह को भी शामिल किया है, जिसमें कंपनी की सेनाओं में नियोजित भारतीय शामिल थे, ताकि जन-विद्रोह का अधिक व्यापक तौर पर अध्ययन किया जा सके।

जन-विद्रोह का उद्भव

औपनिवेशिक काल से पूर्व भारत में लोगों द्वारा शासकों एवं उनके अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह असामान्य नहीं था। हालांकि, औपनिवेशिक शासन की स्थापना और इसकी नीतियों ने भारतीयों पर समग्र रूप से अधिक विध्वंसकारी प्रभाव डाला। उनके दुख-दर्द एवं परेशानियों को सुनने वाला एवं उन पर ध्यान देने वाला कोई नहीं था। कंपनी को केवल राजस्व वसूलने में रुचि थी।

औपनिवेशिक कानून एवं न्यायपालिका ने सरकार एवं इसके सहयोगियों—जमींदारों, व्यापारियों तथा महाजनों (ऋणदाताओं)—के हितों की रक्षा की। इस प्रकार लोगों के पास हथियार उठाकर स्वयं की रक्षा करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं बचा। जनजातियों की स्थिति मुख्य भूमि में रहने वाले लोगों से अलग नहीं थी, लेकिन बाहरी लोगों द्वारा उनकी आत्मनिर्भर व्यवस्था में अतिक्रमण ने उनको अधिक अधीर एवं हिंसक बना दिया।

जन-विद्रोह हेतु जिम्मेदार कारक

कंपनी शासन के विरुद्ध लोगों के असंतोष एवं विप्लव हेतु निम्न महत्वपूर्ण कारक उत्तरदायी थेः

- औपनिवेशिक भू-राजस्व बंदोबस्त, नवीन करों का भारी बोझ, किसानों को उनकी भूमि से बेदखल करना, तथा जनजातियों की भूमि पर अतिक्रमण जन-विद्रोह के कुछ मूलभूत कारण थे।
- ग्रामीण समाज में मध्यवर्ती राजस्व संग्रहकर्ताओं, ऋणदाताओं के बढ़ने से शोषण में वृद्धि हुई।

• जनजातियों/आदिवासियों की भूमि पर राजस्व प्रशासन के प्रसार ने आदिवासियों को उनकी कृषि भूमि एवं वन भूमि से वंचित कर दिया।

• ब्रिटेन में तैयार वस्तुओं के प्रसार, भारतीय उद्योगों, (विशेष रूप से निर्यात) पर भारी करों ने भारतीय हथकरघा एवं दस्तकारी उद्योगों के विनाश का मार्ग प्रशस्त किया।

• स्वदेशी उद्योगों के विनाश ने कामगारों को उद्योग से कृषि की ओर गतिशील किया, जिससे भूमि/कृषि पर दबाव में वृद्धि हुई।

नागरिक/असैनिक विद्रोह

नागरिक विद्रोह में सैन्य विद्रोह को छोड़कर सभी शामिल होते हैं, लेकिन हमने उन विद्रोहों को शामिल किया है, जिन्हें सामान्यतया अपदस्थ शासकों या उनके वंशजों, भूतपूर्व जमींदारों, भूमिपतियों, पोलिगर (दक्षिण भारत में, एक क्षेत्र या *पलायम* के मालिक, जिसमें शासक—मुख्य रूप से नायक—द्वारा उनकी सैन्य सेवाओं एवं निष्ठा के बदले में दिए गए कुछ गांव शामिल होते हैं), विजित प्रदेशों के अधिकारियों या धार्मिक नेताओं ने नेतृत्व प्रदान किया। यद्यपि इन विद्रोहों के जन-समर्थन में सामान्यतः खेतिहर किसान, बेरोजगार शिल्पकार एवं अपदस्थ सैनिक शामिल थे, लेकिन भूतपूर्व सत्ताधारी वर्ग इन विद्रोहों के केंद्र में थे।

नागरिक विद्रोह के प्रमुख कारण

• कंपनी शासन के अधीन अर्थव्यवस्था, प्रशासन और भू-राजस्व व्यवस्था में तीव्र परिवर्तन।

• औपनिवेशिक स्थिति के कारण विभिन्न जमींदारों एवं पोलिगर को अपनी जमीन एवं राजस्व से हाथ धोना पड़ा।

• सरकारी अधिकारियों और व्यापारियों तथा ऋणदाताओं के एक नवीन वर्ग के कारण परम्परागत जमींदारों एवं पोलिगर के ओहदे में कमी आई, जिससे उनके अहम को चोट पहुंची।

• ब्रिटिश साम्राज्य के विदेशी चरित्र, जो हमेशा इस देश के लिए विदेशी ही बने रहे, और उनके अपमानजनक व्यवहार ने स्थानीय लोगों के अभिमान को चोट पहुंचाई।

• धार्मिक पुजारियों, पादरियों, पंडितों इत्यादि ने विदेशी शासन के प्रति घृणा एवं विद्रोह को बढ़ावा दिया, क्योंकि धार्मिक उपदेशक, पुजारी, पंडित, मौलवी इत्यादि परम्परागत जमींदारों एवं नौकरशाही अभिजात पर निर्भर थे। जमींदारों एवं सामंतों के पतन ने प्रत्यक्ष रूप से धर्मगुरुओं के वर्ग को प्रभावित किया।

• औपनिवेशिक नीतियों के कारण बर्बाद भारतीय दस्तकारी उद्योगों ने लाखों दस्तकारों को गरीबी में धकेल दिया। राजाओं, जमींदारों, सामंतों जैसे उनके परम्परागत संरक्षकों एवं खरीदारों के समाप्त होने से उनकी दयनीय स्थिति में इजाफा हुआ।

नागरिक विद्रोह की सामान्य विशेषताएं: • नागरिक विद्रोह के नेता अर्द्ध-सामंतवादी, दकियानूसी एवं पुरातनपंथी थे। उनका मूलभूत उद्देश्य शासन एवं सामाजिक संबंधों की पुरातन रूप एवं व्यवस्था को बनाए रखना था।

• ये विद्रोह स्थानीय कारणों एवं परेशानियों का परिणाम थे तथा अपने परिणामों में भी स्थानिक थे।

• यद्यपि कालिक एवं स्थानिक संदर्भ में पृथक् होते हुए भी, लगभग सभी एक जैसी स्थितियों से गुजर रहे थे।

प्रमुख नागरिक विद्रोह

सन्यासी विद्रोह (1770-1820): यह आन्दोलन 1770 में प्रारंभ हुआ किन्तु 19 वीं शताब्दी के दूसरे दशक 1820 तक चलता रहा। इस विद्रोह का प्रमुख कारण तीर्थ यात्रियों द्वारा तीर्थ स्थानों पर यात्रा करने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना था। संन्यासी, मुख्यतया हिन्दू नागा और गिरी के सशस्त्र संन्यासी थे, जो कभी मराठों, राजपूतों तथा बंगाल और अवध के नवाबों की सेनाओं में सैनिक थे। 1770 में बंगाल के भयानक दुर्भिक्ष ने यहां के निवासियों को त्रस्त कर दिया था उसके पश्चात संन्यासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने बलपूर्वक धन वसूला तथा अंग्रेजी फैक्ट्रियों पर लूटपाट की। अंग्रेजों ने आन्दोलनकारियों से निपटने के लिये दमन का सहारा लिया तथा 1820 तक आन्दोलन को कुचल दिया। इसी सन्यासी विद्रोह का उल्लेख *'वन्देमातरम'* के रचयिता बंकिम चन्द्र चटोपाध्याय ने अपने उपन्यास *'आनंद मठ'* में किया है। बंकिम चंद्र ने *देवी चौधरानी* उपन्यास भी लिखा। उन्होंने देखा कि महिलाओं ने भी ब्रिटिश शासन, जिसने परम्परागत भारतीय मूल्यों के लिए खतरा उत्पन्न किया, के विरुद्ध संघर्ष में हिस्सा लिया।

इस आंदोलन में हिंदुओं एवं मुसलमानों की एक समान भागीदारी रही, इसलिए इसे कभी-कभी फकीर विद्रोह के नाम से भी पुकारा जाता है। मजनूम शाह, चिराग अली, मूसा शाह, भवानी पाठक तथा देवी चौधरानी इस विद्रोह के प्रमुख नेता थे। देवी चौधरानी की सहभागिता ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध प्रारंभिक विद्रोहों में महिलाओं की भूमिका को स्वीकार किया।

मिदनापुर एवं धालभूम में विद्रोह (1766-74): अंग्रेजों ने 1760 में मिदनापुर पर कब्जा कर लिया। उस समय वहां पर लगभग 3,000 जमींदार और तालुकदार थे जिनके अपनी रैयत के साथ मधुर संबंध थे। लेकिन यह सौहार्दपूर्ण परिदृश्य उस समय परिवर्तित हो गया, जब अंग्रेजों द्वारा 1772 में नवीन भू-राजस्व व्यवस्था प्रारंभ की गई। वंसिटार्ट, अंग्रेज गवर्नर के अनुसार, मिदनापुर के जमींदार अंग्रेजी राजस्व संग्रहण अधिकारियों एवं रैयत के बीच संघर्ष की स्थिति में रैयत का पक्ष लेते थे। ओहलभूम, मानभूम, रायपुर, पंचेत, झटीबुनी, कर्णगढ़ एवं बागरी के जमींदार—पश्चिमी एवं उत्तर-पश्चिमी मिदनापुर के जंगल महल के व्यापक क्षेत्र में रह रहे थे—को आखिरकार

1880 तक उनकी जमींदारी से बेदखल कर दिया गया। इस विद्रोह के प्रमुख नेता दामोदर सिंह एवं जगन्नाथ धाल थे।

मोआमरिया विद्रोह (1769-99): 1769 में मोआमरिया द्वारा किया गया विद्रोह असम के अहोम राजाओं की सत्ता के लिए एक प्रबल चुनौती थी। मोआमरिया निम्न-जाति के किसान थे, जो अनिरुद्धदेव (1553-1624) की शिक्षाओं का पालन करते थे और उनका उत्थान उत्तर भारत में अन्य निम्न जातियों के समूहों के समान था। उनके विद्रोह ने अहोम को कमजोर किया और अन्य के लिए इस क्षेत्र पर हमला करने का मार्ग प्रशस्त किया। उदाहरणार्थ, 1792 में, दरांग के राजा (कृष्ण नारायण) ने, जिसमें उसकी सहायता उसके *बुर्कान्देज* दल (मुसलमान सेनाओं एवं जमींदारों की सेनाओं से मुक्त सिपाही) ने की, विद्रोह कर दिया। इन विद्रोहों का दमन करने के लिए, अहोम शासकों को ब्रिटिश सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी। मोआमरिया ने भाटियापर को अपना मुख्यालय बनाया। रंगपुर एवं जोरहाट बेहद प्रभावित क्षेत्र थे। यद्यपि, अहोम साम्राज्य ने स्वयं को विद्रोह से बचा लिया, लेकिन इससे यह कमजोर हो गया और बर्मा के आक्रमण के आगे घुटने टेक दिए तथा अंततः इस पर ब्रिटिश शासन का आधिपत्य हो गया।

गोरखपुर, बस्ती एवं बहराइच में नागरिक विद्रोह (1781): वारेन हेस्टिंग्ज ने, मराठाओं एवं मैसूर के युद्धों के खर्चों को पूरा करने के लिए, अवध में अंग्रेजी अधिकारियों को *इजारेदार* (राजस्व किसान) के तौर पर शामिल करके धन अर्जित करने की योजना बनाई। उसने मेजर एलेक्जेंडर हाने, जो उस क्षेत्र से भली-भांति परिचित था, को 1778 में *इजारेदार* के रूप में नियुक्त किया। हाने ने गोरखपुर एवं बहराइच के लिए एक वर्ष हेतु इजारे की राशि 22 लाख रुपए सुनिश्चित की। वास्तव में, यह कंपनी का गुप्त प्रयोग था, जिससे वह यह निश्चित करना चाहती थी कि, ऐसा करके वह व्यवहारिक रूप से कितनी मात्रा में अधिशेष धनराशि प्राप्त कर सकती थी।

हालांकि, हाने के अत्याचार एवं राजस्व की अत्यधिक मांग ने क्षेत्र को भयाक्रांत कर दिया, जो नवाब के शासनाधीन एक समृद्ध क्षेत्र था। 1781 में जमींदारों एवं किसानों ने असहनीय अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और प्रारंभिक विद्रोह के एक सप्ताह के भीतर हाने के सभी अधीनस्थ कर्मियों को या तो मार दिया गया या जमींदारी गुरिल्ला बल द्वारा बंधक बना लिया गया। यद्यपि विद्रोह को कुचल दिया गया, हाने को पदच्युत कर दिया गया और उसे बाध्यकारी रूप से *इजारा* बनाए रखा गया।

विजियनगरम के राजा का विद्रोहः 1758 में, अंग्रेजों और आनंद गजपतिराजू, विजियनगरम का शासक, ने संयुक्त रूप से उत्तरी सरकार से फ्रांसीसियों को बाहर करने के लिए एक संधि की। इस अभियान में वे सफल रहे, लेकिन अंग्रेजों, जैसाकि वे भारत में करते रहे, ने संधि की शर्तों को मानने से इंकार कर दिया। अंग्रेजों से निपटने से पूर्व ही आनंद राजू की मृत्यु हो गई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने विजियनगरम के राजा

विजयरामराजू से तीन लाख रुपए की राशि की मांग की और उसे अपनी सेना समाप्त करने को कहा। इस बात ने राजा को क्रोधित कर दिया, जैसाकि राजा के ऊपर कंपनी की कोई भी बकाया राशि नहीं थी। राजा ने अपने समर्थकों की सहायता से विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों ने राजा को 1793 में बंदी बना लिया और उसे निर्वासित कर पेंशन पर भेजने का आदेश दिया। राजा ने यह बात मानने से इंकार किया। अंग्रेजों से लड़ते हुए पद्मनाभम (आंध्र प्रदेश में आधुनिक विशाखापतनम जिला) के युद्ध में 1794 में राजा की मृत्यु हो गई। विजियनगरम कंपनी शासन के अधीन आ गया। अंततः कंपनी ने मृतक राजा के पुत्र को राज्य सौंपा और भेंट की राशि की मांग को कम किया।

बेदनूर में धून्डिया का विद्रोह (1799-1800): 1799 में मैसूर विजय के पश्चात्, अंग्रेजों को विभिन्न स्थानीय नेताओं से लड़ना पड़ा। धून्डिया वाघ, एक मराठा स्थानीय नेता, जिसका टीपू सुल्तान ने मुस्लिम धर्म में धर्मान्तरण किया और जेल में डाल दिया, श्रीरंगपट्टनम के पतन के साथ जेल से छोड़ दिया गया। जल्द ही धून्डिया ने एक सेना तैयार कर ली, जिसमें ब्रिटिश शासन विरोधी तत्व शामिल थे, और स्वयं के लिए एक छोटा भू-क्षेत्र तैयार कर लिया।

अगस्त 1799 में मिली हार ने उसे मराठा क्षेत्र में शरण लेने को बाध्य किया जहां उसने निराश राजकुमारों को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एकजुट होने को प्रेरित किया और उसने स्वयं नेतृत्व की कमान संभाली। सितम्बर 1800 में, वेलेजली नेतृत्व में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध युद्ध में वह मारा गया। यद्यपि धून्डिया असफल हो गया, वह जनता का सम्मानित राजा बन गया।

केरल वर्मा पझासी राजा का विद्रोह, 1797; 1800-05: केरल वर्मा पझासी राजा, लोकप्रिय तौर पर केरल सिंहम (केरल का शेर) या पाइच राजा के नाम से जाने जाते थे, वस्तुतः मालाबार क्षेत्र में कोट्टायम के प्रमुख थे। हैदर अली एवं टीपू सुल्तान का विरोध करने के अलावा, केरल वर्मा ने 1793 और 1805 के बीच अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध लड़ा।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92), ने 1790 के पूर्व के एक समझौते, जिसने कोट्टायम की स्वतंत्रता को स्वीकार किया, के उल्लंघन के फलस्वरूप कोट्टायम पर ब्रिटिश परम्मोच्चता को विस्तारित किया। अंग्रेजों ने पझासी राजा के चाचा वीर वर्मा को कोट्टायम के राजा के रूप में नियुक्त किया। नए राजा ने कंपनी द्वारा निश्चित राजस्व लक्ष्य को पूरा करने के लिए किसानों पर शोषणकारी दर से करों का आरोपण किया।

इसके परिणामस्वरूप किसानों ने 1793 में पझासी राजा के नेतृत्व में जन-विद्रोह किया। वह गुरिल्ला युद्ध कौशल का प्रयोग करते हुए बेहद बहादुरी से लड़ा और 1797 में एक शांति संधि की गई। लेकिन वर्ष 1800 में वेयनाड को लेकर संघर्ष शुरू हो गया। उसने नायर की एक बड़ी सेना तैयार की जिसमें मप्पिला एवं पठान भी थे। पठान टीपू

सुल्तान की 1799 में मृत्यु के पश्चात् बेरोजगार हो गए थे, चूंकि वे टीपू की सेना में थे। नवम्बर 1805 में केरल सिंहम माविला टोडू (वर्तमान में केरल-कर्नाटक सीमा के पास) मारा गया।

अवध में नागरिक विद्रोह, 1799: वजीर अली खान, अवध का चौथा नवाब, 1797 में अंग्रेजों की मदद से सिंहासन पर आसीन हुआ। लेकिन जल्द ही अंग्रेजों से उसके संबंध बिगड़ गए और अंग्रेजों ने उसके स्थान पर उसके चाचा सादत अली खान II को आसीन कर दिया। अली खान को बनारस में पेंशन पर भेज दिया गया। हालांकि, जनवरी 1799 में, अली ने अंग्रेज रेजीडेंट जार्ज फेड्रिक चेरी की हत्या कर दी। उसके अंगरक्षकों ने दो अन्य यूरोपियों को मार दिया और यहां तक कि बनारस में मेजिस्ट्रेट पर हमला किया। यह पूरी घटना बनारस जनसंहार के नाम से प्रसिद्ध हुई। अली कई हजार लोगों, जिन्हें जनरल एर्सकिन ने हराया, की फौज तैयार करने में कामयाब हुआ। अली ने भाग कर भुटवाल में जयपुर के शासक की शरण ली। ऑर्थर वेलेजली ने जयपुर के राजा से अली के प्रत्यर्पण की प्रार्थना की। अली को इस शर्त पर प्रत्यर्पित किया गया कि उसे न तो फांसी दी जाएगी और न ही बेड़ियों में जकड़ा जाएगा। दिसंबर 1799 में आत्मसमर्पण के पश्चात्, उसे फोर्ट विलियम किले में बंदी बनाकर रखा गया।

गंजम एवं गुमसुर में विद्रोह 1800, 1835-37: उत्तरी सरकार में, गंजम एवं इसके आस-पास के क्षेत्रों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल बजाया। गंजम जिले में गुमसुर के जमींदार, श्रीकर भंज, ने 1797 में राजस्व देने से मना कर दिया। 1800 में, उसने खुलकर विद्रोह कर दिया और लोक अधिकारियों की अवज्ञा की और उन्हें चुनौती दी।

1807-08 में, धनंजय भंज, श्रीकर भंज का पुत्र, राज्य को छोड़ने के लिए बाध्य किया गया। धनंजय ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया लेकिन उसे जून 1815 में आत्मसर्मपण हेतु बाध्य कर दिया गया। श्रीकर, जो गंजम में लौट आया, को सरकार के साथ समझौते पर पुनः जमींदार नियुक्त किया गया। उसने 1819-1830 तक जागीर का प्रबंधन किया लेकिन बकाया राशि को चुकाने में असफल रहा। वह धनंजय को जमींदार बनाने के पक्ष में सेवानिवृत हो गया। हालांकि, विशाल बकाया राशि चुकाने में असमर्थ, धनंजय भंज ने उस समय दूसरी बार विद्रोह कर दिया जब अंग्रेजी फौजों ने नवम्बर 1835 में गुमसुर एवं कोलेदा पर अधिकार कर लिया। विद्रोह ने सरकार की सत्ता को बेहद कमजोर किया लेकिन धनंजय दिसंबर 1835 में मर गया और उसके अनुगामियों ने विद्रोह जारी रखा। फरवरी 1837 तक इस संघर्ष का अंत हो गया। गुमसुर की जमींदारी को समाप्त कर दिया गया।

पलामू में विद्रोह (चेर विद्रोह), 1800-02: बिहार के पलामू जिले में स्थानीय राजा एवं कंपनी के द्वारा जब जागीरदारों (चेरों) से जमीन छीनी जाने लगी, तब वहां

के जागीरदारों ने राजा एवं कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह शुरू कर दिया। यह विद्रोह 1800 ई. में आरम्भ हुआ और 1802 ई. तक चला। इसका नेतृत्व भूषण सिंह नामक जमींदार ने किया था।

पोलिगर विद्रोह, 1795-1805: दक्षिण भारत के पोलिगर (या पलयक्करागल) ने 1795 और 1805 के बीच अंग्रेजों का कड़ा विरोध किया। इस प्रबल विद्रोह के केंद्र थे—तिन्नेवेली (अब थिरूनेलवेली), रामनाथपुरम, सिवगंगा, सिवगिरी, मदुरई, और उत्तरी अर्काट। समस्या 1781 में उस समय पैदा हुई, जब अर्काट के नवाब ने तिन्नेवेली और कर्नाटक प्रांतों का प्रबंधन एवं नियंत्रण ईस्ट इंडिया कम्पनी को दे दिया। इस प्रबंधन एवं व्यवस्था से पोलिगर में रोष व्याप्त हो गया, जो अपने सम्बद्ध क्षेत्रों में काफी लम्बे समय से एक स्वतंत्र प्रभुसत्तात्मक शक्ति के रूप में माने जाते थे। कंपनी के विरुद्ध पोलिगरों का प्रथम विद्रोह मूलतः करारोपण को लेकर था, लेकिन इसका व्यापक राजनीतिक आयाम था कि अंग्रेज इन्हें शत्रु के तौर पर देखते थे तथा अपमानजनक व्यवहार करते थे। कोट्टाबोमा नायक्कन, जो पंजलंकुरूचि के पोलिगर थे, ने 1795 और 1799 के बीच विद्रोह का नेतृत्व किया। एक विध्वसंक युद्ध के पश्चात्, जिसमें वीरपांड्या कट्टाबोम्मान ने कंपनी की सेनाओं को पराजित कर दिया, कंपनी ने वीरपांडया कट्टाबोम्मान को पकड़ने पर इनाम रखा। इससे पोलिगर में एक बड़ा विद्रोह भड़क उठा। अंततः कंपनी कट्टाबोम्मान को पराजित करने में सफल हो गई। एक बार फिर धोखे से—इस बार यह धोखा इट्टाप्पन, पुदुकोट्टी के राजा द्वारा दिया गया, जिसने अंग्रेजों के साथ समझौता कर लिया—अंग्रेजों ने कट्टाबोम्मान को पकड़ लिया। अंग्रेजी हुकूमत द्वारा उसे पकड़कर एक अज्ञात स्थान पर फांसी दे दी गई। कट्टाबोम्मान का एक घनिष्ठ सहयोगी, सुब्रमण्यम पिल्लई, को भी फांसी दे दी गई और एक अन्य विद्रोही सौन्दरा पांडियन की नृशंस हत्या कर दी गई। पंजलंकुरूचि के *पलायम* एम पांच अन्य पोलिगर के क्षेत्र एवं संपत्ति को जब्त कर लिया गया और प्रमुख पोलिगरों को फांसी दे दी गई या जेल भेज दिया गया।

पोलिगर विद्रोह का दूसरा चरण, जो प्रथम चरण से अधिक हिंसक था, फरवरी 1801 में उस समय शुरू हुआ, जब पलमकोट्टा के किले में बंदी पोलिगर बच निकलने में सफल हो गए। विद्रोहियों ने कई किलों पर नियंत्रण कर लिया, यहां तक कि तूतीकोरिन पर भी। ब्रिटिश सेनाओं ने जल्द ही मालाबार पर पुनः अधिकार कर लिया। भगोड़े, जो सिवगंगा की ओर कूच कर गए, रामनाड में 'मारूदुस' विद्रोहियों में शामिल हो गए, जिन्हें अक्टूबर 1801 में कुचल दिया गया। इस बीच, नवाब ने, विशिष्ट प्रशासन, नागरिक एवं सैन्य सरकारों के सभी क्षेत्रों को कंपनी को सौंप दिया।

1803 और 1805 के बीच, उत्तरी अर्काट के पोलिगर ने विद्रोह शुरू कर दिया, जब उन्हें *कावल* शुल्क एकत्रित करने के उनके अधिकार से वंचित किया गया (*कावल* तमिलनाडु की एक प्राचीन संस्था थी। यह एक वंशानुगत ग्राम पुलिस कार्यालय था,

जिसे विशिष्ट अधिकार एवं दायित्व प्राप्त थे)। पूरा क्षेत्र कानून एवं व्यवस्था की शून्यता की स्थिति में आ गया, विशिष्ट रूप से चित्तूर एवं चंद्रगिरी। येद्रागुंटा के पोलिगर, जो विद्रोही मुखियाओं में सर्वाधिक साहसी थे, के साथ चारागल्लू के वंचित पोलिगरों ने गठजोड़ कर लिया। फरवरी 1805 तक, विद्रोहियों को कुचल दिया गया। विभिन्न मुखियाओं को मद्रास में रहने का आदेश दिया गया, जबकि अन्यों को उनकी संपत्ति (एस्टेट) राजस्व पर 18 प्रतिशत का भत्ता दिया गया। पोलिगर विद्रोह दक्षिण भारत के एक बड़े हिस्से में फैल गया। विद्रोहियों द्वारा घोषणा संकेत करती है कि वे अंग्रेजों से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए, विदेशी शासन के विरुद्ध एक जन-आंदोलन में विश्वास करते हैं।

भिवानी विद्रोह, 1809: 1809 में, हरियाणा के जाटों ने विद्रोह कर दिया। जाटों ने स्वयं को भिवानी में किलाबंद कर लिया और एक प्रबल विद्रोह किया। इस विद्रोह को कुचलने के लिए अंग्रेजों को सभी हथियारों से सुसज्जित एवं बेहतरीन रूप से प्रशिक्षित सेना की आवश्यकता पड़ी।

दीवान वेलू थम्पी का विद्रोह (1808-1809): त्रावणकोर में वहां के दीवान **वेलू थम्पी** ने कम्पनी की बढ़ती ज्यादतियों के खिलाफ एक सशक्त विद्रोह का नेतृत्व किया, जिससे लगभग एक वर्ष तक त्रावणकोर पर कम्पनी का अधिकार समाप्तप्राय रहा, जिसके पश्चात् 1805 में वेलेजली के नेतृत्व में दोनों पक्ष सहायक संधि पर राजी हुए, जिस कारण क्षेत्र में गहरा असंतोष फैल गया। शासक सब्सिडी चुकाने में असमर्थ हो गया और कर्ज में डूब गया। त्रावणकोर का ब्रिटिश रेजीडेंट राज्य के आंतरिक मामलों में दखल देने लगा। कंपनी के इस प्रकार के रवैये ने प्रधानमंत्री (या दलावा), वेलू थम्पी को, नायर सेना की मदद से विद्रोह करने को बाध्य किया। वेलू थम्पी ने कुंडारा में एक सभा को संबोधित किया, जिसमें उन्होंने खुले तौर पर लोगों को अंग्रेजी शासन को अपनी धरती से उखाड़ फेंकने हेतु हथियार उठाने का आह्वान किया। इसे बाद में कुंडारा उद्घोषणा के नाम से जाना गया। वेलू थम्पी ने 1808 ई. में फ्रांस एवं अमेरिका से भी अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता के लिए सम्पर्क स्थापित किया था। वेलू थम्पी ने स्थानीय शासकों से भी सहयोग के लिए सम्पर्क किया, पर किसी ने सहयोग नहीं किया। अन्त में, 1809 ई. में कम्पनी की सेना के बहुत बढ़ आने पर वेलू थम्पी ने आत्महत्या कर ली, पर आत्मसमर्पण नहीं किया।

अंग्रेजों को शांति बहाल करने के लिए एक व्यापक सैन्य अभियान चलाना पड़ा।

बुंदेलखंड में अशांति (1808-12): बुंदेलखंड, जिसे अंग्रेजों ने द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1803-05) के दौरान विजित किया, को बंगाल प्रेसीडेंसी के भीतर रखा गया। बुंदेला सरदारों ने नई सरकार के सम्मुख तब तक प्रबल विद्रोह किया जब तक वे अपने किलों से ऐसा कर सकते थे, जोकि लगभग 150 थे। प्रथम बड़ा विद्रोह लक्ष्मण दावा, अजयगढ़ किले का किलेदार, ने किया। लक्ष्मण को दो वर्षों के लिए

अस्थायी तौर पर, जो 1808 में समाप्त हो रहा था, किले की व्यवस्था सौंपी गई, लेकिन उसने समय समाप्ति पर भी उस पर दावा नहीं छोड़ा। उसने फरवरी 1809 में समर्पण कर दिया और कलकत्ता चला गया। अगला विद्रोह कालजंर के किलेदार, दरया सिंह ने किया जिसे जनवरी 1812 में कुचल दिया गया। लेकिन सबसे गंभीर, एवं प्रबल चुनौती गोपाल सिंह, प्रसिद्ध सैन्य कौशल में प्रवीण, की तरफ से खड़ी की गई, जिसका अंग्रेजों द्वारा समर्थित अपने चाचा से विवाद हो गया। चार वर्षों के दौरान, गोपाल सिंह ब्रिटिश सेना की सभी सैन्य युक्तियों एवं सतर्कता को चकमा दिया। इन विद्रोहों की शृंखला को खत्म करने के लिए बुंदेलखंड के वंशानुगत मुखिया की व्यवस्था को समाप्त कर संविदात्मक दायित्व—इकरारनामा, को लागू किया।

परलकीमेडी विद्रोह (1813-34): परलकी मेडी, जो ओडिशा के गंजाम जिले के पश्चिमी सीमा पर स्थित था, में जमींदारों एवं राजाओं ने विद्रोह किया। जब कंपनी ने गंजाम पर कब्जा किया, नारायण देओ परलकीमेडी का राजा था, जिसके विद्रोह ने अंग्रेजों को कर्नल पीच के नेतृत्व में सेना भेजने को बाध्य किया। 1768 में नारायण देओ को कर्नल पीच ने परास्त किया और गजपथि देओ (नारायण का बेटा) को नया जमींदार घोषित किया। लेकिन नारायण देओ, बेटे एवं भाईयों द्वारा समर्थित, ने फिर से विद्रोह कर दिया। जैसाकि विद्रोह को नहीं दबाया जा सका, मद्रास सरकार ने 1832 में जॉर्ज रसेल को आयुक्त के तौर पर नियुक्त किया। रसेल ने विद्रोह को कुचलने की संपूर्ण शक्ति के साथ, 1834 तक क्षेत्र में शांति व्यवस्था बहाल की।

कच्छ विद्रोह (1816-1832): 1816 में कच्छ के महाराजा भारमल II और अंग्रेजों के बीच एक संधि हुई, जिसके तहत् शक्ति सिंहासन में निहित थी। हालांकि, महाराजा एवं मुखियाओं के एक दल के बीच शक्ति संघर्ष हुआ।

अंग्रेजों ने कच्छ के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया और, 1819 में, राजा भारमल II ने अपने क्षेत्र से अंग्रेजों को खदेड़ने की प्रबल इच्छा से अरब सेना खड़ी की। मुखियाओं ने उनका साथ दिया। उसके पुत्र के पक्ष में कच्छ के शासक राव भारमल को हराकर पदच्युत कर दिया गया। ब्रिटिश रेजीडेंट ने रीजेंसी परिषद् की मदद से क्षेत्र पर शासन किया। रीजेंसी परिषद् द्वारा किए गए प्रशासनिक नवाचार भूमि मूल्यांकन का कारण बने, जिसके कारण गहरा रोष व्याप्त हो गया। इस बीच, कुछ मुखियाओं ने विदेशी शासन के विरुद्ध अपने विद्रोह को जारी रखा। बर्मा युद्ध में ब्रिटिश सेनाओं की हार ने क्षेत्र के मुखियाओं को विद्रोह करने को प्रोत्साहित किया और भारमल को पुनः स्थापित करने की मांग की। स्थिति को नियंत्रित करने में व्यापक सैन्य अभियानों की असफलता ने, कंपनी के प्राधिकारियों को समझौते की नीति हेतु विवश किया।

बरेली में असंतोष, 1816: विद्रोह का तात्कालिक कारण पुलिस कर को थोपना जिसने नागरिकों के क्रोध को भड़का दिया। यह मामला उस समय धार्मिक बन गया

जब मुफ्ती मोहम्मद एवाज, एक सम्मानित वृद्ध व्यक्ति, ने मार्च 1866 में शहर के मेजिस्ट्रेट को एक याचिका प्रस्तुत की।

स्थिति उस समय अधिक बिगड़ गई जब पुलिस ने टैक्स एकत्रित करते समय एक महिला को घायल कर दिया। इस घटना ने *मुफ्ती* और पुलिस के पक्षकारों के बीच खूनी संघर्ष को प्रोत्साहित किया। घटना के दो दिनों के भीतर, पीलीभीत, शाहजहांपुर एवं रामपुर से विभिन्न सशस्त्र मुस्लिमों ने विश्वास एवं मुफ्ती की रक्षा के लिए विद्रोह किया। अप्रैल 1816 में, उपद्रवियों ने बरेली के प्रांतीय न्यायालय के न्यायाधीश लीसेस्टर के पुत्र की हत्या कर दी। उपद्रव को भारी सैन्य बल तैनात करके दबाया जा सका, 300 से अधिक विद्रोही मारे गए और इससे अधिक घायल हुए और जेल में डाला गया।

हाथरस में विद्रोह, 1817: दयाराम, जो अलीगढ़ जिले के कई गांव का तालुकदार था, का हाथरस के किले में प्रबल आधार था। इस किले को भारत में सर्वाधिक मजबूत किला माना जाता था, जबकि दूसरा सर्वाधिक मजबूत किला भरतपुर था। अंग्रेजों ने दयाराम के साथ हाथरस एस्टेट का निपटारा एक किसान के रूप में किया। लेकिन लगातार बढ़ते ऊंचे राजस्वों के कारण, दयाराम बकाया राशि अदा करने में निरंतर असफल हो गया और यहां तक कि सरकार के भगोड़ों को शरण देकर अंग्रेजों की शत्रुता मोल ले ली। अतः, कंपनी ने फरवरी 1817 में एक बड़ी सेना के साथ हाथरस पर हमला कर दिया। दयाराम ने पंद्रह दिनों तक बहादुरी के साथ युद्ध किया और बच निकलने में सफल हो गया। लेकिन आखिरकार उसे आत्मसमर्पण एवं पेंशन की शर्त पर वापिस आना पड़ा। अन्य महत्वपूर्ण विद्रोही भगवंत सिंह, मुसरान का राजा, ने अपने किले के बर्बाद होने के डर से सरकार के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।

पायकों का विद्रोह, 1817: पायक ओडिशा के परम्परागत पैदल सैनिक थे और अपनी सैन्य सेवाओं के लिए लगान मुक्त जमीन प्राप्त करते थे तथा वंशानुगत आधार पर इस कार्य को करते थे। अंग्रेजी कंपनी द्वारा 1803 में ओडिशा पर विजय प्राप्त की गई और खुर्दा के राजा को सिंहासन से हटाने के कारण पायकों के सम्मान एवं शक्ति में बेहद कमी आई। इसके अतिरिक्त, कंपनी की शोषणकारी भू-राजस्व नीति जमींदारों एवं किसानों के बीच रोष का कारण बनी। लोग करारोपण के कारण नमक की कीमतों में वृद्धि, स्थानीय मुद्रा समाप्त करने, और करों का भुगतान चांदी में करने इत्यादि जैसे अंग्रेजी शासन के शोषणकारी कदमों से बुरी तरह प्रभावित थे।

बक्शी जगबन्धु विघाधर खुर्दा के राजा की सेना का सेनापति था। 1814 में, जगबन्धु के पूर्वजों के किला रोरांग की संपत्ति को कंपनी ने जबरन ले लिया। विद्रोह की चिंगारी उस समय भड़की जब मार्च 1817 में खोंड लोगों का एक समूह गुमसुर से खुर्दा क्षेत्र में आ गया। स्थानीय 'पायकों' ने, जो कि मुगलों एवं मराठों के विरुद्ध मोर्चा ले चुके थे, अंग्रेजों का प्रभावी प्रतिरोध किया और खुर्दा -जैसे स्थानों पर उन्हें करारी मात दी। इस विद्रोह में पायकों का नेतृत्व **जगबन्धु** ने किया था। यह विद्रोह 1817

ई. में शुरू हुआ था, जो 1818 ई. में आकर शिथिल पड़ गया, यद्यपि जगबन्धु 1821 ई. तक अंग्रेजों का प्रतिकार करता रहा।

1825 में, नयागढ़ के राजा ने आत्मसमर्पण के लिए जगबंधु से बातचीत की, जिसके पश्चात् उसे सरकार से 150 रुपए प्रतिमाह की पेंशन पर कटक में रहने की अनुमति दी गई।

पायक विद्रोही बकायों में बड़ी छूट, मूल्यांकन में छूट, ऋण चुकाने में अक्षम (डिफाल्टर्स) लोगों की मनमाने रूप से एस्टेट की बिक्री को रद्द करने, निश्चित समय को लेकर नई व्यवस्था तथा उदार शासन के अन्य अनुबंधों को कराने में सफल हुए।

वघेरा विद्रोह (1818-1820): विदेशी शासन के प्रति द्वेष तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा समर्थित बड़ौदा के गायकवाड़ का अपकर्षण ने मिलकर ओखा मण्डल के वघेरा सरदारों को हथियार उठाने पर विवश किया। वघेराओं ने 1818-19 के दौरान ब्रिटिश क्षेत्र में घुसपैठ जारी रखी। नवम्बर 1820 में एक शांति संधि पर सहमति बनी।

अहोम विद्रोह (1828): बर्मा-युद्ध (1824-26) के बाद अंग्रेजों ने उत्तरी असम पर अधिकार कर लिया था। असम के अहोम-वंश के उत्तराधिकारियों ने इसे नापसन्द किया और ईस्ट इंडिया कम्पनी से असम छोड़कर चले जाने को कहा। कम्पनी द्वारा न मानने पर 1828 ई. से 1830 ई. तक गोमधर कोनवार, एक अहोम राजकुमार, तथा उसके साथियों—धनजॉय बोंगोहन, एवं जयराम खरघरिया फूकन—के नेतृत्व में असमियों ने कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जोरहार के पास एकत्रित होकर, विद्रोहियों ने गोमधर कोनवार को औपचारिक रूप से राजा बनाया। अंततः कंपनी ने एक मैत्रीपूर्ण नीति का अनुसरण करने का विनिश्चय किया और ऊपरी असम क्षेत्र महाराजा पुरंदर सिंह नरेंद्र को सौंपा और बाकी राज्य क्षेत्र असम के राजा के अधीन बना रहा।

सूरत नमक विद्रोह (1844): अंग्रेजों के विरुद्ध एक प्रबल भावना का विस्फोट सूरत के स्थानीय लोगों द्वारा 1844 में सरकार द्वारा नमक कर 50 पैसे से बढ़ाकर एक रुपए बढ़ाने के कदम के विरुद्ध यूरोपीय लोगों पर हमलों के रूप में हुई। जन-विरोध को देखते हुए सरकार ने नमक पर अतिरिक्त कर को वापिस ले लिया।

गडकरी विद्रोहः गडकरी भी मराठा-क्षेत्र के दुर्गों में सैनिक के रूप में काम किया करते थे, जिसके बदले इन्हें करमुक्त जमीन मिला करती थी। अंग्रेजों का शासन हो जाने के बाद ये बेगार तो हो ही गए थे, इनकी जमीनों पर कर भी आरोपित कर दिया गया। इसके विरोध में गाडकरियों ने 1844 ई. में विद्रोह कर दिया। सामानगढ़, कोल्हापुर आदि इस विद्रोह के प्रमुख केन्द्र थे। **बाबाजी अहीरेकर** इस विद्रोह के प्रमुख नेताओं में थे।

सावंतवादी विद्रोहः यह विद्रोह 1844 में हुआ, जिसका नेतृत्व एक मराठा सरदार फोण्ड सावंत ने किया। सावंत ने कुछ सरदारों तथा देसाइयों की सहायता से कुछ किलों

पर अधिकार कर लिया। बाद में अंग्रेज सेनाओं ने मुठभेड़ में विद्रोहियों को परास्त कर दिया तथा किले से बाहर खदेड़ दिया। कई विद्रोही गोवा भाग गये तथा बचे हुए विद्रोहियों को पकड़कर उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया तथा उन्हें कड़ी सजा दी गयी।

नायक विद्रोहः बंगाल में मेदिनीपुर जिले में हुआ यह विद्रोह उन रैयतों (नायक) ने किया था, जिन पर कम्पनी बढ़ी हुई दर से लगान चुकाने के लिए दबाव डाल रही थी। 1806 ई. में कम्पनी ने इन नायकों की जमीन भी जब्त कर ली थी। नायकों ने इसके विरोध में कम्पनी के खिलाफ छापामार युद्ध शुरू कर दिया, जो 1816 ई. तक चला। इस विद्रोह का नेतृत्व **अचल सिंह** नामक व्यक्ति ने किया था, जिसने नायकों को सैनिक प्रशिक्षण देकर एक कुशल पलटन तैयार की थी।

कित्तूर विद्रोहः तृतीय आंग्ल-मराठा-युद्ध के बाद अंग्रेजों ने कित्तूर को स्वतंत्र राज्य मान लिया था। 1824 ई. में उत्तराधिकार के प्रश्न पर अंग्रेजों का कित्तूर राज्य से विरोध हो गया, जब उन्होंने अन्तिम शासक शिवलिंग रुद्र के उत्तराधिकारी को वास्तविक मानने से इन्कार कर दिया। ऐसे में *महारानी चेनम्मा* ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, पर 1824 के अन्त तक अंग्रेजों ने इसे दबा दिया। परन्तु, 1829 ई. में *रायप्पा* के नेतृत्व में कित्तूर में एक बार फिर विद्रोह हुआ, पर यह भी उसी वर्ष दबा दिया गया।

रामोसिस विद्रोहः पूना के रामोसिस (मराठायुगीन पुलिस) अंग्रेजों के शासनकाल में बेगार हो गए थे। ऊपर से उनके पास जो जमीन बची थी, उस पर अंग्रेजों ने लगान की दर बहुत बढ़ा दी। ऐसे में रामोसिसों ने 1822 ई. में **चित्तूर सिंह** के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया और अंग्रेजों पर हमले शुरू कर दिए। इस विद्रोह को दबा दिया गया। 1826 ई. में फिर से **उमाजी** के नेतृत्व में रामोसिसों ने विद्रोह आरम्भ कर दिया। इस बार 1829 ई. तक रामोसिसों ने अंग्रेजों से मोर्चा लिया।

विशाखापत्तनम के विद्रोहः मद्रास प्रेसीडेंसी के अन्तर्गत विशाखापत्तनम् जिले में विद्रोहों की एक लम्बी शृंखला थी। पालकोण्डा के जमींदार विजयराम राजे ने 1793 ई. से 1796 ई. के बीच अंग्रेजों के साथ कई छिटपुट लड़ाइयां लड़ीं। 1821-31 के बीच फिर से पालकोण्डा के जमींदार ने राजस्व-वसूली के प्रश्न पर विद्रोह किया। 1830 ई. में विशाखापत्तनम् के जमींदार वीरभद्र राजे ने पेंशन के सवाल पर अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया। 1832-34 ई. में विशाखापत्तनम् के ही एक अन्य जमींदार जगन्नाथ राजे ने उत्तराधिकार-विवाद में अंग्रेजों के हस्तक्षेप की वजह से विद्रोह कर दिया।

कुर्ग का विद्रोहः दक्षिण भारत में 1833-34 में कुर्गवासियों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी गई लड़ाई संगठित नागरिक विद्रोह की मिसाल है। यदि वहां के राजा वीर राजा ने जनता की तरह ही बहादुरी दिखाई होती, तो अंग्रेजों को निर्णायक हार का सामना

करना पड़ता। परन्तु, ऐसा नहीं हुआ और उसके आत्मसमर्पण के बाद कुर्ग मई, 1834 में ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

कोलिय-विद्रोहः कोलिय मध्यकालीन भारत में दुर्गों के सैनिक के रूप में काम किया करते थे। अंग्रेजों का शासन स्थापित हो जाने के बाद दुर्गों का महत्त्व नहीं रहा, उन्हें तोड़ दिया गया। ऐसे में ये बेगार हो गए और ये यत्र-तत्र विद्रोह के झण्डे बुलन्द करते रहे। 1824 ई. के अन्त में पश्चिमी घाट एवं कच्छ के सीमावर्ती भाग के कोलियों ने विद्रोह किया, जिसे 1825 ई. में दबा दिया गया। 1839 ई. में पूना के आसपास के कोलियों ने विद्रोह आरम्भ कर दिया, जो 1850 ई. तक चला। विभिन्न चरणों में भाऊ सरे, चिमनाजी यादव, नाना दरबारे, रघु भंगरिया, बापू भंगरिया आदि ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। इस विद्रोह को रामोसिसों ने भी सहयोग दिया था।

बुन्देला विद्रोहः 1835 ई. में अंग्रेजों ने उत्तर- पश्चिमी प्रांत नामक एक नया प्रान्त बनाया, जिसमें मराठों से छीने गए आधुनिक मध्यप्रदेश के दो जिले भी मिलाये गए—सागर एवं दमोह। इस प्रान्त में 'बर्ड कमीशन' के प्रतिवेदन पर महलवारी बन्दोबस्त किया गया, जिसमें बीस वर्षों के लिए लगान का निर्धारण बढ़ी हुई दर पर कर दिया गया। इससे यहां के जमींदार नाराज हुए और जब उनसे लगान जबरदस्ती वसूल किया जाने लगा, तो सागर के दो जमींदारों **जवाहर सिंह** एवं **मधुकरशाह** ने 1842 ई. में विद्रोह कर उत्पात मचाना शुरू कर दिया। 1843 ई. तक इस विद्रोह पर काबू पा लिया गया और लगान भी कम कर दिया गया था।

सम्भलपुर का विद्रोहः सम्भलपुर में उत्तराधिकार के प्रश्न पर अंग्रेजों के हस्तक्षेप के विरोध में कई चरणों में गोंडों ने विद्रोह किए। पहला विद्रोह 1833 ई. में हुआ, पर इसे शीघ्र ही दबा दिया गया। 1839 ई. में **सुरेन्द्र साईं** के नेतृत्व में एक बार फिर विद्रोह हुआ, जिसका कारण नए भूमि-बन्दोबस्त के द्वारा राजस्व में अंग्रेजों द्वारा वृद्धि कर देना था। यह विद्रोह काफी लम्बे समय तक चलता रहा। 1857 ई. की क्रान्ति के समय सम्भलपुर में सुरेन्द्र साईं ने मोर्चा सम्भाला, जिसमें अन्य जमींदारों ने भी उसका साथ दिया। 1862 ई. में सुरेन्द्र साईं द्वारा आत्मसमर्पण कर देने के बाद यह विद्रोह कमजोर पड़ गया।

वहाबी आंदोलनः वहाबी-आन्दोलन भारत में शुरू किया बरेली के **सैयद अहमद बरेलवी** ने। वैसे तो इस आन्दोलन का लक्ष्य इस्लाम में सुधार लाना था, पर भारत में इसका लक्ष्य अंग्रेजों एवं शोषक वर्ग के अन्य लोगों का विरोध करना हो गया। पटना इस आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र था, यद्यपि इसका प्रसार सम्पूर्ण भारत में हो गया था। यह आन्दोलन 1830 ई. में शुरू हुआ और 1869 ई. तक इसने अंग्रेजी सत्ता को परेशान किया। 1831 ई. में बरेलवी की मृत्यु के बाद बिहार में एनायत अली और विलायत अली तथा बंगाल में तीतू मीर और दुदू मियां ने नेतृत्व किया। अन्तिम चरण में इस आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र पश्चिमोत्तर भारत हो गया था।

वहाबियों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भावनाएं भड़काने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सियाना में स्थित वहाबियों पर 1860 के दशक में अंग्रेजों द्वारा चलाए गए सैन्य अभियानों की शृंखला और वहाबियों पर राजद्रोह के विभिन्न न्यायालय मुकदमों ने वहाबी विद्रोह को कमजोर किया, यद्यपि अंग्रेजों के साथ छिट-पुट सामना 1880 और 1890 के दशक में जारी रहा।

कूका विद्रोहः इस आन्दोलन की शुरुआत जवाहरमल भगत (सियान साहिब) एवं उनके शिष्य बालक सिंह ने पश्चिमी पंजाब में की। उन्होंने *हाजरो* नामक स्थान को अपना मुख्यालय बनाया। इस आन्दोलन का उद्देश्य सिख धर्म में प्रचलित बुराइयों एवं अंधविश्वासों को दूर करके धर्म को शुद्ध बनाना था। इसके अन्य सिद्धांतों में जातीय भेदभाव का उन्मूलन, सिखों को समानता का अधिकार, मांस, मदिरा एवं अन्य नशीली वस्तुओं के सेवन से परहेज, अन्तरजातीय विवाह को प्रोत्साहन तथा महिलाओं में पर्दा प्रथा को दूर करना इत्यादि प्रमुख थे। प्रारम्भ में कूका आन्दोलन एक धार्मिक सुधार आन्दोलन था, किन्तु अंग्रेजों द्वारा पंजाब को हस्तगत कर लेने के पश्चात यह राजनैतिक आन्दोलन में परिवर्तित हो गया। कूका आन्दोलन के राजनीतिक स्वरूप अख्तियार करने पर अंग्रेज चिंतित हो गये तथा इसके दमन के प्रयास करने लगे। राजनीतिक दृष्टि से देखा जाए तो, कूका अंग्रेजों को हटाकर पंजाब में सिख शासन स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने हाथ से बने कपड़े पहनने की वकालत की और अंग्रेजी नियमों एवं शिक्षा तथा उत्पादों का बहिष्कार करने का आह्वान किया। इस प्रकार, कूका आंदोलन की अवधारणा स्वदेशी और असहयोग थी, जिसे कूका द्वारा प्रचारित किया गया। फलतः, कूका आन्दोलन के समर्थकों एवं अंग्रेजों में टकराव हुआ। अंग्रेजों ने 1863 और 1872 के बीच आन्दोलन को कुचलने के जोरदार उपाय किये। 1872 में आन्दोलन के एक प्रमुख नेता राम सिंह को रंगून निर्वासित कर दिया गया, जहां 1885 में उनकी मृत्यु हो गयी।

✠ धार्मिक अधिस्वर सहित किसान आंदोलन

किसान आंदोलन बेदखली, भूमि-किराया में वृद्धि, और महाजनों की लालची प्रवृत्ति और किसानों को उनकी भूमि से निष्कासित करने के उद्देश्य के विरुद्ध विरोध था। किसान स्वयं विद्रोह करते थे, यद्यपि कई मामलों में स्थानीय नेताओं द्वारा इनका नेतृत्व किया गया।

■ प्रमुख किसान आंदोलन

नारकेलबेरिया विद्रोह (1831): मीर निथार अली (1782-1831) या टीटू मीर ने पश्चिम बंगाल के मुस्लिम काश्तकारों को भूमिपतियों, विशेष रूप से हिंदू जमींदारों, जिन्होंने फरायजी एवं ब्रिटिश नील की खेती करने वाले लोगों पर दाढ़ी रखने संबंधी

कर लगाया। अंग्रेजों के विरुद्ध प्रायः प्रथम सशस्त्र किसान विद्रोह माने जाने वाले विद्रोह ने जल्दी ही एक धार्मिक रंग धारण कर लिया। बाद में यह विद्रोह वहाबी आंदोलन में विलय हो गया।

पागलपंथी विद्रोहः पांगलपंथी, एक अर्द्ध-धार्मिक समूह, में मुख्य रूप से मेमनसिंह जिले (पूर्व में बंगाल में) की हाजोंग और गारो जनजातियां शामिल थीं, जिसका गठन करमशाह ने किया। लेकिन जनजातीय किसानों ने स्वयं को करमशाह के बेटे के नेतृत्व में संगठित किया। टीपू ने जमींदारों के अत्याचारों का सामना किया। 1825 से 1835 के बीच पागलपंथियों ने एक निश्चित सीमा से अधिक किराया देने से इंकार कर दिया और जमींदारों के घरों पर हमला किया। यद्यपि सरकार ने इन किसानों के संरक्षण के लिए एकसमान प्रबंधन प्रस्तुत किया। अंततः सरकार द्वारा आंदोलन को हिंसक रूप से दबा दिया गया।

फरायजी विद्रोहः फरायजी पूर्वी बंगाल में फरीदपुर के हाजी शरीयत-अल्लाह द्वारा स्थापित एक मुस्लिम पंथ के अनुयायी थे। उन्होंने आमूलचूल धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों की वकालत की। यह आन्दोलन बंगाल के फरीदपुर जिले में आरम्भ हुआ था। इस आन्दोलन का भी मुख्य उद्देश्य इस्लाम में सुधार करना ही था, पर यह वहाबियों का विरोधी था। बंगाल में कालान्तर में इस आन्दोलन ने अंग्रेजों के विरोध का रुख अपना लिया। **शरीयतुल्ला** एवं उसके पुत्र **मुहम्मद मोहसिन (दुदू मियां)** ने बंगाल के गरीब किसानों के बीच काफी लोकप्रियता अर्जित की और उनके बल पर एक सशक्त एवं प्रभावी आन्दोलन चलाया।

फरायजी विद्रोह 1838-1857 तक जारी रहा। अधिकतर फरायजी ने वहाबी पदवी धारण कर ली।

मोपला विद्रोहः राजस्व मांग में वृद्धि और जोत के आकार में कमी के साथ-साथ अधिकारियों के अत्याचारों ने मालाबार के मोपला के बीच व्यापक किसान असंतोष को जन्म दिया। 1836-1854 के दौरान 22 विद्रोह हुए। हालांकि, इनमें से कोई भी सफल नहीं हो सका। द्वितीय मोपला विद्रोह असहयोग आंदोलन के दौरान खिलाफत समर्थकों और कांग्रेस द्वारा संगठित मोपलाओं के पश्चात् हुआ। लेकिन हिंदू-मुस्लिम मतभेदों ने कांग्रेस और मोपलाओं को एक-दूसरे से दूर कर दिया। 1921 तक, मोपलाओं को कुचल दिया गया।

1857 के विद्रोह में किसानों की भूमिकाः 1857 के विद्रोह से प्रभावित मात्र कुछ क्षेत्रों में, मुख्य रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, कृषक सहभागिता सक्रिय थी। इसके अतिरिक्त, किसान विदेशी शासन से लड़ने के लिए विभिन्न स्थानों पर स्थानीय सामंती नेताओं के साथ संगठित हुए। विद्रोह के पश्चात्, सरकार की कृषकों की उपेक्षा एवं जमींदार वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के निर्णय ने किसानों की स्थिति को अधिक

दयनीय बनाया। किसानों के अधिकार एवं हित सर्वाधिक प्रभावित हुए। अवध में उदाहरणार्थ, भूमि को तालुकदार के पास रखा गया और उन्हें राजस्व एवं अन्य शक्तियां भी दी गईं, और कृषक बंगाल किराया अधिनियम 1859 के प्रावधानों का लाभ नहीं उठा सके। 1857 के विद्रोह में उनकी सहभागिता हेतु दंडस्वरूप, किसानों को कुछ क्षेत्रों में अतिरिक्त कर की अदायगी करनी पड़ी।

आदिवासी विद्रोह

ब्रिटिश शासनाधीन आदिवासी आंदोलन सभी आंदोलनों में अधिक निरंतर, आतंकी एवं हिंसक थे।

मुख्य भूमि एवं पूर्वोत्तर आदिवासी विद्रोहों के विभिन्न कारण

आदिवासी आंदोलनों को मुख्य भूमि आदिवासी विद्रोहों और सीमांत आदिवासी विद्रोहों (भारत के पूर्वोत्तर हिस्से में मुख्यतः चलने वाले आदिवासी आंदोलन) के रूप में देखा जा सकता है।

आदिवासी विद्रोहों के सुलगने के विभिन्न कारण थे, जिसमें से आदिवासी भूमि और वन मुख्य कारण थे।

अंग्रेजों की बंदोबस्त व्यवस्था ने आदिवासियों के बीच संयुक्त स्वामित्व की परम्परा को प्रभावित किया और उनके सामाजिक संघटन को छिन्न-भिन्न किया। जैसाकि कंपनी सरकार द्वारा कृषि का विस्तार एक व्यवस्थित रूप में किया गया, जिसके परिणामस्वरूप आदिवासियों को अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ा, और इस क्षेत्र में गैर-आदिवासी लोगों की आवाजाही बढ़ गई।

वनों में झूम कृषि को प्रतिबंधित कर दिया गया जिसने आदिवासियों की समस्याओं में वृद्धि की। सरकार ने आरक्षित वन और प्रतिबंधित लकड़ी के प्रयोग एवं चरागाह के द्वारा वन क्षेत्र पर नियंत्रण को विस्तारित किया।

पुलिस, व्यापारियों एवं महाजनों के शोषण ने उनके दुखों एवं परेशानियों में वृद्धि की।

दखलंदाजी प्रकृति के कुछ सामान्य कानूनों ने भी उनकी घृणा में वृद्धि की।

आदिवासी पूरे देश में चलाए जाने वाली सामाजिक-धार्मिक सुधार गतिविधियों से भी प्रेरित हुए।

पूर्वोत्तर सीमांत क्षेत्र के आदिवासियों के आंदोलन कुछ पहलुओं में गैर-सीमांत आदिवासी विद्रोहों से भिन्न थे।

एक, आदिवासी, जिसके सीमा से लगे देशों के साथ साझा आदिवासी एवं सांस्कृतिक सम्पर्क थे, ने स्वयं को राष्ट्रवादी संघर्ष से जोड़ने के बारे में नहीं सोचा।

उनके विद्रोह भारतीय संघ या पूर्ण स्वतंत्रता के अंतर्गत राजनीतिक स्वायत्ता के पक्ष में थे।

दूसरे, ये आंदोलन वन आधारित या कृषि संबंधी विद्रोह नहीं थे, जैसाकि ये जनजातियां सामान्यतः भूमि एवं वन क्षेत्र के नियंत्रण में थीं। अंग्रेजों ने गैर-आदिवासी क्षेत्रों की अपेक्षा पूर्वोत्तर क्षेत्रों में काफी समय बाद प्रवेश किया।

तीसरे, अंग्रेजी शासन के अंतर्गत सीमांत आदिवासी विद्रोह गैर-सीमांत आदिवासी विद्रोहों की अपेक्षा अधिक लंबे समय तक जारी रहे। वि-संस्कृतिकरण आंदोलन भी सीमांत जनजातियों के बीच फैले। मेतेयी चूड़चंद महाराजा के शासनकाल (1891 और 1941 के बीच) के दौरान नव-वैष्णववाद ब्राह्मणों की कुप्रथाओं को त्यागने हेतु एक आंदोलन को संगठित किया। औपनिवेशिक काल में पूर्वोत्तर सीमांत क्षेत्र में संस्कृतिकरण आंदोलन पूरी तरह अनुपस्थित थे।

आदिवासी विद्रोहों की विशेषताएं

यहां तक कि एक-दूसरे से समय एवं काल में अलग होने के बावजूद आदिवासी विद्रोहों में कुछ समान विशेषताएं थीं।

- आदिवासी पहचान या जातीय समानता इन समूहों की एकता के पीछे थी। सभी 'बाहरी लोगों' को शत्रु के तौर पर नहीं देखा गया। निर्धन लोग जो वैयक्तिक श्रम पर निर्भर थे और गांव में सामाजिक/आर्थिक रूप से सहयोगात्मक भूमिका में थे, अकेले पड़ गए। इस आंदोलन ने महाजनों एवं व्यापारियों के प्रति हिंसा की, जिन्हें वे औपनिवेशिक सरकार के विस्तार के तौर पर देखते थे।
- विदेशी सरकार द्वारा आरोपित नियमों, जिन्हें वे आदिवासियों के परम्परागत सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा/ताने-बाने को नष्ट करने के प्रयास के रूप में देखते थे, के खिलाफ रोष विद्रोह का एक सामान्य कारण था।
- अधिकतर विद्रोहों का नेतृत्व मसीहा जैसे व्यक्तियों ने किया, जिन्होंने अपने लोगों को विद्रोह करने को प्रोत्साहित किया और 'बाहरी लोगों' द्वारा उन्हें दिए गए दुःखों का अंत करने का वचन दिया।
- आदिवासी आंदोलन शुरुआत से ही अभिशप्त थे, क्योंकि उनके पास अपने शत्रु से युद्ध के लिए परम्परागत हथियार थे, जबकि अंग्रेजों के पास आधुनिक तकनीक पर आधारित हथियार थे।

कुछ महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलन

कुछ महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलनों पर यहां विचार किया गया है। गौरतलब है कि अधिकतर आदिवासी आंदोलन, यदि हम सीमांत आदिवासी क्षेत्रों को छोड़ दें, मध्य भारत, पश्चिमी-मध्य क्षेत्र और दक्षिण में केन्द्रित थे।

जनजातीय आंदोलनः काल, क्षेत्र, कारण एवं प्रभाव

1. पहाड़िया विद्रोहः 1778 में राजमहल की पहाड़ियों में स्थित लड़ाकू जनजाति पहाड़िया द्वारा उनकी भूमि पर ब्रिटिश अतिक्रमण के विरुद्ध किया गया आंदोलन।

2. चुआर विद्रोहः यह चुआर जनजाति द्वारा किया गया विद्रोह था (1776 में); इस विद्रोह का प्रमुख कारण अंग्रेजों की शोषणपूर्ण आर्थिक नीतियां थीं।

3. कोल विद्रोहः छोटा नागपुर के कोलों ने बुद्धो भगत के नेतृत्व में (1831) में यह विद्रोह किया; विद्रोह का प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा उस क्षेत्र में प्रसार तथा कोलों की भूमियों को *दिकुओं* (बाह्य व्यक्तियों) को हस्तांतरित किया जाना था। यह विद्रोह कुचल दिया गया।

4. हो एवं मुण्डा विद्रोहः (अ) राजा पराहत के नेतृत्व में हो जनजातियों द्वारा (1827; सिंह भूमि एवं छोटा नागपुर); सिंहभूमि जिले को अंग्रेजों द्वारा हस्तगत कर लिये जाने के विरोध में।

(ब) हो एवं मुण्डा जनजातियों द्वारा संयुक्त रूप से (1831); अंग्रेजों की नयी भू-राजस्व पद्धति के विरोध में।

(स) मुण्डाओं द्वारा बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में (1899-1900; रांची के दक्षिण में); बिरसा मुण्डा को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया।

(द) *उलगुलान* विद्रोह; बिरसा मुण्डा ने इस विद्रोह का समर्थन किया (1860-1920); सामंती एवं जमींदारी व्यवस्था प्रारंभ किये जाने तथा साहूकारों एवं ठेकेदारों द्वारा शोषण किये जाने के विरोध में।

5. संथाल विद्रोहः संथालों द्वारा सीदो और कान्हू के नेतृत्व में (1855-56; बिहार); स्थानीय जमीदारों एवं महाजनों द्वारा किये जा रहे शोषण के विरोध में; कालांतर में विद्रोह ने अंग्रेज-विरोधी आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया; अंततः कुचल दिया गया।

6. खोंड विद्रोहः चक्र बिसोई के नेतृत्व में (1837-56 एवं पुनः 1914 में; तमिलनाडु से लेकर बंगाल तक फैले हुये पहाड़ी क्षेत्रों में; 1914 में उड़ीसा में); जनजातीय रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप किये जाने तथा नये कर आरोपित करने के विरोध में।

7. नैकदा आंदोलनः (1860; मध्य प्रदेश एवं गुजरात); अंग्रेजों एवं सवर्ण हिन्दुओं के विरुद्ध; अंग्रेजों ने आंदोलन को समाप्त कर दिया।

8. रखारवाड़ विद्रोहः रखारवाड़ों द्वारा (1870; बिहार); भू-राजस्व नीतियों के विरोध में।

9. **खोण्डा डोरा विद्रोहः** खोण्डा डोरा नामक जनजाति द्वारा कोरा मल्लाया के नेतृत्व में (1900; विशखापट्टनम के डाबुर क्षेत्र में); कोरा मल्लाया द्वारा अलौकिक शक्ति संपन्न होने का ऐलान; अंग्रेजों ने विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया।

10. भील विद्रोहः (1817-19 एवं 1913; पश्चिमी घाट के क्षेत्र में); ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन (1817-19 में) के विरोध एवं भील राज की स्थापना के लिये।

11. भुयान एवं जुआंग विद्रोहः भुयान, जुआंग एवं कलों द्वारा; प्रथम विद्रोह का नेतृत्व रत्ना नायक ने किया; द्वितीय विद्रोह का नेतृत्व धरणीधर नायक (1867-68; 1891-93; क्योंझार, उड़ीसा); 1967 में स्थानीय राजा की मृत्यु हो जाने के पश्चात अंग्रेजों द्वारा उत्तराधिकार के प्रश्न पर हस्तक्षेप करने के विरोध में।

12. कोया विद्रोहः कोया एवं कोण्डा सोरा जनजातियों द्वारा

– 1879-80 के विद्रोह का नेतृत्व टोम्मा सोरा ने किया (विद्रोह के प्रमुख केंद्र-आंध्र प्रदेश का पूर्वी गोदावरी क्षेत्र एवं उड़ीसा के कुछ क्षेत्र; सबसे मुख्य केंद्र-चोडवरम का रम्पा प्रदेश)।

– 1886 के विद्रोह का नेतृत्व राजा अनन्तैय्यार ने किया; विद्रोह का कारण था–पुलिस का दमन, महाजनों द्वारा शोषण, नये वन कानून तथा वनों में उनके प्रवेश पर निषेध।

13. बस्तर विद्रोहः (1910; जगदलपुर); नये सामंती एवं वन अधिनियमों के विरोध में; विद्रोहियों का नेतृत्व बस्तर के राजा ने किया।

14. ताना भगत आंदोलनः मुण्डा एवं ओरांव जनजातियों द्वारा चलाये गये इस आंदोलन का नेतृत्व जतरा भगत एवं बलराम भगत ने किया। इन्होंने कहा कि जनजातियों की रक्षा के लिये ईश्वर का एक अवतार पैदा होगा (1914-15; छोटा नागपुर); दिकुओं द्वारा हस्तक्षेप किये जाने के विरोध में।

15. प्रथम रम्पा विद्रोह (1879): 1879 का रम्पा विद्रोह विजागपट्टम जिले के विजागपट्टम पहाड़ी के रम्पा क्षेत्र में पहाड़ी जनजातियों द्वारा मद्रास प्रेसीडेंसी की ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक विप्लव/विद्रोह था। यह विद्रोह ब्रिटिश सरकार द्वारा ताड़ी बनाने को अवैध कृत्य घोषित करने और उस पर कर लगाने के विरुद्ध किया गया। ताड़ी बनाना इन पहाड़ी जनजातियों की संस्कृति का हिस्सा था और इस पर प्रतिबंध से वे उग्र हो गए। विद्रोहियों को अंत में दबा दिया गया और एक बड़ी संख्या में विद्रोहियों को अंडमान जेल भेज दिया गया।

16. रम्पा विद्रोह (1922-24): गोदावरी के उत्तर में स्थित रम्पा क्षेत्र की जनजातियों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अगस्त 1922–मई 1924 के बीच अल्लूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में विद्रोह किया। यह विद्रोह पुराने मुद्दों–साहूकारों द्वारा शोषण, झूम कृषि और जमाने से चले आ रहे चराई संबंधी अधिकारों पर रोक लगाने वाले वन विभाग के कानूनों–को लेकर था, लेकिन इसका तात्कालिक कारण गुडेम का वास्टियन नामक अलोकप्रिय तहसीलदार था। उसने आदिवासियों से बिना मजदूरी दिए जंगल में सड़क-निर्माण का कार्य करवाने का प्रयास किया। 6 मई, 1924 को राजू को गिरफ्तार किया गया और 'भागने का प्रयास करते हुए' उन्हें गोली मार दी गई। अंततः सितंबर 1924 को विद्रोह समाप्त कर दिया गया।

17. झारखण्ड आंदोलनः छोटा नागपुर के आदिवासियों द्वारा (1920 से प्रारम्भ; बिहार, उड़ीसा एवं प. बंगाल के क्षेत्र); 1937 में आदिवासी महासभा एवं 1949 में क्षेत्रीय झारखण्ड दल की स्थापना।

18. वन सत्याग्रहः (अ) चेंचू जनजातियों द्वारा (1920 के दशक में; आंध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में); (ब) पलामू के खारवाडों द्वारा (1930 के दशक में; बिहार); इन विद्रोहों का प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा वनों का अधिग्रहण एवं नये वन अधिनियम लागू करना था।

19. गोंड़ विद्रोहः (1940 के दशक में) गोंड़ धर्म के अनुयायियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिये।

पहाड़िया विद्रोहः पहाड़िया, राजमहल की पहाड़ियों में बसी एक लड़ाकू जनजाति थी, जिसने अपने क्षेत्र का अतिक्रमण किये जाने के विरोध में 1778 में सशस्त्र विद्रोह प्रारंभ कर दिया। स्थानीय जनजातीय सरदारों ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। यह विद्रोह अत्यंत हिंसक एवं खूनी था। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया।

चुआर विद्रोहः अकाल, वर्द्धित भू-राजस्व मांग और दयनीय आर्थिक स्थिति ने मिदनापुर जिले की चुआर जनजाति को हथियार उठाने के लिए प्रोत्साहित किया। ये आदिवासी लोग मूलतः किसान एवं आखेटक थे। यह विद्रोह 1766-1772 तक चला और 1795 और 1816 के बीच पुनः उठ खड़ा हुआ। चुआर मानभूम और बारभूम में सक्रिय थे, विशिष्ट रूप से बारभूम और घाटशिला की पहाड़ियों के बीच। उन्होंने अपनी भूमि को एक प्रकार के सामंतवादी काल में रखा, लेकिन वे घनिष्ठ रूप से अपनी मिट्टी से जुड़े नहीं थे। वे अपने जंगल प्रमुख या जमींदार के पास इसे बोली पर छोड़कर, दूसरी जमीन पर खेती करने को सदैव तैयार रहते थे। 1771 में, चुआर सरदारों, धादका के शाम गंजन, कालीपाल और दुबराज के सुबला सिंह ने विद्रोह किया। इस समय, हालांकि, उन्हें अपने लोगों का समर्थन प्राप्त हुआ।

1798 में फिर से, दुर्जन सिंह ने विद्रोह का नेतृत्व किया, जो रायपुर का जमींदार था, जिसे बंगाल रेग्यूलेशन अभियान के कारण जमींदारी से बेदखल कर दिया गया। मई 1798 में, उसके अनुयायियों ने, लगभग 1500 चुआर, रायपुर एस्टेट की नीलामी को रोकने के लिए हिंसक गतिविधियां कीं। इस विद्रोह का अंग्रेजों ने बेहद बर्बरता से दमन किया। चुआर के अन्य नेताओं में माधव सिंह, राजा बारभूम का भाई, राजा मोहन सिंह, जूरिच के जमींदार और दुलमा के लक्ष्मण सिंह शामिल थे। ('चुआर' शब्द को कुछ इतिहासकार अपमानजनक मानते हैं, जिन्होंने इस विद्रोह को 'जंगल महल का विद्रोह' कहा।)

कोल विद्रोह (1831): यह विद्रोह रांची, सिंहभूम, हजारीबाग, पलामू और मानभूम के पश्चिमी क्षेत्रों में फैला था। विद्रोह की आग उस समय सुलगी जब कोल मुखियाओं (मुंडा) से बड़े पैमाने पर जमीन का हस्तांतरण हिंदू, सिख एवं मुस्लिम जैसे बाहरी किसानों को किया गया। इस कार्य से छोटा नागपुर के कोल नाराज हो गए और

1831 में, बुद्धो भगत के नेतृत्व में कोल विद्रोहियों ने हजारों बाहरी किसानों को मार दिया या जला दिया। केवल बड़े पैमाने पर सैन्य अभियान से कानून व्यवस्था एवं शांति पुनः स्थापित की जा सकी।

हो एवं मुण्डा विद्रोह (1820-1837): राजा परहत ने अपनी हो जनजातियों को सिंहभूम एवं छोटा नागपुर जिलों को अंग्रेजों द्वारा हस्तगत करने के विरोध में संगठित किया। यह विद्रोह निरंतर 1827 तक चला जब हो जनजातियों को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया गया। हालांकि, बाद में 1831 में, उन्होंने अंग्रेजों की नवीन कृषि राजस्व नीति और उनके क्षेत्र में बंगालियों के प्रवेश के विरोध में फिर से विद्रोह का स्वर बुलंद किया। हालांकि, विद्रोह को वर्ष 1832 में क्षीण कर दिया गया, तथापि 'हो' अभियान 1837 तक जारी रहे। मुण्डा काफी लंबे समय तक शांत नहीं रहे।

[1899-1900 में, मुण्डा ने रांची के दक्षिण क्षेत्र में बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में विद्रोह शुरू किया। 1860-1920 की समयावधि के दौरान *उलगुलान* विद्रोह एक महत्वपूर्ण आदिवासी विद्रोह था। विद्रोह, जिसे एक धार्मिक आंदोलन के रूप में प्रारंभ किया गया था, ने सामंती एवं जमींदारी व्यवस्था शुरू किए जाने और साहूकारों, वनों के ठेकेदारों के शोषण के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के लिए राजनीतिक बल एकत्रित किया। चुनौती उस समय और बढ़ गई जब मुण्डा ने 1879 में छोटा नागपुर पर अपना दावा किया। तब ब्रिटिश सशस्त्र सेना को तैनात किया गया। बिरसा को पकड़कर जेल में डाल दिया गया।]

संथाल विद्रोह (1855-56): संथालों, कृषि करने वाली जनजाति, के निरंतर दमन ने जमींदारों के विरुद्ध उनके विद्रोह को जन्म दिया। साहूकारों ने, जिन्हें पुलिस का समर्थन प्राप्त था, जमींदारों का साथ दिया और किसानों पर अत्याचार किया तथा उन्हें भूमि से बेदखल किया। यह विद्रोह ब्रिटिश शासन विरोधी आंदोलन में परिवर्तित हो गया। सिद्धू एवं कान्हू के नेतृत्व में, संथाल ने कंपनी शासन के अंत की घोषणा कर दी, और भागलपुर तथा राजमहल के बीच के क्षेत्र को स्वायत्त घोषित कर दिया। विद्रोहियों को 1856 तक कुचल दिया गया।

खोंड विद्रोह (1837-1856) : 1837 से 1856 के बीच ओडिशा से आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम और विशाखापट्नम जिले में विस्तारित पहाड़ी क्षेत्र के खोंड जनजाति ने कंपनी शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। चक्र बिसोई के नेतृत्व में खोंड ने, जिनमें चुमसर, कालाहांडी एवं अन्य जनजातियां शामिल हुईं, जनजातीय रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप किए जाने, नए कर आरोपित करने और जमींदारों का उनके क्षेत्रों में प्रवेश करने का विरोध किया। चक्र बिसोई का नेतृत्व समाप्त होते ही यह विद्रोह भी समाप्त हो गया।

[1914 में ओडिशा क्षेत्र में फिर से खोंड विद्रोह इस आशा से शुरू हुआ कि विदेशी शासन का अंत होगा और वे स्वायत्त सरकार हासिल कर सकेंगे।]

कोया विद्रोहः पूर्वी गोदावरी क्षेत्र (आधुनिक आंध्र प्रदेश) के कोया, जिनमें खोंडा सारा जनजाति के सरदार शामिल हुए, ने 1803, 1840, 1845, 1858, 1861 और 1862 में विद्रोह किया। टोम्मा सोरा के नेतृत्व में उन्होंने पुनः 1879-80 में विद्रोह किया। पुलिस का दमन एवं महाजनों द्वारा शोषण, नवीन वन कानून तथा वनों पर उनके परम्परागत अधिकारों से इंकार इत्यादि विद्रोह के प्रमुख कारण थे। टोम्मा सोरा की मृत्यु के पश्चात्, 1886 में राजा अनन्तैय्यार के नेतृत्व में एक अन्य विद्रोह संगठित किया गया।

भील विद्रोहः भील, जो पश्चिम घाट में रहते थे, 1817-19 के दौरान कंपनी शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। बाद में, एक सुधारक गोविंद गुरू ने दक्षिण राजस्थान के भीलों की संगठित होने और 1913 तक भील राज के लिए लड़ने में मदद की।

कोली विद्रोहः भील के पड़ोस में रहने वाली कोली जनजाति ने 1829, 1839 और दोबारा 1844-48 के दौरान कंपनी शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। उनकी नाराजगी उन पर कंपनी शासन के थोपे जाने से थी जिससे व्यापक पैमाने पर बेरोजगारी फैली और उनके किलों को बर्बाद कर दिया गया।

पूर्वोत्तर के आदिवासी आंदोलन

पूर्वोत्तर सीमांत क्षेत्र के कुछ महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध आदिवासी आंदोलन निम्न प्रकार हैं।

खासी विद्रोहः गारो और जयन्तिया पहाड़ियों के बीच पहाड़ी क्षेत्र पर अधिकार करने के पश्चात्, ईस्ट इण्डिया कंपनी सिल्हट के साथ ब्रह्मपुत्र घाटी में एक सड़क सम्पर्क का निर्माण करना चाहती थी। इसके लिए, अंग्रेजों, बंगालियों और मैदानी क्षेत्रों से श्रमिकों को इस क्षेत्र में लाया गया। खासी, गारो, खम्पतिस एवं सिंग्फोस ने मैदानी क्षेत्रों से आए बाहरी लोगों को वापिस भेजने के लिए तीरथ सिंह के नेतृत्व में स्वयं को संगठित किया। यह विद्रोह क्षेत्र में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रसिद्ध विद्रोह बन गया। 1833 तक, सर्वोत्कृष्ट अंग्रेज सैन्य शक्ति ने विद्रोह को कुचल दिया।

सिंग्फोस विद्रोहः 1830 के पूर्वार्द्ध में असम में सिंग्फोस के विद्रोहियों का शीघ्र ही दमन कर लिया गया लेकिन उन्होंने विद्रोह को निरंतर जारी रखा। 1839 के विद्रोह में ब्रिटिश राजनीतिक एजेंट की मृत्यु हो गई। निरांग फिदू के नेतृत्व में 1849 में विद्रोह किया गया, जो ब्रिटिश गैरीसैण पर हमले एवं कई सैनिकों की हत्या में शामिल था।

कुछ छोटे आंदोलनों में मिश्मी (1836); खाम्पति विद्रोह (1839 और 1842 के बीच); लुशाई विद्रोह (1842-1844) शामिल थे।

सिपाही विद्रोह

देश के विभिन्न भागों में 1857 के महान विद्रोह से पूर्व छिट-पुट संख्या में सैन्य विद्रोह हुए।

निम्न कारणों से ब्रिटिश शासन के प्रति सिपाहियों के असंतोष में वृद्धि हुईः

पूर्वोत्तर के सीमांत जनजातीय आंदोलनः वर्ष, क्षेत्र एवं प्रमुख कारण

1857 से पूर्व आंदोलन

1. अहोम विद्रोह (1828-33; असम); बर्मा युद्ध के उपरांत ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा अपने वायदे को पूरा न करने के कारण; कम्पनी ने बल का प्रयोग कर विद्रोह को कुचल दिया तथा राज्य का विभाजन कर दिया।

2. खासी विद्रोह (1830 के दशक में; जयन्तिया एवं गारो पहाड़ी क्षेत्रों में); इस विद्रोह का नेतृत्व नुनक्लोव शासक तीरथ सिंह, बार मानिक और मुकुंद सिंह ने किया; अंग्रेजों द्वारा पहाड़ी क्षेत्रों में हस्तक्षेप के विरोध में।

3. सिंगफोस विद्रोह (1830 के दशक में; असम); इस विद्रोह का नेतृत्व रनुआ गोसाईं ने किया; इसका कारण इस क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करना था; अंततः विद्रोह कुचल दिया गया।

1857 के पश्चात् आंदोलन

1. कूकी विद्रोह (1917-19; मणिपुर); प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अंग्रेजों द्वारा मजदूरों की भर्ती किये जाने की नीति के विरोध में; कूकी जनजातियों के इस विद्रोह को लम्बे समय तक संघर्ष के पश्चात ही दबाया जा सका।

2. त्रिपुरा में विद्रोह; इस क्षेत्र में बाहरी लोगों को बसाने एवं सरकार द्वारा गृह कर बढ़ाने के विरोध में यह विद्रोह प्रारम्भ हुआ—

(i) परीक्षित जमातिया के नेतृत्व में (1863)

(ii) रत्नामणि के नेतृत्व में (1942-43)

(iii) भारती सिंह के नेतृत्व में (1920 के दशक में)

3. जेलियान्गसंग विद्रोह (1920 के दशक में; मणिपुर); विद्रोह का नेतृत्व जेमी, लियांगमेई एवं रंगमेई जनजातियों ने किया; अंग्रेजों द्वारा कूकियों के आक्रमण से (1917-19) उनकी रक्षा में असफल रहने के विरोध में।

4. नागा आंदोलन (1905-31; मणिपुर); विद्रोह का नेतृत्व जदोनांग ने किया; अंग्रेजी राज के विरोध एवं नागा राज की स्थापना के लिये विद्रोह किया गया; जदोनांग को गिरफ्तार कर अंग्रेजों ने उसे फांसी पर लटका दिया; जदोनांग के उपरांत युवा नागा महिला गैडिनलियु ने विद्रोह का नेतृत्व किया; कालांतर में यह आंदोलन, राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से जुड़ गया; आंदोलनकारियों ने गांधीजी को आदर्श मानकर अंग्रेजों से संघर्ष किया; आजाद हिन्द फौज तथा जवाहरलाल नेहरू ने गैडिनलियु को 'रानी' की उपाधि से विभूषित किया।

5. हरेका संप्रदाय (1930 के दशक में; मणिपुर), गैडिन्ल्यू द्वारा नेतृत्व; आंदोलन को कुचल दिया गया लेकिन काबुई नागा संगठन की स्थापना वर्ष 1946 में हुई।

6. **अन्य छोटे आंदोलनों** में 1860-62 में जयन्तिया पहाड़ियों का सिन्टेंग विद्रोह; 1861 में फुलागौरी किसान आंदोलन; 1872-73 में सफलास विद्रोह; 1882 में कछार के कच्छा नागा का विद्रोह; और 1904 में मणिपुर में महिलाओं का युद्ध शामिल हैं। कुछ छोटे आंदोलनों में मिश्मी (1836); खाम्पति विद्रोह (1839 और 1842 के बीच); 1842 और 1844 में लुशाई विद्रोह, शामिल थे।

कारण

(i) भुगतान एवं पदोन्नति में भेदभाव;

(ii) ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा सिपाहियों के साथ दुर्व्यवहार;

(iii) दुर्गम एवं सुदूर क्षेत्रों में लड़ने जाने पर विदेश सेवा भत्ता देने से सरकार का इंकार;

(iv) लार्ड कैनिंग के जनरल सर्विस एनलिस्टमेंट एक्ट (1856) के प्रावधान, कि सभी भर्ती जवानों को भारत के अंदर एवं बाहर सेवाएं देने के लिए तैयार रहना चाहिए, को लेकर उच्च जाति हिंदू सिपाहियों ने धार्मिक आपत्ति जताई।

इसके अलावा, सिपाहियों ने अपने सभी असंतोष एवं शिकायतों—सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक—को साझा किया, जिसने आम नागरिकों को दुखी/संतप्त किया।

विभिन्न वर्षों के दौरान, ऊंची जाति के सिपाहियों ने पाया कि उनकी धार्मिक आस्था के साथ उनकी सेवा शर्तें संतुलन नहीं कर पा रही हैं। उदाहरणार्थ, 1806 में, सिर की पगड़ी को चमड़े की कलगी से प्रतिस्थापित करने पर वेल्लोर में सैनिक विद्रोह हुआ।

इसी प्रकार, 1844 में, बंगाल सेना के सिपाहियों ने इसलिए विद्रोह कर दिया कि उन्हें सिंध से दूर भेजा जा रहा था और 1824 में बैरकपुर में उस समय सिपाही/सैन्य विद्रोह ने चिंगारी तब पकड़ी जब उन्हें बर्मा जाने के लिए कहा गया चूंकि समुद्र पार करने का अर्थ था जाति को खो देना।

महत्वपूर्ण विद्रोह

1857 से पूर्व के दौरान भड़के अत्यधिक महत्वपूर्ण सैनिक विद्रोह निम्न प्रकार हैं:

(i) 1764 में बंगाल में सिपाहियों का विद्रोह।

(ii) 1806 में ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय सिपाहियों ने वेल्लोर में उनके सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों एवं रीति-रिवाजों में अवांछनीय हस्तक्षेप के खिलाफ विरोध किया तो विद्रोह भड़क उठा। विद्रोहियों ने दुर्ग पर मैसूर के शासक के राजचिन्हयुक्त झण्डे को भी फहरा दिया।

(iii) 1824 में 47वीं नेटिव इन्फैन्ट्री यूनिट के सिपाहियों का विद्रोह।

(iv) 1825 में असम में ग्रेनेडियर कंपनी का विद्रोह।

(v) 1838 में शोलापुर में भारतीय रेजीमेण्ट का विद्रोह।

(vi) 1844, 1849, 1850 और 1852 में क्रमशः 34वीं नेटिव इन्फैन्ट्री, 22वीं नेटिव इन्फैन्ट्री, 66वीं नेटिव इन्फैन्ट्री और 37वीं नेटिव इन्फैन्ट्री, का विद्रोह।

हालांकि, ये सभी सैन्य विद्रोह अपने क्षेत्र की सीमा से बाहर नहीं फैल सके, और ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल दिए गए। इन विद्रोहों ने प्रायः भयानक हिंसा का प्रदर्शन किया। लेकिन इन विद्रोहों की विरासत बाद में अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

जन-विद्रोहों की कमजोरियां

- समग्र रूप से, ये विद्रोह जन-विद्रोह थे, लेकिन, वस्तुतः, स्थानिक एवं अलग-थलग थे।
- ये अधिकांशतः स्थानीय शिकायतों का परिणाम थे।
- नेतृत्व चरित्र में अर्द्ध-सामंती, अधोगामी, परम्परागत दृष्टिकोण वाला था और उनके विरोध ने किसी प्रकार का सामाजिक विकल्प प्रस्तुत नहीं किया।
- यद्यपि इनमें से अधिकतर विद्रोह विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की इच्छा के संदर्भ में एक समान प्रतीत होते थे, यह राष्ट्रवादी भावना या साझा प्रयास के कारण नहीं था, अपितु वे उन दशाओं और हालातों का विरोध कर रहे थे, जो उन सबके लिए समान थीं।
- ये विद्रोह रूप-स्वरूप में और वैचारिक-सांस्कृतिक विषय-वस्तु में शताब्दियों प्राचीन थे।
- इन न्यून उद्दण्ड आंदोलनों को प्राधिकारियों द्वारा रियायत देकर शांत किया गया।
- इन विद्रोहों में लड़ाकों द्वारा अपने विरोधी (विदेशी शासन) के विरुद्ध प्रयोग किए जाने वाले हथियार, पद्धति एवं रणनीति तुलनात्मक रूप से अप्रचालित थे।

कुल मिलाकर, ये विद्रोह अधिनायकवाद/निरंकुशता के विरुद्ध स्थानीय प्रतिरोध की बेशकीमती परम्परा स्थापित करने में सक्षम थे।

सारांश

- **जन प्रतिरोध हेतु उत्तरदायी कारक**
  औपनिवेशिक भूमि राजस्व बंदोबस्त; नवीन करों का भारी बोझ और किसानों को उनकी भूमि से बाहर करना।
  मध्यवर्ती राजस्व संग्रहकर्ताओं, काश्तकारों एवं महाजनों की संख्या में वृद्धि।
  आदिवासी भूमि पर राजस्व प्रशासन का विस्तार।

स्वदेशी उद्योगों का विनाश और ब्रिटिश तैयार माल को प्रोत्साहन।
विद्वान एवं पुराहित संबंधी वर्गों को संरक्षण का अंत।
ब्रिटिश शासन का विदेशी चरित्र

- **जन-विद्रोह के रूप**

नागरिक विद्रोह
आदिवासी विद्रोह
कृषक विद्रोह
सैन्य विद्रोह

- **1857 से पूर्व नागरिक विद्रोह**

सन्यासी विद्रोह (1763-1800)—बिहार एवं बंगाल; मजनून शाह, मूसा शाह, भवानी पाठक और देवी चौधरानी कुछ महत्वपूर्ण नेता थे।
मिदनापुर एवं धालभूम में विद्रोह (1766-67)—बंगाल; नेता-दामोदर सिंह, जगन्नाथ धाल इत्यादि।
माओमरिया विद्रोह (1769-99)—असम एवं वर्तमान बांग्लादेश का कुछ हिस्सा; कृष्णनारायण इस विद्रोह का प्रमुख नेता था।
गोरखपुर, बस्ती एवं बहराइच में नागरिक विद्रोह (1781)—उत्तर प्रदेश।
विजियनगरम के राजा का विद्रोह—उत्तरी सरकार; विजयराम राजू (चिन्ना विजयरामराजू) का उसकी प्रजा ने समर्थन किया।
बेदनूर में विद्रोह (1799-1800)—कर्नाटक; धून्डिया वाघ।
केरल वर्मा पझासी राजा का विद्रोह (1797-1805)—केरल; केरल वर्मा।
अवध का जन-विद्रोह (1799)—पूर्वी उत्तर प्रदेश; वजीर अली खान (वाइजियर अली)।
गंजम एवं गुमसुर में विद्रोह (1800, 1935-37)—पूर्वी उड़ीसा; श्रीकर भंज; धनंजय भंज तथा दूरा बिसाई।
पलामू में विद्रोह (1800-02) झारखंड का छोटा नागपुर; भूखन सिंह विद्रोह का नेता था।
पोलिगर विद्रोह (1795-1805)—तमिलनाडु के तिन्नेवेली, रामनाथपुरम, सिवगिरी, मदुरई एवं उत्तरी अर्काट; कट्टाबोमा नायककन प्रमुख नेता था।
भिवानी विद्रोह (1809)—भिवानी; हरियाणा के जाटों ने प्रबल विद्रोह किया।
दीवान वेलू थम्पी का विद्रोह (1808-09)—त्रावणकोर; दीवान वेलू थम्पी ने नेतृत्व प्रदान किया।
बुंदेलखंड में विद्रोह (1808-12)—बुंदेलखंड का क्षेत्र वर्तमान मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में है। लक्ष्मण दावा, दरया सिंह एवं गोपाल सिंह मुख्य विद्रोही थे।
परलकीमेडी विद्रोह (1813-34)—ओडिशा; नारायण देओ एवं गजपथि देओ।
कच्छ विद्रोह (1816-1832)—गुजरात; राव भारमल।

बरेली में विद्रोह (1816)—उत्तर प्रदेश; मुफ्ती मोहम्मद एवाज, एक धार्मिक नेता; म्युनिसिपल कर के विरुद्ध प्रतिरोध एक धार्मिक जेहाद में परिवर्तित हो गया।
हाथरस में विद्रोह (1817)—उत्तर प्रदेश में अलीगढ़ एवं आगरा; दयाराम एवं भगवंत सिंह प्रमुख विद्रोही थे।
पायक विद्रोह (1817)—ओडिशा; बक्शी जगबंधु विद्याधर, मुकुंद देव एवं दीनबंधु संतरा मुख्य नेता थे।
वघेरा विप्लव (1818-20)—गुजरात का बड़ौदा क्षेत्र; ओखा मण्डल के वघेरा मुखिया द्वारा नेतृत्व प्रदान किया गया।
अहोम विद्रोह (1828)—असम; अन्य नेताओं के बीच गोमधर कोनवार, महाराजा पुरंदर सिंह, नरेंद्र गदाधर सिंह तथा कुमार रूपचंद्र ने प्रमुख नेतृत्व प्रदान किया।
सूरत नमक विद्रोह (1844)—गुजरात; सूरत के लोगों द्वारा यूरोपियों पर हमला इसलिए किया गया कि नमक कर में वृद्धि कर दी गई थी।
गडकरी विद्रोह (1844)—महाराष्ट्र का कोल्हापुर; गडकरी, एक वंशानुगत सैन्य वर्ग, बेरोजगारी एवं कृषि संबंधी परेशानियों के चलते विद्रोह किया।
सावंतवादी विद्रोह (1844-59)—उत्तरी कोंकण तट; फोंड सावंत, सुवाना निकम, दाजी लक्ष्मण तथा हर सावंत निगनेकर मुख्य विद्रोही थे।
वहाबी आंदोलन (1830-61)—बिहार, बंगाल, उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत, पंजाब इत्यादि; रायबरेली के सैयद अहमद द्वारा एक मुस्लिम पुनरुद्धार आंदोलन की शुरुआत की गई।
कूका आंदोलन (1840-1872)—पंजाब; जवाहर भगत मल द्वारा एक धार्मिक आंदोलन शुरू किया गया जो एक राजनीतिक आंदोलन में परिवर्तित हो गया। एक प्रमुख नेता, राम सिंह, को रंगून भेज दिया गया।

- **किसान आंदोलन**

नारकेलबेरिया विप्लव (1831)—24 परगना (बंगाल); टीटू मीर ने हिंदू भूमिपतियों के खिलाफ पश्चिम बंगाल में मुस्लिम काश्तकारों को प्रेरित किया।
पागलपंथी (1825-35)—मेमनसिंह जिला (बंगाल); करमशाह और उनके पुत्र टीपू ने जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह किया।
फरायजी विद्रोह (1838-57)—पूर्वी बंगाल में फरीदपुर; शरीयतुल्ला, दुदू मियां का पुत्र, धार्मिक पंथ (फरायजी) का संस्थापक था।
मोपला विद्रोह (1836-1854)—केरल का मालाबार क्षेत्र; राजस्व मांग एवं जोत के आकार में कमी जैसे मुद्दों के खिलाफ।

- **आदिवासी विद्रोह**

पहाड़िया विद्रोह (1778)—राजमहल पहाड़िया।
चुआर विद्रोह (1766-1772, 1795-1816)—बंगाल का मिदनापुर जिला; शाम गंजन, दुर्जन सिंह और माधव सिंह प्रमुख नेता थे।

कोल विद्रोह (1831)—रांची, सिंहभूम, हजारीबाग, पलामू और मानभूम; बुद्धो भगत एक प्रमुख नेता था।

हो एवं मुण्डा विद्रोह (1820-22, 1831-37, 1899-1900)—छोटा नागपुर क्षेत्र; 1899-1900 में बिरसा मुण्डा ने विद्रोह का नेतृत्व किया।

संथाल विद्रोह (1855-56)—राजमहल पहाड़ियां (बिहार); सिद्धू एवं कान्हू मुख्य नेता थे।

खोंड विद्रोह (1837-1856)—ओडिशा से आंध्र प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र; चक्र बिसोई इस विद्रोह का प्रमुख नेता था।

कोया विद्रोह (1803, 1840-1862, 1879-80)—आंध्र प्रदेश का पूर्वी गोदावरी क्षेत्र; टोम्मा सोरा और राजा अनंतैय्यार प्रमुख नेता थे।

भील विद्रोह (1817-19, 1913)—खानदेश, धार, मालवा, पश्चिमी घाट, और दक्षिणी राजस्थान।

कोली प्रतिरोध (1829, 1839 और 1844-48)—पश्चिमी घाट

खासी विद्रोह (1829-33)—गारो एवं जयन्तिया के मध्य पहाड़ी क्षेत्र, सिलहट; तीरथ सिंह के नेतृत्व में खासी, गारो, खाम्पति और सिंग्फोस ने स्वयं को संगठित किया।

सिंग्फोस विद्रोह (1830-31, 1839, 1849)—असम-बर्मा सीमा; निरंगा फिदू ने 1849 में इस विद्रोह का नेतृत्व किया।

- **सैन्य/सिपाही विद्रोह**

वैल्लोर विद्रोह (1806)

47वीं नेटिव इन्फैन्ट्री यूनिट का विद्रोह (1824)

ग्रेनेडियर कंपनी का विद्रोह (1825), असम

शोलापुर में विद्रोह (1838)

34वीं नेटिव इन्फैन्ट्री (1844)

22वीं नेटिव इन्फैन्ट्री (1849)

66वीं नेटिव इन्फैन्ट्री (1850)

37वीं नेटिव इन्फैन्ट्री (1852)

अध्याय 7

1857 का विद्रोह

धीमी गति से बढ़ता असंतोष

1757 में, प्लासी युद्ध के पश्चात्, ब्रिटिश शासन ने उत्तरी भारत में शक्ति एवं सत्ता हासिल करने की ओर पहला कदम बढ़ाया। 1757 के पश्चात् औपनिवेशिक शासन द्वारा अपनाई गई नीतियों और उसके स्वरूप के विरुद्ध असंतोष के रूप में 1857 का प्रथम बड़ा एवं व्यापक विद्रोह हुआ, जिसके पश्चात् भारत पर ब्रिटिश शासन की नीतियों में परिवर्तन किए गए। ब्रिटिश विस्तारवादी नीतियों, आर्थिक शोषण और विभिन्न वर्षों में प्रशासनिक नवोन्मेषों ने भारतीय राज्यों के शासकों, सिपाहियों, जमींदारों, किसानों, व्यापारियों, शिल्पकारों, पंडितों, मौलवियों इत्यादि की स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया। यह धीमी गति से बढ़ता असंतोष 1857 में एक हिंसक तूफान के रूप में भड़का जिसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया।

हालांकि, 1757-1857 की अवधि शांतिपूर्ण एवं कठिनाई मुक्त नहीं थी। इस दौरान धार्मिक-राजनीतिक हिंसा, जनजाति विद्रोह, किसान विद्रोह एवं दंगे तथा असैन्य/नागरिक विद्रोह के रूप में छिटपुट लोकप्रिय विद्रोहों की एक शृंखला ने कार्य किया। आदिवासी अंग्रेजों की भूमि बंदोबस्त नीतियों से असंतुष्ट एवं नाराज थे जिसने उनके संयुक्त स्वामित्व परम्परा के विरुद्ध जाकर, सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर दिया। बढ़ी हुई राजस्व मांगों—यहां तक कि अकाल के वर्षों में भी—ने क्रोध को जन्म दिया। कई बार, स्थानीय महाजनों के विरुद्ध आंदोलन कंपनी शासन के विरुद्ध विद्रोह बन गया, जैसाकि महाजनों को पुलिस का समर्थन प्राप्त था। उनके धर्म एवं परम्परागत प्रथाओं में अंग्रेजों द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप ने भी रोष में वृद्धि की, जिसके परिणामस्वरूप विद्रोह भड़के। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के बेहद शुरुआती दिनों में उसके विरुद्ध विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कारणों से विद्रोह हुए। कुछ आंदोलन 1857 के विद्रोह के पश्चात भी जारी रहे। दक्षिण, पूर्व, पश्चिम एवं पूर्वोत्तर क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विद्रोह हुए जिन्हें कंपनी ने बर्बरतापूर्वक कुचल दिया। [पिछले अध्याय (अध्याय-6 में) में इनमें से कुछ प्रमुख विद्रोहों का उल्लेख एवं वर्णन किया गया है।]

1857 का विद्रोहः मुख्य कारण

1857 का भारतीय विद्रोह, जिसे प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, सिपाही विद्रोह और भारतीय विद्रोह के नाम से भी जाना जाता है, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह था। यह विद्रोह दो वर्षों तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों में चला। इस विद्रोह का आरंभ छावनी क्षेत्रों में छोटी झड़पों तथा आगजनी से हुआ था, परंतु कुछ समय पश्चात् इसने एक बड़ा रूप ले लिया। विद्रोह का अंत भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की समाप्ति के साथ हुआ और पूरे भारत पर ब्रिटिश ताज का प्रत्यक्ष शासन आरंभ हो गया। अन्य प्रमुख एवं पहले के विद्रोहों की तरह 1857 के विद्रोह के विभिन्न राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सैनिक तथा सामाजिक कारण थे।

आर्थिक कारण

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के उद्योग धंधों को नष्ट कर दिया तथा श्रमिकों से बलपूर्वक अधिक से अधिक श्रम कराकर उन्हें कम पारिश्रमिक देना प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त अकाल और बाढ़ की स्थिति में भारतीयों की किसी भी प्रकार की सहायता नहीं की जाती थी और उन्हें अपने हाल पर मरने के लिए छोड़ दिया जाता था।

सन 1813 में कंपनी ने एकतरफा मुक्त व्यापार की नीति अपना ली। इसके अंतर्गत ब्रिटिश व्यापारियों को आयात करने की पूरी छूट मिल गयी। परम्परागत तकनीक से बनी हुई भारतीय वस्तुएं इसके सामने टिक नहीं सकीं और भारतीय शहरी हस्तशिल्प व्यापार को अकल्पनीय क्षति हुई।

भारतीय व्यापार एवं व्यापारी वर्ग को ब्रिटिश शासन द्वारा जानबूझकर बर्बाद कर दिया गया, जिन्होंने भारत में बनी चीजों पर उच्च करारोपण/प्रशुल्क लगाए। उसी समय, ब्रिटेन में बनी वस्तुओं पर निम्न कर लगाकर उन्हें भारत में आयात करके प्रोत्साहित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, भारत से कपास एवं सिल्क के कपड़ों का निर्यात वस्तुतः समाप्त हो चुका था। मुक्त व्यापार एवं ब्रिटेन से आने वाली मशीन निर्मित वस्तुओं के विरुद्ध रक्षात्मक करों को लगाने से इंकार ने भारतीय विनिर्माण क्षेत्र को समाप्त कर दिया।

रेल सेवा के आने के साथ ग्रामीण क्षेत्र के लघु उद्यम भी नष्ट हो गए। रेल सेवा ने ब्रिटिश व्यापारियों को दूर-दराज के गांवों तक पहुंच दे दी। सर्वाधिक क्षति कपड़ा उद्योग (कपास और रेशम) को हुई। 18वीं और 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन और यूरोप में आयात कर और अनेक रुकावटों के चलते भारतीय निर्यात समाप्त हो गया। पारम्परिक उद्योगों के नष्ट होने और साथ-साथ आधुनिक उद्योगों का विकास न होने के कारण यह स्थिति अधिक विषम हो गई।

कंपनी ने खेती के सुधार पर बेहद कम खर्च किया और अधिकतर लगान कंपनी

के खर्चों को पूरा करने में प्रयोग होता था। ब्रिटिश कानून व्यवस्था के अंतर्गत भूमि हस्तांतरण वैध हो जाने के कारण किसानों को अपनी भूमि से भी हाथ धोना पड़ता था।

निम्न वर्गीय कृषकों तथा मजदूरों की स्थिति तो दयनीय थी ही, राजाओं और नवाबों तक की आर्थिक स्थिति बदहाल थी। भारत से प्राप्त खनिज संसाधनों और सस्ते श्रम के बल पर अंग्रेजों ने अपने उद्योग धंधों को विकास के चरम पर पहुंचा दिया, जबकि दूसरी ओर भारत में किसी नए उद्योग की स्थापना की बात तो दूर, छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों को भी समाप्त कर दिया गया। इससे भारत के प्रत्येक वर्ग में अंग्रेजों के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हुई और वे व्यापक विद्रोह के सूत्रधार बन गए।

राजनैतिक कारण

ईस्ट इंडिया कंपनी की 'प्रभावी नियंत्रण', 'सहायक संधि' और 'व्यपगत का सिद्धांत' जैसी नीतियों ने जन-असंतोष एवं विप्लव को बढ़ावा दिया।

वेलेजली ने भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राजनैतिक परिधि में लाने के लिए सहायक संधि प्रणाली का प्रयोग किया। इस प्रणाली ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार में विशेष भूमिका निभाई और उन्हें भारत का एक विस्तृत क्षेत्र हाथ लगा। इस कारण भारतीय राज्य अपनी स्वतंत्रता खो बैठे।

गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी के शासन काल में भारत के कुछ प्रमुख देशी राज्यों, यथा--झांसी, उदयपुर, संभलपुर, नागपुर आदि के राजाओं के कोई पुत्र नहीं थे। प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था के प्रावधानों के तहत योग्य उत्तराधिकारी के चयन के लिए ये राजा अपने मनोनुकूल किसी बच्चे को गोद ले सकते थे। परन्तु डलहौजी ने गोद लेने की इस प्रथा को अमान्य घोषित कर इन देशी राज्यों (रियासतों) को कम्पनी के शासनाधिकार में ले लिया। कम्पनी द्वारा शुरू की गई इस नयी नीति से सभी राजा असंतुष्ट थे और वे किसी ऐसे अवसर की तलाश में थे, जब पुनः अंग्रेजों को दबाकर अपनी रियासत पर अधिकार जमा सकें।

प्रशासनिक कारण

कंपनी प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, विशिष्ट रूप से पुलिस, निम्न अधिकारियों एवं अधीनस्थ अदालतों में, असंतोष का एक मुख्य कारण था। दरअसल, कई इतिहासकारों का मत है कि आज हम जो भ्रष्टाचार भारत में देखते हैं, वह कंपनी शासन की देन है। साथ ही भारतीयों की नजर में ब्रिटिश शासन का चरित्र विदेशी शासन का था।

सामाजिक-धार्मिक कारण

कम्पनी के शासन-विस्तार के साथ-साथ अंग्रेजों ने भारतीयों के साथ अमानुषिक व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया था। काले और गोरे का भेद स्पष्ट रूप से उभरने लगा

था। अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को गुलाम समझा जाता था। समाज में अंग्रेजों के प्रति उपेक्षा की भावना बहुत अधिक बढ़ गई थी, क्योंकि उनके रहन-सहन, अन्य व्यवहार एवं उद्योग-आविष्कार से भारतीय व्यक्तियों की सामाजिक मान्यताओं में अंतर पड़ता था। अपने सामाजिक जीवन में वे अंग्रेजों का प्रभाव स्वीकार नहीं करना चाहते थे। अंग्रेजों की खुद को श्रेष्ठ और भारतीयों को हीन समझने की भावना ने भारतीयों को क्रांति करने की प्रेरणा प्रदान की।

भारत में अंग्रेजों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में भारतीयों पर धार्मिक दृष्टि से भी कुठाराघात किया था। इस काल में योग्यता की जगह धर्म को पद का आधार बनाया गया। जो कोई भी भारतीय ईसाई धर्म को अपना लेता था, उसकी पदोन्नति कर दी जाती थी, जबकि भारतीय धर्म का अनुपालन करने वाले को सभी प्रकार से अपमानित किया जाता था। इससे भारतीय जनसाधारण के बीच अंग्रेजों के प्रति धार्मिक असहिष्णुता उत्पन्न हो गई थी। फिर, ईसाई धर्म का इतना अधिक प्रचार किया गया कि भारतीयों को यह संदेह होने लगा कि अंग्रेज उनके धर्म का सर्वनाश करना चाहते हैं। परिणामस्वरूप भारतवासी अंग्रेजों को धर्मद्रोही समझकर उन्हें देश से बाहर निकालने का मार्ग ढूंढने लगे और 1857 ई. में जब मौका मिला, तब हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध प्रहार किया।

बाहरी घटनाओं का प्रभाव

1857 का विद्रोह कुछ बाहरी घटनाओं—प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध (1838-42), पंजाब युद्ध (1845-49), एवं क्रीमिया युद्ध (1854-56),—जिसमें अंग्रेजों को भारी हानि हुई थी, से भी प्रेरित हुआ। इससे इस धारणा से उबरने का अवसर मिला कि अंग्रेज अपराजेय हैं। भारत के क्रांतिकारियों को इस युद्ध से नवीन आशा एवं प्रेरणा मिली कि हम भी अंग्रेजों को देश से निकाल सकते हैं और इसके लिए उन्होंने विद्रोह शुरू कर दिया।

सिपाहियों के बीच असंतोष

सिपाही मूलतः कंपनी की बंगाल सेना में काम करने वाले भारतीय मूल के सैनिक थे। बम्बई, मद्रास और बंगाल प्रेसीडेन्सी की अपनी अलग सेना और सेना प्रमुख होता था। इस सेना में ब्रिटिश सेना से अधिक सिपाही थे। वर्ष 1857 में इस सेना में 2,57,000 सिपाही थे। बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सी की सेना में अलग-अलग क्षेत्रों के लोग होने के कारण ये सेनाएं विभिन्नता से पूर्ण थीं और इनमें किसी एक क्षेत्र के लोगों का प्रभुत्व नहीं था। लेकिन बंगाल प्रेसीडेन्सी की सेना में भर्ती होने वाले सैनिक मुख्यतः अवध और गंगा के मैदानी क्षेत्रों के भूमिहार ब्राह्मण और राजपूत थे। कंपनी के प्रारंभिक वर्षों में बंगाल सेना में जातिगत विशेषाधिकारों और रीति-रिवाजों को महत्व दिया जाता था, परंतु सन् 1840 के पश्चात् कलकत्ता में आधुनिकता पसंद सरकार आने के पश्चात्

सिपाहियों में अपनी जाति खोने की आशंका बढ़ गई। सेना में सिपाहियों को जाति और धर्म से संबंधित चिन्ह पहनने से मना कर दिया गया। सन् 1856 में एक आदेश के अंतर्गत सभी नए भर्ती सिपाहियों को विदेश में कुछ समय के लिए काम करना अनिवार्य कर दिया गया। सिपाही धीरे-धीरे सैन्य-जीवन के विभिन्न पहलुओं से असंतुष्ट हो चुके थे। सेना का वेतन कम था। भारतीय सैनिकों का वेतन मात्र सात रुपए प्रतिमाह था। अवध और पंजाब जीतने के पश्चात् सिपाहियों का भत्ता भी समाप्त कर दिया गया था। एनफील्ड बंदूक के बारे में फैली अफवाहों ने सिपाहियों की आशंका को अधिक बढ़ा दिया कि कंपनी उनकी धर्म और जाति परिवर्तन करना चाहती है।

अंततः ब्रिटिश भारतीय सेना में विद्रोहों—बंगाल (1764), वेल्लौर (1806), बैरकपुर (1825) और अफगान युद्ध (1838-42) के दौरान—का एक लंबा इतिहास है, जिसमें से ये कुछ हैं।

अफवाहें: इस समय एक अफवाह फैली थी कि, कंपनी का शासन 1757 में प्लासी के युद्ध से प्रारंभ हुआ था और सन् 1857 में 100 वर्षों के पश्चात् समाप्त हो जाएगा। चपातियां और कमल के फूल भारत के अनेक भागों में वितरित होने लगे। ये आने वाले विद्रोह के लक्षण थे।

विद्रोह का प्रारंभ एवं विस्तार

विद्रोह की चिंगारी

आटे में हड्डियों के चूर्ण की मिलावट और एनफील्ड बंदूकों के लाए जाने की खबरों ने सरकार के साथ सिपाहियों के मन-मुटाव को बढ़ा दिया। नई एनफील्ड बंदूक भरने के लिए कारतूस को दांतों से काटकर खोलना पड़ता था और उसमें भरे हुए बारूद को बंदूक की नली में भरकर कारतूस को डालना पड़ता था। कारतूस के बाहरी आवरण में चर्बी होती थी जो कि उसे सीलन से बचाती थी। सिपाहियों के बीच अफवाह फैल चुकी थी कि कारतूस में लगी हुई चर्बी सुअर और गाय के मांस से बनायी जाती है। यह हिंदू और मुसलमान सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं के विरुद्ध था। गाय हिंदुओं के लिए पवित्र थी जबकि सुअर की हत्या मुसलमानों के लिए वर्जित थी।

चर्बी वाले कारतूसों ने सेना में असंतोष के नए कारण को पैदा नहीं किया, अपितु धीमी गति से बढ़ते असंतोष को खुलकर बाहर आने का अवसर प्रदान किया।

सबसे पहले बैरकपुर छावनी में मंगल पांडेय ने 29 मार्च, 1857 को ऐसे कारतूस के प्रयोग का विरोध किया। उसने काफी उत्पात मचाया—8 अप्रैल, 1857 को उसे फांसी दे दी गई। 6 मई को सैनिकों ने फिर विरोध किया। अब कम्पनी ने भारतीय सैनिकों का रुख देखते हुए उनके शस्त्रास्त्र जब्त करना आरम्भ कर दिया, सैनिकों को सजा दी जाने लगी और उन्हें बड़ी संख्या में कैद किया जाने लगा। अंत में, 10

मई, 1857 को सैनिकों ने व्यापक स्तर पर विरोध कर विद्रोह की घोषणा कर दी और क्रांति की शुरुआत हो गई।

क्रांति की शुरुआत

1857 की क्रांति का सूत्रपात बैरकपुर छावनी के स्वतंत्रता प्रेमी सैनिक मंगल पाण्डे ने किया। 29 मार्च, 1857 को नए कारतूसों के प्रयोग के विरुद्ध मंगल पाण्डे ने आवाज उठायी। ध्यातव्य है, कि अंग्रेजी सरकार ने भारतीय सेना के उपयोग के लिए जिन नए कारतूसों को उपलब्ध कराया था, उनमें सूअर और गाय की चर्बी का प्रयोग किया गया था। छावनी के भीतर मंगल पाण्डे को पकड़ने के लिए जो अंग्रेज अधिकारी आगे बढ़े, उसे मौत के घाट उतार दिया। 8 अप्रैल, 1857 ई. को मंगल पाण्डे को फांसी की सजा दी गई। उसे दी गई फांसी की सजा की खबर सुनकर सम्पूर्ण देश में क्रांति का माहौल स्थापित हो गया।

6 मई, 1857 को भारतीय सैनिकों ने फिर नए कारतूसों के प्रयोग का विरोध किया। विरोध करने वाले सैनिकों को दस वर्षों के कैद की सजा मिली। सैनिकों से हथियार छीन लिए गए। हथियार छीने जाने को मेरठ में पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं ने भी अपमान का विषय समझा। ऐसी स्थिति में सैनिकों के लिए अंग्रेजों से बदला लेना परम कर्त्तव्य हो गया। मेरठ के सैनिकों ने 10 मई, 1857 ई. को ही जेलखानों को तोड़ना, भारतीय सैनिकों को मुक्त करना और अंग्रेजों को मारना शुरू कर दिया।

मेरठ में मिली सफलता से उत्साहित सैनिक दिल्ली की ओर बढ़े। दिल्ली आकर क्रांतिकारी सैनिकों ने कर्नल रिप्ले की हत्या कर दी और दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया। इसी समय अलीगढ़, इटावा, आजमगढ़, गोरखपुर, बुलंदशहर आदि में भी स्वतंत्रता की घोषणा की जा चुकी थी।

सांकेतिक मुखिया/प्रमुख के रूप में बहादुर शाह जफर का चुनाव

दिल्ली में, स्थानीय इन्फैन्टी विद्रोहियों में शामिल हो गई, और उन्होंने राजनीतिक एजेंट, साइमन फेजर सहित अपने यूरोपीय अधिकारी की हत्या कर दी और शहर पर कब्जा कर लिया। लेफ्टिनेंट विलोबी, जो दिल्ली में पत्रिका के इंचार्ज थे, ने कुछ हद तक विद्रोहियों का मुकाबला किया लेकिन जल्द ही धराशायी हो गए। वृद्ध एवं शक्तिहीन बहादुरशाह जफर को भारत का शासक घोषित किया गया।

जल्द ही दिल्ली इस महान क्रांति का केंद्र बन गई और बहादुरशाह इसके प्रीतक बन गए। देश के नेतृत्व के लिए अंतिम मुगल शासक का स्वाभाविक उत्थान इस तथ्य की पुष्टि करता है कि मुगल वंश का लंबा शासन भारत की राजनीतिक एकता का परम्परागत प्रतीक/चिन्ह बन गया था। इस एकमात्र कार्य से, सिपाहियों ने सिपाही विद्रोह को क्रांतिकारी युद्ध में तब्दील कर दिया, जबकि सभी भारतीय रजवाड़ों के

शासकों ने, जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया, जल्द ही मुगल शासक के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा की। यह भी महत्वपूर्ण है कि विद्रोही राजनैतिक रूप से प्रोत्साहित एवं प्रेरित थे। यद्यपि धर्म एक कारक था। विद्रोहियों का व्यापक दृष्टिकोण धार्मिक पहचान से प्रभावित नहीं था, अपितु इस बात की अवधारणा से प्रभावित था कि अंग्रेजी शासन उनका साझा शत्रु है।

बहादुरशाह जफर ने, शुरुआती हिचकिचाहट के पश्चात्, भारत के सभी प्रमुखों एवं शासकों को पत्र लिखा और उन्हें ब्रिटिश शासन से लड़ने और प्रतिस्थापित करने हेतु भारतीय राज्य का एक परिसंघ संगठित करने के लिए प्रेरित किया। समस्त बंगाल सेना ने जल्द ही विद्रोह की आवाज बुलंद की जो तेजी से फैल गई। अवध, रोहेलखण्ड, दोआब, बुंदेलखण्ड, मध्य भारत, बिहार का अधिकांश भाग और पूर्वी पंजाब ने ब्रिटिश शासन की जड़ें हिला दीं।

विद्रोह में लोगों की सहभागिता

सिपाहियों के विद्रोह को आम लोगों का समर्थन मिला, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी प्रांतों तथा अवध का। उन्हें लंबे समय से एकत्रित असंतोष की अभिव्यक्ति का अवसर मिल गया और उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विरोध की अभिव्यक्ति हेतु एक-साथ आवाज बुलंद की। विद्रोह में किसानों, दस्तकारों, दुकानदारों, दिहाड़ी मजदूरों, जमींदारों, धार्मिक भिक्षुओं, पुजारियों तथा लोक अधिकारियों की व्यापक सहभागिता रही, जिसने इसे शक्ति देने के साथ-साथ लोकप्रिय विद्रोह का रूप भी प्रदान किया। यहां किसानों एवं छोटे जमींदारों ने अपने असंतोष को अभिव्यक्ति देने के लिए महाजनों एवं जमींदारों पर हमले किए, जिन्होंने उन्हें उनकी जमीन से बेदखल किया था। उन्होंने महाजनों के लेखों एवं ऋण संबंधी अभिलेखों को नष्ट करने के लिए विद्रोह का लाभ उठाया। उन्होंने ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित न्यायालयों, राजस्व कार्यालय (तहसील), राजस्व अभिलेख तथा पुलिस स्टेशनों पर भी हमले किए।

एक आकलन के अनुसार, अवध में अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने वाले लगभग 1,50,000 पुरुषों में से 1,00,000 से अधिक आम नागरिक थे।

दिल्ली पर कब्जा करने के एक माह के भीतर, विद्रोह देश के विभिन्न भागों में फैल गया।

विद्रोह के प्रमुख केंद्र एवं नेतृत्वकर्ता

यद्यपि 1857 के विद्रोह का नेतृत्व दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह जफर कर रहे थे परंतु यह नेतृत्व औपचारिक एवं नाममात्र का था। विद्रोह का वास्तविक नेतृत्व **जनरल बख्त खां** के हाथों में था, जो बरेली के सैन्य विद्रोह के अगुआ थे तथा बाद में अपने सैन्य साथियों के साथ दिल्ली पहुंचे थे। बख्त खां के नेतृत्व वाले दल में प्रमुख रूप से 10 सदस्य थे, जिनमें से सेना के 6 तथा 4 नागरिक विभाग से थे। यह दल या न्यायालय

सम्राट के नाम से सार्वजनिक मुद्दों की सुनवाई करता था। बहादुरशाह जफर का विद्रोहियों पर न तो नियंत्रण था न ही ज्यादा संपर्क। बहादुरशाह का दुर्बल व्यक्तित्व, वृद्धावस्था तथा नेतृत्व अक्षमता विद्रोहियों को योग्य नेतृत्व देने में सक्षम नहीं थी।

कानपुर में अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र **नाना साहब** सभी की पसंद थे। उन्हें कम्पनी ने उपाधि एवं महल दोनों से वंचित कर दिया था तथा पूना से निष्कासित कर कानपुर में रहने पर बाध्य कर दिया था। विद्रोह के पश्चात नाना साहब ने स्वयं को पेशवा घोषित कर दिया तथा स्वयं को भारत के सम्राट बहादुरशाह के गवर्नर के रूप में मान्यता दी। 27 जून 1857 को सर ह्यू व्हीलर ने कानपुर में आत्मसमर्पण कर दिया।

लखनऊ में विद्रोह का नेतृत्व **बेगम हजरत महल** ने किया। यहां 4 जून 1857 को प्रारंभ हुए विद्रोह में सभी की सहानुभूति बेगम के साथ थी। बेगम हजरत महल के पुत्र बिरजिस कादिर को लखनऊ का नवाब घोषित कर दिया गया तथा समानांतर सरकार की स्थापना की गयी। इसमें हिन्दुओं एवं मुसलमानों की समान भागीदारी थी। यहां के अंग्रेज रेजीडेंट हेनरी लारेंस ने अपने कुछ वफादार सैनिकों के साथ ब्रिटिश रेजीडेंसी में प्रश्रय लिया। लेकिन विद्रोहियों ने रेजीडेंसी पर आक्रमण किया तथा हेनरी लारेंस को मौत के घाट उतार दिया। तत्पश्चात ब्रिगेडियर इंग्लिश ने विद्रोहियों का बहादुरीपूर्वक प्रतिरोध किया। बाद में सर जेम्स आउट्रम तथा सर हेनरी हैवलॉक ने लखनऊ को जीतने का यथासंभव प्रयास किया पर वे भी सफल नहीं हो सके। अंततः नये ब्रिटिश कमांडर इन-चीफ सर कोलिन कैम्पबेल ने गोरखा रेजीमेंट की सहायता से मार्च 1858 में नगर पर अधिकार प्राप्त करने में सफलता पायी। मार्च 1858 तक लखनऊ पूरी तरह अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया फिर भी कुछ स्थानों पर छिटपुट विद्रोह की घटनायें होती रहीं।

रोहिलखण्ड के पूर्व शासक के उत्तराधिकारी **खान बहादुर** ने स्वयं को बरेली का सम्राट घोषित कर दिया। कम्पनी द्वारा निर्धारित की गई पेंशन से असंतुष्ट होकर अपने 40 हजार सैनिकों की सहायता से खान बहादुर ने लम्बे समय तक विद्रोह का झंडा बुलंद रखा।

बिहार में एक छोटी रियासत जगदीशपुर के जमींदार **कुंवर सिंह** ने यहां विद्रोह का नेतृत्व किया। इस 70 वर्षीय बहादुर जमींदार ने दानापुर से आरा पहुंचने पर सैनिकों को सुदृढ़ नेतृत्व प्रदान किया तथा ब्रिटिश शासन को कड़ी चुनौती दी।

फैजाबाद के **मौलवी अहमदउल्ला** 1857 के विद्रोह के एक अन्य प्रमुख नेतृत्वकर्ता थे। वे मूलतः मद्रास के निवासी थे। बाद में वे फैजाबाद आ गये थे तथा 1857 विद्रोह के अन्तर्गत जब अवध में विद्रोह हुआ तब मौलवी अहमदउल्ला ने विद्रोहियों को एक सक्षम नेतृत्व प्रदान किया।

किंतु 1857 के विद्रोह में इन सभी नेतृत्वकर्ताओं में सबसे प्रमुख नाम झांसी की रानी **लक्ष्मीबाई** का था, जिसने झांसी में सैनिकों को ऐतिहासिक नेतृत्व प्रदान किया। झांसी के शासक राजा गंगाधर राव की मृत्यु के पश्चात लार्ड डलहौजी ने राजा के दत्तक पुत्र को झांसी का राजा मानने से इंकार कर दिया तथा 'व्यपगत के सिद्धांत' के आधार पर झांसी को कम्पनी के साम्राज्य में मिला लिया। तदुपरांत गंगाधर राव की विधवा महारानी लक्ष्मीबाई ने 'मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी' का नारा बुलंद करते हुए विद्रोह का मोर्चा संभाल लिया। कानपुर के पतनोपरांत नाना साहब के दक्ष सहायक **तात्या टोपे** के झांसी पहुंचने पर लक्ष्मीबाई ने तात्या टोपे के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह प्रारंभ कर दिया। तात्या टोपे एवं लक्ष्मीबाई की सम्मिलित सेनाओं ने ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया जहां कुछ अन्य भारतीय सैनिक उनकी सेना से आकर मिल गये। ग्वालियर के शासक सिंधिया ने अंग्रेजों का समर्थन करने का निश्चय किया तथा आगरा में शरण ली। कानपुर में नाना साहब ने स्वयं को पेशवा घोषित कर दिया तथा दक्षिण में अभियान करने की योजना बनायी। जून 1858 तक ग्वालियर पुनः अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया।

आम लोगों द्वारा किया गया बलिदान अकथनीय एवं अकल्पनीय था। इस संदर्भ **में शाह मल,** बागपत (उत्तर प्रदेश) के बड़ौत परगना में एक ग्रामीण, का नाम बेहद उल्लेखनीय है। उसने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के लिए लोगों को प्रेरित करने के लिए रात में गांव-गांव जाकर, 84 गांवों के मुखियाओं एवं किसानों को संगठित किया। उसके लोगों ने सरकारी भवनों पर कब्जा कर लिया, नदियों पर बने पुलों को ध्वस्त कर दिया और सड़कों को तोड़ दिया। आंशिक रूप से सरकारी कार्यबलों को क्षेत्र में आने से रोक दिया। शाह मल ने दिल्ली में विद्रोहियों को सामान की आपूर्ति की और ब्रिटिश मुख्यालय तथा मेरठ के बीच सभी आधिकारिक संचार को ठप्प कर दिया। उसने यमुना नदी पर सिंचाई विभाग के बंगले में अपना मुख्यालय बनाया और वहां से अपने अभियान/कार्य का पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण किया। वस्तुतः बंगले को 'विवादों को सुलझाने तथा न्याय प्रदान करने के लिए 'न्याय घर' के रूप में तब्दील कर दिया गया। उसने थोड़े समय के लिए आश्चर्यजनक रूप से आसूचना के एक प्रभावी तंत्र का भी गठन किया, और उस क्षेत्र के लोगों ने महसूस किया कि ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया है, और स्वशासन स्थापित हो गया है। दुर्भाग्यवश, जुलाई 1857 में, शाहमल को एक अंग्रेजी अधिकारी 'डनलप' द्वारा मार डाला गया। यह आरोप लगाया गया कि शाहमल के शरीर के कई टुकड़े किए गए और लोगों को भयभीत करने के लिए 21 जुलाई, 1857 को उसके सिर को सार्वजनिक रूप से लटका दिया गया। 1857 का विद्रोह लगभग 1 वर्ष से अधिक समय तक विभिन्न स्थानों पर चला तथा जुलाई 1858 तक पूर्णतया शांत हो गया।

विद्रोह का दमन

क्रांति के राष्ट्रव्यापी स्वरूप और भारतीयों में अंग्रेजी सरकार के प्रति बढ़ते आक्रोश को देखकर अंग्रेजी सरकार घबरा गयी। क्रांति की विभीषिका को देखते हुए अंग्रेजी सरकार ने निर्ममतापूर्ण दमन की नीति अपनायी। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड केनिंग ने बाहर से अंग्रेजी सेनाएं मंगवायीं। जनरल नील के नेतृत्व वाली सेना ने बनारस और इलाहाबाद में क्रांति को जिस प्रकार से कुचला, वह पूर्णतः अमानवीय था। क्रांतिकारियों को छोड़ जनसाधारण का कत्ल किया गया, गांवों को लूटा गया और निर्दोषों को भी फांसी की सजा दी गई।

कमाण्डर इन चीफ जनरल एनसन ने रेजिमेण्टों को आदेश देकर फिरोजपुर, जालंधर, फुलवर, अम्बाला आदि में निर्ममता के साथ लोगों की हत्या करवायी। सैनिक नियमों का उल्लंघन कर कैदी सिपाहियों में से अनेकों को तोप के मुंह पर लगाकर उड़ा दिया गया। पंजाब में सिपाहियों को घेरकर जिन्दा जला दिया गया।

अंग्रेजों ने केवल अपनी सैन्य शक्ति के सहारे ही क्रांति का दमन नहीं किया, बल्कि उन्होंने प्रलोभन देकर बहादुरशाह को गिरफ्तार करवा लिया, उसके पुत्रों की हत्या करवा दी, सिक्खों और मद्रासी सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया। वस्तुतः, क्रांति के दमन में सिक्ख रेजिमेण्ट ने यदि अंग्रेजी सरकार की सहायता नहीं की होती, तो अंग्रेजी सरकार के लिए क्रांतिकारियों को रोक पाना टेढ़ी खीर ही साबित होता। क्रांति के दमन में अंग्रेजों को इसलिए भी सहायता मिली कि विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय में क्रांति ने जोर पकड़ा था।

विद्रोह को अंततः कुचल दिया गया। ब्रिटिश शासन ने एक लंबी एवं भयानक लड़ाई के पश्चात् 20 सितम्बर, 1857 को दिल्ली पर कब्जा कर लिया। जॉन निकोलसन, इस घेराबंदी को नेतृत्व प्रदान करने वाला, बुरी तरह घायल हो गया और बाद में उसने दम तोड़ दिया।

1859 के अंत तक, भारत पर ब्रिटिश सत्ता पुनः काबिज हो गई। ब्रिटिश सरकार ने देश में अत्यधिक लोगों, धन एवं हथियारों की आपूर्ति की, यद्यपि भारतीयों के दमन के माध्यम से बाद में इस पूरी लागत को वसूल लिया गया।

विद्रोह असफल क्यों हुआ?

क्रांतिकारियों ने जिस उद्देश्य से 1857 की क्रांति का सूत्रपात किया था, उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्होंने सोचा था कि अंग्रेजों को बाहर खदेड़ कर भारत को स्वाधीन कर देंगे। परन्तु, क्रांति के दमन के बाद अंग्रेजों ने ऐसी नीति अपनायी कि 90 और वर्षों तक भारतीयों को गुलाम बनाए रखने में सफल रहे। इस महान् क्रांति की असफलता के अनेक कारण थे, जिनमें कुछ प्रमुख हैं–

विद्रोह में सभी वर्गों का शामिल न होना

कुछ वर्गों ने विद्रोह में सहभागिता नहीं की, वस्तुतः, इसके विरुद्ध कार्य किया। बड़े जमींदारों एवं तालुकदारों ने इसमें भाग नहीं लिया। महाजनों एवं व्यापारियों ने विद्रोहियों का पूरी तरह शोषण किया था, अतः ब्रिटिश संरक्षण में वे अधिक सुरक्षित थे। आधुनिक शिक्षित भारतीयों ने इस विद्रोह को पीछे लौटने के तौर पर देखा और उनका मानना था कि ब्रिटिश शासन भारत को आधुनिकता की ओर ले जाएगा। अधिकतर भारतीय शासकों ने विद्रोह में शामिल होने से मना कर दिया और प्रायः ब्रिटिश शासन की सक्रिय मदद की। पटियाला के शासक, सिंध एवं अन्य सिख सरदार, कश्मीर के महाराजा, ग्वालियर के सिंधिया और इंदौर के होल्कर विद्रोह में शामिल नहीं हुए। अधिकतर दक्षिण भारत इससे अधिक प्रभावित नहीं हुआ। एक आकलन के अनुसार, कुल क्षेत्र का एक-चौथाई और कुल जनसंख्या का एक-दसवां से अधिक भाग प्रभावित नहीं हुआ।

एक संगठित एवं एकबद्ध विचाराधारा का अभाव

विद्रोहियों को औपनिवेशिक शासन की स्पष्ट समझ नहीं थी, और न ही उनके पास भविष्योन्मुखी कार्यक्रम, एक सुसंगत विचारधारा, एक राजनीतिक परिदृश्य या एक सामाजिक विकल्प ही था। विद्रोही अलग-अलग समस्याओं एवं वर्तमान राजनीति की अवधारणाओं सहित विविध पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते थे।

भारतीयों के बीच एकता का अभाव भारतीय इतिहास के इस चरण में शायद उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। भारत में अभी भी आधुनिक राष्ट्रवाद के बारे में लोग अनभिज्ञ थे। वस्तुतः 1857 के विद्रोह ने भारतीय लोगों को साथ लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और एक देश से संबद्ध होने की चेतना जागृत की।

निश्चित समय की प्रतीक्षा न करना

1857 की क्रांति की देशव्यापी शुरूआत के लिए 31 मई 1857 का दिन निर्धारित किया गया था। एक ही दिन क्रांति शुरू होने पर उसका व्यापक प्रभाव होता। परन्तु, सैनिकों ने आक्रोश में आकर निश्चित समय के पूर्व 10 मई, 1857 को ही विद्रोह कर दिया। सैनिकों की इस कार्यवाही के कारण क्रांति की योजना अधूरी रह गयी। निश्चित समय का पालन नहीं होने के कारण देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांति की शुरूआत अलग-अलग दिनों में हुई। इससे अंग्रेजों को क्रांतिकारियों का दमन करने में काफी सहायता हुई। अनेक स्थानों पर तो 31 मई की प्रतीक्षा कर रहे सैनिकों के हथियार छीन लिए गए। यदि सभी क्षेत्रों में क्रांति का सूत्रपात एक साथ हुआ होता, तो तस्वीर कुछ और ही होती।

देशी राजाओं का देशद्रोही रूख

1857 की क्रांति का दमन करने में अनेक देशी राजाओं ने अंग्रेजों की खुलकर सहायता की। पटियाला, नाभा, जींद, अफगानिस्तान और नेपाल के राजाओं ने अंग्रेजों को सैनिक सहायता के साथ-साथ आर्थिक सहायता भी की। देशी राजाओं की इस देशद्रोहितापूर्ण भूमिका ने क्रांतिकारियों का मनोबल तोड़ा और क्रांति के दमन के लिए अंग्रेजी सरकार को प्रोत्साहित किया।

साम्प्रदायिकता का खेल

1857 ई. की क्रांति के दौरान अंग्रेजी सरकार हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाने में तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकी, परन्तु आंशिक रूप से ही सही साम्प्रदायिकता का खेल खेलने में सफल रही। साम्प्रदायिक भावनाओं को उभार कर ही अंग्रेजी सरकार ने सिक्ख रेजिमेण्ट और मद्रास के सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया। मराठों, सिक्खों और गोरखों को बहादुरशाह के खिलाफ खड़ा कर दिया गया। उन्हें यह महसूस कराया गया कि बहादुरशाह के हाथों में फिर से सत्ता आ जाने पर हिन्दुओं और सिक्खों पर अत्याचार होगा। इसका मूल कारण था कि सम्पूर्ण पंजाब में बादशाह के नाम झूठा फरमान अंग्रेजों की ओर से जारी किया गया, जिसमें कहा गया था कि लड़ाई में जीत मिलते ही प्रत्येक सिक्ख का वध कर दिया जाएगा। सैनिकों के साथ-साथ जनसाधारण को भी गुमराह किया गया। इस स्थिति में क्रांति का असफल हो जाना निश्चित हो गया। जब देश के भीतर देशवासी ही पूर्ण सहयोग न दें, तो कोई भी क्रांति सफलता प्राप्त नहीं कर सकती।

सम्पूर्ण देश में प्रसारित न होना

1857 ई. की क्रांति का प्रसार सम्पूर्ण भारत में नहीं हो सका था। सम्पूर्ण दक्षिण भारत और पंजाब का अधिकांश हिस्सा, भारत का पूर्वी एवं पश्चिमी भाग इस क्रांति से अछूते रहे। यदि इन क्षेत्रों में क्रांति का विस्तार हुआ होता, तो अंग्रेजों को अपनी शक्ति को इधर भी फैलाना पड़ता और वे पंजाब रेजिमेण्ट तथा मद्रास के सैनिकों को अपने पक्ष में करने में असफल रहते। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि उन क्षेत्रों में पूर्व में हुए विद्रोहों को कंपनी ने वर्बरतापूर्वक कुचल दिया था।

शस्त्रास्त्रों का अभाव

क्रांति का सूत्रपात तो कर दिया गया, किन्तु आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण क्रांतिकारी आधुनिक शस्त्रास्त्रों का प्रबंध करने में असफल रहे। अंग्रेजी सेना ने तोपों और लम्बी दूरी तक मार करने वाली बन्दूकों का प्रयोग किया, जबकि क्रांतिकारियों को तलवारों और भालों का सहारा लेना पड़ा। इसलिए, क्रांति को कुचलने में अंग्रेजों को सफलता प्राप्त हुई।

सहायक साधनों का अभाव

सत्ताधारी होने के कारण रेल, डाक, तार एवं परिवहन तथा संचार के अन्य सभी साधन अंग्रेजों के अधीन थे। इसलिए, इन साधनों का उन्होंने पूरा उपयोग किया। दूसरी ओर, भारतीय क्रांतिकारियों के पास इन साधनों का पूर्ण अभाव था। क्रांतिकारी अपना संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्र भेजने में असफल रहे। सूचना के अभाव के कारण क्रांतिकारी संगठित होकर अभियान की योजना बनाने तथा संचालन में असफल रहे। इसका पूरा-पूरा फायदा अंग्रेजों को मिला और अलग-अलग क्षेत्रों में क्रांति को क्रमशः कुचल दिया गया।

सैनिक संख्या में अंतर

एक तो विद्रोह करने वाले भारतीय सैनिकों की संख्या वैसे ही कम थी, दूसरे अंग्रेजी सरकार द्वारा बाहर से भी अतिरिक्त सैनिक मंगवा लिए गए थे। उस समय कम्पनी के पास वैसे 96,000 सैनिक थे। इसके अतिरिक्त देशी रियासतों के सैनिकों से भी अंग्रेजों को सहयोग मिला। अंग्रेज सैनिकों को अच्छी सैनिक शिक्षा मिली थी और उनके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र थे, परन्तु अपने परम्परागत हथियारों के साथ ही भारतीय क्रांतिकारियों ने जिस संघर्ष क्षमता का परिचय दिया, उससे कई स्थलों पर अंग्रेजों के दांत खट्टे हो गए। फिर भी, अंततः सफलता अंग्रेजों के हाथों ही लगी।

हिंदू-मुस्लिम एकता

1857 की क्रांति में हिन्दू और मुसलमानों ने एक साथ मिलकर भाग लिया। क्रांति का मसविदा तैयार करने से लेकर क्रांति के क्रियान्वयन तक दोनों सम्प्रदाय के लोगों ने एक-दूसरे का पूरा साथ दिया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान अंग्रेजों के विरोध में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैसी एकता फिर कभी दिखाई नहीं पड़ी। इसका कारण यह था कि अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति को हिन्दुओं और मुसलमानों को तोड़ने में लागू नहीं किया था। विद्रोहियों एवं सिपाहियों, हिंदु एवं मुसलमान दोनों, ने एक-दूसरे की भावनाओं का आदर किया। एक विशेष क्षेत्र में विद्रोह के सफल होने पर वहां तुरंत गाय को मारने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। नेतृत्व प्रदान करने वालों में हिंदू एवं मुस्लिम दोनों ही शामिल थे। नाना साहेब ने अजीमुल्लाह, एक मुसलमान एवं दक्ष राजनीतिक प्रचारक, को अपना सहायक बनाया हुआ था, जबकि रानी लक्ष्मीबाई को अफगान सैनिकों का ठोस समर्थन प्राप्त था।

इस प्रकार, 1857 के विद्रोह ने प्रकट किया कि भारत की राजनीति और लोग 1858 से पहले मूलतः सांप्रदायिक या पंथवादी नहीं थे।

प्रमुख विचार

'वर्ष सत्तावन का विद्रोह सिपाही विद्रोह मात्र था।' **–झेड राबर्ट्स**

'1857 की घटना सिर्फ गाय की चर्बी से उत्पन्न सैनिक उत्पात थी।'

–सर जॉन लॉरेंस

'1857 के विद्रोह को या तो सिपाही विद्रोह या अनधिकृत राजाओं तथा जमींदारों का अनियोजित प्रयत्न अथवा सीमित किसान-युद्ध कहा जा सकता है।'

–एडवर्ड टॉम्पसन तथा जी.टी. गैरेट

'1857 का विद्रोह स्वतंत्रता संघर्ष नहीं धार्मिक युद्ध था।'

–विलियम हॉवर्ड रसेल

'1857 के विद्रोह में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था और यह सैनिक विद्रोह से बढ़कर और कुछ भी नहीं था।'

–आर.सी. मजुमदार

'सन् सत्तावन का विद्रोह सिपाही विद्रोह नहीं, अपितु स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त भारतीय जनता का संगठित संग्राम था।'

–जवाहरलाल नेहरू

'1857 का विद्रोह केवल सैनिक विद्रोह नहीं था, अपितु यह भारतवासियों का अंग्रेजों के विरुद्ध धार्मिक, सैनिक शक्तियों के साथ राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा के लिए लड़ा गया युद्ध था।' **–जस्टिस मेकार्की**

'1857 का विद्रोह स्वधर्म और राजस्व के लिए लड़ा गया राष्ट्रीय संघर्ष था।'

–विनायक दामोदर सावरकर

'1857 का विद्रोह मुसलमानों के षड्यंत्र का परिणाम था।'

–सर जेम्स आउट्रम

'1857 ई. की क्रांति भारत की पवित्र भूमि से विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयास थी।'

– डॉ. सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी

'1857 का विद्रोह विदेशी शासन से राष्ट्र को मुक्त कराने का देशभक्तिपूर्ण प्रयास था।'

–बिपिन चन्द्र

'1857 का विद्रोह सचेत संयोग से उपजा राष्ट्रीय विद्रोह था।'

–बेंजामिन डिजरैली

'1857 का विद्रोह सैनिक विद्रोह न होकर नागरिक विद्रोह था।'

–जान ब्रूस नार्टन

'1857 के विद्रोह का आरंभिक स्वरूप सैनिक विद्रोह का ही था, किन्तु बाद में इसने राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया।'

–एस.एस. सेन

विद्रोह की प्रकृति

1857 के विद्रोह की प्रकृति पर विचारों में भिन्नता है। कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों के लिए यह मात्र 'सिपाही विद्रोह' था। सर जॉन सीले के अनुसार, ''यह पूरी तरह एक देशभक्ति रहित और स्वार्थी सिपाही विद्रोह था जिसका न तो कोई अपना नेता था और न ही जिसे लोगों का समर्थन प्राप्त था''। हालांकि, यह इस घटना की संपूर्ण तस्वीर नहीं है, जैसाकि इसमें सिपाहियों के अलावा आम लोगों के विभिन्न वर्गों ने भी भागीदारी की। सिपाहियों का असंतोष इस विप्लव का मात्र एक कारण था।

1857 ई. में हुए इस विद्रोह के सम्पूर्ण घटनाक्रम पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि यह एक राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत स्वतंत्रता संघर्ष था, परन्तु कुछ अंग्रेज इतिहासकारों और उनके समर्थक भारतीय इतिहासकारों द्वारा इसे 'सैनिक विद्रोह' अथवा 'गदर' की संज्ञा प्रदान कर इसके महत्त्व को कम करने की कोशिश की जाती है।

फ्रेड राबर्ट्स, एडवर्ड टॉम्पसन, जी.टी. गैरेट, सर जॉन सिले, जेम्स आउट्रम, विलियम हॉवर्ड रसेल, जी.बी. मैल्लेसन आदि पाश्चात्य इतिहासकारों के साथ-साथ रमेशचन्द्र मजुमदार, सुरेन्द्रनाथ सेन, हरिप्रसाद चट्टोपाध्याय, पूरनचंद जोशी आदि भारतीय इतिहास 1857 के विद्रोह को सैनिकों द्वारा छोटे स्तर पर किए गए विद्रोह के रूप में व्याख्यायित करते हैं। इनका मानना है कि 1857 के विद्रोह में राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था।

दूसरी ओर, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, विनायक दामोदर सावरकर, एस.ए.ए. रिजवी, बेंजामिन डिजरैली, जस्टिस मेकार्थी, जान ब्रूस नार्टन, बिपिन चन्द्र आदि-जैसे इतिहासकार 1857 के विद्रोह को भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रथम संघर्ष की संज्ञा दी है। इनका मानना है कि वर्ष 1857 का आन्दोलन जन-जीवन से सम्पृक्त, भारत से विदेशी आततायियों को निकालने के उद्देश्य से संबद्ध तथा एक संगठित और सुनियोजित कार्यक्रम था।

1857 का संग्राम यदि सैनिक विद्रोह मात्र था, तो उसमें सिर्फ सैनिकों ने ही भाग क्यों नहीं लिया? मेरठ से उठी क्रांति की लहर ने दो दिनों के भीतर ही दिल्ली को भी अपनी चपेट में ले लिया। वस्तुतः, विद्रोह में ग्रामीण और शहरी जनता सम्मिलित थी। हां, क्रांति की शुरूआत सैनिकों ने की थी।

वर्ष 1857 के विप्लव में क्रुद्ध सिपाहियों के साथ-साथ अंग्रेजों के अत्याचार से क्षुब्ध जनसाधारण ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। इसलिए, इसे मात्र 'सैनिक विद्रोह' की संज्ञा देना युक्तिसंगत नहीं है।

डॉ. के. दत्ता 1857 के विद्रोह को एक अवसर के तौर पर समझते हैं जिसका कुछ असंतुष्ट राजाओं एवं भूमिपतियों ने लाभ उठाया, जिनके हित नवीन राजनीतिक

व्यवस्था से प्रभावित हुए थे। इस कारक ने इसे कुछ क्षेत्रों में लोकप्रिय विद्रोह का संदर्भ प्रदान किया। यह विद्रोह कभी भी स्वरूप में 'सभी भारतीयों का विद्रोह' नहीं था, लेकिन यह स्थानीय, सीमित एवं क्षीण रूप से संगठित था। इस आंदोलन में विद्रोहियों के विभिन्न वर्गों के बीच संसक्ति तथा उद्देश्य की एकता का अभाव था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, वी.डी. सावरकर ने अपनी पुस्तक 'भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध' में 1857 के विद्रोह की 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सुनियोजित युद्ध के रूप में व्याख्या की। डॉ. एस.एन. सेन ने अपनी पुस्तक *अट्ठारह सौ सत्तावन* में विद्रोह को धर्म के लिए युद्ध के तौर पर शुरू होना माना, जिसका अंत स्वतंत्रता के युद्ध के रूप में हुआ। डा. आर.सी. मजूमदार ने इसे न तो प्रथम और न ही राष्ट्रीय विप्लव माना और न ही स्वतंत्रता का युद्ध, जैसाकि देश का एक बड़ा हिस्सा इससे अप्रभावित रहा और लोगों के कई वर्गों ने इस विद्रोह में भाग नहीं लिया।

मार्क्सवादी इतिहासकारों के अनुसार, ''1857 का विद्रोह विदेशी और सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध सैनिक-किसान का संयुक्त लोकतांत्रिक संघर्ष था''। हालांकि, यह मत जांच के प्रकाश में कहीं ठहर नहीं पाता, जैसाकि विद्रोह के नेता स्वयं सामंती पृष्ठभूमि के थे।

1857 के विद्रोह को वर्गीकृत करना आसान नहीं है। जबकि कोई भी एल.ई.आर. रीस जैसे विचारों, जिन्होंने माना कि यह कट्टर धर्मवादियों द्वारा ईसाईयत के विरुद्ध युद्ध था या टी.आर. होम्स, जिन्होंने इसे सभ्यता एवं पाश्विकता के मध्य संघर्ष के रूप में देखा, जैसे विचारों को सिरे से नकार सकता है। यद्यपि कोई भी अभी तक इसे स्वतंत्रता के युद्ध के तौर पर स्वीकार नहीं कर सका है। इसने राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं का बीजारोपण किया लेकिन एकल राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवादिता की अवधारणा 1857 के विद्रोह की देन नहीं थी।

कहा जा सकता है कि 1857 का विद्रोह ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का भारतीयों का प्रथम महान प्रयास एवं संघर्ष था। स्वतंत्रता की भावना से उद्वेलित हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों का सम्मिलित होकर विदेशियों को अपने देश से निकालने का पहला प्रयास 1857 ई. में ही हुआ। इसलिए, 1857 की क्रांति को 'भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का प्रथम उद्घोष' कहना सर्वथा युक्तिसंगत है। इसने ब्रिटिश शासन के प्रति स्थानीय विरोध की परम्परा को स्थापित किया, जिसने आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन हेतु मार्ग प्रशस्त किया। यहां तक कि इस विचार को कुछ इतिहासकारों ने संदेह के घेरे में खड़ा किया, जिनका मानना था कि 1857 के पूर्व के विद्रोह भी विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए समान रूप से गंभीर थे, लेकिन उन्हें 1857 के विद्रोह जैसा समर्थन नहीं मिला। हालांकि, एस.बी. चौधरी ने पाया कि, विद्रोह (1857) विदेशी शक्ति को चुनौती देने के लिए विभिन्न वर्गों के लोगों का पहला संयुक्त प्रयास था।

विद्रोह के परिणाम

1857 की विद्रोह की असफलता के बावजूद इसने भारत में ब्रिटिश प्रशासन को गहरा आघात पहुंचाया। विद्रोह के बाद के ब्रिटिश शासन की संरचना और नीतियों में भारी फेर-बदल किया गया।

1857 के विद्रोह के पश्चात् पहला मुख्य परिवर्तन यह था कि भारत का शासन 1858 अधिनियम के द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश क्राउन के पास चला गया। अब भारत के लिए राजकीय सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट), जिसे एक परिषद् द्वारा सहयोग प्राप्त होगा, भारत में शासन के लिए जिम्मेदार था। पहले यह अधिकार कम्पनी के निदेशकों के पास होता था।

दूसरा मुख्य परिवर्तन सेना में किया गया। भविष्य में भारतीय सिपाहियों द्वारा कोई भी विद्रोह न हो, इसके लिए कई कदम उठाए गए। इसके अंतर्गत यूरोपीय जवानों की संख्या बढ़ा दी गई और बंगाल की सेना में दो भारतीय सिपाहियों पर एक यूरोपीय, बंबई और मद्रास की सेनाओं में पांच भारतीय सिपाहियों पर दो यूरोपीय को नियुक्त किया गया। यूरोपीय फोजों को प्रमुख भौगोलिक एवं सैन्य स्थितियों में रखा गया। सेना की प्रमुख शाखाओं जैसे तोपखानों को केवल यूरोपीय हाथों में सौंपा गया। सेना के भारतीय वर्ग का संगठन 'फूट डालो राज करो' की नीति पर आधारित था। जवानों में राष्ट्रीय भावना ना जागे, इसलिए जाति, समुदाय और क्षेत्र के आधार पर रेजिमेंटो की स्थापना हुई।

'फूट डालो और शासन करो' की नीति को सामान्य जनता में भी लागू किया गया। चूंकि अंग्रेजों ने यह सोचा कि विद्रोह का षड्यंत्र मुसलमानों द्वारा रचा गया था, इसलिए इन्हें कठोर दंड दिए गए और उनके साथ लोक नियुक्तियों एवं कई अन्य क्षेत्रों में भेदभाव किया गया। इस नीति को बाद में उलट दिया गया और मुसलमानों के लिए एक विलम्बित प्रशासन की शुरुआत हुई। 19 सदी के अंत में मुसलमानों को हिंदुओं से बेहतर सुविधा देने की योजना बनाई गई, जिससे कि भारतीयों में भेदभाव उत्पन्न करके आंदोलन को कमजोर किया जा सके। इन नीतियों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में समस्याएं पैदा कीं और सांप्रदायिकता के विकास में योगदान किया।

ब्रिटेन की महारानी की घोषणा के अनुसार, रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीतियों में परिवर्तन किया गया। विलय की पूर्व नीति को छोड़कर शासकों को उत्तराधिकारी चुनने का अवसर मिला। यह उन देशी शासकों को उपहारस्वरूप मिला जो विद्रोह के समय अंग्रेजों के साथ थे। हालांकि भारतीय शासकों का यह अधिकार एक निश्चित क्षेत्रों में पूरी तरह ब्रिटिश अधिकार के अधीनस्थ कर दिया गया और उनको सुविधा आश्रितों में परिवर्तित कर दिया गया।

ब्रिटिश शासन ने भारत में लोगों के सामाजिक कृत्यों एवं धार्मिक प्रथाओं को सम्मान देने का निर्णय किया।

अंग्रेजों ने भारतीय लोगों को विश्वास दिलाया कि आगे क्षेत्रीय विस्तार नहीं होगा।

अंग्रेजों ने भू-पतियों; जमीदारों एवं राजकुमारों के संरक्षण की नीतियां बनाई, ताकि अपनी स्थिति को इस देश में अधिक मजबूत बना सकें। दरअसल 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश शासन के वास्तविक प्रतिक्रियावादी स्वभाव को धरातल पर ला दिया। अधिकतर भारतीयों को यह अहसास हो गया कि भारत में ब्रिटिश शासन वास्तविक रूप में जन विरोधी था और यह निश्चित रूप में दमनकारी और उनके देश हित का विरोधी था।

भूमि के लिए निर्धारित लगान और समय की गारंटी के लिए एक नवीन कृषि नीति प्रस्तुत की गई। इस नीति ने किसान को बोझिल भूमि बंदोबस्त और राज्य की अत्यधिक कर मांग से मुक्ति प्रदान की।

स्थानीय सरकारों को करारोपण की कुछ मदों को सौंपकर वित्तीय व्यवस्था को भी विकेन्द्रीकृत किया गया।

विद्रोह के पश्चात् यद्यपि अंग्रेजों ने अपने शासन का विस्तार नहीं किया, तथापि ब्रिटिश शासन द्वारा आर्थिक शोषण के एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

अंग्रेजों ने शिक्षित मध्यवर्ग का विरोध करने और भूमिपतियों तथा राजकुमारों का समर्थन करने की नीति अपनाई। दीर्घकाल में यह नया ब्रिटिश दृष्टिकोण उसके साम्राज्य

श्वेत विद्रोह (व्हाइट म्युटिनी)

शक्ति हस्तांतरण के संदर्भ में, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश क्राउन को, कंपनी के अधीन नियोजित यूरोपियन सैनिकों के एक वर्ग ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को व्हाइट म्युटिनी नाम दिया गया, जिसके उत्पन्न होने के कई कारण थे। 1861 से पूर्व, भारत में दो पृथक् सैन्य बल थे, जो ब्रिटिश शासन के अधीन संचालित किए जाते थे।

एक क्वीन आर्मी (रानी की सेना) और दूसरा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंतर्गत सैन्य बल था। कंपनी के अधीन सैनिकों को *भत्ते*, एक ऐसा अतिरिक्त भुगतान जिसे भारत से बाहर होने वाले अभियानों में जाने के लिए दिया जाता था, का भुगतान किया जाता था, लेकिन क्वीन आर्मी के अंतर्गत सैनिकों को यह नहीं दिया जाता था। शक्ति हस्तांतरण के पश्चात्, यह भत्ता बंद कर दिया गया। शक्ति हस्तांतरण को लेकर कानून की लार्ड कैनिंग द्वारा वैधानिक व्याख्या ने भी प्रभावित यूरोपीय सैनिकों को भड़काया।

व्हाइट म्युटिनी को भारत में पहले से दयनीय ब्रिटिश स्थिति के लिए एक शक्तिशाली खतरे के रूप में देखा गया जिससे भारत में अभी भी उत्तेजित लोगों के बीच नवीन विद्रोह प्रेरित हो सकता था। यूरोपीय सेनाओं की मांग में बोनस को सूचीबद्ध करना या उन्हें दायित्व मुक्त करना शामिल थे। अंततः सैनिकों की मांग को स्वीकार कर लिया गया, और उन्होंने घर वापिस जाने का विकल्प चुना।

के लिए घातक सिद्ध हुआ, जैसाकि इस कारण शिक्षित मध्य वर्ग में कुंठा की भावना बलवती हुई और परिणामस्वरूप जल्द ही आधुनिक राष्ट्रवाद की भावना का जन्म हुआ।

सेना विलय योजना 1861 ने कंपनी के यूरोपीय सैनिकों/सेना को क्राउन के अधीन कर दिया। इसके अलावा, भारत में यूरोपियन सेना को समय-समय पर इंग्लैंड दौरे के माध्यम से बेहतर किया गया, जिसे 'लिंक्ड बटालियन' योजना के नाम से भी जाना जाता है। जबकि भारत में यूरोपीय सेना के विस्तार में वृद्धि की गई, भारतीय सेना को घटाकर आधा कर दिया गया। सभी भारतीय आर्टिलरी इकाइयों, कुछ पर्वतीय बटालियनों को छोड़कर, को समाप्त कर दिया गया। सेना और तोपखाना विभागों में सभी पदों को यूरोपियों के लिए आरक्षित कर लिया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक कोई भारतीय सैनिक 'किंग कमीशन' के लिए योग्य होने के बारे में सोच भी नहीं सकता था और एक नए भर्ती अंग्रेज अफसर को 'वायसराय कमीशन' के माध्यम से भर्ती भारतीय अधिकारी से श्रेष्ठ माना जाता था।

1857 की क्रांति के बाद अंग्रेजी सरकार ने ऐसी शिक्षा-पद्धति को लागू किए जाने को प्रोत्साहित किया, जिससे भारतीय अपने धर्म और संस्कृति को भूल जाएं तथा पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकृष्ट हों। पाश्चात्य देशों के वैचारिक आंदोलन से भारत के लोगों को नयी प्रेरणा मिली तथा वे लाभान्वित भी हुए, पर उन देशों की आडम्बरपूर्ण जीवन-पद्धति से भारतीयों का चरित्र-बल भी समाप्त होने लगा। भारत के लोगों के साथ ऐसा होना अंग्रेजों के लिए सुखदायक था।

अंग्रेजों ने भारत में आरम्भ से गोरे और काले के आधार पर श्रेष्ठता और हीनता की भावना फैला रखी थी। 1857 की क्रांति के बाद तो प्रत्येक अंग्रेज भारतीयों से सावधान और अलग-थलग रहने लगा। अंग्रेजों को ऐसा महसूस होने लगा कि भारतीयों से दूरी बनाए रखना ही उनके हित में है, क्योंकि नजदीक आने से भारतीय अंग्रेजों के भेदों को जान लेंगे और उन्हें परेशान करने लगेंगे। क्रांति के दौरान अंग्रेज सतर्क हो गए और उस सतर्कता को उन्होंने लगभग हमेशा बनाए रखा।

1857 की क्रांति के परिणाम भारतीयों के पक्ष में भी रहे। भारतीयों के पक्ष में जो सकारात्मक परिणाम सामने आए, वे हैं–

आत्मबल में वृद्धिः 1857 की क्रांति अपने लक्ष्य को तत्काल प्राप्त करने में असमर्थ रही। परन्तु, इस क्रांति ने भारतीयों के आत्मबल में वृद्धि की और उनकी सुषुप्त चेतना को स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए जागृत किया। अब भारतीयों में स्वतंत्रता प्राप्ति की भावना बलवती हो गयी और उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया। इस समय से एक जागृत भारत का अभ्युदय हुआ।

राजनीतिक जागृतिः लंबी पराधीनता और शासकों को अपराजेय मानने की धारणा ने भारतीयों में आलस्य भर दिया था। पराधीनता को भारतीयों ने अपनी नियति मान लिया था। परन्तु, 1857 की क्रांति ने भारतीयों के शीतित रक्त को फिर से खौला दिया। क्रांति के बाद भारतीयों को ऐसा महसूस हुआ कि जोर लगाने पर स्वशासन की प्राप्ति आसानी से हो सकती है।

संगठन की प्रेरणाः यद्यपि 1857 की क्रांति को संगठित स्वरूप प्रदान की पूर्ण कोशिश की गई थी, तथापि संचार-व्यवस्था एवं सूचना प्रौद्योगिकी के अभाव के कारण मनोवांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। व्यापक संगठन के अभाव के कारण ही क्रांति को कुचल दिया गया था। इसलिए, इस क्रांति से आगे के क्रांतिकारियों को व्यापक संगठन की प्रेरणा प्राप्त हुई। 1857 ई. की क्रांति से प्रेरणा पाकर ही आगे के वर्षों में अनेक क्रांतिकारी आंदोलनों का संचालन संभव हो सका।

एकता की प्रेरणाः 1857 की असफलता का कारण सम्पूर्ण भारतवासियों में एकता का अभाव भी था। सिक्ख और दक्षिण भारतीय क्रांति के विरुद्ध थे तथा अनेक देशी रियासतों के शासकों ने अंग्रेजों की सहायता की थी। जिन क्षेत्रों में क्रांति का सूत्रपात हुआ, वहां भी सभी वर्गों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध नहीं किया। एकता ही राष्ट्रीयता का मूल मंत्र है—इस तथ्य की ओर भारतीयों का ध्यान क्रांति के असफल हो जाने के बाद गया। अब उन्होंने ऐसा महसूस किया कि एक साथ चलकर ही आगे बढ़ा जा सकता है और लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

स्वतंत्रता आंदोलन को नयी दृष्टिः 1857 की क्रांति का जिस निर्ममता के साथ अंग्रेजी सरकार ने दमन किया था, उससे उसका असली चेहरा भारतीयों के सामने उजागर हुआ। अंग्रेजों के क्रूरतापूर्ण व्यवहार को देखने के बाद भारतवासियों ने अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने का संकल्प लिया। इस क्रांति से स्वतंत्रता आंदोलन को भविष्य में एक नयी दृष्टि मिली। विद्रोह के बदले असहयोग का मार्ग अपनाया गया, क्योंकि इससे अंग्रेजों को दमनात्मक अत्याचार का अवसर प्राप्त नहीं होता। शासन और शस्त्रास्त्र का नियंत्रण अंग्रेजी सरकार के हाथों में था और किसी भी प्रकार के विद्रोह का गला घोंट देने की क्षमता उसमें थी, इसलिए क्रांति के बाद विद्रोह का रास्ता छोड़ने की प्रेरणा मिली।

1857 के विद्रोह का महत्व

ब्रिटिश शासन के लिए 1857 का विद्रोह बेहद उपयोगी साबित हुआ। इसने कंपनी के प्रशासन एवं इसकी सेना में शोचनीय कमियों को उजागर किया, जिसमें उन्होंने तुरंत सुधार किया। कंपनी के शासन-प्रशासन के ये दोष विश्व के सम्मुख कभी भी उजागर नहीं हो पाते यदि विद्रोह न होता।

भारतीयों के लिए, 1857 के विद्रोह ने स्वतंत्रता संघर्ष के पथ को बेहद प्रभावित किया। यह लोगों एवं सिपाहियों की शिकायतों को सबके सामने लेकर आया, जो वस्तुतः सही थीं। हालांकि, इससे यह भी सिद्ध हुआ कि ब्रिटिश सेना के अत्याधुनिक हथियारों के सम्मुख भारतीयों के हथियार परम्परागत थे और वे ब्रिटिश शासन के सामने टिक नहीं सकते थे। इसके अलावा, दोनों ओर से हुई नृशंस हिंसा ने भारतीय बुद्धिजीवियों को आघात पहुंचाया जो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में हिंसा से दूर रहने में विश्वास करते थे। शिक्षित मध्य वर्ग, जो एक तेजी से बढ़ता वर्ग था, ने हिंसा में विश्वास नहीं किया और एक व्यवस्थापरक तरीके को प्रमुखता दी। लेकिन 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्थानीय प्रतिरोध की परम्परा को स्थापित किया, जिसने स्वतंत्रता के राष्ट्रीय संघर्ष के मार्ग में सहायता प्रदान की।

सारांश

विद्रोह–उपनिवेशवादी नीतियों एवं शोषण का परिणाम

आर्थिक कारण–नयी राजस्व व्यवस्था के तहत भारी करारोपण, बेदखली, भारतीय उत्पादों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण प्रशुल्क नीति, परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का विनाश, आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था को प्रोत्साहन न देना, जिसने कृषक, जमींदार एवं शिल्पकारों को दरिद्र बना दिया।

राजनीतिक कारण–लार्ड डलहौजी की साम्राज्यवादी नीतियां, ब्रिटिश शासन का विदेशीपन, दोषपूर्ण न्याय व्यवस्था एवं प्रशासकीय भ्रष्टाचार, मुगल सम्राट से निंदनीय व्यवहार।

प्रशासनिक कारण– अंग्रेजों की शासन पद्धति से भारतीयों का असंतुष्ट होना, परंपरागत भारतीय शासन पद्धति की समाप्ति, उच्च पदों पर केवल अंग्रेजों की नियुक्ति तथा अंग्रेजी को सरकारी भाषा बनाना।

सामाजिक और धार्मिक कारण– अंग्रेजों में प्रजातीय भेदभाव तथा श्रेष्ठता की भावना, ईसाई मिशनरियों को प्रोत्साहन, विभिन्न सामाजिक सुधार कार्यक्रम तथा नये नियमों का निर्माण।

सैनिक कारण– सैनिकों के वेतन एवं भत्ते में आर्थिक असमानता एवं भेदभाव, उनका मनोवैज्ञानिक एवं धार्मिक उत्पीड़न।

तात्कालिक कारण– चर्बीयुक्त कारतूसों का प्रयोग।

- **विद्रोह के केंद्र एवं नेता**

दिल्ली	–	जनरल बख्त खां
कानपुर	–	नाना साहब
लखनऊ	–	बेगम हजरत महल
बरेली	–	खान बहादुर

बिहार	–	कुंवर सिंह
फैजाबाद	–	मौलवी अहमदउल्ला
झांसी	–	रानी लक्ष्मीबाई
इलाहाबाद	–	लियाकत अली
ग्वालियर	–	तात्या टोपे
गोरखपुर	–	गजाधर सिंह
फर्रुखाबाद	–	नवाब तफज्जल हुसैन
सुल्तानपुर	–	शहीद हसन
सम्भलपुर	–	सुरेंद्र साई
हरियाणा	–	राव तुलाराम
मथुरा	–	देवी सिंह
मेरठ	–	कदम सिंह
सागर	–	शेख रमाजान
गढ़मंडला	–	शंकरशाह एवं राजा ठाकुर प्रसाद
रायपुर	–	नारायण सिंह
मंदसौर	–	शाहजादा हुमायूं (फिरोजशाह)

- **अंग्रेज जनरल**

दिल्ली	–	लेफ्टिनेंट विलोबी, जॉन निकोलसन, लेफि. हडसन।
कानपुर	–	सर ह्यू व्हीलर, कोलिन कैम्पबेल।
लखनऊ	–	हेनरी लारेंस, ब्रिगेडियर इंग्लिश, हेनरी हैवलॉक, जेम्स आउट्रम, सर कोलिन कैम्पबेल।
झांसी	–	सर ह्यू रोज।
बनारस	–	कर्नल जेम्स नील।

- **असफलता के कारण**

सीमित क्षेत्र एवं सीमित जनाधार।
भारतीय रजवाड़े एवं कुछ अन्य वर्गों का अंग्रेजों को महत्वपूर्ण सहयोग, अंग्रेजों की तुलना में विद्रोहियों के अत्यल्प संसाधन।
योग्य नेतृत्व एवं सामंजस्य का अभाव।
एकीकृत विचारधारा एवं राजनीतिक चेतना की कमी।

- **प्रकृति**

1857 का विप्लव यद्यपि सफल नहीं हो सका, किंतु उसने लोगों में राष्ट्रीयता की भावना के बीज बोये एवं इस क्रांति के दूरगामी परिणाम हुए।

- **प्रभाव**

ताज के अधीन प्रशासन, कम्पनी शासन का उन्मूलन, ब्रिटिश साम्राज्ञी की नयी भारतीय नीति, सेना का पुर्नगठन, जातीय भेदभाव में वृद्धि।

इकाई

4 सुधार आंदोलन

- सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनः साधारण विशेषताएं
- सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों का अवलोकन

अध्याय 8

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनः साधारण विशेषताएं

सुधार की भावना को बल देने वाले कारक

18वीं शताब्दी में यूरोप में एक नवीन बौद्धिक लहर चली, जिसके फलस्वरूप जागृति के एक नये युग का सूत्रपात हुआ। तर्कवाद तथा अन्वेषणा की भावना ने यूरोपीय समाज को प्रगति प्रदान की। भारत का एक नवीन पाश्चात्य शिक्षित वर्ग भी तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इन पाश्चात्य शिक्षित भारतीयों ने इस नवज्ञान से प्रभावित होकर सामाजिक एवं धार्मिक सुधार का कार्य प्रारंभ किया। तर्कवाद व नवचेतना के इस आधार पर परिवर्तन की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसे 'पुनर्जागरण' (Renaissance) की संज्ञा दी गयी। पुनर्जागरण की प्रक्रिया में पुरातन मान्यताओं एवं विश्वासों पर प्रहार किये गये तथा विभिन्न कुरीतियों का परित्याग कर नवज्ञान एवं नयी मान्यताओं को अपनाने पर बल दिया गया।

ब्रिटिश शासन का प्रभाव

भारत की भूमि पर उपनिवेशी शासन के प्रभाव ने आधुनिक भारतीय इतिहास के अत्यंत संवेदनशील चरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ब्रिटिश शासन के तले भारतीय समाज एवं संस्कृति में व्यापक परिवर्तन आया तथा वह अपनी परंपरागत छवि से दूर हो गया। अंग्रेजों से पूर्व जितने भी बाह्य आक्रमणकारी भारत आये, या तो वे भारतीय समाज एवं संस्कृति में कोई दूरगामी प्रभाव नहीं डाल सके या फिर यहीं की सभ्यता एवं संस्कृति में समाहित हो गये। किंतु अंग्रेजों का भारत में आगमन ऐसे समय में हुआ जब यूरोप में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति की बयार बह रही थी एवं मानवतावाद, तर्कवाद, विज्ञान एवं वैज्ञानिक अन्वेषण अपनी महत्ता स्थापित करते जा रहे थे।

सामाजिक दशाओं एवं रूढ़िवादिता के कारण सुधार

धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियांः 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज धार्मिक अंधविश्वासों एवं सामाजिक कुरीतियों से जकड़ा हुआ था। हिन्दू समाज बुराइयों, बर्बरता एवं अंधविश्वासों से ओतप्रोत था। पुरोहित, समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए थे तथा जनसामान्य पर विभिन्न कर्मकांडों तथा निरर्थक धार्मिक कृत्यों की सहायता से वर्चस्व स्थापित कर चुके थे। उन्होंने शिक्षा, ज्ञान एवं धार्मिक क्रियाकलापों को अपना विशेषाधिकार बताया तथा इनकी सहायता से जनसामान्य के मनोमस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की।

महिलाओं की दयनीय स्थितिः भारतीय सामाजिक व्यवस्था भी इतनी ही दयनीय थी। समाज में सबसे निम्न स्थिति स्त्रियों की थी। लड़की का जन्म अपशकुन, उसका विवाह बोझ एवं वैधव्य (widowhood) श्राप समझा जाता था। जन्म के पश्चात बालिकाओं की हत्या कर दी जाती थी। बाल विवाह समाज की एक अन्य कुरीति थी। बहुविवाह की प्रथा समाज में व्याप्त थी और बंगाल में, कुलीनवाद के अंतर्गत, यहां तक कि वृद्ध व्यक्ति बेहद कम उम्र की लड़कियों से विवाह करता था। स्त्रियों का वैवाहिक जीवन अत्यंत दयनीय एवं संघर्षपूर्ण था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती थी (यहां तक कि ऊंची जातियों में भी) तो उसे बलपूर्वक पति की चिता में जलने को बाध्य किया जाता था। इसे 'सती प्रथा' के नाम से जाना जाता था। राजा राममोहन राय ने इसे 'शास्त्र की आड़ में हत्या' की संज्ञा दी। सौभाग्यवश यदि कोई स्त्री इस क्रूर प्रथा से बच जाती थी तो उसे शेष जीवन अपमान, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं दुख में बिताने पर बाध्य होना पड़ता था।

जातिगत भेदभाव की समस्याः जाति प्रथा भी समाज की एक महत्वपूर्ण बुराई थी। वर्ण या जाति का निर्धारण वैदिक कर्मकाण्डों के आधार पर होता था। इस जाति व्यवस्था की सबसे निचली सीढ़ी पर अनुसूचित जाति के लोग थे, जिन्हें समाज में हेय

दृष्टि से देखा जाता था तथा अछूत माना जाता था। इन अछूतों या अस्पृश्यों, की संख्या पूरी हिन्दू जनसंख्या का 20 प्रतिशत से भी अधिक थी। अस्पृश्य, भेदभाव एवं अनेक प्रतिबंधों के शिकार थे। इस व्यवस्था ने समाज को कई वर्गों या समूहों में विभक्त कर दिया। आगे चलकर यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकीकरण एवं विकास में महत्वपूर्ण बाधा सिद्ध हुई। यह भी देखा गया कि जातिगत चेतना, विशेष रूप से विवाह के संबंध में, मुसलमानों, ईसाईयों और सिखों के बीच भी मौजूद थी, जिन्होंने अस्पृश्यता का भी अनुसरण किया, लेकिन कम उग्र रूप में। वर्ग चेतना ने धीरे-धीरे अन्य संप्रदाय के लोगों को हिन्दुओं से पृथक करना प्रारंभ कर दिया। कालांतर में हिन्दू समाज की इस जाति व्यवस्था ने कई अन्य क्षेत्रों में विसंगतियां एवं कठिनाइयां पैदा कीं। अस्पृश्यता की कुरीति ने इस वर्ग के लोगों को समाज से लगभग पृथक कर दिया। मानव सभ्यता एवं प्रतिष्ठा पर यह कुरीति एक शर्मनाक धब्बा था।

पाश्चात्य संस्कृति का विरोध

भारत में उपनिवेशी शासन की स्थापना के पश्चात देश में अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार हेतु सुनियोजित प्रयास किये गये। शहरीकरण तथा आधुनिकीकरण ने भी लोगों के विचारों को प्रभावित किया। इन नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में प्रसार की भावना उत्पन्न की तथा ज्ञान का प्रसार हुआ।

प्रबुद्ध भारतीयों में नवीन जागृति

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति एवं विदेशी शक्तियों को पराजित करने की चेतना ने जागृति की नयी किरण फैलायी। धीरे-धीरे यह चेतना जागृत होने लगी कि भारतीय सामाजिक संरचना एवं संस्कृति में दुर्बलता के कारण भारत जैसा विशाल देश मुट्ठीभर विदेशियों के हाथों में चला गया है। यह भी महसूस किया जाने लगा कि भारत सभ्यता की दौड़ में काफी पिछड़ गया है। इस सोच ने एक प्रतिक्रियावादी स्वरूप को जन्म दिया। इसी समय कुछ पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त बंगाली नवयुवकों ने इस सोच से अभिप्रेरित होकर कि भारत सभ्यता एवं विकास में काफी पीछे छूटता जा रहा है, प्राचीन मान्यताओं एवं मूल्यों पर कुठाराघात किया तथा मांस एवं शराब के सेवन जैसे खान-पान के पाश्चात्य तरीकों को अपना लिया। इससे यह अवश्य परिलक्षित होने लगा कि शायद भारतीय समाज अब सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के दौर से गुजरने वाला है।

19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में लोकतंत्र एवं राष्ट्रवाद के उफान ने भारतीयों एवं भारत की सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं को भी प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। इन कारकों ने शीघ्र ही पुनर्जागरण की प्रक्रिया के उद्‌भव एवं विकास के लिये पृष्ठभूमि तैयार की। विभिन्न कारक यथा-राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास, नयी आर्थिक शक्तियों के अभ्युदय, शिक्षा के प्रसार, आधुनिक पाश्चात्य मूल्यों एवं संस्कृति के प्रभाव

तथा विश्व समुदाय को सशक्त करने की सोच ने 'सुधार' (Reform) के मार्ग को प्रशस्त किया।

भारत में 19वीं शताब्दी में सामाजिक-धार्मिक सुधारों की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुयी वह उपनिवेशी शासन की उपस्थिति का ही प्रभाव था। लेकिन कहीं भी उपनिवेशी शासकों ने इसे प्रारंभ नहीं किया।

सुधार का सामाजिक एवं विचारधारात्मक आधार

मध्य वर्ग का आधार

भारत में जो सामाजिक-धार्मिक परिवर्तन प्रारंभ हुए, उसका मुख्य सामाजिक आधार उभरता हुआ मध्य वर्ग एवं शिक्षित (परम्परागत रूप से शिक्षित एवं पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त) बौद्धिक वर्ग था, किंतु पश्चिम में जन्मी तत्कालीन चेतना एवं बुर्जुआई मूल्यों तथा पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त बुर्जुआ रहित सामाजिक आधार में महत्वपूर्ण टकराव था।

19वीं शताब्दी के बौद्धिक वर्ग में जो मुख्यतया यूरोप का मध्य वर्ग था, मानवतावाद एवं विज्ञानवाद के प्रसार से नवीन चेतना आयी तथा मध्यकालीन मूल्यों एवं प्रथाओं को वर्तमान समय हेतु प्रासंगिक बनाने की तीव्र इच्छा जागृत हुई। तब उन्होंने पुनर्जागरण एवं धर्म-सुधार जैसी विचारधारा का सहारा लेकर समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। पुनर्जागरण एवं धर्म-सुधार की प्रक्रिया में जिस वर्ग ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, वह कोई औद्योगिक या व्यापारी वर्ग नहीं था, अपितु वे सरकारी कार्यालय में कार्यरत व्यक्ति, शिक्षक, पत्रकार, वकील एवं चिकित्सक जैसे लोग थे जिनके हित कहीं न कहीं पर एक-दूसरे के समान थे।

बौद्धिक कसौटी

वे महत्वपूर्ण आधार, जिन्होंने सुधार आंदोलनों को वैचारिक धरातल प्रदान किया, उनमें धार्मिक सार्वभौमिकता, मानवतावाद एवं तर्कवाद प्रमुख थे। सामाजिक प्रासंगिकता के औचित्य हेतु तर्कवाद को प्रस्तुत किया गया। राजा राममोहन राय का दृढ़ विश्वास था कि सभी धर्मों में विश्वास, एकता में आस्था, निर्गुण ईश्वर की उपासना एवं जाति प्रथा में अविश्वास ही सर्वप्रमुख कारक हैं। उन्होंने प्राचीन विशेषज्ञों को उद्धृत किया तथा मानवीय तर्कशक्ति में आस्था प्रकट की जो उनके विचार से प्राच्य या पाश्चात्य किसी भी सिद्धांत की अंतिम कसौटी है। अक्षय कुमार दत्त ने भी स्पष्ट किया कि 'तर्कवाद या हेतुवाद ही हमारा मुख्य अभिप्रेरक तत्व है'। उन्होंने बताया कि समस्त प्राकृतिक एवं सामाजिक मान्यताओं को यांत्रिक प्रक्रिया की तरह समझना एवं विश्लेषित करना चाहिए। इन्हीं मान्यताओं एवं विश्वासों का प्रतिफल था कि जहां एक ओर, ब्रह्म समाज का यह मानना था कि कोई भी पुस्तक न तो ईश्वर है और न ही देवी-देवता है, क्योंकि कोई भी पुस्तक पूर्णतया त्रुटिविहीन नहीं हो सकती चाहे वह धार्मिक ही क्यों न हो।

वहीं दूसरी ओर, अलीगढ़ आंदोलन में जोर दिया गया कि इस्लामिक शिक्षाओं की व्याख्या वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में होनी चाहिये। सर सैय्यद अहमद खान ने मुस्लिम धर्म की कुरीतियों पर कड़े प्रहार किये तथा उन्हें तत्कालीन परिस्थितियों में अप्रासंगिक बताया।

कई अन्य बुद्धिजीवियों तथा चिंतकों ने भी धर्म एवं संस्कृति के परम्परागत स्वरूप को बदलने की पहल की तथा सत्यता, प्रासंगिकता एवं तर्कवाद के आधार पर उसे पुनर्व्याख्यायित करने पर जोर दिया। स्वामी विवेकानंद के भी धार्मिक विचार अत्यधिक प्रगतिशील एवं भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप थे। उन्होंने भारतीय दर्शन एवं उसकी श्रेष्ठ परम्परा को सर्वोपरि घोषित किया। इसी समय विभिन्न वैज्ञानिक अन्वेषणों एवं वैज्ञानिक तर्कों को भी चिंतकों ने अपनी अवधारणाओं को पुष्ट करने का आधार बनाया। उदाहरणार्थ—अक्षय कुमार दत्त ने चिकित्सकीय तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि बाल विवाह हानिकारक था। कई अन्य मान्यताओं को भी विज्ञानवाद के आधार पर अप्रासंगिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया।

यद्यपि इस काल में धर्म सुधारकों ने अपने धर्म को सुधारने का प्रयत्न किया किन्तु उनका दृष्टिकोण किसी एक धर्म तक ही सीमित न रहकर सार्वभौमिक था। राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म के अतिरिक्त ईसाई धर्म के भी अनेक गलत रीति-रिवाजों को सार्वजनिक किया। उनका विश्वास था कि मूलतः सभी धर्म एक ही शिक्षा देते हैं। उन्होंने सभी धर्मों की मौलिक एकता पर बल दिया तथा एकेश्वरवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया। सर सैय्यद अहमद खान का मानना था कि सभी धर्मों का मूल उद्देश्य एक ही है। भले ही उनका तरीका भिन्न-भिन्न हो। केशवचंद्र सेन के विचार भी इस संबंध में उदारवादी थे तथा उन्होंने कहा कि विश्व के सभी धर्म सच्चे हैं।

अंग्रेज सरकार के रवैये ने भी भारतीय समाज में सुधार आंदोलन शुरू करने की प्रेरणा दी। अंग्रेजों की आंतरिक मंशा थी कि भारतीय समाज के एक वर्ग को ऐसे पाश्चात्य रंग में रंगा जाये जिससे वे ब्रिटिश हितों की रक्षा कर सकें। अंग्रेज, सरकारी अधिकारियों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहते थे, जो शारीरिक रूप से भारतीय एवं मानसिक रूप से अंग्रेज हो। इस मंशा के पीछे मुख्य बात यह थी कि भारत जैसे विशाल देश में प्रशासन के सफल संचालन हेतु अधिकारियों की एक विशाल फौज की आवश्यकता थी। इस कार्य के लिये सभी पदों पर अंग्रेजों को नियुक्त करना अत्यंत कठिन कार्य था, फलतः वे चाहते थे कि भारतीय बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग होना चाहिए जो ब्रिटिश हितों का पक्षपोषण कर सके।

सामाजिक सुधार आंदोलनों में मानवीय हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। इस बात को प्रमुखता से इंगित किया गया कि कोई भी परिवर्तन तभी उपयोगी है, जब उससे मानवीय कल्याण के उद्देश्यों की पूर्ति होती हो। इसीलिये इस आंदोलन

में ऐसे पाखंडी कर्मकाण्डों को अनावश्यक बताया गया जिससे कठिनाइयां अधिक एवं लाभ कम हों।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन में सामाजिक सुधारकों का अनेक अवसरों पर धार्मिक अगुआवों से तीव्र टकराव भी हुआ क्योंकि सभी समाज सुधार आंदोलन मुख्यतयाः धार्मिक आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों की भर्त्सना करते थे।

सुधार आंदोलनों की दो धाराएं

इन सुधार आंदोलनों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों—सुधारवादी आंदोलन जैसे बह्म समाज, प्रार्थना समाज, और अलीगढ़ आंदोलन तथा आर्य समाज और देवबंद आंदोलन जैसे पुनर्जागरणवादी आंदोलनों में विभाजित किया जा सकता है। सुधारवादी और पुनर्जागरणवादी आंदोलन के बीच केवल यही अंतर था कि वे किस सीमा तक परम्परा पर या तर्क एवं चेतना पर निर्भर हैं।

सामाजिक सुधार की दिशा

19वीं शताब्दी के सुधार आंदोलन केवल धर्म तक सीमित नहीं रहे अपितु इनका धर्म से ज्यादा प्रभाव सामाजिक क्षेत्र में पड़ा। भारतीय समाज में कई ऐसी मान्यतायें व प्रथायें विद्यमान थीं जिनका आधार अंधविश्वास व अज्ञान था। इनमें से कई प्रथायें अत्यंत क्रूर व अमानवीय थीं। जैसे—सती प्रथा, बाल विवाह, बाल हत्या इत्यादि। समाज में अशिक्षा व घोर अंधविश्वास था। पूरा का पूरा सामाजिक ढांचा, अन्याय व असमानता पर आधारित था।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत का सामाजिक स्वरूप अपरिवर्तनशील एवं स्थिर था। गांव आत्मनिर्भर थे तथा एक संकुचित दायरे में सिमटे हुए थे। सामाजिक व्यवस्था में वर्ण एवं जाति प्रथा अत्यंत सुदृढ़ थी। सम्पूर्ण सामाजिक क्रियाकलापों का निर्धारण जाति के आधार पर ही होता था। ब्रिटिश राज की स्थापना के पश्चात, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ, जिससे नव जागृति आयी। ब्रिटिश आधिपत्य ने भारत के खोखलेपन एवं फूट को उजागर कर दिया। इसके पश्चात चिंतनशील तथा बुद्धजीवी भारतीयों ने समाज की कुरीतियों एवं त्रुटियों को सार्वजनिक किया तथा उन्हें दूर करने के प्रयत्न किये। वे पश्चिमी मानवतावाद, तर्कवाद, राष्ट्रवाद एवं विज्ञानवाद से गहरे प्रभावित हुए। इन बुद्धजीवियों ने पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन कर इसकी कमियों की ओर इंगित किया। पक्षपातपूर्ण अंग्रेजी व्यापारिक नीतियों के फलस्वरूप नये बिचौलियों तथा व्यापारियों का एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जिसमें अंग्रेजों से सम्पर्क के कारण पाश्चात्य विचारों का प्रसार हुआ।

अंग्रेजी को शिक्षा का अनिवार्य माध्यम बनाये जाने से एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसने अंग्रेजी में शिक्षा प्राप्त कर पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन किया तथा भारतीय

समाज एवं संस्कृति की खामियों का पता लगाया। हालांकि भारत में आधुनिक ढंग की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं तथा उपन्यास इत्यादि के प्रकाशन का श्रेय अंग्रेजों को ही है। प्रेस के विकास से वैचारिक आदान-प्रदान में तेजी आयी। 1853 के पश्चात रेलवे के विकास ने भी इस दिशा में सहयोग किया। लोगों में सामाजिक गतिशीलता आयी। ईसाई मिशनरियों ने भारतीय समाज में प्रचलित अनेक बुराइयों एवं अमानवीय प्रथाओं की भर्त्सना की, फलतः इस ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। सरकार के दृष्टिकोण ने भी समाज सुधार आंदोलन प्रारंभ करने की प्रेरणा दी। वे भारतीय समाज में परिवर्तन करके उसे पश्चिमी समाज के अनुकूल बनाना चाहते थे। फलतः एक ओर जहां उन्होंने ईसाई मिशनरियों को भारतीय संस्कृति एवं समाज की निंदा करने के लिए प्रोत्साहित किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने भारतीय समाज सुधारकों को भी अपना योगदान दिया।

भारत में समाज सुधार के प्रारंभिक संगठनों में सामाजिक सभा, सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी इत्यादि प्रमुख थीं। ज्योति बा फुले, गोपालहरि देशमुख, के.टी. तेलंग, बी.एम. मालाबारी, डी.के. कर्वे, श्री नारायन गुरु, ई.वी. रामास्वामी नायकर एवं बी. आर. अम्बेडकर इत्यादि प्रमुख व्यक्ति थे, जिन्होंने प्रारंभिक समाज सुधारकों का कार्य किया। समाज सुधार के बाद के वर्षों में इसे और सुयोग्य नेतृत्व मिला।

मोटे तौर पर समाज सुधार अभियान के दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला, समाज में स्त्रियों की दशा में सुधार लाना तथा दूसरा, समाज से अस्पृश्यता को दूर करना।

स्त्रियों की दशा में सुधार के प्रयास

समाज सुधारकों ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। समाज में स्त्रियों की दशा अत्यंत सोचनीय थी तथा उन्हें पुरुषों से नीचा समझा जाता था। समाज में स्त्रियों की अपनी कोई पहचान नहीं थी तथा उनकी ऊर्जा एवं योग्यता पर्दा प्रथा, सती प्रथा एवं बाल विवाह जैसी बुराइयों की बलि चढ़ गये थे। हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही समाज में महिलायें आर्थिक तथा सामाजिक रूप से पुरुषों पर आश्रित थीं। उन्हें शिक्षा ग्रहण करने की मनाही थी। हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था तथा विवाह में उनकी सहमति नहीं ली जाती थी। मुस्लिम स्त्रियों को हालांकि सम्पत्ति का अधिकार था परंतु उन्हें पुरुषों की तुलना में आधी सम्पत्ति ही दी जाती थी। लेकिन तलाक में पुरुष और महिलाओं में बहुत ज्यादा भेदभाव किया जाता था। बहुपत्नी प्रथा हिन्दू एवं मुसलमान दोनों समुदायों में प्रचलित थी।

पत्नी एवं मातृत्व दो ही ऐसे अधिकार क्षेत्र थे, जहां महिलाओं को समाज में थोड़ी-बहुत मान्यता प्राप्त थी। सामान्यतयाः महिलाओं को उपभोग की वस्तु माना जाता था तथा ऐसी अवधारणा थी कि उसका जन्म पुरुषों की सेवा करने के लिये ही हुआ है। समाज में उनका अपना कोई पृथक अस्तित्व नहीं था तथा उनकी सभी गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का निर्धारण पुरुषों द्वारा किया जाता था। यद्यपि समाज

के कुछ क्षेत्र ऐसे थे, जिनमें महिलाओं ने उल्लेखनीय कार्य किये थे, किंतु ऐसी महिलाओं की संख्या अत्यल्प थी तथा उन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता था। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि जब कभी भी महिलाओं की उपेक्षा की गयी है तब-तब सभ्यता अवनति की ओर उन्मुख हुई है।

समाज सुधार अभियान, स्वतंत्रता संघर्ष एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहां महिलाओं ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। भारतीय संविधान में महिलाओं की दशा सुधारने हेतु अनेक प्रावधान किये गये हैं।

सभी समाज सुधारकों ने महिलाओं की दशा सुधारने हेतु अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा अपील की कि महिलाओं को समाज में उनका दर्जा प्रदान किया जाये। समाज सुधारकों ने घोषित किया कि ऐसा कोई भी समाज सभ्य एवं विकसित नहीं हो सकता जहां महिलाओं से भेदभाव किया जाता हो तथा उनकी स्थिति दोयम दर्जे की हो। समाज सुधारकों ने स्त्रियों के विरुद्ध आरोपित की गयी विभिन्न कुरीतियों यथा-बहुपत्नी प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा तथा पर्दा-प्रथा इत्यादि की तीखी आलोचना की तथा इन्हें दूर करने के लिये प्रशंसनीय कदम उठाये। इन्होंने सरकार से भी अपील की कि वह समाज में महिलाओं की दशा सुधारने हेतु पहल करे एवं स्त्रियों से संबंधित विभिन्न कुप्रथाओं को दूर करने हेतु कदम उठाये। उन्होंने मांग की कि महिलाओं की मध्यकालीन तथा सामंतकालीन छवि को दूर किया जाये।

महिलाओं की स्थिति में सुधार हेतु उठाए गए कदमः समाज सुधारकों के इन्हीं प्रयासों का प्रतिफल था कि सरकार ने स्त्रियों की दशा सुधारने हेतु अनेक कदम उठाये तथा अनेक कानून बनाये गये।

सती प्रथाः राजा मोहन राय ने सती प्रथा को स्त्रियों के साथ किया गया घोर अन्याय बताते हुए इसे समस्त हिन्दू समाज के लिये शर्मनाक कहा। उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था कि सरकार ने सती प्रथा को दण्डनीय अपराध घोषित किया तथा ऐसा करने वालों को दण्ड देने का नियम बनाया। सरकार ने स्त्री को बलपूर्वक जलाये जाने को हत्या के बराबर अपराध घोषित कर दिया तथा इस प्रथा को प्रोत्साहित करने वालों पर फौजदारी का मुकदमा चलाने की घोषणा की। 1829 में सती प्रथा के विरुद्ध एक कानून पास करके इसके 17वें नियम के अनुसार विधवाओं का जीवित जलाना बंद कर दिया गया। सबसे पहले यह नियम बंगाल में लागू किया गया फिर 1830 में यह मद्रास एवं बंबई में भी लागू कर दिया गया।

शिशु वधः यह क्रूर प्रथा बंगालियों एवं राजपूतों में प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार आर्थिक बोझ मानकर या अन्य कारणों से बालिकाओं की बचपन में ही हत्या कर दी जाती थी। प्रबुद्ध भारतीयों तथा अंग्रेज दोनों ने ही इस प्रथा की तीव्र आलोचना की। अंततः कानून बनाकर शिशु हत्या को साधारण हत्या के बराबर अपराध मान लिया गया। भारतीय रियासतों के रेजीडेंटों से भी कहा गया कि वे ऐसे मामले को सदोष

मानव हत्या के बराबर अपराध माने। 1795 में बंगाल में 21वें अधिनियम तथा 1804 में तीसरे अधिनियम के अनुसार कानूनी तौर पर शिशु हत्या को मानव हत्या के बराबर अपराध घोषित कर दिया गया। 1870 में इस प्रथा को रोकने के लिये कुछ और कानून बनाये गये।

विधवा पुनर्विवाहः यह ब्रह्म समाज के कार्य क्षेत्रों में एक अत्यंत प्रमुख मुद्दा था तथा ब्रह्म समाज द्वारा इसे लोकप्रिय बनाने हेतु सराहनीय कार्य किया गया। लेकिन इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान ईश्वरचंद विद्यासागर (1820-91) का था। ईश्वरचंद विद्यासागर संस्कृत कालेज कलकत्ता के आचार्य थे। उन्होंने संस्कृत और वैदिक उल्लेखों से यह सिद्ध किया कि वेद, विधवा पुर्नविवाह की अनुमति देते हैं। उन्होंने लगभग 1 सहस्त्र हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना पत्र सरकार को भेजा। अंततः उनके प्रयत्नों से 1856 में 'हिन्दू विधवा पुर्नविवाह अधिनियम' बना, जिसके अनुसार विधवा विवाह को वैध मान लिया गया और ऐसे विवाह से उत्पन्न हुए बच्चे वैध घोषित किये गये।

महाराष्ट्र में जगन्नाथ शंकर सेठ एवं भाऊ दाजी ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। विष्णु शास्त्री पंडित ने 1850 में विधवा पुर्नविवाह एसोसिएशन की स्थापना की। 1852 में गुजरात में *सत्य प्रकाश* की स्थापना करके करसोनदास मूलजी ने भी विधवा पुर्नविवाह की दिशा में सराहनीय प्रयत्न किये।

इसी प्रकार के प्रयास बंबई में फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रोफेसर डी.के. कर्वे एवं मद्रास में वीरेशलिंगम पंतुलु ने भी किये। प्रो. कर्वे ने विधुर होने पर 1893 में स्वयं एक विधवा से विवाह किया। वे 'विधवा पुर्नविवाह संघ' के सचिव थे। 1899 में उन्होंने पूना में एक विधवा आश्रम स्थापित किया। जिसमें विधवाओं को जीविकोपार्जन के साधन प्रदान किये जाते थे। 1906 में उन्होंने बंबई में भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की। भारत में पहला कानूनी विधवा पुर्नविवाह 7 दिसम्बर 1856 को कलकत्ता में संपन्न हुआ। इसके साथ ही बी.एम. मालाबारी, नर्मदा, जस्टिस गोविंद महादेव रानाडे, एवं के. नटराजन ने भी विधवा पुनर्विवाह की दिशा में सराहनीय प्रयास किये।

बाल विवाह का नियंत्रणः समाज सुधारकों ने बाल विवाह का भी तीव्र विरोध किया, जिसके फलस्वरूप 1872 में 'नेटिव मैरिज एक्ट' पास किया गया। इसमें 14 वर्ष से कम आयु की कन्याओं का विवाह वर्जित कर दिया गया। लेकिन यह कानून बहुत प्रभावी नहीं हो सका। अंत में एक पारसी धर्म सुधारक वी.एम. मालाबारी के प्रयत्नों से 1891 में 'सम्मति आयु अधिनियम' पारित हुआ। जिसमें 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर रोक लगा दी गयी। हरविलास शारदा के अथक प्रयत्नों से 1930 में 'शारदा एक्ट' पारित हुआ। इस एक्ट द्वारा 18 वर्ष से कम उम्र के लड़के एवं 14 वर्ष से कम उम्र की लड़की के विवाह को अवैध घोषित कर दिया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने 1978 में 'बाल विवाह निरोधक अधिनियम (संशोधित)' बनाया, जिसके द्वारा बालक की विवाह की आयु 18 से

बढ़ाकर 21 वर्ष एवं बालिका की 14 से बढ़ाकर 18 वर्ष कर दी गयी। साथ ही इसमें बाल विवाह करने वालों के विरुद्ध दंड का भी प्रावधान है।

स्त्री शिक्षाः 19वीं शताब्दी में समाज में यह भ्रांति व्याप्त थी कि हिन्दू शास्त्र स्त्री शिक्षा की अनुमति नहीं देते तथा शिक्षा ग्रहण करने पर देवता उसे वैधव्य का दंड देते हैं। इस दिशा में सबसे पहला प्रयास ईसाई मिशनरियों ने किया तथा 1819 में 'कलकत्ता तरुण स्त्री सभा' की स्थापना की। 1849 में कलकत्ता एजुकेशन काउंसिल के अध्यक्ष जे.ई.डी. बेथुन ने 'बेथुन स्कूल' की स्थापना की। बेथुन द्वारा किया गया प्रयास स्त्री शिक्षा की दिशा में की गयी पहली सशक्त पहल थी। किंतु स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में ईश्वरचंद विद्यासागर की देन महान है। वे बंगाल के कम से कम 35 बालिका विद्यालयों से सम्बद्ध थे तथा स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में उनके कार्यों को सदैव याद किया जाएगा। बंबई के एलफिंस्टन इंस्टीट्यूट के भी विद्यार्थियों ने भी स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

1854 के चार्ल्स वुड के डिस्पैच में भी स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने पर बल दिया गया। 1914 में स्त्री चिकित्सा सेवा ने स्त्रियों को नर्सिंग एवं मिडवाइफरी के क्षेत्र में प्रशिक्षण देने का सराहनीय कार्य किया। 1916 में जब प्रो. डी.के. कर्वे ने भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की तो यह स्त्री शिक्षा की दिशा में मील का पत्थर साबित हुआ। इसी वर्ष दिल्ली में 'लेडी हर्डिंग मेडिकल कालेज' की स्थापना की गयी।

1880 में डफरिन हॉस्पिटल की स्थापना के पश्चात महिलाओं को स्वास्थ्य एवं चिकित्सकीय सहायता उपलब्ध करायी जाने लगी।

स्वदेशी अभियान, बंगाल विभाजन विरोधी अभियान एवं होमरूल आंदोलन कुछ ऐसे कार्यक्रम थे, जब प्रारंभिक तौर पर घरों की चहारदीवारी में कैद रहने वाली महिलाओं ने इनमें उत्साहित होकर भाग लिया। 1918 के पश्चात महिलायें उग्रविरोध प्रदर्शनों में भाग लेने लगीं तथा उन्होंने लाठी चार्ज एवं गोलियों का भी सामना किया। उन्होंने ट्रेड यूनियन आंदोलनों, किसान आंदोलनों एवं अन्य अभियानों में भी सक्रिय रूप से हिस्सेदारी निभायी। उन्होंने न केवल स्थानीय निकायों एवं विधानसभा चुनावों में वोट देना प्रारंभ कर दिया बल्कि इन चुनावों में खड़े होकर विजयें भी प्राप्त कीं। 1925 में सरोजिनी नायडू को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम भारतीय महिला अध्यक्ष बनने का गौरव प्राप्त हुआ। बाद में वे 1947-49 तक संयुक्त प्रांत की राज्यपाल भी रहीं।

1920 के पश्चात जागृति एवं आत्म-विश्वास से स्फूर्त महिलाओं ने महिला अभियान भी प्रारंभ कर दिये। महिलाओं द्वारा अनेक संस्थाओं एवं संगठनों की स्थापना की गयी। इसी क्रम में 1927 में अखिल भारतीय महिला कांग्रेस का गठन किया गया।

महिला संगठनः वर्ष 1910 में, सरला देवी चौधरानी ने इलाहाबाद में *भारत स्त्री महामण्डल* की पहली बैठक का संचालन किया। एक महिला द्वारा गठित पहला बड़ा

भारतीय महिला संगठन माने जाने वाले इस संस्थान के उद्देश्यों में महिलाओं हेतु शिक्षा का संवर्द्धन, पर्दा-प्रथा का उन्मूलन और समस्त भारत में महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक स्थिति को बेहतर करना शामिल थे। सरला देवी का मानना था कि महिलाओं के उत्थान के लिए काम करने वाला आदमी 'मनु के कवच में रहता है'।

रमाबाई रानाडे ने बॉम्बे में 1904 में नेशनल सोशल कॉन्फ्रेंस के अंतर्गत महिला सोशल कॉम्फ्रेंस (भारत महिला परिषद्) की नींव रखी।

पंडिता रमाबाई सरस्वती ने महिलाओं की बेहतरी के कार्य करने के लिए *आर्य महिला समाज* की स्थापना की। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा आयोग के सम्मुख भारतीय महिलाओं की शैक्षिक पाठ्यक्रम में सुधार करने की वकालत की, जिसे महारानी विक्टोरिया को भेजा गया। इसके परिणामस्वरूप लेडी डफरिन कॉलेज में महिलाओं के लिए चिकित्सा शिक्षा शुरू की गई। बाद में रमाबाई रानाडे ने बम्बई में *आर्य महिला समाज* की एक शाखा स्थापित की।

1925 में, भारत में राष्ट्रीय महिला परिषद्, जो अंतरराष्ट्रीय महिला परिषद् की एक राष्ट्रीय शाखा थी, की स्थापना की गई, जिसके गठन एवं उन्नयन में मेहरीबाई टाटा ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका मानना था कि *पर्दा प्रथा,* जातिगत भेदभाव और शिक्षा के अभाव ने महिलाओं को सामाजिक समस्याओं के समाधान पर कार्य करने से रोका है। परिषद् की कार्यकारी समिति में महत्वपूर्ण पदों पर आसीन महिलाओं में कार्नेलिया सोराबजी, भारत की प्रथम महिला बेरिस्टर; ताराबाई प्रेमचंद, धनवान बैंकर की पत्नी; शफी तैय्यबजी, मुम्बई के अग्रणी मुस्लिम परिवारों में से एक की सदस्य; और केशव चंद्र सेन की पुत्री महारानी सुचारू देवी शामिल थीं। आलोचकों के अनुसार, इन महिलाओं द्वारा किए गए कल्याणकारी कार्यों की शैली उच्च वर्गीय अंग्रेजी महिलाओं जैसी थी। 1927 में, मार्गरिट कजिन्स द्वारा स्थापित अखिल भारतीय महिला कॉन्फ्रेंस शायद धर्मनिरपेक्ष पद्धति से कार्य करने वाला प्रथम महिला संगठन था। इसकी प्रथम कॉन्फ्रेंस पुणे स्थित फर्ग्यूसन कॉलेज में आयोजित की गई। महारानी चिम्नाबाई गायकवाड़, मंगली की रानी साहिबा, सरोजनी नायडू, कमला देवी चट्टोपाध्याय और लेडी दोराब टाटा इस संगठन के मुख्य संस्थापक सदस्य थे। इस संगठन के उद्देश्यों में, सामाजिक न्याय, एकता, समान अधिकार एवं अवसरों के सिद्धांतों पर आधारित कार्य समाज के लिए करना; और प्रत्येक मानव को जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं को जन्म या लिंग के आधार पर निर्धारित न कर, नियोजित सामाजिक वितरण के माध्यम से निश्चित करना। इस उद्देश्य के लिए, एआईडब्ल्यूसी ने, शारदा अधिनियम (1929), हिंदू महिला का संपत्ति अधिकार अधिनियम (1937), कारखाना अधिनियम (1947), हिंदू विवाह एवं विवाह-विच्छेद अधिनियम (1954), विशेष विवाह अधिनियम (1954), हिंदू अल्पसंख्यक एवं संरक्षक अधिनियम (1956), हिंदू दत्तक एवं प्रबंध अधिनियम (1956), महिलाओं के अवैध एवं अनैतिक व्यापार का दमन अधिनियम

(1958), मातृत्व लाभ अधिनियम (1961), दहेज निषेध अधिनियम (1961) और समान पारिश्रमिक अधिनियम (1958, 1976) जैसे विभिन्न विधायी सुधार (भारत की स्वतंत्रता से पूर्व एवं पश्चात्) की दिशा में कार्य किया।

जाति आधारित शोषण के विरुद्ध संघर्ष

प्राचीन काल में स्थापित हुई हिन्दू धर्म की चार स्तरीय जाति व्यवस्था या *चतुर्वर्ण व्यवस्था,* कालांतर में अनेक जातियों एवं उप-जातियों में विभक्त हो गयी। इसका प्रमुख कारण, प्रजातीय सम्मिलन, भौगोलिक विस्तार एवं व्यवसाय अपनाने की प्रक्रिया में परिवर्तन था।

हिन्दू चतुर्वर्ण व्यवस्था के अनुसार, जाति ही किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण करती है। उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शुद्धता की पुष्टि उसकी जाति के द्वारा होती है। जाति ही निर्धारित करती है कि किसे शिक्षा ग्रहण करने एवं सम्पत्ति रखने का अधिकार है, किसे, कौन सा व्यवसाय अपनाना चाहिये तथा किसे, किस से वैवाहिक संबंध स्थापित करने चाहिए। किसी व्यक्ति के पूर्वजन्म के कर्मों का आकलन भी इसी बात से किया जाता था कि इस जन्म में वह किस जाति में पैदा हुआ है। परिधान, खान-पान, वास स्थान, कृषि एवं पीने के पानी का स्रोत तथा मंदिर में प्रवेश के अधिकार जैसे मुद्दों का निर्धारण भी जाति के द्वारा ही होता था।

इस चतुर्वर्ण व्यवस्था का सबसे निंदनीय पहलू था, समाज में अस्पृश्यता या छुआछूत की भावना का जन्म। जो लोग निम्न जाति में पैदा होते थे उन्हें अछूत समझा जाता था। उन्हें सामान्यतयाः गांवों से दूर बसाया जाता था तथा मंदिरों में उनके प्रवेश करने पर पाबंदी थी। इस वर्ग के लोग अनेक प्रकार के उत्पीड़न एवं भेदभाव के शिकार थे।

जातिगत भेदभाव को कम करने में सहायक कारक

• **ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा कुछ कदम उठाए गए जिनसे कुछ सीमा तक जातिगत भावना में कमी आई।** भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से जाति या वर्ण व्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन आया। अंग्रेजों ने सभी जातियों के लोगों को सेना एवं अन्य प्रशासकीय क्षेत्रों में नियुक्त किया। यद्यपि तत्कालीन उच्च वर्ग के लोगों ने इसे अपना अपमान समझा तथा इसका विरोध भी किया लेकिन, अंग्रेजों की इस नीति से निम्न जाति के लोगों में थोड़ा सुधार अवश्य हुआ। सम्पत्ति के निजी स्वामित्व एवं भूमि के मुक्त क्रय से भी जातीय समीकरणों में परिवर्तन हुए। धीरे-धीरे गांवों की जाति-व्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन होने लगा। आधुनिक वाणिज्य एवं व्यवसाय के विकास एवं परिवहन के साधनों में तीव्र वृद्धि से भी सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन हुए। अंग्रेजों ने ग्राम पंचायतों की जाति पर आधारित न्याय प्रणाली को समाप्त कर आधुनिक न्याय व्यवस्था की स्थापना की जिसमें सभी जातियों के लिये समान न्याय

की प्रणाली थी। प्रशासनिक पदों एवं सरकारी कार्यालयों में भर्ती के अवसर भी सभी जाति के लिये खोल दिये गये। अंग्रेजों की शिक्षा व्यवस्था में सभी जातियों को शिक्षा ग्रहण करने के समान अवसर दिये गये।

• **सामाजिक सुधार आंदोलनों ने भी जाति-आधारित शोषण को कम किया।** कालांतर में समाज सुधार कार्यक्रमों ने भी जाति पर आधारित शोषण को कम करने के प्रयत्न किये। 19वीं शताब्दी के मध्य से विभिन्न समाज सुधार संगठनों यथा-ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन एवं थियोसोफिकल सोसायटी आदि ने भी निम्न जाति के लोगों की दशा सुधारने के अनेक प्रयास किये। इन संगठनों ने अछूतों एवं निम्न जाति के लोगों के मध्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार का कार्य किया तथा उन्हें मंदिरों में प्रवेश दिलाने, तालाबों से जल ग्रहण करने एवं सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग करने की दिशा में प्रयत्न किये। हालांकि कुछ समाज सुधारकों ने चतुर्वर्ण व्यवस्था का थोड़ा पक्ष लिया लेकिन उन्होंने भी जाति-प्रथा एवं छुआछूत की आलोचना की। इन समाज सुधारकों ने जाति-प्रथा की कठोरता की निंदा की तथा जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था के निर्धारण को अनुचित बताया। उन्होंने 'कर्म' के सिद्धांत को प्राथमिकता देने की वकालत की। इन्होंने लोगों से अपील की कि वे भूख से मरने की बजाय सक्रिय हों तथा मानव जगत के कल्याण हेतु रचनात्मक कार्यों में सहयोग करें। आर्य समाज ने शूद्रों को उच्च शिक्षा ग्रहण करने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा उच्च जाति के लोगों के समान अधिकार प्राप्त करने का समर्थन किया।

• **समाज को विभाजित करने के प्रयास में लगी शक्तियों के विरुद्ध स्वतंत्रता एवं समानता के सिद्धांतों से राष्ट्रीय आंदोलन ने प्रेरणा ली।** राष्ट्रीय नेताओं एवं संगठनों ने भी जातीय विशेषाधिकार, समान नागरिक अधिकारों के लिये संघर्ष तथा सभी के स्वतंत्र विकास के सिद्धांत की वकालत की। इस अवधि में प्रदर्शन में जन-भागीदारी, जनसभाओं एवं सत्याग्रह आंदोलन जैसे कार्यक्रमों में सक्रियता से भाग लेने के कारण दलितों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। 1937 में विभिन्न राज्यों में कांग्रेसी सरकारें बनने के पश्चात उन्होंने दलितों के उत्थान के लिये अनेक कार्य किये। कांग्रेसी सरकारों ने कुछ राज्यों में हरिजनों के लिये निःशुल्क शिक्षा कार्यक्रम भी प्रारंभ किया। ट्रावनकोर, इंदौर एवं देवास के शासकों ने स्वयं पहल करके अछूतों को मंदिरों में जाने के अधिकार दे दिये।

गांधीजी, समाज से छुआछूत की बुराई को समूल नष्ट करने के लिये कृतसंकल्पित थे। उनके विचार मानवतावाद एवं तर्क पर आधारित थे। उनके अनुसार, शास्त्र छुआछूत को मान्यता नहीं देते और यदि कुछ शास्त्रों में ऐसा प्रावधान है भी तो उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए क्योंकि यह बुराई सत्यता के सिद्धांतों के विपरीत है। 1932 में उन्होंने 'अखिल भारतीय हरिजन संघ' की स्थापना की।

• **शिक्षा में व्यापक प्रसार एवं जनजागृति के फलस्वरूप दलित वर्ग के लोगों में चेतना जागृत हुई तथा उन्होंने भेदभाव एवं उत्पीड़न का विरोध करना प्रारंभ कर दिया।** दलितों ने उच्च वर्ग की ज्यादतियों एवं शोषण के विरुद्ध कई सशक्त आंदोलन चलाये। महाराष्ट्र में माली जाति में जन्मे ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मण वर्ग के विशेषाधिकारों को चुनौती दी। उन्होंने दलितों में, विशेषकर दलित महिलाओं में शिक्षा के प्रसार को सर्वश्रेष्ठ प्राथमिकता दी तथा इसके लिये अनेक स्कूल खोले। बाबा साहब अम्बेडकर, जो बाल्यावस्था से ही जातीय भेदभाव के प्रत्यक्ष गवाह थे, आजीवन उच्च वर्ग की ज्यादतियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उन्होंने 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति महासंघ' की स्थापना की। उन्हीं के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर कई अन्य तत्कालीन दलित नेताओं ने आपस में मिलकर 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' की स्थापना की। डा. अम्बेडकर ने समाज की चतुर्वर्ण व्यवस्था की घोर आलोचना की तथा स्पष्ट किया कि देश के उत्थान के लिये समाज में व्याप्त इस बुराई को दूर किया जाना आवश्यक है। 1935 के अधिनियम में दलित एवं पिछड़े वर्ग के लोगों के लिये विशेष प्रतिनिधित्व का प्रावधान किये जाने से इस वर्ग को एक बड़ी उपलब्धि हासिल हुई।

19वीं शताब्दी के पश्चात कोल्हापुर के महाराजा ने स्वयं ब्राह्मण विरोधी अभियान को प्रोत्साहन दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में यह अभियान दक्षिण भारत में भी फैल गया तथा कम्मास, रेड्डी, वेल्लाला एवं मुसलमानों ने भी इसमें सक्रिय रूप से भाग लिया।

1920 के दशक में दक्षिण भारत में ई.वी. रामास्वामी नाइकर ने ब्राह्मणों के विरुद्ध 'आत्म-सम्मान आंदोलन' प्रारंभ किया। अन्य दलित समर्थक आंदोलनों की भांति इस आंदोलन ने भी दलितों के मंदिरों में प्रवेश करने पर लगी पाबंदी को हटाने की मांग की। केरल में श्री नारायण गुरु ने जीवनपर्यंत दलितों की दशा सुधारने के लिये संघर्ष किया। उन्होंने दलितों से ऊंची जातियों के विरुद्ध संघर्ष करने की अपील की। श्री गुरु ने नारा दिया 'समस्त मानव जाति के लिये एक ईश्वर, एक जाति एवं एक धर्म' है। श्री नारायण गुरु के शिष्य सहादरन अैयप्पन ने इस नारे को परिवर्तित करके 'समस्त मानव जाति के लिये कोई ईश्वर नहीं, कोई जाति नहीं, कोई धर्म नहीं' का नारा दिया।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने हिंदू जाति की अधोगामी प्रथाओं को चुनौती देने के लिए 20 मार्च, 1927 में महाड सत्याग्रह का नेतृत्व किया। यह महाराष्ट्र राज्य के रायगढ़ जिले के *महाड* स्थान पर दलितों को सार्वजनिक चवदार तालाब से पानी पीने और इस्तेमाल करने का अधिकार दिलाने के लिए किया गया एक प्रभावी सत्याग्रह था। इस दिन को भारत में सामाजिक सशक्तिकरण दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस सत्याग्रह में हजारों की संख्या में दलित लोग शामिल हुए। सवर्ण हिंदुओं द्वारा अछूतों को तालाब

का पानी पीने का अधिकार नकारा गया था, जबकि सवर्ण हिंदू दलितों को हिंदू धर्म का हिस्सा मानते थे। सभी हिंदू जाति समूहों एवं अन्य धर्म के लोग मुस्लिम, ईसाई तक भी उस तालाब का पानी पी सकते थे। अम्बेडकर ने प्रथम अपने दोनों हाथों से उस तालाब का पानी पिया, फिर हजारों सत्याग्रहियों द्वारा उनका अनुकरण किया गया। दरअसल अगस्त 1923 को बॉम्बे लेजिस्लेटिव काउंसिल द्वारा एक प्रस्ताव लाया गया, कि वो सभी जगह, जिनका निर्माण और देख-रेख सरकार करती है, का प्रयोग सभी व्यक्ति कर सकते हैं। जनवरी 1924 में, महाड जोकि बॉम्बे कार्यक्षेत्र का हिस्सा था, अधिनियम को नगर निगम परिषद् के द्वारा लागू किया गया, लेकिन हिंदुओं के विरोध के कारण इसे अमल में नहीं लाया जा सका। इसके परिणामस्वरूप 1927 में अम्बेडकर जी ने सत्याग्रह करने का निर्णय लिया। बाद में दिसंबर 1927 में अम्बेडकर एवं उनके साथियों ने असमानता से मुक्ति के संकेत के रूप में उसी स्थान पर 'मनुस्मृति' जलाई। डा. अम्बेडकर ने सरकार के सम्मुख दलितों की समस्याओं एवं दुःखों को उजागर करने के लिए वर्ष 1924 में बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना की। इसका उद्देश्य था—शिक्षित करना, विरोध और संगठित करना।

हिंदुओं ने इस मामले को लेकर अदालत में मामला प्रस्तुत किया कि वह तालाब गैर-सरकारी संपत्ति है। दिसम्बर 1937 में बॉम्बे उच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि सभी को उस तालाब से पानी लेने की अनुमति है। इस सत्याग्रह से लोगों के मन में आत्मनिर्भरता आई।

• **स्वतंत्र भारत के संविधान ने जातिगत व्यवस्था के आधार पर समानता को लागू करने एवं अस्पृश्यता के उन्मूलन की व्यवस्था की।** परंतु इन सभी प्रयत्नों के बावजूद ब्रिटिश शासनकाल में जाति प्रथा के विरुद्ध चल रहे अभियानों को अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी। क्योंकि ब्रिटिश सरकार की भी अपनी कुछ सीमायें थीं, जिनके चलते वह उच्च वर्ग या रूढ़िवादी वर्ग के विरुद्ध खुलकर संघर्ष नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक एवं आर्थिक उत्थान के बिना निम्न जातियों की दशा में सुधार असंभव था। इस बारे में ईमानदारीपूर्वक जो भी प्रयत्न किये गये वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात बने भारतीय संविधान में छुआछूत के उन्मूलन हेतु अनेक प्रावधान किये गये तथा अस्पृश्यता को किसी भी तरह से बढ़ावा देने के प्रयास को अनैतिक एवं गैरकानूनी घोषित किया गया। यह ऐसे किसी प्रतिबंध पर भी रोक लगाता है, जिसके तहत किसी भी व्यक्ति या जाति के लिये मंदिरों, तालाबों, *घाटों,* जलपानगृह, छविगृह, क्लब इत्यादि में जाना वर्जित हो। संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में भी कहा गया है कि 'राज्य अपनी समस्त प्रजा के समुचित उत्थान का प्रयास करेगा। वह सभी नागरिकों को समाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विकास के समान अवसर देगा तथा किसी भी आधार पर उनके उत्पीड़न या भेदभाव पर रोक लगायेगा'।

प्रमुख विचार

यदि देश का हर किसान शिक्षित हो जाये तो भारतीय इतिहास के पन्नों में यह बात स्वर्ण अक्षरों से लिखी जायेगी।

बम्बई के गवर्नर 1911 में अपने निजी पत्र में वायसराय को

उभरता हुआ मध्य वर्ग राजनीतिक रूप से पिछड़ा है तथा वह धर्म की खोज में भी इतना उत्साहित नहीं है, उसे आवश्यकता है समृद्ध सांस्कृतिक स्थायित्व की, जिससे कि वो अपनी उपेक्षा एवं उत्पीड़न को महसूस कर सके, जो उसे उपनिवेशी शासन ने दी है।

जवाहरलाल नेहरू

जो एक बार मृत एवं दफन हो गया, वह सभी के लिये सदैव के लिये मृत एवं दफन हो गया इसलिये हमें उसे पुर्नजीवित करने के बजाय वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

महादेव गोविंद रानाडे

हिन्दुत्व में अस्पृश्यता एक काला धब्बा है। जब तक समाज में अस्पृश्यता का अस्तित्व है यह न केवल समस्त हिन्दू जाति के लिये अपितु पूरे देश के लिये शर्मनाक है। जब इस कुरीति को हिन्दू समाज जड़ से उखाड़ फेंकेगा तभी सच्चे अर्थों में सभ्य समाज बन सकेगा और तभी समूचे विश्व को समानता का उपदेश दिया जा सकेगा।

महात्मा गांधी

मेरी अभिलाषा है कि मेरे आंगन में सभी संस्कृतियां एक साथ फले-फूलें। लेकिन मैं नहीं चाहूंगा कि मेरे पैरों तले कोई भी संस्कृति कुचली जाये। मैं नहीं चाहता कि समाज में कोई दलित, पिछड़ा, अशिक्षित या निर्धन हो।

महात्मा गांधी

सारांश

- **सुधार आंदोलनों को प्रेरित करने वाले कारक**

  भारत की भूमि पर उपनिवेशी शासन की उपस्थिति।

  भारतीय समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियां-यथा भेदभाव, छुआछूत, अंधविश्वास, बहुपत्नी प्रथा, मूर्तिपूजा, महिलाओं का निम्नस्तर, उच्च जातियों की एकाधिकारमूलक एवं शोषणात्मक प्रवृति इत्यादि।

  शिक्षा का प्रसार एवं विश्व ज्ञान संबंधी जागरुकता।

  पाश्चात्य आधुनिक संस्कृति का प्रभाव तथा विश्व के विभिन्न स्थानों में तत्कालीन महाशक्तियों की पराजय।

  19वीं शताब्दी में लोकतंत्र एवं राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास।

- **सामाजिक आधार**

  मध्य वर्ग एवं पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों के एक नये वर्ग का उदय।

- **बौद्धिक आधार**
  तर्कवाद की अवधारणा का विकास, विश्वव्यापी धार्मिक विचारधारा, मानववाद एवं धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का विकास।
- **समाज सुधार के प्रमुख कारक**
  महिलाओं की स्थिति में सुधारः-वे कारक जो महिलाओं की निम्न स्थिति के लिये उत्तरदायी थे–
  पर्दा प्रथा
  बाल विवाह
  शिक्षा का अभाव
  विवाह, तलाक एवं सम्पत्ति के अधिकारों में असमानता
  बहुपत्नी प्रथा
  विधवा पुर्नविवाह पर प्रतिबंध
  सती प्रथा
- **सुधार के प्रमुख सहयोगात्मक कारक**
  समाज सुधार आंदोलन, स्वतंत्रता आंदोलन, विभिन्न आंदोलनों में महिलाओं की सक्रिय भागेदारी एवं नेतृत्व, स्वतंत्रत भारत का संविधान।
- **महिलाओं के लिये संवैधानिक प्रावधान**
  1829 का बंगाल रेग्यूलेशन एक्ट–जिसके द्वारा सती प्रथा अवैध घोषित।
  1795 एवं 1804 के बंगाल रेग्यूलेशन एक्ट- जिसके तहत बाल हत्या को जुर्म घोषित कर दिया गया, दण्ड एवं जुर्माने का प्रावधान।
  1856 का हिन्दू विधवा पुर्नविवाह अधिनियम।
  1891 का सम्मति आयु अधिनियम- जिसके तहत विवाह की उम्र में वृद्धि की गयी।
  1930 का शारदा एक्ट।
  1954 का विशेष विवाह अधिनियम।
  1954 का हिन्दू विवाह एवं विवाह-विच्छेद अधिनियम।
  1956 का हिन्दू दत्तक एवं प्रबंध अधिनियम।
  हिन्दुओं का गोद लेने एवं पालन भत्ता देने संबंधी अधिनियम।
  1961 का मातृत्व लाभ अधीनियम।
  1976 का समान पारिश्रमिक अधिनियम।
  1978 का बाल विवाह निषेध (संशोधित) अधिनियम।
  1956 (1986 में संशोधित) का महिलाओं एवं लड़कियों का अनैतिक शोषण निषेध अधिनियम।
  1961 (1986 में संशोधित) का दहेज निरोधक अधिनियम।

- **जाति आधारित शोषण के विरुद्ध संघर्ष**
  कारक, जिनके कारण जातीय कठोरता में कमी आयी
  उपनिवेशी शासन का प्रभाव।
  सामाजिक सुधार आंदोलन।
  राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन।
  अस्पृश्यता के विरुद्ध गांधीजी के आंदोलन।
  दलित जातियों में शिक्षा का प्रसार तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि।
  स्वतंत्र भारत का संविधान।

अध्याय 9

सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों का अवलोकन

सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलन एवं उसके नेता

राजा राममोहन राय एवं ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय (1772-1833) को प्रायः भारतीय पुनर्जागरण का जनक और आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज, जो आधुनिक पाश्चात्य विचारों पर आधारित था, हिन्दू धर्म का पहला सुधार आंदोलन था।

एक सुधारवादी के रूप में राजा राममोहन राय, मानवीय प्रतिष्ठा के आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं सामाजिक समानता के सिद्धांत में विश्वास रखते थे। वे एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे। उन्होंने 1809 में *एकेश्वरवादियों को उपहार* नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। अपने मत के समर्थन में उन्होंने *वेदों एवं उपनिषदों* के बंगाली अनुवाद लिखे तथा स्पष्ट किया कि प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्र भी एकेश्वरवाद का समर्थन करते हैं।

1814 में उन्होंने कलकत्ता में **'आत्मीय सभा'** (या मित्रों का समाज) की स्थापना की तथा मूर्तिपूजा, जाति प्रथा की कठोरता, अर्थहीन रीति-रिवाजों तथा अन्य सामाजिक बुराइयों की भर्त्सना की। एकेश्वरवाद के कट्टर समर्थक राजा राममोहन राय ने स्पष्ट किया कि वे सभी धर्मों की मौलिक समानता में विश्वास रखते हैं। उन्होंने दूसरे धर्मों की उन बातों को ग्रहण किया, जिन्हें वे हिन्दू धर्म के योग्य समझते थे।

उनके विचारानुसार मनुष्य को स्वयं धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन और रीति-रिवाजों का पालन करना चाहिए। 1820 में उन्होंने *प्रीसेप्स ऑफ जीसस* नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने 'न्यू टेस्टामेंट' के नैतिक एवं दार्शनिक संदेश को उसकी चमत्कारिक कहानियों से पृथक करने का प्रयास किया। उन्होंने न्यू टेस्टामेंट के नैतिक एवं दार्शनिक

संदेशों की प्रशंसा की। उन्होंने ईसाई धर्म के भी अनेक गलत रीति-रिवाजों को लोगों के सामने रखा। उनके इस प्रयास से उन्हें ईसाई मिशनरियों का गुस्सा झेलना पड़ा तथा उनके कई ईसाई मित्र उनसे निराश हो गये क्योंकि उन्हें यह गलतफहमी थी कि राजा राममोहन राय लोगों को हिन्दू धर्म त्याग कर ईसाई बनने के लिये प्रोत्साहित कर रहे थे। अपने विचारों एवं उद्देश्यों को साकार करने के लिये उन्होंने ब्रह्म सभा (जो आगे चलकर ब्रह्म समाज बना) की स्थापना की। वे सामाजिक सुधार के द्वारा लोगों का राजनीतिक उत्थान करना चाहते थे तथा उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना जगाना चाहते थे।

अगस्त, 1828 में राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म सभा' का गठन किया, जिसे बाद में नाम परिवर्तित कर 'ब्रह्म समाज' कहा जाने लगा। ब्रह्म समाज के अनुसार, ईश्वर एक है और सभी सद्गुणों का केंद्र व भंडार है। परंतु परमात्मा निर्गुण एवं निराकार है। वह न कभी जन्म लेता है न कभी मरता है। वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सृष्टि का पालनकर्ता तथा अमर है, इसीलिये मूर्तिपूजा अनावश्यक है। ब्रह्म समाज के भवन में किसी मूर्ति, चित्र, पेन्टिग इत्यादि की पूजा करने की अनुमति नहीं थी। वे धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन या पूजा में भी विश्वास नहीं रखते थे क्योंकि उनके अनुसार कोई भी पुस्तक त्रुटिरहित नहीं हो सकती है। हिन्दू धर्म का शुद्धीकरण एवं एकेश्वरवाद या निर्गुण परमात्मा में विश्वास, ब्रह्म समाज का सबसे प्रमुख उद्देश्य था। उनके ये उद्देश्य तर्क एवं *वेदों* तथा *उपनिषदों* की शिक्षाओं पर आधारित थे। ब्रह्म समाज ने सर्व-धर्म समभाव पर बल दिया। उसके अनुसार, सभी धर्मों में सत्य निहित है, अतः व्यक्ति को अपने धर्म के साथ सभी धर्मों का आदर करना चाहिए। ब्रह्म समाज, नैतिकता पर बल देता था एवं कर्मफल में उसका विश्वास था। ब्रह्म समाज के समस्त कार्यों में अहिंसा का स्थान प्रमुख था। उसके सभाभवन में किसी प्रकार की जीव हिंसा नहीं हो सकती थी।

राजा राममोहन राय का उद्देश्य किसी नये धर्म की स्थापना करना नहीं था। अपितु, वे हिन्दू धर्म का शुद्धीकरण करना चाहते थे, जो उनके अनुसार विभिन्न बुराइयों से जकड़ा हुआ है। राजा राममोहन राय के सुधारवादी एवं प्रगतिशील विचारों का तत्कालीन हिन्दू रूढ़िवादियों ने कड़ा विरोध किया। राजा राधाकांत देव ने ब्रह्म समाज के सिद्धांतों का विरोध करने हेतु 'धर्म सभा' का गठन किया। 1833 में ब्रिस्टल (इंग्लैण्ड) में राजा राममोहन राय का निधन हो जाने से ब्रह्म समाज को गहरा आघात लगा।

प्रमुख विचार

आधुनिक भारत में हिन्दू धर्म, समाज, या राजनीति में से चाहे कोई क्षेत्र हो उसमें सुधार लाने का सूत्रपात्र राजा रामामोहन राय और उनके ब्रह्म समाज ने ही किया।

एच.सी.ई. जकारिया

ब्रह्म समाज के योगदान को निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता हैः

(i) बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा का विरोध।

(ii) बहुपत्नी प्रथा एवं सती प्रथा का विरोध।

(iii) विधवा विवाह का समर्थन एवं बाल विवाह का विरोध।

(iv) नैतिकता पर बल, कर्मफल में विश्वास, सर्वधर्म समभाव, निर्गुण ब्रह्म की उपासना।

(v) धार्मिक पुस्तकों, पुरुषों एवं वस्तुओं की सर्वोच्चता में अविश्वास।

(vi) छुआछूत, अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव का विरोध।

(vii) बांग्ला एवं अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार को समर्थन।

समाज सुधार हेतु राजा राममोहन राय के प्रयासः राजा राममोहन राय ने *सती प्रथा* का कड़ा विरोध किया। वर्ष 1818 में उन्होंने अपना *सती* विरोधी अभियान आरंभ किया। सर्वप्रथम उन्होंने इस सामाजिक कुरीति के विरुद्ध जनमत तैयार करने का प्रयास प्रारंभ किया। एक ओर उन्होंने पुरातन हिन्दू शास्त्रों का प्रमाण देकर धार्मिक ठेकेदारों को दिखलाया कि वे सती प्रथा की अनुमति नहीं देते, दूसरी ओर उन्होंने लोगों को तर्कशक्ति, नैतिकता, मानवीयता तथा दयाभाव की दुहाई देकर इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाने के लिये प्रेरित किया। उन्होंने श्मशानों (Cremation Ground) की यात्रा की तथा विधवाओं के रिश्तेदारों को समझा कर उन्हें सती होने से रोकने के अथक प्रयास किये। उन्होंने समान विचारों वाले व्यक्तियों की सहायता से कई ऐसे समूहों का निर्माण किया जो उन लोगों पर कड़ी निगाह रखते थे, जो पुरातन अंधविश्वास या गहनों के लालच में विधवाओं को सती होने के लिये उकसाते थे। राजा राममोहन राय के अथक प्रयत्नों से इस दिशा में काफी प्रगति हुई। उन्होंने सरकार से अपील की कि इस बर्बर प्रथा को रोकने के लिये वह कड़े कानून बनाये। इसी के पश्चात 1829 में लार्ड विलियम बैंटिक ने एक कानून बनाकर सती प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया।

राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की हीन दशा का भी कट्टर विरोध किया। वे स्त्रियों की निम्न सामाजिक दशा तथा उनके साथ किये जा रहे भेदभाव से बहुत दुखी हुए। उन्होंने स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार देने की भी मांग की। वे स्त्रियों को शिक्षा देने, विधवा विवाह को प्रारंभ करने, सती प्रथा को समाप्त करने तथा बहु-पत्नी विवाह को गैर-कानूनी घोषित करने के पक्षधर थे। स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये उन्होंने मांग की कि उन्हें पैत्रक एवं विरासत सम्पत्ति संबंधी अधिकार मिलने चाहिए।

राजा राममोहन राय आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार के समर्थक थे। उन्होंने डेविड हेअर को 1817 में हिन्दू कालेज की स्थापना में सहायता की तथा उसके द्वारा प्रस्तुत की गयी विभिन्न शिक्षा संबंधी योजनाओं का समर्थन किया। उन्होंने अपने खर्चे पर 1817 में कलकत्ता में अंग्रेजी स्कूल खोला, जिसमें फ्रांस के प्रसिद्ध

प्रमुख विचार

मुझे कहते हुए दुःख होता है कि वर्तमान समय में हिन्दुओं की जो धार्मिक व्यवस्था है वह ऐसी नहीं है कि वो हिन्दुओं के राजनीतिक हितों का पक्षपोषण कर सके। इन परिस्थितियों में हिन्दू धर्म में कुछ परिवर्तन अपेक्षित हैं, जिससे हिन्दुओं को कुछ राजनीतिक लाभ एवं सामाजिक बल मिल सके।

राजा राममोहन राय

मानव सभ्यता का आदर्श अलग-अलग रहने में नहीं, बल्कि चिंतन तथा क्रिया के सभी क्षेत्रों में व्यक्तियों और राष्ट्रों के आपसी भाई-चारे में ही है।

राजा राममोहन राय

दार्शनिकों—दांते, रूसो एवं वाल्टेयर के दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। 1825 में उन्होंने वेदांत कालेज की स्थापना की जिसमें भारतीय विद्या और पाश्चात्य भौतिक विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। बंगाली भाषा को समृद्ध बनाने हेतु उन्होंने बंगला व्याकरण की रचना की तथा बंगाली पद्य का निर्माण किया।

राजा राममोहन राय की विभिन्न भाषाओं पर गहरी पैठ थी। वे संस्कृत, फारसी, अरबी, अंग्रेजी, फ्रेंच, लैटिन, ग्रीक तथा अरबी जैसी एक दर्जन भाषाओं के ज्ञाता थे। विभिन्न भाषाओं के ज्ञान के कारण उन्होंने विभिन्न भाषाओं की अनेकों पुस्तकों का अध्ययन किया। उन्हें भारतीय पत्रकारिता का जनक कहा जाता है। उन्होंने बंगाली, हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन तथा सम्पादन किया। इनके माध्यम से वे जनता को शिक्षित करते थे तथा उनके दुखों एवं कठिनाइयों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करते थे।

एक राजनीतिज्ञ के रूप में राजा राममोहन राय ने बंगाल के जमींदारों की उत्पीड़ित कार्यवाहियों की घोर निन्दा की तथा रैयतों द्वारा दिये जाने वाले लगान की अधिकतम मात्रा निर्धारित करने की मांग की। उन्होंने कर मुक्त भूमि पर सरकार द्वारा पुनः कर लगाने के प्रयासों का विरोध किया। उन्होंने निर्यात की जाने वाली भारतीय वस्तुओं पर प्रशुल्क घटाने की मांग की तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक विशेषाधिकारों को समाप्त करने हेतु सरकार को ज्ञापन दिया। वे उच्च सेवाओं के भारतीयकरण तथा कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक किये जाने के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने मुकदमों की सुनवाई जूरी प्रथा के माध्यम से करने एवं भारतीयों तथा यूरोपियों के मध्य न्यायिक समानता की भी मांग की।

राजा राममोहन राय का राजनीतिक दृष्टिकोण अंतरराष्ट्रीय था। वे अंतरराष्ट्रीयता और विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग में दृढ़ विश्वास रखते थे। वे अंतरराष्ट्रीय स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय के हिमायती थे। इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें तत्कालीन अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों की गहरी समझ थी। उन्होंने स्पेन, अमेरिका तथा नेपल्स के

स्वतंत्रता अभियानों का समर्थन किया। जब वे इंग्लैंड में रह रहे थे तब उन्होंने आयरलैण्ड के जमींदारों द्वारा वहां के किसानों पर किये जा रहे अत्याचार की निंदा की तथा घोषणा की कि यदि इस संबंध में इंग्लैण्ड की संसद में जो सुधार विधेयक लाया गया है यदि वह गिर गया तो वे इंग्लैण्ड छोड़कर चले जायेंगे।

अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों यथा-डेविड हेअर, अलेक्जेंडर डफ, देवेंद्रनाथ टैगोर, पी.के. टैगोर, चंद्रशेखर देव तथा ताराचंद चक्रवर्ती इत्यादि उनके प्रमुख सहयोगी थे।

देवेन्द्रनाथ टैगोर और ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात इसकी बागडोर रविंद्रनाथ टैगोर के पिता **महिर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर** (1817-1905) ने संभाली। वे 1842 में ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए। देवेंद्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व में तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों एवं पाश्चात्य विचारों का सुंदर समन्वय था। उन्होंने ब्रह्म समाज को नयी चेतना एवं नया स्वरूप प्रदान किया। देवेंद्रनाथ टैगोर पहले ज्ञानवर्धिनी एवं तत्वबोधिनी सभा से संबंधित थे, जिनका उद्देश्य भारत की प्राचीन सभ्यता एवं राजा राममोहन राय के विचारों का प्रसार करना था। तत्वबोधिनी सभा, जिसका गठन 1839 में किया गया था, बंगाली भाषा में एक पत्रिका 'तत्वबोधिनी पत्रिका' का प्रकाशन करती थी। इन दोनों सभाओं के ब्रह्म समाज में जुड़ने से समाज में एक नयी ऊर्जा व शक्ति का संचार हुआ। धीरे-धीरे ब्रह्म समाज की सदस्य संख्या बढ़ने लगी तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा अश्वनी कुमार दत्त जैसे महान विचारक इस समाज से जुड़ गये। देवेंद्रनाथ टैगोर ने हिन्दू धर्म को सुधारने पर ध्यान केंद्रित किया तथा ब्रह्म समाज को ईसाई तथा वेदांतिक कर्मकाण्ड से बचाने का प्रयास किया। 1843 में अलेक्जेंडर डफ और प्रेसबीटेरियन चर्च से टैगोर का वाद-विवाद आरंभ हो गया। इसके पश्चात ईसाई पादरियों ने हिन्दू धर्म को नीचा दिखाने तथा धर्म परिवर्तन के प्रयास प्रारंभ कर दिये। ब्रह्म समाज ने ईसाई पादरियों की इस चुनौती का दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया। देवेंद्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने विधवा विवाह का समर्थन, स्त्री शिक्षा को बढ़ावा, बहुपत्नी प्रथा का उन्मूलन तथा आडम्बरपूर्ण धार्मिक कर्मकाण्डों को समाप्त करने जैसे सराहनीय कार्यों पर बल दिया।

केशव चन्द्र सेन एवं ब्रह्म समाज

1858 **में केशवचंद्र सेन** (1838-1884) द्वारा ब्रह्म समाज की सदस्यता ग्रहण करने के पश्चात देवेंद्रनाथ टैगोर ने उन्हें समाज का नया आचार्य नियुक्त किया। केशवचंद्र सेन की शक्ति, वाकपटुता और उदारवादी विचारों ने ब्रह्म समाज को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। सेन के प्रयत्नों से शीघ्र ही इसकी शाखायें बंगाल से बाहर संयुक्त प्रांत, बंबई, मद्रास एवं पंजाब में भी खुल गयीं। लेकिन शीघ्र ही केशवचंद्र सेन के उदारवादी विचारों के कारण उनमें तथा देवेंद्रनाथ टैगोर में मतभेद हो गये। केशवचंद्र सेन समाज

के अंतरराष्ट्रीयकरण, समाज में सभी धर्मों की शिक्षा तथा अंतरराष्ट्रीय विवाह को प्रोत्साहन जैसे मुद्दों पर बल दे रहे थे, जिसके कारण देवेंद्रनाथ टैगोर से उनके मतभेद और गहरे हो गये। 1865 में सेन को *आचार्य* की पदवी से बर्खास्त कर दिया गया। 1866 में उन्होंने 'भारतीय ब्रह्म समाज (नव विधान ब्रह्म समाज)' के नाम से एक नयी सभा का गठन किया। इसके पश्चात देवेंद्रनाथ टैगोर के ब्रह्म समाज को 'आदि ब्रह्म समाज' के नाम से जाना जाने लगा।

1878 में केशवचंद्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजा के साथ वैदिक कर्मकाण्डों से किया। जिसका केशवचंद्र सेन के कुछ साथियों ने कड़ा विरोध किया। इसके पश्चात केशवचंद्र सेन भारतीय ब्रह्म समाज से अलग हो गये तथा उन्होंने **'साधारण ब्रह्म समाज'** की स्थापना की। इसके पश्चात श्री सेन इतिहास के अंधकार में खो गये।

मद्रास में ब्रह्म समाज के अनेक केंद्र खोले गये। पंजाब में दयाल सिंह ट्रस्ट ने ब्रह्म समाज के सिद्धांतों को प्रसारित करने का बीड़ा उठाया। 1910 में ट्रस्ट ने इस कार्य के लिये लाहौर में दयाल सिंह कालेज की भी स्थापना की।

ब्रह्म समाज का महत्वः समाज सुधार के दृष्टिकोण से ब्रह्म समाज ने अनेक सिद्धांतों एवं अंधविश्वासों पर प्रहार किया। समाज ने हिन्दुओं द्वारा विदेश यात्रा को धर्म-विरुद्ध घोषित किये जाने की कड़ी आलोचना की। इसने समाज में स्त्रियों के उत्थान हेतु कार्य किया, सती प्रथा का विरोध किया, पर्दा प्रथा को हटाने की मांग की, बाल विवाह एवं बहुपत्नी विवाह को हतोत्साहित किया, विधवा पुर्नविवाह का समर्थन किया एवं स्त्रियों को शिक्षा दिलाने जैसे कई महत्वपूर्ण कार्य किये। समाज ने जाति प्रथा तथा छुआछूत जैसी बुराइयों का भी विरोध किया। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में ब्रह्म समाज द्वारा किये गये कार्य अविस्मरणीय रहेंगे।

प्रार्थना समाज

1867 में बंबई में केशवचंद्र सेन के सहयोग से आत्माराम पाण्डुरंग ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। वर्ष 1849 में महाराष्ट्र में 'परम हंस सभा' के नाम से धार्मिक समाज का शुभारंभ हुआ। यथार्थ में यह ब्रह्म समाज की ही एक शाखा थी लेकिन यह गुप्त समाज था जो मुख्यतयाः समाज सुधारक गतिविधियों पर ही अपना ध्यान केंद्रित करता था। इसका प्रभाव क्षेत्र काफी सीमित था। वर्ष 1860 में इस सभा का विघटन हो गया तथा इसी का परिवर्धित एवं संशोधित रूप 1867 में प्रार्थना समाज के रूप में सामने आया। प्रार्थना समाज में अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों की सहभागिता थी, जिनमें महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), आर.जी. भंडारकर (1837-1925) एवं एन.जी. चंदावरकर (1855-1923) प्रमुख थे। ब्रह्म समाज के समान यह भी एक बौद्धिक एकतावादी संगठन था लेकिन इसमें धार्मिक सुधारों की अपेक्षा सामाजिक सुधारों पर अधिक बल दिया गया था। प्रार्थना समाज के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे—(i) जाति

व्यवस्था को अस्वीकृति करना (ii) स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन (iii) विधवा पुर्नविवाह को प्रोत्साहन तथा (iv) लड़के एवं लड़की दोनों की विवाह की आयु में वृद्धि करना।

धोंडो केशव करुए और विष्णु शास्त्री ने रानाडे के साथ मिलकर समाज सुधार के कार्य किए। करुए के साथ मिलकर रानाडे ने विधवाओं को शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए *विधवा पुनर्विवाह आंदोलन* और साथ ही साथ *विधवा होम एसोसिएशन* की नींव रखी ताकि वे विधवाओं की मदद कर सकें।

यंग बंगाल आंदोलन तथा हेनरी विवियन डेरोजियो

19वीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में बंगाल के बुद्धजीवियों में एक रैडिकल या उग्रवादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। यह प्रवृत्ति राजा राममोहन राय के विचारों से भी ज्यादा आधुनिक एवं क्रांतिकारी थी। इस आंदोलन को ही 'यंग बंगाल आंदोलन' के नाम से जाना जाता है। हिन्दू कालेज में 1826 से 1831 तक प्राध्यापक के रूप में कार्य करने वाले एक तरुण आंग्ल-भारतीय, हेनरी विनियम डेरोजियो इस आंदोलन के प्रवर्तक एवं नेता थे। अद्‌भुद प्रतिभा के धनी डेरोजियो, फ्रांस की क्रांति से गहरे प्रभावित थे तथा अतिवादी विचार रखते थे। उन्होंने एवं उनके अनुयायियों ने जर्जर एवं पुराने रीति-रिवाजों का विरोध किया। अध्यात्मिक उन्नति और समाज सुधार के लिये उन्होंने 'एकेडमिक एसोसिएशन' और 'सोसायटी फार द एक्वीजीशन आफ जनरल नालेज' जैसे कई संगठनों की स्थापना की। उन्होंने 'एंग्लो इंडियन हिन्दू एसोसिएशन', 'बंगहित सभा' और 'डिबेटिंग क्लब' का भी गठन किया। कट्टर हिन्दुओं से मतभेद के कारण 1831 में डेरोजियो को हिन्दू कालेज से निकाल दिया गया। इसके पश्चात वे 'ईस्ट इंडिया' नामक दैनिक समाचार पत्र का संपादन करने लगे। इस आंदोलन का प्रमुख केंद्र हिन्दू कालेज ही था। डेरोजियो के समर्थकों ने पुरानी एवं ह्यासोन्मुख प्रथाओं तथा सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों की घोर निंदा की तथा नारी शिक्षा की जोरदार वकालत की।

यंग बंगाल आंदोलन कई वर्षों तक चला। लेकिन प्रारंभ से ही हिन्दू कट्टपंथियों के विरोध एवं हिन्दू कालेज के प्रबंधकों द्वारा इस आंदोलन से सम्बद्ध विद्यार्थियों पर प्रतिबंध लगा दिये जाने से यह आंदोलन सफल नहीं हो सका। 1831 में ही डेरोजियो की मृत्यु हो जाने से यह आंदोलन पूरी तरह बिखर गया। यद्यपि यह आंदोलन ज्यादा सफल नहीं रहा, किंतु इसके बावजूद भी इसने राजा राममोहन राय के विचारों को आगे बढ़ाया तथा कई अन्य क्षेत्रों में प्रसंशनीय कार्य किये। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने इस आंदोलन को बंगाल में आधुनिक सभ्यता का जनक कहा है।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर

प्रसिद्ध विद्वान एवं समाज-सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर के व्यक्तित्व में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों का सुंदर समन्वय था। वे ऐसे उच्च नैतिक मूल्यों में विश्वास करते

थे जो मानवतावाद के प्रति समर्पित तथा गरीबों के लिये उदार हों। 1850 में वे संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य बने। उन्होंने संस्कृत अध्ययन के लिये ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी तथा गैर-ब्राह्मण जातियों को संस्कृत अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया। उन्होंने संस्कृत शिक्षा के परम्परागत स्वरूप को समाप्त किया तथा संस्कृत कालेज में अंग्रेजी शिक्षा का प्रबंध किया, जिससे कालेज में आधुनिक दृष्टिकोण का प्रसार हो सके। उन्होंने संस्कृत शिक्षा को नया रूप प्रदान किया और इसे पढ़ाने के लिये नई तकनीक विकसित की। उन्होंने संस्कृत पढ़ाने के लिये बंगला भाषा में वर्ण-माला भी लिखी।

विद्यासागर ने विधवा पुर्नविवाह के लिये एक सशक्त आंदोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप सरकार ने विधवा पुर्नविवाह को कानूनी मान्यता प्रदान की। उन्होंने बहुपत्नी विवाह एवं बाल विवाह का भी कड़ा विरोध किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देने हेतु अथक प्रयत्न किया। वे कम से कम 35 बालिका विद्यालयों से सम्बद्ध थे, जिनमें से कई स्कूलों का संचालन वे स्वयं अपने खर्चे से करते थे। 1849 में स्थापित बेथुन स्कूल के सचिव के रूप में उन्होंने भारत में स्त्रियों के लिये उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये।

1840 एवं 1850 के दशक में स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में चलाये गये सशक्त आंदोलन के फलस्वरूप ही कलकत्ता में बेथुन स्कूल की स्थापना हुई थी। यद्यपि इस आंदोलन ने अनेक कठिनाइयों का सामना किया। स्कूल के युवा छात्रों ने उनके विरुद्ध नारे लगाये तथा उनका अपमान किया गया। कई अवसरों पर छात्रों के अविभावकों के उनका सामाजिक बहिष्कार भी किया। कई अविभावकों का मानना था कि स्त्रियों को पाश्चात्य एवं उच्च शिक्षा देने से वे पतियों को अपना गुलाम बना लेंगी। फिर भी समाज सुधार के विभिन्न क्षेत्रों में ईश्वरचंद्र विद्यासागर का योगदान अविस्मरणीय है।

बालशास्त्री जाम्बेकर

बालशास्त्री जाम्बेकर (1812-1846) ने बॉम्बे में पत्रकारिता के माध्यम से समाज सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने ब्राह्मणवादी रूढ़िवादिता पर प्रहार किया और लोकप्रिय हिंदुत्ववाद के सुधार का प्रयास किया। उन्होंने 1832 में साप्ताहिक पत्र *दर्पण* का प्रकाशन प्रारंभ किया। मराठी पत्रकारिता के पिता के रूप में जाने जाने वाले जाम्बेकर ने *दर्पण* का प्रयोग विधवा पुनर्विवाह और जीवन में वैज्ञानिक पद्धति को शामिल करने जैसे सामाजिक सुधारों के प्रति लोगों को जागरूक करने में किया। वर्ष 1840 में उन्होंने *दिग्दर्शन* नामक पत्र शुरू किया, जो वैज्ञानिक विषयों के साथ-साथ इतिहास संबंधी विषयों पर लेख प्रकाशित करता था।

जाम्बेकर ने बॉम्बे नेटिव जनरल लाईब्रेरी की नींव रखी और नेटिव इम्प्रूवमेंट सोसायटी शुरू की, जिसकी एक शाखा स्टूडेंट लाईब्रेरी एंड साइंटिफिक लाइब्रेरी थी।

वह कोलाबा ऑब्जर्वेटरी के निदेशक के अतिरिक्त, एल्फिंसटन कॉलेज के प्रथम हिंदी प्रवक्ता थे।

विद्यार्थियों की शैक्षिक एवं वैज्ञानिक समितियां (ज्ञान प्रकाश मंडलियां)

इन्हें ज्ञान प्रकाश मंडलियों के नाम से भी जाना जाता था। इनकी दो प्रमुख शाखायें थीं-पहली, मराठी एवं दूसरी, गुजराती। जिनका गठन 1848 में कुछ शिक्षित युवा भारतीयों द्वारा किया गया था। इन मंडलियों द्वारा सामाजिक प्रश्नों एवं लोकप्रिय विज्ञान पर व्याख्यानों का आयोजन किया जाता था। इनका प्रमुख उद्देश्य बालिकाओं को स्कूलों में प्रवेश लेने के लिये प्रोत्साहित करना था।

परमहंस मंडलियां

महाराष्ट्र में 1849 में स्थापित परमहंस मंडली के संस्थापकों में मुख्य रूप से दादोबा पांडुरंग, मेहताजी दुर्गाराम तथा अन्य शामिल थे। गुप्त समाज के तौर पर शुरू परमहंस मंडली ने हिंदू धर्म एवं समाज के सुधार का कार्य किया। इस मंडली की विचारधारा घनिष्ठ रूप से मानव धर्म सभा से जुड़ी थी। इन मंडलियों के सदस्य केवल एक ही ईश्वर में विश्वास करते थे। वे जाति प्रथा की बुराई को समाप्त करना चाहते थे। इन मंडलियों की दावतों में निम्न जाति के लोगों द्वारा खाना बनाया जाता था तथा उसे ही मंडली का हर सदस्य ग्रहण करता था चाहे भले ही वो उच्च जाति का हो। इन मंडलियों ने स्त्री शिक्षा एवं विधवा पुर्नविवाह की भी वकालत की। बाद में महाराष्ट्र के अनेक स्थानों जैसे पूना, सतारा आदि में भी इन मंडलियों की शाखायें खुल गयीं।

सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले

ज्योतिबा फुले (1827-1890) *माली* जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना वर्ष 1873 में की। इस समाज के नेता एवं सदस्य निम्न जाति के लोग थे। इस समाज का मुख्य उद्देश्य (i) सामाजिक सेवा तथा (ii) स्त्रियों एवं निम्न जाति के लोगों के बीच शिक्षा का प्रचार करना था।

फुले ने 'सार्वजनिक सत्यधर्म के समर्थन' एवं 'गुलामगिरी के विरुद्ध' कार्य किया। उनके ये कार्य जनसामान्य के प्रेरणास्रोत बने। ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणों के प्रतीक चिन्ह 'राम' के विरोध में 'राजा बालि' को अपने आंदोलन का प्रतीक चिन्ह बनाया। फुले, समाज में जाति प्रथा के पूर्ण उन्मूलन एवं सामाजिक-आर्थिक समानता के पक्षधर थे। उन्होंने संस्कृत हिन्दुत्व का विरोध किया। उनके आंदोलन ने समाज में ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त कर दलितों की पहचान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने पुरोहित वर्ग को समाज का शोषक कहा। उन्होंने अपनी पत्नी (सावित्रीबाई) की सहायता से पूना में एक बालिका स्कूल की स्थापना की तथा महाराष्ट्र में अनेक स्थानों पर

विधवा पुर्नविवाह का कार्यक्रम प्रारंभ किया। उन्होंने 1854 में विधवाओं के लिए एक आश्रयस्थल भी खोला। फुले को उनके सामाजिक सुधार के कार्यों के लिए 'महात्मा' की उपाधि दी गई।

गोपालहरि देशमुख 'लोकहितवादी'

गोपालहरि देशमुख (1823-1892) महाराष्ट्र के एक समाज सुधारक और तर्कवादी थे। वे ब्रिटिश शासन के अधीन एक न्यायाधीश थे, लेकिन वे सामाजिक सुधार के मुद्दों पर *लोकहितवादी* के नाम से एक साप्ताहिक पत्रिका *प्रभाकर* में लिखते थे। इन्होंने तार्किक सिद्धांतों तथा आधुनिक एवं मानवतावादी धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के आधार पर भारतीय समाज को पुर्नगठित करने की मांग की। उन्होंने हिन्दू रूढ़िवादिता की आलोचना की तथा सामाजिक एवं धार्मिक समानता पर बल दिया। उन्होंने घोषणा की कि 'यदि कोई धर्म समाज सुधार की अनुमति नहीं देता तो उस धर्म को परिवर्तित कर देना चाहिए'। उन्होंने हिंदू रूढ़िवादिता पर चोट की और सामाजिक तथा धार्मिक समानता का समर्थन किया। उन्होंने *हितेचू* नामक साप्ताहिक पत्रिका शुरू की और *ज्ञान प्रकाश, इंदु प्रकाश* एवं *लोकहितवादी* नामक पीरियोडिकल्स की नींव डालने में अग्रणी भूमिका निभाई।

गोपाल गणेश अगरकर

गोपाल गणेश अगरकर (1856-1895) महाराष्ट्र के एक शिक्षाविद् और सामाजिक सुधारक थे। ये सशक्त मानवीय तर्कों के समर्थक थे। इन्होंने परम्परागत मूल्यों एवं महत्वहीन प्रथाओं पर अंधविश्वास की तीव्र भर्त्सना की। अगरकर न्यू इंग्लिश स्कूल, दक्कन एजुकेशन सोसायटी और फर्ग्युसन कॉलेज के सह-संस्थापक थे। वह फर्ग्युसन कॉलेज के प्रधानाचार्य थे। वे लोकमान्य तिलक द्वारा शुरू किए गए जर्नल *'केसरी'* के प्रथम संपादक भी थे। बाद में उन्होंने *सुधारक* नामक स्वयं का पीरियोडिकल शुरू किया, जिसने अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था के विरुद्ध आवाज बुलंद की।

द सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी

इसकी स्थापना 1905 में कांग्रेस के उदारवादी नेता गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915) ने एम.जी. रानाडे की सहायता से की थी। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय मिशनरियों को देश की सेवा के लिये प्रशिक्षित करना, देश सेवा के कार्य को संवैधानिक तरीके से सम्पन्न करने के लिये प्रोत्साहित करना तथा लोगों को स्वार्थरहित होकर धार्मिक भावना के साथ कार्य करने के लिये तैयार करना था। 1911 में, समाज के विचारों को प्रस्तुत करने के लिए *हितवाद* का प्रकाशन शुरू किया गया। सोसायटी ने राजनीतिक गतिविधियों और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे संगठनों से अलग रहने का निर्णय लिया। 1915 में गोपाल कृष्ण गोखले की मृत्यु के पश्चात श्रीनिवास शास्त्री

ने इसका अध्यक्ष पद संभाला। सोसायटी अभी भी, यद्यपि सिकुड़ते आधार के होते हुए भी, भारत के कई स्थलों पर काम कर रही थी। इसने कई स्थानों पर आदिवासी बालिकाओं के लिए आश्रय सरीखे स्कूल और *बलवादी* प्रदान करके शिक्षा के क्षेत्र में काम किया।

सोशल सर्विस लीग

इसकी स्थापना गोखले के समर्थक नारायण मल्हार जोशी ने बम्बई में की। इसका उद्देश्य सभी लोगों को जीवन एवं कार्य की बेहतर दशायें उपलब्ध कराना था। इस लीग ने कई स्कूलों, पुस्तकालयों, अध्ययन कक्षों, नर्सरी कक्षाओं एवं सहकारी समितियों की स्थापना की। इसके कार्यकर्ता न्यायालयों के एजेंट के रूप में कार्य करते थे तथा गरीबों एवं अशिक्षित लोगों को न्याय दिलाने हेतु उनकी ओर से पैरवी करते थे। झुग्गी-झोपड़ी में निवास करने वाले लोगों की सहायता, व्यायामशालाओं की स्थापना, नाट्य गृहों की स्थापना, जागरुकता बढ़ाने वाले कार्यक्रमों का मंचन, स्वच्छता अभियान, चिकित्सा सहायता, युवा क्लबों की स्थापना, स्काउट सेवा दलों की स्थापना जैसे कार्य भी लीग द्वारा किये जाते थे। सोशल सर्विस लीग के संस्थापक नारायण मल्हार जोशी ने ही 1920 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की।

रामकृष्ण आंदोलन एवं स्वामी विवेकानंद

बंगाल में ब्रह्म समाज के प्रयत्नों से बौद्धिक वर्ग में एक नवीन चेतना जागृत हुई तथा वे आडम्बरपूर्ण रीति-रिवाजों से हटकर *भक्ति* एवं *योग* जैसे मार्गों को अपनाने लगे। दक्षिणेश्वर (कलकत्ता) के काली मंदिर के पुजारी **रामकृष्ण परमहंस** (1836-86) के उपदेशों ने रामकृष्ण आंदोलन की पृष्ठिभूमि तैयार की। रामकृष्ण ने बेहद छोटी आयु में आध्यात्मिक परमानंद की प्राप्ति कर ली। उन्हें मौजूदा हिंदू आध्यात्मिक अनुभूति की उच्चतम अवस्था प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने पुस्तक नहीं लिखी, लेकिन उनके मौखिक वाक्य ही उनकी शिक्षाएं समझी जाने लगीं। उन्होंने, चिंतन, सन्यास एवं भक्ति के परम्परागत तरीकों से धार्मिक मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर और धार्मिक मुक्ति पाने के कई मार्ग हैं, इन मार्गों में सबसे श्रेष्ठ मार्ग मानव सेवा है। क्योंकि मानव ईश्वर का मूर्त रूप है इसलिये मानव सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। उन्होंने अपनी नम्रता, मानवता और आध्यात्मिकता के द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय के अनेक विद्यार्थियों को प्रभावित किया। इन्हीं विद्यार्थियों में से एक का नाम नरेंद्र दत्त था, जो आगे चलकर 'विवेकानंद' के नाम से विख्यात हुए।

रामकृष्ण परमहंस ने, 'परमहंस मठ' की स्थापना की। उन्होंने ध्यान एवं भक्ति को पाश्चात्यीकरण एवं आधुनिकीकरण के सम्मिलित प्रयोग के रूप में ईश्वरोपासना का उपाय बताया। उन्होंने कहा सभी धर्मों का आधार एक ही है। राम, हरि, ईशु, अल्लाह

सभी एक ही ईश्वर के अलग-अलग नाम हैं तथा विभिन्न धर्मों में ईश्वर को पाने के तरीके भिन्न-भिन्न हैं लेकिन उद्देश्य एक ही है। 1886 में रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु हो गयी।

स्वामी विवेकानंदः इनका जन्म 1862 में हुआ। वे आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण रामकृष्ण के संपर्क में आये तथा उनके शिष्य बन गये। इन्होंने रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों को लोगों के बीच प्रचारित किया तथा इन्हें तत्कालीन भारतीय समाज के अनुरूप ज्यादा प्रासंगिक बनाने का प्रयास किया। वे नव-हिन्दूवाद के उपदेशक के रूप में उभरे। विवेकानंद ने रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं एवं उपदेशों को प्रचारित करने के लिये 1897 में **रामकृष्ण मिशन** की स्थापना की। रामकृष्ण की शिक्षाओं, उपनिषद एवं गीता के दर्शन तथा बुद्ध एवं यीशु के उपदेशों को आधार बनाकर विवेकानंद ने विश्व को मानव मूल्यों की शिक्षा दी। उन्होंने सामाजिक कर्म पर जोर दिया और कहा कि अगर ज्ञान के साथ जिस वास्तविक संसार में हम रहते हैं, उसमें कर्म न किया जाये तो ज्ञान निरर्थक है।

विवेकानंद ने सर्वधर्म समभाव की घोषणा की और धार्मिक मामलों में हर प्रकार की भी संकीर्णता की निंदा की। 1898 में उन्होंने लिखा 'हमारी मात्रभूमि के लिये विश्व के दो महान धर्मों, हिन्दू एवं मुस्लिम की प्रणालियों का संगम ही एक मात्र आशा है। उन्होंने हिन्दू धर्म के पृथकतावादी सिद्धांत की आलोचना की तथा उसके 'मुझे मत छुओ' के आदर्श को उसकी एक बड़ी भूल बताया। साधारण जनता के दुःख एवं कठिनाइयों से परिचित होने के लिये उन्होंने पूरे देश की यात्रा की तथा कहा 'जिस एक मात्र ईश्वर पर मैं विश्वास करता हूं....वह मेरा ईश्वर सब देशों का दुखी, पीड़ित और दरिद्रजन है'। उनके अनुसार, किसी भूखे को धार्मिक उपदेश देना, ईश्वर का अपमान करने जैसा है। उन्होंने देशवासियों से स्वतंत्रता, समानता एवं स्वतंत्र सोच धारण करने की अपील की।

विवेकानंद, एक महान मानवतावादी व्यक्ति थे तथा उन्होंने रामकृष्ण मिशन के द्वारा मानवीय सहायता एवं सामाजिक कार्य को अपना सर्वप्रमुख उद्देश्य बनाया। मिशन ने सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के अनेक कार्य किये। उन्होंने कर्मफल की सर्वोच्चता को प्रतिपादित करते हुए इसे ही सर्वश्रेष्ठ बताया। विवेकानंद ने जीव की सेवा की तुलना शिव की पूजा से की। उनके अनुसार जीवन स्वयं एक धर्म है। कर्म के द्वारा ही मानव का दैवीय अस्तित्व होता है। उन्होंने तत्कालीन तकनीक एवं आधुनिक विज्ञान का उपयोग मानवमात्र के कल्याण हेतु करने की महत्ता प्रतिपादित की। विवेकानंद ने अपने मानवतावादी और कार्य सम्बंधी विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये देश के विभिन्न भागों में रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखायें स्थापित कीं। इस मिशन ने लोगों के लिये स्कूल, पुस्तकालय, दवाखाने, अनाथालय इत्यादि की स्थापना की। मिशन, विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं यथा-बाढ़, सूखे एवं महामारी

इत्यादि में भी लोगों की सहायता के लिये कार्य करता था। मिशन ने अंतर्राष्ट्रीय संगठन का स्वरूप धारण किया। मिशन एक हिन्दू धार्मिक संगठन था किंतु इसने अन्य धर्मों को भी महान बताया। आर्य समाज के विपरीत, मिशन ने मूर्तिपूजा का समर्थन किया। इसके अनुसार, मूर्तिपूजा, उपासना का उत्तम एवं सरल तरीका है। मूर्तिपूजा से आध्यात्मवाद का विकास बड़ी सरलता से किया जा सकता है। यह श्रेष्ठ है क्योंकि मूर्तिपूजा से कोई भी मनुष्य बहुत कम समय में ईश्वर की वंदना में निपुण हो सकता है। हिन्दू धर्म या वेदांत सर्वश्रेष्ठ है। इसकी सहायता से हिन्दू, सच्चा हिन्दू एवं क्रिश्चियन सच्चा क्रिश्चियन बन सकता है।

विवेकानंद ने 1893 में शिकागो (अमेरिका) में सम्पन्न 'विश्व धर्म सम्मेलन' में लोगों को यह बताने का प्रयास किया कि वेदांत केवल हिन्दुओं का ही नहीं अपितु सभी मनुष्यों का धर्म है। उन्होंने आध्यात्मवाद एवं भौतिकतावाद के संतुलन पर बल दिया। इस सम्मेलन में उन्होंने कहा कि यदि पश्चिम के भौतिकतावाद एवं पूर्व के आध्यात्मवाद का सम्मिश्रण कर दिया जाये तो यह मानव जाति की भलाई का सर्वोत्तम मार्ग होगा।

विवेकानंद ने कभी लोगों को राजनीतिक संदेश नहीं दिया। उन्होंने देश की युवा पीढ़ी से अपील की कि वे भारत की प्राचीन सभ्यता पर गर्व करें तथा भविष्य में भारत की संस्कृति को मानव जाति के कल्याणार्थ समर्पित करें। वे भारत को एक जागृत एवं प्रगतिशील राष्ट्र बनाना चाहते थे। वे जातिवाद, छुआछूत एवं विषमता को राष्ट्र के दुर्बल होने का महत्वपूर्ण कारक मानते थे। उन्हें भारत की जनता की शक्ति में पूर्ण आस्था थी। उनका विश्वास था कि एक दिन भारत का विकास होगा तथा देश से अशिक्षा एवं गरीबी पूरी तरह समाप्त हो जायेगी।

दयानंद सरस्वती एवं आर्य समाज

यह हिन्दू धर्म का सुधारवादी आंदोलन था, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था। इसके संस्थापक दयानंद सरस्वती (1824-83), जिनके बचपन का नाम मूलशंकर था, का जन्म गुजरात के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे सत्य की तलाश में लगभग 15 (1845-60) वर्षों तक इधर से उधर भटकते रहे। 1875 में उन्होंने बॉम्बे में आर्य समाज की स्थापना की। बाद में उन्होंने इसका मुख्यालय बम्बई से लाहौर स्थानांतरित कर दिया।

दयानंद के विचार एवं चिंतन का प्रकाशन उनकी प्रसिद्ध पुस्तक *सत्यार्थ प्रकाश* में हुआ। दयानंद की परिकल्पना में, जाति रहित एवं वर्ग रहित समाज, राष्ट्रीय, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से संयुक्त भारत, विदेशी दासता से मुक्ति एवं सम्पूर्ण राष्ट्र में आर्य धर्म की स्थापना की कल्पना सर्वप्रमुख थी। उन्होंने वेदों को सच्चा एवं सभी धर्मों से हटकर बताया। उन्होंने कहा कि वेद भगवान द्वारा प्रेरित हैं और सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत हैं। उन्होंने उन धार्मिक विचारों को ठुकरा दिया, जो वेदों के अनुकूल नहीं थे। उन्होंने नारा दिया *'वेदों* की ओर लौटो'। दयानंद सरस्वती ने वेदांत की शिक्षा मथुरा के एक

अंधे गुरु स्वामी विरजानंद से ग्रहण की थी। *वेदों* को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ बताया। उनके अनुसार व्यक्तिगत रूप से धार्मिक तर्क का मार्ग सभी को अपनाना चाहिये, क्योंकि हर मनुष्य को ईश्वरोपासना का अधिकार है। उन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्म, ग्रंथों में पुराणों की कड़ी आलोचना की और कहा कि स्वार्थी और अज्ञानी पुरोहितों ने पुराणों की सहायता से हिन्दू धर्म को दूषित कर दिया है। उन्होंने हिन्दू रूढ़िवादिता, जातिगत कठोरता, अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, कर्मकांड, पुरोहितवाद, चमत्कार जैसी चीजों में विश्वास, जीवहत्या, समुद्र यात्रा पर निषेध, पुरोहितों के श्राद्ध (भोजन) इत्यादि की कड़ी आलोचना की। उन्होंने हिन्दू धर्म की परंपरागत जाति प्रथा की भी आलोचना की तथा कहा-जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर नहीं अपितु कर्म के आधार पर होना चाहिए।

आर्य समाज ने लड़कों के विवाह की न्यूनतम उम्र 25 वर्ष तथा लड़कियों की 16 वर्ष निर्धारित की। एक अवसर पर दयानंद ने हिन्दू प्रजाति को 'बच्चों का बच्चा' की संज्ञा दी। उन्होंने अंतर्जातीय विवाह' तथा विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। उन्होंने स्त्री समानता की वकालत भी की। समाज, प्राकृतिक विपदाओं जैसे-सूखा, बाढ़, एवं भूकम्प आने पर सहायता पहुंचाने का कार्य भी करता था। आर्य समाज ने शिक्षा व्यवस्था को भी एक नई दिशा प्रदान की। आर्य समाज ने लोगों का ध्यान परलोक की बजाय इस वास्तविक संसार में रहने वाले मनुष्यों की समस्याओं की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये *शुद्धि आंदोलन* चलाया, जिससे कि किसी दबाव या भय से हिन्दू धर्म को छोड़ चुके लोग हिन्दू धर्म में वापस आ जायें। आर्य समाज के अनुसार, परम ईश्वर एक है और सबको उसकी उपासना करनी चाहिए। ईश्वर की उपासना में आध्यात्मिक चिंतन का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। ईश्वर निराकार है और उसकी मूर्तिरूप में पूजा नहीं की जानी चाहिए। समाज ने इस बात का खण्डन किया कि ईश्वर का अवतार होता है। राम और कृष्ण महापुरुष थे न कि ईश्वर के अवतार। सभी मनुष्य उनके विचार अपना कर और उनके कार्यों पर चलकर उनका स्थान प्राप्त कर सकते हैं। आत्मा अमर है। आत्मा द्वारा बार-बार शरीर त्यागने एवं पुर्नजन्म की बात सत्य है लेकिन स्वार्थी ब्राह्मणों द्वारा इसके लिये जो श्राद्ध कराया जाता है, वह निरर्थक एवं गलत है। समाज कर्मफल एवं मोक्ष में विश्वास करता है। उसके अनुसार वेद हिन्दुओं की सर्वोच्च धार्मिक पुस्तक है।

यहां यह बात स्पष्ट है कि स्वामी दयानंद सरस्वती का नारा 'वेदों की ओर लौटो' वैदिक शिक्षा एवं धर्म की वैदिक शुद्धता के लिये किया गया प्रयास है न कि वैदिक काल की पुर्नस्थापना। स्वामी दयानंद ने आधुनिकता एवं देशभक्ति के आदर्शों को अपनाने पर जोर दिया।

आर्य समाज के 10 प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं—(i) वेद ही ज्ञान के श्रोत हैं, अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है; (ii) वेदों के आधार पर मंत्र-पाठ करना;

(iii) मूर्ति पूजा का खंडन; (iv) तीर्थ यात्रा और अवतारवाद का विरोध; (v) कर्म, पुनर्जन्म एवं आत्मा के बारम्बार जन्म लेने पर विश्वास; (vi)) एक ईश्वर में विश्वास जो निरंकारी है; (vii) स्त्रियों की शिक्षा को प्रोत्साहन; (viii) बाल विवाह और बहुविवाह का विरोध; (ix) कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह का समर्थन एवं; (x) हिन्दी एवं संस्कृत भाषा के प्रसार को प्रोत्साहन।

आर्य समाज के प्रमुख सामाजिक उद्देश्य थे—ईश्वर के प्रति पितृत्व एवं मानव के प्रति भ्रातृत्व की भावना, स्त्री-पुरुष के बीच समानता, सभी लोगों के बीच पूर्ण न्याय की स्थापना तथा सभी राष्ट्रों के मध्य सौहार्दपूर्ण व्यवहार। स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्रमुख तत्कालीन समाज सुधारकों जैसे केशवचंद्र सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रानाडे, देशमुख इत्यादि से सम्पर्क स्थापित किया। दयानंद की मृत्यु के पश्चात् उनके आदर्शों को लाला हंसराज, पंडित गुरुदत्त, लाला लाजपत राय एवं स्वामी श्रद्धानंद इत्यादि ने आगे बढ़ाया।

1893 में आर्य समाज खान-पान और शिक्षा नीति के मुद्दे को लेकर दो समूहों में विभाजित हो गया। पहला समूह मांसाहार और पश्चिमी शिक्षा के पक्ष में था जिसे 'कल्चरड पार्टी' कहा गया। इनका तर्क था कि आर्य समाज के 10 सिद्धांतों में मांसाहार करने या न करने का उल्लेख नहीं है। इस समूह के नेता महात्मा हंसराज थे। दूसरे समूह ने समग्र शाकाहार का पक्ष लिया और शिक्षा की गुरुकल-पद्धति का समर्थन किया। इस समूह को 'महात्मा' कहा गया। इस समूह का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानंद ने किया। महात्मा हंसराज ने 1886 में लाहौर में ओरिएंटल एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना की, जबकि स्वामी श्रद्धानंद ने 1901 में हरिद्वार में गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय की स्थापना की।

आर्य समाज ने हिन्दू धर्म में आत्म-सम्मान एवं आत्म-विश्वास की भावना जागृत की तथा उसे पाश्चात्य जगत की श्रेष्ठता के भ्रम से मुक्त कराया। आर्य समाज के प्रयासों से इस्लामी एवं ईसाई मिशनरियों की हिन्दू धर्म विरोधी गतिविधियां सफल नहीं हो सकीं तथा हिन्दू धर्म अक्षुण बना रहा। दयानंद के सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रंथ में जन सामान्य की अनेक धार्मिक जिज्ञासाओं को दूर किया गया। इस ग्रंथ में हिन्दू धर्म की अनेक त्रुटियों पर प्रकाश डाला गया है तथा अन्य धर्म के पाखण्डों की भी निंदा की गयी है।

सेवा सदन

एक पारसी धर्म सुधारक बहराम जी एम. मालाबारी (1853-1912) ने 1908 में सेवा सदन की स्थापना अपने मित्र दीवान दयाराम गिडूमल के साथ मिलकर की। मालाबारी ने बाल विवाह के विरुद्ध तथा विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में जोरदार तरीके से बात की। यह उनके प्रयासों का परिणाम था कि *ऐज ऑफ कंसेंट एक्ट* प्रस्तुत किया गया जो महिलाओं की सहमति की आयु विनियमित करता है। यह सदन, शोषित एवं समाज

द्वारा तिरस्कृत महिलाओं के उत्थान के लिये प्रयत्न करता था। यह सभी जाति की महिलाओं के लिये शिक्षा, चिकित्सा सुविधायें एवं सामाजिक सेवा का कार्य करता था।

देव समाज

इसकी स्थापना 1887 में शिव नारायन अग्निहोत्री (1850-1927), जो पहले ब्रह्म समाज के अनुयायी थे, ने लाहौर में की। इस समाज का मुख्य उद्देश्य आत्मा की शुद्धि, गुरु की श्रेष्ठता की स्थापना एवं अच्छे मानवीय कार्य करना था। इसने आदर्श सामाजिक व्यवहारों यथा-रिश्वत न लेना, मांसाहारी भोजन एवं मद्यपान का निषेध एवं हिंसात्मक कार्यों से दूर रहने इत्यादि को अपनाने पर जोर दिया। इस समाज की शिक्षाओं को *देव शास्त्र* नामक पुस्तक में संकलित किया गया तथा अग्निहोत्री ने बाल विवाह के विरुद्ध आवाज उठाई।

धर्म सभा

इसकी स्थापना 1830 में राधाकांत देब ने की। यह एक रूढ़िवादी संस्था थी। इसने सामाजिक-धार्मिक मामलों में पुरातन एवं रूढ़िवादी तत्वों को संरक्षित करने का प्रयास किया। यहां तक कि इसने सती प्रथा को समाप्त किये जाने के प्रयासों का भी विरोध किया लेकिन सभा ने पाश्चात्य शिक्षा विशेषकर बालिकाओं में इसे प्रोत्साहित करने का समर्थन किया।

भारत धर्म महामंडल

यह भारत के शिक्षित रूढ़िवादी हिन्दुओं का एक संगठन था जिसका गठन आर्य समाज, थियोसोफिकल समर्थकों एवं रामकृष्ण मिशन से हिन्दू रूढ़िवादिता को बचाने के लिये किया गया था। 1895 में इसी प्रकार के एक अन्य संगठन सनातन धर्म सभा की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य भी हिन्दू रूढ़िवादिता के हितों को सुरक्षित रखने हेतु प्रयत्न करना था। दक्षिण भारत में धर्म महापरिषद एवं बंगाल में धर्म महामंडली की स्थापना भी इन्हीं उद्देश्यों के लिये की गयी। 1902 में इन सभी संगठनों में आपस में संयुक्त होकर एक बड़े संगठन भारत धर्म महामंडल की स्थापना की, जिसका मुख्यालय वाराणसी में था। इस संगठन ने हिन्दुत्व की रक्षा के प्रयास किये तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हिन्दू धार्मिक सभाओं तथा हिन्दू शिक्षा संस्थानों इत्यादि की स्थापना की। इस महामंडल के सदस्यों में पंडित मदन मोहन मालवीय प्रमुख थे।

राधास्वामी आंदोलन

आगरा के एक बैंकर तुलसीराम ने, जिन्हें शिव दयाल साहब के नाम से भी जाना जाता था, 1861 में इस आंदोलन की शुरुआत की। इस आंदोलन के समर्थक—एक ही ईश्वर की सर्वोच्चता में विश्वास, गुरु की सर्वोच्चता में विश्वास, सत्संगों का आयोजन एवं सादगीपूर्ण सामाजिक जीवन में आस्था रखते हों। वे सांसारिक मायामोह से दूर रहने

का भी प्रयत्न करते थे। इनके अनुसार सभी धर्म सत्य हैं। इस आंदोलन के अनुयायियों का दरगाह एवं अन्य धार्मिक स्थलों में जाने में विश्वास नहीं था तथा इसके सिवाय वे सत्य एवं विश्वास तथा सेवा एवं प्रार्थना को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे।

श्री नारायनगुरु धर्मपरिपालन (एसएनडीपी) आंदोलन

यह आंदोलन एक क्षेत्रीय आंदोलन था, जिसका जन्म समाज के दलित वर्ग एवं ब्राह्मण वर्ग में टकराव के कारण हुआ।

इस आंदोलन की शुरुआत केरल के इझवास जाति के श्री नारायण गुरु स्वामी (1856-1928) ने की। इझवास केरल की सबसे बड़ी दलित जाति है, जिसे अछूत माना जाता था। यह राज्य की कुल जनसंख्या का 26 प्रतिशत थी। इस जाति के लोग मुख्यतया ताड़ी (शराब) बेचने का काम करते थे। सन् 1888 में शिवरात्रि के अवसर पर श्री नारायन गुरु ने पिछड़ी जाति का होने के बावजूद केरल के अरुविप्पुरम नामक स्थान में भगवान शिव की प्रतिमा स्थापित की तथा कहा देवताओं की पूजा एवं आराधना में ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। उन्होंने स्थानीय मंदिर की दीवार पर लिखा कि 'जातीयता एवं प्रजातीयता को बढ़ाने वाली दीवार को गिरा दो, आपसी घृणा को दूर करो, सद्भाव बढ़ाओ, हम सभी यहां भाई-भाई की तरह रहेंगे'। इस आंदोलन (अरुविप्पुरम आंदोलन) का दक्षिण भारत में दूरगामी प्रभाव हुआ। इसने दक्षिण भारत के लोगों में एक नई चेतना जागृत की तथा इस क्षेत्र में अनेक आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की। बाद में होने वाले अनेक आंदोलन विशेषकर 'मंदिर प्रवेश आंदोलन' इस आंदोलन से प्रेरित थे। 1889 में, अरुविप्पुरम क्षेत्र योगम की स्थापना की गई और इसने एक बड़े संगठन में तब्दील होने का निर्णय किया ताकि इझवास समुदाय की प्रगति में भौतिक और साथ ही साथ आध्यात्मिक रूप से मदद की जा सके।

इस प्रकार अरुवीप्पुरम श्री नारायण गुरु धर्म परिपालन योगम (एसएनडीपी) को भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत 1903 में पंजीकृत किया गया। नारायण गुरु इसके स्थायी अध्यक्ष बनाए गए और उनके शिष्य कुमारन आसन को महासचिव बनाया गया। (एसएनडीपी के निर्माण में, डॉ. पलपू के प्रयासों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उन्होंने इझवा मेमोरियल, मलयाली मेमोरियल के माध्यम से सामाजिक न्याय हेतु संघर्ष आरंभ किया) इस योगम के कई उद्देश्य थे यथा–(i) शिक्षा संस्थाओं में इस समुदाय के छात्रों को प्रवेश का अधिकार दिलाना; (ii) सरकारी सेवाओं में भर्ती; (iii) मंदिरों में प्रवेश; (iv) राजनीतिक प्रतिनिधित्व इत्यादि।

इस आंदोलन के फलस्वरूप केरल में दलितों को अनेक अधिकार प्राप्त हुए, कई निषिद्ध क्षेत्रों एवं स्थानों में उनको प्रवेश मिला तथा उनमें चेतना का प्रसार हुआ। दलितों को उनके सामाजिक अधिकार दिलाने में इस आंदोलन का महत्वपूर्ण स्थान रहा।

वोक्कालिग संघ

इस आंदोलन की शुरुआत 1905 में मैसूर में हुई। यह एक ब्राह्मण विरोधी आंदोलन था।

न्याय आंदोलन या जस्टिस आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत सी.एन. मुदलियार, टी.एम. नायर एवं पी. त्यागराज ने मद्रास में की। इस आंदोलन का उद्देश्य गैर-ब्राह्मण जातियों का विधायिका में प्रतिनिधित्व बढ़ाना था। 1917 में मद्रास प्रेसीडेंसी एसोसिएशन का गठन किया गया, जिसने विधायिका में निम्न जाति के लोगों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की।

आत्म-सम्मान आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत 1920 के दशक में ई.वी. रामास्वामी नायकर एवं बालीजा नायडू ने की। इसने समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती दी तथा लोगों से ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिये आगे आने का आह्वान किया। इसने पिछड़ी जाति के लोगों को विभिन्न अधिकार एवं प्रतिनिधित्व देने की मांग की। आंदोलन के अनुयायियों ने कहा कि धार्मिक कर्मकांडों में ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। उन्होंने लोगों से अपील की कि वे विवाह के अवसर पर विभिन्न पूजाओं के लिये ब्राह्मणों को आमंत्रित न करें।

मंदिर प्रवेश आंदोलन

तत्कालीन अनेक समाज सुधारक तथा बुद्धिजीवियों जैसे श्री नारायण गुरु, एन. कुमारन असन, टी.के. माधवन इत्यादि पहले ही इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर चुके थे। 1924 में के.पी. केसव के नेतृत्व में केरल में वाइकोम सत्याग्रह प्रारंभ हुआ जिसने सार्वजनिक मार्गों एवं हिन्दू मंदिरों में दलितों को प्रवेश का अधिकार दिये जाने की मांग की। पंजाब में जाटों एवं मदुरई के भी स्थानीय निवासियों ने इस सत्याग्रह के माध्यम से समान अधिकारों की मांग की। महात्मा गांधी ने इस आंदोलन के समर्थन में केरल की यात्रा की तथा सत्याग्रहियों की मांगें पूरी किये जाने की अपील की।

पुनः 1931 में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित हो गया, केरल में मंदिर प्रवेश आंदोलन जोर पकड़ने लगा। के. केलप्पन एवं केरल के प्रख्यात कवि सुब्रह्मण्यम तिरुमाम्बू ने गुरुवयूर नामक स्थान पर 16 स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं के दल का नेतृत्व किया। प्रसिद्ध सामाजिक सुधारकों जैसे—पी.कृष्णा पिल्लई एवं ए.के. गोपालन ने भी इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। अंततः इस आंदोलन को एक महत्वपूर्ण सफलता तब हाथ लगी, जब 1936 में ट्रावनकोर के महाराजा ने एक राजाज्ञा जारी करके सभी सरकार नियंत्रित मंदिरों को सभी जातियों के लिये खोल दिया।

इसी तरह का आदेश 1938 में सी.राजगोपालाचारी की सरकार ने मद्रास में भी जारी किया।

इंडियन सोशल कांफ्रेंस

इसकी स्थापना एम.जी. रानाडे एवं रघुनाथ राव ने की थी। इस कांफ्रेंस का प्रतिवर्ष एक सम्मेलन होता था। इसका पहला सम्मेलन 1887 में मद्रास में हुआ। संयोग से इसी समय मद्रास में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सम्मेलन भी आयोजित किया गया था। इसने सामाजिक महत्व के विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। वास्तव में यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की समाज सुधारक शाखा ही थी क्योंकि इस कांफ्रेंस के सभी प्रमुख नेता कांग्रेस से सम्बद्ध थे। इस कांफ्रेंस के मुख्य उद्देश्यों में-अंतर-जातीय विवाह को प्रोत्साहन, बहुपत्नी प्रथा का विरोध एवं कुलीन प्रथा का विरोध प्रमुख थे। इसने बाल विवाह को रोकने के लिये 'याचना अभियान' भी चलाया, जिसमें लोगों से याचना की जाती थी कि वे बाल विवाह न करें।

वहाबी आंदोलन

मुसलमानों की पाश्चात्य प्रभावों के विरुद्ध सर्वप्रथम जो प्रतिक्रिया हुई, उसे ही वहाबी आंदोलन या वलीउल्लाह आंदोलन के नाम से जाना जाता है। वास्तव में यह एक पुनर्जागरणवादी आंदोलन था। शाह वलीउल्लाह (1702-62) अठारहवीं सदी में मुसलमानों के वह प्रथम नेता थे, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों में हुई गिरावट में चिंता प्रकट की। उन्होंने भारतीय मुसलमानों के रीति-रिवाज तथा मान्यताओं में व्याप्त कुरीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

इसके पश्चात शाह अब्दुल्ला अजीज तथा सैय्यद अहमद बरेलवी (1786-1831) ने वलीउल्लाह के विचारों को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। शाह अब्दुल अजीज ने हिंदुस्तान को दारुल-हर्ब (काफिरों का देश) से दारुल-इस्लाम बनाने का आह्वान किया। प्रारंभ में यह अभियान सिख सरकार के खिलाफ था, परंतु 1849 में अंग्रेजों द्वारा पंजाब का विलय करने पर यह अंग्रेजों के विरुद्ध हो गया। 1857 के विद्रोह के दौरान, वहाबियों ने ब्रिटिश शासन विरोधी भावनाओं को भड़काने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वहाबी आंदोलन 1870 तक चलता रहा, जब तक कि इसे सैन्य बल द्वारा समाप्त नहीं कर दिया गया। सैय्यद अहमद का यह दल उग्र था। इसका केंद्र पटना था।

टीटू मीर का आंदोलन

वहाबी आंदोलन के संस्थापक सैय्यद अहमद बरेलवी के शिष्य, मीर निथार अली, जिन्हें टीटू मीर के नाम से भी जाना जाता था, ने इस आंदोलन का प्रवर्तन किया। टीटू मीर ने वहाबवाद को स्वीकार किया और शरिया की वकालत की। टीटू मीर ने बंगाल के मुसलमान किसानों को जमींदारों, जो अधिकतर हिंदू थे, एवं अंग्रेज नील सौदागरों के

विरुद्ध संगठित किया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने इस आंदोलन को आतंकवादी या हिंसक नहीं माना, किंतु आंदोलन के अंतिम वर्षों विशेषकर उस वर्ष जब टीटू मीर का निधन हुआ, इसके कार्यकर्ताओं एवं पुलिस में अनेक झड़पें हुईं। 1831 में इसी प्रकार की एक मुठभेंड़ में टीटू मीर का निधन हो गया।

फराजी आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत हाजी शरीयतउल्लाह ने 1818 में की थी। इस आंदोलन को 'फराइदी आंदोलन' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इसका मुख्य जोर इस्लाम धर्म की सच्चाई पर था। इस आंदोलन का कार्य-क्षेत्र मुख्यतया पूर्वी बंगाल था तथा इसका मुख्य उद्देश्य इस क्षेत्र की मुस्लिम आबादी को सामाजिक भेदभाव एवं शोषण से बचाना था। हाजी शरियतउल्लाह के पुत्र दूदू मियां के नेतृत्व में 1840 के पश्चात आंदोलन ने क्रांतिकारी रुख अख्तियार कर लिया। दूदू मियां ने आंदोलन को एक नया स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने इसे गांव से लेकर प्रांतीय स्तर तक संगठित किया। उन्होंने संगठन के प्रत्येक स्तर पर एक प्रमुख नियुक्त किया। इस आंदोलन ने सशस्त्र कार्यकर्ताओं का एक दल तैयार किया जिसका कार्य हिन्दू जमींदारों एवं पुलिस के विरुद्ध संघर्ष करना था।

दूदू मियां को अनेक बार पुलिस ने गिरफ्तार किया किंतु 1847 में दूदू मियां की लंबी गिरफ्तारी के पश्चात आंदोलन कमजोर हो गया। 1862 में दूदू मियां की मृत्यु के बाद भी आंदोलन चलता रहा किंतु किसी बड़े राजनैतिक प्रश्रय के अभाव में इसकी पहचान एक क्षेत्रीय धार्मिक आंदोलन के रूप में सिमट कर रह गयी।

अहमदिया आंदोलन

19वीं शताब्दी में मुस्लिम समाज और धर्म सुधार के लिये एक और आंदोलन चला, जिसे अहमदिया आंदोलन कहते हैं। अहमदिया ने इस्लाम के एक पंथ का निर्माण किया, जिसका जन्म भारत में हुआ। इसकी स्थापना वर्ष 1889 में मिर्जा गुलाम अहमद ने की। अहमदिया आंदोलन उदार सिद्धांतों पर आधारित था। इसके नेता स्वयं को हजरत मुहम्मद ही तरह का अवतार मानते थे। आंदोलन, मुस्लिम समाज में सुधार लाने एवं उसमें व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के कार्य को अपना सर्वप्रमुख उद्देश्य मानता था। इसने गैर-मुसलमानों के प्रति युद्ध 'जेहाद' को बंद किये जाने की मांग की। आंदोलन ने भारतीय मुसलमानों के मध्य पाश्चात्य उदारवादी शिक्षा के प्रसार को बढ़ावा दिया। अहमदिया समुदाय ही मात्र ऐसा इस्लामिक पंथ है जिसका विश्वास है कि धार्मिक युद्धों एवं रक्तपात को समाप्त करने और नैतिकता, शांति एवं न्याय को पुनर्स्थापित करने के लिए ही मिर्जा गुलाम अहमद मसीहा बनकर आए। उन्होंने मस्जिद को राज्य से अलग करने में विश्वास किया और साथ ही साथ मानवाधिकारों एवं सहिष्णुता को बढ़ावा दिया। यह आंदोलन पंजाब के गुरुदासपुर जिले के 'कादिया नगर' से प्रारंभ

हुआ था। मिर्जा गुलाम अहमद ने अपने सिद्धांतों की व्याख्या अपनी पुस्तक *बराहीन-ए-अहमदिया* में की है।

सर सैय्यद अहमद खान एवं अलीगढ़ आंदोलन

1857 के विद्रोह के पश्चात अंग्रेजी सरकार यह मानने लगी कि इस विद्रोह में मुख्य षड़यंत्रकर्ता मुसलमान थे। कालांतर में वहाबी आंदोलन के प्रति सरकार विरोधी रुख से यह धारणा और बलवती हो गयी। किंतु बाद में ब्रिटिश सरकार यह महसूस करने लगी कि उस समय राष्ट्रवादी आंदोलन की गति जिस तरह से जोर पकड़ने लगी थी उसका सामना करने के लिये शीघ्र ही कोई कदम उठाना अपरिहार्य हो गया था। इन्हीं परिस्थितियों में बढ़ते हुए राष्ट्रवाद का मुकाबला करने के लिये सरकार ने मुसलमानों को सहयोगी के रूप में इस्तेमाल करने का निश्चय किया। लेकिन यह सहयोग तभी प्राप्त किया जा सकता था जब मुसलमानों को सशक्त बौद्धिक विचारों से प्रभावित किया जाये। इस समय मुसलमानों का एक वर्ग, जिसका नेतृत्व सर सैय्यद अहमद खान (1817-1898) कर रहे थे, सरकारी संरक्षण एवं सहयोग प्राप्त करने के पक्ष में था, जिससे मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार कर रोजगार वृद्धि की जाये, ताकि मुस्लिम समाज की दशा में सुधार हो सके।

सर सैय्यद अहमद खान का जन्म 1817 में दिल्ली में एक प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवार में हुआ था। वे ब्रिटिश शासन के अधीन न्यायिक सेवा के एक अंग्रेज भक्त नौकरशाह थे। 1876 में सरकारी सेवा से सेवानिवृत्त होने के पश्चात 1878 में वे 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल' के सदस्य बने। अंग्रेजों के प्रति उनके समर्पण से प्रसन्न होकर 1888 में अंग्रेज सरकार ने उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि प्रदान की। उन्होंने अपील की कि कुरान की शिक्षाओं की व्याख्या पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा के दृष्टिकोण से की जाये। उन्होंने घोषित किया कि कुरान ही मुसलमानों की एकमात्र धार्मिक कृति है और सभी अन्य इस्लामिक रचनायें इसके समक्ष गौण हैं। उन्होंने कुरान की व्याख्या समसामयिक बौद्धिक तर्कों और ज्ञान के प्रकाश में की। उनके मतानुसार पवित्र कुरान की कोई भी व्याख्या जो मानवीय तर्क बुद्धि से मेल नहीं खाती वह वस्तुतः गलत व्याख्या है। उन्होंने मुसलमानों से आग्रह किया कि वे गलत-रीति रिवाजों का अनुसरण न करें। उनके अनुसार कोई भी धर्म ग्रहण करने के योग्य होना चाहिए अन्यथा यह समाप्त हो जाता है। उन्होंने धार्मिक रीति-रिवाजों का अन्ध रूप में अनुसरण करने को गलत बताया।

सैय्यद अहमद खान एक उत्साही शिक्षाविद् थे। उन्होंने कस्बों में स्कूल खोले तथा अनेक पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया। 1875 में अलीगढ़ में उन्होंने 'मोहम्मडन एंग्लो ओरिएंटल कालेज' की स्थापना की। उन्होंने स्त्रियों में साक्षरता बढ़ाने एवं उन्हें शिक्षित करने के क्षेत्र में भी अथक परिश्रम किया। वे मुसलमानों में पर्दा प्रथा तथा बहुपत्नी प्रथा के घोर विरोधी थे। उन्होंने तलाक में स्त्रियों की भी सहमति लेने की मांग की तथा

'पीरी' एवं 'मुरीदी' की प्रथा की कड़े शब्दों में निंदा की। वे हिन्दू एवं मुसलमान दोनों धर्मों में एकता के समर्थक थे। उन्होंने कहा हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही एक देश के हैं और एक राष्ट्र हैं। देश की प्रगति और भलाई हमारी एकता और प्रेम पर निर्भर है।

उन्होंने तर्क दिया कि मुसलमानों को सर्वप्रथम शिक्षा प्राप्त कर नौकरियां प्राप्त करना चाहिए, जिससे वे हिन्दुओं की बराबरी कर सकें जो पहले से शिक्षित होकर विभिन्न अवसरों का लाभ उठा रहे हैं। एक सक्रिय राजनीतिज्ञ के रूप में उनका विश्वास था कि मुसलमानों को अंग्रेजों से अपने संबंध सुधारने चाहिए, तभी उनके हितों की पूर्ति हो सकती है। इसीलिये उन्होंने मुसलमानों की ऐसी किसी भी राजनीतिक गतिविधि का विरोध किया, जो अंग्रेजों के विरुद्ध हो। दुर्भाग्यवश मुसलमानों में शिक्षा के प्रसार एवं रोजगार के मुद्दे को लेकर, वे अंग्रेजी शासन के इतने वशीभूत हो गये कि उन्होंने अंग्रेजों की फूट डालो एवं राज करो जैसी नीति का भी समर्थन प्रारंभ कर दिया। बाद के वर्षों में तो उनके साम्प्रदायिक रुख में आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया। कभी हिन्दुओं और मुसलमानों को भारत की दो सुंदर आंखों की संज्ञा देने वाले सर सैय्यद अहमद खान हिन्दुओं के बिल्कुल विरुद्ध हो गये तथा उन्होंने हिन्दुओं की निंदा प्रारंभ कर दी। उन्होंने यहां तक कहा कि हिन्दुओं के अधीन मुसलमानों का उत्थान कभी नहीं हो सकता।

उन्होंने अपने विचारों का प्रचार-*तहजीब-उल-अखलाक* नामक पत्रिका में किया।

अलीगढ़-आंदोलन ने शिक्षित मुसलमानों के बीच उदार एवं आधुनिक पद्धति का विकास किया, जो कि मोहम्डन एंग्लो-ओरिएंटल कालेज अलीगढ़ पर आधारित था। इसके मुख्य उद्देश्यों में– (i) इस्लाम के दायरे में रहकर भारतीय मुसलमानों के बीच आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना; तथा (ii) मुस्लिम समाज के विभिन्न क्षेत्रों जैसे-पर्दा प्रथा, बहुपत्नी प्रथा, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, दास प्रथा, तलाक इत्यादि के क्षेत्र में सुधार लाना था।

इस आंदोलन के समर्थकों की विचारधारा कुरान की उदार व्याख्या पर आधारित थी। इन्होंने मुस्लिम समाज में आधुनिक एवं उदार संस्कृति को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। वे आधुनिक पथ पर चलकर इस्लामिक समाज का आधुनिकीकरण करना चाहते थे। इस प्रकार अलीगढ़ आंदोलन तत्कालीन समय में मुस्लिम सांस्कृतिक एवं धार्मिक गतिविधियों का केंद्र बन गया।

देवबंद स्कूल (दारूल उलूम)

यह भी एक प्रकार का मुस्लिम धार्मिक आंदोलन था जिसे मुस्लिम धर्म के रूढ़िवादी उलेमाओं द्वारा प्रारंभ किया था। इस आंदोलन के दो मुख्य उद्देश्य थे-(i) कुरान एवं हदीस की शिक्षाओं का मुसलमानों के मध्य प्रचार-प्रसार करना एवं (ii) विदेशी आक्रांताओं एवं गैर-मुसलमानों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध 'जेहाद' को प्रारंभ रखना।

देवबंद स्कूल की स्थापना, तत्कालीन संयुक्त प्रांत के सहारनपुर जिले में देवबंद नामक स्थान में 1866 में मोहम्मद कासिम नानोतवी (1832-80) एवं राशिद अहमद गंगोही (1828-1905) ने संयुक्त रूप से की थी। ये दोनों मुस्लिम समुदाय के धार्मिक नेता थे। यह आंदोलन, अलीगढ़ आंदोलन के विरुद्ध था। इसने अलीगढ़ आंदोलन द्वारा मुस्लिम समाज का पाश्चात्यीकरण करने एवं उदार रुख अपनाने के रवैये का कड़ा विरोध किया तथा मुस्लिम समुदाय का नैतिक एवं धार्मिक उत्थान करने की वकालत की। इसने अलीगढ़ आंदोलन के अनुयायियों द्वारा अंग्रेज सरकार का समर्थन करने के कार्य की भी निंदा की।

राजनीतिक मोर्चे पर देवबंद स्कूल ने 1888 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन का स्वागत किया तथा सर सैय्यद अहमद खान के संगठन, संयुक्त राष्ट्रवादी संघ एवं मोहम्मडन एंग्लो ओरिएंटल एसोसिएशन के खिलाफ फतवा जारी किया। यह आंदोलन सर सैय्यद अहमद खान द्वारा मुस्लिम समाज सुधार हेतु किये जा रहे कार्यों का कड़ा विरोधी था तथा इसने सैय्यद अहमद के प्रयासों को मुस्लिम समाज के लिये आत्मघाती बताया।

मुहम्मद-उल-हसन ने अपने नेतृत्व में देवबंद स्कूल के धार्मिक विचारों को नया राजनीतिक एवं बौद्धिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने इस्लामिक सिद्धांतों एवं राष्ट्रवादी प्रेरणा के समन्वय हेतु सराहनीय प्रयास किये। बाद में जमात-उल-उलेमा ने हसन के विचारों को नये स्वरूप में ढाला, जिससे कि राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रवादी उद्देश्यों को क्षति पहुंचाये बिना मुसलमानों के धार्मिक एवं राजनीतिक हितों की रक्षा हो सके।

देवबंद स्कूल के एक अन्य समर्थक शिबली नुमानी का मत था कि शिक्षा की पद्धति में अंग्रेजी एवं यूरोपीय विज्ञान का भी सम्मिलन किया जाये। उन्होंने 1894-96 में लखनऊ में नदवतुल उलेमा एवं दारुल उलूम की स्थापना की। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आर्दशों में विश्वास करते थे तथा हिन्दू एवं मुस्लिम एकता के समर्थक थे। उनका मत था कि दोनों धर्मों में एकता से ही राष्ट्र में दोनों समुदाय के लोग आपसी सद्भाव से रह सकते हैं तथा प्रगति कर सकते हैं।

पारसी सुधार आंदोलन

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त पारसियों के एक समुदाय ने 1851 में 'रहनुमाई माजदायास्नान सभा' गठित की। इसका उद्देश्य पारसी समाज का पुर्नरुद्धार तथा पारसी धर्म की प्राचीन सभ्यता को पुनःस्थापित करना था। इस आंदोलन के नेताओं में नौरोजी फरदोनजी, दादाभाई नौरोजी, के.आर. कामा एवं एस.एस. बंगाली प्रमुख थे। इस सभा के संदेशों को पारसियों तक पहुंचाने के लिये एक पत्रिका *रास्त गोफ्तार* प्रारंभ की गई। पारसी धर्म की मान्यताओं एवं रीति-रिवाजों में इस सभा ने अनेक परिवर्तन एवं सुधार किये। इसने पारसी महिलाओं की स्थिति सुधारने का भी प्रयास किया तथा विभिन्न बुराइयों जैसे—पर्दा प्रथा इत्यादि का विरोध किया। सभा, स्त्रियों के विवाह की आयु

में वृद्धि तथा स्त्रियों में शिक्षा को बढ़ावा देने की पक्षधर थी। कुछ समय पश्चात भारतीय समाज में पारसी एक नये पाश्चात्य सभ्यता से ओत-प्रोत कारक के रूप में सामने आये।

सिख सुधार आंदोलन

19वीं शताब्दी में भारत में चल रहे विभिन्न धर्म एवं समाज सुधार आंदोलनों से सिख समुदाय भी अछूता न रह सका तथा इसमें भी विभिन्न समाज एवं धर्म सुधार आंदोलन प्रारंभ हुए।

1873 में अमृतसर में **सिंह सभा आंदोलन** प्रारंभ हुआ। इसके मुख्य दो उद्देश्य थे- (i) सिखों के लिये आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की उपलब्धता सुनिश्चित करना तथा (ii) सिख धर्म के हितों को नुकसान पहुंचाने वाली ईसाई मिशनरियों एवं हिन्दू रूढ़िवादियों के विरुद्ध संघर्ष करना। अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये सभा ने पूरे पंजाब में खालसा स्कूलों की स्थापना की। लेकिन सिंह सभा के प्रयासों में गतिशीलता तब आयी जब अकाली आंदोलन प्रारंभ हुआ। दूसरे, गुरु की शिक्षाओं के विरुद्ध प्रत्येक बात को नकार दिया गया और सिख सिद्धांतों के साथ संगत समझे जाने वाले स्थलों एवं प्रथाओं को स्थापित किया गया।

अकाली आंदोलन (गुरुदारा सुधार आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है), सिंह सभा आंदोलन की ही एक शाखा थी। अकालियों का मुख्य उद्देश्य गुरुद्वारों का प्रबंध सुधारना था। वे गुरुद्वारों को उन भ्रष्ट उदासी महन्तो से मुक्त कराना चाहते थे, जो सरकारी-संरक्षण की आड़ में विभिन्न प्रकार के भ्रष्ट कार्यों में लिप्त थे। 1921 में अकालियों ने एक नया असहयोग एवं अहिंसक आंदोलन प्रारंभ किया। लेकिन अकालियों को प्रमुख सफलता तब मिली जब 1922 में (1925 में संशोधित) बहुप्रतीक्षित एवं लोकप्रिय 'सिख गुरुद्वारा एक्ट' पास हुआ। इस एक्ट द्वारा गुरुद्वारों का प्रबंध सिखों की शीर्ष संस्था 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी' (एसजीपीसी) को सौंप दिया गया।

अकाली आंदोलन एक क्षेत्रीय आंदोलन था लेकिन यह साम्प्रदायिक नहीं था। कालांतर में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भी समय-समय पर अकाली नेताओं ने ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध आवाज उठायी तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में सराहनीय भूमिका अदा की।

थियोसोफिकल आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत दो पाश्चात्य बुद्धिजीवियों मैडम एच.पी. ब्लावैटस्की (1831-1891) एवं कर्नल एम.एस. अलकाट ने की। ये दोनों भारतीय विचारों एवं भारतीय संस्कृति से गहरे प्रभावित थे। 1875 में अमेरिका में इन्होंने 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना की। किंतु 1882 में इन्होंने सोसायटी का मुख्यालय मद्रास के

निकट अडयार नामक स्थान में परिवर्तित कर दिया। इसके अनुयायी ईश्वरीय ज्ञान को आत्मिक हर्षोन्माद एवं अंतर्दृष्टि द्वारा प्राप्त करने की कोशिश करते थे। उनका मानना था कि ध्यान, योग एवं चिंतन जैसे माध्यमों द्वारा व्यक्ति की आत्मा को परमात्मा से जोड़ा जा सकता है। वे हिन्दू धर्म के पुर्नजन्म एवं कर्म के सिद्धांत पर भी विश्वास करते थे। उन्होंने *उपनिषद, सांख्य, योग* एवं *वेदांत* के विचारों को अति महत्वपूर्ण बताया। सोसायटी का उद्देश्य प्रजाति, नस्ल, लिंग, जाति एवं रंग में भेदभाव किये बिना सभी लोगों के कल्याण के लिये प्रयत्न करना था। इसने प्रकृति एवं मानव शक्ति के अनसुलझे रहस्यों की भी व्याख्या करने का प्रयास किया। सोसायटी ने मुख्यता हिन्दू धर्म की प्राचीन विरासत एवं पहचान को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। इसने बाल विवाह का विरोध किया और जातिगत भेदभाव के उन्मूलन, दलितों के उत्थान, विधवाओं की हालत में सुधार का समर्थन किया।

1907 में कर्नल अलकाट की मृत्यु के पश्चात एनी बेसेंट (1847-1933) इसकी अध्यक्ष चुनी गयीं। एनी बेसेंट की अध्यक्षता में सोसायटी की लोकप्रियता में और ज्यादा वृद्धि हुई। एनी बेसेंट 1893 में भारत आयी। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये एनी बेसेंट ने बनारस में 'सेंट्रल हिन्दू स्कूल' की आधारशिला रखी और उसकी प्रगति के लिये भरसक प्रयत्न किया। इस स्कूल में हिन्दू धर्म एवं पाश्चात्य वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यही स्कूल आगे चलकर कालेज और अंततः 1915 में 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' में परणित हो गया। एनी बेसेंट ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किया।

थियोसोफिकल सोसायटी ने विभिन्न धर्मों को मजबूत करने की वकालत की तथा शिक्षित हिन्दुओं को हिन्दू धर्म की प्राचीन समृद्ध विरासत से अवगत कराया। किंतु अपने अर्थपूर्ण उद्देश्यों एवं सराहनीय प्रयत्नों के पश्चात भी थियोसोफिकल सोसायटी किसी ऐसे कार्यक्रम या आंदोलन को जन्म देने में असफल रही, जिसके हिन्दू धर्म या समाज में दूरगामी प्रभाव हों। यह किसी बड़े परिवर्तन को अंजाम देने में भी असफल रही। सोसायटी के अनुयायी भी पाश्चात्य वर्ग के रूप में समाज का छोटा हिस्सा ही थे। धार्मिक परिवर्तनवादी के रूप में भी थियोसोफिकल समर्थकों को ज्यादा सफलता हाथ नहीं लगी। लेकिन हिन्दू धर्म की समृद्ध विरासत से लोगों को अवगत कराकर तथा प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान की महत्ता प्रतिपादित कर सोसायटी ने लोगों के मन में राष्ट्रवाद की प्रेरणा जागृत की। इस प्रेरणा ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आंदोलन करने की चेतना भारतीयों में जागृत की। दूसरे दृष्टिकोण से यह भी माना जाता है कि थियोसोफिकल सोसायटी ने भारतीयों को उनके परंपरागत रीति-रिवाजों एवं दर्शन में बांधे रखा तथा उनकी समृद्धता का गुणगान करके उनमें गर्व का भाव भर दिया।

सुधार आंदोलनों का महत्व

सकारात्मक पहलू

समाज के रूढ़िवादी वर्ग ने विभिन्न समाज सुधारकों के द्वारा वैज्ञानिक विचारधारा को सामाजिक-धार्मिक स्वरूप देने के प्रयासों का अत्यंत कड़ा विरोध किया। इसके कारण अनेक समाज सुधारकों को अपमानित होना पड़ा, उनकी निंदा की गयी, उन पर अभियोग लगाये गये, उनके विरुद्ध फतवे जारी किये गये तथा कुछेक की तो हत्या करने की चेष्टा भी की गयी।

किंतु तीव्र विरोधों के बावजूद भी इन सुधार आंदोलनों ने लोगों में स्वतंत्रता एवं समानता का भाव जागृत किया। इसने लोगों को यह महसूस करने हेतु प्रेरित किया कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है, इसलिये स्वतंत्रता का अधिकार उसे ईश्वर प्रदत्त है तथा कोई भी व्यक्ति, समाज या शासन इस पर रोक नहीं लगा सकता। आंदोलन ने समाज में पुरोहितों के एकाधिकार को कड़ी चुनौती दी। धार्मिक ग्रंथों के विभिन्न भाषाओं में किये गये अनुवाद से लोग विभिन्न धर्मों का अध्ययन कर सके तथा उनमें यह विश्वास जागा कि धार्मिक रीति-रिवाजों के पालन एवं धार्मिक अनुवाद का कार्य प्रत्येक मनुष्य स्वयं कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह ईश्वर की उपासना या चिंतन कर सकता है तथा इस कार्य के लिये उसे किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं है। इसने लोगों में किसी भी नियम को तर्क-वितर्क के आधार पर परखने की समझ विकसित की। सुधार आंदोलनों ने विभिन्न धर्म के लोगों को उनकी समृद्ध धार्मिक विरासत से अवगत कराया जिससे उनमें यह हीन भावना दूर हो सके कि उनका धर्म पिछड़ा हुआ या अविकसित है। इसने मध्य वर्ग में नई समझ एवं चेतना जागृत की तथा उसके उदय में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आंदोलनों के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो गया कि शोषण एवं भेदभाव का शासन लंबे समय तक अस्तित्व में नहीं रह सकता तथा इसके विरुद्ध तीव्र जनाक्रोश होता है।

इसने तत्कालीन परिस्थितियों में पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान की महत्ता को रेखांकित किया, जिसके फलस्वरूप विभिन्न शिक्षा संस्थानों में इन विषयों का पठन-पाठन प्रारंभ हुआ। पाश्चात्य जगत के ज्ञान से भारतीयों ने तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप पाया कि उनका धर्म एवं संस्कृति अपने आप में महान विरासत संजोये हुए हैं तथा वे पश्चिम से किसी भी प्रकार कम नहीं है। आंदोलन ने सामाजिक भेदभाव एवं शोषण पर कड़े प्रहार किये तथा इसके विरुद्ध संघर्ष करने की चेतना लोगों में जागृत की। पुरातन एवं अव्यवहारिक रीति- रिवाजों एवं परम्पराओं को छोड़ने की अपील आंदोलनकारियों ने लोगों से की तथा बताया कि वे परम्परायें एवं मूल्य ही वास्तविक हैं जो समय के साथ प्रासंगिक बने रहें। इसने लोगों को चेताया कि वे पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का

अंधानुकरण न करें। इसने भारत के बौद्धिक एवं धार्मिक पृथककरण को समाप्त किया तथा तत्कालीन विश्व के साथ इसका सम्पर्क स्थापित किया। समाज सुधारकों ने लोगों से अपेक्षा की कि वे पाश्चात्य ज्ञान एवं परम्पराओं का अनुपालन अपनी धर्म एवं संस्कृति के अनुरूप करेंगे।

इसने लोगों की शक्ति एवं आंदोलन करने की प्रवृत्ति को एक नया स्वरूप दिया जो कि उपनिवेशी शासन के तले बिल्कुल असहाय होकर रह गयी थी। कालांतर में इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप भारतीयों में यह समझ विकसित हुई कि वे स्वतंत्र है तथा विदेशी शासन के बोझ तले उन्हें नहीं रहना चाहिए। समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा सुधारने तथा स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने में भी सराहनीय कार्य किया। समाज सुधारकों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों यथा-सती प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी प्रथा तथा पर्दा प्रथा इत्यादि पर कड़े प्रहार किये तथा काफी हद तक इनके उन्मूलन में सफलता हासिल की। इन्हीं का प्रयत्न था कि विधवा पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता मिली तथा विधवाओं की दशा में सुधार हुआ। दलितों एवं पिछड़ों की दशा सुधारने तथा उन्हें समाज में एक सम्मानजनक स्थान दिलाने में समाज सुधारकों ने अथक प्रयास किये।

इस प्रकार, सुधार आंदोलनों का चरण भारतीय इतिहास में एक ऐसा चरण था जिसने न केवल भारतीय समाज एवं धर्म को नयी दिशा दी अपितु भारतीय इतिहास में एक नये अध्याय का समावेश भी किया। इन आंदोलनों का ही प्रतिफल था कि उपनिवेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने में पूरा भारतीय समाज उठ खड़ा हुआ तथा उसे जड़ से उखाड़ फेंका।

नकारात्मक पहलू

19वीं सदी के सुधार आंदोलन मुख्यतयाः शहरी मध्यम एवं उच्च वर्ग तक ही सीमित रहे तथा कोई भी आंदोलन देश के गांव और किसानों तथा शहरों के गरीब लोगों तक नहीं पहुंच सका। इसके अतिरिक्त आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने पीछे देखने या अतीत की महानता और अपने-अपने धर्मग्रंथों से प्रमाण देने की प्रवृत्ति का सहारा लिया। उनकी इन प्रवृत्ति ने लोगों में साम्प्रदायिकता के आधार पर विभाजित होने की गलत परम्परा को अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दिया। अनेक इतिहासकारों का मत है कि देश में अन्य अनेक कारणों के साथ-साथ इन आंदोलनों ने भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया।

सुधार-आंदोलनों में संस्कृति के कुछ चुनिंदा पहलुओं को ज्यादा महत्व दिये जाने से संस्कृति के अन्य क्षेत्र जैसे—स्थापत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि उपेक्षित हुए। हिन्दू समाज सुधारक अपनी विचारधारा में प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति में ही

सकुंचित होकर रह गये तथा उन्होंने मध्यकालीन इतिहास को बिल्कुल भुला दिया, जबकि भारतीय इतिहास में मध्यकाल का अपना एक विशेष स्थान है तथा इसकी अनेक गौरवशाली उपलब्धियां रही हैं। प्राचीन संस्कृति का अतिशय गुणगान करने से वे जातियां इसके विरुद्ध हो गयीं जिनके पूर्वज प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार के शोषण एवं उत्पीड़न के शिकार रहे थे।

प्राचीन काल में पुरोहितों का सामाजिक एकाधिकार एवं वर्चस्व था। इसके कारण भी कई जातियां विशेष रूप से निम्न जातियां इन आंदोलनों में सक्रिय नहीं हुईं। कई मुस्लिम मध्यवर्गियों ने मुस्लिम समाज का पाश्चात्यीकरण किये जाने के प्रयास को उच्च वर्ग के हितों का पक्षपोषण माना तथा इसे मध्य एशिया की मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति को नीचा दिखाने का प्रयास समझा। धार्मिक सुधारकों द्वारा केवल अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने के प्रयास से साम्प्रदायिक सौहार्द को धक्का लगा तथा लोगों में आपसी भाईचारा कम हुआ। कालांतर में इसी मनोधारणा से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारतीय समाज को विभाजित करने के कुत्सित प्रयत्न प्रारंभ कर दिये जिसकी दुखद परिणती देश के विभाजन के रूप में सामने आयी।

प्रमुख विचार

ईश्वर की सच्ची उपासना वही है, जिससे न केवल उस व्यक्ति विशेष का अपितु समस्त मानव जाति का कल्याण हो सके। **केशवचंद्र सेन**

हमारी मातृभूमि के लिये दो महान धर्मों की प्रणालियों हिन्दू तथा इस्लाम का संगम ही एकमात्र आशा है।

स्वामी विवेकानंद

जब तक करोड़ों लोग भूख और अज्ञान से पीड़ित हैं, तब तक मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही समझूंगा जो उनके खर्च से शिक्षित बनकर उनके प्रति तनिक भी ध्यान नहीं देता। **स्वामी विवेकानंद**

मत भूलो कि दलित, गरीब, अशिक्षित, चमार, भंगी एवं पिछड़े भी उसी हाड़-मांस के बने हुए हैं, जिससे कि सभ्य समाज के उच्च वर्ग के लोग।

स्वामी विवेकानंद

हम दोनों (हिन्दू और मुसलमान) भारत की हवा पर पलते हैं। हम गंगा और यमुना का पवित्र जल पीते हैं। हम दोनों इसी भूमि की पैदावार खाकर पलते हैं।.....हम दोनों एक ही देश के हैं और एक ही राष्ट्र के हैं। देश की प्रगति और भलाई हमारी एकता और प्रेम पर निर्भर है।

सर सैय्यद अहमद खां

सारांश

- **हिन्दुओं के सुधार आंदोलन**

बंगाल

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज
देवेंद्रनाथ टैगोर और तत्वबोधिनी सभा
केशवचंद्र सेन और भारत का ब्रह्म समाज
प्रार्थना समाज
डेरोजियो एवं यंग बंगाल आंदोलन
ईश्वरचंद्र विद्यासागर

पश्चिम भारत

बाल शास्त्री जाम्बेकर
विद्यार्थियों की शैक्षिक एवं वैज्ञानिक सीमितियां
परमहंस मंडली
ज्योतिबा फुले और सत्यशोधक समाज
गोपाल हरिदेशमुख 'लोकहितवादी'
गोपाल गणेश अगरकर
सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी

दक्षिण भारत

श्री नारायण धर्म परिपालन आंदोलन
वोक्कालिग संघ
न्याय आंदोलन
आत्म-सम्मान आंदोलन
मंदिर प्रवेश आंदोलन

सम्पूर्ण भारत

रामकृष्ण मिशन और विवेकानंद
दयानंद सरस्वती और आर्य समाज
थियोसोफिकल आंदोलन

- **मुसलमानों के सुधार आंदोलन**

वहाबी/बलीउल्लाह आंदोलन
अहमदिया आंदोलन
सैय्यद अहमद खान एवं अलीगढ़ आंदोलन
देवबंद आंदोलन

- **पारसियों के सुधार आंदोलन**

रहनुमाई माजदायास्नान सभा

- **सिखों के सुधार आंदोलन**
  सिंह सभा आंदोलन
  अकाली आंदोलन
- **सुधार आंदोलनों के सकारात्मक प्रभाव**
  व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं समानता की अवधारणा का विकास।
  पूजा का अधिकार हर व्यक्ति को है, चाहे वह किसी भी जाति का हो।
  मध्य वर्ग में सांस्कृतिक महत्व की स्थापना।
  मानववाद एवं तर्कवाद की अवधारणा का विकास।
  शिक्षा विशेषतः पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार।
  भारतीय समाज में आधुनिकता का विकास।
  भारत के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक पृथक्करण की समाप्ति।
  विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का अंत।
  राष्ट्रीय चेतना का विकास।
- **सुधार आंदोलनों के नकारात्मक प्रभाव**
  संकुचित सामाजिक आधार।
  संस्कृति के चुनिंदा पहलुओं को ज्यादा महत्व, जिससे संस्कृति के अन्य क्षेत्र उपेक्षित।
  प्राचीन भारतीय संस्कृति को अत्यधिक महत्व, मध्यकालीन ऐतिहासिक संस्कृति की उपेक्षा।
  व्यक्तिगत धर्म की श्रेष्ठता एवं महत्ता को स्थापित करने का प्रयास।
  प्राचीन संस्कृति की व्याख्या में समाज की कुछ जातियों की उपेक्षा।
  साम्प्रदायिकता के उद्भव एवं विकास में अप्रत्यक्ष योगदान।

इकाई

स्वतंत्रता संघर्ष का आरंभ

- भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रारंभ
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसः स्थापना एवं उदारवादी चरण

अध्याय 10

भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रारंभ

आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास के कारक

सामान्यतया भारत में राष्ट्रवाद का उदय और विकास उन कारकों का परिणाम माना जाता है, जो भारत में उपनिवेशी शासन के कारण उत्पन्न हुए जैसे—नयी-नयी संस्थाओं की स्थापना, रोजगार के नये अवसरों का सृजन, संसाधनों का अधिकाधिक दोहन इत्यादि। दूसरे शब्दों में भारत में राष्ट्रवाद का उदय कुछ उपनिवेशी नीतियों द्वारा एवं कुछ उपनिवेशी नीतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। किंतु विभिन्न परिस्थितियों के अध्ययनोपरांत यह ज्यादा तर्कसंगत होता है कि भारत में राष्ट्रवाद का उदय किसी एक कारण या परिस्थिति से उत्पन्न न होकर विभिन्न कारकों का सम्मिलित प्रतिफल थाः

(i) फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप विश्व स्तर पर राष्ट्रवादी चेतना एवं आत्म-विश्वास की भावना का प्रसार।

(ii) भारतीय पुनर्जागरण।

(iii) अंग्रेजों द्वारा भारत में आधुनिकता को बढ़ावा।

(iv) ब्रिटिश नीतियों के विरुद्ध भारतीय आक्रोश इत्यादि।

भारतीय एवं उपनिवेशी हितों में विरोधाभास

भारतवासियों ने देश के आर्थिक पिछड़ेपन को उपनिवेशी शासन का परिणाम माना। उनका विचार था कि देश के विभिन्न वर्ग के लोगों यथा-कृषक, शिल्पकार, दस्तकार, मजदूर, बुद्धिजीवी, शिक्षित वर्ग एवं व्यापारियों इत्यादि सभी के हित विदेशी शासन की भेंट चढ़ गये हैं। देशवासियों की इस सोच ने आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया। उनका मानना था कि देश में जब तक विदेशी शासन रहेगा लोगों के आर्थिक हितों पर कुठाराघात होता रहेगा।

देश का राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक एकीकरण

भारत में ब्रिटिश शासन का विस्तार उत्तर में हिमालय से दक्षिण में कन्याकुमारी तक तथा पूर्व में असम से पश्चिम में खैबर दर्रे तक था। जबकि भारत का अधिकतर क्षेत्र अतीत में एकल शासन के अधीन—मौर्यों के अधीन और उसके बाद मुगलों के अधीन—था, अंग्रेजों ने देश में मौर्यों एवं मुगलों से भी बड़े साम्राज्य की स्थापना की। कुछ भारतीय राज्य सीधे ब्रिटिश शासन के नियंत्रण में थे तो अन्य देशी रियासतें अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी शासन के अधीन थीं। ब्रिटिश तलवार ने पूरे भारत को एक झंडे के तले एकत्र कर दिया। एक दक्ष कार्यपालिका, संगठित न्यायपालिका तथा संहिताबद्ध फौजदारी तथा दीवानी कानून, जिन पर दृढ़ता से अमल होता था भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक लागू होते थे। इसने भारत की परम्परागत सांस्कृतिक एकता को एक नये प्रकार की राजनैतिक एकता प्रदान की। प्रशासनिक सुविधाओं, सैन्य रक्षा उद्देश्यों, आर्थिक व्यापन तथा व्यापारिक शोषण की बातों को ध्यान में रखते हुए परिवहन के तीव्र साधनों का विकास किया गया। पक्के मार्गों का निर्माण हुआ जिससे एक स्थान दूसरे स्थान से जुड़ गया। परंतु देश को एक सूत्र में बांधने का सबसे बड़ा साधन रेल था। 1850 के पश्चात रेल लाइनें बिछाने का कार्य प्रारंभ हुआ। रेलवे से अन्य कई लाभों के अतिरिक्त इसने देश को अप्रत्यक्ष रूप से एकीकृत करने का भी कार्य किया।

1850 के उपरांत प्रारंभ हुई आधुनिक डाक व्यवस्था ने तथा बिजली के तारों ने देश को समेकित करने में सहायता की। इसी प्रकार आधुनिक संचार साधनों ने भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों को एक-दूसरे से संबंध बनाये रखने में सहायता दी। इससे राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला।

राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से एकीकरण के इन प्रयासों को दो प्रकार से देखा जा सकता है—

(i) एकीकरण से विभिन्न भाग के लोगों के आर्थिक हित आपस में जुड़ गये। जैसे किसी एक भाग में अकाल पड़ने पर इसका प्रभाव दूसरे भाग में खाद्यानों के मूल्यों एवं आपूर्ति पर भी होता था।

(ii) यातायात एवं संचार के साधनों के विकास से देश के विभिन्न वर्गों के लोग मुख्यतयाः नेताओं का आपस में राजनीतिक सम्पर्क स्थापित हो गया। इससे राजनीतिक विचारों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया को गति मिली तथा उनके मध्य विभिन्न सार्वजनिक एवं आर्थिक विषयों पर वाद-विवाद सरल हो गया।

पाश्चात्य चिंतन तथा शिक्षा

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रचलन से आधुनिक पाश्चात्य विचारों को अपनाने में मदद मिली, जिससे भारतीय राजनीतिक चिंतन को एक नई दिशा प्राप्त हुई। जब ट्रैवेलियन, मैकाले तथा बैंटिक ने देश में अंग्रेजी शिक्षा का श्रीगणेश किया तो यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णय था। पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार यद्यपि प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिये किया गया था परंतु इससे नवशिक्षित वर्ग के लिये पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा के द्वार खुल गये। बेन्थम, शीले, मिल्टन, स्पेंसर, स्टुअर्ट मिल, पेन, रूसो तथा वाल्टेयर जैसे प्रसिद्ध यूरोपीय लेखकों के अतिवादी और पाश्चात्य विचारों ने भारतीय बुद्धिजीवियों में स्वतंत्र राष्ट्रीयता तथा स्वशासन की भावनायें जगा दीं और उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य का विरोधाभास खलने लगा।

इसके साथ ही अंग्रेजी भाषा ने सम्पूर्ण राष्ट्र के विभिन्न प्रांतों एवं स्थानों के लोगों के लिये सम्पर्क भाषा का कार्य किया। इसने सभी भाषा-भाषियों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया, जिससे राष्ट्रवादी आंदोलन को अखिल भारतीय स्वरूप मिल सका। अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर नवशिक्षित भारतीयों जैसे-वकीलों, डाक्टरों इत्यादि ने उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड की यात्रा की। इन्होंने यहां एक स्वतंत्र देश में विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं के विकास की प्रक्रिया देखी तथा वस्तुस्थिति का भारत से तुलनात्मक आकलन किया, जहां नागरिकों को विभिन्न प्रकार के स्वतंत्र अधिकारों से वंचित रखा गया था। इस नवपाश्चात्य भारतीय शिक्षित वर्ग ने भारत में नये बौद्धिक मध्यवर्ग का विकास किया, कालांतर में जिसने राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारत की विभिन्न राजनीतिक एवं अन्य संस्थाओं को इसी मध्य वर्ग से नेतृत्व मिला।

प्रेस एवं साहित्य की भूमिका

समय-समय पर उपनिवेशी शासकों द्वारा भारतीय प्रेस पर विभिन्न प्रतिबंधों के बावजूद 19वीं शताब्दी के पूवार्द्ध में भारतीय समाचार पत्रों एवं साहित्य की आश्चर्यजनक प्रगति हुई। 1877 में प्रकाशित होने वाले विभिन्न भाषायी एवं हिन्दी समाचार पत्रों की संख्या लगभग 169 थी तथा इनकी प्रसार संख्या लगभग 1 लाख तक पहुंच गयी थी।

भारतीय प्रेस, जहां एक ओर उपनिवेशी नीतियों की आलोचना करता था वहीं दूसरी ओर देशवासियों से आपसी एकता स्थापित करने का आह्वान करता था। प्रेस

ने आधुनिक विचारों एवं व्यवस्था यथा-स्वशासन, लोकतंत्र, दीवानी अधिकार एवं औद्योगीकरण इत्यादि के प्रसार-प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। समाचार पत्रों, जर्नल्स, पैम्फलेट्स तथा राष्ट्रवादी साहित्य ने देश के विभिन्न भागों में स्थिति राष्ट्रवादी नेताओं के मध्य विचारों के आदान-प्रदान में भी सहायता पहुंचायी। इस प्रकार भारतीय समाचार-पत्र भारतीय राष्ट्रवाद के दर्पण बन गये तथा जनता को शिक्षित करने का माध्यम।

19वीं एवं 20वीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के साहित्य की रचना हुई, उससे भी राष्ट्रीय जागरण में सहायता मिली। विभिन्न कविताओं, निबंधों, कथाओं, उपन्यासों एवं गीतों ने लोगों में देशभक्ति तथा राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत की। हिन्दी में भारतेंदु हरिश्चंद्र, बांग्ला में रवींद्रनाथ टैगोर, राजा राममोहन राय, बंकिमचंद्र चटर्जी, मराठी में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, असमिया में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ इत्यादि उस काल के प्रख्यात राष्ट्रवादी साहित्यकार थे। इन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा भारतीयों में स्वतंत्रता, समानता, एकता, भाईचारा तथा राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा दिया। साहित्यकारों के इन प्रयासों से आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास को प्रोत्साहन मिला।

भारत के अतीत का पुनः अध्ययन

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतवासियों को अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान अत्यंत कम था। वे केवल मध्यकालीन या 18वीं सदी के इतिहास से ही थोड़ा-बहुत परिचित थे। किंतु तत्कालीन प्रसिद्ध यूरोपीय इतिहासकारों जैसे-मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, रोथ एवं सैसून तथा विभिन्न राष्ट्रवादी इतिहासकारों जैसे-आर.जी. भंडारकर, आर. एल. मित्रा एवं स्वामी विवेकानंद इत्यादि ने भारत की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत को पुर्नव्याख्यित कर राष्ट्र की एक नयी तस्वीर पेश की। इन्होंने अथक परिश्रम कर कला, साहित्य, वास्तुकला, संगीत, दर्शन, विज्ञान तथा गणित इत्यादि के क्षेत्रों में भारतीय उपलब्धियों एवं मानव सभ्यता के विकास में भारत के योगदान को पुनः प्रकाशित किया, जिससे लोगों में राष्ट्रप्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई। यूरोपीय चिंतकों ने व्याख्या दी कि भारतीय तथा यूरोपीय एक ही प्रकार के आर्यों की संतान है। इसका भारतवासियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा तथा उनमें प्रजातीय हीनता की भावना जाती रही। इससे देशवासियों की यह भ्रांति भी दूर हो गयी कि वे सदैव ही गुलामी की दासता के अधीन जीते रहे हैं।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का विकासात्मक स्वरूप

19वीं शताब्दी में भारत में विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन प्रारंभ हुए। इन आंदोलनों ने सामाजिक, धार्मिक नवजागरण का कार्यक्रम अपनाया और सारे देश को प्रभावित किया। आंदोलनकारियों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य,सामाजिक एकता और राष्ट्रवाद के सिद्धांतों पर जोर दिया और उनके लिये संघर्ष किया। इन आंदोलनों ने

विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को दूर कर सामाजिक एकता कायम की। समाज सुधार के प्रस्तावों को सरकारी अनुमति में विलंब ने समाज सुधारकों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि जब तक स्वशासन नहीं होगा सुधार संबंधी विधेयकों को पूर्णतयाः सरकारी सहमति एवं सहयोग नहीं मिल सकता। सुधार-आंदोलनों ने देशवासियों में साहस जुटाया कि वे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष करें।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का उत्थान

अंग्रेजों की प्रशासनिक तथा आर्थिक प्रक्रिया से नगरों में एक मध्यवर्गीय नागरिकों की श्रेणी उत्पन्न हुई। इस नवीन श्रेणी ने तत्परता से अंग्रेजी भाषा सीख ली, जिससे उसे रोजगार तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों ही प्राप्त होने लगे। यह नवीन श्रेणी अपनी शिक्षा, समाज में उच्च स्थान तथा प्रशासक वर्ग के समीप होने के कारण आगे आ गई। यह मध्यवर्ग भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा इसने समस्त देश में नयी शक्ति का संचार किया। इसी वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन को उसके सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया।

समकालीन घटनाओं का विश्वव्यापी प्रभाव

दक्षिण अमेरिका में स्पेनी एवं पुर्तगाली उपनिवेशी शासन की समाप्ति से अनेक नये राष्ट्रों का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त यूनान एवं इटली के स्वतंत्रता आंदोलनों एवं आयरलैंण्ड की घटनाओं ने भारतीयों को अत्यंत प्रभावित किया।

विदेशी शासकों का जातीय अहंकार तथा प्रतिक्रियावादी नीतियां

अंग्रेज शासकों के जातीय अहंकार एवं श्रेष्ठता की भावना ने भारतीयों को अत्यंत आहत किया। अंग्रेज अधिकारियों तथा कर्मचारियों ने खुले आम शिक्षित भारतीयों को अपमानित किया तथा कई बार उन पर प्रहार किये। अंग्रेज भारतीयों को अनेक अपमानजनक शब्दों से संबोधित करते थे। एक अंग्रेज का जीवन कई भारतीयों के जीवन से अधिक मूल्यवान समझा जाता था। उच्च एवं महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों को नियुक्ति का अधिकार नहीं था। इन सभी कारणों से त्वचा के गोरेपन एवं प्रजातीय श्रेष्ठता के रंग में डूबे अंग्रेजों के प्रति भारतीयों में घृणा पैदा हो गयी। जातीय अहंकार का सबसे घृणित रूप था—न्याय में असमानता। अंग्रेज तथा भारतीयों के झगड़े में दोषी होने पर भी अंग्रेजों को दोषमुक्त करार दिया जाता था तथा दोषहीन होने पर भी भारतीयों को कठोर दण्ड से प्रताड़ित किया जाता था।

लार्ड लिटन की विभिन्न प्रतिक्रियावादी नीतियों जैसे—इंडियन सिविल सर्विस में प्रवेश की न्यूनतम आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष करना (1876), जब पूरा दक्षिण भारत भयंकर अकाल की चपेट में था तब भव्य दिल्ली दरबार का आयोजन (1877),

वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (1878) तथा शस्त्र अधिनियम (1878) इत्यादि ने देशवासियों के समक्ष सरकार की वास्तविक मंशा उजागर कर दी तथा अंग्रेजों के विरुद्ध जनमत तैयार किया। इसके पश्चात इलबर्ट बिल विवाद (1883) सामने आया। लार्ड रिपन के समय इलबर्ट बिल को लेकर भारत में एक विशिष्ट समस्या खड़ी हो गयी। लार्ड रिपन ने इस प्रस्ताव द्वारा भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अधिकारियों के मुकद्दमे का निर्णय करने का अधिकार देना चाहा। इस बात पर सम्पूर्ण भारत और इंग्लैण्ड में अंग्रेजों ने संगठित होकर ऐसा तीव्र आंदोलन किया कि इस प्रस्ताव का संशोधित रूप ही कानून बन सका। इसमें काले और गोरे को लेकर, जो विवाद खड़ा हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज रंग के आधार पर भारतीयों से कितनी घृणा करते थे। इससे भारतीयों में अंग्रेजों के विरुद्ध नफरत पैदा हो गयी तथा उनमें संगठित होकर आंदोलन करने की प्रेरणा जागी।

कांग्रेस के गठन से पूर्व की राजनीतिक संस्थाएं

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत में प्रथम राजनीतिक संगठन नहीं था। हालांकि, 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में अधिकतर जिन राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना हुई, उनका नेतृत्व मुख्य रूप से समृद्ध एवं प्रभावशाली वर्ग द्वारा किया गया। इन संस्थाओं का स्वरूप स्थानीय या क्षेत्रीय था। इन्होंने विभिन्न याचिकाओं एवं प्रार्थना-पत्रों के माध्यम से ब्रिटिश संसद के समक्ष निम्न मांगें रखीं–

- प्रशासनिक सुधार
- प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी को बढ़ावा तथा
- शिक्षा का प्रसार

किंतु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश में जिन राजनीतिक संस्थाओं का गठन हुआ उसका नेतृत्व मुख्यतयाः मध्य वर्ग के द्वारा किया गया। इस वर्ग के विभिन्न लोगों जैसे–वकीलों, डाक्टरों, पत्रकारों तथा शिक्षकों इत्यादि ने इन राजनीतिक संगठनों को सशक्त नेतृत्व प्रदान किया इन सभी ने सक्षम नेतृत्व प्रदान कर इन संस्थाओं की मांगों को परिपूर्णता एवं प्रासंगिकता प्रदान की।

बंगाल में राजनीतिक संस्थाएं

बंगाल में राजनीतिक आंदोलनों के सबसे पहले प्रवर्तक थे राजा राममोहन राय। वे पाश्चात्य विचारों से प्रभावित व्यक्ति थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम अंग्रेजों का ध्यान भारतीय समस्याओं की ओर आकृष्ट किया। ऐसा माना जाता है कि 1836 के चार्टर एक्ट की अनेक उदारवादी धारायें उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम थीं। लेकिन बंगाल में सर्वप्रथम राजनीतिक संगठन बनाने का श्रेय उनके सहयोगियों को मिला, जब उन्होंने 1836 में ***बंगभाषा प्रकाशक सभा*** का गठन किया।

जुलाई 1838 में जमींदारों के हितों की सुरक्षा के लिये ***जमींदारी एसोसिएशन*** जिसे ***लैंडहोल्डर्स सोसायटी*** के नाम से भी जाना जाता था, का गठन किया गया। जमींदारी एसोसिएशन भारत की पहली राजनीतिक सभा थी, जिसने संगठित राजनीतिक प्रयासों का शुभारम्भ किया। इसने ही सर्वप्रथम अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संवैधानिक प्रदर्शन का मार्ग अपनाया।

1843 में एक अन्य राजनीतिक सभा ***बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी*** बनायी गयी, जिसका उद्देश्य लोगों में राष्ट्रवाद की भावना जगाना तथा राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना था। सोसायटी, ब्रिटिश शासन के प्रभाव से समाज के सभी वर्ग के लोगों की कठिनाइयों एवं दुखों पर विचार कर उनके समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न करती थी।

1851 में जमींदारी एसोसिएशन तथा बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी का आपस में विलय हो गया तथा एक नयी संस्था ***ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन*** का गठन हुआ। इसने ब्रिटेन की संसद को एक प्रार्थना पत्र भेजकर अपील की कि उसके कुछ सुझावों को कम्पनी के नये चार्टर में सम्मिलित किया जाये। जैसे–

(i) लोकप्रिय उद्देश्यों वाली पृथक विधायिका की स्थापना

(ii) उच्च वर्ग के नौकरशाहों के वेतन में कमी

(iii) नमक कर, आबकारी कर एवं डाक शुल्क में समाप्ति

एसोसिएशन के इन सुझावों को आंशिक सफलता मिली, जब 1853 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल की विधायी परिषद में कानून निर्माण में सहायता देने के लिये 6 नये सदस्यों को मनोनीत करने का प्रावधान किया गया।

1866 में दादा भाई नौरोजी ने लंदन में ***ईस्ट इंडिया एसोसिएशन*** का गठन किया। इसका उद्देश्य भारत के लोगों की समस्याओं और मांगों से ब्रिटेन को अवगत कराना तथा भारतवासियों के पक्ष में इंग्लैण्ड में जनसमर्थन तैयार करना था। कालांतर में भारत के विभिन्न भागों में इसकी शाखायें खुल गयीं।

1875 में शिशिर कुमार घोष ने ***इण्डियन लीग*** की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोगों में राष्ट्रवाद की भावना जागृत करना तथा राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहन देना था।

इण्डियन लीग का स्थान ***इंडियन एसोसिएशन आफ कलकत्ता*** (जिसे इंडियन नेशनल एसोसिएशन के नाम से भी जाना जाता है) ने ले लिया। इसकी स्थापना 1876 में हुई। सुरेंद्रनाथ बनर्जी एवं आनंद मोहन बोस इसके प्रमुख नेता थे। ये दोनों 'ब्रिटिश इंडियन' एसोसिएशन की संकीर्ण एवं जमींदार समर्थक नीतियों के विरुद्ध थे। इंडियन एसोसिएशन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्थाओं में से एक महत्वपूर्ण संस्था थी। इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे–

(i) तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में सशक्त जनमत तैयार करना तथा

(ii) एक साझा राजनीतिक कार्यक्रम हेतु भारतवासियों में एकता की स्थापना करना।

इसने 1877 में भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के अभ्यर्थियों की आयु सीमा घटाने का विरोध किया। एसोसिएशन ने इंग्लैंड एवं भारत में एक साथ परीक्षा कराने और उच्च प्रशासनिक पदों का भारतीयकरण करने की मांग की। इसने दमनकारी आर्म्स एक्ट और वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट के विरुद्ध प्रचार अभियान चलाया।

एसोसिएशन की शाखाएं बंगाल के अनेक स्थानों तथा बंगाल से बाहर भी कई स्थानों पर खोली गयीं। एसोसिएशन ने निम्न आय वर्ग के लोगों को आकृष्ट करने के लिए सदस्यता शुल्क काफी कम रखा।

एसोसिएशन ने 28-30 दिसम्बर, 1833 में कलकत्ता में पहला अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया। इसमें देश के विभिन्न भागों से 100 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस प्रकार, एसोसिएशन अखिल भारतीय तर्कवादी संगठन के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अग्रदूत थी। बाद में इसका विलय 1886 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में हो गया।

बंबई में राजनीतिक संस्थाएं

बंबई में सर्वप्रथम राजनीतिक संस्था *बाम्बे एसोसिएशन* थी, जिसका गठन 26 अगस्त 1852 को कलकत्ता ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन के नमूने पर किया गया। इसका उद्देश्य भेदभावपूर्ण सरकारी नियमों के विरुद्ध सरकार को सुझाव देना तथा विभिन्न बुराइयों को दूर करने हेतु सरकार को ज्ञापन देना था।

1867 में महादेव गोविंद रानाडे ने ***'पूना सार्वजनिक सभा*** बनायी। जिसका उद्देश्य सरकार और जनता के मध्य सेतु का कार्य करना था।

1885 में ***बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन*** बनायी गयी। जिसका श्रेय सैय्यद बदरुद्दीन तैय्यबाजी, फिरोजशाह मेहता एवं के.टी. तैलंग को है।

मद्रास में राजनीतिक संस्थाएं

कलकत्ता की ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन की शाखा के रूप में ***मद्रास नेटिव एसोसिएशन*** का गठन किया गया किंतु यह ज्यादा प्रभावी न हो सकी।

मई 1884 में एम. वीराराघवाचारी, बी. सुब्रह्मण्यम अैय्यर एवं पी.आनंद चार्लू ने ***मद्रास महाजन सभा*** का गठन किया। इस सभा का उद्देश्य स्थानीय संगठन के कार्यों को समन्वित करना था।

कांग्रेस से पूर्ववर्ती अभियान

भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर अखिल भारतीय कांग्रेस के अभ्युक्ष्य से पूर्व इन राजनीतिक संस्थाओं ने अनेक आंदोलन या अभियान किये। जो इस प्रकार हैं—

(i) 1875 में कपास पर आयात शुल्क आरोपित करने के विरोध में।
(ii) सरकारी सेवाओं के भारतीयकरण हेतु (1878-79)।
(iii) लार्ड लिटन की अफगान नीति के विरोध में।
(iv) शस्त्र अधिनियम (1878) के विरोध में।
(v) वर्नाकुलर प्रेस एक्ट (1878) के विरोध में।
(vi) स्वयंसेवक सेना में प्रवेश के अधिकार के समर्थन में।
(vii) 'प्लांटेशन लेबर' एवं 'इंन्लैंड इमिग्रेशन एक्ट' के विरोध में।
(viii) इलबर्ट बिल के समर्थन में।
(ix) राजनीतिक प्रदर्शनों हेतु अखिल भारतीय कोष की स्थापना के समर्थन में।
(x) ब्रिटेन में भारत का समर्थन करने वाले दल के लिये मतों हेतु। तथा
(xi) भारतीय सिविल सेवा में प्रवेश की न्यूनतम आयु कम करने के समर्थन में इण्डियन एसोसिएशन ने इस संबंध में अखिल भारतीय प्रदर्शन किया। इसे ही 'भारतीय सिविल सेवा प्रदर्शन' के नाम से भी जाना जाता है।

प्रमुख विचार

ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की प्रशासनिक एकता ने सामान्य अधीनता की भावना को जन्म दिया। **जवाहरलाल नेहरू**

न्यायालयों में हमारे एक भी देशवासी (अंग्रेज) के साक्ष्य का वजन अनेक हिंदुओं के साक्ष्यों से ज्यादा होता है। यह ऐसी परिस्थिति है, जो बेईमान एवं लालची अंग्रेजों के हाथों में सत्ता का भयंकर उपकरण रख देती है।

जी.ओ.टेवेलियन (1864 में)

सारांश

- **आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय के कारक**
  भारत एवं उपनिवेशी शासन के हितों में विरोधाभास
  भारत का प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक एकीकरण
  पाश्चात्य चिंतन तथा शिक्षा का प्रभाव
  प्रेस एवं समाचार-पत्र की भूमिका
  भारत के अतीत का पुनःअध्ययन
  सुधार आंदोलन का विकासात्मक स्वरूप
  मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का अभ्युदय
  तत्कालीन विश्वव्यापी घटनाओं का प्रभाव
  अंग्रेज शासकों की प्रक्रियावादी नीतियां एवं जातीय अहंकार

- **कांग्रेस के गठन से पूर्व की राजनीतिक संस्थायें**

1836	–	बंगभाषा प्रकाशक सभा
1838	–	जमींदारी एसोसिएशन
1843	–	बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी
1851	–	ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन
1866	–	ईस्ट इंडिया एसोसिएशन
1867	–	पूना सार्वजनिक सभा
1875	–	इण्डियन लीग
1876	–	कलकत्ता भारतीय एसोसिएशन या इंडियन नेशनल एसोसिएशन
1884	–	मद्रास महाजन सभा
1885	–	बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन

अध्याय 11

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसः स्थापना एवं उदारवादी चरण

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

कांग्रेस के गठन से पूर्व देश में एक अखिल भारतीय संस्था के गठन की भूमिका तैयार हो चुकी थी। 19वीं शताब्दी के छठे दशक से ही राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ता एक अखिल भारतीय संगठन के निर्माण में प्रयासरत थे। किंतु इस विचार को मूर्त एवं व्यावहारिक रूप देने का श्रेय एक सेवानिवृत्त अंग्रेज अधिकारी ए.ओ. ह्यूम को प्राप्त हुआ। ह्यूम ने 1883 में ही भारत के प्रमुख नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया। इसी वर्ष अखिल भारतीय कांफ्रेंस का आयोजन किया गया। 1884 में उन्हीं के प्रयत्नों से एक संस्था 'इंडियन नेशनल यूनियन' की स्थापना हुई। इस यूनियन ने पूना में 1885 में राष्ट्र के विभिन्न प्रतिनिधियों का सम्मेलन आयोजित करने का निर्णय लिया और इस कार्य का उत्तरदायित्व भी ए.ओ. ह्यूम को सौंपा। लेकिन पूना में हैजा फैल जाने से उसी वर्ष यह सम्मेलन बंबई में आयोजित किया गया। सम्मेलन में भारत के सभी प्रमुख शहरों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, यहीं सर्वप्रथम 'अखिल भारतीय कांग्रेस' का गठन किया गया। ए.ओ. ह्यूम के अतिरिक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा आनंद मोहन बोस कांग्रेस के प्रमुख वास्तुविद (Architects) माने जाते हैं।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता व्योमेश चंद्र बनर्जी ने की तथा इसमें 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसके पश्चात प्रतिवर्ष भारत के विभिन्न शहरों में इसका वार्षिक अधिवेशन आयोजित किया जाता था। देश के प्रख्यात राष्ट्रवादी नेताओं ने कांग्रेस के प्रारंभिक चरण में इसकी अध्यक्षता की तथा उसे सुयोग्य नेतृत्व प्रदान किया। इनमें प्रमुख हैं—दादा भाई नौरोजी (तीन बार अध्यक्ष), बदरुद्दीन तैय्यबजी, फिरोजशाह मेहता, पी. आनंद चार्लू, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, रोमेश चंद्र दत्त, आनंद मोहन बोस और गोपाल कृष्ण गोखले। कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं में महादेव गोविंद रानाडे, बाल गंगाधर तिलक, शिशिर कुमार घोष, मोतीलाल घोष, मदन मोहन मालवीय,

जी. सुब्रह्मण्यम अैय्यर, सी. विजयराघवाचारी तथा दिनशा ई.वाचा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रथम महिला स्नातक कादम्बिनी गांगुली ने 1890 में प्रथम बार कांग्रेस को संबोधित किया। इस सम्बोधन का कांग्रेस के इतिहास में दूरगामी महत्व था क्योंकि इससे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में महिलाओं की सहभागिता परिलक्षित होती है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अतिरिक्त प्रांतीय सभाओं, संगठनों, समाचार पत्रों एवं साहित्य के माध्यम से भी राष्ट्रवादी गतिविधियां संचालित होती रहीं।

क्या कांग्रेस की स्थापना के पीछे 'सेफ्टी वाल्व' की अवधारणा थी?

कहा जाता है कि ए.ओ. ह्यूम ने राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में जिन मुख्य लक्ष्यों को ध्यान में रखकर सहयोग दिया था उनमें सबसे प्रमुख था-अंग्रेजी शासन के विरुद्ध बढ़ते हुए जन असंतोष के लिये सुरक्षा कपाट (सेफ्टी वाल्व) की व्यवस्था करना। ऐसा कहा जाता है कि सरकारी अधिकारी के रूप में कार्य करते हुए ह्यूम को कुछ ऐसी सूचनायें प्राप्त हुईं थीं कि शीघ्र ही राष्ट्रीय विद्रोह होने की सम्भावना है। यदि कांग्रेस का गठन हो जाये तो वह जनता की दबी हुई भावनाओं एवं उद्गारों को बाहर निकालने का अवसर प्रदान करने वाली संस्था सिद्ध होगी, जो ब्रिटिश सरकार को किसी प्रकार की हानि होने से बचायेगी। इसीलिये ह्यूम ने भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन से अनुरोध किया कि वे कांग्रेस की स्थापना में किसी तरह की रुकावट पैदा न करें। हालांकि भारत के आधुनिक इतिहासकारों में 'सेफ्टी वाल्व' की अवधारणा को लेकर मतैक्य नहीं है। उनके अनुसार कांग्रेस की स्थापना भारतीयों में आयी राजनीतिक चेतना का परिणाम थी। वे किसी ऐसी राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करना चाहते थे, जिसके द्वारा वे भारतीयों की राजनीतिक एवं आर्थिक मांगों को सरकार के सम्मुख रख सकें। यदि उन परिस्थितियों में भारतीय इस तरह की कोई पहल करते तो निश्चय ही सरकार द्वारा इसका विरोध किया जाता या इसमें व्यवधान पैदा किया जाता तथा सरकार इसकी अनुमति नहीं देती। किंतु संयोगवश ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो गयीं, जिनके कारण कांग्रेस की स्थापना हो गयी।

बिपिन चंद्र के अनुसार, ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना के लिए एक तड़ित चालक या उत्प्रेरक का कार्य किया। जिससे राष्ट्रवादियों को एक मंच में एकत्र होने एवं कांग्रेस का गठन करने में सहायता मिली और इसी से 'सेफ्टी वाल्व' की अवधारणा का जन्म हुआ।

कांग्रेस के लक्ष्य एवं उद्देश्य

कांग्रेस की स्थापना के पश्चात भारत का स्वतंत्रता आंदोलन लघु पैमाने एवं मंद गति से ही सही, किन्तु एक संगठित रूप में प्रारंभ हुआ। यद्यपि कांग्रेस का आरंभ बहुत ही

प्रारंभिक उद्देश्यों को लेकर किया गया था, किंतु धीरे-धीरे उसके उद्देश्यों में परिवर्तन होता गया तथा शीघ्र ही वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की अगुवा बन गयी।

प्रारंभिक चरण में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्य थे–

(i) लोकतांत्रिक राष्ट्रवादी आंदोलन चलाना।

(ii) भारतीयों को राजनीतिक लक्ष्यों से परिचित कराना तथा राजनीतिक शिक्षा देना।

(iii) आंदोलन के लिये मुख्यालय की स्थापना।

(iv) देश के विभिन्न भागों के राजनीतिक नेताओं तथा कार्यकर्ताओं के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बंधों की स्थापना को प्रोत्साहित करना।

(v) उपनिवेशवादी विरोधी विचारधारा को प्रोत्साहन एवं समर्थन।

(vi) एक सामान्य आर्थिक एवं राजनीतिक कार्यक्रम हेतु देशवासियों को एकमत करना।

(vii) लोगों को जाति, धर्म एवं प्रांतीयता की भावना से ऊपर उठाकर उनमें एक राष्ट्रव्यापी अनुभव को जागृत करना।

(viii) भारतीय राष्ट्रवादी भावना को प्रोत्साहन एवं उसका प्रसार करना।

नरमदलीय कांग्रेस/कांग्रेस का प्रथम चरण (1885-1905)

महत्वपूर्ण नेता

कांग्रेस के इस चरण (1885-1905) को उदारवादी चरण के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इस चरण में आंदोलन का नेतृत्व मुख्यतयाः उदारवादी नेताओं के हाथों में रहा। इनमें दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दिनशा वाचा, डब्ल्यू.सी. बनर्जी, एस.एन. बनर्जी, रासबिहारी घोष, आर.सी. दत्त, बदरुद्दीन तैयबजी, गोपाल कृष्ण गोखले, पी.आर. नायडू, आनंद चार्लू एवं पंडित मदन मोहन मालवीय इत्यादि प्रमुख थे। इन नेताओं को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रथम चरण के नेताओं के नाम से भी जाना जाता है। ये नेता उदारवादी नीतियों एवं अहिंसक विरोध प्रदर्शन में विश्वास रखते थे। इनकी यह विशेषता इन्हें 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में उभरने वाले नव-राष्ट्रवादियों जिन्हें उग्रवादी कहते थे, से पृथक् करती है।

उदारवादी उपागम

उदारवादी, कानून के दायरे में रहकर अंहिंसक एवं संवैधानिक प्रदर्शनों के पक्षधर थे। यद्यपि उदारवादियों की यह नीति अपेक्षाकृत धीमी थी किंतु इससे क्रमबद्ध राजनीतिक विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। उदारवादियों का मत था कि अंग्रेज भारतीयों को

शिक्षित बनाना चाहते हैं तथा वे भारतीयों की वास्तविक समस्याओं से बेखबर नहीं हैं। अतः यदि सर्वसम्मति से सभी देशवासी प्राथनापत्रों, याचिकाओं एवं सभाओं इत्यादि के माध्यम से सरकार से अनुरोध करें तो सरकार धीरे-धीरे उनकी मांगें स्वीकार कर लेगी।

अपने इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उदारवादियों ने दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया। पहला, भारतीयों में राष्ट्रप्रेम एवं चेतना जागृत कर राजनीतिक मुद्दों पर उन्हें शिक्षित करना एवं उनमें एकता स्थापित करना। दूसरा, ब्रिटिश जनमत एवं ब्रिटिश सरकार को भारतीय पक्ष में करके भारत में सुधारों की प्रक्रिया प्रारंभ करना। इसके लिए राष्ट्रवादियों ने 'प्रार्थना एवं याचिका' की पद्धति अपनाई और यदि वे असफल होते, तो संवैधानिक विरोध का सहारा लेते। अपने दूसरे उद्देश्यों के लिये राष्ट्रवादियों ने 1889 में लंदन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी 'इंडिया' की स्थापना की। दादाभाई नौरोजी ने अपने जीवन का काफी समय इंग्लैंड में बिताया तथा विदेशों में भारतीय पक्ष में जनमत तैयार करने का प्रयास किया। 1890 में नौरोजी ने 2 वर्ष पश्चात (अर्थात् 1892 में) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन लंदन में आयोजित करने का निश्चय किया किंतु 1891 में लंदन में आम चुनाव आयोजित किये जाने के कारण उन्होंने यह निर्णय स्थगित कर दिया।

उदारवादियों का मानना था कि ब्रिटेन से भारत का सम्पर्क होना भारतीयों के हित में है तथा अभी ब्रिटिश शासन को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती देने का यथोचित समय नहीं आया है इसीलिये बेहतर होगा कि उपनिवेशी शासन को भारतीय शासन में परिवर्तित करने का प्रयास किया जाये।

उदारवादी राष्ट्रवादियों का योगदान

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आर्थिक नीतियों की आलोचना

अनेक उदारवादी नेताओं यथा-दादाभाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, दिनशा वाचा एवं कुछ अन्य ने ब्रिटिश शासन की शोषणमूलक आर्थिक नीतियों का अनावरण किया तथा उसके द्वारा भारत में किये जा रहे आर्थिक शोषण के लिये 'निकास सिद्धांत' का प्रतिपादन किया। इन्होंने स्पष्ट किया कि ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों का परिणाम भारत को निर्धन बनाना है। इनके अनुसार, सोची-समझी रणनीति के तहत जिस प्रकार भारतीय कच्चे माल एवं संसाधनों का निर्यात किया जाता है तथा ब्रिटेन में निर्मित माल को भारतीय बाजारों में खपाया जाता है वह भारत की खुली लूट है। इस प्रकार इन उदारवादियों ने अपने प्रयासों से एक ऐसा सशक्त भारतीय जनमत तैयार किया, जिसका मानना था कि भारत की गरीबी एवं आर्थिक पिछड़ेपन का कारण यही उपनिवेशी शासन है। इन्होंने यह भी बताया कि भारत में पदस्थ अंग्रेज अधिकारी एवं

कर्मचारी वेतन एवं अन्य उपहारों के रूप में भारतीय धन का एक काफी बड़ा हिस्सा ब्रिटेन भेजते हैं, जिससे भारतीय धन का तेजी से इंग्लैंड की ओर प्रवाह हो रहा है।

इन्हीं के विचारों से प्रभावित होकर सभी उदारवादियों ने एक स्वर से सरकार से भारत की गरीबी दूर करने के लिये दो प्रमुख उपाय सुझाये—पहला भारत में आधुनिक उद्योगों का तेजी से विकास तथा संरक्षण एवं दूसरा भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने के लिये स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग एवं विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

इसके अतिरिक्त उन्होंने भू-राजस्व में कमी करने, नमक कर का उन्मूलन करने, बागान श्रमिकों की दशा सुधारने एवं सैन्य खर्च में कटौती करने की भी मांग की। (विस्तृत अध्ययन के लिये 'भारत में ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव' नामक अध्याय (28) देखें)

व्यवस्थापिका में संवैधानिक सुधार एवं अधिप्रचार

1920 तक भारत में व्यवस्थापिकाओं को कोई वास्तविक प्रशासनिक अधिकार नहीं प्राप्त थे। सर्वप्रथम 1861 के भारत परिषद अधिनियम द्वारा इस दिशा में कुछ कदम उठाये गये। इस अधिनियम द्वारा केंद्रीय विधान परिषद का विस्तार किया गया। इसमें गवर्नर-जनरल और उसकी काउंसिल के सदस्यों के अतिरिक्त 6 से 12 तक अतिरिक्त सदस्यों की व्यवस्था की गयी। केंद्रीय विधान परिषद भारत के किसी भी विषय पर कानून बना सकती थी, लेकिन इस परिषद में भारतीय सदस्यों की संख्या अत्यल्प होती थी। 1862 से 1892 के मध्य 30 वर्षों की अवधि में केवल 45 भारतीय ही इस परिषद के सदस्य बन सके। जिनमें से अधिकांश धनी, प्रभावशाली एवं अंग्रेजों के भक्त थे। नाममात्र के बौद्धिक व्यक्तियों एवं प्रख्यात लोगों को इसकी सदस्यता मिली। इनमें सैय्यद अहमद खान, क्रिस्टोदस पाल, वी.एन. मंडलीक, के.एल. नुलकर एवं रासबिहारी घोष प्रमुख हैं। इस प्रकार 1861 के एक्ट ने ब्रिटिश भारत में केंद्रीय स्तर पर एक छोटी सी विधानसभा को जन्म दिया।

1885 से 1892 के मध्य राष्ट्रवादियों की संवैधानिक सुधारों की मांगें मुख्यतया निम्न दो बिन्दुओं तक केंद्रित रहीं:

1. परिषदों का विस्तार एवं इनमें भारतीयों की भागीदारी बढ़ाना। तथा
2. परिषदों में सुधार, जैसे परिषदों को और अधिक अधिकार देना मुख्यतयाः आर्थिक विषयों पर।

प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने लोकतांत्रिक स्वशासन हेतु लंबी कार्य योजना बनायी। इनकी संवैधानिक सुधारों की मांगों को सफलता तब मिली जब ब्रिटिश सरकार ने 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम बनाया।

किंतु इन अधूरे संवैधानिक सुधारों से कांग्रेस संतुष्ट नहीं हुई तथा अपने वार्षिक अधिवेशनों में उसने इन सुधारों की जमकर आलोचना की। इसके पश्चात् उसने मांग की कि—(i) इनमें निर्वाचित भारतीयों का बहुमत हो तथा (ii) उन्हें बजट में नियंत्रण

भारतीय परिषद अधिनियम-1892

लार्ड डफरिन के काल में कांग्रेस की दिनों-दिन बढ़ती लोकप्रियता के कारण विवश होकर ब्रिटिश सरकार को 1892 में एक अन्य अधिनियम पारित करना पड़ा, जिसे 'भारतीय परिषद अधिनियम 1892' के नाम से जाना जाता है।

प्रमुख प्रावधान

- इस अधिनियम द्वारा केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार किया गया। केंद्रीय विधान परिषद के अतिरिक्त सदस्यों में 4 सदस्यों की वृद्धि की गयी। नयी व्यवस्था के अनुसार कम से कम 10 एवं अधिक से अधिक 16 सदस्य हो सकते थे (जो पहले 6-10 थी)।
- इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश सरकार ने पहली बार प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को भारत में स्वीकार किया। भारतीय विधानपरिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों का मनोनयन बंगाल चैम्बर ऑफ कॉमर्स और प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा किया जाता था। सदस्यों की अनुशंसा विश्वविद्यालयों, नगरपालिकाओं, जमींदारों और चैम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा की गई।
- इस अधिनियम द्वारा विधानमण्डलों के सदस्यों को निर्धारित नियमों के तहत बजट एवं वित्तीय मामलों पर बहस करने का सीमित अधिकार प्राप्त हो गया।
- विधान मण्डलों के सदस्यों को सार्वजनिक हित के भसलों पर प्रश्न पूछने का अधिकार मिल गया।

सीमाएं

- भारत की विशाल जनसंख्या के अनुपात में केंद्रीय विधान परिषद में केवल 4 सदस्यों की वृद्धि करना उपहासजनक था।
- विधान परिषद में अभी भी सरकारी सदस्यों का बहुमत बना रहा। निर्वाचन की व्यवस्था नाम मात्र की थी।
- पुर्नगठित केंद्रीय विधान परिषद की बैठक अपने पूरे कार्यकाल में (1909 तक) सिर्फ 13 दिन प्रति वर्ष के वार्षिक औसत से आयोजित हुई। तथा इसके कुल 24 सदस्यों में से गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या केवल 5 थी।
- गैर-सरकारी सदस्यों को बजट पर संशोधन का प्रस्ताव रखने एवं मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं था।
- सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं था, और न ही वो विमर्शित प्रश्न का उत्तर दे सकते थे।

संबंधी अधिकार दिये जायें। उन्होंने नारा दिया 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं'। धीरे-धीरे संवैधानिक सुधारों की मांग गति पकड़ने लगी। इसी समय दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले एवं लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य की मांग प्रारंभ कर दी। इन्होंने ब्रिटिश सरकार से मांग की कि भारत को कनाडा एवं आस्ट्रेलिया की तरह स्वशासित उपनिवेश

का दर्जा दिया जाये। फिरोजशाह मेहता एवं गोखले ने ब्रिटिश सरकार की इस मंशा की आलोचना की, जिसके तहत वह भारतीयों को स्वशासन देने की दिशा में ईमानदारी पूर्व कार्य नहीं कर रही थी।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार की वास्तविक मंशा यह थी कि ये परिषदें भारतीय नेताओं के उद्‌गार मात्र प्रकट करने का मंच हों, इससे ज्यादा कुछ नहीं। फिर भी भारतीय राष्ट्रवादियों ने इन परिषदों में उत्साहपूर्वक भागीदारी निभायी तथा अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। राष्ट्रवादियों ने इनके माध्यम से विभिन्न भारतीय समस्याओं की ओर ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकर्षित किया। अक्षम कार्यपालिका की खामियां उजागर करना, भेदभावपूर्ण नीतियों एवं प्रस्तावों का विरोध करना तथा आधारभूत आर्थिक मुद्दों को उठाने जैसे कार्य इन राष्ट्रवादियों ने इन परिषदों के माध्यम से किये।

इस प्रकार राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी सरकार की वास्तविक मंशा को उजागर किया तथा स्वशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल की। उन्होंने देश के लोगों में राजनीतिक एवं आर्थिक चेतना जगाने का कार्य किया। राष्ट्रवादियों के इन कार्यों से भारतीयों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं का प्रसार हुआ। लेकिन इन उपलब्धियों के बावजूद राष्ट्रवादियों की सबसे प्रमुख असफलता यह रही कि वे इन कार्यक्रमों एवं अभियानों का जनाधार नहीं बढ़ा सके। मुख्यतया महिलाओं की भागदारी नगण्य रही तथा सभी को मत देने का अधिकार भी नहीं प्राप्त हुआ।

सामान्य प्रशासकीय सुधारों हेतु उदारवादियों के प्रयास

इसमें निम्न प्रयास सम्मिलित थे–

(i) सरकारी सेवाओं के भारतीयकरण की मांग इसका आर्थिक आधार हो, क्योंकि विभिन्न प्रशासकीय पदों पर अंग्रेजों की नियुक्ति से देश पर भारी आर्थिक बोझ पड़ता है, जबकि भारतीयों की नियुक्ति से आर्थिक बोझ में कमी होगी। साथ ही अंग्रेज अधिकारियों एवं कर्मचारियों को जो वेतन एवं भत्ते मिलते हैं, वे उसका काफी बड़ा हिस्सा इंग्लैण्ड भेज देते हैं। इससे भारतीय धन का निकास होता है। इसके अतिरिक्त नैतिक आधार पर भी यह गलत था कि भारतीयों के साथ भेदभाव किया जाये तथा उन्हें प्रशासकीय पदों से दूर रखा जाये।

(ii) न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण।

(iii) पक्षपातपूर्ण एवं भ्रष्ट नौकरशाही तथा लंबी एवं खर्चीली न्यायिक प्रणाली की भर्त्सना।

(iv) ब्रिटिश सरकार की आक्रामक विदेश नीति की आलोचना। बर्मा के अधिग्रहण, अफगानिस्तान पर आक्रमण, एवं उत्तर-पूर्व में जनजातियों के दमन का कड़ा विरोध।

(v) विभिन्न कल्याणकारी मदों यथा-स्वास्थ्य, स्वच्छता इत्यादि में ज्यादा व्यय की मांग। प्राथमिक एवं तकनीकी शिक्षा में ज्यादा व्यय पर जोर, कृषि पर जोर एवं सिंचाई सुविधाओं का विस्तार, कृषकों हेतु कृषक बैंकों की स्थापना इत्यादि।

(vi) भारत के बाहर अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में कार्यरत भारतीय मजदूरों की दशा में सुधार करने की मांग। इनके साथ हो रहे अत्याचार एवं प्रजातीय उत्पीड़न को रोकने की अपील।

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा

इसके अंतर्गत विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता, संगठन बनाने एवं प्रेस की स्वतंत्रता तथा भाषण की स्वतंत्रता के मुद्दे सम्मिलित थे। उदारवादी या नरमपंथियों ने इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये एक सशक्त आंदोलन चलाया तथा इस संबंध में भारतीय जनमानस को प्रभावित करने में सफलता पायी। इसके परिणामस्वरूप शीघ्र ही नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का मुद्दा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का अभिन्न हिस्सा बन गया। उदारवादियों के इन कार्यों से भारतीयों में चेतना जाग्रत हुई एवं जब 1897 में बाल गंगाधर तिलक एवं अन्य राष्ट्रवादी नेताओं तथा पत्रकारों को गिरफ्तार किया गया तो इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। नाटू बंधुओं की गिरफ्तारी एवं निर्वासन के प्रश्न पर भी भारतीयों ने कड़ा रोष जाहिर किया। (विस्तृत अध्ययन के लिये 'भारत में प्रेस का विकास', नामक अध्याय (29) देखें)।

प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के कार्यों का मूल्यांकन

कुछ आलोचकों के मतानुसार भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में नरपंथियों का नाममात्र का योगदान था, इसीलिये वे अपने चरण में कोई ठोस उपलब्धि हासिल नहीं कर सके। इन आलोचकों का दावा है कि अपने प्रारंभिक चरण में कांग्रेस शिक्षित मध्य वर्ग अथवा भारतीय उद्योगपतियों का ही प्रतिनिधित्व करती थी। उनकी अनुनय-विनय की नीति को आंशिक सफलता ही मिली तथा उनकी अधिकांश मांगे सरकार ने स्वीकार नहीं कीं। निःसंदेह इन आलोचनाओं में पर्याप्त सच्चाई है। किंतु नरमपंथियों की कुछेक उपलब्धियां भी थीं, जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता यथा–

(i) उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज को नेतृत्व प्रदान किया।

(ii) साझा हित के सिद्धांतों पर आम सहमति बनाने एवं जागृति लाने में वे काफी

प्रमुख विचार

आपको हमारे देश के इतिहास में हमारे स्थान का अहसास नहीं है। ये संस्मरण बमुश्किल ही सरकार जानती है। वस्तुतः ये लोगों तक पहुंचते हैं, ताकि वे जान सकें कि इन मामलों पर क्या करना है। यह कार्य, बिना किसी परिणाम की आशा के, वर्षों तक किया जाना है, चूंकि इस प्रकार की राजनीति इस देश में सर्वथा नवीन है।

जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे, गोखले को कहते हुए (1891)

हद तक सफल रहे। उन्होंने भारतवासियों में इस भावना की ज्योति जलाई कि सभी के एक ही शत्रु (अंग्रेज) हैं तथा सभी भारतीय एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं।

(iii) उन्होंने लोगों को राजनीतिक कार्यों में दक्ष किया तथा आधुनिक विचारों को लोकप्रिय बनाया।

(iv) उन्होंने उपनिवेशवादी शासन की आर्थिक शोषण की नीति को उजागर किया।

(v) नरमपंथियों के राजनीतिक कार्य दृढ़ विश्वासों पर अविलम्बित थे न कि उथली भावनाओं पर।

(vi) उन्होंने इस सच्चाई को सार्वजनिक किया कि भारत का शासन, भारतीयों के द्वारा उनके हित में हो।

(vii) उन्होंने भारतीयों में राष्ट्रवाद एवं लोकतांत्रिक विचारों एवं प्रतिनिधि संस्थाओं के विचारों को लोकप्रिय बनाया। एक समान राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्रम विकसित किया, जिससे बाद में राष्ट्रीय आंदोलन को गति मिली।

(viii) उन्हीं के प्रयासों से विदेशों विशेषकर इंग्लैण्ड में भारतीय पक्ष को समर्थन मिल सका।

जन-साधारण की भूमिका

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उदारवादी काल में कांग्रेस का जनाधार सीमित था तथा जन-सामान्य ने इसमें शिथिल या निष्क्रिय भूमिका निभायी। इसका मुख्य कारण था कि प्रारंभिक राष्ट्रवादी जन-साधारण के प्रति ज्यादा विश्वस्त नहीं थे। उनका मानना था कि भारतीय समाज अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंटा हुआ है तथा इनके विचार एवं सोच संकीर्णता से ओत-प्रोत हैं, फलतः प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने उनकी उपेक्षा की। उदारवादियों का मत था कि राजनीतिक परिदृश्य पर उभरने से पहले जातीय विविधता के कारकों में एकीकरण आवश्यक है। लेकिन ये इस महत्व को नहीं समझ सके कि इस कारक में विविधता के बावजूद उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक चरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

व्यापक जन समर्थन के अभाव में उदारवादी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आक्रामक राजनीतिक रुख अख्तियार नहीं कर सके। किंतु बाद के राष्ट्रवादियों में उदारवादियों की इस सोच से अंतर था। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता के लिये जनसामान्य में व्यापक पैठ बनायी और जनाधार बढ़ाया। कालांतर में इसका लाभ आंदोलनकारियों को मिला।

ब्रिटिश सरकार का रुख

कांग्रेस के जन्म के प्रारंभिक वर्षों में ब्रिटिश सरकार और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में कुछ समय के लिये सहयोगात्मक रुख बना रहा। उदारवादियों का विश्वास था कि

भारत की स्थिति को ब्रिटिश शासन के अधीन रह कर ही सुधारा जा सकता है। किंतु 1887 के पश्चात कांग्रेस और सरकार के रिश्तों में कड़वाहट आने लगी। नरमपंथियों का भ्रम शीघ्र ही टूट गया क्योंकि शासन का वास्तविक स्वरूप उनके सामने आ गया। इस काल में कांग्रेस ने सरकार की आलोचना और तीव्र कर दी, फलतः दोनों के आपसी संबंध और खराब हो गये। इसके पश्चात् सरकार ने कांग्रेस विरोधी रुख अख्तियार कर लिया तथा वह राष्ट्रवादियों को 'राजद्रोही ब्राह्मण' एवं 'देशद्रोही विप्लवकारी' जैसी

प्रमुख विचार

1858 से 1905 तक का समय भारतीय राष्ट्रवाद का शैशवकाल था। प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने इस काल में राष्ट्रवाद की धरती को सींचा एवं उसमें गहरे तक राष्ट्रीयता के बीज बो दिये।

बिपिन चंद्र

यह एक सफल अवसरवादी आंदोलन था। इसने कपटी एवं पाखण्डियों के लिये अवसर खोले। इसने कुछ लोगों को राष्ट्रीयता के नाम को भुनाने का अवसर दिया।

लाला लाजपत राय

हम कोई भीख नहीं मांगते। हमें केवल न्याय चाहिये। ब्रिटिश साम्राज्य में नागरिक होने के नाते हमारे क्या अधिकार हैं, उसकी मीमांसा किये बिना ही केवल एक शब्द 'स्वराज्य' में सब कुछ व्यक्त किया जा सकता है, वैसा ही स्वराज्य जैसा आयरलैण्ड, कनाडा अथवा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में प्रचलित है'।

दादा भाई नौरोजी (1906)

भारत की स्थिति अत्यंत सोचनीय है...वह निरंतर लूटा जा रहा है। प्राचीन काल में भी लुटेरे आते थे परंतु वे लूटने के बाद चले जाते थे तथा कुछ ही वर्षों में भारत पुनः अपनी आर्थिक हानि पूरी कर लेता था। परंतु अब तो वह लगातार ज्यादा से ज्यादा दरिद्र होता जा रहा है। उसे इस लूट से दम लेने का अवकाश ही नहीं मिलता।

दादाभाई नौरोजी 1905 में जे.डी. सदरलैण्ड को अपने पत्र में

वह भारतीय जनता का सर्वथा तिरस्कार करता है, जनता की भावनाओं की अवहेलना करता है, जनता के हितों के स्थान पर शासन के हितों की चिंता करता है, अतः उसके सम्मुख न्याय की दुहाई देना कोरा मजाक है।

गोखले, सरकार की उदासीनता एवं कुशासन के संबंध में (1905)

कांग्रेस अपने पतन की ओर लड़खड़ाती जा रही है तथा उसकी इच्छा है कि वह कांग्रेस की शांतिमय मृत्यु में सहायता दे सके।

लार्ड कर्जन (1900)

उपमायें देने लगी। लार्ड डफरिन ने कांग्रेस को 'राष्ट्रद्रोहियों की संस्था' कहकर पुकारा। कालांतर में सरकार ने कांग्रेस के प्रति 'फूट डालो एवं राज करो' की नीति अपना ली। सरकार ने विभिन्न कांग्रेस विरोधी तत्वों यथा सर सैय्यद अहमद खान, बनारस नरेश राजा शिव प्रसाद सिंह इत्यादि को कांग्रेस के कार्यक्रमों की आलोचना करने हेतु उकसाया तथा कांग्रेस के विरोधी संगठन 'संयुक्त भारत राष्ट्रवादी संगठन' (यूनाइटेड इंडियन पेट्रियोटिक एसोसिएशन) की स्थापना में मदद की। सरकार ने सम्प्रदाय एवं विचारों के आधार पर राष्ट्रवादियों में फूट डालने का प्रयास किया तथा उग्रवादियों को उदारवादियों के विरुद्ध भड़काया। किंतु अपने इन प्रयासों के पश्चात भी ब्रिटिश सरकार राष्ट्रवाद के उफान को रोकने में सफल नहीं हो सकी।

सारांश

- **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना**
  1885 में पहला अधिवेशन आयोजित (बम्बई)
  ए.ओ. ह्यूम द्वारा स्थापित भारतीय राष्ट्रीय संघ, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बन गया।
  आईएमसी की स्थापना के सिद्धांत एवं अनुयायी
  सेफ्टी वॉल्व सिद्धांत एवं अनुयायी
  सेफ्टी वॉल्व सिद्धांत–लाल लाजपत राय
  षड्यंत्र सिद्धांत–आर.पी. दत्त
  प्रकाश संवाहक सिद्धांत–जी.के. गोखले
  उदारवादी चरण के प्रमुख नेताः दादा भाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैय्यबजी, फिरोजशाह मेहता, पी. आनंद चार्लू, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, रोमेश चन्द्र दत्त, आनंद मोहन बोस, जी. के. गोखले इत्यादि।
- **प्रारंभिक राष्ट्रवादियों (उदारवादियों) के उपागम**
  सवैधानिक दायरे में रहकर प्रदर्शन एवं सभायें करना
  भारत के पक्ष में जनमत का निर्माण करना
  इंग्लैण्ड में भारतीय पक्ष के प्रति समर्थन बढ़ाना
  भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा देना
  ब्रिटेन से भारत के राजनीतिक सम्बंधों को बनाये रखना क्योंकि वह समय ब्रिटिश सरकार को प्रत्यक्ष चुनौती देने हेतु उपयुक्त न था।
- **नरमपंथी राष्ट्रवादियों का योगदान**
  उपनिवेशी शासन की आर्थिक शोषण की नीति की निंदा करना
  व्यवस्थापिका संबंधी संवैधानिक सुधार
  सामान्य प्रशासनिक सुधारों हेतु अभियान चलाना
  भारतीयों के नागरिक अधिकारों की रक्षा करना

इकाई 6

राष्ट्रीय आंदोलन (1905–1918)

- उग्र-राष्ट्रवाद का युग (1905-1909)
- क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रथम चरण (1907-1917)
- प्रथम विश्व युद्ध एवं राष्ट्रवादी प्रत्युत्तर

अध्याय 12

उग्र-राष्ट्रवाद का युग (1905-1909)

उग्र-राष्ट्रवाद का उदय

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों विशेषतयाः 1890 के पश्चात भारत में उग्र-राष्ट्रवाद का उदय प्रारंभ हुआ तथा 1905 तक आते-आते इसने अपना पूर्ण स्वरूप धारण कर लिया।

उग्र-राष्ट्रवाद के उदय के कारण

कांग्रेस की अनुनय-विनय की नीति से ब्रिटिश सरकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा तथा वे शासन में मनमानी करते रहे। इसके प्रतिक्रियास्वरूप इस भावना का जन्म हुआ कि स्वराज्य मांगने से नहीं अपितु संघर्ष से प्राप्त होगा। संवैधानिक आंदोलन से भारतीयों का विश्वास उठ गया। अतः संघर्ष द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने की जिस भावना का जन्म हुआ उसे ही उग्र-राष्ट्रवाद की भावना कहते हैं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक दल इसी भावना का कट्टर समर्थक था। इस दल का मत था कि कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य होना चाहिए, जिसे वे आत्मविश्वास या आत्म-निर्भरता से प्राप्त करें। यह दल उग्रवादी कहलाया।

जिन तत्वों के कारण उग्र-राष्ट्रवाद का जन्म हुआ, उसमें प्रमुख निम्नानुसार हैं–

अंग्रेजी राज्य के सही स्वरूप की पहचानः अंग्रेजों द्वारा कांग्रेस के प्रार्थना-पत्रों एवं मांगों पर ध्यान न दिये जाने के कारण राजनीतिक रूप से जागृत कांग्रेस का एक वर्ग असंतुष्ट हो गया तथा वह राजनीतिक आंदोलन का कोई दूसरा रास्ता अपनाने पर विचार करने लगा। इसका विश्वास था कि स्वशासन ही भारत के विकास एवं आत्म-निर्भरता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण की नीति ने देश को विपन्नता के कगार पर पहुंचा दिया था। 1896 से 1900 के मध्य पड़ने वाले भयंकर दुर्भिक्षों से 90 लाख से भी अधिक लोग मारे गये, किंतु अंग्रेज शासकों की उपेक्षा विद्यमान रही। दक्षिण-भारत में आये भयंकर प्लेग से हजारों लोग काल के ग्रास बन गये। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत ही में हुए साम्प्रदायिक झगड़ों ने जन-धन को अपार क्षति पहुंचायी। इन परिस्थितियों में सरकार की निरंतर उपेक्षा से देशवासियों का प्रशासन से मोह भंग हो गया। राष्ट्रवादियों ने महसूस किया कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को अधिक अधिकार देने की अपेक्षा वर्तमान अधिकारों को भी वापस लेने का कुत्सित प्रयास कर रही है। फलतः इन राष्ट्रवादियों ने तत्कालीन विभिन्न नियमों एवं अधिकारों की आलोचना की। इस अवधि की निम्न घटनाओं ने भी इस दिशा में उत्प्रेरक का कार्य किया।

1892– के भारतीय परिषद अधिनियम की राष्ट्रवादियों ने यह कहकर आलोचना की कि यह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहा है।

1897– में पुणे के नाटु बंधुओं को बिना मुकदमा चलाये देश से निर्वासित कर दिया गया एवं तिलक तथा अन्य नेताओं को राजद्रोह फैलाने के आरोप में गिरफ्तार कर लम्बे कारावास का दण्ड दिया गया।

1898– भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124–ए का दमनकारी कानून नये प्रावधानों के साथ पुनः स्थापित और विस्तृत किया गया तथा एक नई धारा 156–ए जोड़ दी गयी।

1899– कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट द्वारा कलकत्ता निगम के सदस्यों की संख्या में कमी कर दी गयी।

1904– कार्यालय गोपनीयता कानून (Official Secrtes Act) द्वारा प्रेस की स्वतंत्रता का दमन।

1904– भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण और कड़ा कर दिया गया तथा सरकार को सेनेट द्वारा पारित प्रस्तावों पर निषेधाधिकार (Veto) दिया गया।

ब्रिटिश शासन के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव भी विनाशकारी रहे। इसने शिक्षा के प्रसार में उपेक्षा की नीति अपनायी विशेषकर लोकशिक्षा, स्त्रीशिक्षा एवं तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में।

आत्मविश्वास तथा आत्म-सम्मान में वृद्धिः राष्ट्रवादियों के प्रयास से भारतीयों के आत्म-विश्वास एवं आत्म-सम्मान में वृद्धि होती गई। तिलक, अरविन्द घोष तथा विपिन चंद्र पाल ने अन्य राष्ट्रवादी नेताओं से अपील की कि वे भारतीयों की विशेषताओं एवं शक्ति को पहचानें। धीरे-धीरे यह धारणा बलवली होने लगी कि जन साधारण के सहयोग के बिना स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्यों तक नहीं पहुंचा जा सकता।

शिक्षा का विकासः शिक्षा के व्यापक प्रसार से जहां एक ओर भारतीय तेजी से शिक्षित होने लगे तथा उनमें जागृति आयी, वहीं दूसरी ओर उनमें बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेरोजगारी भी बढ़ी क्योंकि शिक्षित होने वाले व्यक्तियों की तुलना में सरकार रोजगार के अवसरों का सृजन नहीं कर सकी। इनमें से अधिकांश ने अपनी बेकारी और दयनीय आर्थिक दशा के लिये उपनिवेशी-शासन को उत्तरदायी ठहराया तथा धीरे-धीरे वे विदेशी शासन को समूल नष्ट करने के लिये उग्र राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगे। चूंकि भारतीयों का यह नव-शिक्षित वर्ग पश्चिमी शिक्षा के कारण वहां के राष्ट्रवाद, जनतंत्र एवं आमूल परिवर्तन के विचारों से अवगत हो चुका था फलतः उसने साधारण भारतीयों में भी आमूल परिवर्तन लाने वाली राष्ट्रवादी राजनीति का प्रसार प्रारंभ कर दिया।

अंतरराष्ट्रीय घटनाओं का प्रभावः इस काल की कई अंतरराष्ट्रीय घटनाओं ने भी उग्र राष्ट्रवाद के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1868 के पश्चात जापान का विशाल औद्योगिक शक्ति के रूप में उभरना एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी। इससे भारतीय इस सच्चाई से अवगत हुए कि एशिया के देश बिना किसी बाह्य सहयोग के भी आर्थिक विकास कर सकते हैं। इस घटना ने उदारवादियों की इस अवधारणा को पूर्णतः गलत साबित कर दिया कि भारत के आर्थिक विकास के लिये ब्रिटेन का संरक्षण

प्रमुख विचार

यदि संसार में कहीं कोई पाप है तो वह है दुर्बलता, हमें हर प्रकार की कमजोरी या दुर्बलता को दूर करना चाहिए, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु के समान है।

स्वामी विवेकानंद

आज के उग्रवादी कल के उदारवादी बन जायेंगे, ठीक उसी प्रकार, जैसे आज के उदारवादी, कल के उग्रवादी थे।

बालगंगाधर तिलक

एक एशियाई ने जो किया, वैसे दूसरे भी कर सकते हैं.....यदि जापान, रूस की पिटायी कर सकता है तो भारत भी ब्रिटेन को उसी तरह पीट सकता है....ब्रिटेन को हमें समुद्र में फेंक देना चाहिए और अपनी ताकत के अनुरूप हमें जापान की तरह संसार की प्रमुख महा शक्तियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलना चाहिए।

कराची क्रॉनिकल (18 जून, 1905)

आवश्यक है। 1896 में इथियोपिया द्वारा इटली की सेनाओं की अपमानजनक पराजय, ब्रिटिश सेनाओं को गंभीर क्षति पहुंचाने वाले बोअर युद्ध (1899-1902) एवं 1905 में जापान द्वारा रूस की पराजय जैसी घटनाओं ने यूरोपीय अजेयता के मिथक को तोड़ दिया। इसी प्रकार आयरलैंड, रूस, मिश्र, पर्शिया एवं चीन के क्रांतिकारी आंदोलनों ने भी राष्ट्रवादियों को विश्वास दिलाया कि वे राष्ट्रव्यापी उग्र आंदोलन द्वारा एकजुट होकर विदेशी दासता से मुक्ति पा सकते हैं।

बढ़ते हुए पश्चिमीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रियाः नवीन राष्ट्रवादी नेताओं ने बढ़ते हुये पश्चिमीकरण पर गहरी चिंता व्यक्त की क्योंकि भारतीय राजनीतिक चिंतन एवं समाज में पश्चिमी प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। भारत का सांस्कृतिक पहलू भी इससे अछूता न रहा। इससे भारतीय संस्कृति के पाश्चात्य संस्कृति में विलीन होने का खतरा पैदा हो गया। ऐसे समय में स्वामी विवेकानंद, बंकिमचंद्र चटर्जी एवं स्वामी दयानंद सरस्वती जैसे विद्वानों ने भारतीय तथा वैदिक संस्कृति के प्रति लोगों में नया विश्वास पैदा किया तथा भारत की प्राचीन समृद्ध विरासत का गुणगान कर पश्चिमी संस्कृति की पोल खोल दी। इन्होंने भारत की प्राचीन सांस्कृतिक समृद्धि का बखान कर पाश्चात्य सर्वश्रेष्ठता के भ्रम को तोड़ दिया। इनके प्रयासों से भारतीयों की यह हीन भावना दूर हो गयी कि वे पश्चिम से पिछड़े हुए हैं। दयानंद सरस्वती ने घोषित किया 'भारत भारतीयों के लिये है'।

उदारवादियों की उपलब्धियों से असंतोषः तरुण राष्ट्रवादी कांग्रेस के पहले 15-20 वर्षों की उपलब्धियों से संतुष्ट न थे। वे कांग्रेस की क्षमा, याचना एवं शांतिपूर्ण प्रतिवाद की नीति के तीव्र आलोचक थे। उनका मानना था कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद को इस तरह की नीतियों से कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता। उदारवादियों की इस नीति को उन्होंने 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' की संज्ञा दी। वे स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु उग्र आंदोलन चलाये जाने के पक्षधर थे।

लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियांः लार्ड कर्जन का भारत में 7 वर्ष का शासन शिष्टमंडल, भूलों तथा आयोगों के लिये प्रसिद्ध है। इसकी भारतीय जनमानस पर कड़ी प्रतिक्रिया हुई। कर्जन ने भारत को एक राष्ट्र मानने से इंकार कर दिया तथा कांग्रेस को 'मन के उद्‌गार निकालने वाली संस्था' की संज्ञा दी। उसने भारत विरोधी बयान दिये। उसके शासन के विभिन्न प्रतिक्रियावादी कानूनों यथा-कार्यालय गोपनीयता अधिनियम, भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम तथा कलकत्ता कार्पोरेशन अधिनियम इत्यादि से भारतीय खिन्न हो गये। 1905 में बंगाल के विभाजन तथा कटुभाषा के प्रयोग से भारतीयों का असंतोष चरम सीमा पर पहुंच गया। बंगाल विभाजन के विरोध में पूरे देश में तीव्र आंदोलन हुए तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। कर्जन के इन कार्यों से ब्रिटिश शासकों की प्रतिक्रियावादी मंशा स्पष्ट उजागर हो गयी।

जुझारू राष्ट्रवादी विचारधारा का अस्तित्वः बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जुझारू या उग्र विचारधारा वाले राष्ट्रवादियों का एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ, जिसने राजनीतिक कार्यों एवं आंदोलनों के लिये उग्र तरीके अपनाने पर जोर दिया। इन जुझारू राष्ट्रवादियों में बंगाल के राज नारायण बोस, अश्विनी कुमार दत्त, अरविंद घोष तथा विपिनचंद्र पाल, महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, बाल गंगाधर तिलक एवं पंजाब के लाला लाजपत राय प्रमुख थे। इस उग्र विचाराधारा के उत्थान में सबसे अधिक सहयोग तिलक ने दिया। उन्होंने अंग्रेजी भाषा में 'मराठा' एवं मराठी में 'केसरी के माध्यम से भारतीयों को जुझारू राष्ट्रवाद की शिक्षा दी और स्पष्ट रूप से कहा कि आजादी बलिदान मांगती है। इस विचारधारा के समर्थकों के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार थे–

- विदेशी शासन से घृणा करो, इससे किसी प्रकार की उम्मीद करना व्यर्थ है, अपने उद्धार के लिये भारतीयों को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए।
- स्वतंत्रता आंदोलन का मुख्य लक्ष्य 'स्वराज्य' है।
- राजनीतिक क्रियाकलापों में भारतीयों की प्रत्यक्ष भागीदारी
- निडरता, आत्म-त्याग एवं आत्म विश्वास की भावना प्रत्येक भारतीय में अवश्य होनी चाहिए।
- स्वतंत्रता पाने एवं हीन दशा को दूर करने हेतु भारतीयों को संघर्ष करना चाहिए।

एक प्रशिक्षित नेतृत्व का उद्भवः राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षित समूह के अभाव में राजनीतिक आंदोलन को उच्चता या पराकाष्ठा पर ले जाना असंभव है। सौभाग्यवश भारत में लंबे एवं व्यवस्थित राजनीतिक आंदोलन के फलस्वरूप देश में प्रशिक्षित नेतृत्व का अभ्युदय हो चुका था। इस प्रशिक्षित नेतृत्व ने स्वतंत्रता संघर्ष को नयी दिशा दी एवं भारतीयों की ऊर्जा एवं शक्ति को स्वतंत्रता प्राप्ति के अभियान से जोड़ दिया। बंगाल विभाजन के विरोध एवं स्वदेशी आंदोलन जैसे अभियानों के फलस्वरूप भारतीयों को अपनी सामर्थ्य का आभास हो चुका था। योग्य नेतृत्व ने स्वराज्य प्राप्ति की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।

स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन

स्वदेशी आंदोलन का जन्म विभाजन-विरोधी आंदोलन से हुआ, जो ब्रिटिश सरकार के बंगाल विभाजन के विरोध से प्रारंभ हुआ।

लोगों को विभाजित करने हेतु बंगाल का विभाजन

स्वदेशी तथा बहिष्कार आंदोलन सरकार द्वारा बंगाल विभाजन के निर्णय के विरोधस्वरूप चलाया गया था तथा यह बंग-भंग का ही प्रतिफल था। दिसम्बर 1903 में अंग्रेज सरकार ने बंगाल विभाजन की सार्वजनिक घोषणा की। इसके पीछे सरकार

प्रमुख विचार

संयुक्त बंगाल एक शक्ति है, बंगाल को विभाजित करने से हमें कई लाभ होंगे. ....यदि हम अपने इस प्रमुख कंटक को विभाजित कर दें तो हमारे शासन का विरोध करने वाला एक प्रमुख निकाय स्वतः दुर्बल हो जायेगा।

रिसले (भारत सरकार के गृह सचिव को पत्र में, 1904)

ने तर्क दिया कि बंगाल की विशाल आबादी (78 मिलियन) के कारण प्रशासन का सुचारू रूप से संचालन कठिन हो गया है। यद्यपि कुछ सीमा तक सरकार का यह तर्क सही था किंतु अंग्रेजों की वास्तविक मंशा कुछ और ही थी। उनका मुख्य उद्देश्य बंगाल को दुर्बल करना था क्योंकि उस समय बंगाल भारतीय राष्ट्रवाद का सबसे प्रमुख केंद्र था। बंगाल विभाजन के तहत बंगालियों को प्रशासनिक सुविधा के लिये दो तरह से विभाजित कर दिया गया। (i) भाषा के आधार पर—(इससे बंगाली भाषा-भाषी बंगाल में ही अल्पसंख्यक बन गये, क्योंकि 1 करोड़ 70 लाख लोग बंगाली भाषा बोलते थे, जबकि हिन्दी एवं उड़िया बोलने वालों की संख्या 3 करोड़ 70 लाख थी) एवं (ii) धर्म के आधार पर—क्योंकि पश्चिमी बंगाल हिन्दू बहुसंख्यक क्षेत्र था, जहां हिन्दुओं की संख्या कुल 5 करोड़ 40 लाख में से 4 करोड़ 20 लाख थी तथा पूर्वी बंगाल मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्र था, जहां कुल आबादी 3 करोड़ 10 लाख में से मुसलमानों की आबादी 1 करोड़ 80 लाख थी। मुसलमानों के प्रति प्यार दिखाते हुए कर्जन ने कहा कि ढाका नये मुस्लिम बहुल प्रांत (पूर्वी बंगाल) की राजधानी बन सकता है, क्योंकि इससे मुसलमानों में एकता बढ़ेगी, जो कि मुगल शासकों के समय उनमें पायी जाती थी। इस प्रकार बंगाल विभाजन के निर्णय से स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज, कांग्रेस एवं स्वतंत्रता आंदोलन को दुर्बल बनाने के लिये मुस्लिम सम्प्रदायवाद को उभारना चाहते थे।

स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन में आंदोलनकारियों ने विदेशी वस्त्रों की होली जलाई तथा अंग्रेज सरकार के समक्ष अपना विरोध प्रकट किया। चूंकि ब्रिटिश सरकार ने इस आंदोलन को दबाने के लिये दमन का सहारा लिया फलतः सरकारी दमन के विरोध में उग्रवादी गतिविधियां प्रारंभ हो गयीं।

उदारवादियों द्वारा बंगाल विभाजन का विरोध (1903-1905)

1903-1905 के दौरान उदारवादी, जिन्होंने बंगाल विभाजन के विरोध में सक्रिय भूमिका निभायी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, के.के. मित्रा तथा पृथ्वीशचंद्र राय प्रमुख थे। उदारवादियों ने सरकार के इस निर्णय के विरोध में सरकार को प्रार्थनापत्र सौंपे, सभायें आयोजित कीं, निंदा प्रस्ताव पारित किये तथा *हितवादी*, *संजीवनी* एवं *बंगाली* जैसे पत्रों

के माध्यम से बंगाल विभाजन का विरोध किया। उदारवादियों का उद्देश्य था कि भारत एवं इंग्लैण्ड में शिक्षित भारतीयों के माध्यम से एक ऐसा जनमत तैयार किया जाये जो बंगाल विभाजन के निर्णय को वापस लेने हेतु अंग्रेज सरकार पर दबाव डाल सके।

किंतु भारतीयों के विरोध स्वर की उपेक्षा करते हुए भी सरकार ने जुलाई 1905 में बंगाल विभाजन की घोषणा कर दी। इस घोषणा के कुछ दिनों के भीतर ही लगभग पूरे बंगाल में विरोध सभायें आयोजित की गयीं। इन सभाओं में सबसे पहले विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का निर्णय लिया गया। **7 अगस्त 1905 को बंगाल विभाजन के विरोध में कलकत्ता के टाउन हाल में एक विशाल प्रदर्शन आयोजित किया गया, जहां से स्वदेशी आंदोलन प्रारंभ करने की घोषणा की गयी।** इसके पश्चात राष्ट्रवादी नेताओं ने बंगाल के विभिन्न भागों का दौरा किया तथा लोगों से मैनचेस्टर के कपड़ों एवं लिवरपूल के बने नमक का बहिष्कार करने का आग्रह किया।

16 अक्टूबर 1905 को जब बंगाल विभाजन विधिवत रूप से लागू हुआ, आंदोलनकारियों ने यह दिन 'शोक दिवस' के रूप में मनाया। लोगों ने व्रत रखे, गंगा में स्नान किया तथा नंगे पांव पदयात्रा करते हुए *वंदे मातरम* गीत गाया। (कालांतर में वंदे मातरम गीत, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का सबसे मुख्य गीत बन गया)। विभाजित बंगाल के दोनों भागों के लोगों ने आपसी एकता प्रदर्शित करने हेतु एक-दूसरे के हाथों में राखियां बांधी। इसी दिन सुरेंद्रनाथ बनर्जी एवं आनंद मोहन बोस ने एक विशाल जनसभा को संबोधित किया, जो कि स्वतंत्रता आंदोलन से संबंधित संभवतः तब तक की सबसे विशाल जनसभा थी। जनसभा में शामिल प्रदर्शनकारियों ने विरोध अभियान चलाने के लिये 50 हजार रुपये एकत्र किये।

शीघ्र ही यह विरोध प्रदर्शन बंगाल से निकलकर भारत के अन्य भागों में भी फैल गया। पूना एवं बंबई में इस आंदोलन का नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक ने किया, जबकि पंजाब में लाल लाजपत राय एवं अजीत सिंह ने, दिल्ली में सैय्यद हैदर रजा एवं मद्रास में चिदम्बरम पिल्लई ने इसे नेतृत्व प्रदान किया।

कांग्रेस की स्थिति

1905 में गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में निम्न दो प्रस्ताव पारित किये गये—(i) कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों एवं बंगाल विभाजन की आलोचना करना तथा (ii) बंगाल में बंग-भंग विरोधी अभियान तथा स्वदेशी अभियान को समर्थन देना।

इस संबंध में उग्रवादी राष्ट्रवादी यथा-बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचंद्र पाल एवं अरविंद घोष का मत था कि विरोध अभियान का प्रसार बंगाल से बाहर पूरे देश में हो तथा इसे विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक ही सीमित न रखकर पूर्ण स्वतंत्रता संघर्ष के रूप में चलाया जाये, जिससे पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य प्राप्त किया

जा सके। किंतु इस समय कांग्रेस में नरमपंथियों का प्रभुत्व था तथा वे इसे बंगाल के बाहर चलाये जाने के पक्ष में नहीं थे। 1906 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में आयोजित किया गया। इस अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस का लक्ष्य इंग्लैंड या अन्य उपनिवेशों की तरह 'स्वशासन या स्वराज्य' है। धीरे-धीरे उदारवादियों एवं उग्रवादियों में विभिन्न विषयों पर मतभेद निरंतर बढ़ते गये, जिसकी चरण परिणति 1907 के सूरत अधिवेशन में हुई, जब कांग्रेस दो धड़ों में विभक्त हो गयी। इस विभाजन का स्वदेशी अभियान एवं अन्य तात्कालिक आंदोलनों पर गंभीर प्रभाव पड़ा।

उग्र नेतृत्व के अंतर्गत आंदोलन

1905 के पश्चात बंगाल में चल रहे स्वदेशी आंदोलन में उग्र विचारधारा वाले नेताओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसके मुख्य तीन कारण थे–

(i) उदारवादियों के नेतृत्व में आंदोलन का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला।

(ii) उदारवादियों के संवैधानिक रूख से उग्रवादी असहमत थे। तथा

(iii) सरकार ने अभियान को असफल बनाने हेतु कार्यकर्ताओं का दमन प्रारंभ कर दिया। इसके तहत विद्यार्थियों को प्रताड़ित किया गया, वंदे मातरम के गाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया, स्वदेशी के कार्यकर्ताओं को दण्ड एवं कारावास की सजा दी गयी, अनेक स्थानों पर पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर लाठी चार्ज किया, नेताओं को निर्वासन की सजा दी गयी तथा प्रेस का दमन किया गया।

उग्रवादियों का कार्यक्रम

कांग्रेस ने दिसम्बर 1906 में कलकत्ता में अपने वार्षिक अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी के नेतृत्व में *स्वराज्य की प्राप्ति* को अपना प्रमुख लक्ष्य घोषित किया। स्वराज्य का अर्थ वह शासन पद्धति समझा गया, जो सभी स्वशासित उपनिवेशों में प्रचलित थी। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रोत्साहन पर भी बल दिया गया। बंग-भंग को उग्र विचारधारा वाले राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय चुनौती के रूप में स्वीकार किया। सारे बंगाल में जन सभायें हुईं तथा तिलक, विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपत राय तथा अरविंद घोष ने कई स्थानों पर सभाओं को संबोधित किया। इन सभाओं में लोगों ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की शपथ ली। इस शपथ को व्यवहारिक रूप देने हेतु एक सुनियोजित कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। कई स्थानों पर विदेशी वस्तुओं की दुकानों के समक्ष धरना दिया गया तथा विदेशी वस्तुओं की सार्वजनिक रूप से होली जलायी गयी। स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार हेतु समितियां बनायी गयीं। नेताओं ने लोगों से स्कूलों, कालेजों, सरकारी कार्यालयों, सरकारी सेवाओं, न्यायालयों, व्यवस्थापिका सभाओं, नगर

पालिकाओं एवं राजकीय उपाधियों इत्यादि का बहिष्कार करने की अपील की। इस अवसर पर अरविंद घोष ने कहा 'शासन संचालन को अवरुद्ध कर दो, ऐसे किसी भी कार्य या प्रयत्न से दूर रहो जिससे इंग्लैंड के व्यापार-वाणिज्य को लाभ पहुंचता हो तथा भारत का आर्थिक शोषण होता हो'। उन्होंने लोगों से आह्वान किया कि वे एकजुट होकर अंग्रेजी शासन-तंत्र को असफल बनाने हेतु आगे आयें।

उग्र राष्ट्रवादियों ने बंग-भंग विरोधी आंदोलन तथा स्वदेशी अभियान को जन आंदोलन का स्वरूप देने का प्रयत्न किया तथा नारा दिया 'उपनिवेशी शासन से भारत को आजादी मिले'। अरविंद घोष ने स्पष्ट किया 'राजनीतिक स्वतंत्रता ही राष्ट्र की जीवन सांसें हैं'। इस प्रकार गरमपंथियों ने भारतीय स्वतंत्रता की अवधारणा को राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य लक्ष्य बना दिया।

संघर्ष का नया स्वरूप

उग्र राष्ट्रवादियों ने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान संघर्ष को एक नया स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने विरोध कार्यक्रमों, विचारधाराओं एवं रूख को एक नये आयाम से जोड़ा। उन्होंने जुझारू राष्ट्रवाद का प्रचार किया तथा नरमपंथियों की अवधारणा को पूर्णतया नकार दिया। इस अभियान के तहत संघर्ष के जो विभिन्न तरीके अपनाये गये वे इस प्रकार थे—

विदेशी वस्तुओं का बहिष्कारः इसके अंतर्गत विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं की होली जलाना, विदेश में निर्मित नमक एवं चीनी का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं के प्रयोग वाले धार्मिक विवाह समारोहों का बहिष्कार करने हेतु ब्राह्मणों से अपील करना तथा धोबियों द्वारा विदेशी कपड़े धोने से इंकार करने का आग्रह करना जैसे कार्यक्रम शामिल थे। यह कार्यक्रम अत्यंत लोकप्रिय हुआ तथा इसे राजनीतिक स्तर पर अत्यंत सफलता मिली।

जनसभायें एवं विरोध प्रदर्शनः ये दोनों माध्यम इस अभियान के दौरान अत्यंत लोकप्रिय हुए तथा जनसंख्या के एक काफी बड़े हिस्से ने इनमें सक्रिय भागीदारी निभायी।

स्वयंसेवी संगठनों एवं समितियों का गठनः इस अभियान में समितियां एवं विभिन्न स्वयंसेवी संगठन, जन सहयोग की अत्यंत सशक्त एवं लोकप्रिय संस्थाओं के रूप में उभरे। बारीसल में अश्विनी कुमार दत्त की 'स्वदेश बंधब समिति' इसी प्रकार की एक अत्यंत लोकप्रिय समिति थी। तिरुनेलवेली, तमिलनाडु में वी.ओ. चिदम्बरम पिल्लई, सुब्रमण्यम सिवा और कुछ वकीलों ने मिलकर 'स्वदेशी संगम' का गठन किया, जिसने स्थानीय जनमानस को उद्वेलित एवं प्रेरित किया। इन समितियों ने जन सामान्य में राजनीतिक चेतना का प्रसार किया। समितियों द्वारा जनजागरण हेतु विभिन्न प्रकार के तरीके अपनाये जाते थे, जिनमें व्याख्यानों का आयोजन, स्वदेशी गीतों को गाना, कार्यकर्ताओं को नैतिक एवं शारीरिक प्रशिक्षण, अकाल एवं महामारी जैसी प्राकृतिक

प्रमुख विचार

स्वराज्य अथवा, स्वशासन, स्वधर्म के लिये आवश्यक है। स्वराज्य के बिना कोई सामाजिक सुधार नहीं हो सकता, न कोई औद्योगिक प्रगति, न कोई उपयोगी उपलब्धि और न ही राष्ट्रीय जीवन की परिपूर्णता।

बाल गंगाधर तिलक

स्वदेशी ने अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में हमारी सामाजिक एवं घरेलू जिंदगी के चित्रों को रंगों से भर दिया था।

सुरेंद्रनाथ बनर्जी

स्वराज्य, आधुनिक परिस्थितियों में भारत के प्राचीन स्वरूप की स्थापना है, यह राष्ट्रीय महानता का सतयुग है, यह राष्ट्र के लिये शिक्षक एवं पथप्रदर्शक के समान है, यह आत्म-परिपूर्ण भारतीयों के वेदांतिक विचारों को राजनीतिक सिद्धांतों में प्रतिबिंबित करेगा, इसीलिये यही भारत के लिये स्वराज्य है, जो भारत के लिए आवश्यक है।

अरविंद घोष

आपदाओं के समय सामाजिक सहयोग, नये स्कूलों की स्थापना एवं स्वदेशी दस्तकारी हेतु प्रशिक्षण इत्यादि प्रमुख थे।

परम्परागत एवं लोकप्रिय उत्सवों का जुझारू राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार में उपयोगः उग्रवादी राष्ट्रवादियों ने विभिन्न परम्परागत एवं लोकप्रिय उत्सव एवं मेलों का प्रयोग जनाधार बढ़ाने एवं राजनीतिक चेतना के प्रचार-प्रसार में किया। उदाहरणार्थ-तिलक का *गणपति* एवं *शिवाजी उत्सव* न केवल महाराष्ट्र अपितु बंगाल में भी स्वदेशी अभियान का एक प्रमुख माध्यम बन गया। बंगाल में परम्परागत लोक नाट्यशालाओं का प्रयोग भी इस अभियान को लोकप्रिय एवं सफल बनाने में किया गया।

आत्म विश्वास या आत्म-शक्ति की भावना पर बलः इस भावना के प्रसार से राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं विश्वास की भावना को बल मिला तथा गांवों का सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्जन्म हुआ। इसके तहत विभिन्न समाज सुधार कार्यक्रम एवं अभियान चलाये गये जिनमें जाति प्रथा का विरोध, बाल विवाह पर रोक, दहेज प्रथा का विरोध एवं मद्य निषेध इत्यादि प्रमुख थे।

स्वदेशी या राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रमः रवींद्रनाथ टैगोर के शांति निकेतन से प्रेरणा लेकर कलकत्ता में नेशनल कालेज खोला गया तथा अरविंद घोष इसके प्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। शीघ्र ही देश के कई अन्य भागों में नेशनल स्कूल एवं कालेजों की स्थापना की गयी। साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा को संगठित करने हेतु 15 अगस्त 1906 को नेशनल काउंसिल आफ एजुकेशन की स्थापना की गई, जिससे

देशवासियों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित किया जा सके। समाचार पत्रों के माध्यम से शिक्षा के प्रचार को प्रोत्साहित किया गया। तकनीकी शिक्षा के विकास के लिये 'बंगाल तकनीकी संस्थान' की स्थापना की गयी तथा मेधावी छात्रों को उच्च तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने हेतु जापान भेजने की व्यवस्था की गयी।

स्वदेशी या देशज उद्योगों को प्रोत्साहनः स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के कारण भारतीय उद्योगों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। अनेक कपड़ा मिलें, साबुन और माचिस की फैक्ट्रियां, हस्तकरघा कारखाने, बैंक एवं बीमा कम्पनियां खोली गयीं। वी.ओ. चिदम्बरम पिल्लई का तूतीकोरिन में राष्ट्रीय जहाजरानी उद्यम—स्वदेशी स्टीम नेविगेशन कंपनी—में संयुक्त उपक्रम ने, हालांकि, ब्रिटिश स्ट्रेस नेविगेशन कंपनी के सम्मुख चुनौती प्रस्तुत की। आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने प्रसिद्ध बंगाल कैमिकल स्वदेशी स्टोर की स्थापना की। इस समय भारतीय व्यापारियों में व्यावसायिक कारोबार की अपेक्षा देशभक्ति का उत्साह अधिक था।

सांस्कृतिक जगत में प्रभावः इस काल में महान राष्ट्रवादियों यथा-रवींद्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन, द्विजेंद्रलाल राय, मुकुंद दास, सैय्यद अबू मोहम्मद इत्यादि ने अनेक राष्ट्रवादी कविताओं एवं गीतों की रचना की, जिससे भारतीयों को अभूतपूर्व प्रेरणा मिली। इस अवसर पर रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा लिखित *अमार सोनार बांग्ला* नामक प्रसिद्ध गीत ने तो कालांतर में बांग्लादेश के स्वतंत्रता आंदोलन को अभूतपूर्व प्रेरणा दी तथा बांग्लादेश ने इसे राष्ट्रगान के रूप में अपनाया। तमिलनाडु में, सुब्रमण्यम भारती ने *सुदेश गीथम* की रचना की।

चित्रकला के क्षेत्र में रवींद्रनाथ टैगोर ने विक्टोरियन प्रकृतिवाद के वर्चस्व को तोड़ दिया तथा मुगल, अजन्ता एवं राजपूत काल की चित्रकला से प्रेरणा लेकर अनेक राष्ट्रवादी चित्रों का निर्माण किया। प्रसिद्ध भारतीय कला मर्मज्ञ नन्दलाल बोस ने भारतीय कला के प्रोत्साहन में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा 1907 में स्थापित इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट की प्रथम छात्रवृत्ति पाने का गौरव हासिल किया।

विज्ञान के क्षेत्र में जगदीश चंद्र बसु, प्रफुल्लचंद्र राय एवं अन्य वैज्ञानिकों के अनेक महत्वपूर्ण अन्वेषण किये, जिनकी न केवल भारत में अपितु पूरे विश्व में प्रशंसा की गयी।

जनसहभागिता का दायरा

विद्यार्थीः स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के कारण बड़ी संख्या में छात्रों ने राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेना शुरू कर दिया। छात्रों ने स्वदेशी को व्यवहार रूप में अपनाया तथा बहिष्कार सम्बंधी धरनों एवं प्रदर्शनों में अग्रणी भूमिका निभायी। छात्रों की भागीदारी बंगाल, महाराष्ट्र, विशेष रूप से पूना, और दक्षिण भारत—गुंटूर, मद्रास,

स्लेम–के विभिन्न हिस्सों में स्पष्ट रूप से दिखाई दी। किंतु उन्हें सरकार की दमनपूर्ण नीति का आक्रोश झेलना पड़ा। जिन शिक्षा संस्थाओं के छात्रों ने स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी थी, उन्हें दी जाने वाली सरकारी सहायता एवं छात्रवृत्तियों पर रोक लगा दी गयी। अनेक छात्रों पर भारी जुर्माने लगाये गये तथा उन्हें गिरफ्तार कर अमानवीय यातनायें दी गयीं। ऐसे छात्रों को सरकारी नौकरियों के अयोग्य घोषित कर दिया गया। किंतु इसके बावजूद छात्रों का उत्साह कम नहीं हुआ तथा वे राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे।

महिलाएं: स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि घर की चहारदीवारी में केंद्रित महिलायें विशेषकर शहरी क्षेत्रों की मध्यवर्गीय महिलाओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारंभ कर दिया। महिलाओं ने कंधे से कंधा मिलाकर जुलूसों, सभाओं एवं विरोध प्रदर्शनों में भाग लिया। कालांतर में उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

मुस्लिमः स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के द्वारा अनेक मुस्लिम नेताओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लिया। इनमें बैरिस्टर अब्दुल रसूल, लियाकत हुसैन तथा गजनवी मौलाना आजाद के नाम उल्लेखनीय हैं। किंतु उच्च एवं मध्य वर्ग के अधिकांश मुस्लिम नेता या तो आंदोलन से दूर रहे या उन्होंने बंगाल विभाजन का समर्थन किया। ढाका के नवाब सलीमुल्लाह ने बंगाल विभाजन का समर्थन किया तथा घोषित किया कि इससे उन्हें मुस्लिम आबादी बहुल पूर्वी बंगाल का नया राज्य प्राप्त होगा। सरकार के हितों को बढ़ावा देने के लिए कांग्रेस विरोधी मोर्चे के रूप में और ढाका के नवाब सलीमुल्लाह जैसे प्रतिक्रियावादी तत्वों को प्रोत्साहित करने के लिए 30 दिसंबर, 1905 को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग को सहायता प्रदान की गई। इसके अलावा, प्रेरणा के लिए हिंदू उत्सवों और देवी-देवताओं का आह्वान करने वाले नेताओं सहित, स्वदेशी आंदोलन की प्रकृति ने भी, मुस्लिमों को इस आंदोलन से बाहर रखने का प्रयास किया।

श्रमिक असंतोष एवं व्यापार संघ

प्रारंभ में, कीमतों में वृद्धि एवं नस्लीय अपमान, प्रधानतः विदेशी स्वामित्वाधीन कंपनियों में, के मुद्दों पर कुछ हड़तालें की गईं। सितम्बर 1905 में हावड़ा में बर्न कंपनी के 247 बंगाली बाबुओं ने कार्य संबंधी एक नए अधिनियम के विरोध में, जिसे वे अपमानजनक समझते थे, बहिर्गमन किया तो समस्त स्वदेशी-समर्थक जनता ने उनका स्वागत किया। सरकारी छापाखानों में एक उग्र हड़ताल के बीच 21 अक्टूबर को प्रिंटर्स यूनियन की स्थापना हुई। जुलाई 1906 में ईस्ट इंडियन रेलवे के बाबुओं की हड़ताल के फलस्वरूप रेलवेमेंस यूनियन की स्थापना हुई। 1905 और 1908 के बीच पटसन कारखानों में प्रायः हड़तालें होती रहीं, जिससे विभिन्न समयों में 18 में से 18 कारखाने प्रभावित हुए। सुब्रमण्य सिवा और चिदम्बरम पिल्लई ने तूतीकोरिन और तिरुनेलवेली

में विदेशी स्वामित्व वाली पटसन मिलों में हड़तालों का नेतृत्व किया। रावलपिंडी (पंजाब) में, शस्त्रागार और रेलवे कर्मी लाला लाजपत राय और अजीत सिंह के नेतृत्व में हड़ताल पर चले गए। हालांकि, 1908 की गर्मियों के पश्चात्, श्रमिक आंदोलन में राष्ट्रवादियों की रुचि अचानक कम हुई और फिर पूर्णतः समाप्त हो गई, और यह रुचि 1919-22 के पहले फिर से उत्पन्न नहीं हुई।

इस प्रकार स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन का सामाजिक आधार ज्यादा व्यापक नहीं हो सका क्योंकि इस आंदोलन में जमींदारों के कुछ वर्ग, विद्यार्थियों, महिलाओं एवं शहरों तथा कस्बों के निम्न मध्य वर्ग के लोगों ने ही सक्रिय रूप से भाग लिया। आंदोलन को मजदूरों के आर्थिक शोषण के विरुद्ध स्वर मुखरित करने का मंच बनाने का प्रयत्न भी किया गया। इस दौरान ब्रिटिश स्वामित्व वाली विभिन्न कम्पनियों जैसे—इस्टर्न इंडियन रेलवे इत्यादि में हड़तालें भी आयोजित की गयीं। किंतु आंदोलन मुसलमानों विशेषकर मुस्लिम किसानों को प्रभावित नहीं कर सका क्योंकि अंग्रेज सरकार ने पहले से ही सतर्क होकर मुसलमानों को विभाजित करने की नीति अपनायी तथा उन्हें आंदोलन से पृथक रखने में सफल रही। सरकार के सहयोग से वह ढाका के नवाब सलीमुल्ला एवं आगा खां ने अक्टूबर 1906 में मुस्लिम लीग का गठन किया, जिसका प्रयोग अंग्रेजों ने स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन को विफल करने में किया।

आंदोलन का अखिल भारतीय पहलू

बंगाल से प्रारंभ हुआ स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन शीघ्र ही देश के अन्य भागों में भी फैल गया। बालगंगाधर तिलक जिन्होंने आंदोलन के अखिल भारतीय प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, इस आंदोलन को राष्ट्रव्यापी स्वतंत्रता आंदोलन का स्वरूप देने के पक्षधर थे। उन्होंने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया तथा आंदोलन का जनाधार बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनका मानना था कि आंदोलन भारतीयों के उद्‌गारों को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है तथा इसकी सहायता से उपनिवेशी शासन को समाप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

बंगाल विभाजन का लोप

क्रांतिकारी आतंकवाद के उभरने के भय से 1911 में बंगाल विभाजन रद्द कर दिया गया। किंतु बंगाल विभाजन रद्द होने से मुसलमानों को काफी आघात लगा। विभाजन रद्द किये जाने के साथ ही सरकार ने भारत की राजधानी कलकत्ता से बदलकर दिल्ली आने की घोषणा की, जो मुस्लिम संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र था किंतु मुसलमान इस निर्णय से खुश नहीं हुए। बिहार एवं उड़ीसा को बंगाल से पृथक कर दिया गया तथा असम को एक पृथक प्रांत बना दिया गया।

स्वदेशी आंदोलन का मूल्यांकन

स्वदेशी आंदोलन की असफलता

1908 तक स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन का बाह्य उन्माद (यद्यपि यह चरण भूमिगत क्रांतिकारी चरण से भिन्न था) ठंडा पड़ चुका था। इसके कई कारण थे–

- ब्रिटिश सरकार ने आंदोलनकारियों के प्रति कठोर दमनात्मक रुख अपनाया।
- आंदोलन एक सक्रिय संगठन या पार्टी का रूप नहीं ले सका। यद्यपि आंदोलन में विभिन्न गांधीवादी सिद्धांतों यथा-असहयोग, सत्याग्रह, जेल भरो अभियान, समाज सुधार एवं सृजनात्मक कार्यों इत्यादि को अपनाया गया, किंतु आंदोलन इन सिद्धांतों को एक अनुशासनात्मक दिशा नहीं दे सका।
- आंदोलन आगे चलकर नेतृत्वविहीन हो गया क्योंकि 1908 तक अधिकांश नेता या तो गिरफ्तार कर लिये गये थे या देश से निर्वासित कर दिये गये थे। इसी समय अरविन्द घोष तथा विपिनचंद्र पाल ने सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिया।
- कांग्रेस के नेताओं के मध्य आतंरिक झगड़े की परिणति 1907 के सूरत विभाजन के रूप में हुई। इससे आंदोलन को भारी आघात पहुंचा।
- यद्यपि आंदोलन ने जनसामान्य की शक्ति और ऊर्जा को उभारने का कार्य तो किया, किंतु इस शक्ति एवं ऊर्जा को संगठित कर वह सही स्वरूप एवं दिशा में सफल नहीं हो सका।
- आंदोलन समाज के सभी वर्गों में अपनी पैठ नहीं बना सका। यह उच्च वर्ग, मध्य वर्ग तथा जमींदारों तक ही सीमित रहा। मुसलमानों तथा किसानों को प्रभावित करने में यह पूर्णतया असफल साबित हुआ।
- असहयोग एवं सत्याग्रह मुख्यतया सिद्धांत रूप में ही रहे तथा ज्यादा व्यावहारिक रूप नहीं ले सके।

बिना किसी सुनिश्चित योजना एवं कार्यनीति के किसी भी जन आंदोलन को सही दिशा नहीं दी जा सकती। संभवतः इस आंदोलन के साथ भी यही विसंगति रही।

आंदोलन एक क्रांतिकारी परिवर्तन सिद्ध हुआ

यद्यपि स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफल नहीं हो सका, किंतु इस आंदोलन की उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता। यह आंदोलन आधुनिक भारत के इतिहास की एक प्रमुख घटना थी तथा इसके अत्यंत दूरगामी परिणाम हुए।

- देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता का तीव्र प्रसार करने में स्वदेशी आंदोलन को अपार सफलता मिली। यह आंदोलन विदेशी शासन के विरुद्ध जनता की भावनाओं को

जागृत करने का अत्यंत शक्तिशाली साधन सिद्ध हुआ। अभी तक स्वतंत्रता आंदोलन की राजनीति से पृथक रहने वाले अनेक वर्गों यथा-छात्रों, महिलाओं तथा कुछ ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या ने इस आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। स्वतंत्रता आंदोलन के सभी प्रमुख माध्यमों जैसे—उदारवाद से राजनीतिक अतिवाद, क्रांतिकारी आतंकवाद से प्रारंभिक समाजवाद तथा याचिका एवं प्रार्थना पत्रों से असहयोग एवं सत्याग्रह का अस्तित्व इस आंदोलन में परिलक्षित हुआ।

आंदोलन का प्रभाव क्षेत्र राजनीतिक जगत तक ही सीमित न रहा अपितु साहित्य, विज्ञान एवं उद्योग जगत पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

- आंदोलन से लोगों की तंद्रा टूटी तथा वे साहसिक राजनीतिक भागेदारी एवं राजनीतिक कार्यों में एकता की महत्ता से परिचित हुए।
- स्वदेशी आंदोलन ने उपनिवेशवादी विचारों एवं संस्थाओं की वास्तविक मंशा को लोगों के समक्ष अनावृत्त कर दिया।
- आंदोलन से प्राप्त हुए अनुभवों से स्वतंत्रता संघर्ष की भावी राजनीति को तय करने में सहायता मिली।

उदारवादियों की कार्य पद्धति ने उग्रवादी तरीके को बल प्रदान कियाः स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन ने उदारवादियों की याचिका एवं अनुनय-विनय की नीति को अप्रासंगिक एवं व्यर्थ साबित कर दिया। उदारवादी अपने कार्यक्रम एवं नीतियों को यथोचित गति नहीं प्रदान कर सके। उनकी यह असफलता इस बात से सिद्ध हो गयी कि युवा पीढ़ी ने उनके नेतृत्व को नकार दिया तथा उन्हें सहयोग देने से इंकार कर दिया। जनसहयोग प्राप्त करने में नरमपंथियों की असफलता से यह बात स्पष्ट हो गयी कि उनकी नीतियां भारतीयों में जड़ें नहीं जमा सकीं। नरमपंथी अपने उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का व्यापक प्रचार-प्रसार भी नहीं कर सके। स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के प्रारंभिक चरण में उदारवादी इसे अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने में असफल रहे तथा उनके नेतृत्व में आंदोलन में कोई खास प्रगति नहीं हुई।

लेकिन अतिवादी राष्ट्रवादियों की कार्यप्रणाली में भी एकरूपता का अभाव रहा। इनकी कार्यप्रणाली से अहिंसात्मक एवं वैधानिक आंदोलन के समर्थक असंतुष्ट हो गये। विभिन्न उग्रवादी नेताओं यथा-अरविन्द घोष, बाल गंगाधर तिलक एवं लाला लाजपत के उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न थे। तिलक के लिये स्वराज्य का अर्थ था सीमित स्वशासन, जबकि अरविन्द घोष विदेशी शासन से पूर्ण स्वतंत्रता को स्वराज्य मानते थे। किंतु राजनीतिक एवं सैद्धांतिक स्तर पर ज्यादा से ज्यादा लोगों की सहभागिता पर बल देने एवं आंदोलन का जनाधार बढ़ाने जैसे उद्देश्यों में उग्रवादी, उदारवादियों की तुलना में ज्यादा सफल रहे। अतिवादियों ने शिक्षा के प्रसार तथा सेवा एवं त्याग की भावना को आधार बनाकर भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार करने का सराहनीय कार्य किया। किंतु कहीं-कहीं पर अतिवादी संकीर्णता के

उदारवादियों एवं उग्रवादियों में अंतर

उदारवादी (नरमपंथी)	उग्रवादी (गरमपंथी)
1. सामाजिक आधार-जमींदार एवं शहरों के उच्च मध्यमवर्गीय लोगों के बीच।	1. सामाजिक आधार-शहरों के शिक्षित एवं निम्न मध्यवर्गीय लोगों के बीच।
2. सैद्धांतिक प्रेरणास्रोत-पाश्चात्य उदार विचार एवं यूरोपीय इतिहास।	2. सैद्धांतिक प्रेरणास्रोत-भारतीय इतिहास, सांस्कृतिक विरासत एवं परम्परागत हिन्दू मूल्य।
3. ब्रिटिश न्यायप्रियता में विश्वास।	3. ब्रिटिश न्यायप्रियता में कोई विश्वास या निष्ठा नहीं।
4. इनका विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बंध भारत के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हितों के लिये लाभप्रद होंगे।	4. इनका मानना था कि ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बंध रहने से भारत का आर्थिक शोषण जारी रहेगा।
5. ब्रिटिश ताज के प्रति पूर्ण निष्ठा।	5. इनका विश्वास था कि ब्रिटिश ताज, भारतीय निष्ठा के प्रति अयोग्य है।
6. इनका मानना था कि सरकार विरोधी आंदोलन मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहना चाहिए क्योंकि जनसामान्य अभी राजनीतिक कार्यों में सक्रिय भागेदारी निभाने के लिये तैयार नहीं है।	6. इन्हें जनसामान्य की शक्ति एवं त्याग की भावना में पूर्ण निष्ठा थी।
7. सरकारी सेवाओं में भारतीयों की सहभागिता बढ़ाने एवं संवैधानिक सुधारों की मांग की।	7. भारतीय दुर्दशा को दूर करने हेतु स्वराज्य की मांग की।
8. केवल संवैधानिक दायरे में रहकर लक्ष्य पाने में विश्वास रखते थे।	8. आवश्यकता पड़ने पर लक्ष्य की प्राप्ति के लिये असंवैधानिक तरीकों जैसे–बहिष्कार एवं अहिंसात्मक प्रतिरोध से परहेज नहीं।
9. पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के समर्थक।	9. भारतीय समारोहों के आयोजन तथा प्रेस, शिक्षा एवं भारतीय साहित्य के समर्थक।

भावना के शिकार भी रहे। उनके परंपरागत एवं रूढ़िवादी विचार भी यदा-कदा उनके कार्यों में बाधक बनते रहे। बाल गंगाधर तिलक द्वारा सम्मति आयु अधिनियम का विरोध (इस अधिनियम द्वारा 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया गया), गणपति एवं शिवाजी उत्सव को राष्ट्रीय महोत्सव के रूप में मनाने का निर्णय तथा गोवध पर प्रतिबंध का समर्थन करने जैसे कार्यों से उनकी छवि कट्टर हिन्दू राष्ट्रवादी की बन गई। इसी प्रकार विपिनचंद्र पाल एवं अरविन्द घोष ने भी हिन्दू राष्ट्रवादी हितों का प्रचार किया। इसने कई मुस्लिमों को आंदोलन से दूर कर दिया।

इस प्रकार उग्रवादियों के कार्यों एवं नीतियों से उपनिवेशी शासन को आघात जरूर पहुंचा लेकिन उनके इन कार्यों से धर्म एवं राजनीति के मध्य अस्वस्थ परंपरा की शुरुआत हुई, जिसके दुष्परिणाम कालांतर में भारतीयों को झेलने पड़े।

सूरत विभाजन

स्वतंत्रता आंदोलन के प्रथम चरण में जबकि क्रांतिकारी आतंकवाद धीरे-धीरे गति पकड़ रहा था, दिसम्बर 1907 में कांग्रेस का सूरत विभाजन हुआ। इसका प्रमुख कारण कांग्रेस में दो विपरीत विचाराधाराओं का उदय था।

सूरत का रुख

1905 में जब कांग्रेस का अधिवेशन गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में बनारस में संपन्न हुआ तो उदारवादियों एवं उग्रवादियों के मतभेद खुलकर सामने आ गये। इस अधिवेशन में बाल गंगाधर तिलक ने नरमपंथियों की ब्रिटिश सरकार के प्रति उदार एवं सहयोग की नीति की कटु आलोचना की। तिलक की मंशा थी कि स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन का पूरे बंगाल तथा देश के अन्य भागों में तेजी से विस्तार किया जाये, तथा इसमें अन्य संस्थाओं (यथा–सरकारी सेवाओं, न्यायालयों, व्यवस्थापिका सभाओं इत्यादि) को सम्मिलित कर इसे राष्ट्रव्यापी आंदोलन का स्वरूप दिया जाये, जबकि उदारवादी इस आंदोलन को केवल बंगाल तक ही सीमित रखना चाहते थे तथा अन्य संस्थाओं को इस आंदोलन में सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं थे। उग्रवादी चाहते थे कि बनारस अधिवेशन में उनके प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाये जबकि उदारवादियों का मत था कि बंगाल विभाजन का विरोध संवैधानिक तरीके से किया जाये तथा उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने की नीति का समर्थन नहीं किया। अंततः बीच का रास्ता निकालते हुए एक मध्यमार्गी प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों तथा बंगाल विभाजन की आलोचना की गयी तथा स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन का समर्थन किया गया। इससे कुछ समय के लिये कांग्रेस का विभाजन टल गया।

दिसम्बर 1906 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन

में तत्कालीन साम्प्रदायिक दंगों एवं क्रांतिकारी आतंकवाद तथा उग्रवादियों की लोकप्रियता में वृद्धि के कारण उदारवादियों का प्रभाव कम हो गया। इस अधिवेशन में उग्रवादी, बाल गंगाधर तिलक या लाला लाजपत राय को अध्यक्ष बनाना चाहते थे, जबकि नरमपंथियों ने इस पद हेतु डा. रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया। अंत में दादा भाई नौरोजी सर्वसम्मति से अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये तथा ब्रिटेन या अन्य उपनिवेशों की तरह 'स्वराज्य' या 'स्वशासन' को कांग्रेस ने अपना लक्ष्य घोषित किया। स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के समर्थन में भी एक प्रस्ताव पारित किया गया। इस अधिवेशन में प्रथम बार 'स्वराज्य' शब्द का उपयोग किया गया किंतु इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी, जिससे बाद में इस विषय पर उदारवादियों एवं उग्रवादियों में बहस छिड़ गयी।

कलकत्ता अधिवेशन की उपलब्धियों से उत्साहित होकर उग्रवादियों ने अहिंसात्मक प्रतिरोध तथा शिक्षा संस्थाओं, व्यवस्थापिका सभाओं एवं नगर निकायों इत्यादि का बहिष्कार करने की मांग प्रारंभ कर दी। कलकत्ता अधिवेशन में उदारवादियों के प्रस्तावों को ज्यादा महत्व न मिलने के कारण भी उनमें निराशा बढ़ी। धीरे-धीरे दोनों पक्षों में मतभेद बढ़ने लगे।

उग्रवादियों का मानना था कि इस समय भारतीयों में अभूतपूर्व उत्साह है तथा स्वतंत्रता आंदोलन को पूर्णरूपेण प्रारंभ करने का यह उपयुक्त समय है। उनका मत था कि अब वह समय आ गया है, जब ब्रिटिश शासन पर आघात किया जाये तथा उसे जड़ से उखाड़ फेंका जाये। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि उदारवादी इस कार्य के लिये अनुपयुक्त हैं तथा उन्हें स्वतंत्रता अभियान से अलग कर दिया जाये।

उदारवादियों ने भी यह निष्कर्ष निकाला कि इस समय उग्रवादियों के साम्राज्यवाद विरोधी अभियान से उनका जुड़ना उचित नहीं है, क्योंकि उग्रवादी ब्रिटिश सरकार को हटाने पर तुले हुए हैं। उदारवादी यह विश्वास करने लगे कि निकाय सुधारों के द्वारा प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी का उनका स्वप्न पूरा हो जायेगा। नरमपंथियों ने तर्क दिया कि अतिवादियों के दबाव में कांग्रेस को जल्दबाजी में ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिए, जिससे भारतीय हितों को नुकसान पहुंचे। उदारवादी, अतिवादियों के साथ किसी प्रकार का सहयोग या सम्बंध नहीं चाहते थे।

उदारवादी यह अनुमान नहीं लगा सके कि सरकार द्वारा काउंसिल सुधारों का वास्तविक उद्देश्य अतिवादियों को उदारवादियों से पृथक करना है न कि उदारवादियों को उपहार देना। अतिवादियों ने भी नरमपंथियों के हर कदम का गलत अनुमान लगाया। दोनों ही पक्ष इस बात की महत्ता से परिचित नहीं हो सके कि भारत जैसे विशाल औपनिवेशिक देश को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने के लिये विशाल राष्ट्रवादी आंदोलन एवं आपसी एकता अत्यंत आवश्यक है।

विभाजन सुनिश्चित होना

अतिवादी चाहते थे कि 1907 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नागपुर (मध्य प्रांत) में आयोजित किया जाये तथा बाल गंगाधर तिलक या लाला लाजपत राय इसके अध्यक्ष चुने जायें। साथ ही यहां स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन तथा राष्ट्रीय शिक्षा के पूर्ण समर्थन में एक प्रस्ताव पारित किया जाये। दूसरी ओर उदारवादी चाहते थे कि 1907 का अधिवेशन सूरत में आयोजित किया जाये तथा किसी भी हालत में तिलक को अध्यक्ष न बनने दिया जाये। उन्होंने मेजबान प्रांत के नेता को कांग्रेस का अध्यक्ष न चुने जाने की वकालत की, क्योंकि सूरत, तिलक के गृह प्रांत बम्बई के अंतर्गत आता था। उन्होंने रासबिहारी घोष को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने तथा स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव को वापस लेने की जोरदार मांग की। इस समय दोनों ही पक्षों ने अड़ियल रुख अपना लिया तथा समझौते की किसी भी संभावना से इंकार कर दिया। इन परिस्थितियों में कांग्रेस में विभाजन सुनिश्चित हो गया। चूंकि इस समय कांग्रेस में उदारवादियों का वर्चस्व था, फलतः उन्होंने ब्रिटिश शासन की सीमा में रहते हुए स्वराज्य या स्वशासन की मांग की तथा संवैधानिक तरीके से ही आंदोलन जारी रखने का निर्णय लिया।

सरकार द्वारा दमन

इसके पश्चात सरकार ने अतिवादियों पर सुनियोजित हमले प्रारम्भ कर दिये। 1907 से 1911 के मध्य सरकार विरोधी आंदोलन को कुलचने के लिये पांच नये कानून बनाये गये। इन कानूनों में राजद्रोही सभा अधिनियम 1907, भारतीय समाचार पत्र अधिनियम 1908, फौजदारी कानून (संशोधित) अधिनियम 1908 तथा भारतीय प्रेस अधिनियम 1910 प्रमुख थे। मुख्य अतिवादी नेता बालगंगाधर तिलक को 1909 में देशद्रोह का आरोपी सिद्ध करने का प्रयास किया गया, चूंकि उन्होंने अपने पत्र *केसरी* में 1908 में मुजफ्फरपुर में बंगाल के क्रांतिकारियों द्वारा बम फेंकने के बारे में लिखा, जिसमें दो निर्दोष यूरोपीय महिलाएं मारी गईं।

तिलक ने लिखा किः ''यह, निःसंदेह, ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध कई विद्रोहियों को प्रेरित करेगा। इस प्रकार के घिनौने कृत्य से यह सम्भव नहीं है कि इस देश से ब्रिटिश शासन लुप्त हो जाए। लेकिन असीमित शक्ति का उपयोग करने वाले शासकों को यह याद रखना होगा कि मानवता के धैर्य की भी एक सीमा है। कई अखबारों ने सरकार को चेताया कि यदि वे रूसी तरीकों को अपनाते हैं, तो भारतीय भी रूसी तरीकों की नकल करने को बाध्य हो जाएंगे''। एक अन्य लेख में, तिलक ने लिखा कि बमबारी रोकने का सही अर्थ होगा कि लोगों को 'स्वराज' प्रदान करने के अधिकार की शुरुआत हो रही है। तिलक को दोषी ठहराया गया और उन पर 1,000 रुपए का जुर्माना लगाया गया और छह वर्षों के लिए देश निकाला दिया गया। उन्हें छह वर्षों के लिए मांडलय

जेल (बर्मा) भेज दिया गया। इसी समय विपिनचंद्र पाल तथा अरविंद घोष ने सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिया तथा लाला लाजपत राय विदेश चले गये। अतिवादी आंदोलन को आगे जारी रखने में असफल रहे। उदारवादियों की लोकप्रियता भी कम हो गयी तथा वे युवाओं का सहयोग या समर्थन प्राप्त करने में नाकाम रहे।

1908 के पश्चात कुछ समय के लिये राष्ट्रीय आंदोलन का उन्माद ठंडा पड़ गया। इसमें दुबारा तेजी तब आयी जब 1914 में तिलक जेल से रिहा हुए।

सरकार की रणनीति

कांग्रेस के प्रारंभिक वर्षों में उसके प्रति सरकार का रुख सहयोगात्मक रहा। इस समय कांग्रेस में उदारवादियों का वर्चस्व था। उदारवादियों ने प्रारम्भ से ही उग्र-राष्ट्रवाद से स्वयं को दूर रखना प्रारंभ कर दिया था, जिसका आभास 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक से मिलना प्रारंभ हो गया था। इस समय भी कांग्रेस के प्रति सरकार का उदार रुख यथावत बना रहा क्योंकि अंग्रेजों के दृष्टिकोण से कांग्रेस, साम्राज्यवाद विरोधी तत्वों के विरुद्ध थी तथा राष्ट्रवादी एवं उदार शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी।

किंतु बाद के वर्षों में स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के उभरने से कांग्रेस के प्रति सरकार का मोह भंग हो गया तथा उसने राष्ट्रवादियों के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लिया।

सरकार की इस नीति को तीन प्रमुख शब्दों 'अवरोध, सांत्वना एवं दमन' के रूप में समझा जा सकता है। अपनी इस रणनीति के प्रथम चरण में सरकार ने उदारवादियों को डराने हेतु अतिवादियों के साधारण दमन की नीति अपनायी। द्वितीय चरण में सरकार एवं उदारवादियों के मध्य कुछ मुद्दों पर सहमति हुई तथा सरकार ने उदारवादियों को आश्वासन दिया कि यदि वे अतिवादियों से स्वयं को अलग रखें तो भारत में और संवैधानिक सुधार संभव हो सकते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य उदारवादियों को अतिवादियों से पृथक करना था। इस प्रकार उदारवादियों को अपने पक्ष में करने के पश्चात सरकार के लिये अतिवादियों के दमन का मार्ग आसान हो गया। किंतु बाद में उदारवादी भी सरकार की उपेक्षा के शिकार बन गये।

दुर्भाग्यवश जबकि राष्ट्रवादियों में समन्वय की अत्यंत आवश्यकता थी, उदारवादी तथा अतिवादी दोनों ही अंग्रेजों की रणनीति के शिकार हो गये तथा वे सरकार की वास्तविक मंशा को नहीं समझ सके। कांग्रेस का सूरत विभाजन अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार की इसी रणनीति का प्रतिफल था, जिसके तहत नरमपंथी तथा अतिवादी एक-दूसरे से दूर होते गये तथा उनके मतभेद सूरत अधिवेशन में खुलकर सामने आ गये।

मार्ले-मिन्टो सुधार—1909

अक्टूबर 1906 में आगा खां के नेतृत्व में एक मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल, जिसे **शिमला** प्रतिनिधिमण्डल कहा जाता है, वायसराय लार्ड मिन्टो से मिला और मांग की कि मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की जाये तथा मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाये। प्रतिनिधिमंडल ने तर्क दिया कि 'उनकी साम्राज्य की सेवा' के लिये उन्हें पृथक सामुदायिक प्रतिनिधित्व दिया जाये। 1906 में ढाका में नवाब सलीमुल्लाह, नवाब मोहसिन-उल-मुल्क और वकार-उल-मुल्क द्वारा मुस्लिम लीग की स्थापना की गयी थी। लार्ड मिन्टो से मिलने वाला यह प्रतिनिधिमंडल शीघ्र ही मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गया। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों को साम्राज्य के प्रति निष्ठा प्रकट करने की शिक्षा दी तथा मुस्लिम बुद्धिजीवियों को कांग्रेस से पृथक रखने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त कांग्रेस द्वारा प्रतिवर्ष सुधारों की मांग करने, नरम दल को संतुष्ट करने, अतिवादियों के प्रभाव को कम करने तथा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद को रोकने के लिये भी सुधार किया जाना आवश्यक हो गया था।

अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों के समान स्वशासन की कांग्रेस की मांग को ब्रिटिश शासन के सम्मुख रखने के लिए गोपाल कृष्ण गोखले भी जॉन मॉर्ले, भारत सचिव, से मिलने इंग्लैंड चले गए।

मुख्य सुधार

वायसराय, लॉर्ड मिन्टो, और भारत सचिव, जान मॉर्ले, उदारवादियों और मुस्लिमों द्वारा प्रस्तुत कुछ सुधारों पर सहमत हुए। उन्होंने सुधारों और उपायों का एक दस्तावेज तैयार किया, जिसे मॉर्ले-मिन्टो (या मिन्टो-मॉर्ले) सुधार के नाम से जाना गया और जो भारतीय परिषद् अधिनियम 1909 के रूप में रूपांतरित हुआ।

- इस अधिनियम के अनुसार, केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गयी। प्रांतीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत स्थापित किया गया। किंतु गैर-सरकारी सदस्यों में नामांकित एवं बिना चुने सदस्यों की संख्या अधिक थी, जिसके कारण निर्वाचित सदस्यों की तुलना में अभी भी उनकी संख्या अधिक बनी रही।

- सुमित सरकार के अनुसार, केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में 60 सदस्य और 9 पदेन सदस्य होते थे। इन 69 सदस्यों में से 37 सरकारी अधिकारी और 32 गैर-सरकारी सदस्य थे। 32 गैर-सरकारी सदस्यों में से 5 नामजद एवं 27 चुने हुए सदस्य थे। निर्वाचित 27 सदस्यों में से 8 सीटें पृथक् निर्वाचन क्षेत्र के अंतर्गत मुस्लिमों के लिए आरक्षित थीं, जबकि 4 सीटें ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए तथा 2 सीटें जमींदारों के लिए आरक्षित थीं और 13 सीटें सामान्य निर्वाचन के अंतर्गत आती थीं।

प्रमुख विचार

ये सुधार ब्रिटिश राज्य को सुरक्षित नहीं कर देंगे किंतु इन सुधारों से भारतीयों को कुछ प्राप्त भी नहीं होगा।

लार्ड मारले

1909 के सुधारों द्वारा पृथक निवार्चक मंडल स्थापित करके हम नाग के दांत बो रहे हैं। इसके परिणाम भीषण होंगे।

लार्ड मारले (लार्ड मिंटो को एक पत्र में)

1909 के सुधारों से भारतीय राजनीतिक प्रश्न का न कोई हल हो सकता है और न ही इससे वह हो सका।

मांटफोर्ड रिपोर्ट

उनके चारों ओर राजनीतिक घेरेबंदी कर दी गयी, उन्हें शेष भारत से पृथक कर दिया गया, एक ऐसी प्रक्रिया की शुरुआत की गयी जिसका प्रभाव कई वर्षों तक रहा. .....प्रारंभ में यह घेराबंदी अत्यंत छोटी थी, मतदाताओं के लिये अत्यंत सीमित थी, किंतु धीरे-धीरे इसके विकसित होने के साथ ही इसने पूरी राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करना आरंभ कर दिया। इसका प्रभाव ठीक उसी प्रकार था, जिस प्रकार कैंसर धीरे-धीरे शरीर के सभी अंगों को विनष्ट कर देता है।

जवाहरलाल नेहरू

मार्ले-मिंटो सुधारों ने उभरते हुए प्रजातंत्र को जान से मार डाला है।

के.एम. मुंशी

● निर्वाचित सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे। स्थानीय निकायों से निर्वाचन परिषद का गठन होता था। ये प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्यों का निर्वाचन करती थीं। प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्य केंद्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन करते थे।

● इस अधिनियम द्वारा मुसलमानों के लिये पृथक सामुदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली लागू की गयी। साथ ही मुसलमानों को प्रतिनिधित्व के मामले में विशेष रियायत दी गयी। उन्हें केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषद में जनसंख्या के अनुपात में अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। मुस्लिम मतदाताओं के लिये आय की योग्यता को भी हिन्दुओं की तुलना में कम रखा गया।

● व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारों में वृद्धि की गयी। सदस्यों को आर्थिक प्रस्तावों पर बहस करने, उनके विषयों में संशोधन प्रस्ताव रखने, उनको कुछ विषयों पर मतदान करने, प्रश्न पूछने, साधारण प्रश्नों पर मतदान करने, साधारण प्रश्नों पर बहस करने तथा सार्वजनिक हित के प्रस्तावों को प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया। व्यवस्थापिकाओं को इतने अधिकार देने के पश्चात भी गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को व्यवस्थापिकाओं में प्रस्तावों को ठुकराने का अधिकार था।

• गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य को नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी। पहले भारतीय सदस्य के रूप में सत्येंद्र सिन्हा को नियुक्त किया गया।

सुधार का मूल्यांकन

1909 के सुधारों से भारतीय राजनैतिक प्रश्न का न कोई हल हो सकता था और न ही इससे वह निकला। अप्रत्यक्ष चुनाव, सीमित मताधिकार तथा विधान परिषद की सीमित शक्तियों ने प्रतिनिधि सरकार को मिश्रण सा बना दिया। लार्ड मार्ले ने स्पष्ट तौर पर कहा कि भारत स्वशासन के योग्य नहीं है। कांग्रेस द्वारा प्रतिवर्ष स्वशासन की मांग करने के पश्चात भी मार्ले ने स्पष्ट तौर पर उसे ठुकरा दिया। उसने भारत में संसदीय शासन व्यवस्था या उत्तरदायी सरकार की स्थापना का स्पष्ट विरोध किया। उसने कहा 'यदि यह कहा जाये कि सुधारों के इस अध्याय से भारत में सीधे अथवा अवश्यंभावी संसदीय व्यवस्था स्थापित करने अथवा होने में सहायता मिलेगी तो मेरा इससे कोई संबंध नहीं होगा'।

वास्तव में 1909 के सुधारों का मुख्य उद्देश्य उदारवादियों को दिग्भ्रमित कर राष्ट्रवादी दल में फूट डालना तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को अपना कर राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करना था। सरकार इन सुधारों द्वारा नरमपंथियों एवं मुसलमानों को लालच देकर राष्ट्रवाद के उफान को रोकना चाहता थी। सरकार एवं मुस्लिम नेताओं ने जब भी द्विपक्षीय वार्ता की, उसका मुख्य विषय पृथक निर्वाचन प्रणाली ही रहा किंतु वास्तव में इस व्यवस्था से मुसलमानों का छोटा वर्ग ही लाभान्वित हो सका।

इस अधिनियम के अंतर्गत जो चुनाव पद्धति अपनायी गयी वह इतनी अस्पष्ट थी कि जन प्रतिनिधित्व प्रणाली एक प्रकार से बहुत सी छन्नियों में से छानने की क्रिया बन गयी। कुछ लोग स्थानीय निकायों का चुनाव करते थे, ये सदस्य चुनाव मण्डलों का चुनाव करते थे और ये चुनाव मण्डल प्रांतीय परिषदों के सदस्यों का चुनाव करते थे और यही प्रांतीय परिषदों के सदस्य केंद्रीय परिषद के सदस्यों का चुनाव करते थे। सुधारों को कार्यान्वित करते हुए बहुत सी गड़बड़ियां उत्पन्न हो गयीं। संसदीय प्रणाली तो दे दी गयी परंतु उत्तरदायित्व नहीं दिया गया, जिससे सरकार की विवेकहीन तथा उत्तरदायी प्रक्रिया की आलोचना की जाने लगी। भारतीय नेताओं ने विधान मण्डलों को सरकार की कटु आलोचना करने का मंच बना लिया। केवल गोपाल कृष्ण गोखले जैसे कुछ भारतीय नेता ही इस अवसर का वास्तविक उपयोग कर सके। उन्होंने सभी के लिये प्राथमिक शिक्षा, सरकार की दमनकारी नीतियों की आलोचना तथा दक्षिण अफ्रीका में भारतीय मजदूरों पर हो रहे अत्याचार जैसे मुद्दों को उठाकर इस मंच का सही अर्थों में उपयोग किया।

यद्यपि इस अधिनियम द्वारा चुनाव प्रणाली के सिद्धांत को भारत में पहली बार मान्यता मिली, गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद में पहली बार भारतीयों को

प्रतिनिधित्व मिला तथा केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्यों को कुछ सीमित अधिकार प्रदान किये गये, किंतु अधिनियम की औसत उपलब्धियां नगण्य ही रहीं। 1909 के सुधारों से जनता को केवल 'नाममात्र' सुधार ही प्राप्त हुए, वास्तविक रूप से कुछ नहीं। इससे प्रभाव तो मिला पर शक्ति नहीं। शासन का उत्तरदायित्व अन्य वर्ग को और शक्ति अन्य वर्ग को सौंप दी गई। ऐसी स्थिति पैदा हो गयी कि विधानमण्डल तथा कार्यकारिणी के बीच कड़वाहट बढ़ गयी तथा भारतीयों और सरकार के सम्बंध और बदतर हो गये। 1909 के सुधारों से जनता ने कुछ और ही चाहा था और उन्हें कुछ और ही मिला। भारतीयों ने स्वशासन की मांग की तथा उन्हें 'हितवादी निरंकुशता' सौंप दी गयी। इन सुधारों के संबंध में महात्मा गांधी ने कहा 'मार्ले-मिन्टो सुधारों ने हमारा सर्वनाश कर दिया'।

सारांश

- **उग्र राष्ट्रवाद के उदय के कारण**
  1. अंग्रेजी राज्य के सही स्वरूप की पहचान—भारतीयों द्वारा यह महसूस किया जाना कि ब्रिटिश शासन का स्वरूप शोषणात्मक है तथा वह भारत की आर्थिक प्रगति के स्थान पर उपलब्ध संसाधनों का शोषण करने में लगी हुई है।
  2. भारतीयों के आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान में वृद्धि।
  3. शिक्षा में विकास का प्रभाव—इसके फलस्वरूप भारतीयों में जागृति आयी तथा बेरोजगारी बढ़ी। बेरोजगारी में वृद्धि के लिये भारतीयों ने अंग्रेजों को उत्तरदायी ठहराया।
  4. अंतरराष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव—तत्कालीन विभिन्न अंतरराष्ट्रीय घटनाओं ने यूरोपीय अजेयता के मिथक को तोड़ दिया। इन घटनाओं में प्रमुख हैं—
     i. एक छोटे से देश जापान का आर्थिक महाशक्ति के रूप में अभ्युदय
     ii. इथियोपिआ (अबीसीनिया) की इटली पर विजय
     iii. ब्रिटेन की सेनाओं को गंभीर क्षति पहुंचाने वाला बोअर का युद्ध (1899-1902)
     iv. जापान की रूस पर विजय (1905)
     v. विश्व के अनेक देशों के राष्ट्रवादी क्रांतिकारी आंदोलन
  5. बढ़ते हुए पश्चिमीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया।
  6. उदारवादियों की उपलब्धियों से असंतोष।
  7. लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियां, जैसे—कलकत्ता कार्पोरेशन अधिनियम (1899), कार्यालय गोपनीयता अधिनियम (1904), भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (1904) एवं बंगाल का विभाजन (1905)।
  8. जुझारू राष्ट्रवादी विचारधारा।
  9. एक प्रशिक्षित नेतृत्व।

- **उग्रवादियों के सिद्धांत**
  1. ब्रिटिश शासन से घृणा।
  2. जनसमूह की शक्ति एवं ऊर्जा में विश्वास।
  3. स्वराज्य मुख्य लक्ष्य।
  4. प्रत्यक्ष राजनीतिक भागीदारी एवं आत्म-त्याग की भावना में विश्वास।
  5. भारतीय संस्कृति एवं मूल्यों में विश्वास।
  6. भारतीय समारोहों के आयोजन के पक्षधर।
  7. प्रेस तथा शिक्षा में विकास के पक्षधर।
- **स्वदेशी तथा बहिष्कार आंदोलन**
  - ☆ **बंगाल विभाजन, (जो कि 1903 में सार्वजनिक हुआ तथा 1905 में लागू किया गया) के विरोध में प्रारम्भ हुआ।** बंगाल विभाजन के पीछे सरकार की वास्तविक मंशा बंगाल को दुर्बल करना था क्योंकि उस समय बंगाल भारतीय राष्ट्रवाद का प्रमुख केंद्र था। बंगाल विभाजन के लिये सरकार ने तर्क दिया कि बंगाल की विशाल आबादी के कारण प्रशासन का सुचारु रुप से संचालन कठिन हो गया है। यद्यपि कुछ सीमा तक सरकार का यह तर्क सही था किन्तु उसकी वास्तविक मंशा कुछ और ही थी। विभाजन के फलस्वरूप सरकार ने बंगाल को दो भागों में विभक्त कर दिया। पहले भाग में पूर्वी बंगाल तथा असम और दूसरे भाग में शेष बंगाल को रखा गया।
  - ☆ **उदारवादियों का बंगाल विभाजन विरोधी अभियान (1903-1905)** उदारवादी, जिन्होंने बंगाल विभाजन के विरोध अभियान में सक्रिय भूमिका निभायी, उनमें सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, के.के. मिश्रा एवं पृथ्वीशचन्द्र राय प्रमुख थे। उदारवादियों ने विरोध स्वरूप जो तरीके अपनाये, वे थे—जनसभाओं का आयोजन, याचिकायें, संशोधन प्रस्ताव तथा पम्फलेट्स एवं समाचार पत्रों के माध्यम से विरोध।
  - ☆ **बंगाल विभाजन के संबंध में उग्रराष्ट्रवादियों की गतिविधियां:** बंगाल विभाजन के विरोध में सक्रिय भूमिका निभाने वाले प्रमुख उग्रवादी नेता थे—बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्रपाल, लाला लाजपत राय एवं अरविन्द घोष।
  - ☆ **विरोध के तरीके:** विदेशी वस्तुओं एवं विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, जनसभाओं का आयोजन एवं उग्र प्रदर्शन, स्वयंसेवी संगठनों एवं समितियों का गठन, विरोध प्रदर्शन हेतु परम्परागत लोकप्रिय त्योहारों एवं मेलों का आयोजन, आत्म विश्वास या आत्म-शक्ति की भावना पर बल, स्वदेशी या राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रम, स्वदेशी या भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन, भारतीय संगीत एवं भारतीय चित्रकला को नया आयाम, विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान को प्रोत्साहन, शिक्षा संस्थाओं, स्थानीय निकायों, सरकारी सेवाओं इत्यादि का बहिष्कार।

☆ **विरोध आन्दोलन की बागडोर उग्रवादियों द्वारा अपने हाथ में लेने का कारणः**

1. उदारवादियों के नेतृत्व में आन्दोलन का विशेष परिणाम न निकलना।
2. उदारवादियों के संवैधानिक तरीकों से उग्रवादी असहमत थे।
3. विरोध अभियान को असफल बनाने हेतु सरकार की दमनकारी नीतियां।

☆ **आंदोलन का सामाजिक आधारः** छात्र, महिलायें, जमींदारों का एक वर्ग तथा शहरी निम्न वर्ग एवं साधारण वर्ग। शहरों एवं कस्बों के मध्य वर्ग ने पहली बार किसी राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी, जबकि मुसलमान सामान्यतया आंदोलन से पृथक रहे।

☆ **बंगाल विभाजन का रद्द होनाः** क्रांतिकारी आतंकवाद के उभरने के भय से 1911 में सरकार ने बंगाल विभाजन रद्द कर दिया।

- **स्वदेशी आंदोलन की असफलता के कारण**

सरकार की कठोर दमनात्मक कार्यवाइयां।

प्रभावी संगठन का अभाव एवं अनुशासनात्मक दिशाहीनता।

सभी प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी से आंदोलन का नेतृत्वविहीन होना।

राष्ट्रवादी नेताओं की आपसी कलह।

संकुचित सामाजिक जनाधार।

- **आंदोलन की मुख्य उपलब्धियां**

'व्यापक सामाजिक प्रभाव' क्योंकि समाज के अब तक के निष्क्रिय वर्ग ने बड़ी सक्रियता के साथ आंदोलन में भाग लिया, आगे के आंदोलनों को इस आंदोलन ने प्रभावी दिशा एवं उत्साह दिया, सांस्कृतिक समृद्धि में बढ़ोत्तरी, विज्ञान एवं साहित्य को बढ़ावा, भारतीय साहसिक राजनीतिक भागीदारी एवं राजनैतिक एकता की महत्ता से परिचित हुए। भारतीयों के समक्ष उपनिवेशवादी विचारों और संस्थाओं की वास्तविक मंशा उजागर हो गयी।

- **कांग्रेस का सूरत विभाजन (1907): प्रमुख कारणः**

उदारवादीः स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन को केवल बंगाल तक ही सीमित रखना चाहते थे तथा वे केवल विदेशी कपड़ों और शराब का बहिष्कार किये जाने के पक्षधर थे।

उग्रवादीः स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन को न केवल पूरे बंगाल अपितु देश के अन्य भागों में भी चलाये जाने तथा इसमें विदेशी कपड़ों एवं शराब के साथ सभी सरकारी संस्थाओं, शिक्षा संस्थाओं, न्यायालयों, व्यवस्थापिका सभाओं, सरकारी सेवाओं तथा नगर निकायों इत्यादि के बहिष्कार का मुद्दा भी सम्मिलित किये जाने की मांग कर रहे थे।

- **स्वदेशी आंदोलन के दमन हेतु सरकार द्वारा किये गये प्रयास**

राजद्रोही सभा अधिनियम, 1907

फौजदारी कानून (संशोधित) अधिनियम, 1908
भारतीय समाचार पत्र अधिनियम, 1908
विध्वंसक पदार्थ अधिनियम, 1908
भारतीय प्रेस अधिनियम, 1910

- **मार्ले-मिन्टो सुधार (1909)**

केंद्रीय एवं प्रांतीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि।

गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों की संख्या अभी भी नामजद एवं बिना चुने हुए सदस्यों की संख्या से कम थी। मुसलमानों के लिये पृथक सामुदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की व्यवस्था।

निर्वाचित सदस्यों का चयन अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता था। इस प्रकार भारत में पहली बार चुनाव प्रणाली प्रारम्भ हुई।

व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारों में वृद्धि की गयी। सदस्यों को आर्थिक प्रस्तावों पर बहस करने, उनके विषयों में संशोधन प्रस्ताव रखने, कुछ विषयों पर मतदान करने, प्रश्न पूछने, साधारण प्रश्नों पर बहस करने तथा सार्वजनिक हित के प्रस्तावों को प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया।

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य को नियुक्त करने की व्यवस्था।

इन सुधारों के पीछे सरकार की मंशा थी कि राष्ट्रवादियों को आपस में विभाजित कर दिया जाये। नरमपंथियों एवं मुसलमानों को लालच देकर सरकार के पक्ष में कर लिया जाये।

विधान परिषद् के सदस्यों के उत्तरदायित्वों को स्पष्ट रूप से परिभाषित न करने के कारण अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो गयीं।

निर्वाचन की पद्धति बहुत ज्यादा अस्पष्ट थी।

मुसलमानों हेतु पृथक निर्वाचन प्रणाली प्रारम्भ करना कालान्तर में राष्ट्रीय एकता के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ।

अध्याय 13

क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रथम चरण (1907-1917)

क्रांतिकारी गतिविधियों की लहर

उग्र-राष्ट्रवाद के विकास के उपोत्पाद के रूप में क्रांतिकारी गतिविधियों की शुरुआत हुई। स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के मंद पड़ने के पश्चात्, क्रांतिकारी गतिविधियों के प्रथम चरण, जो 1917 तक जारी रहा, का तेजी से विकास हुआ (क्रांतिकारी गतिविधियों के दूसरे चरण का प्रारंभ असहयोग आंदोलन की असफलता के परिणामस्वरूप हुआ)।

उदारवादियों के नेतृत्व में आंदोलन की असफलता के पश्चात युवा राष्ट्रवादियों का मोह भंग हो गया। वे युवा, जिन्होंने इस आंदोलन में बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया था, हताश हो गये तथा अपनी राष्ट्रवादी ऊर्जा की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त मंच की तलाश करने लगे। उग्रवादियों के उग्र तेवर भी क्रांतिकारी गतिविधियों के उदय में सहायक रहे। इनके कार्यकलापों से ऐसे युवा राष्ट्रवादियों को प्रोत्साहन मिला। अतिवादियों ने हालांकि अपने अभियान में बड़ी संख्या में युवाओं को सम्मिलित किया तथा उन्हें त्याग करने की प्रेरणा दी, किंतु वे एक प्रभावी संगठन बनाने या तरुणों की क्रांतिवादी भावनाओं को स्वतंत्रता अभियान हेतु उपयोग करने में असफल रहे। अंततः युवाओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के सभी तत्कालीन साधनों को अनुपयुक्त पाया तथा निष्कर्ष निकाला कि यदि उपनिवेशी शासन को समाप्त करना है तो हिंसक तरीके अपनाना आवश्यक है। उन्होंने यूरोपीय प्रशासकों की हत्या करके उनका मनोबल कम करने, प्रशासन को ठप्प करने तथा स्वतंत्रता के भारतीय तथा अंग्रेज विरोधियों का समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हत्या, डकैती, लूट इत्यादि सभी हिंसक गतिविधियों को उन्होंने वैध माना।

क्रांतिकारी कार्यक्रम

क्रांतिकारियों ने निर्णय किया कि अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिये सभी भारतीयों को हिंसक गतिविधियों में सहयोग करना चाहिए। इसके लिये एक राष्ट्रव्यापी हिंसक आंदोलन चलाया जाये तथा साम्राज्यवादियों एवं उसके समर्थकों का दमन किया जाये। क्रांतिकारियों ने रूसी निहिलिस्टों एवं आयरलैंड के क्रांतिकारियों से प्रेरणा ली। क्रांतिकारियों के कार्यक्रमों में-व्यक्तिगत तौर पर हिंसक कार्य करना, ब्रिटिश अधिकारियों उनके समर्थकों एवं सहयोगियों की हत्या करना, डकैती डालकर क्रांतिकारी गतिविधियों के लिये धन एकत्र करना तथा सरकार विरोधी लोगों के सहयोग से सैनिक कार्यवाही करने जैसी गतिविधियां सम्मिलित थीं।

क्रांतिकारी चाहते थे कि हिंसात्मक कार्यों के द्वारा शासकों को आतंकित किया जाये तथा भारतीयों के इस भय को दूर किया जाये कि अंग्रेज शक्तिशाली एवं अजेय हैं। इन्होंने राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रसार कर भारतीयों से उनके कार्यों में सहयोग देने की अपील की तथा युवाओं से इस कार्य के लिये आगे आने का आह्वान किया, क्योंकि बड़ी संख्या में अंग्रेजों ने तरुणों का दमन किया था। अतिवादी भी अपने कार्यों से क्रांतिकारी गतिविधियों को रोकने में सफल नहीं हुए, उल्टे उन्होंने इसके उदय में अप्रत्यक्ष रूप से उत्प्रेरक की भूमिका निभायी।

क्रांतिकारी, वे प्रेरणा जिसे उदारवादी दल ने लोकप्रिय बनाया था तथा धीमे प्रभाव की नीति, जिसे उग्रवादियों ने अपनाया था, दोनों में विश्वास नहीं रखते थे। क्रांतिकारियों का मानना था कि साम्राज्यवादी शासन भारत की धार्मिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता, संस्कृति, सभ्यता एवं नैतिक मूल्यों इत्यादि सभी को विनष्ट कर देगा। इन क्रांतिकारियों का एकमात्र उद्देश्य मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त करना था।

क्रांतिकारी गतिविधियों का अवलोकन

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भारत एवं विदेशों में क्रांतिकारियों द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों को निम्न परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है–

बंगाल

बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन का सूत्रपात भद्रलोक समाज से हुआ। 1870 तक कलकत्ता में छात्रों द्वारा अनेक गुप्त समितियों का गठन किया जा चुका था, किंतु ये समितियां ज्यादा सक्रिय नहीं हो सकीं। बंगाल में क्रांतिकारियों का प्रथम गुप्त संगठन **अनुशीलन समिति** था, जिसका गठन 1902 में किया गया। मिदनापुर में ज्ञानेंद्रनाथ बसु ने इसकी स्थापना की, जबकि कलकत्ता में इसका गठन पी. मित्रा ने किया। कलकत्ता की अनुशीलन समिति में जतीन्द्रनाथ बनर्जी एवं बारीन्द्र कुमार घोष जैसे

प्रसिद्ध क्रांतिकारी इसके सदस्य थे। किंतु अनुशीलन समिति की गतिविधियां, अपने अनुयायियों को शारीरिक एवं नैतिक प्रशिक्षण देने तक ही सीमित रहीं तथा 1908 तक आते-आते यह लगभग निष्क्रिय हो गयीं।

अप्रैल 1906 में अनुशीलन समिति के दो सदस्यों बारीन्द्र कुमार घोष और भूपेंद्रनाथ दत्ता ने *युगांतर* नामक सप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसी समय अनुशीलन समिति के सदस्यों ने कुछ क्रांतिकारी गतिविधियां भी संपन्न कीं। 1905-06 तक युगांतर के अतिरिक्त कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने भी क्रांतिकारी विचारों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, जिनमें *संध्या* का नाम प्रमुख है। किंतु बंगाल में क्रांतिकारी विचारधारा के प्रचार-प्रसार में सबसे प्रमुख कार्य युगांतर ने ही किया। उदाहरणार्थ-बरिशाल सम्मेलन के प्रतिनिधियों पर पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों का विरोध करते हुये युगांतर ने लिखा कि 'समस्या का समाधान लोगों द्वारा ही किया जा सकता है, भारत में निवास करने वाले 30 करोड़ लोगों के उपनिवेशी दमन एवं शोषण को रोकने हेतु 60 करोड़ हाथों का उपयोग करना चाहिए, ताकत को ताकत द्वारा ही रोका जा सकता है'। युगांतर के कुछ प्रमुख लेखों का संग्रह 'मुक्ति कौन पाथे' (मुक्ति किस मार्ग से) नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में भारतीय सैनिकों से भारतीय क्रांतिकारियों को हथियार देने का आग्रह किया गया।

रासबिहारी बोस एवं सचिन सन्याल ने दूरदराज के क्षेत्रों यथा पंजाब, दिल्ली एवं संयुक्त प्रांत में क्रांतिकारी गतिविधियों के विकास हेतु अनेक गुप्त समितियों का गठन किया, जबकि हेमचंद्र कानूनगो ने राजनीतिक एवं सैन्य प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु विदेशों की यात्रा की।

1907 में *युगांतर* समूह के सदस्यों ने पूर्वी बंगाल के भूतपूर्व अलोकप्रिय लेफ्टिनेंट गवर्नर फुलर, जो 16 अक्टूबर 1905-20 अगस्त 1906 तक पूर्वी बंगाल और असम के लेफ्टिनेंट गवर्नर रहे, की हत्या का असफल प्रयास किया।

दिसंबर 1907 में, रेल की पटरी उड़ाने का प्रयास किया गया, जिसमें लेफ्टिनेंट-गवर्नर, एंड्रयू फ्रेजर यात्रा कर रहे थे।

1908 में मुजफ्फरपुर जिले के न्यायाधीश किंग्सफोर्ड की हत्या करने के उद्देश्य से खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने उनकी गाड़ी पर बम फेंका। मुख्य प्रेसीडेंसी दण्डनायक के रूप में किंग्सफोर्ड ने युवकों को छोटे-छोटे अपराधों के लिये बड़ी-बड़ी सजायें दी थीं। लेकिन गलती से बम श्री कैनेडी की गाड़ी पर लग गया, जिससे दो महिलायें मारी गयीं। इसके पश्चात प्रफुल्ल चाकी एवं खुदीराम बोस पकड़े गये। प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली तथा खुदीराम बोस पर मुकदमा चलाकर उन्हें फांसी दे दी गयी।

सरकार ने मानिकटोला उद्यान एवं कलकत्ता में अवैध हथियारों की तलाशी के लिये अनेक स्थानों पर छापे मारे तथा 34 व्यक्तियों को बंदी बनाया गया। इनमें दो घोष

बंधु, अरविन्द तथा बरिन्द्र घोष भी शामिल थे। इन पर 'अलीपुर षड़यंत्र काण्ड' का अभियोग चलाया गया। मुकदमें के दिनों में पुलिस डिप्टी सुपरिटेंडेंट, सरकारी प्रॉसीक्यूटर तथा सरकारी गवाह नरेंद्र गोसांई की हत्या कर दी गयी। नरेंद्र गोसाईं की हत्या जेल में की गयी, 1908 में पुलिस डिप्टी सुपरीटेंडेंट को कलकत्ता हाईकोर्ट में गोली मार दी गयी। 1909 में कलकत्ता में सरकारी प्रॉसीक्यूटर की हत्या कर दी गयी। पुलिन दास के नेतृत्व में ढाका अनुशीलन समिति के सदस्यों ने बारा में डकैती डाली।

तत्कालीन अनेक समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं में क्रांतिकारियों की इन गतिविधियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गयी। बंगाल में *सन्धा* एवं *युगांतर* तथा महाराष्ट्र में *काल* में क्रांतिकारियों के कार्यों को सही बताते हुए उनके समर्थन में अनेक लेख लिखे गये।

अंत में कहा जा सकता है कि क्रांतिकारी गतिविधियां, स्वदेशी आंदोलन की असफलता के पश्चात उदय हुईं तथा इसने तत्कालीन युवा पीढ़ी में राष्ट्रवाद की एक नयी भावना का संचार किया। किंतु धर्म पर अत्यधिक बल देने के कारण मुसलमानों का समर्थन इसे नहीं मिला तथा मुस्लिम युवाओं ने इसमें भाग नहीं लिया। क्रांतिकारी गतिविधियों का सामाजिक आधार भी ज्यादा व्यापक नहीं था तथा बंगाल में उच्च वर्ग ने ही इसे सबसे ज्यादा समर्थन एवं सहयोग प्रदान किया। संकुचित सामाजिक आधार एवं व्यापक जनसहयोग के अभाव में यह सरकारी दमन को बर्दाश्त नहीं कर सका तथा धीरे-धीरे इसका अस्तित्व समाप्त हो गया।

महाराष्ट्र

1918 की विद्रोह समिति की रिपोर्ट के अनुसार, भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रारंभ सर्वप्रथम महाराष्ट्र में ही हुआ। यहां क्रांतिकारी गतिविधियों का शुभारम्भ वासुदेव बलवंत फड़के के *रामोसी कृषक दल* ने 1879 में किया। इस दल ने सशस्त्र विद्रोह के जरिये देश से अंग्रेजों को खदेड़ने की योजना बनायी। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने संचार लाइनों को नष्ट कर सरकारी संचार सेवा को ठप्प करने का प्रयास किया। इन्होंने क्रांतिकारी गतिविधियों हेतु धन एकत्र करने के लिये अनेक स्थानों पर डकैतियां डालीं। किंतु 1890 में इसके पूर्ण विकास से पहले ही सरकार ने बर्बरतापूर्वक इसका दमन कर दिया। बाल गंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र के लोगों में स्वराज्य के प्रति प्यार और अंग्रेज विरोधी भावनाओं को जगाने के लिये गणपति त्योहार और शिवाजी त्योहार मनाया तथा अपने समाचार-पत्रों *मराठा* एवं *केसरी* में अनेक लेख लिखे। तिलक के दो शिष्यों दामोदर चापेकर एवं बालकृष्ण चापेकर ने 1897 में पूना में प्लेग समिति के प्रधान श्री रैण्ड एवं लैफ्टिनेंट एयर्स्ट की हत्या कर दी। बाद में चापेकर बन्धु पकड़े गये तथा उन्हें फांसी की सजा दी गयी। विनायक दामोदर सावरकर एवं उनके भाई गणेश दामोदर सावरकर ने 1899 में एक गुप्त सभा 'मित्र मेला' का गठन किया, मैजिनी की तरुण इटली की तर्ज पर) जिससे 1904 में 'अभिनव भारत' की स्थापना हुई। शीघ्र ही बम्बई, पूना एवं नासिक बम बनाने वाले

केंद्रों के रूप में उभरे। 1909 में नासिक के जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की अभिनव भारत के एक सदस्य अनन्त कान्हेर ने हत्या कर दी।

पंजाब

पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियों के उदय में अनेक तत्वों ने सम्मिलित भूमिका निभायी। इनमें लगातार दो अकालों के बावजूद भू-राजस्व एवं सिंचाई करों में अत्यधिक वृद्धि, जमींदारों द्वारा आरोपित बेगार प्रथा एवं बंगाल की घटनायें प्रमुख हैं। इसके साथ ही लाला लाजपत राय एवं भगत सिंह के चाचा अजीत सिंह ने भी पंजाब में क्रांतिकारी आतंकवाद के उदय में महत्वपूर्ण योगदान दिया। लाला लाजपत राय ने अपने समाचार पत्र *पंजाबी* के माध्यम से पंजाब के लोगों को किसी भी स्थिति में स्वयं के प्रयासों द्वारा उत्पीड़न का विरोध करने हेतु प्रोत्साहित किया। जबकि अजीत सिंह ने लाहौर में 'अन्जुमन-ए- मोहिसबान-ए-वतन' नामक क्रांतिकारी समिति का गठन किया तथा *भारत माता* नामक पत्र का प्रकाशन किया। अजीत सिंह ने *भारत माता* में अनेक क्रांतिकारी लेख लिखे तथा लोगों से दमन एवं उत्पीड़न का विरोध करने हेतु आगे आने का आह्वान किया। प्रारम्भ में अजीत सिंह एवं उनके समर्थकों ने चिनाब तथा बारी-दोआब नहरी क्षेत्रों के किसानों पर लगाये गये भारी भूमि-राजस्व को वापस लेने हेतु अभियान चलाया किंतु बाद में उनका रुझान क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर हो गया। लाला लाजपत राय एवं अजीत सिंह के अतिरिक्त आगा हैदर, सैय्यद हैदर रजा, भाई परमानंद एवं प्रसिद्ध उर्दू कवि लालचंद 'फलक' ने भी पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियों के उदय एवं प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियों के प्रारम्भ होते ही सरकार ने इसके दमन के प्रयास शुरू कर दिये तथा मई 1907 में एक कानून बनाकर राजनीतिक सभाओं एवं समितियों पर प्रतिबंध लगा दिया। लाला लाजपत राय को बंदी बनाकर जेल में डाल दिया गया तथा अजीत सिंह देश से निर्वासित कर दिये गये। अजित सिंह निर्वासन के पश्चात फ्रांस चले गये लेकिन इसके पश्चात भी उन्होंने अपने सहयोगियों यथा—सूफी अम्बा प्रसाद, भाई परमानंद एवं लाला हरदयाल इत्यादि के सहयोग से क्रांतिकारी गतिविधियों को जारी रखा।

दिल्ली

दिल्ली में क्रांतिकारी गतिविधियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जब क्रांतिकारियों ने 23 दिसम्बर 1912 को वायसराय लार्ड हार्डिंग के काफिले पर बम फेंका। इस बम हमले में हार्डिंग के कई सेवक मारे गये तथा वे बुरी तरह घायल हो गये। इस घटना में रासबिहारी बोस तथा सचिन सन्याल की मुख्य भूमिका थी। घटना के पश्चात पुलिस ने तेरह व्यक्तियों को गिरफ्तार किया, जिनमें मास्टर अमीरचंद्र, अवध बिहारी, दीनानाथ, सुल्तान चंद्र, हनुमंत सहाय, बसंत कुमार, बाल मुकुंद एवं बलराज इत्यादि

शामिल थे। इन सभी पर 'दिल्ली षड़यंत्र केस' के नाम से मुकदमा चलाया गया। इनमें से कुछ को फांसी दी गयी तथा शेष को देश से निर्वासित कर दिया गया।

क्रांतिकारियों की विदेशों में गतिविधियां

क्रांतिकारियों ने भारत के अलावा विदेशों में भी कई स्थानों पर क्रांतिकारी गतिविधियों को जारी रखा। इनमें से कुछ स्थान/देश निम्नानुसार हैं–

इंग्लैंण्डः लंदन में क्रांतिकारी गतिविधियों का नेतृत्व मुख्यतया श्यामाजी कृष्णवर्मा, विनायक दामोदर सावरकर, मदनलाल ढींगरा एवं लाल हरदयाल ने किया। श्यामाजी कृष्णवर्मा ने 1905 में यहीं 'भारत स्वशासन' समिति की स्थापना की, जिसे 'इण्डिया हाउस' के नाम से जाना जाता था। इस संस्था का उद्देश्य अंग्रेज सरकार को आतंकित कर स्वराज्य प्राप्त करना था। यहां से एक समाचार पत्र *सोशियोलाजिक* का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। लंदन से सरकारी दमन के कारण श्यामाजी पेरिस तथा अंततः जिनेवा चले गये। श्यामाजी कृष्ण वर्मा के पश्चात इण्डिया हाउस का कार्यभार विनायक दामोदर सावरकर ने संभाला। यहीं सावरकर ने '1857 का स्वतंत्रता संग्राम' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उन्होंने मैजिनी की आत्मकथा का मराठी में अनुवाद भी किया। 1909 में मदनलाल ढींगरा ने कर्नल विलियम कर्जन वाइली की हत्या कर दी। ढींगरा को भी गिरफ्तार कर फांसी पर चढ़ा दिया गया। 13 मार्च 1910 को नासिक षड़यंत्र केस में सावरकर को भी गिरफ्तार कर लिया गया तथा उन्हें काले पानी की सजा दी गयी।

फ्रांसः यहां श्री एस.आर. राणा एवं श्रीमती भीकाजी रुस्तम कामा ने पेरिस से क्रांतिकारी गतिविधियों को जारी रखा। 1906 में श्यामाजी कृष्णवर्मा भी लंदन से यहां पहुंच गये, जिससे इनकी गतिविधियां और तेज हो गयीं। इन्होंने यहां *बंदेमातरम* नामक समाचार पत्र निकालने का प्रयास भी किया। यहां एस.आर. राणा ने भारतीय छात्रों हेतु छात्रवृत्तियां प्रारंभ कीं लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के समय फ्रांस एवं इंग्लैंड में मित्रता हो जाने के कारण क्रांतिकारियों की गतिविधियां धीमी पड़ गयीं।

अमेरिका तथा कनाडाः संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा में क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व लाल हरदयाल ने किया। 1 नवंबर 1913 को लाला हरदयाल ने सैन फ्रांसिस्को में 'गदर पार्टी' की स्थापना की। विश्व के अनेक भागों में इसकी शाखायें खोली गयीं। गदर दल ने 1857 के विद्रोह की स्मृति में *गदर* नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारंभ किया।

जर्मनीः प्रथम विश्व युद्ध प्रारंभ होने पर इंग्लैंण्ड तथा जर्मनी के संबंध तनावपूर्ण हो गये, फलतः क्रांतिकारियों ने जर्मनी को अपनी गतिविधियों का केंद्र बना लिया। लाला हरदयाल तथा उनके साथी अमेरिका से जर्मनी आ गये। वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय ने बर्लिन को अपनी गतिविधियों का केंद्र बना लिया।

गदर आंदोलनः गदर आंदोलन, गदर दल द्वारा चलाया गया, जिसका गठन 1 नवंबर 1913 को संयुक्त राज्य अमेरिका के सैन फ्रांसिस्को में लाला हरदयाल द्वारा किया गया था। रामचंद्र, बरकतउल्ला तथा कुछ अन्य क्रांतिकारियों ने भी इसमें सहयोग किया था। सैन फ्रांसिस्को में गदर दल का मुख्यालय तथा अमेरिका के कई शहरों में इसकी शाखायें खोली गयीं। यह एक क्रांतिकारी संस्था थी, जिसने 1857 के विद्रोह की स्मृति में *गदर* नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। गदर दल के कार्यकर्ताओं में मुख्यतया पंजाब के किसान एवं भूतपूर्व सैनिक थे, जो रोजगार की तलाश में कनाडा एवं अमेरिका के विभिन्न भागों में बसे हुए थे। अमेरिका एवं कनाडा के विभिन्न शहरों के अतिरिक्त पश्चिमी तट में भी उनकी संख्या काफी अधिक थी। गदर दल की स्थापना के पूर्व ही यहां ब्रिटेन विरोधी क्रांतिकारी गतिविधियां प्रारम्भ हो चुकी थीं। इसमें रामदास पुरी, जी.डी. कुमार, तारकनाथ दास एवं सोहन सिंह भखना की मुख्य भूमिका थी। 1911 में लाला हरदयाल के पहुंचने पर इनमें और तेजी आ गयी। इन सभी के प्रयत्नों से 1913 में गदर दल की स्थापना की गयी। इससे पूर्व क्रांतिकारी गतिविधियों के संचालन हेतु वैंकूवर (कनाडा) में 'स्वदेशी सेवक गृह' एवं सिएटल में 'यूनाइटेड इंडिया हाउस' की स्थापना की जा चुकी थी। इन दोनों संस्थाओं

प्रमुख विचार

क्रांतिकारियों का उद्देश्य आतंकवाद नहीं अपितु क्रांति है, और क्रांति का उद्देश्य भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना है।

सुभाष चंद्र बोस

आप लोगों ने देखा नहीं कि इन आतंकवादियों ने अपना इतिहास अपने खून से लिखा है।

महात्मा गांधी

एक समृद्ध या संभ्रान्त की भांति नहीं अपितु एक निर्धन की भांति मैं कुछ दे तो नहीं सकता किंतु मेरा रक्त मां की मुक्तिदायिनी वेदिका पर अवश्य चढ़ाया जा सकता है.....हो सकता है मैं पुनः जन्म लूं और भारत मां को मुक्ति दिलाने के पवित्र उद्देश्य के लिये पुनः शरीद हो जाऊं। जब तक मेरा लक्ष्य पूरा नहीं होगा, और जब तक भारत मां परितंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता का मुकुट शिरोधार्य नहीं करेगी मैं ऐसा ही करता रहूंगा।

मदनलाल ढींगरा

ईश्वर ने विदेशियों को हिन्दुस्तान का राज्य कोई तांबे की प्लेट में रखकर नहीं दिया है.....कुएं के मेंढक की तरह कुएं में रहकर टर्राने से कोई लाभ नहीं होगा, संकीर्णता एवं दासता के बोझ को झटककर बाहर निकलो, श्रीमद्भगवतगीता से कर्म से शिक्षा ग्रहण करो और महान व्यक्तियों की तरह कार्य करने की सोचो।

बाल गंगाधर तिलक (*केसरी* में, 15 जून, 1897)

का उद्देश्य भी क्रांतिकारी गतिविधियों की सहायता से भारत को विदेशी दासता में मुक्त करना था। विदेशों से ब्रिटेन विरोधी क्रांतिकारी गतिविधियों के संचालन में गदर दल की मुख्य भूमिका थी। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य अंग्रेज अधिकारियों की हत्या करना, क्रांतिकारी और साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य का प्रकाशन, विदेशों में नियुक्त भारतीय सैनिकों के मध्य कार्य करना एवं उनमें ब्रिटेन विरोधी भावनायें जगाना, हथियार प्राप्त करना, भारतीय क्रांतिकारियों के मध्य उन्हें वितरित करना तथा एक-एक करके सभी ब्रिटिश उपनिवेशों में विद्रोह प्रारम्भ करना था। गदर दल की गतिविधियों में लाला हरदयाल की भूमिका सबसे प्रमुख थी। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र, भगवान सिंह, करतार सिंह सराबा, बरकतउल्ला तथा भाई परमानन्द भी गदर दल के प्रमुख सदस्यों में से थे। इन सभी ने भारत में स्वतंत्रता की स्थापना को अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया। 1913 में गदर दल की स्थापना के पश्चात् जैसे ही इसकी गतिविधियां प्रारम्भ हुईं, दो अन्य घटनाओं ने इसमें उत्प्रेरक की भूमिका निभायी। ये घटनायें थीं—कामागाटा मारु प्रकरण एवं प्रथम विश्वयुद्ध का प्रारम्भ होना।

कामागाटा मारु प्रकरणः इस घटना का राष्ट्रीय आंदोलन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इस काण्ड ने पंजाब में एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। पंजाब के एक क्रांतिकारी बाबा गुरदित्ता सिंह ने एक जापानी जलपोत 'कामागाटा मारु' को भाड़े पर लेकर 351 पंजाबी सिक्खों तथा 21 मुसलमानों को सिंगापुर से वैंकूवर ले जाने का प्रयत्न किया। इसका उद्देश्य था कि ये लोग वहां जाकर स्वतंत्र व सुखमय जीवन व्यतीत करें तथा बाद में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भाग लें। किन्तु कनाडा सरकार ने इन यात्रियों को बंदरगाह में उतरने की अनुमति नहीं दी और मजबूरन यह जहाज 27 सितम्बर 1914 को पुनः कलकत्ता बंदरगाह लौट आया। इस जहाज के यात्रियों का विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण ही कनाडा की सरकार ने उन्हें वापस लौटाया है। कलकत्ता पहुंचते ही बाबा गुरदित्ता सिंह को गिरफ्तार करने का प्रयास किया गया किन्तु वे बच निकले। शेष यात्रियों को जबरन पंजाब जाने वाली ट्रेन में बैठाने का प्रयास किया गया किन्तु यात्रियों ने ट्रेन में बैठने से इन्कार कर दिया। फलतः पुलिस एवं यात्रियों के बीच हुई मुठभेड़ में 22 लोग मारे गये। शेष यात्रियों को विशेष रेलगाड़ी द्वारा पंजाब पहुंचा दिया गया। बाद में इनमें से अधिकांश ने अनेक स्थानों पर डाके डाले।

कामागाटा मारु घटना एवं प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने से गदर दल के नेता अत्यधिक उत्तेजित हो गये तथा उन्होंने भारत में शासन कर रहे अंग्रेजों पर हिंसक आक्रमण करने की योजना बनायी। उन्होंने विदेशों में रह रहे क्रांतिकारियों से भारत जाकर ब्रिटिश सरकार से लोहा लेने का आह्वान किया। इन क्रांतिकारियों ने धन एकत्रित करने हेतु अनेक स्थानों पर राजनैतिक डकैतियां डालीं। जनवरी-फरवरी 1915 में पंजाब में हुई राजनैतिक डकैतियों के महत्वपूर्ण प्रभाव हुए। इन डकैतियों की

वास्तविक मंशा कुछ भिन्न नजर आयी। पांच में से तीन घटनाओं में छापामारों ने अपना प्रमुख निशाना जमींदारों को बनाया तथा उनके ऋण संबंधी कागजातों को विनष्ट कर दिया। इस प्रकार इन घटनाओं ने पंजाब में स्थिति अत्यन्त विस्फोटक एवं तनावपूर्ण बना दी। 21 फरवरी 1915 को गदर दल के कार्यकर्ताओं ने फिरोजपुर, लाहौर एवं रावलपिंडी में सशस्त्र विद्रोह की योजना बनायी। विदेशों में रहने वाले हजारों भारतीय भारत जाने के लिये इकट्ठे हुए। विभिन्न स्रोतों से धन इकट्ठा किया गया। कई भारतीय सैनिकों की रेजीमेंटों को विद्रोह करने के लिये तैयार भी कर लिया गया। किन्तु दुर्भाग्यवश ब्रिटिश अधिकारियों को इस विद्रोह की जानकारी मिल गयी तथा सरकार ने भारत रक्षा अधिनियम 1915 के तहत् तुरन्त कार्यवाई की। संदिग्ध सैनिक रेजीडेंटों को भंग कर दिया गया, विद्रोही नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया तथा देश से निर्वासित कर दिया गया। विद्रोहियों में से 45 पर मुकदमा चलाकर उन्हें फांसी की सजा सुनायी गयी। रासबिहारी बोस जापान भाग गये (जहां से अंबानी मुखर्जी के साथ वे क्रांतिकारी गतिविधियां चलाते रहे तथा कई बार उन्होंने भारत में हथियार भेजने का प्रयास किया) तथा सचिन सान्याल को देश से निर्वासित कर दिया गया।

ब्रिटिश सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान हो रही क्रांतिकारी गतिविधियों को कुचलने के लिये उसी प्रकार के दमन का सहारा लिया जैसा कि उसने 1857 के विद्रोह के समय लिया था। सरकार पहले ही क्रांतिकारियों एवं राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिये अनेक कानून बना चुकी थी। भिन्न-भिन्न अधिनियमों को मिलाकर 1915 में भारत रक्षा अधिनियम बनाया गया। किन्तु इस अधिनियम का सबसे मुख्य उद्देश्य गदर आंदोलन को कुचलना था। इस अधिनियम द्वारा सरकार ने व्यापक पैमाने पर गिरफ्तारियां कीं, विशेष रूप से गठित अदालतों ने सैकड़ों लोगों को फांसी की सजा सुनायी तथा विद्रोही सैनिकों को सैन्य न्यायालयों द्वारा कड़ी सजायें दी गयीं। पंजाब जो कि गदर आंदोलन का गढ़ समझा जाता था, यहां अनेक लोगों का दमन किया गया। सरकार ने अपने कुचक्र में बंगाली उग्रवादियों को भी कड़ी सजायें दीं।

गदर आंदोलन का मूल्यांकनः गदर आंदोलन को अपने उद्देश्यों के कार्यान्वयन हेतु हथियार, धन, प्रशिक्षण एवं समयानुकूल योग्य नेतृत्व की आवश्यकता थी किन्तु, दुर्भाग्यवश इनमें से सभी आवश्यकतायें पूर्ण न हो सकीं। गदर दल के समर्थकों को आभास नहीं था कि प्रथम विश्वयुद्ध इतना शीघ्र प्रारम्भ हो जायेगा। प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होते ही गदर आंदोलनकारियों ने अपनी शक्ति और संगठन का आकलन किये बिना ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। गदर आंदोलन का अभियान मुख्यतया क्रुद्ध एवं असंतुष्ट अप्रवासी भारतीयों पर निर्भर था, जो श्वेत वर्गीय-ब्रिटिश शासन से पीड़ित थे। किन्तु आंदोलनकारियों ने भारतीय जनमानस में अपनी पैठ जमाने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। वे भारतीय समुदाय को उचित

समय पर संगठित भी नहीं कर सके। आंदोलनकारी विशालकाय ब्रिटिश शासन की वास्तविक शक्ति का आकलन नहीं लगा सके तथा इस मिथ्या अवधारणा को पाले रहे कि भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध पूर्ण माहौल तैयार हो चुका है तथा इसमें केवल चिन्गारी लगाने की आवश्यकता है। आंदोलनकारियों में निरंतरता प्रदान करने वाले तथा विभिन्न पहलुओं में साम्य स्थापित करने वाले नेतृत्व का अभाव रहा। यद्यपि इन्होंने भारतीयों को सशस्त्र राष्ट्रवाद की शिक्षा तो दी, किन्तु उसका समयानुकूल प्रयोग नहीं सिखा सके। लाला हरदयाल विभिन्न विचारधाराओं के अच्छे सम्मिश्रक एवं प्रचारक थे, किन्तु उनमें कुशल नेतृत्व एवं सांगठनिक सामर्थ्य का अभाव था। उनके असमय अमेरिका छोड़ने से आंदोलन पर अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ा तथा वह नेतृत्वविहीन हो गया और उसका संगठन भी बिखर गया।

यद्यपि गदर आंदोलन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रहा, किन्तु उसकी महत्ता इस बात में है कि इसने क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों को धर्मनिरपेक्षता की प्रेरणा दी। इस दल के समर्थकों में विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी थे तथा सभी ने कंधे से कंधा मिलाकर ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लिया। हालांकि उचित आकलन, दूरगामी रणनीति, सुदृढ़ संगठन एवं कुशल नेतृत्व के अभाव के कारण यह विफल हो गया, किन्तु कई स्थानों पर इसने अंग्रेजी शासन की चूलें हिला दीं।

यूरोप में क्रांतिकारी गतिविधियांः वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्रनाथ दत्त, लाला हरदयाल एवं अन्य लोगों ने 1915 में जर्मन विदेश मंत्रालय के सहयोग से 'जिम्मेरमैन योजना' (Zimmerman plan) के तहत 'बर्लिन कमेटी फॉर इंडियन इंडिपेंडेंस' की स्थापना की। इन क्रांतिकारियों का उद्देश्य विदेशों में रह रहे भारतीयों को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संगठित करना तथा अप्रवासी भारतीयों को भारत जाकर क्रांतिकारी गतिविधियों को संचालित करने हेतु प्रेरित करना, हथियारों की आपूर्त्ति सुनिश्चित करना तथा किसी भी तरह भारत को उपनिवेशी शासन से मुक्ति दिलाना था।

यूरोप स्थित भारतीय क्रांतिकारियों ने विश्व के विभिन्न भागों यथा—बगदाद, ईरान, तुर्की एवं काबुल में अनेक क्रांतिकारियों को भारतीय सेनाओं एवं भारतीय युद्ध बंदियों के मध्य कार्य करने के लिये भेजा। इनका कार्य भारतीय सैनिकों एवं विश्व के विभिन्न भागों में रह रहे भारतीयों के मन में ब्रिटिश विरोधी भावनायें जागृत करना था। इसी प्रकार का एक शिष्टमंडल राजा महेन्द्र प्रताप सिंह, बरकतउल्ला एवं ओबैदुल्ला सिंधी के नेतृत्व में काबुल गया, जहां उसने युवराज अमानुल्ला के सहयोग से 'अस्थायी भारतीय शासन' की स्थापना करने का प्रयास किया।

सिंगापुर में विद्रोहः इस दौर में विदेशों में होने वाली क्रांतिकारी घटनाओं में सिंगापुर में हुए विद्रोह का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सिंगापुर में 15 फरवरी 1915 को पंजाबी मुसलमानों की पांचवीं लाइट इन्फैन्ट्री तथा 36वीं सिख बटालियन के सैनिकों

ने जमादार चिश्ती खान, जमादार अब्दुल गनी एवं सूबेदार दाउद खान के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। सरकार ने बड़ी बेरहमी से इस विद्रोह को कुचल दिया। घटना से सम्बद्ध 37 नेताओं को फांसी तथा 41 को आजीवन कारावास का कठोर दण्ड दिया गया।

क्रांतिकारी गतिविधियों में धीमापन

इस काल में भारत में होने वाली विभिन्न क्रांतिकारी गतिविधियों के केंद्र मुख्यतया पंजाब एवं बंगाल रहे। बंगाल में होने वाली विभिन्न घटनाओं में रासबिहारी बोस एवं सचिन सान्याल की मुख्य भूमिका रही। इन दोनों क्रांतिकारियों ने पंजाब लौटे गदर दल के नेताओं के सहयोग से अनेक क्रांतिकारी कार्य किये। अगस्त 1914 में बंगाल के क्रांतिकारियों ने कलकत्ता के रोड्डा फर्म (Rodda Firm) के कर्मचारियों की सहानुभूति से इसे लूट लिया तथा 50 माउजर पिस्तौलें एवं लगभग 46 हजार राउंड गोलियां लेकर भाग निकले। बंगाल के एक अन्य प्रमुख क्रांतिकारी नेता जतिन मुखर्जी थे, जिनके नेतृत्व में बंगाल के क्रांतिकारियों ने विभिन्न स्थानों पर आतंकी कार्य किये। इनमें रेलवे पटरियों को उखाड़ना, कोर्ट विलियम किले का घेराव तथा जर्मन हथियारों को वितरित करना इत्यादि सम्मिलित थे। किन्तु कमजोर संगठन एवं संयोजन के अभाव में क्रांतिकारियों के अधिकांश प्रयास विफल हो गये। सितम्बर 1915 में उड़ीसा तट पर स्थित बालासोर नामक स्थान पर बाधा (जतिन मुखर्जी) पुलिस के साथ लड़ते हुए शहीदों की तरह मारे गये।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इस क्रांतिकारी गतिविधियों में कुछ समय के लिये थोड़ा विराम आया, जब सरकार ने भारत रक्षा अधिनियम 1915 के तहत पकड़ गये राजनीतिक बंदियों को छोड़ दिया। साथ ही माउंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार 1919 लागू करने से अनुरंजक वातावरण बन गया। इसके अतिरिक्त इसी समय भारतीय राजनीति में गांधीजी एक प्रमुख राष्ट्रीय नेता के रूप में आगे आये। उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिये अहिंसा का सिद्धांत रखा। इन सभी कारणों से देश में क्रांतिकारी गतिविधियों में धीमापन आ गया।

सारांश

- **क्रांतिकारी गतिविधियां**
  - ☆ **उदय के कारण**

    उदारवादियों की असफलता के पश्चात् युवा राष्ट्रवादियों का मोह भंग होना तथा आंदोलन के नेताओं का युवा शक्ति एवं ऊर्जा के सही प्रयोग में असफल रहना।

सरकार की दमनकारी नीतियों के कारण शांतिपूर्ण आंदोलन की संभावना का समाप्त हो जाना।

युवा राष्ट्रवादियों में अतिशीघ्र परिणाम प्राप्त करने की अभिलाषा तथा युवा राष्ट्रवादियों का प्रभावी संगठन बनाने में राष्ट्रवादी नेताओं की असफलता।

☆ **मुख्य कार्यक्रम**

अलोकप्रिय सरकारी अधिकारियों की हत्या करना, हिंसात्मक गतिविधियों द्वारा शासकों को आतंकित करना तथा भारतीयों के मनोमस्तिष्क से अंग्रेजों के शक्तिशाली एवं अजेय होने का भय दूर करना, रूसी निहिलिस्टों एवं आयरलैंड के क्रांतिकारियों की तरह व्यक्तिगत रूप से विध्वंसक गतिविधियां संपन्न करना, सरकार विरोधी लोगों के सहयोग से सैन्य षड़यंत्र करना एवं डकैती तथा लूटपाट करके धन एकत्रित करना।

● **प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व क्रांतिकारी गतिविधियां**

☆ **बंगाल**

1902—मिदनापुर एवं कलकत्ता में प्रथम क्रांतिकारी संगठनों की स्थापना (अनुशीलन समिति)।

1906—*युगांतर* नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ।

1905-1906—तक क्रांतिकारी गतिविधियों का समर्थन एवं प्रचार करने वाले अनेक समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ, जिनमें *संध्या* सबसे प्रमुख है।

1907—युगांतर समूह के सदस्यों द्वारा पूर्वी बंगाल के अलोकप्रिय भूतपूर्व लेफ्टिनेंट गवर्नर फुलर जो 16 अक्टूबर, 1905-20 अगस्त 1906 तक पूर्वी बंगाल और असम के लेफ्टिनेंट गवर्नर रहे, की हत्या का असफल प्रयास।

1908—खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी द्वारा बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के न्यायाधीश श्री किंग्जफोर्ड की हत्या का प्रयास।

अरविंद घोष, बरीन्द्र कुमार घोष एवं अन्य पर 'अलीपुर षड़यंत्र कांड' का अभियोग चलाया गया।

1908—पुलिन दास के नेतृत्व में ढाका अनुशीलन समिति के सदस्यों द्वारा बारा में डकैती।

1909—अलीपुर षड़यंत्र केस से संबंधित सरकारी प्रॉसीक्यूटर की कलकत्ता में हत्या।

1912—रासबिहारी बोस तथा सचिन सान्याल ने भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग के काफिले पर दिल्ली के चांदनी चौक में बम फेंका। तेरह लोग गिरफ्तार, 'दिल्ली षड़यंत्र केस' के तहत मुकदमा चलाया गया।

संध्या तथा *युगांतर* नामक समाचार पत्रों द्वारा क्रांतिकारियों की उक्त गतिविधियों को पूर्ण समर्थन प्रदान किया गया।

जतिन दास एवं युगांतर; प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मन षड्यंत्र

☆ **महाराष्ट्र**

1879–वासुदेव बलवंत फड़के के रामोसी कृषक दल द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियों का शुभारम्भ।

1890 से–बालगंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र के लोगों में स्वराज्य के प्रति आस्था जगाने तथा क्रांतिकारी गतिविधियों को युवाओं के बीच लोकप्रिय बनाने हेतु शिवाजी महोत्सव एवं गणेश महोत्सव प्रारम्भ किये, उन्होंने अपने पत्रों *मराठा* तथा *केसरी* के द्वारा भी क्रांतिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया।

1897–पूना में प्लेग समिति के प्रधान श्री रैण्ड एवं लैफ्टिनेंट एयर्स्ट की चापकर बंधुओं द्वारा हत्या।

1899–विनायक दामोदर सावरकर एवं उनके बड़े भाई गणेश दामोदर सावरकर द्वारा एक गुप्त सभा 'मित्र मेला' की स्थापना।

1904–मित्र मेला का 'अभिनव भारत' में विलय।

1909–अभिनव भारत के एक सदस्य अनन्त कान्हेर द्वारा नासिक के जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की हत्या।

☆ **पंजाब**

पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहित करने में लाला लाजपत राय, अजीत सिंह, आगा हैदर, सैय्यद हैदर रजा, भाई परमानन्द, लालचन्द 'फलक' एवं सूफी अम्बा प्रसाद की मुख्य भूमिका रही।

☆ **विदेशों में**

– श्यामाजी कृष्ण वर्मा, विनायक दामोदर सावरकर, मदनलाल ढींगरा एवं लाला हरदयाल की मुख्य भूमिका।
– 1905: श्यामाजी कृष्ण वर्मा द्वारा 'इण्डिया हाउस' की स्थापना।
– इण्डिया हाउस से एक समाचार पत्र *सोशियोलाजिस्ट* का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया।
– इण्डिया हाउस में ही सावरकर ने '1857 का स्वतंत्रता संग्राम' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी।
– 1909 : मदनलाल ढींगरा ने कर्नल विलियम कर्जन वाइली की गोली मारकर हत्या कर दी।
– आर.एस. राणा एवं श्रीमति भीकाजी रूस्तम कामा ने पेरिस से क्रांतिकारी गतिविधियां जारी रखने का प्रयास किया। यहां से बंदेमातरम् नामक समाचार पत्र निकालने का प्रयास।
– लाला हरदयाल प्रमुख नेतृत्वकर्ता।
– 1913 में सैन फ्रैंसिस्को 'गदर दल' की स्थापना।
– *गदर* नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन।
– लाला हरदयाल के अमेरिका से जर्मनी पहुंचने पर क्रांतिकारी गतिविधियों में तेजी।

– वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय प्रमुख नेता।
– *उत्तरी अमेरिका* में लाला हरदयाल, रामचन्द्र, भावन सिंह, करतार सिंह सराबा, बरकत उल्ला एवं भाई परमानन्द द्वारा 'गदर दल' का गठन।

● **गदर कार्यक्रम**

सरकारी अधिकारियों की हत्या।
क्रांतिकारी साहित्य का प्रकाशन
विदेशों में पदस्थापित भारतीय सेना के मध्य कार्य करना तथा क्रांतिकारी गतिविधियों हेतु धन एकत्रित करना।
ब्रिटेन के सभी उपनिवेशों (न केवल भारत) में एक-एक करके विद्रोह प्रारम्भ करना।
प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने तथा *कामागाटा मारू* प्रकरण (सितम्बर, 1914) से गदर दल की गतिविधियां और तेज हो गयीं। 21 फरवरी, 1915 को गदर दल के कार्यकर्ताओं ने फिरोजपुर, लाहौर और रावलपिंडी में सशस्त्र विद्रोह की योजना बनायी किन्तु विश्वासघात के कारण यह योजना असफल हो गयी।
गदर दल के कार्यकर्ताओं को दण्डित करने के लिये सरकार ने 1915 में भारत रक्षा अधिनियम बनाया।

☆ ***यूरोप*** में वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय एवं उनके सहयोगियों ने 'बर्लिन कमेटी फॉर इंडियन इंडिपेंडेंस की स्थापना की।
यूरोप स्थित भारतीय क्रांतिकारियों ने विश्व के कई भागों यथा-बगदाद, ईरान, तुर्की एवं काबुल में विभिन्न क्रांतिकारी मिशन भेजे।

☆ ***सिंगापुर*** में 15 फरवरी 1915 को पंजाबी मुसलमानों की पांचवी लाईट इन्फैंट्री तथा 36वीं सिख बटालियन के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोह को बेरहमी से कुचल दिया गया।

अध्याय 14

प्रथम विश्व युद्ध एवं राष्ट्रवादी प्रत्युत्तर

प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) प्रारंभ के समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उदारवादी दल के नेतृत्व में थी। इस विश्वयुद्ध में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, अमेरिका, इटली तथा जापान एक ओर तथा जर्मनी, आस्ट्रेलिया, हंगरी एवं तुर्की दूसरी ओर थे। यह काल मुख्यतया राष्ट्रवाद का परिपक्वता काल था। प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन की भागीदारी के प्रति राष्ट्रवादियों का प्रत्युत्तर निम्न तीन चरणों में विभक्त था–

(i) उदारवादियों ने इस युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन ताज के प्रति निष्ठा का कार्य समझा तथा उसे पूर्ण समर्थन दिया;

(ii) उग्रवादियों, (जिनमें तिलक भी सम्मिलित थे) ने भी युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन किया, क्योंकि उन्हें आशा थी कि युद्ध के पश्चात ब्रिटेन भारत में स्वसाशन के संबंध में ठोस कदम उठाएगा; और

(iii) जबकि क्रांतिकारियों का मानना था कि यह युद्ध ब्रिटेन के विरुद्ध क्रांतिकारी गतिविधियों को संचालित करने का अच्छा अवसर है तथा उन्हें इस सुअवसर का लाभ उठाकर साम्राज्यवादी सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहिए।

किंतु विश्व युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन कर रहे भारतीय शीघ्र ही निराश हो गये, क्योंकि उन्होंने देखा कि ब्रिटेन युद्ध में अपने उपनिवेशों एवं हितों की रक्षा करने में लगा हुआ है।

प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीय क्रांतिकारियों एवं विदेशों में रह रहे क्रांतिकारियों में अपार उत्साह का संचार किया। इस दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका में गदर पार्टी तथा यूरोप में बर्लिन कमेटी ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध क्रांतिकारी गतिविधियां संचालित कीं। इनके साथ ही भारतीय सैनिकों द्वारा भी कुछ छिटपुट स्थानों जैसे–सिंगापुर इत्यादि में क्रांतिकारी कार्रवाईयां संपन्न की गयीं। भारत में इस अवसर को क्रांतिकारियों ने एक ईश्वरीय उपहार मानकर देश को उपनिवेशी शासन से मुक्त कराने

की योजना बनायी तथा ब्रिटेन के शत्रुओं-जर्मनी तथा तुर्की से आर्थिक तथा सैन्य सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया।

होमरूल लीग आंदोलन

बाल गंगाधर तिलक, एनी बेसेंट, जी.एस. खपार्दे, सर एस. सुब्रमण्यम अय्यर, जोसेफ बपतिस्ता और मोहम्मद अली तथा अन्य बड़े नेता मिले और उन्होंने यह निर्णय किया कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के तहत् अखिल भारतीय होमरूल या स्वशासन की मांग के उद्देश्य के साथ पूरे वर्ष कार्य करने वाले एक राष्ट्रीय गठबंधन का होना आवश्यक हो गया था। यह गठबंधन आयरिश होम रूल लीग की तर्ज पर 'ऑल इण्डिया होमरूल लीग थी'।

अंततः, हालांकि, दो होमरूल लीग शुरू की गई। एक बाल गंगाधर तिलक की इंडियन होमरूल लीग और दूसरी एनी बेसेंट की होमरूल लीग। दोनों का उद्देश्य उग्र राजनीति के एक नए रूप की शुरुआत करना था। होमरूल लीग आंदोलन, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई परिस्थितियों में भारतीयों की कम प्रभावशाली प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया, किन्तु स्वतंत्रता आंदोलन की प्रक्रिया में इसने अपनी महत्वपूर्ण छाप छोड़ी। यद्यपि यह आंदोलन स्थिरता के साथ प्रारम्भ हुआ था लेकिन आगे चलकर इसने तत्कालीन सभी आंदोलनों को पीछे छोड़ दिया।

आंदोलन प्रारम्भ होने के उत्तरदायी कारक

(i) राष्ट्रवादियों के एक वर्ग का मानना था कि सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए उस पर दबाव डालना आवश्यक है।

(ii) मार्ले-मिंटो सुधारों का वास्तविक स्वरुप सामने आने पर नरमपंथियों का भ्रम सरकार की निष्ठा से टूट गया।

(iii) प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन द्वारा भारतीय संसाधनों का खुल कर प्रयोग किया गया। इस क्षतिपूर्ति के लिये युद्ध के उपरांत भारतीयों पर भारी कर आरोपित किये गये तथा आवश्यक वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगीं। इन कारणों से भारतीय त्रस्त हो गये तथा वे ऐसे किसी भी सरकार विरोधी आंदोलन में भाग लेने हेतु तत्पर थे।

(iv) यह विश्वयुद्ध तत्कालीन विश्व की प्रमुख महाशक्तियों के बीच अपने-अपने हितों को लेकर लड़ा गया था तथा इससे अन्य ताकतों के साथ ब्रिटेन का वास्तविक चेहरा भी उजागर हो गया था। युद्ध के पश्चात् श्वेतों की अजेयता का भ्रम भी टूट गया।

(v) जून 1914 में बाल गंगाधर तिलक जेल से रिहा हो गये। भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष में सक्रिय भूमिका निभाने हेतु वे पुनः किसी सुअवसर की तलाश में थे। उन्होंने सरकार को अपना सहयोगात्मक रुख समझाने का प्रयत्न किया। आयरलैण्ड

के होमरूल लीग के तर्ज पर उन्होंने प्रशासकीय सुधारों की मांग की। तिलक ने कहा हिंसा के प्रयोग से भारतीय स्वतंत्रता की प्रक्रिया में रुकावट आ सकती है। फलतः उन्होंने आयरिस होमरूल जैसे आंदोलन के द्वारा भारतीयों की दशा में सुधार लाने की वकालत शुरू कर दी। उन्होंने यहां तक कहा कि संकट के इन क्षणों में हमें ब्रिटेन का सहयोग करना चाहिये।

(vi) 1893 में आयरलैण्ड की थियोसोफिस्ट महिला ऐनी बेसेंट भारत आयीं थीं। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत उन्होंने भी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को समर्थन देने हेतु आयरिस होमरूल लीग के नमूने पर भारत में आंदोलन आरम्भ करने का निर्णय किया। इस लीग के माध्यम से वे अपने विचारों को जनता में प्रसारित कर अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाना चाहती थीं।

लीग

बालगंगाधर तिलक तथा एनी बेसेंट दोनों की होमरूल लीग ने यह महसूस किया कि आंदोलन की सफलता के लिये उदारवादियों के नेतृत्व वाली कांग्रेस के साथ ही अतिवादी राष्ट्रवादियों का भी समर्थन आवश्यक है। 1914 में नरमपंथियों एवं अतिवादियों के मध्य समझौते के प्रयासों के असफल हो जाने के पश्चात् बालगंगाधर तिलक एवं एनी बेसेंट दोनों ने स्वयं के प्रयासों से राजनीतिक गतिविधियों को जीवंत करने का निश्चय किया।

1915 के प्रारम्भ से एनी बेसेंट ने भारत एवं अन्य उपनिदेशों में स्वशासन की स्थापना हेतु अभियान प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने जनसभायें आयोजित कीं तथा *न्यू इंडिया* एवं *कॉमन वील* नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इन पत्रों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेज सरकार के सम्मुख भारत में स्वशासन की स्थापना की मांग को दृढ़ता के साथ उठाया। 1915 के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में तिलक एवं ऐनी बेसेंट को अपने प्रयासों में थोड़ा सफलता मिली। इस अधिवेशन में यह निर्णय लिया गया कि उग्रवादियों को पुनः कांग्रेस में सम्मिलित किया जायेगा। यद्यपि एनी बेसेंट प्रारंभ में अपने इस प्रयास में सफल नहीं हो सकी थीं। अधिवेशन में एनी बेसेंट अपनी होमरूल लीग योजना के लिये कांग्रेस का समर्थन प्राप्त करने में असफल रहीं, किन्तु कांग्रेस, शिक्षा के माध्यम से राजनीतिक मांगों का प्रचार-प्रसार करने तथा स्थानीय कांग्रेस कमेटियों को पुनः सक्रिय करने पर अवश्य सहमत हो गयी। इसके पश्चात् एनी बेसेंट ने कांग्रेस की स्वीकृति प्राप्त होने का इंतजार न करते हुए स्वयं के प्रयासों से होमरूल लीग के कार्यों को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया। उन्होंने घोषित किया कि चूंकि कांग्रेस ने उनकी लीग को स्वीकृति प्रदान करने में अनिवार्य कदम नहीं उठाये हैं फलतः लीग के माध्यम से वे अपने उद्देश्यों को स्वयं प्राप्त करने हेतु स्वतंत्र हैं।

बाल गंगाधर तिलक तथा एनी बेसेंट ने किसी प्रकार के आपसी टकराव की संभावना को दूर करने के लिये पृथक-पृथक लीग स्थापित करने का निर्णय लिया।

जैसाकि एनी बेसेंट ने कहा कि, तिलक के कुछ समर्थक उनके साथ सामान्य महसूस नहीं करते थे और साथ ही, उनके कुछ समर्थक तिलक के साथ सामान्य नहीं महसूस करते थे। हालांकि दोनों लीग ने अपने विशिष्ट क्षेत्रों तक अपने कार्य को सीमित करके अपने प्रयासों में सहयोग किया। उन्होंने जहां तक संभव हुआ एक-दूसरे का सहयोग किया।

तिलक की होमरूल लीगः बाल गंगाधर तिलक ने अपनी इंडियन होमरूल लीग की स्थापना अप्रैल 1916 में की। तिलक ने अपनी पहली होमरूल मीटिंग बेलगाम में की। पूना उनकी लीग का मुख्यालय था। इसकी शाखायें महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्य प्रांत एवं बरार में खोली गयीं। इसे छः शाखाओं में संगठित किया गया। स्वराज्य की मांग, भाषायी प्रांतों की स्थापना तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार को लीग ने अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया।

बेसेंट की होमरूल लीगः एनी बेसेंट ने सितम्बर 1916 में मद्रास (अब चेन्नई) में ऑल इण्डिया होमरूल लीग की स्थापना की घोषणा की। मद्रास के अतिरिक्त लगभग पूरे भारत में इसकी शाखायें खोली गयीं। इसकी लगभग 200 शाखायें थीं। जार्ज अरूंडेल को लीग का संगठन सचिव नियुक्त किया गया। यद्यपि बेसेंट की लीग का संगठन तिलक की होमरूल लीग की तुलना में कमजोर था, किन्तु इसके सदस्यों की संख्या काफी बड़ी थी। बेसेंट की लीग में अरूडेंल के अलावा बी.एम. वाडिया एवं सी. पी. रामास्वामी अय्यर ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

होमरूल लीग आंदोलन के कार्यक्रम

होमरूल लीग आंदोलन का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनमानस को 'होमरूल' अर्थात् 'स्वशासन' के वास्तविक अर्थ से परिचित कराना था। इसने भारतीयों को राजनैतिक रूप से जागृत करने के पिछले सभी आंदोलनों को पीछे छोड़ दिया तथा भारत के राजनीतिक दृष्टिकोण से पिछड़े क्षेत्रों जैसे—गुजरात एवं सिंध तक अपनी पैठ बनायी। आंदोलन का उद्देश्य पुस्तकालयों एवं अध्ययन कक्षों (जिनमें राष्ट्रीय राजनीति से संबंधित पुस्तकों का संग्रह हो) तथा जनसभाओं एवं सम्मेलनों का आयोजन कर भारतीयों में राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना था। इसके लिये लीग ने समाचार-पत्रों, राजनीतिक विषयों पर विद्यार्थियों की कक्षाओं का आयोजन, पैम्फलेट्स, पोस्टर, पोस्टकार्ड, नाटकों एवं धार्मिक गीतों जैसे माध्यमों को भी अपने प्रयासों में सम्मिलित किया। लीग ने अपने उद्देश्यों की सफलता के लिये कोष बनाया तथा धन एकत्रित किया, सामाजिक कार्यों का आयोजन किया तथा स्थानीय प्रशासन के कार्यों में भागीदारी निभायी। लीग ने स्थानीय कार्यों के माध्यम से बहुसंख्यक भारतीयों से जुड़ने का प्रयास किया। 1917 की रूसी क्रांति से भी लीग के कार्यों में सहायता मिली।

अनेक प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं ने लीग की सदस्यता ग्रहण की, जिनमें मोतीलाल

नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, भूलाभाई देसाई, चितरंजन दास, के.एम. मुंशी, बी. चक्रवर्ती, सैफुद्दीन फिचलू, मदन मोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना, तेज बहादुर सप्रू एवं लाला लाजपत राय प्रमुख थे। इनमें से कुछ नेताओं को एनी बेसेंट की लीग की स्थानीय शाखाओं का प्रमुख नियुक्त किया गया। अनेक अतिवादी राष्ट्रवादी, जिनका कांग्रेस की कार्यप्रणाली से मोहभंग हो चुका था, होमरूल लीग आंदोलन में शामिल हो गये। गोपाल कृष्ण गोखले की सर्वेंट आफ इंडिया सोसायटी के अनेक सदस्यों ने भी आंदोलन की सदस्यता ग्रहण कर ली। फिर भी एंग्लो-इण्डियन्स (आंग्ल- भारतीय), बहुसंख्यक मुसलमान तथा दक्षिण भारत की गैर-ब्राह्मण जातियां इस आंदोलन से दूर रहीं क्योंकि उनका विश्वास था कि होमरूल का तात्पर्य हिन्दुओं मुख्यतया उच्च जातियों के शासन से है।

लीग के प्रति सरकार का रुख

सरकार ने लीग के समर्थकों पर कड़ी कार्यवाही की तथा लीग के कार्यक्रमों को रोकने के लिये दमन का सहारा लिया। मद्रास में सरकार ने छात्रों पर कठोर कार्यवाई की तथा राजनीतिक सभाओं में उनके भाग लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। बाल गंगाधर तिलक के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा दायर किया गया। उनके पंजाब एवं दिल्ली में प्रवेश करने पर रोक लगा दी गयी। जून 1917 में एनी बेसेंट एवं उनके सहयोगियों बी.पी. वाडिया एवं जार्ज अरुंडेल को गिरफ्तार कर लिया गया। इन गिरफ्तारियों के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी प्रतिक्रिया हुई। अत्यन्त नाटकीय ढंग से सर एस. सुब्रह्मण्यम अय्यर ने अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी तथा तिलक ने सरकारी दमन के विरोध में अहिंसात्मक प्रतिरोध कार्यक्रम प्रारम्भ करने की वकालत की। सरकार को विश्वास था कि इन कार्यवाइयों से होमरूल आंदोलन स्वतः समाप्त हो जायेगा किन्तु इसका उल्टा प्रभाव पड़ा। सरकारी कुचक्र के विरोध में आंदोलनकारी और अधिक संगठित हो गये तथा कई अन्य राष्ट्रवादी इसमें शामिल हो गये। तिलक ने घोषणा की कि यदि एनी बेसेंट को रिहा नहीं किया गया तो भारतीय जनता सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह करेगी। 20 अगस्त 1917 को भारत सचिव ई.एस. मांग्टेग्यू के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि युद्ध के बाद भारत में स्वायत्त संस्थाओं के क्रमिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ की जायेगी। सरकार ने भी सितम्बर 1917 में एनी बेसेंट को जेल से रिहा कर दिया। इसके पश्चात् होमरूल लीग आंदोलन स्थगित कर दिया गया।

क्या कारण था कि 1919 तक आते-आते आंदोलन धीमा पड़ गया

1919 तक आते-आते होमरूल लीग आंदोलन का उन्माद ठंडा पड़ने लगा। इसके पीछे कई कारण थे, जो इस प्रकार हैं–

(i) आंदोलन में प्रभावी संगठन का अभाव था।

(ii) 1917-1918 में हुए साम्प्रदायिक दंगों का आंदोलन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

(iii) एनी बेसेंट की गिरफ्तारी के पश्चात् कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने वाले उदारवादी सरकार, द्वारा सुधारों का आश्वासन देने तथा बेसेंट को जेल से रिहा करने पर संतुष्ट हो गये। एनी बेसेंट स्वयं सुधारों की घोषणा के पश्चात् लीग की उपयोगिता को लेकर असमंजस में थी।

(iv) आंदोलन में अतिवादियों द्वारा सितम्बर 1918 में अहिंसात्मक प्रतिरोध का सिद्धांत अपनाये जाने की बात से नरमपंथी आंदोलन से पृथक होने लगे। 1918 के पश्चात् तो उनकी भागीदारी बिल्कुल नाममात्र की रह गयी।

(v) जुलाई 1918 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के सार्वजनिक होने से राष्ट्रवादियों में आपसी मतभेद पैदा हो गये तथा सैद्धांतिक आधार पर वे विभाजित होने लगे।

(vi) सितम्बर 1918 में लाइबेल मामले, जो वेलेंटाइन शिरोल के खिलाफ गंगाधर तिलक ने दायर किया था, जैसाकि उनकी पुस्तक 'इंडियन अनरेस्ट' ने तिलक को ''भारत की उग्रवादी राजनीति का जनक' कहा गया था, के सिलसिले में तिलक विदेश चले गये जबकि सुधारों के संबंध में व्यक्तिगत प्रतिक्रिया एवं अहिंसात्मक प्रतिरोध के मुद्दे पर ऐनी बेसेंट विचलित हो गयीं। बेसेंट द्वारा आंदोलन को सुयोग्य नेतृत्व प्रदान कर पाने की अक्षमता और उनके मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के आश्वासन से संतुष्ट होने पर होमरूल लीग आंदोलन नेतृत्वविहीन हो गया। महात्मा गांधी के उत्थान और उनकी सत्याग्रह, अहिंसा एवं सविनय अवज्ञा युक्तियों को जनसमर्थन ने आंदोलन (होमरूल) को निष्प्राण कर दिया। मांटेग्यू घोघणा के पश्चात्, लीग अपने आंदोलन के विस्तार को बंद करने पर सहमत हो गया।

हालांकि, गांधी ने, ब्रिटिश अत्याचार के खिलाफ लड़ाई में 1920 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच का प्रयोग नहीं किया था, लेकिन वे होमरूल लीग से घनिष्ठता से जुड़े थे, फिर भी उन्होंने होम रूल लीग की सदस्यता स्वीकार नहीं की। निरंतर निवेदन करने पर गांधीजी ने अप्रैल, 1920 में होमरूल की अध्यक्षता स्वीकार कर ली, और अक्टूबर 1920 में बॉम्बे में उन्होंने उसका नाम बदलकर *'स्वराज्य सभा'* कर दिया और अहिंसा पद्धति एवं स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य को शामिल करने के लिए इसके संविधान में भी परिवर्तन किया।

होमरूल लीग आंदोलन की उपलब्धियां

होमरूल लीग तथा सम्बद्ध गतिविधियों ने कुछ सकारात्मक प्रभाव डाले और आने वाले वर्षों में स्वतंत्रता संघर्ष को एक नई दिशा देने में योगदान किया। जो इस प्रकार हैं–

(i) आंदोलन ने केवल शिक्षित वर्ग के स्थान पर जनसामन्य की महत्ता को प्रतिपादित किया तथा सुधारवादियों द्वारा तय किये गये स्वतंत्रता आंदोलन की मानचित्रावली को स्थायी तौर पर परिवर्तित कर दिया।

(ii) इसने देश एवं शहरों के मध्य सांगठनिक सम्पर्क स्थापित किया। आंदोलन की यह उपलब्धि बाद के वर्षों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। विशेषकर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के चरमोत्कर्ष में देश के हर शहर ने सक्रिय भूमिका निभायी। जो इस आंदोलन के सांगठनिक स्वरूप की देन ही थी।

(iii) आंदोलन ने जुझारू राष्ट्रवादियों की एक नयी पीढ़ी को जन्म दिया।

(iv) उसने भारतीय जनसमुदाय को राजनीति के गांधीवादी आदर्शों के प्रयोग हेतु प्रशिक्षित किया।

(v) अगस्त 1917 में मांटेग्यू की घोषणायें तथा मोन्टफोर्ड सुधार काफी हद तक होमरूल लीग आंदोलन से प्रभावित थे।

(vi) तिलक एवं एनी बेसेंट के प्रयासों से कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (1916) में नरमदल एवं गरमदल के राष्ट्रवादियों के मध्य समझौता होने में अत्यन्त सहायता मिली। लीग के नेताओं का यह योगदान राष्ट्रीय आंदोलन की प्रक्रिया में मील का पत्थर था।

(vii) होमरूल लीग आंदोलन ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक नयी दिशा व नया आयाम प्रदान किया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन (1916)

अतिवादियों का कांग्रेस में पुनः प्रवेश

1916 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता उदारवादी नेता अंबिका चरण मजुमदार ने की। इस अधिवेशन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी गरमदल (अतिवादियों) का कांग्रेस में पुनः प्रवेश। इसके कई कारण थे–

(i) पुराने विवाद अब अप्रासंगिक या अर्थहीन हो गये थे।

(ii) उदारवादियों तथा अतिवादियों, दोनों ने यह महसूस किया कि विभाजन से राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीतिक प्रक्रिया अवरुद्ध हो रही है।

(iii) एनी बेसेंट तथा बाल गंगाधर तिलक ने दोनों दलों में एकता के अथक एवं सराहनीय प्रयास किये थे। उदारवादियों की भावनाओं को सम्मान देते हुए तिलक ने घोषित किया कि वे भारत में प्रशासनिक सुधारों के पक्षधर हैं न कि पूरी ब्रिटिश सरकार को हटाये जाने के। उन्होंने हिंसात्मक तरीकों को न अपनाये जाने की भी वकालत भी की।

(iv) दो प्रमुख उदारवादी नेताओं, गोपाल कृष्ण गोखले तथा फिरोजशाह मेहता की मृत्यु हो जाने से कांग्रेस के दोनों दलों में एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ क्योंकि ये दोनों

ही नेता उग्रवादियों के कट्टर विरोधी थे तथा किसी भी हालत में उग्रवादियों से एकता नहीं चाहते थे।

कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच लखनऊ समझौता

कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि थी--कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य समझौता। इस अधिवेशन में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग एक-दूसरे के करीब आ गये तथा दोनों ने सरकार के समक्ष अपनी समान मांगें प्रस्तुत कीं। कांग्रेस एवं लीग के मध्य यह समझौता और भी महत्वपूर्ण था क्योंकि इस समय युवा क्रांतिकारियों में मुस्लिम लीग की अच्छी पकड़ थी। फलतः लीग के कांग्रेस के समीप आने से कांग्रेस के साम्राज्यवाद विरोधी अभियान को और गति मिल गयी।

मुस्लिम लीग के रवैये में परिवर्तनः मुस्लिम लीग के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समीप आने के कई कारण थे–

(i) 1912-13 के बाल्कन युद्ध में ब्रिटेन ने तुर्की की सहायता से इंकार कर दिया। इस युद्ध के कारण यूरोप में तुर्की की शक्ति क्षीण हो गयी तथा उसका सीमा क्षेत्र संकुचित हो गया। उस समय तुर्की के शासक का दावा था कि वह सभी मुसलमानों का 'खलीफा' या 'प्रधान' है। भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति तुर्की के साथ थी। ब्रिटेन द्वारा युद्ध में तुर्की को सहयोग न दिये जाने से भारतीय मुसलमान रुष्ट हो गये। फलतः मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से सहयोग करने का निश्चय किया, जो ब्रिटेन के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलन चला रही थी।

(ii) बंगाल विभाजन को रद्द किये जाने के सरकारी निर्णय से उन मुसलमानों को घोर निराशा हुई, जिन्होंने 1905 में इस विभाजन का जोरदार समर्थन किया था।

(iii) ब्रिटिश सरकार द्वारा अलीगढ़ में विश्वविद्यालय की स्थापना एवं उसे सरकारी सहायता दिये जाने से इन्कार करने पर शिक्षित मुसलमान रुष्ट हो गये।

(iv) मुस्लिम लीग के तरुण समर्थक धीरे-धीरे सशक्त राष्ट्रवादी राजनीति की ओर उन्मुख हो रहे थे तथा उन्होंने अलीगढ़ स्कूल के सिद्धांतों को उभारने का प्रयत्न किया। 1912 में लीग का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने निश्चय किया कि वह भारत के अनुकूल 'स्वशासन' की स्थापना में किसी अन्य समूह या दल को सहयोग कर सकता है, बशर्ते वह भारतीय मुसलमान के हितों पर कुठाराघात न करे तथा उनके हित सुरक्षित बने रह सकें। इस प्रकार कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों की 'स्वशासन की अवधारणा' समान हो गयी तथा इससे उन्हें पास आने में सहायता मिली।

(v) प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सरकार की दमनकारी नीतियों से युवा मुसलमानों में भय का वातावरण व्याप्त हो गया था। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के पत्र अल *हिलाल* तथा मोहम्मद अली के पत्र *कामरेड* को सरकारी दमन का निशाना बनना पड़ा, वहीं दूसरी ओर अली बंधुओं, मौलाना आजाद तथा हसरत मोहानी को नजरबंद कर

दिया गया। सरकार की इन नीतियों से युवा मुसलमानों विशेषकर लीग के युवा सदस्यों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनायें जागृत हो गयीं तथा वे उपनिवेशी शासन का समूल नष्ट करने हेतु अवसर की तलाश करने लगे।

लखनऊ समझौते के प्रावधानः उपर्युक्त कारकों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग में एकीकरण को संभव बना दिया। कांग्रेस एवं लीग में इस समझौते को 'लखनऊ समझौते' के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे–

(i) कांग्रेस द्वारा उत्तरदायी शासन की मांग को लीग ने स्वीकार कर लिया।

(ii) कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन व्यवस्था की मांग को स्वीकार कर लिया।

(iii) प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित भारतीय सदस्यों की संख्या का एक निश्चित भाग मुसलमानों के लिये आरक्षित कर दिया गया। पंजाब में 50 प्रतिशत, बंगाल में 40 प्रतिशत, बम्बई सहित सिंध में 33 प्रतिशत, यू.पी. में 30 प्रतिशत, बिहार में 25 प्रतिशत, मध्य प्रदेश में 15 प्रतिशत तथा मद्रास में भी 15 प्रतिशत सीटें मुस्लिम लीग को दे दी गयीं।

(iv) केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में कुल निर्वाचित भारतीय सदस्यों का 1/9 भाग मुसलमानों के लिये आरक्षित किया गया तथा इनके निर्वाचन हेतु साम्प्रदायिक चुनाव व्यवस्था स्वीकार की गयी।

(v) यह निश्चित किया गया कि यदि किसी सभा में कोई प्रस्ताव किसी सम्प्रदाय के हितों के विरुद्ध हो तथा 3/4 सदस्य उस आधार पर उसका विरोध करें तो उसे पास नहीं किया जायेगा।

समझौते की प्रकृतिः एकीकरण के फलस्वरूप जहां एक ओर मुस्लिम लीग, कांग्रेस के साथ सरकार को संयुक्त संवैधानिक मांगों का प्रस्ताव पेश करने पर सहमत हो गयी, वहीं दूसरी ओर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की पृथक निर्वाचन व्यवस्था की मांग को स्वीकार कर लिया। समझौते के पश्चात् कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने सरकार के समक्ष अपनी संयुक्त मांगे पेश कीं, जो इस प्रकार थीं--

- सरकार, भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने की शीघ्र घोषणा करे।
- प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित भारतीयों की संख्या बढ़ाई जाये तथा उन्हें और अधिक अधिकार प्रदान किये जायें।
- वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में आधे सदस्य भारतीय हों।
- विधानपरिषद् का कार्यकाल पांच वर्ष होना चाहिए।
- भारत सचिव का वेतन ब्रिटिश राजकोष से दिया जाना चाहिए न कि भारतीय कोष से।

प्रमुख विचार

दस वर्षों के पीड़ादायक अलगाव, गलतफहमी के धरातल में परिभ्रमण तथा दुखद विवादों के पश्चात् कांग्रेस के दोनों गुटों ने यह सच्चाई महसूस की है कि एकता में शक्ति है, तथा विभाजन में विनाश।

अंबिकाचरण मजूमदार (1916 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ में आयोजित वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष)

समझौते की समालोचना

लखनऊ के ऐतिहासिक समझौते के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने एक संयुक्त मंच का गठन तो कर लिया किन्तु इसके समझौता प्रावधानों के निर्धारण में दूरदर्शिता का पूर्ण अभाव परिलक्षित हुआ। कांग्रेस द्वारा लीग की प्रस्तावित साम्प्रदायिक निर्वाचन व्यवस्था को स्वीकार कर लिये जाने से एकसमान मंच तथा राजनीति की दो अलग-अलग दिशाओं का युग प्रारम्भ हुआ। यह प्रावधान द्विराष्ट्र–सिद्धांत की अवधारणा का अंकुर था। इसके अतिरिक्त लखनऊ समझौते में कांग्रेस तथा लीग के नेताओं ने आपस में एकता की व्यवस्था तो कर ली, किन्तु हिन्दू तथा मुसलमान दोनों सम्प्रदाय के लोगों को साथ लाने के कोई प्रयास नहीं किये गये।

साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति के विवादास्पद प्रावधानों को छोड़ दिया जाये तो इस व्यवस्था से यह लाभ हुआ कि अल्पसंख्यकों के मन से बहुसंख्यक हिन्दुओं का भय दूर हो गया। समझौते के पश्चात् मुसलमान यह मानने लगे कि उनके हितों को अब हिन्दुओं से कोई खतरा नहीं रहा। दूसरा, समझौते से भारतीयों में एकता की नयी भावना का विकास हुआ। इससे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को नयी ताकत मिली। समझौते के पश्चात् स्थापित हुई एकता को सरकार ने भी महसूस किया तथा उसने भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु प्रयास किये। इसी के फलस्वरूप अगस्त 1917 में 'मांटेग्यू घोषणायें' सार्वजनिक की गयीं।

मांटेग्यू की घोषणा (अगस्त 1917)

मांटेग्यू भारतीय राज्य सचिव थे। इस पद पर नियुक्त होने के कुछ समय पश्चात् ही मांटेग्यू ने 20 अगस्त 1917 को कॉमन्स सभा में ब्रिटिश सरकार के उद्देश्य पर एक महत्वपूर्ण घोषणा की–

''महामहिम सम्राट की सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार भी पूर्ण सहमत है, यह है कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों की भागीदारी उत्तरोत्तर बढ़े तथा स्वशासी संस्थाओं का धीरे-धीरे विकास हो, जिससे अधिकाधिक प्रगति करते हुए भारत में उत्तरदायी प्रणाली की स्थापना हो तथा यह ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग

के रूप में आगे बढ़े। उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम अतिशीघ्र लिया जाये। मैं इस विषय पर स्पष्ट कर दूं कि यह प्रगति क्रमबद्ध चरणों में ही संभव है। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार जिन पर भारत के लोगों की भलाई और उन्नति का उत्तरदायित्व है, वे ही समय तथा प्रत्येक उन्नति की मात्रा को सुनिश्चित करेंगे, और यह उनके सहयोग पर निर्भर होगा, जो अब सेवा का अवसर प्राप्त करेंगे अथवा जिस सीमा तक वे उस विश्वास को निभायेंगे, जो उनकी उत्तरदायित्व की चेतना पर किया जा सकता है''।

मांटेग्यू घोषणा का महत्व

इस घोषणा से राष्ट्रवादियों को 'स्वशासन' या 'होमरूल' की मांग के संबंध में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल हुई। घोषणा के पश्चात् भारत में स्वशासन की स्थापना की मांग में विप्लव या विद्रोह की संभावना समाप्त हो गयी, क्योंकि सरकार ने उसे अपनी नीतियों में सम्मिलित कर लिया। इससे 1909 में मार्ले द्वारा की गयी घोषणा से उत्पन्न असंतोष एवं रोष भी समाप्त हो गया।

भारतीयों की आपत्ति

उक्त उपलब्धियों के साथ ही भारतीय नेताओं को घोषणा के संबंध में दो आपत्तियां भी थीं, जो इस प्रकार थीं--

(i) घोषणा में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये कोई निश्चित समय सीमा नहीं दी गयी थी। तथा

(ii) उत्तरदायी शासन की प्रकृति और प्रगति के संबंध में निश्चय करने का अधिकार केवल सरकार को ही था। इस बात से भारतीय असंतुष्ट थे। उनका मानना था कि भारतीयों के लिये अच्छे या बुरे का निर्णय करने का अधिकार केवल सरकार को नहीं है, अपितु इस प्रक्रिया में भारतीयों को भी सहभागी बनाया जाना चाहिए।

सारांश

- **होमरूल लीग आंदोलन**
  होमरूल लीग आंदोलन, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई परिस्थितियों में एक प्रभावशाली प्रतिक्रिया के रूप में प्रारम्भ हुआ। आयरलैंड के होमरूल लीग की तर्ज पर इसे भारत में एनी बेसेंट और लोकमान्य तिलक ने प्रारम्भ किया।
  - ☆ **आंदोलन के प्रारम्भ होने में सहायक कारक**
    1. राष्ट्रवादियों के एक वर्ग का यह विश्वास कि सरकार का ध्यान आकर्षित करने हेतु उस पर दबाव डालना आवश्यक है।
    2. मार्ले-मिंटो सुधारों से मोहभंग होना।

3. युद्धोपरांत भारतीयों पर आरोपित आर्थिक बोझ से त्रस्त भारतीय किसी भी आंदोलन में भाग लेने हेतु तत्पर थे।
4. बालगंगाधर तिलक एवं एनी बेसेंट ने तत्कालीन परिस्थितियों में योग्य नेतृत्व प्रदान किया।
5. प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन की साम्राज्यवादी मंशा का उजागर होना।

☆ **आंदोलन का उद्देश्य**

'होमरूल' या 'स्वशासन' की अवधारणा से भारतीयों को परिचित कराना।

☆ **तिलक की होमरूल लीग**

तिलक ने अप्रैल 1916 में इसकी स्थापना की। इसकी शाखायें महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्य प्रांत एवं बरार में खोली गयीं। इसे छः शाखाओं में संगठित किया गया।

☆ **एनी बेसेंट की होमरूल लीग**

एनी बेसेंट ने सितम्बर 1916 में मद्रास में इसकी स्थापना की। शेष भारत में इसकी लगभग 200 शाखायें खोली गयीं।

कालान्तर में कई अन्य नेता होमरूल लीग आंदोलन से जुड़ गये, जिनमें नरमपंथी कांग्रेसी भी थे।

☆ **आंदोलन की विधियां**

जनसभाओं का आयोजन, परिचर्चा आयोजित करना, पुस्तकालय एवं अध्ययन कक्षों की स्थापना, सम्मेलनों का आयोजन, विद्यार्थियों की कक्षायें आयोजित करना, समाचार पत्र, पैम्फलेट्स, पोस्टर, पोस्टकार्ड एवं नाटकों के माध्यम से भारतीय जनमानस को होमरूल अर्थात् स्वशासन के वास्तविक अर्थों से परिचित कराना।

☆ **आंदोलन के प्रति सरकार वर्ग का रुख**

दमनात्मक कार्यवाई, राजनीतिक सभाओं पर प्रतिबंध, तिलक एवं एनी बेसेंट पर मुकदमा, राजनैतिक गिरफ्तारियां इत्यादि।

☆ **आंदोलन की उपलब्धियां**

भारतीयों में चेतना का प्रसार, देश एवं शहरों के बीच सांगठनिक सम्पर्क की स्थापना, जुझारु राष्ट्रवादियों की नयी पीढ़ी का निर्माण, उग्रवादियों एवं नरमपंथियों के मध्य पुर्नएकीकरण को प्रोत्साहन, जिसके फलस्वरूप 1916 के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस के दोनों दलों में एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

- **कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन 1916**

उग्रवादी पुनः कांग्रेस में सम्मिलित।
कांगेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य लखनऊ समझौता।
कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग का संयुक्त घोषणा-पत्र।
कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग की पृथक प्रतिनिधित्व की मांगे स्वीकार की गयीं।
इसके भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में दूरगामी परिणाम हुए।

- **मांटेग्यू घोषणा का महत्व**

भारतीयों के लिए स्वशासन की प्राप्ति सरकारी नीति बन गई।

इकाई 7

जन–राष्ट्रवाद के युग का शुभारंभ (1919–1939)

- गांधी का अभ्युदय
- खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन
- 1920 के दशक में स्वराजी समाजवादी विचार एवं अन्य नवीन शक्तियों का उदय
- साइमन कमीशन का विरोध
- सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं गोलमेज सम्मेलन
- सविनय अवज्ञा आंदोलन के पश्चात् भविष्य की रणनीति पर बहस
- प्रांतों में कांग्रेस शासन

अध्याय 15

गांधी का अभ्युदय

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य पर विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। युद्धोपरांत, भारत में राष्ट्रवादी गतिविधियां पुनः प्रारंभ हो गयीं, लेकिन एशिया एवं अफ्रीका के अन्य उपनिवेश भी युद्ध के प्रभाव से अछूते नहीं रहे और इन उपनिवेशों में भी साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियां सिर उठाने लगीं। ब्रिटिश शासन के खिलाफ चल रहे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ने इस समय एक निर्णायक मोड़ लिया। इसका सबसे प्रमुख कारण था–भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर महात्मा गांधी का अभ्युदय। राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी के प्रवेश के बाद इसके जनाधार एवं लोकप्रियता में अपार वृद्धि हुई तथा यह सम्पूर्ण भारतीय जनमानस का आंदोलन बन गया।

राष्ट्रवाद के पुनः जीवंत होने के कारण

युद्धोपरांत, भारत में उत्पन्न दशाओं और विदेशी प्रभावों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न की, जिसने विदेशी शासन के विरुद्ध एक राष्ट्रीय असंतोष को जन्म दिया।

युद्धोपरांत उत्पन्न हुई आर्थिक कठिनाइयां

भारत ने ब्रिटिश युद्ध में जान-माल का योगदान किया। विभिन्न मोर्चों पर हजारों भारतीयों ने अपनी जान गंवाई। भारतीयों पर कर वृद्धि करके सेना के लिए खाद्य आपूर्ति और हथियारों की व्यवस्था की गई। जब युद्ध समाप्त हुआ, भारतीय जनमानस का प्रत्येक वर्ग विभिन्न मोर्चों पर संकटों का सामना कर रहा था।

उद्योगः मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि, इसके पश्चात् भारतीय उद्योगों में विदेशी पूंजी निवेश को प्रोत्साहन देने के कारण भारतीयों के स्वामित्व वाले उद्योगों में इसका काफी बुरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप कई उद्योग न केवल रुग्णता के शिकार हो गये बल्कि बंद भी हो गये। फलतः भारतीय उद्योगपति सरकार से सहायता तथा उनके उत्पादों के विरुद्ध आयात को बंद किये जाने की मांग करने लगे।

दस्तकार और शिल्पकारः अंग्रेजी शासन के कारण यह वर्ग बर्बाद हो गया। ये लोग जहां एक ओर भारी संख्या में बेरोजगार हो गये, वहीं दूसरी ओर मंहगाई की इन पर दोहरी मार पड़ी।

कृषकः किसान भारी करापोषण तथा निर्धनता से त्रस्त थे। ये किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे, जिसमें वे अपने विरोध स्वर को मुखरित कर सकें।

सैनिकः विदेशों में नियुक्त भारतीय सैनिक युद्ध के पश्चात् जब वापस आये तो उन्होंने अपने युद्ध के अनुभवों को भारतीय लोगों को सुनाये तथा उन्हें साम्राज्यवाद का विरोध करने हेतु प्रोत्साहित किया। अपने देश वापस लौटने पर वे इस बात से आश्चर्यचकित थे कि वे आर्थिक रूप से नष्ट हो चुके हैं और उनकी स्वतंत्रता में पहले से अधिक कमी आई है।

शिक्षित शहरी वर्गः यह वर्ग बेरोजगारी की समस्या से बुरी तरह पीड़ित था। और साथ ही साथ अंग्रेजों द्वारा नस्लवाद की भावना से भी आहत था।

इन कठिनाइयों से भारतीयों का लगभग हर वर्ग त्रस्त था तथा ब्रिटिश शासकों की अकर्मण्यता ने इसे और बदतर बना दिया। फलतः समाज का हर वर्ग आंदोलन में भागीदारी हेतु उद्वेलित हो उठा।

युद्ध में सहयोग के बदले राजनीतिक लाभ की अपेक्षा

ब्रिटिश युद्ध में भारतीयों का योगदान बेहद व्यापक था, तथापि उन्हें इसके बदले में किसी प्रकार का लाभ नहीं मिला। गांधीजी एवं अधिकतर राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश युद्ध में व्यापक सहयोग किया और युद्ध मोर्चों पर बड़ी संख्या में भारतीय जवानों ने अपने

प्राणों की आहुति दी। इसलिए युद्धोपरांत, भारतीयों की ब्रिटिश सरकार से राजनीतिक लाभों की प्राप्ति की उच्च आकांक्षाएं थीं और इसने भी देश में पुनः राष्ट्रवाद के वातावरण का सृजन किया।

विश्वव्यापी साम्राज्यवाद से राष्ट्रवादियों का मोहभंग होना

युद्ध में सम्मिलित सभी साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने उपनिवेशों को विभिन्न आश्वासन दिये। उन्होंने विश्वास दिलाया कि युद्धोपरांत सभी उपनिवेशों में लोकतंत्र एवं आत्म-निर्णय का नया युग प्रारम्भ किया जायेगा। युद्ध में सम्मिलित दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को कलंकित करने का भरपूर प्रयास किया तथा एक-दूसरे के अत्याचारी-अमानवीय कार्यों तथा उपनिवेशवादी तथा शोषणात्मक ब्यौरों को सार्वजनिक किया। किन्तु शीघ्र ही पेरिस शांति सम्मेलन तथा कुछ अन्य तात्कालिक शांति सम्मेलनों से साम्राज्यवादियों की यह मंशा स्पष्ट हो गयी कि वे अपने उपनिवेशों में अपनी पकड़ ढीली नहीं करना चाहते। इन सम्मेलनों में वे विजित उपनिवेशों को बांटने में जुट गये। युद्ध में अंग्रेजों की सांस्कृतिक तथा सैन्य श्रेष्ठता का मिथक टूट गया। इन सभी के परिणामस्वरूप, युद्धोपरांत एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न देशों यथा—तुर्की, मिस्र, इरान, अफगानिस्तान, बर्मा, मलाया, फिलीपीन्स, इंडोनेशिया, हिन्द-चीन, चीन तथा कोरिया इत्यादि में उग्र-राष्ट्रवादी गतिविधियां प्रारंभ हो गयीं।

रूसी क्रांति का प्रभाव

7 नवंबर 1917 को सम्पन्न हुई रूस की क्रांति में बोल्शेविक दल के समर्थकों ने रूस के निरंकुश, स्वेच्छाचारी व अत्याचारी जारशाही का शासन समाप्त कर दिया तथा ब्लादिमिर इलिच यूलानोव या लेनिन के नेतृत्व में प्रथम समाजवादी राज्य 'सोवियत संघ' की स्थापना की। सोवियत संघ ने शीघ्र ही चीन तथा एशिया के अन्य भागों से जारशाही के साम्राज्यवादी अधिकारों को समाप्त करने की घोषणा की तथा जारशाही के अधीन सभी एशियाई उपनिवेशों को आत्मनिर्णय के अधिकार दिये तथा उनकी सीमाओं के साथ उन्हें समान दर्जा प्रदान किया।

इस क्रांति से यह बात सिद्ध हो गयी कि जनसमूह की एकता में अपार शक्ति है तथा वह जार जैसी निष्ठुर महाशक्ति का समूल भी नष्ट कर सकती है। इस क्रांति से यह संदेश भी मिला कि संगठित, संयुक्त एवं दृढ़निश्चयी जनसमूह किसी भी साम्राज्यवादी शासन को समाप्त कर सकता है।

भारत में अंग्रेज किसी प्रकार से शक्ति का बंटवारा नहीं चाहते थे तथा वे भारतीयों को प्रशासन में भागीदार बनाये जाने के किसी भी प्रयास के विरुद्ध थे। उनकी नीति, भारतीयों को लालच या भ्रम में रखकर उन पर शासन करते रहने की थी। ब्रिटेन, महायुद्ध के समय की राष्ट्रवादी क्रांतिकारी गतिविधियों से अत्यन्त रूष्ट था तथा वह किसी भी प्रकार उन्हें भुलाने के लिये तैयार न था। फलतः कांग्रेस के उदारवादियों को

संतुष्ट करने के लिये उसने एक ओर 1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार प्रस्तुत किये, वहीं दूसरी ओर क्रांतिकारियों का दमन करने के लिये रोलेट एक्ट बनाया।

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार और भारत सरकार अधिनियम, 1919

अगस्त घोषणा के पश्चात् मांटेग्यू के साथ एक उच्चस्तरीय दल स्थिति का अध्ययन करने भारत आया। दल के अध्ययन के आधार पर जुलाई 1918 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित की गयी। यह रिपोर्ट 1919 के भारत सरकार अधिनियम का आधार बनी। इसी के आधार पर ब्रिटिश संसद ने 1919 में भारत के औपनिवेशिक प्रशासन के लिये नया विधान बनाया जो 1921 में क्रियान्वित किया गया। 1919 का अधिनियम भारत के विकास में एक दौर का सूचक था, जिसकी विशेषता थी 'उत्तरदायी शासन की प्रगति'।

भारत सरकार अधिनियम 1919 बनाने के लिये उत्तरदायी कारक

(i) भारतीय परिषद अधिनियम 1909 से कांग्रेस के नरमदल के सदस्य संतुष्ट नहीं हुए थे।

(ii) प्रथम महायुद्ध में भारतीयों ने अंग्रेजी सरकार को पूर्ण सहयोग दिया था फलतः युद्धोपरांत उन्हें ऐसे किसी अधिनियम की आशा थी।

(iii) कांग्रेस-लीग समझौता।

(iv) भारतीयों द्वारा स्वशासन की तीव्र मांग।

(v) लार्ड मांटेग्यू जैसे उदार व्यक्ति का भारत सचिव पद पर नियुक्त होना, इत्यादि।

इस अधिनियम के पारित होने के समय मांटेग्यू भारत सचिव तथा चेम्सफोर्ड वायसराय थे, इसीलिये इस अधिनियम को 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार' या मांटफोर्ड सुधार भी कहते हैं।

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की मुख्य विशेषताएं

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की मुख्य धारायें इस प्रकार थीं–

● **प्रांतीय सरकार–द्वैध शासन प्रणाली की शुरुआतः *कार्यपालिका*** (i) द्वैध शासन प्रणाली–वर्ष 1919 के अधिनियम की सबसे मुख्य विशेषता थी, प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिये द्वैध शासन व्यवस्था की शुरूआत। इस प्रणाली के जन्मदाता *सर लियोनिल कॉटिश* थे, जिन्होंने सर भूपेन्द्र नाथ बसु के लिये एक सत्र में इस व्यवस्था का स्पष्टीकरण किया था। इस व्यवस्था को लार्ड मांटेग्यू तथा चैम्सफोर्ड

ने अपना कर प्रांतीय सरकारों में पूर्ण स्थान दिया। इस प्रणाली के आधार पर प्रांतीय कार्यकारिणी परिषद को दो भागों में विभक्त किया गया। पहले भाग में गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी के सदस्य तथा दूसरे भाग में गवर्नर तथा उसके मंत्रीगण थे।

(ii) प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया—(क) आरक्षित विषय तथा (ख) हस्तांतरित विषय। *आरक्षित* विषयों में सभी महत्वपूर्ण विषय जैसे—कानून एवं व्यवस्था, वित्त, भू-राजस्व, सिंचाई, खनिज संसाधन इत्यादि सम्मिलित थे तथा *हस्तांतरित विषयों* में—शिक्षा, स्वास्थ्य, स्थानीय प्रशासन, उद्योग, कृषि तथा आबकारी इत्यादि सम्मिलित थे। आरक्षित विषयों का शासन गवर्नर अपनी कार्यकारी परिषद की सलाह से तथा हस्तांतरित विषयों का भारतीय मंत्रियों की सलाह से करता था।

(iii) मंत्री, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे तथा यदि व्यवस्थापिका उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दे, तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ता था। जबकि गवर्नर की कार्यकारी-परिषद के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे।

(iv) प्रांतों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर गवर्नर राज्य के प्रशासन एवं हस्तांतरित विषयों का दायित्व अपने ऊपर ले सकता था।

(v) भारत सचिव तथा गवर्नर-जनरल आवश्यकता पड़ने पर 'आरक्षित विषयों' में हस्तक्षेप कर सकते थे, किन्तु 'हस्तांतरित विषयों' में उन्हें हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी।

व्यवस्थापिका: (i) प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या में बहुत वृद्धि कर दी गयी। इन सदस्यों में 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होते थे।

(ii) मताधिकार में वृद्धि कर दी गयी तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का और ज्यादा विस्तार कर दिया गया।

(iii) महिलाओं को भी वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया।

(iv) प्रांतीय व्यवस्थापिका सभायें किसी भी प्रस्ताव को प्रस्तुत कर सकती थीं, किन्तु उसे पारित होने के लिये गवर्नर की सहमति अनिवार्य थी। गवर्नर को प्रस्तावों को अस्वीकार करने तथा अध्यादेश जारी करने का अधिकार था।

(v) व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य बजट को अस्वीकार कर सकते थे, किन्तु गवर्नर आवश्यक समझे तो सदस्यों की अनुमति के बिना भी उसे पास कर सकता था।

(vi) सदस्यों को बोलने का अधिकार तथा स्वतंत्रता थी।

(vii) प्रांतीय परिषदों को अब विधान परिषदों की संज्ञा दी गई।

● केंद्रीय सरकार—अनुत्तरदायी शासन की व्यवस्था यथावतः *कार्यपालिका*

(i) गवर्नर-जनरल मुख्य कार्यपालिका अधिकारी था।

(ii) सभी विषयों को दो भागों में बांटा गया—(क) केंद्रीय एवं (ख) प्रांतीय।

(iii) गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में 8 सदस्यों में 3 भारतीय नियुक्त किये गये और उन्हें विधि, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग सौंप दिए गए।

(iv) प्रांतों के 'आरक्षित विषयों' में गवर्नर-जनरल को पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

(v) गवर्नर-जनरल को मांगों (grants) पर कटौती का अधिकार था। साथ ही वह केंद्रीय व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकार किये गये प्रस्तावों को पारित कर अध्यादेश जारी कर सकता था।

व्यवस्थापिका: (i) केंद्रीय व्यवस्थापिका को द्विसदनीय संस्था बना दिया गया—(क) केंद्रीय विधान सभा तथा (ख) राज्य परिषद। केंद्रीय विधान सभा निम्न सदन थी तथा राज्य परिषद उच्च सदन। केंद्रीय विधान सभा की सदस्य संख्या 145 थी, जिसमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत किये जाने की व्यवस्था थी। 104 निर्वाचित सदस्यों में से—52 सामान्य, 30 मुसलमान, 2 सिख तथा 20 विशेष सदस्य थे। जबकि उच्च सदन या राज्य परिषद की सदस्य संख्या 60 थी, जिसमें 26 मनोनीत एवं 34 निर्वाचित थे। 34 निर्वाचित सदस्यों में 20 सामान्य, 10 मुसलमान, 3 यूरोपीय और 1 सिख था।

(ii) राज्य परिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष था तथा केवल पुरुष (Male) ही इसके सदस्य बन सकते थे, जबकि केंद्रीय विधान सभा का कार्यकाल 3 वर्ष था परंतु इसे गवर्नर-जनरल की इच्छा पर बढ़ाया भी जा सकता था।

(iii) सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे, अनुपूरक मांगें प्रस्तुत कर सकते थे, स्थगन प्रस्ताव ला सकते थे तथा बजट को अस्वीकार कर सकते थे। किंतु अभी भी बजट का 75 प्रतिशत हिस्सा सदस्यों की सहमति के बिना भी पारित किया जा सकता था।

(iv) कुछ भारतीय सदस्यों को सरकार की स्थायी समितियों, जैसे—वित्त समिति अथवा सार्वजनिक लेखा समिति में नियुक्त किया गया।

भारत सरकार अधिनियम 1919 का मूल्यांकन

महत्व: (i) भारत सरकार अधिनियम 1919 का भारत के संवैधानिक विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उसने पहली बार प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों के लिये बड़े पैमाने पर व्यवस्था की। इस व्यवस्था से देश के मतदाताओं में मत देने की व्यावहारिक समझ विकसित हुई।

(ii) इसने भारत में प्रांतीय स्वशासन तथा आंशिक रूप से ही सही, उत्तरदायी शासन प्रणाली की व्यवस्था की।

(iii) अधिनियम ने केंद्र में द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था की।

(iv) केंद्र में कार्यकारी परिषद में भारतीयों को पहले से तिगुना प्रतिनिधित्व दिया गया।

(v) भारत मंत्री के वेतन एवं भत्तों को भारतीय राजस्व के स्थान पर ब्रिटिश राजस्व से दिया जाने लगा।

(vi) एक नये पदाधिकारी भारतीय उच्चायुक्त की नियुक्ति की गयी।

प्रमुख विचार

जब मंत्रिमंडल ने 'उत्तरदायी शासन' का उल्लेख किया तो संभवतः वे पांच सौ वर्ष पुराने समय के बारे में चिंतन कर रहे थे।

लार्ड कर्जन

1919 का अधिनियम भारतीयों के लिये बेड़ियों का नया जाल था।

सुभाष चन्द्र बोस

मोंटफोर्ड सुधार, भविष्य में भी भारत के आर्थिक शोषण तथा उसे परतंत्र बनाये रखने की प्रक्रिया के ही अंग थे।

महात्मा गांधी

मैं विकास मंत्री था किंतु मेरे अधीन वन विभाग नहीं था। मैं सिंचाई मंत्री था किंतु मेरे अधीन सिंचाई विभाग नहीं था।

के.वी. रेड्डी (मद्रास के मंत्री) द्वैध शासन के दोषों के संबंध में

दोषः इस अधिनियम की अनेक कमियां या दोष थे, जो इस प्रकार हैं–

(i) मताधिकार बहुत सीमित था।

(ii) केंद्र में, सदस्यों का गवर्नर-जनरल एवं उसकी कार्यकारिणी परिषद पर कोई नियंत्रण नहीं था।

(iii) केंद्र में, विषयों का विभाजन संतोषजनक नहीं था।

(iv) केंद्रीय व्यवस्थापिका के लिये प्रांतों के मध्य सीटों का बंटवारा 'प्रांतों के महत्व' पर आधरित था। जैसे पंजाब का सैनिक महत्व एवं बम्बई का वाणिज्यिक महत्व।

(v) प्रांतीय स्तर पर प्रशासन का दो स्वतंत्र भागों में बंटवारा–राजनीति के सिद्धांत तथा व्यवहार के विरुद्ध था। विषयों का आरक्षित तथा हस्तांतरित होना भी अव्यवहारिक था।

(vi) प्रांतीय मंत्रियों का वित्त (Finance) एवं नौकरशाही पर कोई नियंत्रण नहीं था। इससे कालांतर में दोनों के मध्य टकराव बढ़ गया। नौकरशाही, मंत्रियों की अवहेलना भी करता था तथा महत्वपूर्ण विषयों पर मंत्रियों से मंत्रणा नहीं की जाती थी। यथार्थ में मंत्रियों पर गवर्नर का पूर्ण नियंत्रण था।

(vii) संयुक्त उत्तरदायित्व का पूर्ण अभाव था।

अधिनियम के संबंध में कांग्रेस की प्रतिक्रिया

1918 में बम्बई में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हसन इमाम की अध्यक्षता में आयोजित किया गया, जिसमें 1919 के भारत सरकार अधिनियम को 'निराशाजनक' एवं 'असंतोषकारी' घोषित किया गया। अधिवेशन में कांग्रेसियों ने प्रभावी स्व-शासन की मांग की।

गांधीजी का अभ्युदय

प्रारंभिक जीवन तथा दक्षिण अफ्रीका में सत्य का प्रयोग

मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को गुजरात के काठियावाड़ में पोरबंदर नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता काठियावाड़ के दीवान थे। इंग्लैंड से बैरिस्टरी पास करने के उपरांत वे गुजरात के एक व्यापारी दादा अब्दुल्ला का मुकदमा लड़ने दक्षिण अफ्रीका गये। वहां उन्होंने देखा कि जो एशियाई मजदूरी करने दक्षिण अफ्रीका गये थे वे किस प्रकार प्रजातीय उत्पीड़न तथा भेदभाव के शिकार थे। वहां उन्होंने गोरों द्वारा काले लोगों से रंगभेद की नीति के विरुद्ध विरोध प्रकट किया। इसके पश्चात् गांधीजी ने निश्चय किया कि वे वहां रूककर भारतीय मजदूरों को उनके अधिकारों के लिये संघर्ष करने की प्रेरणा देंगे तथा उन्हें संगठित करेंगे। गांधीजी 1914 तक दक्षिण अफ्रीका में रुके, तत्पश्चात् वे भारत वापस आये।

दक्षिण अफ्रीका में कार्यरत भारतीय तीन वर्गों में संगठित थे। प्रथम-वर्ग में मुख्यतया दक्षिण भारत से आये हुए मजदूर थे, जो 1890 के पश्चात् गन्ने के खेतों में काम करने दक्षिण अफ्रीका आये थे। दूसरे-वर्ग में भारत से आये मैमन मुसलमान थे, जो मजदूरों के साथ दक्षिण अफ्रीका आये थे तथा तीसरे-वर्ग में भारत से आये वे मजदूर थे, जो कार्य का अनुबंध समाप्त होने के पश्चात् अपने परिवार के साथ वहीं रहने लगे थे। ये भारतीय मुख्यतः अशिक्षित थे तथा उन्हें अंग्रेजी का अत्यल्प या बिलकुल ज्ञान नहीं था। ये सभी दक्षिण अफ्रीका में प्रजातीय भेदभाव के शिकार थे। दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार इन भारतीयों पर अनेक जुल्म ढाती थी। इन्हें मत देने के अधिकार से वंचित रखा गया था। इन्हें कुछ विशेष स्थानों में ही रहने की अनुमति थी, जो अत्यन्त संकीर्ण तथा गंदे थे एवं यहां की मानवीय दशायें अत्यन्त निम्न थीं। गोरी सरकार ने 9 बजे रात्रि के पश्चात् भारतीय तथा काले अफ्रीकियों के घर से बाहर निकलने पर प्रतिबंध लगा दिया था तथा उन्हें सार्वजनिक फुटपाथों के प्रयोग की अनुमति नहीं थी।

संघर्ष का उदारवादी चरण (1894-1906)

इस चरण में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीकी सरकार को याचिकायें एवं प्रार्थना-पत्र सौंपने की नीति अपनायी। उन्होंने ब्रिटेन को भी इस संबंध में अनेक प्रार्थना-पत्र भेजे। उन्होंने ब्रिटेन से मांग की कि वह इस विषय पर हस्तक्षेप कर भारतीयों की दशा सुधारने का प्रयत्न करे क्योंकि भारत, ब्रिटेन का उपनिवेश है। अतः ब्रिटेन का उत्तरदायित्व है कि वह भारतीयों पर हो रहे प्रजातीय भेदभाव एवं उत्पीड़न को रोकने का प्रयास करे। गांधीजी ने सभी भारतीयों को संगठित कर 'नेटल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना की तथा *इंडियन ओपीनियन* नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह का काल (1906-1914)

दक्षिण अफ्रीका में गोरी सरकार के विरुद्ध गांधीजी के संघर्ष का दूसरा चरण 1906 में प्रारम्भ हुआ। इस चरण में गांधीजी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध या सविनय अवज्ञा की नीति अपनायी, जिसे उन्होंने *सत्याग्रह* का नाम दिया।

पंजीकरण प्रमाणपत्र के विरुद्ध सत्याग्रह (1906): दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने एक विधान बनाकर प्रत्येक भारतीय के लिये यह अनिवार्य कर दिया कि वे अपने अंगूठे के निशान वाले पंजीकरण प्रमाणपत्र को हर समय अपने पास रखें। तदुपरांत गांधीजी के नेतृत्व में सभी भारतीयों ने इस भेदभावमूलक कानून का विरोध करने का निर्णय लिया। गांधीजी ने इस हेतु 'अहिंसात्मक प्रतिरोध सभा' का गठन किया। गांधीजी सहित कई भारतीयों को पंजीकरण कानून का विरोध करने के कारण जेल में डाल दिया गया। बाद में सरकारी अधिकारियों ने स्वयं इन सभी निडर भारतीयों का छलपूर्वक रजिस्ट्रेशन कर दिया। लेकिन भारतीयों ने अपना विरोध अभियान जारी रखा तथा गांधीजी की अगुवायी में अपने रजिस्ट्रेशन के कागजातों को सामूहिक रूप से जला दिया।

प्रवासी भारतीयों के प्रवेश पर रोक का विरोधः इस बीच सरकार ने एक और कानून बनाया, जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतीयों के प्रवेश को रोकना था। इस कानून का विरोध करने हेतु अनेक वरिष्ठ भारतीय नटाल से ट्रांसवाल आये। ट्रांसवाल के तमाम भारतीयों ने भी आंदोलनकारियों का साथ दिया। लोगों ने कई स्थानों पर लाइसेंस का उल्लंघन किया। कानून का विरोध करने के लिये भारतीयों ने एक प्रांत से दूसरे प्रांत की यात्रा की। सरकार ने विरोधियों के प्रति दमन का मार्ग अपनाया। 1908 में गांधीजी को कारागार भेज दिया गया। कई अन्य भारतीयों को भी जेल में डाल दिया गया तथा उन्हें तरह-तरह की यातनायें दी गयीं। ज्यादातर

टाल्सटाय फार्म

गांधीजी के नेतृत्व में चल रहा आंदोलन धीरे-धीरे संकटग्रस्त होने लगा। आंदोलनकारियों की सक्रियता धीरे-धीरे कम होने लगी तथा सरकार का अड़ियल रूख बरकरार रहा। 1909 में गांधीजी तथा अंग्रेज अधिकारियों के मध्य वार्ता का कोई खास परिणाम नहीं निकला। यद्यपि अभी भी आंदोलन को जारी रखना आवश्यक था, लेकिन आंदोलन से सम्बद्ध भारतीयों के मध्य आर्थिक समस्या खड़ी हो गयी। इन्हीं सब परिस्थितियों के कारण गांधीजी ने वर्ष 1910 में 'टालस्टाय फार्म' की स्थापना की। इस फार्म में गांधीजी ने अपने एक जर्मन शिल्पकार मित्र कालेनबाख की मदद से सत्याग्रहियों के परिवार की पुर्नवास समस्या को हल किया तथा उनके भरण-पोषण की व्यवस्था की। भारत से भी यहां काफी पैसा भेजा गया।

गरीब इसके शिकार हुए। व्यापारियों को आर्थिक हानि पहुंचाने की भी सरकार ने धमकी दी।

पोल टैक्स तथा भारतीय विवाहों को अप्रमाणित करने के विरुद्ध अभियानः इस बार सत्याग्रह का स्वरूप बड़ा था। इकरारनामे की अवधि समाप्त होने पर दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों पर सरकार ने तीन पौंड का कर लगा दिया। इसके खिलाफ तीव्र सत्याग्रह छिड़ गया। भारतीयों में ज्यादातर गरीब मजदूर थे, जिनकी मासिक आमदनी 10 शिलिंग से भी कम थी। ऐसे में तीन पौंड का कर उनके लिये बहुत ज्यादा था। जब इस नियम के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ, तो इसमें लगभग सभी भारतीयों ने भाग लिया तथा इसे व्यापक जन-आंदोलन का रूप दे दिया। इसी बीच सुप्रीम कोर्ट के एक निर्णय ने आंदोलन को और भड़का दिया। कोर्ट ने उन सभी विवाहों को जो ईसाई पद्धति से नहीं सम्पन्न हुए थे तथा जिनका पंजीकरण नहीं हुआ था, अवैध घोषित कर दिया। इस कानून के अनुसार, हिन्दू, मुस्लिम और पारसी रीति-रिवाजों से सम्पन्न सभी शादियां अवैध थीं तथा ऐसी शादियों से उत्पन्न सभी संतानें भी अवैध। भारतीयों ने इस फैसले को अपनी महिलाओं का अपमान समझा। गांधीजी सहित अनेक सत्याग्रही कानून की अवहेलना कर नटाल से ट्रांसवाल पहुंच गये। सरकार ने इन लोगों को बंदी बनाकर कारावास में डाल दिया। शीघ्र ही खदान मजदूर तथा बागान मजदूर भी सक्रिय रूप से आंदोलन में सम्मिलित हो गये। इन मजदूरों ने सरकारी दमन के विरोध में हड़ताल कर दी। सरकार की कठोर दमनकारी नीतियों से समूचा भारतीय समुदाय तिलमिला उठा। गोपाल कृष्ण गोखले ने पूरे देश का दौरा कर इस अत्याचार के खिलाफ जनमत तैयार किया। लार्ड हर्डिंग तक ने इसकी निंदा की तथा अत्याचारों के आरोप की निष्पक्ष जांच कराने की मांग की।

समझौतापरक समाधानः गांधीजी, लार्ड हार्डिंग तथा गोखले तथा सी.एफ.एन्ड्रयूज से कई दौर की लंबी बातचीत के पश्चात् दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने भारतीयों की मुख्य मांगें मान लीं। तीन पौंड का कर तथा पंजीकरण प्रमाणपत्र से सम्बद्ध कानून समाप्त कर दिये गये। भारतीयों को उनके रीति-रिवाजों से विवाह करने की छूट प्रदान की गयी तथा भारतीय अप्रवासियों की अन्य कठिनाइयों पर दक्षिणी अफ्रीकी सरकार ने सहानुभूतिपूर्वक विचार करने का आश्वासन दिया।

प्रमुख विचार

"ऐसा व्यक्ति जिसे इंद्रिय सुख की चाह नहीं है, उसे धन, ऐश्वर्य, सुख, प्रशंसा एवं प्रोन्नति की चाह नहीं है, लेकिन जो वह सही मानते हैं, उसे करने के लिए दृढ़ निश्चयी थे। वह एक खतरनाक एवं कष्टप्रद शत्रु थे, चूंकि उनके शरीर को नियंत्रित किया जा सकता था, उनकी आत्मा एवं आत्मबल को नहीं।"

गिलबर्ट मुरे (हिबर्ट जर्नल में गांधी पर)

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के अनुभव

(i) दक्षिण अफ्रीका में गरीब भारतीयों के जुझारूपन को देखकर गांधीजी को विश्वास हो गया कि भारतीय जनता आवश्यकता पड़ने पर किसी उदात्त उद्देश्य के लिये जुझारू संघर्ष और बलिदान को तैयार हो सकती है।

(ii) यहां गांधीजी विभिन्न सम्प्रदाय एवं समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों के मध्य एकता स्थापित करने में सफल हुए। उनके नेतृत्व में हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, अमीर, गरीब, पुरुष, महिला सभी ने कंधे से कंधा मिलाकर आंदोलन में भाग लिया।

(iii) गांधीजी ने यह सबक सीखा कि कई बार नेताओं को ऐसे सख्त निर्णय भी करने पड़ सकते हैं, जो उनके समर्थकों को भी पसंद न आयें।

(iv) दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी को विरोधी राजनीतिक धाराओं से उन्मुक्त वातावरण में एक विशिष्ट राजनीतिक शैली, नेतृत्व के नये अंदाज और संघर्ष के नये तरीकों को विकसित करने का अवसर मिला। इसके फलस्वरूप वे गांधीवादी रणनीति व संघर्ष के तरीकों की विशेषताओं और कमियों दोनों से भलीभांति परिचित हो गये तथा उन्हें विश्वास हो गया कि ये ही सबसे बेहतर हैं।

गांधीजी की सत्याग्रह की तकनीक

गांधीजी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के प्रवास के दौरान सत्याग्रह तकनीक का प्रयोग किया। सत्याग्रह, सत्य एवं अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित था। गांधीजी ने ईसाईयों की जरूरत को देखते हुए सत्याग्रह में कुछ तत्व भारतीय परम्परा के जोड़े और टाल्सटॉय के दर्शन को भी शामिल किया, जिन्होंने कहा कि बुराई का सामना अहिंसक प्रतिरोध के माध्यम से सबसे बेहतर तरीके से किया जा सकता है। इसकी मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थीं–

- एक सत्याग्रही यह विचार कभी नहीं करता कि गलत क्या है। वह सदैव सच्चा, अहिंसक एवं निडर रहता है।
- एक सत्याग्रही असहयोग एवं बहिष्कार के सिद्धांत पर काम करता है।
- सत्याग्रह की पद्धति में करों का भुगतान न करना और प्राधिकारी के सम्मान और स्थिति में कमी करना।
- सत्याग्रही में बुराई के विरुद्ध संघर्ष करते समय सभी प्रकार की यातनायें सहने की शक्ति होनी चाहिये। ये यातनायें सत्य के लिये उसकी आसक्ति का एक हिस्सा हैं।
- बुराई के विरुद्ध संघर्ष की प्रक्रिया में एक सच्चा सत्याग्रही बुराई करने वाले से अनुराग रखता है, घृणा या द्वेष नहीं।
- एक सच्चा सत्याग्रही बुराई के सामने कभी सिर नहीं झुकाता, उसका परिणाम चाहे कुछ भी हो।

● केवल बहादुर एवं दृढ़ निश्चयी व्यक्ति ही सच्चा सत्याग्रही बन सकता है। सत्याग्रह, कायर और दुर्बल लोगों के लिये नहीं है। कायर व्यक्ति हिंसा का सहारा लेता है, जिसका सत्याग्रह में कोई स्थान नहीं है। अन्य शब्दों में, साध्य से साधनों को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता, अतः सही साध्य के लिए साधनों का पवित्र होना आवश्यक है।

गांधीजी की भारत वापसी

गांधीजी, जनवरी 1915 में भारत लौटे। दक्षिण अफ्रीका में उनके संघर्ष और उनकी सफलताओं ने उन्हें भारत में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था। न केवल शिक्षित भारतीय अपितु जनसामान्य भी गांधीजी के बारे में भलीभांति परिचित हो चुका था। गांधीजी ने निर्णय किया कि वे अगले एक वर्ष तक समूचे देश का भ्रमण करेंगे तथा जनसामान्य की यथास्थिति का स्वयं अवलोकन करेंगे। उन्होंने यह भी निर्णय लिया कि फिलहाल वह किसी राजनीतिक मुद्दे पर कोई सार्वजनिक कदम नहीं उठायेंगे। भारत की तत्कालीन सभी राजनीतिक विचारधाराओं से गांधीजी असहमत थे। नरमपंथी राजनीति से उनकी आस्था पहले ही खत्म हो चुकी थी तथा वे होमरूल आंदोलन की इस रणनीति के भी खिलाफ थे कि अंग्रेजों पर कोई भी मुसीबत उनके लिये एक अवसर है। यद्यपि होमरूल आंदोलन इस समय काफी लोकप्रिय था किन्तु, इसके सिद्धांत गांधीजी के विचारों से मेल नहीं खाते थे। उनका मानना था कि ऐसे समय में जबकि ब्रिटेन प्रथम विश्व युद्ध में उलझा हुआ है, होमरूल आंदोलन को जारी रखना अनुचित है। उन्होंने तर्क दिया कि इन परिस्थितियों में राष्ट्रवादी लक्ष्यों को प्राप्त करने का सर्वोत्तम मार्ग है—अहिंसक सत्याग्रह। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि जब तक कोई राजनीतिक संगठन सत्याग्रह के मार्ग को नहीं अपनायेगा तब तक वे ऐसे किसी भी संगठन से सम्बद्ध नहीं हो सकते।

रौलेट सत्याग्रह प्रारम्भ करने से पहले, 1917 और 1918 के आरम्भ में गांधीजी ने तीन संघर्षों—चम्पारण आंदोलन (बिहार) तथा अहमदाबाद और खेड़ा (दोनों गुजरात) सत्याग्रह में हिस्सा लिया। ये तीनों ही आंदोलन स्थानीय आर्थिक मांगों से सम्बद्ध थे। इनमें अहमदाबाद का आंदोलन, औद्योगिक मजदूरों का आंदोलन था तथा चम्पारण और खेड़ा किसान आंदोलन थे।

चम्पारण सत्याग्रह (1917)—प्रथम सविनय अवज्ञा

चम्पारण का मामला काफी पुराना था। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोरे बागान मालिकों ने किसानों से एक अनुबंध करा लिया, जिसके अंतर्गत किसानों को अपनी भूमि के 3/20वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। यह व्यवस्था 'तिनकाठिया

पद्धति' के नाम से जानी जाती थी। 19वीं सदी के अंत में जर्मनी में रासायनिक रंगों (डाई) का विकास हो गया, जिसने नील को बाजार से बाहर खदेड़ दिया। इसके कारण चम्पारण के बागान मालिक नील की खेती बंद करने को विवश हो गये। किसान भी मजबूरन नील की खेती से छुटकारा पाना चाहते थे। किन्तु परिस्थितियों को देखकर गोरे बागान मालिक किसानों की विवशता का फायदा उठाना चाहते थे। उन्होंने दूसरी फसलों की खेती करने के लिये किसानों को अनुबंध से मुक्त करने की एवज में लगान व अन्य करों की दरों में अत्यधिक वृद्धि कर दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने द्वारा तय की गयी दरों पर किसानों को अपने उत्पाद बेचने के लिये बाध्य किया। चम्पारण से जुड़े एक प्रमुख आंदोलनकारी राजकुमार शुक्ल ने गांधीजी को चम्पारण बुलाने का फैसला किया।

फलतः गांधीजी, राजेन्द्र प्रसाद, बृज किशोर, मजहर उल-हक, महादेव देसाई, नरहरि पारिख तथा जे.बी. कृपलानी के सहयोग से मामले की जांच करने चम्पारण पहुंचे। गांधीजी के चम्पारण पहुंचते ही अधिकारियों ने उन्हें तुरन्त चम्पारण से चले जाने का आदेश दिया। किन्तु गांधीजी ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया तथा किसी भी प्रकार के दंड को भुगतने का फैसला किया। सरकार के इस अनुचित आदेश के विरुद्ध गांधीजी द्वारा अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह का यह मार्ग चुनना विरोध का सर्वोत्तम तरीका था। गांधीजी की दृढ़ता के सम्मुख सरकार विवश हो गयी, अतः उसने स्थानीय प्रशासन को अपना आदेश वापस लेने तथा गांधीजी को चम्पारण के गांवों में जाने की छूट देने का निर्देश दिया। इस बीच सरकार ने सारे मामले की जांच करने के लिये एक आयोग का गठन किया तथा गांधीजी को भी इसका सदस्य बनाया गया। गांधीजी, आयोग को यह समझाने में सफल रहे कि *तिनकाठिया पद्धति* समाप्त होनी चाहिये। उन्होंने आयोग को यह भी समझाया कि किसानों से पैसा अवैध रूप से वसूला गया है, उसके लिये किसानों को हरजाना दिया जाये। बाद में एक और समझौते के पश्चात् गोरे बागान मालिक अवैध वसूली का 25 प्रतिशत हिस्सा किसानों को लौटाने पर राजी हो गये। इसके एक दशक के भीतर ही बागान मालिकों ने चम्पारण छोड़ दिया। इस प्रकार गांधीजी ने भारत में सविनय अवज्ञा आंदोलन का प्रथम युद्ध सफलतापूर्वक जीत लिया। चम्पारन सत्याग्रह से सम्बद्ध अन्य लोकप्रिय नेताओं में अनुग्रह नारायण सिन्हा, रामनवमी प्रसाद एवं शंभुशरण वर्मा शामिल थे।

अहमदाबाद मिल हड़ताल (1918)—प्रथम भूख हड़ताल

चम्पारण के पश्चात् गांधीजी ने मार्च 1918 में, अहमदाबाद मिल हड़ताल के मुद्दे पर हस्तक्षेप किया। यहां मिल मालिकों और मजदूरों में 'प्लेग बोनस' को लेकर विवाद छिड़ा था। गांधीजी ने मजदूरों को हड़ताल पर जाने तथा 50 प्रतिशत के स्थान पर 35 प्रतिशत बोनस की मांग करने को कहा। जबकि मिल मालिक, मजदूरों को केवल 20

प्रतिशत बोनस देने के लिये राजी थे। गांधीजी ने मजदूरों को सलाह दी कि वे शांतिपूर्ण एवं अहिंसक ढंग से अपनी हड़ताल जारी रखें। गांधीजी ने मजदूरों के समर्थन में भूख हड़ताल प्रारम्भ करने का फैसला किया। अंबालाल साराभाई की बहन अनुसुइया बेन ने इस संघर्ष में गांधीजी को सक्रिय योगदान प्रदान किया। इस अवसर पर उन्होंने एक दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। गांधीजी के अनशन पर बैठने के फैसले से मजदूरों के उत्साह में वृद्धि हुई तथा उनका संघर्ष तेज हो गया। मजबूर होकर मिल मालिक समझौता करने को तैयार हो गये तथा सारे मामले को एक ट्रिब्यूनल को सौंप दिया गया। जिस मुद्दे को लेकर हड़ताल प्रारम्भ हुई थी, ट्रिब्यूनल के फैसले से वह समाप्त हो गया। ट्रिब्यूनल ने मजदूरों के पक्ष में निर्णय देते हुए मिल मालिकों को 35 प्रतिशत बोनस मजदूरों को भुगतान करने का फैसला सुनाया। गांधीजी की यह दूसरी प्रमुख विजय थी।

खेड़ा सत्याग्रह (1918)—प्रथम असहयोग

वर्ष 1918 के भीषण दुर्भिक्ष के कारण गुजरात के खेड़ा जिले में पूरी फसल बरबाद हो गयी, फिर भी सरकार ने किसानों से मालगुजारी वसूल करने की प्रक्रिया जारी रखी। 'राजस्व संहिता' के अनुसार, यदि फसल का उत्पादन, कुल उत्पाद के एक-चौथाई से भी कम हो तो किसानों का राजस्व पूरी तरह माफ कर दिया जाना चाहिए, किन्तु सरकार ने किसानों का राजस्व माफ करने से मना कर दिया। गुजरात सभा, जिसमें किसान शामिल थे, ने 1919 के राजस्व वर्ष के मूल्यांकन को लागू न करने की प्रार्थना के लिए प्रांत के सर्वोच्च शासकीय प्राधिकारियों के सम्मुख याचिका रखी। सरकार कठोर बनी रही और कहा कि यदि करों का भुगतान न किया गया तो किसानों की संपत्ति जब्त कर ली जाएगी। फलस्वरूप गांधीजी ने किसानों को राजस्व अदा न करने तथा सरकार के दमनकारी कानून के खिलाफ संघर्ष करने की प्रेरणा दी। खेड़ा जिले के युवा अधिवक्ता वल्लभभाई पटेल, इंदुलाल याज्ञिक तथा कई अन्य युवाओं ने गांधीजी के साथ खेड़ा के गांवों का दौरा प्रारम्भ किया। इन्होंने किसानों को लगान न अदा करने की शपथ दिलायी। गांधीजी ने घोषणा की कि यदि सरकार गरीब किसानों का लगान माफ कर दे तो लगान देने में सक्षम किसान स्वेच्छा से अपना लगान अदा कर देंगे। दूसरी ओर, सरकार ने लगान वसूलने के लिये दमन का सहारा लिया। कई स्थानों पर किसानों की संपत्ति कुर्क कर ली गयी तथा उनके मवेशियों को जब्त कर लिया गया। अंततः, सरकार ने किसानों के साथ एक समझौता किया। उसने एक वर्ष के लिए कर माफ कर दिया और आगामी वर्षों में करों की दर में कमी की तथा किसानों की जब्त संपत्ति को लौटा दिया।

खेड़ा आंदोलन ने किसानों के बीच एक नवीन जागरूकता का संचार किया।

किसान जागरूक हुए कि जब तक उनका देश संपूर्ण आजादी प्राप्त नहीं करता, वे अन्याय और शोषण से मुक्त नहीं होंगे।

चम्पारण, अहमदाबाद तथा खेड़ा में गांधीजी की उपलब्धियां

● चम्पारण, अहमदाबाद तथा खेड़ा आन्दोलन ने गांधीजी को संघर्ष के गांधीवादी तरीके 'सत्याग्रह' को आजमाने का अवसर दिया।

● गांधीजी को देश की जनता के करीब आने तथा उनकी समस्यायें समझने का अवसर मिला।

● गांधीजी जनता की ताकत तथा कमजोरियों से परिचित हुए तथा उन्हें अपनी रणीनति का मूल्यांकन करने का अवसर मिला।

● इन आन्दोलनों में गांधीजी को समाज के विभिन्न वर्गों, विशेषतया युवा पीढ़ी का भरपूर समर्थन मिला तथा भारतीयों के मध्य उनकी विशिष्ट पहचान कायम हो गयी।

रौलेट एक्ट, सत्याग्रह, जलियांवाला बाग जनसंहार

रौलेट एक्ट

1919 का वर्ष भारत के लिये अत्यन्त सोच एवं असंतोष का वर्ष था। देश में फैल रही राष्ट्रीयता की भावना तथा क्रांतिकारी गतिविधियों को कुलचने के लिये ब्रिटेन को पुनः शक्ति की आवश्यकता थी क्योंकि भारत के रक्षा अधिनियम की शक्ति समाप्त प्रायः थी।

इसी संदर्भ में सरकार ने 'सर सिडनी रौलेट' की नियुक्ति की, जिन्हें इस बात की जांच करनी थी कि भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों के माध्यम से सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र करने वाले लोग कहां तक फैले हुए हैं और उनसे निपटने के लिये किस प्रकार के कानूनों की आवश्यकता है। इस संबंध में सर सिडनी रौलेट की समिति ने जो सिफारिशें कीं, उन्हें ही 'रौलेट अधिनियम या रौलेट एक्ट' के नाम से जाना जाता है। इस एक्ट के अंतर्गत एक विशेष न्यायालय की स्थापना की गयी, जिसमें उच्च न्यायालय के तीन वकील थे। यह न्यायालय ऐसे साक्ष्यों को मान्य कर सकता था, जो विधी के अंतर्गत मान्य नहीं थे। इसके निर्णय के विरुद्ध कहीं भी अपील नहीं की जा सकती थी। न्यायालय द्वारा बनाये गये नियम के अनुसार, प्रांतीय सरकारों को बिना वारंट के तलाशी, गिरफ्तारी तथा बंदी प्रत्यक्षीकरण के अधिकार को रद्द करने आदि की असाधारण शक्तियां दे दी गयीं। युद्ध काल में तो यह विधेयक उचित माना जा

सकता था, किंतु शांतिकाल में यह पूर्णतया अनुचित था। भारतवासियों ने इस विधेयक को 'काला कानून' कहा तथा इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की।

रौलेट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह—प्रथम जन-आन्दोलन

विश्व युद्ध की समाप्ति पर, जब भारतीय जनता संवैधानिक सुधारों का इंतजार कर रही थी, ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी रौलेट एक्ट को जनता के सम्मुख पेश कर दिया, इसे भारतीयों ने अपना घोर अपमान समझा। अपने पूर्ववर्ती अभियानों से अदम्य व साहसी हो चुके गांधीजी ने फरवरी 1919 में प्रस्तावित रौलेट एक्ट के विरोध में देशव्यापी आंदोलन का आह्वान किया। किन्तु संवैधानिक प्रतिरोध का जब सरकार पर कोई असर नहीं हुआ तो गांधीजी ने सत्याग्रह प्रारम्भ करने का निर्णय किया। एक 'सत्याग्रह सभा' गठित की गयी तथा होमरूल लीग के युवा सदस्यों से सम्पर्क कर अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध संघर्ष करने का निर्णय हुआ। प्रचार कार्य प्रारम्भ हो गया। राष्ट्रव्यापी हड़ताल, उपवास तथा प्रार्थना सभाओं के आयोजन का फैसला किया गया। इसके साथ ही कुछ प्रमुख कानूनों की अवज्ञा तथा गिरफ्तारी देने की योजना भी बनाई गयी।

आन्दोलन के इस मोड़ के लिये कई कारण थे जो निम्नानुसार हैं—

(i) जन सामान्य को आन्दोलन के लिये एक स्पष्ट दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ। अब वे अपनी समस्याओं की केवल मौखिक अभिव्यक्ति के स्थान पर प्रत्यक्ष कार्यवाई कर सकते थे।

(ii) इसके कारण किसान, शिल्पकार और शहरी निर्धन वर्ग सक्रियता से आंदोलन से जुड़ गया। उनकी यह सक्रियता आगे के आंदोलनों में भी बनी रही।

(iii) राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष स्थायी रूप से जनसामान्य से सम्बद्ध हो गया। गांधीजी ने स्पष्ट किया कि अनशन की प्रासंगिकता तभी है जब सभी भारतीय जागृत होकर सक्रियता से राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागी बनें।

सत्याग्रह 6 अप्रैल, 1919 को प्रारंभ किया गया, किन्तु तारीख की गलतफहमी के कारण सत्याग्रह प्रारम्भ होने से पहले ही आंदोलन ने हिंसक स्वरूप धारण कर लिया। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, अहमदाबाद इत्यादि स्थानों में बड़े पैमाने पर हिंसा हुई तथा अंग्रेज-विरोधी प्रदर्शन आयोजित किये गये। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान सरकारी दमन, बलपूर्वक नियुक्तियों तथा कई कारणों से त्रस्त जनता ने पंजाब में हिंसात्मक प्रतिरोध प्रारम्भ कर दिया तथा परिस्थिति अत्यन्त विस्फोटक हो गई। अमृतसर और लाहौर में तो स्थिति पर नियंत्रण पाना मुश्किल हो गया। मजबूर होकर सरकार को सेना का सहारा लेना पड़ा। गांधीजी ने पंजाब जाकर स्थिति को संभालने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें बम्बई भेज दिया गया। तत्पश्चात् 13 अप्रैल, 1919 को अंग्रेजी सरकार का वह बर्बर और घिनौना रूप सामने आया, जिसने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक रक्तरंजित धब्बा लगा दिया।

जलियांवाला बाग हत्याकांड (13 अप्रैल 1919)

अमृतसर हिंसा से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। शुरू में प्रदर्शनकारियों ने किसी प्रकार की हिंसा नहीं की। भारतीयों ने अपनी दुकानें बंद कर दीं और खाली सड़कों ने ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गए धोखे को लेकर भारतीयों की नाराजगी जाहिर की। 9 अप्रैल को, राष्ट्रवादी नेताओं सैफुद्दीन किचलु और डा. सत्यपाल को ब्रिटिश अधिकारियों ने गिरफ्तार कर लिया। इस घटना से हजारों भारतीयों में रोष व्याप्त हो गया और वे 10 अप्रैल, 1919 को सत्याग्रहियों पर गोली चलाने तथा अपने नेताओं डा. सत्यपाल व डा. किचलू को पंजाब से बलात् बाहर भेजे जाने का विरोध कर रहे थे। जल्द ही विरोध-प्रदर्शन ने हिंसक रूप ले लिया, चूंकि पुलिस ने गोली चलाना शुरू कर दिया, जिसमें कुछ प्रदर्शनकारी मारे गए जिससे काफी तनाव फैल गया। दंगे में पांच अंग्रेज भी मारे गए और मार्सेला शेरवुड, एक अंग्रेज मिशनरी महिला, जो साईकिल पर जा रही थी, को पीटा गया।

उपद्रव को शांत करने के लिए तुरंत सैनिक टुकड़ी को भेजा गया। क्षेत्र में मार्शल कानून लागू करने और स्थिति शांतिपूर्ण बनाए रखने की जिम्मेदारी वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी ब्रिगेडियर जनरल *रेजीनाल्ड डायर* को सौंपी गई। डायर ने, हालांकि, 13 अप्रैल, 1919 को एक घोषणा जारी की कि लोग पास के बिना शहर से बाहर न जाएं और एक समूह में तीन लोगों से अधिक लोग जुलूस, प्रदर्शन या सभाएं न करें।

13 अप्रैल (बैसाखी के दिन) को, आस-पास के गांव के लोग बैसाखी मनाने के लिए शहर के लोकप्रिय स्थान जलियांवाला बाग में इकट्ठे हुए, जो जनरल डायर की घोषणा से अनजान थे। स्थानीय नेताओं ने भी इसी स्थान पर एक विरोध सभा का आयोजन किया। त्योहार के आयोजन के बीच विरोध-प्रदर्शन बैठक भी शांतिपूर्ण तरीके से चल रही थी, जिसमें दो प्रस्ताव—रौलेट अधिनियम की समाप्ति और 10 अप्रैल की गोलीबारी की निंदा—पारित किए गए। जनरल डायर ने इस सभा के आयोजन को सरकारी आदेश की अवहेलना समझा तथा सभा स्थल को सशस्त्र सैनिकों के साथ घेर लिया। डायर ने बिना किसी पूर्व चेतावनी के सभा पर गोलियां चलाने का आदेश दे दिया। लोगों पर तब तक गोलियां बरसायी गयीं, जब तक सैनिकों की गोलियां समाप्त नहीं हो गयीं। सभा स्थल के सभी निकास मार्गों के सैनिकों द्वारा घिरे होने के कारण सभा में सम्मिलित निहत्थे लोग चारों ओर से गोलियों से छलनी होते रहे। इस घटना में लगभग 1000 लोग मारे गये, जिसमें युवा, महिलायें, बूढ़े, बच्चे सभी शामिल थे। जलियांवाला बाग हत्याकांड से पूरा देश स्तब्ध रह गया। वहशी क्रूरता ने देश को मौन कर दिया। पूरे देश में बर्बर हत्याकांड की भर्त्सना की गयी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने विरोध स्वरूप अपनी 'नाइटहुड' की उपाधि त्याग दी तथा शंकरराम नागर ने वायसराय की कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया। अनेक स्थानों पर सत्याग्रहियों ने अहिंसा का मार्ग त्यागकर हिंसा का मार्ग अपनाया, जिससे 18 अप्रैल 1919 को गांधीजी ने अपना

सत्याग्रह को समाप्त घोषित कर दिया, क्योंकि उनके सत्याग्रह में हिंसा का कोई स्थान नहीं था।

ए.पी.जे. टेलर, इतिहासकार, के अनुसार, ''जलियांवाला बाग जनसंहार एक ऐसा निर्णायक मोड़ था जब भारतीय ब्रिटिश शासन से अलग हुए''।

1919 की घटना ने पंजाब की प्रतिरोध या विरोध-प्रदर्शन की राजनीति को आकार प्रदान किया। भगत सिंह की **भारत नौजवान सभा** ने इस जनसंहार को ऐसे कृत्य के रूप में देखा जो असहयोग आंदोलन की समाप्ति के पश्चात् उत्पन्न संताप से उबरने में मदद करेगा।

उधम सिंह, जिन्होंने अपना नाम राम मोहम्मद सिंह आजाद रखा, ने लेफ्टिनेंट गवर्नर माइकल ओ डायर, जिसने पंजाब में 1919 के विरोध प्रदर्शन के वीभत्स रूप से कुचलने का संचालन किया, की हत्या कर दी, जिसके लिए उन्हें वर्ष 1940 में फांसी की सजा दी गई। (वर्ष 1974 में उनकी अस्थियों को भारत लाया गया।)

हंटर आयोग

जलियांवाला बाग हत्याकांड ने भारतीयों और साथ ही साथ कई अंग्रेजों को भी स्तब्ध कर दिया। भारत सचिव एडविन मांटेग्यू ने इस मामले की जांच के लिए एक समिति का गठन किया। इसलिए 14 अक्टूबर, 1919 को भारत सरकार ने **डिस्ऑर्डर इंक्वायरी कमेटी,** जिसे लोकप्रिय एवं व्यापक तौर पर **हंटर कमीशन** के नाम से जाना जाता है, चूंकि इसके अध्यक्ष का नाम विलियम हंटर, स्कॉटलैंड के भूतपूर्व सॉलिसिटर जनरल और स्कॉटलैंड में कॉलेज ऑफ जस्टिस के सीनेटर, था। इस आयोग का उद्देश्य—बॉम्बे, दिल्ली एवं पंजाब में हुए उपद्रवों के कारणों की जांच करना और उनसे निपटने के उपाय सुझाना था।

हंटर आयोग में सदस्य के तौर पर तीन भारतीय—सर चिमनलाल हरिलाल सीतलवाड़ा, बॉम्बे विश्वविद्यालय के उप-कुलपति और बॉम्बे उच्च न्यायालय के अधिवक्ता; पंडित जगत नारायण, संयुक्त प्रांत की विधायी परिषद् के सदस्य और अधिवक्ता; और सरदार साहिबजादा सुल्तान अहमद खान, ग्वालियर राज्य के अधिवक्ता—शामिल थे।

29 अक्टूबर, 1919 को दिल्ली में बैठक के पश्चात्, आयोग ने दिल्ली, अहमदाबाद, बॉम्बे और लाहौर से बुलाए गए गवाहों के बयान दर्ज किए। नवम्बर 1919 में, आयोग लाहौर पहुंचा और अमृतसर की घटना के मुख्य गवाह के बयानों की जांच की। डायर को आयोग के सम्मुख उपस्थित होने को कहा गया। उसे विश्वास था कि उसने जो कुछ भी किया केवल उसका काम था। डायर ने बयान दिया कि उसकी इच्छा पूरे पंजाब से आतंक को खत्म करने की थी, और ऐसा करने में विद्रोहियों के मनोबल में कमी आई। डायर ने यह कहने में अपनी शान समझी कि, ''ऐसा हो सकता था कि वह बिना

गोली चलाए भीड़ को तितर-बितर कर सकता था, लेकिन वे फिर से आते और हमारा मजाक बनाते और ऐसा करके वह स्वयं को मूर्ख नहीं बनाना चाहता था।'' उसने यह भी कहा कि उसने गोली बरसाने के बाद घायलों को उपचार के लिए ले जाने का प्रयास नहीं किया, जैसाकि वह नहीं मानता कि यह उसका काम था।

यद्यपि, डायर के बयान ने आयोग के सदस्यों के बीच नस्लवादी तनाव उत्पन्न किया, तथापि मार्च 1920 को आयोग की अंतिम रिपोर्ट आयी, जिसने निष्पक्ष रूप से डायर के कृत्य की निंदा की। रिपोर्ट ने कहा कि बाग में भीड़ को हटाने की कार्यवाही न करना एक भूल थी; लंबी अवधि तक गोली चलाना एक भारी भूल थी, डायर के पर्याप्त नैतिक प्रभाव को प्रस्तुत करने के प्रयास की निंदा की गई; डायर ने अपने प्राधिकार से बाहर जाकर कार्य किया; जलियांवाला बाग में बिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का षड्यंत्र नहीं चल रहा था। आयोग के भारतीय सदस्यों ने रिपोर्ट में बताया कि जनसभाएं करने को प्रतिबंधित करने संबंधी घोषणा को पर्याप्त रूप से प्रकाशित नहीं किया गया; भीड़ में निर्दोष लोग थे, और बाग में पहले कोई हिंसा नहीं हुई थी; डायर को या तो अपने सैनिकों को घायलों की मदद करने का आदेश देना चाहिए था या सिविल प्राधिकारियों को ऐसा करने को कहना चाहिए था; डायर का कृत्य 'अमानवीय और ब्रिटिश परम्परा के विरुद्ध' था, और इसने भारत में ब्रिटिश शासन की छवि को बेहद धूमिल किया था।

हंटर आयोग ने किसी प्रकार के दंड या अनुशासनात्मक कार्यवाही की अनुशंसा नहीं की, चूंकि डायर के कृत्य को कई बड़े अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था (बाद में यह मामला सेना परिषद् को दे दिया गया)।

इससे पहले कि हंटर आयोग अपनी कार्यवाही शुरू कर पाता, सरकार ने अपने अधिकारियों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए क्षतिपूर्ति अधिनियम पारित कर दिया। जैसाकि 'इंडेमनिटी एक्ट' को *वाइट वाशिंग बिल* कहा गया और मोतीलाल नेहरू एवं अन्य ने इसकी कड़ी निंदा की।

इंग्लैंड में, तत्कालीन युद्ध सचिव, विन्सटन चर्चिल, को इस रिपोर्ट की समीक्षा करने का कार्य सौंप दिया गया। हाऊस ऑफ कॉमन्स में, चर्चिल ने अमृतसर में घटी इस घटना की निंदा की। उन्होंने इसे शैतानी कार्य कहा, केबिनेट ने चर्चिल के साथ सहमति जताई कि डायर एक खतरनाक व्यक्ति था और उसे पद पर रहने नहीं दिया जाना चाहिए। डायर को अपदस्थ करने के केबिनेट के निर्णय को सेना परिषद् को भेज दिया गया। अंततः डायर को अपनी ड्यूटी गलत तरीके से निभाने का दोषी पाया गया और 1920 में उसे पद से हटा दिया गया। उसे इंग्लैंड बुला लिया गया। उसके खिलाफ कोई कानूनी कार्रवाही नहीं की गई। उसे आधी तनख्वाह मिलती रही और सेना की पेंशन भी दी जाती रही।

डायर की पूरी तरह निंदा नहीं की गई। हाऊस ऑफ लॉर्ड्स ने डायर का पक्ष लिया और उसके समर्थन में एक प्रस्ताव पारित किया। और मॉर्निंग पोस्ट समाचार-पत्र ने

बताया कि डायर के लिए 26,000 पाउंड की राशि जुटाई गई और इस फंड में सबसे बड़ा योगदान रूडयार्ड किपलिंग ने किया।

कांग्रेस का दृष्टिकोण

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी एक गैर-सरकारी समिति गठित की, जिसमें मोतीलाल नेहरू, सी.आर. दास, अब्बास तैयबजी, एम.आर. जयकर और गांधी को शामिल किया गया। कांग्रेस ने इस घटना को लेकर अपना मत रखा। इसने डायर के अमानवीय कृत्य की निंदा की और कहा कि पंजाब में सैनिक शासन (मार्शल लॉ) लाना किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं था।

सारांश

- **राष्ट्रवाद के पुनः जीवंत होने के कारण**
  युद्धोपरांत उत्पन्न हुई आर्थिक कठिनाइयां।
  विश्वव्यापी साम्राज्यवाद से राष्ट्रवादियों का मोहभंग होना।
  रूसी क्रांति का प्रभाव।
- **मौटेंग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार**
  प्रांतों में द्वैध शासन।
  प्रशासनिक कार्यों के संचालन हेतु दो सूचियां-आरक्षित एवं हस्तांतरित। आरक्षित सूची के अधीन सभी विषयों का संचालन कार्यकारिणी परिषद की सहायता से गवर्नर द्वारा तथा हस्तांतरित सूची के अधीन सभी विषयों का संचालन व्यवस्थापिका सभा के मंत्रियों द्वारा। गवर्नर, गवर्नर-जनरल एवं भारत सचिव को सभी मसलों में हस्तक्षेप करने के असीमित अधिकार।
  मताधिकार में वृद्धि, शक्तियों में भी वृद्धि।
  गवर्नर-जनरल द्वारा 8 सदस्यीय कार्यकारिणी परिषद की सहायता से कार्यों का संचालन-जिसमें तीन भारतीय थे।
  प्रशासनिक हेतु दो सूचियां—केंद्रीय एवं प्रांतीय।
  द्विसदनीय केंद्रीय व्यवस्थापिका—केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा, निम्न सदन तथा राज्य परिषद, उच्च सदन।
  दोष
  द्वैध शासन व्यवस्था अत्यंत जटिल एवं अतार्किक थी।
  केंद्रीय कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। सीमित मताधिकार।
- **दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी की गतिविधियां (1893-1914)**
  नटाल भारतीय कांग्रेस का गठन एवं *इंडियन ओपीनियन* नामक पत्र का प्रकाशन।
  पंजीकरण प्रमाणपत्र के विरुद्ध सत्याग्रह।
  भारतीयों के प्रवसन पर प्रतिबंध लगाये जाने के विरुद्ध सत्याग्रह।

टाल्सटाय फार्म की स्थापना।
पोल टैक्स तथा भारतीय विवाहों को अप्रमाणित करने के विरुद्ध अभियान।
गांधीजी को आंदोलन के लिये जनता के शक्ति का अनुभव हुआ; उन्हें एक विशिष्ट राजनीतिक शैली, नेतृत्व के नये अंदाज और संघर्ष के नये तरीकों को विकसित करने का अवसर मिला।

- **भारत में गांधीजी की प्रारंभिक गतिविधियां**
  चम्पारण सत्याग्रह (1917) - प्रथम सविनय अवज्ञा।
  अहमदाबाद मिल हड़ताल (1918) - प्रथम भूख हड़ताल।
  खेड़ा सत्याग्रह (1918) - प्रथम असहयोग।
  रौलेट सत्याग्रह (1919) - प्रथम जन-आंदोलन।
- **जलियांवाला बाग हत्याकांड (13 अप्रैल 1919)**
- **हंटर आयोग**
- **कांग्रेस का दृष्टिकोण**

अध्याय 16

खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन

1919 से 1922 के मध्य अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध दो सशक्त जन-आंदोलन चलाये गये। ये आंदोलन थे—खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन। हालांकि ये दोनों आंदोलन पृथक-पृथक मुद्दों को लेकर प्रारम्भ हुए थे, किन्तु दोनों ने ही संघर्ष के एक ही तरीके 'अहिंसक असहयोग' का मार्ग अपनाया। यद्यपि खिलाफत आंदोलन, भारतीय राजनीति से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध नहीं था, किन्तु इसने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक उपयोगी पृष्ठभूमि प्रदान की तथा अंग्रेजों के विरुद्ध हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रोत्साहित करने में प्रमुख भूमिका निभायी।

पृष्ठभूमि

इन दोनों आंदोलनों की पृष्ठभूमि उन घटनाओं की शृंखला में निहित है, जो प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अंग्रेजी शासन द्वारा भारतीय संदर्भ में उठाये गये कदमों के कारण घटित हुई थीं। इन आंदोलनों के लिये 1919 का वर्ष सबसे महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि इस विशेष वर्ष में सरकारी नीतियों एवं गतिविधियों से भारतीय समाज का लगभग हर वर्ग असंतुष्ट और रुष्ट हो गया। इस सार्वजनिक असंतुष्टि के लिये कई कारण उत्तरदायी थे, जिनका वर्णन इस प्रकार है:

- प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई आर्थिक कठिनाइयों से जनता त्रस्त हो गयी। विश्वयुद्ध के कारण मंहगाई बहुत बढ़ गयी, कस्बों और नगरों में रहने वाले मध्यम एवं निम्न मध्यवर्ग के लोग दस्तकार, मजदूर सभी मंहगाई से परेशान हो गये। खाद्यानों की भारी कमी हो गयी। मुद्रास्फीति बढ़ने लगी, औद्योगिक उत्पादन कम हो गया तथा लोग करों के बोझ से दब गये। समाज का लगभग हर वर्ग आर्थिक परेशानियों से जूझने लगा। इससे लोगों में ब्रिटिश विरोधी भावनायें जागृत हुईं। सूखे, महामारी और प्लेग से भी हजारों लोग मारे गये।
- रौलेट एक्ट, पंजाब में मार्शल लॉ का आरोपण तथा जलियांवाला बाग हत्याकांड जैसी घटनाओं ने विदेशी शासकों के क्रूर एवं असभ्य रवैये को उजागर कर दिया।

• पंजाब में ज्यादतियों के संबंध में हंटर कमीशन की सिफारिशों ने सबकी आंखें खोल दीं। उधर ब्रिटिश संसद विशेषकर 'हाउस आफ लार्डस' में जनरल डायर के कृत्यों को उचित ठहराया गया तथा 'मॉर्निंग पोस्ट' ने डायर के लिये 30 हजार पौंड की धनराशि एकत्रित की। ये सारी गतिविधियां अंग्रेजी शासन का पर्दाफाश करने के लिये पर्याप्त थीं।

• 1919 के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का वास्तविक मकसद भी द्वैध शासन प्रणाली लागू करना था, न कि जनता को राहत पहुंचाना। इन सुधारों से स्वशासन की मांग कर रहे राष्ट्रवादियों को अत्यन्त निराशा हुई।

विश्वयुद्ध के पश्चात् हुई कई अन्य घटनाओं ने भी हिन्दू-मुस्लिम राजनीतिक एकीकरण के लिये एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार की—(i) लखनऊ समझौता (1916)—इससे कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में सहयोग बढ़ा। (ii) रौलेट एक्ट के विरुद्ध प्रदर्शन में समाज के अन्य वर्गों के साथ ही हिन्दू तथा मुसलमान भी एक-दूसरे के करीब आ गये। (iii) मौलिक राष्ट्रवादी मुसलमान जैसे—मोहम्मद अली, अबुल कलाम आजाद, हकीम अजमल खान एवं हसन इमाम इत्यादि अलीगढ़ स्कूल के रुढ़िवादी विचारों से मुक्त होकर ज्यादा प्रभावशाली हो गये। जिसके कारण मुस्लिम लीग पर अलीगढ़ स्कूल का प्रभाव कम होने लगा। युवा राष्ट्रवादियों ने भी उग्रवादी राष्ट्रवाद की वकालत की तथा राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाने पर बल दिया। वे साम्राज्य विरोधी भावनाओं से गहरे प्रभावित थे तथा साम्राज्यवादी दासता को समाप्त करना चाहते थे।

इन्हीं सब गतिविधियों के परिदृश्य में खिलाफत का जन्म हुआ, जिसके साथ ही ऐतिहासिक असहयोग आंदोलन, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के पटल पर उभरा।

खिलाफत का मुद्दा

खिलाफत के मुद्दे ने मौलिक राष्ट्रवादी रुझान के उदय की प्रक्रिया को, मुसलमानों की युवा पीढ़ी तथा उन मुस्लिम शोधार्थियों के मध्य सुलभ बना दिया, जिनमें धीरे-धीरे ब्रिटिश विरोधी भावनायें जागृत हो रही थीं। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत तुर्की के प्रति अंग्रेजों के रवैये से भारतीय मुसलमान अत्यन्त उत्तेजित हो गये। न केवल भारतीय मुसलमान, अपितु सम्पूर्ण मुस्लिम जगत तुर्की के खलीफा को अपना धार्मिक प्रमुख मानता था, ऐसे में स्वाभाविक था कि मुसलमानों की सहानुभूति तुर्की के साथ थी। प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की ने ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी तथा आस्ट्रिया का साथ दिया था। अतः युद्ध की समाप्ति के उपरांत ब्रिटेन ने तुर्की के प्रति कठोर रवैया अपनाया। तुर्की को विभाजित कर दिया गया तथा खलीफा को पद से हटा दिया गया। ब्रिटेन के इस कदम से पूरे विश्व के मुसलमानों में रोष की लहर दौड़ गयी। भारत में भी मुसलमानों

ने ब्रिटेन के इस कदम की तीव्र आलोचना की तथा अंग्रेजों के सम्मुख निम्न मांगे रखीं– (i) मुसलमानों के धार्मिक स्थलों पर खलीफा के प्रभुत्व को पुर्नस्थापित किया जाये, (ii) खलीफा को, प्रदेशों की पुर्नव्यवस्था कर अधिक भू-क्षेत्र प्रदान किया जाये। 1919 के प्रारम्भ में अली बंधुओं-मोहम्मद अली तथा शौकत अली, मौलाना आजाद, अजमल खान तथा हसरत मोहानी के नेतृत्व में 'खिलाफत कमेटी' का गठन किया गया, जिसका उद्देश्य तुर्की के प्रति ब्रिटेन के रवैये को बदलने के लिये ब्रिटेन पर दबाव डालना था। इस प्रकार देशव्यापी प्रदर्शन के लिये एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

खिलाफत का विकास–असहयोग कार्यक्रम

कुछ समय तक खिलाफत के नेता, इस आंदोलन के पक्ष में सभाओं, धरनों एवं याचिकाओं तक ही सीमित रहे। किन्तु बाद में यह मांग जोर पकड़ने लगी कि अंग्रेजी शासन के विरोध में सशक्त प्रदर्शन किये जायें तथा अंग्रेजों के साथ हर प्रकार से असहयोग की अवधारणा का पालन किया जाये। इस प्रकार खिलाफत का रुख धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगा। नवम्बर 1919 में खिलाफत का अखिल भारतीय सम्मेलन दिल्ली में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में अंग्रेजी, वस्तुओं के बहिष्कार की मांग की गयी। साथ ही खिलाफत के नेताओं ने यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि युद्धोपरांत संधि की शर्तें, जब तक तुर्की के अनुकूल नहीं बनायी जायेंगी, तब तक वे सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग नहीं करेंगे। गांधीजी ने, जो कि अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी के अध्यक्ष थे, इस मुद्दे को भारतीयों में एकता स्थापित करने तथा सरकार के विरुद्ध असहयोग आंदोलन घोषित करने के लिए एक उपयुक्त मंच के रूप में देखा।

खिलाफत के प्रश्न पर कांग्रेस का रवैया

यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि खिलाफत आंदोलन की सफलता के लिये उसे कांग्रेस का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। हालांकि गांधीजी खिलाफत के प्रति पूर्ण समर्थित थे तथा इस मुद्दे को लेकर सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह तथा असहयोग आंदोलन प्रारम्भ करना चाहते थे, किन्तु कांग्रेस में इस मुद्दे को लेकर सर्वसम्मति का अभाव था। बाल गंगाधर तिलक ने धार्मिक मुद्दों पर मुस्लिम नेताओं के साथ संधि करने का विरोध किया, साथ ही वे 'सत्याग्रह' को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किये जाने के प्रति भी आशंकित थे। प्रोफेसर रविन्द्र कुमार के अनुसार, गांधीजी ने तिलक को सत्याग्रह की विशिष्टताओं से परिचित कराने के लिये अथक प्रयास किया तथा इसकी खूबियों के संबंध में उनकी सभी शंकाओं को दूर कर दिया। इसके साथ उन्होंने खिलाफत के मुद्दे पर मुस्लिम समुदाय से संधि करने का औचित्य भी तिलक को समझाया। कुछ अन्य राज्यों में भी गांधीजी के असहयोग कार्यक्रम का विरोध किया गया। यद्यपि बाद में कांग्रेस इस मुद्दे पर झुक गयी तथा उसने गांधीजी के राजनैतिक कार्यक्रम के प्रस्ताव

को स्वीकृति प्रदान कर दी। कांग्रेस द्वारा खिलाफत के मुद्दे पर लचीला रुख अपनाने तथा गांधीजी के असहयोग कार्यक्रम को समर्थन प्रदान करने के कई कारण थे–

● यह महसूस किया गया कि हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने तथा मुस्लिम समुदाय को राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा में लाने का यह स्वर्णिम अवसर है। इस प्रकार अब समाज के विभिन्न वर्ग–हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, किसान, शिल्पकार, पूंजीपति, जनजातियां, महिलायें, युवा, विद्यार्थी, इत्यादि के लोगों ने विदेशी शासन की उपस्थिति को महसूस किया तथा अपनी दुर्दशा के लिये उसे उत्तरदायी मानते हुए अपने अधिकारों के लिये संघर्ष की प्रेरणा ली।

● संवैधानिक तरीके से संघर्ष जारी रखने पर कांग्रेस का विश्वास धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। विशेष रूप से पंजाब की घटनाओं के संबंध में हंटर कमीशन की भेदभावपूर्ण व दमनकारी सिफारिशों से सरकार के प्रति उसका मोहभंग हो गया था।

● कांग्रेस इस बात से भलीभांति परिचित थी कि भारतीय अपने असंतोष की अभिव्यक्ति के लिये उचित अवसर की तलाश में थे।

कांग्रेस को मुस्लिम लीग का समर्थन

राजनैतिक प्रश्न के मुद्दे पर आंदोलन चलाने के लिये मुस्लिम लीग ने भी कांग्रेस को पूर्ण समर्थन देने का निश्चय किया।

असहयोग-खिलाफत आंदोलन

फरवरी 1920 के प्रारम्भ में, हिन्दू और मुसलमानों के एक संयुक्त प्रतिनिधिमंडल ने वायसराय से मुलाकात की तथा उनसे खिलाफत के प्रश्न को हल करने की मांग की, किन्तु इस मिशन से कोई लाभ नहीं हुआ।

फरवरी 1920 में, गांधीजी ने घोषणा की कि पंजाब का मुद्दा गलत है। अतः सरकार अमृतसर हत्याकांड के लिये खेद प्रकट करे तथा पंजाब में हुई ज्यादतियों का निराकरण करे। तुर्की के प्रति अपने व्यवहार को नर्म करे तथा भारतीयों को संतुष्ट करने के लिये कोई नवीन योजना प्रस्तुत करे। साथ ही उन्होंने चेतावनी दी कि अगर सरकार इन मांगों को स्वीकार नहीं करेगी तो वे असहयोग आंदोलन प्रारम्भ कर देंगे।

मई 1920 में तुर्की के साथ 'सेब्रीज की संधि' की गयी। इस संधि के द्वारा तुर्की का विभाजन कर दिया गया।

जून 1920 में, केंद्रीय खिलाफत समिति का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। इस अधिवेशन में स्कूलों, कालेजों तथा न्यायालयों का बहिष्कार करने का निर्णय लिया गया तथा गांधीजी को आंदोलन का नेतृत्व करने का दायित्व सौंपा गया।

31 अगस्त 1920 में खिलाफत समिति ने औपचारिक तौर पर असहयोग आंदोलन की शुरुआत की (दुर्भाग्यवश 1 अगस्त 1920 को बाल गंगाधर तिलक का निधन हो गया)।

सितम्बर 1920 में, कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ता में आयोजित किया गया। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने पंजाब एवं खिलाफत के मुद्दे को हल किये जाने तथा स्वराज्य की स्थापना होने तक असहयोग कार्यक्रम चलाने की स्वीकृति प्रदान की। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने निम्न कार्यक्रम तय किये–

- सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार।
- न्यायालयों का बहिष्कार तथा पंचायतों के माध्यम से न्याय का कार्य।
- विधान परिषदों का बहिष्कार (यद्यपि इस मुद्दे पर कांग्रेस के नेताओं में मतभेद थे तथा वे इस कार्यक्रम को असहयोग कार्यक्रम में सम्मिलित किये जाने का विरोध कर रहे थे। विरोधियों में सबसे प्रमुख नाम सी.आर. दास का था। कुछ ही दिनों (नवम्बर 1920 में) बाद विधान परिषदों के चुनाव होने वाले थे। लेकिन बहिष्कार के विचार से असहमति रखने वाले नेताओं ने भी कांग्रेस के अनुशासन का पालन किया और चुनावों का बहिष्कार किया। अधिकांश मतदाताओं ने भी इन चुनावों में भाग नहीं लिया)।
- विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा इसके स्थान पर खादी के उपयोग को बढ़ावा। चरखा कातने को भी प्रोत्साहन दिया गया।
- सरकारी उपाधियों तथा अवैतनिक पदों का परित्याग, सरकारी सेवाओं का परित्याग, सरकारी करों का भुगतान न करना, सरकारी तथा अर्ध-सरकारी उत्सवों का बहिष्कार तथा सैनिक, मजदूर व क्लर्को का मैसोपोटामिया में कार्य करने के लिये न जाना।

सम्पूर्ण आंदोलन के दौरान कार्यकर्ताओं ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रोत्साहित करने तथा अस्पृश्यता को दूर करने का सराहनीय प्रयास किया। पूरे कार्यक्रम में अहिंसा को सर्वोपरि रखा गया।

दिसम्बर 1920 में कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में हुआ। इस अधिवेशन में–

(i) असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम का अनुमोदन कर दिया गया।

(ii) कांग्रेस के सिद्धांत में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआः कांग्रेस ने संवैधानिक तरीके से *स्वशासन* प्राप्ति के अपने लक्ष्य के स्थान पर शांतिपूर्ण एवं न्यायोचित तरीके से *स्वराज्य* प्राप्ति को अपना लक्ष्य घोषित किया। इस प्रकार कांग्रेस ने संवैधानिक दायरे से बाहर *जन संघर्ष* की अवधारणा को स्वीकार किया।

(iii) कुछ महत्वपूर्ण संगठनात्मक परिवर्तन भी किये गयेः अब कांग्रेस के रोजमर्रा के क्रियाकलापों को देखने के लिये 15 सदस्यीय **कांग्रेस कार्यकारिणी समिति (सीडब्ल्यूसी)** गठित की गयी। स्थानीय स्तर पर कार्यक्रमों के वास्तविक क्रियान्वयन के लिये भाषायी आधार पर **प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों** का गठन किया गया। गांवों और कस्बों में भी कांग्रेस समितियों का गठन किया गया, सदस्यता फीस चार आना साल कर दी गयी।

(iv) गांधीजी ने घोषणा की कि यदि पूरी तन्मयता से असहयोग आंदोलन चलाया गया तो एक वर्ष के भीतर स्वराज्य का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

क्रांतिकारियों के कई संगठनों मुख्यतया बंगाल के क्रांतिकारी संगठनों ने कांग्रेस के कार्यक्रम को पूर्ण समर्थन देने की घोषणा की। किन्तु इसी समय मोहम्मद अली जिन्ना, एनी बेसेन्ट, जी.एस. कापर्डे एवं बी.सी. पाल ने कांग्रेस छोड़ दी क्योंकि वे संवैधानिक एवं न्यायपूर्ण ढंग से संघर्ष चलाये जाने के पक्षधर थे। जबकि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने **इंडियन नेशनल लिबरल फेडरेशन** का गठन कर लिया तथा इसके पश्चात् राष्ट्रीय राजनीति में उनका योगदान नाममात्र का रह गया।

कांग्रेस द्वारा असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम का अनुमोदन करने तथा खिलाफत कमेटी द्वारा इसे पूर्ण समर्थन दिये जाने की घोषणा से इसमें नयी ऊर्जा का संचार हो गया। इसके पश्चात् वर्ष 1921 और 1922 में पूरे देश में इसे अप्रत्याशित लोकप्रियता मिली।

आंदोलन का प्रसार

गांधीजी ने खिलाफत नेता, अली बंधुओं के साथ पूरे देश का दौरा किया, सैकड़ों सभाओं को संबोधित किया तथा सैकड़ों राजनीतिक कार्यकर्ताओं से विचार-विमर्श किया। हजारों छात्रों ने सरकारी स्कूल और कालेजों को छोड़ दिया तथा राष्ट्रीय स्कूल और कालेजों में भर्ती हो गये। उस समय देश में 800 राष्ट्रीय स्कूल और कालेज थे। शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार में पश्चिम बंगाल अग्रणी रहा। कलकत्ता के विद्यार्थियों ने राज्यव्यापी हड़ताल का आयोजन किया। उनकी मांग थी कि स्कूल के प्रबंधक, सरकार से अपना नाता तोड़ लें। पूरे देश में आचार्य नरेन्द्र देव, सी.आर. दास, लाला लाजपत राय, जाकिर हुसैन तथा सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में विभिन्न राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गयी। सुभाष चन्द्र बोस **नेशनल कालेज कलकत्ता** के प्रधानाचार्य बन गये। **जामिया मिलिया, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ** ने भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। पंजाब, बम्बई, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बिहार तथा असम में भी इस कार्यक्रम में अमल किया गया।

देश के कई प्रख्यात वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। इनमें मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सी.आर. दास, सी. राजगोपालाचारी, सैफुद्दीन किचलू, वल्लभभाई पटेल, आसफ अली, टी. प्रकाशम और राजेन्द्र प्रसाद प्रमुख थे। विदेशी कपड़ों की सार्वजनिक रूप से होली जलाई गयी तथा थोड़े ही समय में विदेशी कपड़ों का आयात घटकर आधा रह गया। विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरने भी दिये गये। विदेशी शराब की दुकानों तथा ताड़ी की दुकानों पर भी धरने आयोजित किये गये। महात्मा गांधी ने *कैसर-ए-हिन्द* का पदक लौटा दिया। कांग्रेस ने अपने कार्यकर्ताओं को कोष इकट्ठा करने का आदेश दिया। 'तिलक स्वराज्य फंड' अपने लक्ष्य से भी आगे निकल गया और उसमें एक करोड़ रुपये से ज्यादा धन एकत्रित किया गया। चरखे और खादी का खूब प्रचार हुआ। कांग्रेस की स्वयंसेवी सेनायें समानांतर पुलिस की तरह कार्य करने लगीं।

जुलाई 1921 में कराची में खिलाफत आंदोलन में अली बंधुओं ने घोषणा की कि किसी भी मुसलमान का सेना में रहना धर्म के खिलाफ है। अतः सभी मुसलमानों को सेना से त्यागपत्र दे देना चाहिये। इसके कारण सितम्बर में अली बंधुओं को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। 4 अक्टूबर को गांधीजी ने कांग्रेस के 47 वरिष्ठ नेताओं के साथ एक बयान जारी कर अली बंधुओं के बयान की पुष्टि की तथा सभी भारतीय नागरिकों और सैनिकों से उपनिवेशी शासन से सभी प्रकार के संबंध तोड़ लेने का आह्वान किया। दूसरे दिन कांग्रेस कार्यकारिणी ने भी इसी तरह का प्रस्ताव पारित किया तथा स्थानीय कांग्रेस समितियों को भी इसी तरह का प्रस्ताव पारित करने को कहा गया।

इसके पश्चात् कांग्रेस ने स्थानीय कांग्रेस समितियों को यह इजाजत दे दी कि जब भी उन्हें लगे कि जनता कानून अवज्ञा के लिये तैयार है, वे आंदोलन प्रारंभ कर सकती हैं। इस समय मिदनापुर (बंगाल) तथा गुंटूर (आंध्र) के चिराला-पिराला तथा पेडानंडीपाडू तालुका में 'यूनियन बोर्ड टेक्सेज' के खिलाफ कर अदा न करने का आंदोलन पहले से ही चल रहा था।

असम में चाय बागान के मजदूरों, स्टीमर पर काम करने वाले मजदूरों तथा असम-बंगाल रेलवे के कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर दी। बंगाल के एक राष्ट्रवादी नेता जे.एम. सेनगुप्ता ने इस दौरान महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

17 नवम्बर 1921 में 'प्रिंस आफ वेल्स' के भारत दौरे के विरोध में विभिन्न स्थानों पर हड़तालों एवं प्रदर्शनों का आयोजन किया गया। इसके बाद पूरे बम्बई समेत कई स्थानों पर हिंसक वारदातें तथा पुलिस के साथ झड़पें हुईं।

असहयोग आंदोलन, धीरे-धीरे प्रभावी होता जा रहा था। कई स्थानीय आंदोलनों ने इसमें और ऊर्जा भर दी। इनमें अवध किसान आंदोलन (उत्तर प्रदेश), एका आंदोलन (उत्तर प्रदेश) मोपला विद्रोह (मालाबार) तथा पंजाब से महंतों के निष्कासन की मांग को लेकर चलाया गया सिखों का आंदोलन महत्वपूर्ण थे।

जन-प्रतिक्रिया

आंदोलन में समाज के प्रत्येक वर्ग ने भाग लिया है।

मध्य वर्गः मध्यवर्ग के लोगों ने आंदोलन के प्रारंभ में, इस आंदोलन को नेतृत्व प्रदान किया। लेकिन गांधी जी के कार्यक्रम को लेकर वे अधिक स्पष्ट नहीं थे। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, जो अभिजात राजनीतिज्ञों के केंद्र थे, जैसे स्थानों पर गांधीजी के आह्वान का प्रत्युत्तर बेहद सीमित था। सरकारी सेवाओं से त्यागपत्र देने, उपाधियों को लौटाने इत्यादि जैसे उनके आह्वान को हल्के में लिया गया। भारतीय राजनीति में अपेक्षाकृत नवागंतुकों ने आंदोलन में अपने हितों एवं मनोकांक्षाओं को ढूंढा। बिहार में राजेन्द्र प्रसाद और गुजरात में वल्लभभाई पटेल ने आंदोलन को ठोस समर्थन प्रदान किया, और वस्तुतः उनके जैसे नेताओं ने औपनिवेशिक सरकार के विरुद्ध लड़ाई में असहयोग को उग्रवाद के समर्थ राजनीतिक विकल्प के रूप में देखा।

व्यवसायिक वर्गः आर्थिक बहिष्कार को भारतीय व्यवसायिक वर्ग से समर्थन प्राप्त हुआ, क्योंकि उन्हें राष्ट्रवादियों द्वारा स्वदेशी के उपयोग पर बल से लाभ हुआ था। लेकिन बड़े उद्योगपतियों का एक वर्ग इस आंदोलन के प्रति संशयवादी रहा। उन्हें अपने कारखानों में श्रमिक असंतोष/विद्रोह का भय था।

किसानः इस आंदोलन में किसानों की सहभागिता व्यापक थी। यद्यपि कांग्रेस वर्ग-संघर्ष के खिलाफ थी, लोगों ने इस बाधा को हटा दिया। बिहार में, निम्न एवं ऊंची जाति के बीच का छूत-अछूत का मामला असहयोग आंदोलन में लुप्त हो गया। सामान्यतः, किसान भूमिपतियों एवं व्यापारियों के विरुद्ध हो गए। इस आंदोलन ने परेशान जनता को ब्रिटिश शासन और साथ ही साथ भारतीय स्वामियों (भूमिपतियों एवं व्यापारियों) के खिलाफ अपनी भावना व्यक्त करने का अवसर प्रदान किया।

विद्यार्थीः विद्यार्थियों ने आंदोलन में सक्रिय एवं स्वैच्छिक भूमिका निभाई और उनमें से अधिकतर ने सरकारी विद्यालयों एवं कॉलेजों को छोड़कर राष्ट्रीय स्कूलों एवं कॉलेजों में प्रवेश लिया। काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, जामिया मिलिया इस्लामियां एवं अन्य जैसे नवीन स्थापित संस्थानों ने कई विद्यार्थियों को प्रवेश दिया।

महिलाएंः महिलाओं ने पर्दा प्रथा का त्यागकर तिलक फंड में अपने आभूषण दान दिए। उन्होंने बड़ी संख्या में आंदोलन में भाग लिया और विदेशी कपड़े एवं शराब बेचने वाली दुकानों के आगे धरना दिया।

हिन्दू-मुस्लिम एकताः मोपिला उपद्रव जैसी घटनाओं के बावजूद मुसलमानों की आंदोलन में व्यापक सहभागिता और सांप्रदायिक एकता का प्रदर्शन एक बड़ी उपलब्धि थी। कई स्थानों पर, गिरफ्तार लोगों में दो-तिहाई मुसलमान थे और इस प्रकार की सहभागिता न तो अतीत में और न ही भविष्य में देखने को मिली। आंदोलन में, गांधीजी एवं अन्य नेताओं ने मस्जिद से मुसलमान संप्रदाय को संबोधित किया, और यहां तक कि गांधीजी एकमात्र ऐसे नेता थे जिन्हें बिना आंखों पर पट्टी बांधे मुस्लिम महिलाओं की जनसभा को संबोधित करने की अनुमति दी गई।

सरकार की प्रतिक्रिया

मई 1921 में गांधीजी तथा भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड रीडिंग के मध्य वार्ता आयोजित की गयी। इस वार्ता में रीडिंग ने सरकार की ओर से गांधीजी से मांग की कि वे अली बंधुओं से अपने उस भाषण को वापस लेने का आग्रह करें, जिसके कारण व्यापक पैमाने पर हिंसा हो रही थी। गांधीजी ने महसूस किया कि सरकार उनके एवं खिलाफत नेताओं के मध्य दरार पैदा करने की कोशिश कर रही है। अतः उन्होंने सरकार की मांग को ठुकरा दिया। इसके पश्चात् दिसम्बर में सरकार ने आंदोलनकारियों के विरुद्ध दमनात्मक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। स्वयंसेवी संगठनों को अवैध घोषित कर दिया गया, सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया, प्रेस को प्रतिबंधित कर दिया गया तथा गांधीजी समेत अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये।

आंदोलन का अंतिम चरण

उधर गांधीजी पर राष्ट्रीय स्तर पर सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने के लिये दबाव पड़ने लगा। दिसम्बर 1921 में कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में आयोजित किया गया। (इस अधिवेशन के अध्यक्ष हालांकि सी.आर. दास थे, किन्तु उनके जेल में होने के कारण हकीम अजमल खान को कार्यकारी अध्यक्ष बनाया गया) इस अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधीजी को अवज्ञा का लक्ष्य, समय तथा भावी रणनीति तय करने का पूर्ण अधिकार दे दिया। उधर सरकार के रुख में कोई परिवर्तन नजर नहीं आ रहा था। जनवरी 1922 में सर्वदलीय सम्मेलन की अपील तथा गांधीजी द्वारा वायसराय को लिखे गये पत्र का भी सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

1 फरवरी 1922 को गांधीजी ने घोषणा की कि यदि सरकार (i) राजनीतिक बंदियों को रिहा कर नागरिक स्वतंत्रता बहाल नहीं करेगी तथा (ii) प्रेस से नियंत्रण नहीं हटायेगी तो वे देशव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने के लिये बाध्य हो जायेंगे।

यह आंदोलन सूरत के बारदोली तालुका से प्रारम्भ होने वाला था। किन्तु इस आंदोलन के प्रारम्भ होने के पूर्व ही चौरी-चौरा की घटना हो गयी तथा सम्पूर्ण परिदृश्य ही बदल गया।

चौरी-चौरा कांडः 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिले (उ.प्र.) के चौरी-चौरा नामक एक छोटे से गांव में हुई एक घटना ने इस गांव का नाम भारतीय इतिहास के पन्नों में सदैव के लिये दर्ज करा दिया। यह घटना इतनी महत्वपूर्ण थी कि गांधीजी का बहुप्रतीक्षित सविनय अवज्ञा आंदोलन भी 6 साल के लिये स्थगित हो गया। पुलिस ने यहां स्वयंसेवक दलों के कुछ नेताओं को बुरी तरह पीटा, क्योंकि ये लोग शराब की बिक्री एवं खाद्यान्न के मूल्यों में हुई वृद्धि का विरोध करने हेतु प्रदर्शनकारियों का नेतृत्व कर रहे थे। इसके परिणामस्वरूप प्रदर्शनकारियों के एक जत्थे ने पुलिस पर हमला कर दिया। पुलिस ने गोली चलाई। पुलिस की गोलीबारी से सारे लोग उत्तेजित हो गये और पुलिस पर आक्रमण कर दिया। सिपाही भागकर थाने में घुस गये तो भीड़ ने थाने में भी आग लगा दी। जो सिपाही भागने के प्रयास में बाहर आये उन्हें भीड़ ने मार डाला और पुनः आग में फेंक दिया। इस हिंसक घटना में 22 पुलिसकर्मी मारे गये। गांधीजी इस घटना की खबर से अत्यन्त दुःखी हुए तथा उन्होंने तुरन्त आंदोलन वापस लेने की घोषणा कर दी।

फरवरी 1922 में बारदोली में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई। इस बैठक में एक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसमें ऐसी सभी गतिविधियों पर रोक लगा दी गयी, जिनसे कानून का उल्लंघन होता हो। साथ ही प्रस्ताव में कई रचनात्मक कार्यों को प्रारम्भ करने की घोषणा भी की गयी। इनमें खादी को लोकप्रिय बनाना, राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना, शराबबंदी के समर्थन में अभियान, अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु अभियान तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल देने जैसे कार्यक्रम शामिल थे।

अनेक राष्ट्रवादी नेताओं यथा—सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस

प्रमुख विचार

जब भारतीयों का उत्साह अपने चरम बिंदु पर था, आंदोलन वापस लेने की घोषणा किसी राष्ट्रीय विपत्ति से कम नहीं थी। कांग्रेस के प्रमुख नायक महात्मा गांधी के सभी सहयोगी—देशबंधु चितरंजन दास, पं. मोतीलाल नेहरू तथा लाला लाजपत राय जो सभी इस समय कारावास में थे, गांधीजी की इस घोषणा से भौंचक्के रह गये।

सुभाष चन्द्र बोस

गांधीजी, अमीर वर्ग के हितों के संरक्षक थे। गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन को वापस लिये जाने का कारण उनका अहिंसक सिद्धांत नहीं अपितु उनके द्वारा यह महसूस किया जाना था कि भारतीय अब जुझारू संघर्ष की ओर आकर्षित हो रहे हैं तथा साम्राज्यवादी शासन से लोहा लेने का मन बना चुके हैं। उन्होंने महसूस किया कि राष्ट्रीय आंदोलन की बागडोर उनके हाथों से निकलकर हिंसा के सिद्धांत में विश्वास करने वाले तत्वों के हाथ में जाने वाली है। उन्होंने महसूस किया कि भूस्वामियों और पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ होने वाला है। इन्हीं के हितों की रक्षा के लिये उन्होंने आंदोलन वापस ले लिया। गांधीजी ने आंदोलन वापस लेने के पश्चात् भी किसानों को कर और काश्तकारों को लगान देने को कहा जो यह सिद्ध करता है कि वे जमींदारों और भूस्वामियों के हितों के पक्षधर थे। उन्होंने ऐसे समय में आंदोलन वापस लिया जब जनता स्वयंमेव उपनिवेशी शासन पर प्रहार करने को बिल्कुल तैयार हो चुकी थी।

मार्क्सवादी व्याख्या

मैं हर प्रकार का दमन, हर प्रताड़ना, हर उत्पीड़न सहन कर सकता हूं, यहां तक कि अपनी मृत्यु का वरण भी कर सकता हूं, लेकिन आंदोलन हिंसक हो जाये यह बर्दाश्त नहीं कर सकता।

महात्मा गांधी (16 फरवरी, 1922 को *यंग इंडिया* में)

तथा जवाहरलाल नेहरू इत्यादि ने गांधीजी के आंदोलन वापस लेने के निर्णय से अपनी असहमति प्रकट की।

मार्च 1922 में गांधीजी को गिरफ्तार कर 6 वर्ष के लिये जेल भेज दिया गया। गांधीजी ने इस अवसर पर एक ऐतिहासिक भाषण में कहा कि 'मैं यहां इसलिये आया हूं क्योंकि मुझे यह अहसास हुआ कि कानून के उल्लंघन एवं विचारपूर्वक हिंसा के लिये मैं प्रसन्न होकर यहां सजा पा सकता हूं, और मुझे लगा कि इस अवसर पर एक सच्चे नागरिक का यही प्रथम कर्तव्य है'।

गांधीजी ने आंदोलन वापस क्यों लिया

गांधीजी ने महसूस किया कि भारतीयों ने अभी अहिंसा के सिद्धांत को अच्छी तरह से नहीं सीखा है या पूर्ण रूप से उसे वे नहीं समझ सके हैं। उन्हें लगा कि आंदोलन की

बागडोर उनके हाथों से निकलकर हिंसक हाथों में जाने वाली है। उनका मानना था कि हिंसक आंदोलन को सरकार द्वारा राज्य के हितों की रक्षा के बहाने आसानी से कुचला जा सकता है तथा इसके पीछे सरकार यह तर्क दे सकती है कि हिंसा को दबाने के लिये हथियारों का सहारा लेना उसकी विवशता थी। गांधीजी को आशंका थी कि इस तरह की कार्रवाइयों से अहिंसक असहयोग आंदोलन की पूरी रणनीति विफल हो जायेगी। गांधीजी के अहिंसक आंदोलन की रणनीति यह थी कि शांतिपूर्ण आंदोलन के विरुद्ध यदि उपनिवेशी सरकार दमन का सहारा लेगी तो भावनात्मक तौर पर भारतीय इसके विरुद्ध हो जायेंगे तथा सरकार का वास्तविक चेहरा अनावृत हो जायेगा।

आंदोलन धीरे-धीरे उबाऊ या थकानेवाला बन रहा था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि सरकार किसी प्रकार से समझौतावादी रुख अपनाने के लिये तैयार नहीं थी। इन परिस्थितियों में इतने व्यापक स्तर पर चल रहे आंदोलन को बहुत ज्यादा नहीं खींचा जा सकता था।

इस आंदोलन का मुख्य मुद्दा खिलाफत भी कुछ समय बाद अप्रासंगिक हो गया। क्योंकि नवम्बर 1922 में तुर्की की जनता ने मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया तथा सुल्तान के राजनैतिक अधिकार छीन लिये गये। खलीफा का पद समाप्त कर तुर्की में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना कर दी गयी। सम्पूर्ण तुर्की में यूरोप की तर्ज पर विधिक व्यवस्था की स्थापना की गयी तथा महिलाओं को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। शिक्षा का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा आधुनिक उद्योगों एवं कृषि को प्रोत्साहित किया गया। 1924 में खलीफा का पद पूर्णरुपेण समाप्त कर दिया गया।

खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन का मूल्यांकन

इस आंदोलन ने शहरी मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में सम्मिलित किया, किन्तु कुछ अर्थों में इसने राष्ट्रीय राजनीति का साम्प्रदायीकरण भी किया। मुसलमानों की भागीदारी ने इस आंदोलन को जनआंदोलन का स्वरूप दिया, किन्तु बाद के वर्षों में जब साम्प्रदायिकता ने जोर पकड़ा तो राष्ट्रीय आंदोलन में साम्प्रदायिक सौहार्द का यह चरित्र बरकरार न रह सका। आंदोलन के नेता मुसलमानों की धार्मिक तथा राजनीतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना के रूप में विकसित करने में भी असफल रहे।

असहयोग आंदोलन ने पहली बार पूरे राष्ट्र की जनता को एक सूत्र में बांध दिया। आंदोलन से सिद्ध हो गया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कुछ चुनिंदा लोगों की ही नहीं, अपितु पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था है। आंदोलन ने देश के कोने-कोने में अपना प्रभाव डाला तथा कोई जगह ऐसी नहीं बची, जो आंदोलन के प्रभाव से अछूती रह गयी हो। आंदोलन में समाज के हर वर्ग यथा—कृषक, शहरी, ग्रामीण,

दस्तकार, बुद्धजीवी, छात्र, गरीब, वृद्ध, बच्चे, व्यापारी, व्यवसायी, कर्मचारी, पुरुष, महिला इत्यादि सभी ने सक्रिय रूप से भाग लिया। इस आंदोलन ने देश की जनता को आधुनिक राजनीति से परिचित कराया तथा उनमें स्वतंत्रता की भूख जगायी। आंदोलन ने सिद्ध कर दिया कि भारत के लोग राजनीतिक संघर्ष प्रारम्भ कर सकते हैं तथा गुलामी की दासता से मुक्ति पाने हेतु राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक संघर्ष कर सकता है। इससे अंग्रेजों की यह भ्रांत धारणा भी टूट गयी कि भारतीयों में चेतना का अभाव है तथा दासता की त्रासदी को वे अपने भाग्य की नियति मानते हैं। उपनिवेशी शासन दो मिथ्या अवधारणाओं पर आधारित था—पहला, यह कि विदेशी शासन भारतीयों के हित में है तथा दूसरा, यह कि वह अजेय है तथा उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। प्रथम मिथक को नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने सरकार की आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति को उजागर कर पहले ही तोड़ दिया था तथा दूसरे मिथक को इस आंदोलन ने 'सत्याग्रह' के द्वारा कड़ी चुनौती दी तथा इसकी जड़ों को हिलाकर रख दिया। इस प्रकार आंदोलन के पश्चात् भारतीयों का साम्राज्यवादी शासन से भय जाता रहा तथा वे स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रति पूर्णरूप से लालायित हो गये।

सारांश

- **खिलाफत-असहयोग आंदोलन**

  तीन मांगें—

  (i) तुर्की के साथ सम्मानजनक व्यवहार।

  (ii) सरकार पंजाब में हुई ज्यादतियों का निराकरण करे।

  (iii) स्वराज्य की स्थापना।

  प्रयुक्त की गयीं तकनीकें

  सरकारी शिक्षण संस्थाओं, सरकारी न्यायालयों, नगरपालिकाओं, सरकारी सेवाओं, शराब तथा विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं एवं पंचायतों की स्थापना एवं खादी के उपयोग को प्रोत्साहन, आंदोलन के द्वितीय चरण में कर-ना अदायगी कार्यक्रम।

  कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन (दिसम्बर 1920): कांग्रेस ने संवैधानिक तरीके से स्वशासन प्राप्ति के अपने लक्ष्य के स्थान पर शांतिपूर्ण एवं न्यायोचित तरीके से *स्वराज्य* प्राप्ति को अपना लक्ष्य घोषित किया।

  आंदोलन का प्रसार

  जन-प्रतिक्रिया

  मध्यवर्ग

  व्यवसायिक वर्ग

  किसान

विद्यार्थी
महिलाएं
हिंदू-मुस्लिम एकता
सरकार की प्रतिक्रिया
आंदोलन का अंतिम चरण
चौरी-चौरा कांड (5 फरवरी, 1922)—क्रुद्ध भीड़ द्वारा हिंसक घटनायें—जिसके फलस्वरूप गांधीजी ने अपना आंदोलन वापस ले लिया।
गांधीजी ने आंदोलन वापस लिया
खिलाफत और असहयोग आंदोलन का मूल्यांकन

अध्याय 17

1920 के दशक में स्वराजी समाजवादी विचार एवं अन्य नवीन शक्तियों का उदय

स्वराजी एवं परिवर्तन विरोधी

कांग्रेस–खिलाफत स्वराज्य पार्टी का उदय

मार्च 1922 में गांधीजी की गिरफ्तारी के पश्चात् राष्ट्रवादी खेमें में बिखराव आने लगा, संगठन टूटने लगा तथा जुझारू राष्ट्रवादी नेताओं का मनोबल कमजोर पड़ने लगा। इन परिस्थितियों में कांग्रेसियों के मध्य यह बहस छिड़ गयी कि संक्रमण के इस काल में कौन-सा रास्ता अख्तियार किया जाये। बहुत से लोगों ने गांधीजी की रणनीति एवं नेतृत्व पर प्रश्नचिन्ह लगाना प्रारम्भ कर दिया। दूसरे लोग इस गतिरोध से उबरने का विकल्प ढूढ़ने लगे।

कांग्रेस का एक खेमा, जिसका नेतृत्व सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू एवं अजमल खान कर रहे थे, चाहता था, कि राष्ट्रवादी आंदोलनकारी विधान परिषदों (लेजिस्लेटिव काउंसिलों) का बहिष्कार बंद कर दें। इनका विचार था कि वे असहयोग को व्यवस्थापिका सभाओं तक ले जाकर सरकारी प्रस्तावों का विरोध करेंगे तथा सरकारी मशीनरी के कार्यों में रुकावट डालने का प्रयास करेंगे। इनका तर्क था कि यह युक्ति असहयोग आंदोलन का परित्याग नहीं, अपितु उसे प्रभावी बनाने की रणनीति है। यह संघर्ष का एक नया मोर्चा सिद्ध होगा। दूसरे शब्दों में, उनका उद्देश्य विधान परिषदों को अपने अनुकूल 'मोड़ना' या समाप्त करना था। उदाहरणार्थ–यदि सरकार राष्ट्रवादियों की मांगों की उपेक्षा करती है तो वे व्यवस्थापिकाओं के कार्य संचालन को अवरुद्ध कर देंगे तथा सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने हेतु उसे विवश करेंगे।

वे लोग जो विधान परिषदों में प्रवेश की वकालत कर रहे थे, उन्हें स्वराजियों *परिवर्तन समर्थक* के नाम से जाना गया। जबकि वे लोग जो विधान परिषदों में प्रवेश के पक्षधर नहीं थे तथा स्वराजियों के प्रस्ताव का विरोध कर रहे थे, उन्हें *परिवर्तन विरोधी* कहा गया। इस विचारधारा के समर्थकों में वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, सी. राजगोपालाचारी तथा एम.ए. अन्सारी प्रमुख थे। परिवर्तन विरोधियों ने विधान परिषदों में प्रवेश के प्रस्ताव का विरोध किया। इनका तर्क था कि संसदीय कार्यों में संलग्न होने से रचनात्मक कार्यों की उपेक्षा होगी।

दिसम्बर 1922 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन *गया* में हुआ। इस अधिवेशन में सी.आर. दास तथा मोतीलाल नेहरू ने नये कार्यक्रम से सम्बद्ध एक प्रस्ताव रखा तथा तर्क दिया कि इससे या तो विधान परिषदों का स्वरूप परिवर्तित होगा या वे समाप्त हो जायेंगी। किन्तु कांग्रेस के दूसरे खेमे ने, जो परिवर्तन विरोधी था तथा जिसका नेतृत्व वल्लभभाई पटेल, सी. राजगोपालाचारी और राजेन्द्र प्रसाद कर रहे थे, इसका तीव्र विरोध किया तथा प्रस्ताव नामंजूर हो गया। तत्पश्चात् सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरू ने, जो गया अधिवेशन में क्रमशः अध्यक्ष एवं महामंत्री थे, अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया तथा कांग्रेस-खिलाफत स्वराज्य पार्टी के गठन की घोषणा कर दी। सी.आर. दास उसके अध्यक्ष तथा मोतीलाल नेहरू सचिव चुने गये।

स्वराजियों का तर्क

● स्वराजियों का तर्क था कि विधान परिषदों में प्रवेश से असहयोग आंदोलन की प्रगति अवरूद्ध नहीं होगी अपितु इससे आंदोलन और प्रभावी बनेगा तथा इससे संघर्ष के नये द्वार खुलेंगे।

● कांग्रेस के बहिष्कार के बावजूद भी विधान परिषदें तो अस्तित्व में बनी ही रहेंगी और चुनावों में संभवतः बड़े पैमाने पर लोग भाग लेंगे। इससे जनता पर कांग्रेस का प्रभाव कम हो जायेगा तथा महत्वपूर्ण पदों पर गैर-कांग्रेसी व्यक्ति आसीन हो जायेंगे, जो कांग्रेस को कमजोर बनाने का प्रयास करेंगे। ये सरकार के अवैध कानूनों को वैध बनाने के प्रयास का समर्थन करेंगे।

● विधान परिषदों में प्रवेश का उनका मुख्य लक्ष्य, इसे राजनीतिक संघर्ष हेतु मंच के रूप में इस्तेमाल करना है। उनका ऐसा उद्देश्य नहीं है कि वे उपनिवेशी शासन के क्रमिक हस्तांतरण हेतु विधान परिषदों को हथियार के रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं।

परिवर्तन विरोधियों का तर्क

● परिवर्तन विरोधियों का तर्क था कि संसदीय कार्यों में सहभागिता से रचनात्मक कार्य उपेक्षित होंगे, संघर्षरत व्यक्तियों का मनोबल गिरेगा तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार में वृद्धि होगी।

● विधायकों के रूप में विधान परिषदों में प्रवेश करने वाले लोग कालांतर में प्रतिरोध की राजनीति छोड़ देंगे तथा धीरे-धीरे उपनिवेशी संविधान के समर्थक बन जायेंगे।

● विधान परिषदों से बाहर रहकर रचनात्मक कार्यों के माध्यम से जनता को सविनय अवज्ञा आंदोलन के दूसरे दौर के लिये ज्यादा अच्छे से तैयार किया जा सकता है।

किन्तु विचारों में तीव्र मतभेद होने के बावजूद भी दोनों पक्ष 1907 के विभाजन की तरह किसी अशुभ घटना से बचना चाहते थे तथा उन्होंने गांधीजी से संपर्क भी बनाये रखा, जो कि उस समय जेल में थे। उन्होंने यह भी महसूस किया कि सरकार को सुधारों के लिये विवश करने हेतु आपसी एकता आवश्यक है तथा दोनों ही पक्षों का मानना था, कि गांधीजी के नेतृत्व में ही आंदोलन को सफल बनाया जा सकता है। इन्हीं कारणों से सितम्बर 1923 में दोनों पक्षों के मध्य एक समझौता हो गया।

इसके तहत स्वराजियों को कांग्रेस के एक समूह के रूप में चुनाव लड़ने की अनुमति दे दी गयी। स्वराजियों ने भी केवल एक शर्त को छोड़कर कि वे विधान परिषदों में भाग नहीं लेंगे, कांग्रेस के सभी कार्यक्रमों को स्वीकार कर लिया। नवम्बर 1923 में नवगठित केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा तथा विधान परिषदों के लिये चुनाव आयोजित किये गये।

स्वराजियों का चुनाव घोषणा-पत्रः अक्टूबर 1923 में घोषित अपने चुनाव घोषणापत्र में स्वराजियों ने साम्राज्यवाद के विरोध को अपना प्रमुख मुद्दा बनाया। इस घोषणा-पत्र की महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार थीं–

● भारत पर अंग्रेजी हुकूमत का मुख्य लक्ष्य, इंग्लैंड के स्वार्थी हितों की पूर्ति करना है।

● साम्राज्यवादी शासन के तथाकथित सुधारवादी कानून, विदेशी हुकूमत के शोषण को बल प्रदान करते हैं। अंग्रेजों की वास्तविक मंशा, भारत के असीमित संसाधनों का अन्यायपूर्ण दोहन तथा भारतीय जनता को गुलाम बनाकर रखना है।

● स्वराजी, स्वशासन की राष्ट्रवादियों की मांग को परिषदों में उठायेंगे।

● यदि सरकार ने उनकी मांगे नामंजूर कर दीं, तो वे संयुक्त प्रयासों द्वारा परिषदों की कार्य संचालन की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देंगे।

● इस प्रकार वे विधान परिषदों को सरकार की दुर्भावना को उजागर करने हेतु एक उपयुक्त मंच के रूप में प्रयुक्त करेंगे तथा उसका उपयोग भारतीयों के हित में करेंगे।

गांधीजी का रुख

प्रारम्भ में गांधीजी विधान परिषदों का सदस्य बनने तथा उसकी कार्यवाही में बाधा पहुंचाने की नीति के विरोधी थे। किन्तु फरवरी 1924 में, स्वास्थ्य की खराबी के

आधार पर जेल से रिहाई के पश्चात्, धीरे-धीरे उन्होंने स्वराजियों के साथ एकता स्थापित करनी शुरू कर दी। इसके तीन प्रमुख कारण थे–

1. उन्होंने महूसस किया कि विधान परिषदों में हिस्सेदारी प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् इससे पीछे हटना या इसका विरोध करना गलत होगा क्योंकि इससे सरकार तथा जनता दोनों के मध्य गलत संदेश जायेगा। इससे उपनिवेशी शासकों का हौसला बढ़ेगा, नौकरशाही निरंकुश हो जायेगी तथा राजनीतिक हल्कों में निराशा की भावना जन्म लेगी।

2. नवम्बर 1923 को सम्पन्न हुए चुनावों में स्वराजियों को उल्लेखनीय सफलता मिली। सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेंबली की 101 निर्वाचित सीटों में से उन्हें 42 में सफलता प्राप्त हुई। मध्य प्रांत में इन्हें स्पष्ट बहुमत मिला, बंगाल में ये सबसे बड़े दल के रूप में उभरे तथा उत्तर प्रदेश व बम्बई में भी इन्हें अच्छी सफलता मिली। सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेंबली में स्वराजियों ने जिन्ना के नेतृत्व में उनके समर्थकों, उदारवादी व कुछ व्यक्तिगत विधायकों जैसे–मदन मोहन मालवीय इत्यादि के साथ मिलकर साझा राजनैतिक मोर्चा बनाया। विधान परिषदों में स्वराजियों ने जिस साहस व जुझारूपन का परिचय दिया, उससे गांधीजी का यह विश्वास पक्का हो गया कि स्वराजियों की रणनीति भले ही गलत हो वे साम्राज्यवादी प्रशासन के अंग नहीं बन सकते।

3. कुछ समय पश्चात् आतंकवाद को नियंत्रित करने के नाम पर सरकार ने नागरिक अधिकारों तथा स्वराजियों का दमन प्रारम्भ कर दिया। अक्टूबर 1924 में, अनेक स्वराजी एवं कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये तथा उन्हें प्रताड़ित किया गया। इनमें सुभाष चन्द्र बोस, अनिल बरन राय तथा एस.सी. मित्र इत्यादि प्रमुख थे। सरकार की दमनकारी नीतियों से गांधीजी असंतुष्ट हो गये तथा उन्होंने स्वराजियों के साथ एकता दर्शाने तथा उनका समर्थन करने का निश्चय किया।

विधानमंडलों में स्वराजियों की गतिविधियां

1924 के अंत तक स्वराजियों की स्थिति काफी कमजोर हो चुकी थी। साम्प्रदायिक दंगे, साम्प्रदायिकता तथा उत्तरदायित्व या प्रतिरोध के मुद्दे पर स्वराजियों के खेमें में विभाजन इसके लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी थे। 16 जून 1925 को सी.आर. दास की मृत्यु से उन्हें और गहरा आघात लगा। स्वराजियों के खेमें में उत्तरदायित्व की अवधारणा के समर्थक कुछ नेताओं जैसे–लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय तथा एन.सी. केलकर ने सरकार के साथ समर्थन तथा हिन्दू हितों की रक्षा के लिये सत्ता में यथासंभव भागीदारी की वकालत की। उन्होंने मोतीलाल नेहरू जैसे अ-प्रतिक्रियावादियों पर आरोप लगाया कि वे मांसाहारी तथा हिन्दू हितों के विरोधी हैं। इसके पश्चात् लाला लाजपत राय एवं मदन मोहन मालवीय ने स्वराज्य पार्टी छोड़ दी। इसके अतिरिक्त भी स्वराज्य पार्टी को कमजोर करने वाली अनेक गतिविधियां चलती रहीं। तदुपरांत पार्टी

को और अधिक टूट से बचाने, संसदीय भ्रष्टाचार रोकने तथा कार्यकर्ताओं को और अधिक निराशा से बचाने के लिये पार्टी के मुख्य नेतृत्व ने 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' के प्रति पुनः अपनी आस्था व्यक्त की तथा मार्च 1926 से विधान मंडल में भाग न लेने का फैसला किया। दूसरी ओर, स्वराज्य पार्टी के दूसरे खेमें ने नवम्बर 1926 के चुनावों का समर्थन किया तथा इसमें भाग लेने का फैसला लिया। किन्तु दुर्बलता के कारण इन चुनावों में पार्टी कोई महत्वपूर्ण प्रदर्शन नहीं कर पायी और अंततः 1930 के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में पारित प्रस्तावों तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-34) के छिड़ने के कारण स्वराजियों ने विधान मंडल का दामन छोड़ दिया।

स्वराजियों की उपलब्धियांः ● गठबंधन के सहयोगियों के साथ मिलकर स्वराजियों ने कई बार सरकार के विरुद्ध मतदान किया। यहां तक कि उन्होंने बजट संबंधी मांगों पर भी सरकार के विरुद्ध मतदान किया तथा स्थगन प्रस्ताव पारित किया।

● स्वशासन, नागरिक स्वतंत्रता तथा औद्योगीकरण के समर्थन में उन्होंने सशक्त भाषण दिये।

● 1925 में विट्ठलभाई पटेल सेंट्रल, लेजिस्लेटिव एसेंबली के अध्यक्ष चुने गये।

● 1928 में सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (Public Safety Bill) पर सरकार की पराजय, स्वराजियों की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस विधेयक में यह प्रावधान था कि सरकार अवांछित तथा विध्वंसकारी चरित्र वाले विदेशियों को देश से निर्वासित कर सकती है। (इसका प्रमुख कारण तत्कालीन समय में समाजवाद एवं साम्यवाद का तेजी से प्रचार था। भारत में ब्रिटिश सरकार इस दिशा में पहले से ही सतर्क थी। सरकार का विश्वास था कि कामिंटर्न द्वारा भेजे गये विदेशी, भारत में ब्रिटिश सरकार को अस्थिर करने का प्रयास कर सकते हैं)।

● स्वराजियों की गतिविधियों ने ऐसे समय में राजनीतिक निर्वात को भर दिया, जबकि राष्ट्रीय आंदोलन धीरे-धीरे अपनी सामर्थ्य खोता जा रहा था तथा उसके सम्मुख राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गयी थी।

● उन्होंने मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का खोखलापन उजागर कर दिया।

● उन्होंने विधानमंडलों में सरकार की भेदभावपूर्ण नीतियों के विरुद्ध जोरदार प्रदर्शन किया तथा उपयुक्त मंच के रुप में इसका उपयोग किया।

स्वराजियों की कमजोरियांः ● स्वराजी विधानमंडलों के भीतर अपने जुझारू संघर्ष तथा विधानमंडलों के बाहर राजनीतिक संघर्ष के मध्य समन्वय नहीं स्थापित कर पाये। वास्तव में ये लोग महज अखबारों में छपी खबरों पर ही विश्वास करने लगे थे।

● व्यवधानवादी राजनीति की भी अपनी कुछ सीमायें हैं।

● वे अपने सहयोगी घटकों का भी हमेशा और हर अवसर पर साथ नहीं प्राप्त कर सके। टकराववादी विचारधारा के कारण उनका प्रभाव व्यापक नहीं हो सका।

• वे विधानमंडलों की शक्तियों एवं विशेषाधिकारों का पूर्ण उपयोग करने में असफल रहे।

• बंगाल में बहुसंख्यक स्वराजियों ने जमींदारों के विरुद्ध काश्तकारों की मांगों का समर्थन नहीं किया, इससे काश्तकार नाराज हो गये। इनमें बहुसंख्यक मुसलमान थे।

• वे पार्टी में घुसपैठ कर रहे साम्प्रदायिक तत्वों को रोकने में असफल रहे।

परिवर्तन विरोधियों के रचनात्मक कार्य

जिस समय स्वराजी विधानमंडलों में साम्राज्यवादी शासन का प्रतिरोध करने में व्यस्त थे, उसी समय परिवर्तन विरोधियों ने भी देश में अनेक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किये। जो इस प्रकार थे–

1. देश भर में सैकड़ों खादी आश्रमों की स्थापना की गयी। यहां युवा पुरुष एवं महिलाओं ने आदिवासियों तथा पिछड़ी जाति के लोगों के साथ मिलकर कताई-बुनाई का प्रशिक्षण लिया तथा चरखा और खादी को लोकप्रिय बनाने का कार्य किया। गुजरात के खेड़ा एवं बारदोली क्षेत्रों में इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य हुआ।

2. अनेक राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गयी, जहां विद्यार्थियों को औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध शिक्षा दी जाती थी।

3. हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये सराहनीय प्रयास किये गये। अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष, शराब एवं विदेशी कपड़ों का बहिष्कार तथा बाढ़ पीड़ितों को सहायता देने जैसे कार्यक्रम भी चलाये गये।

4. सविनय अवज्ञा आंदोलन में रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने आधार-स्तंभ की भूमिका निभायी।

रचनात्मक कार्यों का मूल्यांकनः राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रम से केवल शहरी निम्न-मध्य वर्ग एवं समृद्ध किसान ही लाभान्वित हुए। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति आकर्षण आंदोलन के समय तक ही रहा। लोग, डिग्री तथा नौकरियों के प्रलोभन से पुनः सरकारी स्थलों की ओर आकर्षित होने लगे।

खादी की लोकप्रियता भी एक मुश्किल कार्य था, क्योंकि यह आयातित कपड़े की तुलना में मंहगा पड़ता था। छुआछूत के विरुद्ध संघर्ष में भूमिहीनों तथा कृषक तथा मजदूरों की आर्थिक दशा सुधारने हेतु कोई प्रयत्न नहीं किये गये, जबकि इसी वर्ग के लोग मुख्यतया इस अमानवीय कुरीति के शिकार थे।

यद्यपि स्वराजियों एवं परिवर्तन विरोधियों की विचारधारा तथा कार्यशैली भिन्न-भिन्न थी, फिर भी उन्होंने एक-दूसरे से यथासंभव सहयोग बनाये रखा तथा नये राजनीतिक संघर्ष की शुरुआत के लिये जहां कहीं भी अवसर मिला, एक-दूसरे को सहयोग दिया।

नयी शक्तियों—समाजवादी विचार, युवा शक्ति, व्यापार संघ—का उदय

20वीं शताब्दी में दूसरे दशक के अंतिम एवं तीसरे दशक के प्रारम्भिक वर्ष आधुनिक भारतीय इतिहास में कई कारणों से महत्वपूर्ण थे। इस दौरान, जहां एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन में भारतीयों ने अपनी सक्रिय भागीदारी दर्ज कराई वहीं दूसरी ओर, राष्ट्रीय परिदृश्य पर विभिन्न राजनीतिक धाराओं का क्रिस्टलीकरण भी हुआ। ये विभिन्न राजनैतिक धारायें अपने अभ्युदय की प्रक्रिया में जहां एक ओर सत्य और अहिंसा पर आधारित गांधीवादी 'सत्याग्रह' की अवधारणा से अभिप्रेरित थीं, वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य कारणों ने भी इनके अभ्युदय में सकारात्मक भूमिका निभायी। इस काल के भारतीय चिंतकों पर अंतरराष्ट्रीय घटनाओं एवं परिस्थितियों का जो प्रभाव दर्ज किया गया, वह पहले इतना कभी नहीं देखा गया था। दूसरे शब्दों में, भारतीय चिंतकों के मनोमस्तिष्क पर धारदार और सुस्पष्ट सामाजिक-आर्थिक अंतर्वस्तु का प्रवेश हुआ।

1920 के दशक में जिन नयी शक्तियों का अभ्युदय हुआ वे इस प्रकार थीं—

समाजवादी एवं मार्क्सवादी विचारों का प्रसार

अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य पर विभिन्न समाजवादी एवं साम्यवादी संगठनों के उदय ने भारत में कांग्रेस के एक खेमे पर भी अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करायी तथा उन्हें गहराई तक अभिप्रेरित कर दिया। जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस इसके सर्वप्रमुख प्रेरणा प्रतीक थे। इन दोनों प्रमुख कांग्रेसियों पर समाजवादी विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ा। ये युवा राष्ट्रवादी, गांधीवादी विचारों तथा राजनैतिक कार्यक्रम से असंतुष्ट थे तथा भारत की आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक रुग्णता को दूर करने की वकालत कर रहे थे। 1917 की रूसी क्रांति ने इन युवा राष्ट्रवादियों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। फलतः ये समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। ये युवा राष्ट्रवादी—

- स्वराजवादी एवं परिवर्तन विरोधी दोनों के आलोचक थे।
- 'पूर्ण स्वराज्य' (पूर्ण स्वतंत्रता) के नारे के साथ साम्राज्यवाद विरोधी स्वर की मुखर अभिव्यक्ति के पक्षधर थे।
- चेतना एवं अंतरराष्ट्रीय राजनैतिक धाराओं के उदय से प्रभावित थे।
- राष्ट्रवादी और साम्राज्यवाद विरोधी विचारधारा के सामाजिक न्याय से समन्वय की आवश्यकता पर जोर, पूंजीवादी और जमींदारी प्रथा की आलोचना और समाजवादी विचारधारा अपनाने की शिक्षा पर बल देते थे।

1920 में एम.एन. राय, अंबानी मुखर्जी तथा ताशकंद में रहने वाले कुछ अन्य उत्प्रवासी भारतीयों ने कामिंटर्न (रूस का अंतरराष्ट्रीय साम्यवादी संगठन) के द्वितीय

अधिवेशन के पश्चात् भारतीय साम्यवादी पार्टी (Indian Communist Party) की स्थापना की। एम.एन. राय प्रथम भारतीय थे, जिन्हें कामिंटर्न के नेतृत्व हेतु चुना गया।

1924 में कई साम्यवादियों यथा—एस.ए. डांगे, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी तथा नलिनी गुप्ता को *कानपुर बोल्शेविक षडयंत्र केस* में कारावास की सजा सुनायी गयी।

1925 में कानपुर में अखिल भारतीय स्तर के संगठन *कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया* की स्थापना की गयी।

1929 में सरकार ने 32 लोगों को गिरफ्तार कर लिया तथा उन पर मेरठ षडयंत्र केस का मुकदमा चलाया। गिरफ्तार किये गये लोगों में क्रांतिकारी राष्ट्रवादी, ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ता तथा तीन ब्रिटिश साम्यवादी फिलिप स्प्रेट, बेन ब्रैडले और लेस्टर हचिन्सन सम्मिलित थे। सरकार का मुख्य उद्देश्य यूनियन आंदोलन को समाप्त करना तथा साम्यवादियों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग-थलग करना था।

पूरे राष्ट्र में कृषक एवं मजदूर संगठनों ने एकजुट होकर प्रयास किया तथा मार्क्सवादी एवं साम्यवादी विचारों का प्रचार-प्रसार किया। 1928 में सभी कृषक एवं मजदूर संगठनों को मिलाकर एक नया संगठन बनाया गया तथा इसका नाम 'अखिल भारतीय कामगार तथा कृषक दल' (आल इंडिया वर्कस एण्ड पीजेंट्स पार्टी) रखा गया। इस पार्टी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान किया गया तथा देश के विभिन्न स्थानों में इसकी शाखायें खोली गयीं। सभी साम्यवादियों को इनका सदस्य बनाया गया। वर्कर्स एण्ड पीजेंट्स पार्टी का मुख्य उद्देश्य कांग्रेस के अंतर्गत काम करते हुए इसे अधिक क्रांतिकारी रूझान वाली तथा जनसामान्य की पार्टी बनाया था। साथ ही वर्ग संगठनों में स्वतंत्र रूप से किसानों और मजदूरों को सम्मिलित कर स्वतंत्रता प्राप्ति एवं तत्पश्चात् भारत को समाजवाद के लक्ष्य तक पहुंचना था।

भारतीय युवाओं की सक्रियता

पूरे भारत में युवा संगठन स्थापित किये गये तथा युवाओं के सैकड़ों अधिवेशन सम्पन्न हुए। 1928 में जवाहरलाल नेहरू ने अखिल बंगाल छात्र सम्मेलन को सम्बोधित किया।

किसानों के प्रदर्शन

मध्य प्रांत में किसानों ने काश्तकारी नियमों में संशोधन, भूराजस्व में कमी, बेदखली के विरुद्ध संरक्षण तथा ऋणग्रस्तता से बचाव जैसे मुद्दों को लेकर उग्र प्रदर्शन किये। आंध्र में रम्पा क्षेत्र, राजस्थान, बम्बई तथा मद्रास के काश्तकारों ने भी इसी तरह के प्रदर्शन किये। गुजरात के बारदोली में 1928 में किसान आंदोलन का नेतृत्व वल्लभभाई पटेल ने किया।

व्यापार संघ का विकास

भारत में व्यापार संघ आंदोलन (Trade Union Movements) का नेतृत्व 1920 में स्थापित 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (इंटक) ने किया। *लाला लाजपत राय* इसके प्रथम अध्यक्ष एवं *दीवान चमन लाल* इसके प्रथम सचिव थे। बाल गंगाधर तिलक ने भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1920 के दशक में इंटक के नेतृत्व में अनेक कारखानों में हड़तालें आयोजित की गयीं। जिनमें खड़गपुर रेलवे वर्कशॉप, टाटा आयरन एवं स्टील फैक्ट्री (जमशेदपुर), बाम्बे टेक्सटाइल मिल्स (इस मिल की हड़ताल में एक लाख पचास हजार श्रमिकों ने लगभग पांच महीने तक मिल में हड़ताल जारी रखी), एवं बकिंघम कर्नाटक मिल की हड़तालें प्रमुख थीं। 1928 में देश भर में आयोजित विभिन्न हड़तालों में लगभग 5 लाख श्रमिकों ने भाग लिया। मद्रास में पहली बार मजदूर दिवस को *मई दिवस* के रूप में मनाया गया।

जातीय आंदोलन

पूर्ववर्ती शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध भारतीय समाज में विभिन्न जातीय आंदोलन एक बार पुनः गति पकड़ने लगे। हालांकि इन आंदोलनों की प्रकृति विभाजनकारी, संकीर्ण एवं मौलिक थी। इनमें निम्न आंदोलन सम्मिलित थे–

- मद्रास में जस्टिस पार्टी का आंदोलन।
- आत्म-सम्मान आंदोलन (1925)–यह आंदोलन मद्रास के ई.पी. रामास्वामी नायकर *पेरियार* के नेतृत्व में चलाया गया।
- सतारा (महाराष्ट्र) में सत्यशोधक कार्यकर्ताओं का आंदोलन।
- भास्करराव जाधव (महाराष्ट्र) के नेतृत्व में चलाया गया आंदोलन।
- महाराष्ट्र में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में महारों का आंदोलन।
- केरल में के. अयप्पन एवं सी. केसवन के नेतृत्व में सिद्धांतवादी इर्झावों का आंदोलन।
- सामाजिक स्थिति में सुधार हेतु बिहार में यादवों का आंदोलन।
- पंजाब में फजल-ए-हुसैन के नेतृत्व में यूनियनिस्ट पार्टी का आंदोलन।

क्रांतिकारी गतिविधियों का समाजवाद की ओर झुकाव

अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित राजनीतिक संघर्ष की रणनीति से असंतुष्ट युवाओं का झुकाव धीरे-धीरे समाजवाद की ओर होने लगा। स्वराजियों एवं परिवर्तन विरोधियों के कार्यक्रमों से भी ये संतुष्ट नहीं हो सके। फलतः ये समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होकर इस ओर आकृष्ट होने लगे।

इसके परिणामस्वरूप क्रांतिकारी आतंकवाद की दो धारायें विकसित हुईं–

- हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन–पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं बिहार में

● *युगान्तर,* अनुशीलन समितियां तथा कालांतर में बंगाल में सूर्यसेन के नेतृत्व में चटगांव विद्रोह समूह।

19वीं शताब्दी के दूसरे एवं तीसरे दशक में क्रांतिकारी गतिविधियां

असहयोग आंदोलन के पश्चात् लोग क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर आकर्षित क्यों हुए

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान क्रांतिकारी आतंकवाद का निर्ममता से दमन किया गया। अनेक क्रांतिकारी भूमिगत हो गये, कई जेल में डाल दिये गये तथा कई इधर-उधर बिखर गये। 1920 के प्रारम्भ में सरकार ने जेल में बंद विभिन्न क्रांतिकारियों को आम माफी देकर रिहा कर दिया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि सरकार मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को लागू करने के लिये देश में सद्भावना का वातावरण बनाना चाहती थी। शीघ्र ही गांधीजी ने असहयोग आंदोलन प्रारम्भ कर दिया। इसके पश्चात् गांधीजी, सी.आर. दास तथा अन्य नेताओं की अपील पर जेल से रिहा क्रांतिकारियों में से अधिकांश असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हो गये तथा अन्य ने अहिंसक असहयोग आंदोलन को समर्थन देने के निमित्त आतंकवाद का रास्ता छोड़ दिया।

लेकिन गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन को एकाएक स्थगित कर दिये जाने के कारण इनमें से अनेक अत्यधिक असंतुष्ट हो गये। जनआंदोलन की आंधी में सब कुछ छोड़कर असहयोग आंदोलन से जुड़ जाने के कारण वे महसूस करने लगे कि उनके साथ विश्वासघात किया गया है। इनमें से अधिकांश ने राष्ट्रीय नेतृत्व की रणनीति तथा अहिंसा के सिद्धांत पर प्रश्नचिन्ह लगाना प्रारम्भ कर दिया तथा किसी विकल्प की तलाश करने लगे। स्वराजियों के संसदीय संघर्ष तथा परिवर्तन विरोधियों (नो चेंजर्स) के रचनात्मक कार्य भी इन युवाओं को आकृष्ट नहीं कर सके। इनमें से अधिकांश इस बात पर विश्वास करने लगे कि सिर्फ हिंसात्मक तरीके से ही स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार क्रांतिकारी आतंकवाद पुनर्जीवित हो उठा।

क्रांतिकारी आतंकवादी विचारधारा के सभी प्रमुख नेताओं ने असहयोग आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। इनमें जोगेश चन्द्र चटर्जी, सूर्यसेन, भगत सिंह, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद, शिव वर्मा, भगवती चरण वोहरा, जयदेव कपूर व जतिन दास के नाम सबसे प्रमुख हैं। इस काल में क्रांतिकारी आतंकवाद की दो विभिन्न धारायें विकसित हुईं—एक पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में तथा दूसरी बंगाल में।

प्रमुख प्रभावकारी कारक

(i) युद्ध के पश्चात् मजदूर तथा श्रमिक संघवाद का उदय; क्रांतिकारी आतंकवादी नये उभरते हुए वर्ग की क्रांतिकारी ऊर्जा को राष्ट्रवादी क्रांति में लगाना चाहते थे।

(ii) 1917 की रूसी क्रांति तथा युवा सोवियत राज्य का गठन।

(iii) नये साम्यवादी समूहों का उदय; ये मार्क्सवाद, समाजवाद एवं दरिद्रतम श्रमिक वर्ग के हितों के पक्षधर थे।

(iv) क्रांतिकारियों द्वारा प्रकाशित विभिन्न पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकायें; इनमें विभिन्न क्रांतिकारियों के त्याग एवं बलिदान का गुणगान किया गया। इनमें *आत्मशक्ति, सारथी* एवं *बिजली* का नाम उल्लेखनीय है।

(v) उपन्यास एवं पुस्तकें; जैसे—सचिन सान्याल की *बंदी जीवन* तथा शरदचन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित *पाथेर दाबी* प्रमुख थीं। (बाद में अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण सरकार ने पाथेर दाबी प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया)।

पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं बिहार में

इस क्षेत्र में क्रांतिकारी आतंकवादी गतिविधियों का संचालन मुख्य रूप से हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन या आर्मी ने किया। (कालांतर में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का नाम बदलकर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन कर दिया गया)। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (एच.आर.ए.) की स्थापना अक्टूबर 1924 में कानपुर में की गयी। कानपुर में क्रांतिकारी युवकों के एक अधिवेशन में रामप्रसाद बिस्मिल, योगेश चन्द्र चटर्जी एवं शचीन्द्रनाथ सान्याल (सचिन सान्याल) ने अन्य क्रांतिकारियों के सहयोग से इसकी स्थापना की। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का उद्देश्य सशस्त्र क्रांति के माध्यम से औपनिवेशिक सत्ता को उखाड़ फेंकना तथा संघीय गणतंत्र संयुक्त राज्य भारत (यूनाइटेड स्टेट्स आफ इंडिया) की स्थापना करना था। जिसका मुख्य आधार वयस्क मताधिकार हो।

काकोरी कांड (अगस्त 1925): हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का सबसे प्रमुख कार्य 'काकोरी डकैती' था। 9 अगस्त 1925 को एसोसिएशन के सदस्यों ने सहारनपुर—लखनऊ लाइन पर 8 डाउन रेलगाड़ी को काकोरी नामक गांव में रोककर रेल विभाग के खजाने को लूट लिया। सरकार इस घटना से अत्यन्त क्रोधित हो गयी। उसने भारी संख्या में क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर उन पर काकोरी षड़यंत्र का मुकदमा चलाया। रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, राजेन्द्र लाहिड़ी तथा रोशन सिंह को फांसी दे दी गयी, चार को आजीवन कारावास की सजा देकर अंडमान भेज दिया गया तथा 17 अन्य लोगों को लंबी सजायें सुनायी गयीं। चन्द्रशेखर आजाद फरार हो गये। काकोरी षड़यंत्र कांड से उत्तर भारत के क्रांतिकारियों को एक बड़ा आघात लगा लेकिन इससे क्रांतिकारी आतंकवाद का पूर्णतया दमन नहीं हो सका।

काकोरी षड़यंत्र केस से क्रांतिकारी और भड़क उठे तथा कई और युवा क्रांतिकारी संघर्ष के लिये तैयार हो गये। उत्तर प्रदेश में शिव वर्मा, जयदेव कपूर तथा विजय कुमार सिन्हा तथा पंजाब में भगत सिंह, सुखदेव तथा भगवती चरण वोहरा ने चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन को पुनः संगठित करने का काम प्रारम्भ कर दिया। इन युवा क्रांतिकारियों पर धीरे-धीरे समाजवादी विचारधारा का प्रभाव भी पड़ने लगा। दिसम्बर 1928 में दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में युवा क्रांतिकारियों की एक बैठक आयोजित की गयी, जिसमें युवा क्रांतिकारियों ने सामूहिक नेतृत्व को स्वीकारा तथा समाजवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य निर्धारित किया। बैठक में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का नाम बदलकर 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' (एच.एस.आर.ए.) रख दिया गया।

साण्डर्स हत्याकांड (लाहौर, दिसम्बर 1928): धीरे-धीरे जब हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के क्रांतिकारी विध्वंसक तथा क्रांतिकारी गतिविधियों से दूर होते जा रहे थे, उसी समय नवम्बर 1928 में *शेर-ए-पंजाब* लाला लाजपत राय की लाठीचार्ज से हुई मृत्यु से वे पुनः भड़क उठे।

1928 में लाहौर में साइमन कमीशन के भारत दौरे का विरोध करने हेतु एक प्रदर्शन आयोजित किया गया। प्रदर्शनकारियों का नेतृत्व लाला लाजपत राय कर रहे थे। लाहौर में सहायक पुलिस कप्तान साण्डर्स ने साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन कर रहे लोगों पर लाठी चार्ज का आदेश दे दिया। इसके परिणामस्वरूप लाला लाजपत राय को संघातिक चोट लगी तथा 15 नवम्बर 1928 को उनकी मृत्यु हो गयी। हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के तीन प्रमुख सदस्यों भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद तथा राजगुरु ने लाला लाजपत राय की मौत के लिये साण्डर्स को दोषी मानते हुए 17 दिसम्बर 1928 को साण्डर्स की हत्या कर दी। साण्डर्स की हत्या को इन शब्दों द्वारा न्यायोचित करार दिया गया—''देश के करोड़ों लोगों के सम्माननीय नेता की एक साधारण पुलिस अधिकारी के क्रूर हाथों द्वारा की गयी हत्या..... राष्ट्र का घोर अपमान है। भारत के देशभक्त युवाओं का यह कर्तव्य है कि वे इस कायरतापूर्ण हत्या का बदला लें..... हमें साण्डर्स की हत्या का अफसोस है किन्तु वह उस अमानवीय व्यवस्था का एक अंग था, जिसे नष्ट करने के लिये हम संघर्ष कर रहे हैं।''

केंद्रीय विधान सभा में बम विस्फोट (अप्रैल 1929): इसके पश्चात् हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के नेतृत्व में जनता को यह समझाने का निर्णय किया गया कि उसका उद्देश्य अब परिवर्तित हो गया है तथा वह जनक्रांति में विश्वास रखता है। इसी समय ब्रिटिश सरकार भारतीयों, विशेषकर मजदूरों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने के उद्देश्य से 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' तथा 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पास करने की योजना बना रही थी। इसके प्रति विरोध प्रदर्शित करते हेतु भगत सिंह तथा बटुकेश्वर दत्त को केंद्रीय विधान सभा में बम फेंकने का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

बम फेंकने का उद्देश्य किसी की हत्या करना नहीं, अपितु सरकार को विरोध से अवगत कराना तथा 'बहरे को सुनाना' था। इसलिये जानबूझ कर मामूली बम बनाया गया तथा 8 अप्रैल 1929 को भगत सिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने केंद्रीय विधानसभा के कक्ष में खाली बेंचों में इस बम को फेंका, बम फेंकने का मुख्य उद्देश्य अपनी गिरफ्तारी देकर अदालत को अपनी विचारधारा के प्रचार का माध्यम बनाना था, जिससे जनता उनके विचारों तथा राजनीतिक दर्शन से परिचित हो सके। बम फेंकने के उपरांत मची भगदड़ में भगत सिंह तथा बटुकेश्वर दत्त आसानी से भाग सकते थे किन्तु वे 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाते रहे।

भगतसिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने जानबूझ कर स्वयं को गिरफ्तार कराया था क्योंकि वे जनता को यह संदेश देना चाहते थे कि क्रांतिकारी गतिविधियों की सजा क्रांतिकारी स्वयं भुगतने को तैयार हैं। क्योंकि उस समय जनता में यह धारणा बनती जा रही थी कि आतंकवादी गतिविधियों के पश्चात् क्रांतिकारी बचकर निकल जाते हैं तथा सरकारी दमन की सजा जनता को भुगतनी पड़ती है।

सरकार ने चन्द्रशेखर आजाद के अतिरिक्त सभी प्रमुख क्रांतिकारियों को पकड़ लिया। भगत सिंह, सुखदेव तथा राजगुरु पर *लाहौर षड़यंत्र केस* के तहत मुकदमा चलाया गया। अन्य क्रांतिकारियों को कड़ी सजायें हो गयीं। जेल में इन क्रांतिकारियों ने जेल की अमानवीय परिस्थितियों के विरोध में भूख हड़ताल कर दी तथा मांग की कि राजनैतिक बंदियों के साथ हिरासत के दौरान सम्माननीय तथा न्यायोचित व्यवहार किया जाये। *जतिन दास* पहले शहीद बने। जेल में 64 दिनों की भूख हड़ताल के कारण उनकी मृत्यु हो गयी। कांग्रेस के नेताओं ने इन युवा क्रांतिकारियों का जोरदार समर्थन किया। भगत सिंह, राजगुरु व सुखदेव को फांसी की सजा सुनायी गयी तथा 23 मार्च 1931 को उन्हें फांसी पर लटका दिया गया। इस खबर से पूरा देश स्तब्ध रह गया। हर जुबान पर भगत सिंह का नाम आ गया। पूरे राष्ट्र ने इन महान देशभक्तों की कुर्बानी को सरकार की कायरतापूर्ण कार्यवाई की संज्ञा दी।

दिसम्बर 1929 में चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में क्रांतिकारियों ने दिल्ली के निकट वायसराय लार्ड इर्विन की ट्रेन को जलाने का प्रयास किया। 1930 में पंजाब एवं उत्तर प्रदेश में अनेक आतंकवादी घटनायें हुईं। अकेले पंजाब में एक वर्ष में आतंकवाद की 26 घटनायें दर्ज की गयीं।

फरवरी 1931 में इलाहाबाद में एक पार्क में चन्द्रशेखर आजाद पुलिस के साथ हुई मुठभेड़ में गोलियों के शिकार हो गये।

बंगाल में

1920 के दशक में कई क्रांतिकारी समूहों को पुनर्गठित किया गया। इन्होंने अपनी गतिविधियां पुनः प्रारम्भ कर दीं तथा भूमिगत कार्यवाइयां करने लगे। कई अन्य समूह कांग्रेस के अधीन ही कार्य करते रहे। इस प्रकार उन्होंने जनता में अपनी पैठ और

व्यापक की तथा कांग्रेस को सांगठनिक आधार प्रदान किया। कस्बों तथा गांवों में सी. आर. दास के स्वराजवादी कार्यक्रम में इन युवा क्रांतिकारियों ने सक्रिय भूमिका निभायी तथा उसे व्यापक सहयोग प्रदान किया। 1925 में सी.आर. दास की मृत्यु के पश्चात् बंगाल में कांग्रेस दो धड़ों में विभक्त हो गयी—एक धड़े का नेतृत्व *अनुशीलन समिति* से सम्बद्ध जे.एम. सेनगुप्ता ने किया, जबकि दूसरे धड़े का नेतृत्व *युगान्तर समूह* से सम्बद्ध सुभाष चन्द्र बोस के हाथों में था।

इन पुनर्गठित क्रांतिकारी समूहों ने कई आतंकवादी गतिविधियां संपन्न कीं। 1924 में कलकत्ता के बदनाम पुलिस कमिश्नर चार्ल्स टेगार्ट की गोपीनाथ साहा ने हत्या करने की चेष्टा की। इसके पश्चात् सरकार ने कड़ाई से क्रांतिकारियों को कुचलना प्रारम्भ कर दिया। सुभाषचन्द्र बोस सहित अनेक क्रांतिकारी गिरफ्तार कर लिये गये तथा गोपीनाथ साहा को फांसी पर चढ़ा दिया गया।

सरकारी दमन तथा आपसी फूट के कारण क्रांतिकारी गतिविधियां धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगीं। किन्तु शीघ्र ही प्रमुख क्रांतिकारी पुनः सक्रिय हो गये तथा उन्होंने नये 'विद्रोही संगठनों' की स्थापना कर ली। इन पुनर्गठित या नवगठित क्रांतिकारी समूहों ने भी अनेक आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम दिया। इन नये 'विद्रोही संगठनों' में सबसे सक्रिय संगठन था चटगांव क्रांतिकारियों का गुट, जिसके नेता 'सूर्यसेन' थे।

चटगांव शस्त्रागार लूट (अप्रैल 1930): सूर्यसेन ने असहयोग आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी थी तथा चटगांव के राष्ट्रीय विद्यालय में शिक्षक के रूप में कार्य कर रहे थे। लोग उन्हें प्यार से *मास्टर दा* के नाम से पुकारते थे। क्रांतिकारी गतिविधियों से संलग्न होने के कारण 1926 से 1928 तक उन्हें दो साल की सजा हुई थी। जेल से रिहा होने के पश्चात् वे कांग्रेस में काम करते रहे। वे चटगांव जिला कांग्रेस कमेटी के सचिव थे। वे कहा करते थे 'सहृदयता क्रांतिकारी का विशेष गुण है'। सूर्यसेन मृदुभाषी, शांत तथा लगनशील व्यक्ति थे तथा कविताओं से उन्हें बहुत लगाव था। रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा काजी नजरुल इस्लाम के वे बहुत बड़े प्रशंसक थे।

सूर्यसेन ने अपने सहयोगियों अनन्त सिंह, गणेश घोष तथा लोकीनाथ बाउल के साथ मिलकर सशस्त्र विद्रोह की योजना बनायी। इसका उद्देश्य जनता को यह बताना था कि सशस्त्र विद्रोह से शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जड़ से उखाड़ फेंका जा सकता है। विद्रोह की प्रस्तावित कार्रवाई में चटगांव के दो शस्त्रागारों पर कब्जा कर युवा क्रांतिकारियों को हथियारबंद करने के निमित्त हथियारों को लूटना, नगर की टेलीफोन और टेलीग्राफ संचार व्यवस्था को नष्ट करना तथा चटगांव और शेष बंगाल के बीच रेल सम्पर्क को भंग करना था। इंडियन रिपब्लिकन आर्मी की चटगांव शाखा के तले 65 युवा क्रांतिकारियों द्वारा अप्रैल 1930 में शस्त्रागारों पर धावा बोल दिया

गया। पुलिस शस्त्रागार पर सफलतापूर्वक कब्जा कर लिया गया, सूर्यसेन ने शस्त्रागार के बाहर राष्ट्रीय झंडा फहराया, क्रांतिकारी युवकों ने उन्हें सलामी दी तथा कामचलाऊ क्रांतिकारी सरकार के गठन की घोषणा की गयी। बाद में ये समीपवर्ती गावों में फैल गये तथा सरकारी दफ्तरों एवं सरकारी सम्पत्ति पर छापे मारे।

किन्तु शीघ्र ही सेना चटगांव पहुंच गयी तथा उसने मोर्चा संभाल लिया। सेना तथा क्रांतिकारियों में सशस्त्र संघर्ष हुआ। कई युवा क्रांतिकारी बहादुरीपूर्वक संघर्ष करते हुए शहीद हो गये। फरवरी 1933 में सूर्यसेन गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर मुकदमा चलाया गया तथा जनवरी 1934 में उन्हें फांसी पर लटका दिया गया। किन्तु चटगांव कांड से जनता अत्यन्त प्रभावित हुई। इस घटना से क्रांतिकारी विचारों वाले युवकों का उत्साह बहुत बढ़ गया तथा बड़ी तादात में युवक विभिन्न आतंकवादी गुटों में शामिल होने लगे। 1930 में क्रांतिकारी गतिविधियों ने पुनः जोर पकड़ा तथा यह क्रम 1932 तक चलता रहा।

सरकार की प्रतिक्रिया

शस्त्रागारों की लूट से सरकार पहले तो घबराई लेकिन बाद में वह बर्बर दमन पर उतर आयी। सरकार ने 20 दमनकारी कानून जारी किये तथा क्रांतिकारियों को कुचलने हेतु पुलिस को पूरी छूट दे दी। चटगांव में पुलिस ने अनेक गांवों को जलाकर भस्म कर दिया तथा अनेक ग्रामीणों पर भारी जुर्माना लगाया। देशद्रोह के आरोप में 1933 में जवाहरलाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उन्हें दो वर्ष की सजा दी गयी। उन पर साम्राज्यवाद तथा पुलिस के दमन की निंदा करने तथा क्रांतिकारी युवकों के साहस और वीरता की प्रशंसा करने का आरोप था।

क्रांतिकारी दर्शन का प्रतिपादन

भगत सिंह तथा उनके क्रांतिकारी सहयोगियों ने पहली बार 'क्रांतिकारी संघर्ष के तरीके एवं क्रांति के लक्ष्य' के रूप में क्रांतिकारियों के समक्ष क्रांतिकारी दर्शन को प्रस्तुत किया। वैसे हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के भीतर काफी समय से इस मुद्दे पर विचार मंथन चल रहा था। अक्टूबर 1924 में एच.आर.ए. की संस्थापक परिषद ने जनता को सामाजिक, क्रांतिकारी और साम्यवादी सिद्धांतों की शिक्षा देने तथा उनका प्रचार-प्रसार करने का निर्णय लिया। 1925 में अपने घोषणापत्र में इसने कहा कि हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का उद्देश्य उन तमाम व्यवस्थाओं का उन्मूलन करना है, जिनके तहत एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है। एच.आर.ए. के मुख्य अंग *क्रांतिकारियों* ने रेलवे तथा परिवहन के अन्य साधनों तथा इस्पात और जहाज निर्माण जैसे बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भी प्रस्ताव रखा। एच.आर.ए. ने किसानों और मजदूरों का संगठन बनाने तथा 'संगठित हथियारबंद क्रांति' के लिये काम करने का भी निर्णय किया। अपने अंतिम वर्षों के दौरान (1920 के दशक के) ये

क्रांतिकारी विनाशकारी तथा व्यक्तिगत आतंकवादी गतिविधियों से दूर होने लगे तथा उनका झुकाव राजनीतिक जनांदोलन की तरफ होने लगा।

अपनी हिरासत की अवधि में रामप्रसाद बिस्मिल ने युवकों से अपील की कि वे पिस्तौल और रिवाल्वर का साथ छोड़ दें, क्रांतिकारी षड़यंत्रों में हिस्सा न लें और खुला आंदोलन चलायें। उन्होंने युवकों से हिन्दू-मुस्लिम एकता बनाये रखने तथा सभी राजनीतिक दलों से कांग्रेस के नेतृत्व में एक होने की भी अपील की। बिस्मिल ने साम्यवाद में अपनी आस्था व्यक्त की तथा इस सिद्धांत का समर्थन किया कि 'प्रकृति की संपदा पर प्रत्येक इंसान का बराबर का अधिकार है'।

चन्द्रशेखर आजाद के अनुरोध पर भगवती चरण वोहरा ने 'द फिलॉसफी ऑफ द बॉम्ब' (बम का दर्शन) नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की। इसमें क्रांतिकारियों की ओर से जारी वह दस्तावेज या बयान था, जो उन्होंने जनता को अपनी विचारधारा से अवगत कराने हेतु जारी किया था।

यहां तक कि अपनी गिरफ्तारी से पहले भगत सिंह का भी उग्रवाद तथा व्यक्तिगत आतंकवादी कार्यवाइयों से विश्वास उठ चुका था तथा वे मार्क्सवाद में विश्वास करने लगे थे। उनका मानना था कि व्यापक जनांदोलन ही सफल क्रांति लाने का एकमात्र तरीका है। दूसरे शब्दों में क्रांति का तात्पर्य है 'जनता के द्वारा, जनता के लिये'। इसी उद्देश्य से भगत सिंह ने 1926 में पंजाब में क्रांतिकारियों के खुले संगठन 'भारत नौजवान सभा' के गठन में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। इसके गठन में उनकी प्रमुख भूमिका थी। भगत सिंह इस सभा के संस्थापक महामंत्री थे। भारत नौजवान सभा का उद्देश्य—युवकों, मजदूरों तथा किसानों के मध्य राजनीतिक कार्य करना, उन्हें संगठित करना तथा गांवों में सभा की शाखायें खोलना था। भगत सिंह तथा सुखदेव ने छात्रों के मध्य खुले तौर पर संवैधानिक कार्य करने हेतु 'लाहौर छात्र संघ' का भी गठन किया। भगत सिंह तथा उनके कामरेड साथियों ने यह भी महसूस किया कि क्रांति का तात्पर्य है 'क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के नेतृत्व में समाज के दलित, शोषित व गरीब तबके के जनआंदोलन का विकास'। भगत सिंह कहा करते थे 'गांव एवं कारखाने ही वास्तविक क्रांतिकारी सेनायें हैं'।

किन्तु प्रश्न उठता है कि फिर क्रांतिकारी, व्यक्तिगत आतंकवादी कार्रवाइयां क्यों करते थे? इसके दो कारण थे—*प्रथम,* उनके विचारों में लगातार तीव्र परिवर्तन। अतीत उनके वर्तमान का एक हिस्सा था। जो उपलब्धि दशकों में हासिल हो सकती थी, उसे वे थोड़े ही वर्षों में हासिल करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त नयी विचारधारा की जनसामान्य में प्रभावी पैठ एक लंबी तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया है। *दूसरा,* ये लोग इस उलझन में थे कि जनता को प्रभावित करने तथा नये समर्पित कार्यकर्ताओं को भर्ती करने के लिये कौन-सा तरीका अपनाया जाये। वे अपनी गतिविधियों को कांग्रेस की धीमी, बौद्धिक एवं राजनीतिक गतिविधियों से तेज भी करना चाहते थे। अतः इन्हीं

सब कारणों से अंततः उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि बलिदान देकर ही युवाओं को प्रोत्साहित किया जा सकता है। उनका मानना था कि कुछ चमत्कारिक एवं बहादुरीपूर्वक कार्रवाइयां, उनके प्रचार तथा अदालतों को माध्यम बनाकर अपने सिद्धांतों तथा कार्यक्रमों को जनता तक पहुंचाकर ही समर्पित कैडरों को तैयार किया जा सकता है।

क्रांति की पुनर्व्याख्या

भगत सिंह व उनके कामरेड साथियों ने क्रांति को व्यापक ढंग से परिभाषित किया। अब क्रांति का तात्पर्य हिंसा या लड़ाकूपन ही नहीं था। इसका पहला उद्देश्य था—राष्ट्रीय स्वतंत्रता की स्थापना के लिये साम्राज्यवाद को जड़ से उखाड़ फेंकना तथा समाजवादी समाज की स्थापना करना। समाजवादी समाज का तात्पर्य ऐसे समाज से था जहां 'व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण न हो'। एसेंबली बम कांड में भगत सिंह ने अदालत में कहा था कि 'क्रांति के लिये रक्तरंजित संघर्ष आवश्यक नहीं है', व्यक्तिगत बैर के लिये भी उसमें कोई जगह नहीं है। यह पिस्तौल और बम की उपासना नहीं है। क्रांति से हमारा आशय यह है कि अन्याय पर आधारित वर्तमान व्यवस्था समाप्त होनी चाहिये।

भगतसिंह का मार्क्सवाद तथा समाज के संबंध में मार्क्स की वर्गीय अवधारणा में पूर्ण विश्वास था। उन्होंने कहा कि 'किसानों को सिर्फ विदेशी शोषणकर्ताओं से ही मुक्ति नहीं पानी है बल्कि उन्हें पूंजीपतियों और जमींदारों के चंगुल से भी मुक्त होना है। उन्होंने यह भी कहा कि ''भारत में संघर्ष तब तक जारी रहेगा, जब तक मुट्ठीभर शोषणकर्ता अपने हितों की पूर्ति के लिये सामान्य जनता के श्रम का शोषण करते रहेंगे''। इस बात का कोई विशेष महत्व नहीं है कि शोषणकर्ता अंग्रेज पूंजीपति हैं या भारतीयों या अंग्रेजों का गठबंधन है या पूरी तरह भारतीय हैं। उन्होंने समाजवाद को वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित किया—जिसका अर्थ था पूंजीवाद तथा वर्ग-प्रभुत्व का पूरी तरह अंत।

भगत सिंह एक जागरुक तथा धर्मनिरपेक्ष क्रांतिकारी थे। नौजवान भारत सभा के छह नियमों में से (जिन्हें भगत सिंह ने बनाया था) दो के अनुसार—इस सभा के सदस्य किसी ऐसी संस्था, संगठन या पार्टी से किसी तरह का संबंध नहीं रखेंगे जो साम्प्रदायिकता का प्रचार करती हो। साथ ही वे धर्म को जनता का व्यक्तिगत मामला मानते हुए जनता के मध्य सहनशीलता की भावना पैदा करने का प्रयास करेंगे। भगत सिंह ने जनता को अंधविश्वास तथा धर्म की जकड़न से मुक्त करने पर बहुत जोर दिया। उन्होंने धर्म एवं धार्मिक दर्शन की भी आलोचना की तथा नास्तिकता का मार्ग अपनाया। भगवान के अस्तित्व में भी उनकी आस्था खत्म हो गयी। उन्होंने घोषित किया कि ''प्रगति के लिये संघर्षरत प्रत्येक व्यक्ति को अंधविश्वासों की आलोचना

करनी ही पड़ेगी तथा रुढ़िवादी विचारों को चुनौती देनी ही पड़ेगी।'' प्रचलित मान्यताओं की प्रत्येक व्यवस्था को प्रासंगिकता एवं सत्यता की कसौटी पर खरा उतरना होगा।

बंगाल में नये क्रांतिकारी आंदोलन की विशेषतायें

● इसकी सबसे प्रमुख विशेषता, इसमें बड़े पैमाने पर युवतियों की भागीदारी थी। सूर्यसेन के नेतृत्व में ये महिलायें क्रांतिकारियों को शरण देने, संदेश पहुंचाने तथा बंदूक लेकर लड़ने का काम करती थीं। इस काल में बंगाल की प्रमुख महिला क्रांतिकारियों में *प्रीतिलता वाडेदार*, जिन्होंने पहाड़तली (चटगांव) के रेलवे इंस्टीट्यूट में छापा मारा और शहीद हो गयीं तथा *कल्पना दत्त*, जिन्हें गिरफ्तार कर सूर्यसेन के साथ आजीवन कारावास की सजा दी गयी, सबसे प्रमुख थीं। दिसम्बर 1931 में कोमिल्ला की दो स्कूली छात्राओं—*सुनीति चौधरी* और *शांति घोष* ने एक जिलाधिकारी की गोली मारकर हत्या कर दी। फरवरी 1932 में *बीनादास* ने उपाधि वितरण हेतु आयोजित दीक्षांत समारोह में गवर्नर पर नजदीक से गोली चलायी।

● इस चरण में व्यक्तिगत आतंकवादी कार्रवाइयों के स्थान पर उपनिवेशी शासन के महत्वपूर्ण अंगों पर सामूहिक हमले को ज्यादा महत्व दिया गया। इसका उद्देश्य युवाओं के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत करना तथा नौकरशाही का मनोबल कम करना था।

● क्रांतिकारियों की हिन्दू धर्मपरायणता अब कम होने लगी तथा उन्होंने धर्म के नाम पर शपथ लेना बंद कर दिया। मुसलमानों को भी क्रांतिकारी संगठनों में प्रवेश दिया जाने लगा। चटगांव की इंडियन रिपब्लिकन आर्मी (आई.आर.ए.) में अनेक मुसलमान थे। जैसे-सत्तार, फकीर अहमद मियां, मीर अहमद, तूनू मियां इत्यादि।

इसमें कुछ कमियां भी थीं:

● आंदोलन में कुछ विवादास्पद तत्व थे।
● ये संगठन सामाजिक रूढ़िवादी तत्वों से बिल्कुल मुक्त नहीं थे।
● ये व्यापक सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य निर्धारित करने में असफल रहे।

स्वराज्य पार्टी से आये क्रांतिकारियों ने तो जमींदारों के विरुद्ध मुसलमान कृषक मजदूरों के संघर्ष का समर्थन तक नहीं किया।

सारांश

- **स्वराज्यवादी एवं अपरिवर्तनवादी**
  गांधी द्वारा आंदोलन वापस ले लिये जाने के पश्चात स्वराज्यवादी व्यवस्थापिकाओं में प्रवेश के पक्षधर थे। इनका मत था कि व्यवस्थापिकाओं में प्रवेश कर वे सरकारी मशीनरी को अवरुद्ध कर देंगे तथा भारतीय हितों की वकालत करेंगे।

अपरिवर्तनकारी, संक्रमण काल में रचनात्मक कार्यक्रमों को चलाये जाने के पक्षधर थे।

- **1920 के दशक में नयी शक्तियों का अभ्युदय**
  1. मार्क्सवादी एवं समाजवादी विचारों का प्रसार।
  2. भारतीय युवा वर्ग का सक्रिय होना।
  3. मजदूर संघों का विकास।
  4. कृषकों के प्रदर्शन।
  5. जातीय आंदोलन।
  6. क्रांतिकारी आतंकवाद का समाजवाद की ओर झुकाव।
- **हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन एवं हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन की गतिविधियां**
  स्थापना-1924
  काकोरी डकैती-1925
  पुनर्संगठित-1928
  सैन्डर्स की हत्या-1928
  केंद्रीय विधान सभा में बम विस्फोट-1929
  वायसराय की ट्रेन को जलाने का प्रयास-1929
  पुलिस मुठभेड़ में चंद्रशेखर आजाद की मृत्यु-1931
  भगतसिंह, राजगुरु एवं सुखदेव को फांसी-1931
- **क्रांति की पुनर्व्याख्या**
- **बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियां**
  कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर की हत्या का प्रयास—1924 सूर्यसेन के चटगांव विद्रोही संगठन द्वारा चटगांव डकैती-1930

अध्याय 18

साइमन कमीशन का विरोध

भारतीय विधिक आयोग की नियुक्ति

वर्ष 1919 के एक्ट को पारित करते समय ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की थी कि वह दस वर्ष पश्चात् पुनः इन सुधारों की समीक्षा करेगी। किन्तु नवंबर 1927 में ही उसने आयोग की नियुक्ति की घोषणा कर दी, जिसका नाम भारतीय विधिक आयोग था। इसके अध्यक्ष *सर जॉन साइमन* तथा सभी सातों सदस्य श्वेत थे। कालांतर में सर जॉन साइमन के कारण इसे 'साइमन आयोग' के नाम से ही जाना जाने लगा। इस आयोग को वर्तमान सरकारी व्यवस्था, शिक्षा के प्रसार तथा प्रतिनिधि संस्थाओं के अध्ययन के पश्चात यह रिपोर्ट देनी थी कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना कहां तक उचित है तथा भारत इसके लिये कहां तक तैयार है। यद्यपि संवैधानिक सुधारों के संबंध में ब्रिटिश सरकार द्वारा अगला कदम 1929 में उठाया जाना था, किन्तु ब्रिटेन की तत्कालीन सत्तारूढ़ पार्टी कंजरवेटिव पार्टी, विपक्षी लेबर पार्टी से भयभीत थी तथा ब्रिटेन के सर्वाधिक बहुमूल्य उपनिवेश के भविष्य के प्रश्न को संभवतः सत्तारूढ़ होने वाली लेबर पार्टी के लिये नहीं छोड़ना चाहती थी। कंजरवेटिव या रूढ़िवादी दल के तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड बिरकनहेड का मानना था कि भारत के लोग, संवैधानिक सुधारों हेतु एक सुनिश्चित योजना बनाने में सक्षम हैं। फलतः इसीलिये उन्होंने साइमन कमीशन की नियुक्ति की।

साइमन कमीशन ने जो संस्तुतियां प्रस्तुत कीं, (उन्हें 1930 में प्रकाशित किया गया।) उनमें सुझाव दिया गया कि–(i) प्रांतीय क्षेत्रों में कानून तथा व्यवस्था सहित सभी क्षेत्रों में उत्तरदायी सरकार-गठित की जाये (ii) केंद्रीय विधान मण्डल का पुनर्गठन किया जाये। इसमें संघीय भावना हो तथा इसके सदस्य प्रांतीय विधान मण्डलों द्वारा अप्रत्यक्ष तरीके से चुने जायें। (iii) केंद्र में उत्तरदायी सरकार का गठन न किया जाये क्योंकि इसके लिये अभी उचित समय नहीं आया है।

भारतीय प्रतिक्रिया

भारत में साइमन कमीशन के विरुद्ध त्वरित तथा तीव्र जनारोष पैदा हो गया। भारतीय जनारोष का प्रमुख कारण किसी भी भारतीय को कमीशन का सदस्य न बनाया जाना तथा भारत में स्वशासन के संबंध में निर्णय, विदेशियों द्वारा किया जाना था। चूंकि भारतवासी यह समझते थे कि भारत का संविधान भारतीयों को ही बनाना चाहिए, अतः कमीशन में किसी भी भारतीय सदस्य को न लिये जाने से उन्होंने यह अनुमान लगाया कि अंग्रेज, भारतीयों को स्वशासन के योग्य नहीं समझते हैं।

कांग्रेस की प्रतिक्रियाः कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन (दिसम्बर 1927) में एम.ए. अंसारी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने 'प्रत्येक स्तर एवं प्रत्येक स्वरूप' में साइमन कमीशन के बहिष्कार का निर्णय किया। इस बीच नेहरू के प्रयासों से अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित हो गया। किसान-मजदूर पार्टी, लिबरल फेडरेशन, हिन्दू महासभा तथा मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के साथ मिलकर कमीशन के बहिष्कार की नीति अपनायी। जबकि पंजाब में संघवादियों (unionists) तथा दक्षिण भारत में जस्टिस पार्टी ने कमीशन का बहिष्कार न करने का निर्णय किया।

जन-प्रतिक्रियाः 3 फरवरी 1928 को साइमन कमीशन बंबई पहुंचा। इसके बंबई पहुंचते ही देश के सभी प्रमुख नगरों में हड़तालों एवं जुलूसों का आयोजन किया गया। जहां कहीं भी कमीशन गया, उसका स्वागत काले झंडों तथा 'साइमन गो बैक' के नारों से किया गया। केंद्रीय विधानसभा ने भी साइमन का स्वागत करने से इंकार कर दिया।

साइमन कमीशन के विरुद्ध जनारोष का सबसे प्रमुख तथ्य यह था कि इसमें बड़ी संख्या में युवाओं ने भाग लिया तथा पहली बार राजनीतिक भागीदारी का अनुभव प्राप्त किया। युवाओं ने कमीशन के विरुद्ध किये जा रहे विरोध प्रदर्शनों में सक्रिय भूमिका निभायी तथा उसे क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान किया। युवाओं की समितियां एवं सभायें विभिन्न स्थानों पर सक्रिय रहीं। इसी चरण में जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाषचंद्र बोस प्रमुख युवा राष्ट्रवादियों के रूप में उभरे। इन दोनों युवा राष्ट्रवादियों ने विभिन्न स्थानों के दौरे किये तथा विभिन्न स्थानों पर सभाओं को संबोधित किया। युवाओं में विरोध प्रदर्शन की चेतना उभरने से मौलिक समाजवादी विचारों के अंकुरण एवं विकास को उर्वर भूमि प्राप्त हुई, जिसका प्रभाव पंजाब नौजवान सभा, मजदूर एवं किसान दल तथा हिन्दुस्तानी सेवा समिति (कर्नाटक) जैसे संगठनों में परिलक्षित हुआ।

पुलिस का दमन

पुलिस ने साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शनकारियों पर दमन का चक्र चलाया तथा कई स्थानों पर उसने लाठियां बरसायीं। यहां तक कि उसने वरिष्ठ नेताओं को भी नहीं बख्शा। जवाहरलाल नेहरू तथा जी.बी. पंत को लखनऊ में बुरी तरह पीटा गया। लाहौर में प्रदर्शनकारियों का नेतृत्व कर रहे लाला लाजपत राय पर तो लाठियों के संघातिक

प्रहार किये गये कि वे बुरी तरह जख्मी हो गये तथा 17 नवंबर 1928 को उनकी मृत्यु हो गयी।

साइमन कमीशन की नियुक्ति का प्रभाव

भारतीय राजनीति में साइमन कमीशन की नियुक्ति के प्रभाव को मुख्य दो रूपों में देखा जा सकता है–

(i) इसने मौलिक राष्ट्रवादी ताकतों को, जो पूर्ण स्वराज्य के साथ समाजवादी आधार पर सामाजिक-आर्थिक सुधारों की मांग कर रहीं थीं, और उत्तेजित कर दिया।

(ii) इसने लार्ड बिरकनहैड की इस चुनौती को कि भारतीय सर्वसम्मत संविधान का निर्माण करके दिखायें, मुंहतोड़ जवाब दिया। इससे, भारतीयों की इस अवसर पर असाधारण एकता प्रदर्शित हुई।

वस्तुतः साइमन आयोग की घोषणा का भारतीय राजनीति पर दोहरा और कुछ परस्पर विरोधी प्रभाव पड़ा। इस जान-बूझकर किए गए अपमान से सभी आहत हुए। सप्रू जैसे उदारवादी राजनीतिज्ञ और जिन्ना के नेतृत्व में मुसलमान नेताओं ने कांग्रेस के साथ मिलकर डोमिनियन स्टेट्स का संविधान बनाने का प्रयास किया, किंतु सांप्रदायिक मतभेदों ने 1928 के अंत तक ऐसे उदारवादी समूहों के संयुक्त मोर्चे को तोड़ दिया। लेकिन उसी समय साइमन आयोग के बहिष्कार का आंदोलन जुझारू शक्तियों की तीव्र वृद्धि में सहायक हुआ। ये शक्तियां न केवल पूर्ण स्वाधीनता की, अपितु समाजवादी दिशा में अनेक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की भी मांग कर रही थीं।

नेहरू रिपोर्ट

1928 में तत्कालीन भारत सचिव लार्ड बिरकनहैड ने भारतीयों को ऐसे संविधान के निर्माण को चुनौती दी जो सभी गुटों एवं दलों को मान्य हो। इस चुनौती को स्वीकार कर फरवरी एवं मई 1928 में, देश के विभिन्न विचारधाराओं के नेताओं का एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन पहले दिल्ली, फिर पुणे में आयोजित किया गया। सम्मेलन में भारतीय संविधान का मसविदा तैयार करने हेतु मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक उप-समिति का गठन किया गया। अली इमाम, सुभाष चंद्र बोस, एम.एस.एनी, मंगल सिंह, शोएब कुरेशी, जी.आई. प्रधान तथा तेजबहादुर सप्रू उप-समिति के अन्य सदस्य थे। देश के संविधान का प्रारूप तैयार करने की दिशा में भारतीयों का यह पहला बड़ा कदम था। अगस्त 1928 में इस उप-समिति ने अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट पेश की, जिसे *नेहरू रिपोर्ट* के नाम से जाना जाता है। इस रिपोर्ट की सभी संस्तुतियों को एकमत से स्वीकार कर लिया गया। रिपोर्ट में भारत को डोमिनियन स्टेट्स का दर्जा दिये जाने की मांग पर बहुमत था लेकिन राष्ट्रवादियों के एक वर्ग को

इस पर आपत्ति थी। वह डोमिनियन स्टेट्स के स्थान पर 'पूर्ण स्वतंत्रता' का समर्थन कर रहा था। लखनऊ में डा. अंसारी की अध्यक्षता में पुनः सर्वदलीय सम्मेलन हुआ, जिसमें नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया।

नेहरू रिपोर्ट की मुख्य अनुशंसाएं

(i) भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा मिले तथा उसका स्थान ब्रिटिश शासन के अधीन अन्य उपनिवेशों के समान ही हो।

(ii) सार्वजनिक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर दिया जाये, जो कि अब तक के संवैधानिक सुधारों का आधार था; इसके स्थान पर संयुक्त निर्वाचन पद्धति की व्यवस्था हो; केंद्र एवं उन राज्यों में जहां मुसलमान अल्पसंख्या में हों, उनके हितों की रक्षा के लिये कुछ स्थानों को आरक्षित कर दिया जाये (लेकिन यह व्यवस्था उन प्रांतों में नहीं लागू की जाये जहां मुसलमान बहुसंख्यक हों जैसे—पंजाब एवं बंगाल)।

(iii) भाषायी आधार पर प्रांतों का गठन।

(iv) उन्नीस मौलिक अधिकारों की मांग-जिसमें महिलाओं को समान अधिकार, संघ बनाने की स्वतंत्रता तथा वयस्क मताधिकार जैसी मांगें सम्मिलित थीं।

(v) केंद्र तथा राज्यों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाये-

- केंद्र में भारतीय संसद या व्यवस्थापिका के दो सदन हों-*निम्न सदन* (हाउस आफ रिप्रेजेंटेटिव) की सदस्य संख्या 500 हो; इसके सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति से हो। *उच्च सदन* (सीनेट) की सदस्य संख्या 200 हो; इसके सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष पद्धति से प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाये। निम्न सदन का कार्यकाल पांच वर्ष तथा उच्च सदन का कार्यकाल सात वर्ष हो; केंद्र सरकार का प्रमुख गवर्नर-जनरल हो, जिसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जायेगी; गवर्नर-जनरल, केंद्रीय कार्यकारिणी परिषद की सलाह पर कार्य करेगा, जो कि केंद्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होगी।
- प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं का कार्यकाल पांच वर्ष होगा। इनका प्रमुख गवर्नर होगा, जो प्रांतीय कार्यकारिणी परिषद की सलाह पर कार्य करेगा।

(vi) मुसलमानों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक हितों को पूर्ण संरक्षण।

(vii) पूर्णधर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना, राजनीति से धर्म का पृथक्करण।

(viii) कार्यपालिका को विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी बनाया जाये।

(ix) केंद्र और प्रांतों में संघीय आधार पर शक्तियों का विभाजन किया जाये, किन्तु अवशिष्ट शक्तियां केंद्र को दी जायें।

(x) सिन्ध को बम्बई से पृथक कर एक पृथक प्रांत बनाया जाये।

(xi) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत को ब्रिटिश भारत के अन्य प्रांतों के समान वैधानिक स्तर प्रदान किया जाये।

साइमन कमीशन रिपोर्ट तथा नेहरू रिपोर्ट में अंतर

साईमन कमीशन रिपोर्ट	*नेहरू रिपोर्ट*
1. भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य शीघ्र देने की सिफारिश नहीं की गयी थी।	1. भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य अतिशीघ्र देने की सिफारिश की गयी थी।
2. केंद्र एवं प्रांतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना का विरोध किया गया।	2. केंद्र एवं प्रांतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की सिफारिश की गयी।
3. गवर्नर-जनरल के अधिकारों में कोई कमी नहीं की गयी।	3. गवर्नर-जनरल को केवल संवैधानिक प्रमुख का स्तर दिया गया।
4. साम्प्रदायिक आधार पर चुनावी व्यवस्था को जारी रखने की सिफारिश की गयी।	4. सामूहिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचन की सिफारिश की। इसने मुसलमानों के लिये कुछ सीटें आरक्षित करने का भी सुझाव दिया।
5. नागरिकों के लिये मौलिक अधिकारों का कोई उल्लेख नहीं था।	5. नागरिकों के लिये मौलिक अधिकारों की सिफारिश की गयी थी।
6. वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव कराने की सिफारिश नहीं की।	6. वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव कराने की सिफारिश की गयी।
7. भारत के लिये प्रतिरक्षा समिति, संघ लोक सेवा आयोग तथा उच्चतम न्यायालय इत्यादि की स्थापना का कोई उल्लेख नहीं था।	7. भारत के लिये उच्चतम न्यायालय, प्रतिरक्षा समिति और संघ लोक सेवा आयोग इत्यादि की स्थापना की सिफारिश की गयी थी।

(xii) देशी राज्यों के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को सुनिश्चित किया जाये। उत्तरदायी शासन की स्थापना के पश्चात ही किसी राज्य को संघ में सम्मिलित किया जाये।

(xiii) भारत में एक प्रतिरक्षा समिति, उच्चतम न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग की स्थापना की जाये।

मुस्लिम एवं हिन्दू साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया

नेहरू रिपोर्ट के रूप में देश के भावी संविधान की रूपरेखा का निर्माण, राष्ट्रवादी नेताओं की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। यद्यपि प्रारंभिक अवसर पर रिपोर्ट के संबंध में उन्होंने प्रशंसनीय एकता प्रदर्शित की, किन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचन के मुद्दे को लेकर धीरे-धीरे अनेक विवाद उभरने लगे।

प्रारंभ में दिसम्बर 1927 में मुस्लिम लीग के दिल्ली अधिवेशन में अनेक प्रमुख मुस्लिम नेताओं ने भाग लिया तथा एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में सम्मिलित

चार मांगों को उन्होंने संविधान के प्रस्तावित मसौदे में सम्मिलित किये जाने की मांग की। दिसम्बर 1927 के कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में इन मांगों को स्वीकार कर लिया गया तथा इसे 'दिल्ली प्रस्ताव' की संज्ञा दी गयी। ये चार मांगें इस प्रकार थीं–

- पृथक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर संयुक्त निर्वाचन पद्धति की व्यवस्था की जाये, जिसमें कुछ सीटें मुसलमानों के लिये आरक्षित की जायें।
- केंद्रीय विधान मंडल में मुसलमानों के लिये एक-तिहाई स्थान आरक्षित किये जायें।
- पंजाब और बंगाल के विधान मंडलों में जनसंख्या के अनुपात में मुसलमानों के लिये स्थान आरक्षित किये जायें।
- सिंध, ब्लूचिस्तान एवं उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत नामक तीन मुस्लिम बहुल प्रांतों का गठन किया जाये।

यद्यपि हिन्दू महासभा ने तीन मुस्लिम बहुल प्रांतों के गठन तथा पंजाब एवं बंगाल जैसे मुस्लिम बहुल प्रांतों में मुसलमानों के लिये सीटें आरक्षित किये जाने के प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया। महासभा का मानना था कि इस व्यवस्था से इन प्रांतों की व्यवस्थापिकाओं में मुसलमानों का पूर्ण वर्चस्व स्थापित हो जायेगा। उसने सभी के लिये समान व्यवस्था किये जाने की मांग भी की। किंतु हिन्दू महासभा के इस रवैये से यह मुद्दा अत्यंत जटिल हो गया। दूसरी ओर मुस्लिम लीग, प्रांतीय तथा मुस्लिम बहुल प्रांतों में मुसलमानों के लिये सीटों के आरक्षण के मुद्दे पर अड़ी हुई थी। इस प्रकार दोनों पक्षों के अड़ियल रवैये के कारण मोतीलाल नेहरू तथा रिपोर्ट से जुड़े अन्य नेता असमंजस में पड़ गये। उन्होंने महसूस किया कि यदि मुस्लिम साम्प्रदायवादियों की मांगे मान ली गयीं तो हिन्दू साम्प्रदायवादी अपना समर्थन वापस ले लेंगे तथा यदि हिन्दुओं की मांगे मान ली गयीं तो मुसलमान इस प्रस्ताव से अपने को पृथक कर लेंगे।

बाद में नेहरू रिपोर्ट में एक समझौतावादी रास्ता अख्तियार कर निम्न प्रावधान किये गये–

1. संयुक्त निर्वाचन व्यवस्था को अपनाया जायेगा किंतु मुसलमानों के लिये सीटें उन्हीं स्थानों पर आरक्षित की जायेंगी, जहां वे अल्पमत में है।
2. डोमिनियन स्टेट्स की प्राप्ति के बाद ही सिंध को बम्बई से पृथक किया जायेगा।
3. एक सर्वसम्मत राजनीतिक प्रस्ताव तैयार किया जायेगा।

जिन्ना द्वारा प्रस्तुत संशोधन

दिसम्बर 1928 में नेहरू रिपोर्ट की समीक्षा के लिये एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन कलकत्ता में किया गया। इस सम्मेलन में मुस्लिम लीग की ओर से मु. अली जिन्ना ने रिपोर्ट के संबंध में तीन संशोधन प्रस्तुत किये–

1. केंद्रीय विधान मंडल में एक-तिहाई स्थान मुसलमानों के लिये आरक्षित किये जायें।

2. वयस्क मताधिकार की व्यवस्था होने तक पंजाब एवं बंगाल के विधानमंडलों में जनसंख्या के अनुपात में मुसलमानों के लिये सीटें आरक्षित की जायें।

3. प्रांतों के लिये अवशिष्ट शक्तियों की व्यवस्था की जाये।

मतदान होने पर सम्मेलन में जिन्ना के ये प्रस्ताव ठुकरा दिये गये। परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग सर्वदलीय सम्मेलन में अलग हो गई तथा मु. अली जिन्ना, मुहम्मद शफी एवं आगा खां के धड़े से मिल गये। इसके पश्चात मार्च 1929 में जिन्ना ने अलग से 'चौदह सूत्रीय मांगें' पेश कीं, जिसमें मूलतः नेहरू रिपोर्ट के बारे में उन्होंने अपनी आपत्तियां दुहरायीं।

जिन्ना की चौहद सूत्रीय मांगें: (i) संविधान का भावी स्वरूप संघीय हो तथा प्रांतों को अवशिष्ट शक्तियां प्रदान की जायें।

(ii) देश के सभी विधानमण्डलों तथा सभी प्रांतों की अन्य निर्वाचित संस्थाओं में अल्पसंख्यकों को पर्याप्त एवं प्रभावी नियंत्रण दिया जाये।

(iii) सभी प्रांतों को समान स्वायत्तता प्रदान की जाये।

(iv) साम्प्रदायिक समूहों का निर्वाचन, पृथक निर्वाचन पद्धति से किया जाये।

(v) केंद्रीय विधानमंडल में मुसलमानों के लिये एक-तिहाई स्थान आरक्षित किये जायें।

(vi) सभी सम्प्रदायों को धर्म, पूजा, उपासना, विश्वास, प्रचार एवं शिक्षा की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाये।

(vii) भविष्य में किसी प्रदेश के गठन या विभाजन में बंगाल, पंजाब एवं उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत की अक्षुण्ता का पूर्ण ध्यान रखा जाये।

(viii) सिन्ध को बम्बई से पृथक कर नया प्रांत बनाया जाये।

(ix) किसी निर्वाचित निकाय या विधानमंडल में किसी सम्प्रदाय से संबंधित कोई विधेयक तभी पारित किया जाये, जब उस सम्प्रदाय के तीन-चौथाई सदस्य उसका समर्थन करें।

(x) सभी सरकारी सेवाओं में योग्यता के आधार पर मुसलमानों को पर्याप्त अवसर दिया जाये।

(xi) अन्य प्रांतों की तरह बलूचिस्तान एवं उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में भी सुधार कार्यक्रम प्रारंभ किये जायें।

(xii) सभी प्रांतीय विधानमण्डलों में एक-तिहाई स्थान मुसलमानों के लिये आरक्षित किये जायें।

(xiii) संविधान में मुस्लिम धर्म, संस्कृति, भाषा, वैयक्तिक विधि तथा मुस्लिम धार्मिक संस्थाओं के संरक्षण एवं अनुदान के लिये आवश्यक प्रावधान किये जायें।

(xiv) केंद्रीय विधानमण्डल द्वारा भारतीय संघ के सभी राज्यों की सहमति के बिना कोई संवैधानिक संशोधन न किया जाये।

नेहरू रिपोर्ट की संस्तुतियों से न केवल हिन्दू महासभा, लीग एवं सिख समुदाय के लोग अप्रसन्न थे, बल्कि जवाहरलाल नेहरू एवं सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व वाला कांग्रेस का युवा वर्ग भी इससे खिन्न था। कांग्रेस के युवा वर्ग का मानना था कि रिपोर्ट में डोमिनियम स्टेट्स की मांग स्वतंत्रता प्राप्ति की दिशा में एक नकारात्मक कदम है। इसीलिये सर्वदलीय सम्मेलन में इन्होंने रिपोर्ट के इस प्रावधान पर तीव्र आपत्ति जताई। जवाहरलाल नेहरू एवं सुभाष चंद्र बोस ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया तथा संयुक्त रूप से **भारतीय स्वतंत्रता लीग** का गठन कर लिया।

सारांश

- **साइमन कमीशन**
  कमीशन को वर्तमान सरकारी व्यवस्था, शिक्षा के प्रसार तथा प्रतिनिधि संस्थानों के अध्ययनोपरांत यह रिपोर्ट देनी थी कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना कहां तक उचित है तथा भारत इसके लिये कहां तक तैयार है। भारतीयों को कोई प्रतिनिधित्व न दिये जाने के कारण भारतीयों ने इसका बहिष्कार किया।
- **नेहरू रिपोर्ट**
  - ☆ भारतीय संविधान का मसविदा तैयार करने की दिशा में भारतीयों का प्रथम प्रयास।
  - ☆ भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा दिये जाने की मांग।
  - ☆ पृथक निर्वाचन व्यवस्था का विरोध; अल्पसंख्यकों हेतु पृथक स्थान आरक्षित किये जाने का विरोध करते हुए संयुक्त निर्वाचन पद्धति की मांग।
  - ☆ भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन की मांग।
  - ☆ 19 मौलिक अधिकारों की मांग।
  - ☆ केंद्र एवं प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांग।

अध्याय 19

सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं गोलमेज सम्मेलन

सविनय अवज्ञा आंदोलन की पृष्ठभूमि का निर्माण

कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन (दिसम्बर 1928)

1928 में कांग्रेस का अधिवेशन मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया लेकिन कांग्रेस के युवा नेतृत्व, मुख्यतया जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस एवं सत्यमूर्ति ने डोमिनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज्य) को कांग्रेस द्वारा अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किये जाने पर गहरा असंतोष व्यक्त किया। इसके स्थान पर उन्होंने मांग की कि 'पूर्ण स्वराज्य' या 'पूर्ण स्वतंत्रता' को कांग्रेस अपना लक्ष्य घोषित करे। इस अवसर पर कांग्रेस के वरिष्ठ नेता जैसे—महात्मा गांधी तथा मोतीलाल नेहरू का मत था कि डोमीनियन स्टेट्स की मांग को इतनी जल्दबाजी में अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि बड़ी मुश्किल से इस पर आम सहमति बन सकी है। उन्होंने सुझाव दिया कि डोमिनियन स्टेट्स की मांग को मानने के लिये सरकार को दो वर्ष की मोहलत दी जानी चाहिए। बाद में युवा नेताओं के दबाव के कारण मोहलत की अवधि दो वर्ष से घटाकर एक वर्ष कर दी गयी। इस अवसर पर कांग्रेस ने यह प्रतिबद्धता जाहिर की कि डोमिनियन स्टेट्स पर आधारित संविधान को सरकार ने यदि एक वर्ष के अंदर पेश नहीं किया तो कांग्रेस न केवल 'पूर्ण स्वराज्य' को अपना लक्ष्य घोषित करेगी बल्कि इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वह सविनय अवज्ञा आंदोलन भी प्रारंभ करेगी।

वर्ष 1929 के दौरान राजनीतिक घटनायें

जनता को सीधे राजनीतिक संघर्ष के लिये तैयार करने हेतु वर्ष 1929 में गांधीजी ने पूरे देश का सघन दौरा किया। विभिन्न स्थानों पर उन्होंने सभाओं को संबोधित किया

तथा युवाओं से नये राजनीतिक संघर्ष हेतु तैयार रहने का आग्रह किया। 1929 की यात्राओं से पहले जहां गांधीजी का मुख्य जोर रचनात्मक कार्यों पर होता था, उसकी जगह पर अब उन्होंने जनता को सीधी राजनीतिक कार्रवाई के लिये तैयार करना प्रारंभ कर दिया।

जनता द्वारा बहिष्कार का आक्रामक कार्यक्रम अपनाने तथा विदेशी कपड़ों की सार्वजनिक होली जलाने के लिये कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने 'विदेशी कपड़ा बहिष्कार समिति' का गठन किया। गांधीजी ने इस अभियान को पूर्ण समर्थन प्रदान कर लोगों को सक्रियता से भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया। लेकिन मार्च 1929 में कलकत्ता में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी गिरफ्तारी से पूरे देश में उत्तेजना फैल गयी तथा लोगों ने सरेआम विदेशी वस्त्रों की होली जलाई।

वर्ष 1929 की ही कुछ अन्य घटनाओं से स्थिति और विस्फोटक हो गयी तथा पूरे राष्ट्र के लोगों में अंग्रेज विरोधी भावनायें जागृत हो उठीं। इन घटनाओं में—मेरठ षड़यंत्र केस (मार्च माह), भगत सिंह एवं बटुकेश्वर दत्त द्वारा केंद्रीय विधान सभा में बम विस्फोट (अप्रैल माह) तथा मई माह में इंग्लैण्ड में रैमजे मैक्डोनाल्ड की लेबर पार्टी का सत्ता में आना प्रमुख थीं।

लार्ड इरविन की घोषणा (31 अक्टूबर 1929)

"महारानी की ओर से मुझे स्पष्ट रूप से यह कहने का आदेश हुआ है कि सरकार के निर्णय में 1917 की घोषणा में यह बात निहित है कि भारत के विकास के स्वाभाविक मुद्दे उसमें दिये गये हैं, उनमें डोमीनियन स्टेट्स (अधिशासित स्वराज्य) की प्राप्ति जुड़ी हुई है।"

लार्ड इरविन ने यह भी वायदा किया कि जैसे ही साइमन कमीशन अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर देगा, एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जायेगा।

दिल्ली घोषणा-पत्र

2 नवंबर 1929 को देश के प्रमुख नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया गया और एक घोषणा-पत्र जारी किया गया, जिसे 'दिल्ली घोषणा-पत्र' के नाम से जाना जाता है। इसमें मांग रखी गयी कि—

1. यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि गोलमेज सम्मेलन का उद्देश्य इस बात पर विचार-विमर्श करना नहीं होगा कि किस समय डोमिनयन स्टेट्स दिया जाये, बल्कि इस बैठक में इसे लागू करने की योजना बनायी जानी चाहिए।

2. इस बैठक में कांग्रेस का बहुमत में प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

3. राजनीतिक अपराधियों को क्षमादान दिया जाये तथा सहमति की एक सामान्य नीति तय की जाये।

23 दिसम्बर 1929 को वायसराय इरविन ने इन मांगों को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार भिड़ंत का दौर प्रारंभ होने की तैयारी हो गयी।

लाहौर अधिवेशन और पूर्ण स्वराज्य

दिसम्बर 1929 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन तत्कालीन पंजाब प्रांत की राजधानी लाहौर में हुआ। इस ऐतिहासिक अधिवेशन में कांग्रेस के 'पूर्ण स्वराज्य' का घोषणा-पत्र तैयार किया गया तथा इसे कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य घोषित किया गया। जवाहरलाल नेहरू, जिन्होंने पूर्ण स्वराज्य के विचार को लोकप्रिय बनाने में सर्वाधिक योगदान दिया था, इस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। जवाहरलाल नेहरू को अध्यक्ष बनाने में गांधी जी ने निर्णायक भूमिका निभाई। यद्यपि अठारह प्रांतीय कांग्रेस समितियों में से सिर्फ तीन का समर्थन ही नेहरू को प्राप्त था, किंतु बहिष्कार की लहर में युवाओं के सराहनीय प्रयास को देखते हुए महात्मा गांधी ने इन चुनौतीपूर्ण क्षणों में कांग्रेस का सभापतित्व जवाहरलाल नेहरू को सौंपा।

जवाहरलाल नेहरू के अध्यक्ष चुने जाने के दो महत्वपूर्ण कारण थेः

1. उनके 'पूर्ण स्वराज्य' के प्रस्ताव को कांग्रेस ने अपना मुख्य लक्ष्य बनाने का निश्चय कर लिया था। तथा

2. गांधी जी का उन्हें पूर्ण समर्थन प्राप्त था।

अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रेरक अध्यक्षीय भाषण में कहा- ''विदेशी शासन से अपने देश को मुक्त कराने के लिये अब हमें खुला विद्रोह करना है, और कामरेड आप लोग और राष्ट्र के सभी नागरिक इसमें हाथ बटाने के लिये सादर आमंत्रित हैं।'' नेहरू ने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि मुक्ति का तात्पर्य सिर्फ विदेशी शासन को उखाड़ फेंकना भर नहीं है। उन्होंने कहा ''मुझे स्पष्ट स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैं एक समाजवादी और रिपब्लिकन हूं। मेरा राजाओं और महाराजाओं में विश्वास नहीं है, न ही मैं उस उद्योग में विश्वास रखता हूं जो राजे-महाराजे पैदा करते हैं, और जो पुराने राजों-महाराजों से अधिक जनता की जिंदगी और भाग्य को नियंत्रित करते हैं और जो पुराने राजों-महाराजों और सामंतों के लूटपाट और शोषण का तरीका अख्तियार करते हैं।'' नेहरू ने संघर्ष के तौर-तरीकों का भी स्पष्टीकरण किया और कहा कि ''मुक्ति का कोई भी आंदोलन जन-आंदोलन और शांतिपूर्ण आंदोलन होना चाहिए, केवल संगठित विद्रोह के समय ही इसका शांतिपूर्ण होना आवश्यक नहीं है। हिंसा आंदोलन को कमजोर बनाती है तथा उसका मार्ग विचलित करती है...।''

लाहौर अधिवेशन में पास किये गये प्रस्ताव की प्रमुख मांगें इस प्रकार थीं—

- गोलमेज सम्मेलन का बहिष्कार किया जायेगा।
- पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस ने अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया।

• कांग्रेस कार्यसमिति को सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने का पूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा गया, जिसमें करों का भुगतान नहीं करने जैसे कार्यक्रम सम्मिलित थे।

• सभी कांग्रेस सदस्यों को भविष्य में कौंसिल के चुनावों में भाग न लेने तथा कौंसिल के मौजूदा सदस्यों को अपने पदों से त्यागपत्र देने का आदेश दिया गया।

• 26 जनवरी 1930 का दिन पूरे राष्ट्र में 'प्रथम स्वतंत्रता दिवस' के रूप में मनाने का निश्चय किया गया।

31 दिसम्बर 1929: की अर्द्धरात्रि को इंकलाब जिंदाबाद के नारों के बीच रावी नदी के तट पर भारतीय स्वतंत्रता का प्रतीक तिरंगा झंडा फहराया गया।

26 जनवरी, 1930: स्वतंत्रता की शपथ

पूरे राष्ट्र में जगह-जगह सभाओं का आयोजन किया गया, जिनमें सभी लोगों ने सामूहिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्त करने की शपथ ली। इस कार्यक्रम को अभूतपूर्व सफलता मिली। गांवों तथा कस्बों में सभायें आयोजित की गयीं, जहां स्वतंत्रता की शपथ को स्थानीय भाषा में पढ़ा गया तथा तिरंगा झंडा फहराया गया। इस शपथ में निम्न बिन्दु थे-

• स्वतंत्रता का अधिकार भारतीय जनता का अहरणीय अधिकार है।

• भारत में ब्रिटिश उपनिवेशी सरकार ने जनता से स्वतंत्रता के अधिकार को छीनकर न केवल उसका शोषण किया है, बल्कि उसे आर्थिक, राजनैतिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक रूप से भी विनष्ट कर दिया है।

• भारत को आर्थिक रूप से नष्ट कर दिया गया है। राजस्व की वसूली हेतु उच्च दरें निर्धारित की गयी हैं, जो हमारी आमदनी से काफी अधिक हैं, ग्रामीण उद्योगों का विनाश कर दिया गया है तथा उसका विकल्प नहीं ढूंढ़ा गया है। सीमा शुल्क, मुद्रा और विनियम दरें एक पक्षीय और भेदभावपूर्ण हैं तथा इससे भारत के किसान और उत्पादक बर्बाद हो गये हैं।

• हमें कोई भी वास्तविक राजनैतिक अधिकार नहीं दिये गये हैं—संघ एवं संगठनों के निर्माण की स्वतंत्रता के अधिकार से हमें वंचित कर दिया गया है तथा हमारी प्रशासनिक प्रतिभा की हत्या कर दी गयी है।

• सांस्कृतिक दृष्टि से-शिक्षा व्यवस्था ने हमें हमारी मातृभूमि से अलग कर दिया है तथा हमें ऐसा प्रशिक्षण दिया गया है कि हम सदैव गुलामी की बेड़ियों में जकड़े रहें।

• आध्यात्मिक दृष्टि से-अनिवार्य रूप से शस्त्रविहीन कर हमें नपुंसक बना दिया गया है।

• अब हम यह मनाते हैं कि जिस विदेशी शासन ने चारों ओर से हमारे देश का सर्वनाश किया है, उसके शासन के सम्मुख समर्पण करना ईश्वर और मानवता के प्रति अपराध है।

• ब्रिटिश सरकार से अपने समस्त स्वैच्छिक संबंधों को समाप्त कर हम स्वयं को तैयार करेंगे। हम अपने को सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिये तैयार करेंगे; जिसमें करों की अदायगी न करने का मुद्दा भी शामिल होगा। यदि हम ब्रिटिश सरकार को सभी प्रकार का सहयोग बंद कर दें तथा किसी भी प्रकार की हिंसा न करें तो इस अमानवीय राज का अंत सुनिश्चित है।

• इसलिए हम संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिये कांग्रेस समय-समय पर जो भी निर्देश देगी, हम उसका पूर्णतया पालन करेंगे।

सविनय अवज्ञा आंदोलन—नमक सत्याग्रह एवं अन्य विप्लव

गांधी जी की ग्यारह सूत्रीय मांगें

ये मांगें कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के परिप्रेक्ष्य में अगले कदम के रूप में थीं। गांधी जी ने 'यंग इंडिया' में एक लेख प्रकाशित कर सरकार के समक्ष ग्यारह सूत्रीय मांगें रखीं तथा इन मांगों को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये उसे 31 जनवरी 1930 तक का समय दिया। ये मांगे थीं—

सामान्य हित से सम्बद्ध मुद्दे

1. सिविल सेवाओं तथा सेना के व्यय में 50 प्रतिशत तक की कमी की जाये।
2. नशीली वस्तुओं के विक्रय पर पूर्ण रोक लगायी जाये।
3. सी.आई.डी. विभाग पर सार्वजनिक नियंत्रण हो या उसे खत्म कर दिया जाये।
4. शस्त्र कानून में परिवर्तन किया जाये तथा भारतीयों को आत्मरक्षा हेतु हथियार रखने का लाइसेंस दिया जाये।
5. सभी राजनीतिक बंदियों को रिहा किया जाये।
6. डाक आरक्षण बिल पास किया जाये।

विशिष्ट बुर्जुआ वर्ग की मांगें

7. रुपये की विनिमय दर घटाकर 1 शीलिंग 4 पेन्स की जाये।
8. रक्षात्मक शुल्क लगाये जायें तथा विदेशी कपड़ों का आयात नियंत्रित किया जाये।
9. तटीय यातायात रक्षा विधेयक पास किया जाये।

किसानों की विशिष्ट मांगें

10. लगान में पचास प्रतिशत की कमी की जाये। तथा
11. नमक कर समाप्त किया जाये एवं नमक पर सरकारी एकाधिकार खत्म कर दिया जाये।

फरवरी 1930 तक, सरकार द्वारा इन मांगों के संबंध में कोई सकारात्मक उत्तर न मिलने के कारण साबरमती में कांग्रेस कार्यसमिति की हुई बैठक में यह निर्णय गांधीजी पर छोड़ दिया गया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन किस मुद्दे को लेकर, कब और कहां से शुरू किया जाये। फरवरी के अंत में गांधीजी ने नमक के मुद्दे को सविनय अवज्ञा आंदोलन का केंद्रीय मुद्दा बनाने का निश्चय किया।

गांधी जी ने नमक को सविनय अवज्ञा आंदोलन में 'केंद्रीय मुद्दे के रूप में क्यों चुना?

जैसा कि गांधी जी ने कहा ''पानी से पृथक नमक नाम की कोई चीज नहीं है, जिस पर कर लगाकर सरकार करोड़ों लोगों को भूखा मार सकती है तथा असहाय, बीमार और विकलांगों को पीड़ित कर सकती है। इसलिए यह कर अत्यंत अविवेकपूर्ण एवं अमानवीय है....जिसका उपयोग मानवता के विरुद्ध किया जाता है।''

पूर्ण स्वराज्य की विचारधारा में नमक उससे प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध था क्योंकि यह ग्रामीण निर्धन जनता के दुखों को व्यक्त करने का सबसे सशक्त और सर्वमान्य मुद्दा था।

नमक, गरीब व्यक्ति को प्रभावित करता था साथ ही पूर्ण स्वराज्य के लिये सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करना किसानों को समझ में भी नहीं आता। किंतु नमक जैसी रोजमर्रा की वस्तु पर कर लगाये जाने के विरोध में किये गये आंदोलन से किसानों का समर्थन सहजता से प्राप्त किया जा सकता था।

यद्यपि नमक का व्यय निर्धन व्यक्ति द्वारा वहन किया जा सकता था किंतु भावनात्मक रूप से यह खादी के समान गरीबों की आत्म-सहायता का एक प्रमुख माध्यम बन सकता था।

नमक का मुद्दा गरीबों के साथ ही हर भारतीय को प्रभावित करने वाला तथा उससे प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था।

डांडी मार्च (12 मार्च-6 अप्रैल, 1930)

डांडी मार्च को सॉल्ट मार्च और डांडी सत्याग्रह के नाम से भी जाना जाता है। 2 मार्च 1930 को गांधी जी ने वायसराय को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने ब्रिटिश शासन के दुष्प्रभावों तथा अपनी 11 सूत्रीय मांगों का उल्लेख किया, जो सरकार के सम्मुख पेश की गयीं थीं। उन्होंने कहा कि यदि सरकार उनकी मांगों को पूरा करने का कोई प्रयत्न नहीं करेगी तो 12 मार्च को वे नमक कानून का उल्लंघन करेंगे। सरकार द्वारा पत्र का कोई सार्थक जवाब न मिलने के विरोध में गांधीजी ने 12 मार्च 1930 को साबरमती आश्रम से अपने 78 समर्थकों के साथ डांडी के लिये पद यात्रा प्रारंभ की तथा 24 दिनों में 240 कि.मी. की पदयात्रा के पश्चात 5 अप्रैल को डांडी पहुंचे। 6 अप्रैल को गांधीजी ने समुद्रतट में नमक बनाकर कानून तोड़ा।

इससे पहले गांधीजी की डांडी पदयात्रा के दौरान रास्ते में हजारों किसानों ने उनका संदेश सुना तथा कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। कई ग्रामीणों ने सरकारी नौकरियों का परित्याग कर दिया।

9 अप्रैल को गांधी जी ने एक निर्देश जारी करके आंदोलन के लिये निम्नलिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किये–

- जहां कहीं भी संभव हो, लोग नमक कानून तोड़कर नमक तैयार करें।
- शराब की दुकानों, विदेशी कपड़े की दुकानों तथा अफीम के ठेकों के समक्ष धरने आयोजित किये जायें।
- यदि हमारे पास पर्याप्त शक्ति हो तो हम करों की अदायगी का विरोध कर सकते हैं।
- वकील अपनी वकालत छोड़ सकते हैं।
- जनता, याचिकाओं पर रोक लगाकर न्यायालयों का बहिष्कार कर सकती है।
- सरकारी कर्मचारी अपने पदों से त्यागपत्र दे सकते हैं।
- हर घर में लोग चरखा कातें और सूत बनायें।
- छात्र, सरकारी स्कूल एवं कालेजों का बहिष्कार करें।
- स्थानीय नेता, मेरी गिरफ्तारी के बाद अहिंसा बनाये रखने में सहयोग दें।
- इन सभी कार्यक्रमों में सत्य एवं अहिंसा को सर्वोपरि रखा जाये तभी हमें पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रारंभिक चरण के रूप में, 12 मार्च 1930 को प्रारंभ हुई इस ऐतिहासिक यात्रा में गांधीजी ने 6 अप्रैल को डांडी में मुट्ठीभर नमक बनाकर नमक कानून को तोड़ा। नमक कानून के उल्लंघन को भारतीयों द्वारा, ब्रिटिश कानूनों के विरोध एवं साम्राज्यवाद की समाप्ति के प्रयासों के प्रतीक के रूप में देखा गया। इस यात्रा, इसके विकास तथा लोगों पर इसके प्रभाव को समाचार-पत्रों में प्रमुखता से प्रकाशित किया गया। गुजरात में गांधीजी की अपील पर तीन सौ ग्रामीण सरकारी कर्मचारियों ने सरकारी सेवाओं से त्यागपत्र दे दिया। कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने भी स्थानीय स्तर पर कांग्रेस को लोकप्रिय बनाने एवं उसे संगठित करने के सराहनीय प्रयास किये।

नमक सत्याग्रह का प्रसार

एक बार जब गांधी जी ने डांडी में नमक कानून तोड़कर इसकी रस्म पूरी कर दी तो नमक कानून तोड़ने का सत्याग्रह पूरे देश में प्रारंभ हो गया। तमिलनाडु में तंजौर के समुद्री तट पर सी. राजगोपालाचारी ने त्रिचनापल्ली से वेदारण्यम तक की नमक यात्रा प्रारंभ की। मालाबार में के. कलप्पन ने कालीकट से पोयान्नूर तक की नमक यात्रा की। असम में सत्याग्रहियों का एक दल सिलहट से बंगाल के नोवाखाली समुद्र तट पर नमक

बनाने पहुंचा। आंध्रप्रदेश के विभिन्न जिलों में नमक सत्याग्रह के मुख्यालय के रूप में कार्य करने के उद्देश्य से *शिविरम* (शिविरों) की स्थापना की गयी।

नमक कानून तोड़ने के अपराध में जवाहरलाल नेहरू को 14 अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके कारण उत्तेजना फैल गयी तथा कलकत्ता, मद्रास एवं कराची आदि नगरों में उग्र प्रदर्शन हुए। 4 मई 1930 को गांधीजी को भी गिरफ्तार कर लिया गया, जब उन्होंने ऐलान किया कि धारासणा नमक कारखाने पर वे अपने साथियों के साथ धावा बोलेंगे तथा अपना नमक कानून तोड़ने का अभियान जारी रखेंगे। बंबई, कलकत्ता, दिल्ली तथा शोलापुर इत्यादि शहरों में गांधीजी की गिरफ्तारी का जबरदस्त विरोध किया गया। गांधी जी की गिरफ्तारी के पश्चात कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें कहा गया–

- रैयतवाड़ी क्षेत्रों में लगान अदा न किया जाये।
- जमींदारी क्षेत्रों में चौकीदारी कर न अदा किया जाये। तथा
- मध्य प्रांत में वन कानून का उल्लंघन किया जाये।

भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में हुए सविनय अवज्ञा आंदोलन की प्रकृति या रूप-स्वरूप का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण इस प्रकार है:

- **तमिलनाडु:** अप्रैल 1930 में, तमिलनाडु के तंजौर के समुद्री तट पर सी. राजगोपालाचारी ने त्रिचिनापल्ली से वेदारण्यम तक की नमक यात्रा आरंभ की। इस घटना के परिणामस्वरूप विदेशी कपड़ों की दुकानों पर व्यापक धरने दिए गए; कोयम्बटूर, मदुरा, विरदनगर इत्यादि के आंतरिक क्षेत्रों में शराब विरोधी अभियान को भारी समर्थन मिला। यद्यपि राजाजी ने आंदोलन को अहिंसक बनाए रखने का प्रयास किया, तथापि इसमें हिंसक घटनाएं हुईं तथा पुलिस ने इसका हिंसक दमन किया। चूलई मिल की हड़ताल को खत्म करने के लिए, पुलिस बल का इस्तेमाल किया गया। बेरोजगार बुनकरों ने शराब की दुकानों पर हमला किया जबकि किसानों ने, जो कीमतों के गिरने से पीड़ित थे, मदुरा में बोदिनायकनूर में दंगा-फसाद किया।
- **मालाबार:** मालाबार में के. केलप्पन, *वायकोम सत्याग्रह* के लिए प्रसिद्ध एक नायर कांग्रेस नेता, ने नमक पदयात्रा का आयोजन किया। इन्होंने कालीकट से पोयान्नूर तक की यात्रा की। पी. कृष्णा पिल्लई ने, भविष्य में केरल कम्युनिस्ट मूवमेंट की नींव डालने वाले, नवम्बर 1930 में कालीकट समुद्र तट पर पुलिस लाठी चार्ज के सामने ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रीय ध्वज की रक्षा की।
- **आंध्र क्षेत्र:** पूर्वी एवं पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा एवं गुन्टूर में जिला स्तर पर नमक पदयात्रा आयोजित की गईं। बड़ी संख्या में *सिविराम* (सेना की तर्ज पर बने कैम्प) *नमक सत्याग्रह* के मुख्यालय के तौर पर स्थापित किए गए। व्यापारियों ने कांग्रेस के फंड में राशि दान की, और काम्मा एवं राजू जैसी प्रमुख जाति के किसानों ने दमनकारी हथकंडों का विरोध किया। लेकिन असहयोग आंदोलन जैसा जन-समर्थन इस क्षेत्र में नहीं मिला।

• **उड़ीसाः** गोपालबंधु चौधरी, एक गांधीवादी नेता, के अंतर्गत नमक सत्याग्रह बालासोर, कटक एवं पुरी जिलों के तटीय क्षेत्रों में प्रभावी सिद्ध हुआ।

• **असमः** विभाजित मुद्दों के कारण, सविनय अवज्ञा आंदोलन को उतना समर्थन नहीं मिला, जितना असहयोग आंदोलन (1921-22) को मिला था। विभाजित मुद्दों में शामिल थे—असमी और बंगालियों तथा हिंदुओं और मुसलमानों के बीच बढ़ता मतभेद और घनी आबादी वाले पूर्वी बंगाल से मुस्लिम किसानों का आगमन दोनों के बीच तनाव बढ़ा रहा था। यहां कुख्यात 'कनिंघम सरकुलर' के विरोध में छात्रों के नेतृत्व में एक शक्तिशाली आंदोलन चलाया गया। इस सरकुलर द्वारा छात्रों और उनके अविभावकों को अच्छे व्यवहार का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करने के लिये कहा गया था। आंदोलन के दौरान इस सरकुलर का उल्लंघन किया गया तथा इसके विरुद्ध प्रदर्शन आयोजित किये गये।

चंद्रप्रभा सैकनी ने, दिसंबर 1930 में, वन-कानूनों को तोड़ने के लिए कचरी गांव के निवासियों को प्रेरित किया, जिसे असम कांग्रेस के नेतृत्व ने अस्वीकार किया।

• **बंगालः** बंगाल कांग्रेस, जो सुभाष चंद्र बोस और जे.एम. सेनगुप्ता के नेतृत्व में दो गुटों में विभाजित थी, कलकत्ता कॉर्पोरेशन के चुनाव में संलग्न थी। इसके परिणामस्वरूप अधिकतर कलकत्ता *भद्रलोक* के नेता का उनकी ग्रामीण जनता से अलगाव हो गया। साथ ही, डक्का एवं किशोरगंज में सांप्रदायिक दंगे हुए, और सविनय अवज्ञा आंदोलन में बेहद कम मुसलमानों ने भाग लिया। इसके बावजूद, बंगाल में सर्वाधिक संख्या में गिरफ्तारियां हुईं और साथ ही साथ सर्वाधिक हिंसक झड़पें भी हुईं। नमक *सत्याग्रह* एवं *चौकीदार* के साथ-साथ विभिन्न शक्तिशाली आंदोलन मिदनापुर, आरामबाग एवं कई ग्रामीण क्षेत्रों में हुए। चौकीदारी एवं यूनियन बोर्ड विरोधी आंदोलन चलाया गया। यहां भी गांव के लोगों को सरकारी दमन का शिकार होना पड़ा। आंदोलनकारियों को बुरी तरह पीटा गया तथा उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया।

इसी समय, ***चटगांव*** में सूर्यसेन के नेतृत्व में आंदोलनकारियों ने दो सरकारी शस्त्रागारों पर धावा बोल दिया तथा प्रांतीय सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी।

• **बिहारः** बिहार में चम्पारन एवं सारण पहले दो जिले थे, जहां नमक *सत्याग्रह* चलाया गया। भू-आवेष्ठित बिहार में, बड़े पैमाने पर नमक उत्पादन व्यावहारिक नहीं था और अधिकतर स्थानों पर यह मात्र सांकेतिक था। पटना में, नमक बनाने के लिए नखास तालाब को चुना गया और अम्बिका कांत सिन्हा के नेतृत्व में नमक कानून तोड़ा गया।

यहां चौकीदार कर के विरोध में तथा चौकीदारों और चौकीदारी पंचायत के प्रभावशाली सदस्यों के इस्तीफे की मांग को लेकर जबरदस्त आंदोलन चलाया गया। चूंकि ये चौकीदार सरकार के लिये जासूसी का काम करते थे, अतः इनके विरुद्ध जनता के मन में तीव्र घृणा की भावना थी। यह आंदोलन भागलपुर, सारन एवं मुंगेर जिलों

में विशेष रूप से सफल रहा। भागलपुर में राजेंद्र प्रसाद एवं अब्दुल बारी ने आंदोलनकारियों को संबोधित किया। पुलिस ने आंदोलनकारियों का दमन करने के लिये उन्हें बुरी तरह पीटा, उन्हें यातनायें दी गयीं तथा उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया।

छोटा नागपुर के आदिवासी क्षेत्र में (अब झारखंड में), निम्न वर्ग की विद्रोही गतिविधियां देखी गईं। बोंगा मांझी और सोमरा मांझी, गांधीवाद से प्रभावित, ने हजारीबाग में आंदोलन का नेतृत्व किया, जिसमें संस्कृतिकरण, जिसके तहत् अनुयायी को मांस एवं मदिरा छोड़ने के लिए कहा जाता है, और केवल खादी का प्रयोग करने की बात की जाती है, के साथ-साथ सामाजिक-धार्मिक सुधार भी जुड़ गया। हालांकि, गांधीजी के बैनर तले संथालों ने बड़े पैमाने पर अवैध शराब बनाने का कार्य किया। यह भी देखा गया कि, अधिकतर बड़े *जमींदार* सरकार के प्रति निष्ठावान बने रहे, लेकिन छोटे भूमिपतियों एवं काश्तकारों ने इस आंदोलन में भाग लिया। लेकिन अधिकतर मौकों पर, निम्न जाति की बढ़ती जनसंख्या ने छोटे भूमिपतियों एवं काश्तकारों के उत्साह एवं मनोबल में कमी की।

• **पेशावरः** पेशावर में खान अब्दुल गफ्फार खान के सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों ने पठानों में राजनीतिक चेतना का प्रसार किया। खान अब्दुल गफ्फार खान ने, जिन्हें 'बादशाह खान' या 'सीमांत गांधी' के नाम से भी जाना जाता था, *खुदाई खिदमतगार* नामक स्वयंसेवी संगठन की स्थापना की। इसे 'लाल कुर्ती' (Red Shirt) के नाम से भी जाना जाता था। खुदाई खिदमतगार ने पठानों की राष्ट्रीय एकता का नारा बुलंद किया तथा साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ आंदोलन संगठित किया। इसने मजदूरों की दशा में सुधार की भी मांग की। संगठन ने अहिंसा के सिद्धांत को सर्वोपरि मानते हुए राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उल्लेखनीय है कि अन्य प्रांतों में मुसलमान जहां सत्याग्रह आंदोलन में तटस्थ बने हुए थे, वहीं उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में बादशाह खान के नेतृत्व में मुसलमानों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यहां आंदोलन की शुरुआत तब हुई, जब 23 अप्रैल 1930 को पुलिस ने स्थानीय कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के कारण उत्तेजना फैल गयी तथा जनता ने हिंसक प्रदर्शन किया। पेशावर में तो स्थिति नियंत्रण से बाहर ही हो गयी तथा आंदोलनकारियों के दमन के लिये भेजी गयी हिन्दू सेना ने मुसलमानों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। बाद में 4 मई तक ही स्थिति नियंत्रण में आ सकी, जब सरकार ने हवाई टुकड़ियों की मदद से शहर पर कब्जा कर लिया। इस दौरान सरकार ने आतंक एवं दमन का साम्राज्य कायम कर दिया। इस आंदोलन में भाग लेने वाले लोगों में लगभग 92 प्रतिशत मुसलमान थे, इससे अंग्रेजों को अत्यंत निराशा हुई तथा उनका यह भ्रम टूट गया कि मुसलमान, स्वतंत्रता आंदोलन से खुद को पूर्णतया अलग रखे हुए हैं।

• **शोलापुरः** बंबई प्रेसीडेंसी के इस औद्योगिक नगर में गांधीजी की गिरफ्तारी के विरोध में प्रारंभ हुए आंदोलन ने भयंकर विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यहां 7 मई से प्रारंभ हुई हड़ताल में हजारों मिल मजदूर काम छोड़कर प्रदर्शनकारियों से मिल गये। प्रदर्शनकारियों ने शराब की दुकानों तथा सरकारी प्रतिष्ठानों जैसे—रेलवे स्टेशन, पुलिस स्टेशन, नगरपालिका भवनों एवं न्यायालयों इत्यादि को आग लगा दी। 8 मई को पुलिस तथा प्रदर्शनकारियों के मध्य भीषण संघर्ष हुआ, जिसमें अनेक लोग मारे गये तथा सैकड़ों घायल हो गये। मजदूरों ने पुलिस को खदेड़ कर समानांतर शासन कायम कर लिया तथा एक सप्ताह तक शहर पर उनका कब्जा बना रहा। मार्शल लॉ लागू करके 16 मई तक ही सरकार शहर पर पुनः नियंत्रण कायम कर सकी।

• **धारासणाः** नमक सत्याग्रह में सबसे तीव्र प्रतिक्रिया धारासणा में हुई। यहां 21 मई 1930 को सरोजनी नायडू, इमाम साहब एवं गांधीजी के पुत्र मणिलाल ने दो हजार आंदोलनकारियों के साथ धारासणा नमक कारखाने पर धावा बोल दिया। यद्यपि आंदोलनकारियों ने पूर्ण शांति के साथ विरोध प्रदर्शन किया, किंतु पुलिस ने दमन का सहारा लिया तथा प्रदर्शनकारियों पर बर्बतापूर्वक लाठी चार्ज किया गया। इसके कारण 2 व्यक्ति मारे गये, 320 गंभीर रूप से घायल हो गये। एक अमरीकी पत्रकार 'मिलर' ने पुलिस द्वारा किये गये बर्बरतापूर्ण कृत्य को अत्यंत भयानक बताया।

नमक सत्याग्रह के इस नये रूप को जनता ने बड़ी उत्सुकता से अपना लिया तथा देखते ही देखते यह जन-आंदोलन में बदल गया। बाद में वडाला (बंबई), सैनीकट्टा (कर्नाटक), आंध्र प्रदेश, मिदनापुर, बालासोर, पुरी तथा कटक के नमक कारखानों में भी इसी तरह के प्रदर्शन आयोजित किये गये।

• **गुजरातः** यहां खेड़ा जिले के आनंद, बोरसद एवं नादियाद क्षेत्रों, सूरत जिले के बारदोली क्षेत्र एवं भड़ौच जिले के जंबूसर क्षेत्र में शक्तिशाली आंदोलन चलाया गया। यहां कर न अदा करने के मुद्दे को लेकर जबरदस्त आंदोलन प्रारंभ हुआ तथा लोगों ने भू-राजस्व अदा करने से इंकार कर दिया। हजारों की तादाद में लोग अपने परिवार के सदस्यों, मवेशियों तथा घर का सामान लेकर ब्रिटिश नियंत्रण वाले भारत से निकलकर बड़ौदा जैसे पड़ोसी रजवाड़े वाले इलाके में चले गये तथा महीनों कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए वहीं पड़े रहे।

सरकार ने प्रदर्शनकारियों को बुरी तरह प्रताड़ित किया। उनके घरों एवं सामान को नष्ट कर दिया गया तथा उन्हें बुरी तरह पीटा गया। पुलिस ने वल्लभभाई पटेल की 80 वर्षीय मां को भी नहीं बख्शा। सरदार पटेल कई महीनों तक पुलिस से लोहा लेते रहे।

• **महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं मध्य प्रांतः** इन क्षेत्रों में आंदोलनकारियों ने वन नियमों का उल्लंघन किया। आंदोलन जनजातीय क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रभावी रहा।

यहां सरकार ने वनों को प्रतिबंधित क्षेत्र घोषित कर वहां पशुओं को चराने, लकड़ी काटने एवं वनोत्पादों को एकत्रित करने पर प्रतिबंध लगा रखा था। आंदोलन के दौरान इन सभी नियमों की अवहेलना की गयी।

• **संयुक्त प्रांतः** में लगान अदा न करने का सशक्त अभियान चलाया गया तथा जमींदारों से सरकार को राजस्व न देने का आह्वान किया गया। किसानों से भी जमींदारों को लगान अदा न करने का आग्रह किया गया। चूंकि अधिकांश जमींदार ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादार थे, फलतः किसानों का लगान विरोधी आंदोलन ही विरोध प्रदर्शन का प्रमुख मुद्दा रहा। यद्यपि प्रारंभिक महीनों में आंदोलन काफी शक्तिशाली था, लेकिन सरकारी दमन के कारण यह धीरे-धीरे कमजोर पड़ गया। अक्टूबर 1930 से इसमें पुनः तेजी आ गयी तथा आगरा एवं रायबरेली में इसने उल्लेखनीय सफलता हासिल की।

• **मणिपुर एवं नागालैंडः** इन क्षेत्रों ने भी आंदोलन में साहसिक भूमिका निभायी। रानी गैडिनल्यू ने सिर्फ 13 वर्ष की उम्र में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध झंडा उठा लिया तथा विद्रोह को प्रशंसनीय नेतृत्व प्रदान किया। रानी गैडिनल्यू का जन्म 26 जनवरी, 1915 को मणिपुर (ब्रिटिश भारत) के नूंगकाओ (या लॉन्गकाओ) ग्राम में हुआ। वह एक आध्यात्मिक एवं राजनीति नेता थी। जिन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया। 13 वर्ष की आयु में गैडिन्ल्यू अपने चचेरे भाई के धार्मिक आंदोलन *हेराका* से जुड़ी। बाद में यह आंदोलन मणिपुर एवं आस-पास के नागा क्षेत्रों को ब्रिटिश शासन से मुक्त करने के राजनीतिक आंदोलन में तब्दील हो गया। 1932 में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया तथा आजीवन कारावास की सजा दी गयी। 1937 में शिलांग जेल में जवाहरलाल नेहरू गैडिनल्यू से मिले और उन्हें 'रानी' की उपाधि दी और पहाड़ों की बेटी कहा।

आंदोलन को लोकप्रिय बनाने हेतु आंदोलनकारियों ने विभिन्न माध्यमों को अपनाया। गांवों और कस्बों में 'प्रभात फेरियां' निकाली जाने लगीं। गांवों तक राष्ट्रीय संदेश पहुंचाने के लिये 'जादुई लालटेनों' का प्रयोग किया जाता था। बच्चों ने 'वानर सेना' तथा लड़कियों ने 'मंजरी सेना' का गठन किया। गैर-कानूनी सूचना-पत्र तथा पत्रिकाओं ने भी आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रदर्शन का प्रभाव

1. विदेशी कपड़ों तथा अन्य वस्तुओं के आयात में कमी आ गई।

2. सरकार को शराब, उत्पाद शुल्क तथा भू-राजस्व के रूप में प्राप्त होने वाली आय में अत्यधिक कमी आ गई।

3. व्यवस्थापिका सभा के चुनाव का व्यापक ढंग से बहिष्कार किया गया।

जन-आंदोलन की व्यापकता

इस आंदोलन में समाज के विभिन्न वर्गों ने हिस्सा लिया–

महिलायें: गांधीजी ने महिलाओं से आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाने हेतु आगे आने का विशेष आग्रह किया। गांधीजी के इस आग्रह का महिलाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा वे शीघ्र ही आंदोलन का अभिन्न अंग बन गयीं। महिलाओं ने विदेशी कपड़ों की दुकानों, शराब की दुकानों तथा अफीम के ठेकों पर धरने दिये तथा तीव्र प्रदर्शन किये। भारतीय महिलाओं के लिये यह आंदोलन एक मील का पत्थर था क्योंकि इस आंदोलन में उन्होंने बड़े पैमाने पर भाग लिया तथा अपनी राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल की।

छात्र: महिलाओं के समान छात्रों ने भी शराब की दुकानों तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों के समक्ष प्रदर्शन आयोजित करने तथा धरने देने के कार्यक्रमों में सक्रिय भूमिका निभाई।

मुसलमान: इस आंदोलन में मुसलमानों की भागीदारी नगण्य ही रही तथा कहीं भी वे 1920-22 के समय के आंदोलन की तरह सक्रिय नहीं हुए। इसके दो प्रमुख कारण थे– *पहला,* मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों को आंदोलन से पृथक रहने की सलाह दी तथा *दूसरा,* ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिकता के मुद्दे का सहारा लेकर भावनात्मक रूप से मुसलमानों को आंदोलन से पृथक रखने का दुष्प्रयास किया। किंतु पूरे देश में मुसलमानों के लगभग तटस्थ बने रहने के पश्चात भी उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में मुसलमानों ने आंदोलन को भरपूर समर्थन प्रदान किया। यहां खान अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में मुसलमानों ने उपनिवेशी सरकार के विरुद्ध आंदोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। सेनहट्टा, त्रिपुरा, गैबन्धा, बगूरा एवं नोआखाली में मध्यवर्गीय मुसलमानों ने आंदोलन में सक्रिय भागीदारी निभायी। ढाका में मुस्लिम नेताओं, दुकानदारों, निम्न वर्ग के लोगों तथा उच्च वर्ग की महिलाओं ने आंदोलन को पूर्ण समर्थन प्रदान किया। बिहार, बंगाल एवं दिल्ली के बुनकरों ने भी आंदोलन में प्रमुखता से भाग लिया।

व्यापारी एवं छोटे व्यवसायी: इस वर्ग ने आंदोलन में उत्साहपूर्वक भाग लिया। विभिन्न व्यावसायिक संगठनों एवं वाणिज्यिक मंडलों ने प्रदर्शनों एवं धरनों इत्यादि में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। विशेषकर तमिलनाडु एवं पंजाब में इनकी भूमिका प्रशंसनीय रही।

जनजातियां: मध्य प्रांत, कर्नाटक एवं महाराष्ट्र में जनजातियों एवं दलित वर्ग ने आंदोलन में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

मजदूर: बम्बई, कलकत्ता, मद्रास एवं शोलापुर इत्यादि में मजदूरों ने आंदोलन को पूर्ण समर्थन प्रदान किया।

किसान: ये मुख्यतया उत्तर प्रदेश, बिहार एवं गुजरात में सक्रिय रहे।

सरकारी प्रतिक्रिया—अस्थाई संधि के प्रयास

पूरे 1930 के दशक में सरकार की मनःस्थिति व्याकुलता एवं भ्रांति से ग्रस्त रही। आंदोलन की अप्रत्याशित सफलता से साम्राज्यवादी खेमे में घबराहट फैल गयी। वह इस असमंजस के बीच संघर्ष करती रही कि आंदोलनकारियों के दमन हेतु कौन सा रुख अख्तियार किया जाये। यदि सरकार आंदोलनकारियों के प्रति हिंसा और दमन का सहारा लेती तो कांग्रेस इसकी भर्त्सना करती और यदि वह हल्के तौर-तरीके अपनाती तो कांग्रेस इसे सरकार पर अपनी विजय करार देती। सरकार की स्थिति, दमन का सहारा लेने के मुद्दे पर काफी समय तक डांवाडोल रही। वह गांधीजी को गिरफ्तार करने पर भी काफी हिचकिचाती रही। लेकिन एक बार जब उसने दमन की कार्यवाई प्रारंभ कर दी, तो उसके दमनचक्र का जैसे सिलसिला ही प्रारंभ हो गया। उसने नागरिक स्वतंत्रता के हनन के सभी तरीकों का भरभूर उपयोग किया, जिसमें प्रेस पर प्रतिबंध भी शामिल था। प्रांतीय सरकारों को नागरिक अवज्ञा संगठनों की स्वतंत्रता को कुचलने की पूरी छूट प्रदान कर दी गयी। यद्यपि जून माह तक कांग्रेस कार्यकारिणी को अवैध घोषित नहीं किया गया था, किंतु निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर यथासंभव लाठी चार्ज एवं घातक प्रहार किये गये, जिसमें कई लोग मारे गये तथा हजारों लोग घायल हो गये। गांधीजी सहित लगभग 90 हजार लोग जेल में ठूंस दिये गये।

सरकारी दमन एवं साइमन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन ने आंदोलन के प्रति सरकार की घृणा को और उजागर कर दिया। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में डोमीनियन स्टेट्स का कोई उल्लेख न किये जाने पर राष्ट्रवादी और असंतुष्ट हो गये। यहां तक कि उदारवादियों ने भी सरकार की तीव्र आलोचना प्रारंभ कर दी तथा सरकार से उसका पूर्णतया मोहभंग हो गया।

जुलाई 1930 में भारत के तत्कालीन वायसराय ने गोलमेज सम्मेलन का प्रस्ताव रखा तथा डोमिनियन स्टेट्स की मांग पर चर्चा करने के मुद्दे को इसका लक्ष्य घोषित किया। उसने तेजबहादुर सप्रू तथा एम.आर. जयकर के सरकार तथा कांग्रेस के मध्य शांति तथा सुलह की स्थापना हेतु संभावनाओं का पता लगाने के प्रस्ताव को भी स्वीकार कर लिया।

अगस्त 1930 में मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल नेहरू, गांधीजी से विचार-विमर्श करने यरवदा जेल गये। चर्चा के उपरांत इन तीनों ने मांग की कि—

1. ब्रिटेन, भारतीयों की स्वतंत्रता बहाल करे।
2. पूर्ण स्वतंत्र सरकार का गठन-जिसका वित्त एवं रक्षा संबंधी मामलों पर पूरा नियंत्रण हो। तथा
3. ब्रिटेन से आर्थिक हर्जाने की मांग के लिये एक स्वतंत्र आयोग का गठन।

लेकिन इस बातचीत का कोई नतीजा नहीं निकला।

गांधी-इरविन समझौता

25 जनवरी 1931 को गांधीजी तथा कांग्रेस के अन्य सभी प्रमुख नेता बिना शर्त कारावास से रिहा कर दिये गये। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने गांधीजी को वायसराय से चर्चा करने के लिये अधिकृत किया। तत्पश्चात 19 फरवरी 1931 को गांधीजी ने भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन से भेंट की और उनकी बातचीत पंद्रह दिनों तक चली। इसके परिणामस्वरूप 5 मार्च 1931 को एक समझौता हुआ, जिसे 'गांधी-इरविन समझौता' कहा जाता है। इस समझौते ने कांग्रेस की स्थिति को सरकार के बराबर कर दिया। इस समझौते में सरकार की ओर से लार्ड इरविन इस बात पर सहमत हुए कि–

1. हिंसात्मक अपराधियों के अतिरिक्त सभी राजनैतिक कैदी छोड़ दिये जायेंगे।
2. अपहरण की सम्पत्ति वापस कर दी जायेगी।
3. विभिन्न प्रकार के जुर्मानों की वसूली को स्थगित कर दिया जायेगा।
4. सरकारी सेवाओं से त्यागपत्र दे चुके भारतीयों के मसले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार-विमर्श किया जायेगा।
5. समुद्र तट की एक निश्चित सीमा के भीतर नमक तैयार करने की अनुमति दी जायेगी।
6. मदिरा, अफीम और विदेशी वस्तओं की दुकानों के सम्मुख शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शन की आज्ञा दी जायेगी।
7. आपातकालीन अध्यादेशों को वापस ले लिया जायेगा।

किन्तु वायसराय ने गांधीजी की निम्न दो मांगे अस्वीकार कर दीं–

(i) पुलिस ज्यादतियों की जांच करायी जाये। तथा

(ii) भगत सिंह तथा उनके साथियों की फांसी की सजा माफ कर दी जाये।

कांग्रेस की ओर से गांधीजी ने आश्वासन दिया कि–

(i) सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थापित कर दिया जायेगा। तथा

(ii) कांग्रेस द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में इस शर्त पर भाग लेगी कि सम्मेलन में संवैधानिक प्रश्नों के मुद्दे पर विचार करते समय परिसंघ, भारतीय उत्तरदायित्व तथा भारतीय हितों के संरक्षण एवं सुरक्षा के लिये अपरिहार्य मुद्दों पर विचार किया जायेगा। (इसके अंतर्गत रक्षा, विदेशी मामले, अल्पंसख्यकों की स्थिति तथा भारत की वित्तीय साख जैसे मुद्दे शामिल होंगे)।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का मूल्यांकन

क्या गांधी-इरविन समझौता अपने उद्देश्यों से पीछे हट गया?: गांधीजी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित किये जाने के निर्णय से यह बात रेखांकित होती है कि गांधी-इरविन समझौता अपने उद्देश्यों से पीछे नहीं हटा था क्योंकि–

(i) किसी भी जनआंदोलन के लिये आवश्यक है कि उसका कार्यकाल छोटा हो अर्थात उसे ज्यादा लंबा न खींचा जाये।

(ii) कार्यकर्ताओं या सत्याग्रहियों के विपरीत, जनसामान्य की त्याग करने की क्षमता सीमित होती है। एवं

(iii) 1930 के पश्चात, आंदोलन में विरक्तता के लक्षण परिलक्षित होने लगे थे। विशेषरूप से उन दुकानदारों एवं व्यापारियों में, जिनमें आंदोलन के प्रति अभूतपूर्व उत्साह था।

निःसंदेह युवा भी निराश हो चुके थे। उन्होंने बड़ी तत्परता एवं गर्मजोशी से आंदोलन में सहभागिता निभायी, किंतु उन्हें निराशा ही हाथ लगी। गुजरात के किसानों में भी निराशा का वातावरण व्याप्त था क्योंकि उन्हें उनकी भूमि वापस नहीं लौटायी गयी थी। (वास्तव में गुजराती काश्तकारों को उनकी जमीन वापस तभी मिली, जब सूबे में कांग्रेस सरकार का गठन हुआ)। किंतु इसके पश्चात भी अधिकांश भारतीय इस बात से प्रसन्न थे कि उपनिवेशी सरकार ने उनके आंदोलन को महत्व दिया, उनके नेतृत्वकर्ताओं को बराबरी का दर्जा प्रदान किया तथा उनके साथ समझौते पर दस्तखत किये। आंदोलनकारियों को जब जेल से रिहा किया गया तो जनता ने किसी नायक (Hero) की तरह उनका स्वागत किया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की असहयोग आंदोलन से तुलनाः 1. इस आंदोलन ने 'पूर्ण स्वतंत्रता' को अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया, जबकि असहयोग आंदोलन का लक्ष्य 'स्वराज्य' था।

2. आंदोलन में कानून की अवज्ञा को मुख्य हथियार के रूप में प्रयुक्त किया गया, जबकि असहयोग आंदोलन का मुख्य उद्देश्य उपनिवेशी शासन से असहयोग था।

3. बुद्धिजीवी वर्ग के सहयोग में थोड़ा गिरावट आयी तथा विरोध प्रदर्शन में उसने वह तत्परता नहीं दिखाई, जैसा कि असहयोग आंदोलन के दौरान था। उदाहरणार्थ-वकीलों द्वारा वकालत छोड़ना एवं छात्रों द्वारा सरकारी शिक्षण संस्थानों का बहिष्कार कर राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश लेना।

4. इस आंदोलन में मुसलमानों की सहभागिता असहयोग आंदोलन के समान नहीं थी।

5. आंदोलन में कोई बड़ा मजदूर विद्रोह परिलक्षित नहीं हुआ।

6. किंतु सविनय अवज्ञा आंदोलन में किसानों एवं व्यावसायिक वर्ग की व्यापक भागीदारी ने अन्य वर्गों की क्षति की पूर्ति की।

7. इस आंदोलन में राजनीतिक बंदियों की संख्या असहयोग आंदोलन की तुलना में लगभग तीन गुना अधिक थी।

8. सांगठनिक रूप से कांग्रेस ज्यादा सशक्त थी।

प्रमुख विचार

भारत एक विशाल कारागृह है। मैं इस अवधारणा को अस्वीकार करता हूं।

महात्मा गांधी, लार्ड इरविन को

गांधीजी, भारत में स्थित उपनिवेशी सरकार के अच्छे पुलिसमैन हैं।

एलेन विकिंसन

गांधीजी की डांडी यात्रा क्रांति का अंकुरण है.....यह इस तथ्य पर आधारित है कि एक केतली में समुद्र का पानी उबालकर सम्राट को हराया जा सकता है।

ब्रेल्सफोर्ड, एक अंग्रेजी संवाददाता

गांधी महोदय, समुद्री जल को तब तक उबाल सकते हैं, जब तक कि डोमिनियन स्टेट्स नहीं मिल जाता।

***स्टेट्समैन* (कलकत्ता)**

गांधीजी की डांडी यात्रा नेपोलियन की एल्बा से पेरिस की ओर किये गये अभियान के समान थी।

सुभाषचंद्र बोस

कांग्रेस का कराची अधिवेशन, 1931

गांधी-इरविन समझौते या दिल्ली समझौते को स्वीकृति प्रदान करने के लिये कांग्रेस का अधिवेशन 29 मार्च 1931 में कराची में आयोजित किया गया। वल्लभभाई पटेल इसके अध्यक्ष थे। इससे छह दिन पहले भगत सिंह, राजगुरु एवं सुखदेव को फांसी दी गयी थी। यद्यपि गांधीजी ने इन्हें बचाने की कोशिश की थी, किंतु भारतीय गांधीजी से तीव्र नाराज थे। गांधीजी से अपेक्षा थी कि वे समझौते पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। गांधीजी को अपनी कराची यात्रा के दौरान जनता के तीव्र रोष का सामना करना पड़ा। उनके खिलाफ प्रदर्शन किये गये तथा उन्हें काले झंडे दिखाये गये। पंजाब नौजवान सभा ने भगत सिंह एवं उनके कामरेड साथियों को फांसी की सजा से न बचा पाने के लिये गांधीजी की तीव्र आलोचना की।

कराची में कांग्रेस का प्रस्ताव

- किसी भी तरह की राजनीतिक हिंसा का समर्थन न करने की बात दोहराते हुए भी कांग्रेस ने इन क्रांतिकारियों के वीरता और बलिदान की प्रशंसा की।
- दिल्ली समझौते को मंजूरी दे दी।
- पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य को पुनः दोहराया गया।
- कांग्रेस ने दो मुख्य प्रस्तावों को अपनाया—इनमें से एक मौलिक अधिकारों और दूसरा राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रमों से सम्बद्ध था। इन प्रस्तावों के कारण कराची सत्र एक यादगार सत्र बन गया। **मौलिक अधिकारों से सम्बद्ध प्रस्ताव** में निम्न प्रावधानों को सुनिश्चित किया गया—

⭑ अभिव्यक्ति एवं प्रेस की पूर्ण स्वतंत्रता।

⭑ संगठन बनाने की स्वतंत्रता।

⭑ सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनावों की स्वतंत्रता।

⭑ सभा एवं सम्मेलन आयोजित करने की स्वतंत्रता।

⭑ जाति, धर्म एवं लिंग इत्यादि से हटकर कानून के समक्ष समानता का अधिकार।

⭑ सभी धर्मों के प्रति राज्य का तटस्थ भाव।

⭑ निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की गारंटी।

⭑ अल्पसंख्यकों तथा विभिन्न भाषाई क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा एवं लिपि की सुरक्षा की गारंटी।

राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रमों से सम्बद्ध जो प्रस्ताव पारित किये गये, उनमें सम्मिलित थे–

⭑ लगान और मालगुजारी में उचित कटौती।

⭑ अलाभकर जोतों को लगान से मुक्ति।

⭑ किसानों को कर्ज से राहत और सूदखोरों पर नियंत्रण।

⭑ मजदूरों के लिये बेहतर सेवा शर्तें, महिला मजदूरों की सुरक्षा तथा काम के नियमित घंटे।

⭑ मजदूरों और किसानों को अपने यूनियन बनाने की स्वतंत्रता।

⭑ प्रमुख उद्योगों, परिवहन और खदान को सरकारी स्वामित्व एवं नियत्रंण में रखने का वायदा।

इस अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार पूर्ण स्वराज्य को परिभाषित किया और बताया कि जनता के लिये पूर्ण स्वराज्य का अर्थ क्या है। कांग्रेस ने यह भी घोषित किया कि 'जनता के शोषण को समाप्त करने के लिये राजनीतिक आजादी के साथ-साथ आर्थिक आजादी भी आवश्यक है'।

कांग्रेस का 'कराची प्रस्ताव' वास्तविक रूप से कांग्रेस की मूलभूत राजनीतिक व आर्थिक नीतियों का दस्तावेज था, जो बाद के वर्षों में भी निरंतर बरकरार रहा।

गोलमेज सम्मेलन

भारत के वायसराय, लॉर्ड इरविन, और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैमजे मैक्डोनाल्ड, इस बात पर सहमत हुए कि, जैसाकि साइमन कमीशन रिपोर्ट की अनुशंसाएं स्पष्ट रूप से अपर्याप्त थीं, एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया जाना चाहिए।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन (नवम्बर 1930–जनवरी 1931)

सरकार ने 12 नवंबर, 1930 को साइमन कमीशन की रिपोर्ट तथा संवैधानिक मुद्दों पर चर्चा करने के निमित्त, लंदन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। ब्रिटिश

सरकार एवं भारतीयों के मध्य समान स्तर पर आयोजित की गयी यह प्रथम वार्ता थी। जहां कांग्रेस एवं अधिकांश व्यवसायिक संगठनों ने इस सम्मेलन का बहिष्कार किया, वहीं मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, उदारवादियों, दलित वर्ग तथा भारतीय रजवाड़ों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधि मुख्यतया तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

1. तीनों ब्रिटिश दल-लिबरल, कंजरवेटिव और श्रमिक दल के प्रतिनिधि।
2. ब्रिटिश भारत से ब्रिटिश सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य
3. भारत के राज्यों से राजकुमार या उनके द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि।

सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों के चयन का मापदण्ड असमान था। ब्रिटेन की तीनों पार्टियों का प्रतिनिधित्व अलग-अलग प्रतिनिधि कर रहे थे, जबकि भारतीय प्रतिनिधियों में से कुछ वायसराय द्वारा मनोनीत थे तथा कुछ का मनोनयन भारतीय रजवाड़ों ने किया था। इस सम्मेलन में राज्य लोक संगठन का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। प्रतिनिधियों के मनोनयन का मुख्य आधार ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा तथा उनके स्वशासन संबंधी विचार थे।

इस सम्मेलन में सम्मिलित सभी दलों के प्रतिनिधि केवल अपने व्यक्तिगत हितों के पक्षपोषण में प्रयासरत रहे। सम्मेलन के दौरान केवल समस्यायें व विचारार्थ विषय ही प्रस्तुत किये गये लेकिन कोई ठोस परिणाम सामने नहीं आ सका। वैसे भी भारत के सबसे बड़े राजनीतिक संगठन 'कांग्रेस' के सम्मेलन में भाग न लेने से यह सम्मेलन अधूरा सा हो गया था। अंततः 19 जनवरी 1931 को बिना किसी वास्तविक उपलब्धि के यह सम्मेलन समाप्त हो गया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन

दिल्ली समझौते के प्रावधान के अंतर्गत कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी, द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिये 29 अगस्त 1931 को लंदन रवाना हुए। 7 सितम्बर 1931-1 दिसम्बर 1931 तक चले इस सम्मेलन में गांधीजी के 'राजपूताना' नामक जहाज में महादेव देसाई, मदनमोहन मालवीय, देवदास गांधी, घनश्यामदास बिड़ला एंव मीरा बेन भी थीं। यद्यपि इस गोलमेज सम्मेलन से गांधीजी को कुछ विशेष प्राप्त होने की उम्मीद नहीं थी, क्योंकि–

1. ब्रिटेन में चर्चिल के नेतृत्व में दक्षिण पंथी खेमे ने ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस को बराबरी का दर्जा देकर बात करने का तीव्र विरोध किया। उसने भारत में और सुदृढ़ ब्रिटिश शासन की मांग की। ब्रिटेन में रैमजे मैक्डोनाल्ड के नेतृत्व में बनी लेबर पार्टी में रूढ़िवादी सदस्यों का बोलबाला था तथा इसी समय सेमुअल होअर को भारत का गृहसचिव नियुक्त किया गया, जो कि घोर दक्षिणपंथी था।

2. द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में मुख्यतया रूढ़िवादी, प्रतिक्रियावादी, साम्प्रदायिक एवं ब्रिटिश राजभक्तों के प्रतिनिधि थे, जिनका उपयोग साम्राज्यवादी सरकार ने यह

प्रदर्शित करने के लिये किया कि कांग्रेस सभी भारतीयों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था नहीं है। साथ ही सरकार का मकसद था कि हर मोर्चे पर गांधी जी को परास्त किया जाये।

3. अल्पसंख्यकों के मुद्दे पर शीघ्र ही सम्मेलन में गतिरोध पैदा हो गया। मुसलमानों, ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों एवं दलितों ने पृथक प्रतिनिधित्व की मांग प्रारंभ कर दी। ये सभी आपस में मिलकर 'अल्पसंख्यक गठजोड़' के रूप में संगठित हो गये। किंतु गांधीजी ने साम्प्रदायिक आधार पर किसी भी संवैधानिक प्रस्ताव का अंत तक विरोध किया।

4. भारतीय रजवाड़े भी संघ बनाने के मुद्दे पर ज्यादा उत्साहित नहीं थे। मुख्यतयाः उस स्थिति में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर कांग्रेस, केंद्र में सरकार का गठन करे।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन, रेम्जे मैकडोनाल्ड की इस घोषणा के साथ संपन्न हुआ।

(i) दो मुस्लिम प्रांतों—उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत एवं सिंध का गठन।

(ii) भारतीय सलाहकारी परिषद की स्थापना।

(iii) तीन विशेषज्ञ समितियों—वित्त, मताधिकार एवं राज्यों संबंधी समितियों का गठन। तथा

(iv) यदि भारतीयों में सहमति नहीं हो सकी तो सर्वसम्मत साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा।

सम्मेलन में सरकार भारतीयों की मुख्य मांग 'स्वतंत्रता' पर किसी भी प्रकार का विचार करने में असफल रही। 28 दिसम्बर 1931 को गांधीजी भारत लौट आये। 29 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस कार्यकारिणी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से प्रारंभ करने का निर्णय लिया।

तीसरा गोलमेज सम्मेलन

तीसरे गोलमेज सम्मेलन, का आयोजन 17 नवम्बर, 1932-24 दिसम्बर 1932 के बीच किया गया, जिसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और गांधीजी ने भाग नहीं लिया। इसमें कई अन्य भारतीय नेताओं ने भागीदारी नहीं की।

पहले दो सम्मेलनों की भांति, इसमें भी कुछ खास हासिल नहीं हुआ। इसकी अनुशंसाएं मार्च 1933 में एक श्वेत पत्र में प्रकाशित हुईं जिस पर बाद में ब्रिटिश संसद में चर्चा हुई। अनुशंसाओं के विश्लेषण हेतु एक संयुक्त समिति गठित की गई और भारत के लिए एक नया अधिनियम बनाने को कहा गया। इस समिति ने फरवरी 1935 में एक विधेयक का मसौदा प्रस्तुत किया, जिसे जुलाई 1935 में भारत सरकार अधिनियम 1935 के रूप में लागू किया गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का पुनः प्रारंभ

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की असफलता पर, कांग्रेस की कार्यकारी समिति ने 29 दिसंबर, 1931 को फिर से सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने का निर्णय लिया।

अस्थायी शांति का काल (मार्च-दिसम्बर 1931)

इस काल में भी विभिन्न गतिविधियों ने भारतीयों में साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष की भावना को जीवित रखा।

संयुक्त प्रांत में कांग्रेस-लगान में कमी करने, बकाया लगान को माफ करने तथा लगान अदा न करने के कारण काश्तकारों को उनकी भूमि से बेदखल करने की प्रक्रिया पर रोक लगाने की मांग को लेकर प्रारम्भ किये गये आंदोलन को नेतृत्व प्रदान कर रही थी। उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत में हुकूमत ने खुदाई खिदमतगार के कार्यकर्ताओं एवं उन किसानों पर कठोर दमनात्मक कार्रवाई की, जो सरकार द्वारा बलपूर्वक लगान वसूल करने का विरोध कर रहे थे। बंगाल में सरकार भेदभावपूर्ण अध्यादेशों के द्वारा शासन चला रही थी, तथा आतंकवाद से निबटने के नाम पर उसने हजारों लोगों को कारावास में डाल दिया था। सितम्बर 1931 में हिजली जेल में राजनीतिक बंदियों पर गोली चलाई गयी, जिसमें दो लोगों की मृत्यु हो गयी।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् सरकार का परिवर्तित रुख

दिल्ली समझौते से उच्च ब्रिटिश अधिकारियों के सम्मुख यह तथ्य उभरकर सामने आया कि इस समझौते से कांग्रेस की प्रतिष्ठा एवं भारतीयों के उत्साह में वृद्धि हुई है तथा ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है। फलतः उन्होंने यथास्थिति को परिवर्तित करने की योजना बनायी। इस योजना के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने तीन प्रावधानों को अपनाने की रणनीति बनायी–

1. गांधीजी को पुनः कोई जन-आंदोलन प्रारंभ करने की अनुमति नहीं दी जायेगी।
2. कांग्रेस की सद्भावना आवश्यक नहीं है। अपितु इसके स्थान पर उन लोगों का सहयोग एवं समर्थन अति आवश्यक है, जिन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध हुकूमत का साथ दिया है, उदाहरणार्थ–सरकारी सेवक एवं राजभक्त इत्यादि।
3. राष्ट्रीय आंदोलन को अब ग्रामीण क्षेत्रों में प्रसारित एवं संगठित होने की अनुमति नहीं दी जायेगी।

कांग्रेस कार्यकारिणी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन पुनः प्रारंभ किये जाने की घोषणा के पश्चात भारत के नये वायसराय विलिंगडन ने 31 दिसम्बर 1931 को गांधीजी से मिलने से इंकार कर दिया। 4 जनवरी 1932 को गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया।

सरकार की कार्रवाई

4 जनवरी 1932 को गांधीजी की गिरफ्तारी के साथ ही सरकार ने राष्ट्रीय आंदोलन पर पूर्णरुपेण हमला प्रारंभ कर दिया। प्रशासन को असीमित और मनमानी शक्तियां देने वाले अनेक अध्यादेश जारी किये गये तथा 'नागरिक-सैनिक कानून' की शुरुआत हो गयी। सभी स्तरों पर कांग्रेस के संगठनों को प्रतिबंधित कर दिया गया, राजनीतिक कार्यकर्ताओं को जेल में ठूंस दिया गया, कांग्रेस से सहानुभूति रखने वाले लोगों को यातनायें दी गयीं, नागरिक अधिकारों को समाप्त कर दिया गया, सम्पत्तियां कुर्क कर ली गयीं तथा गांधीजी के आश्रमों पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया गया। अंग्रेजी सरकार के इस दमन का शिकार महिलाएं भी हुईं। प्रेस के खिलाफ भी कार्रवाई की गयी तथा राष्ट्रवादी साहित्य पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

जनता की प्रतिक्रिया

सरकारी दमन के खिलाफ जनता में तीव्र रोष था। यद्यपि जनता असंगठित तथा अपरिपक्व थी किंतु उसकी प्रतिक्रिया व्यापक थी। केवल प्रथम चार महीनों में ही लगभग 80 हजार सत्याग्रहियों को जेल में डाल दिया गया। इनमें से अधिकांश शहरी और निर्धन ग्रामीण थे। विरोध प्रदर्शन के तरीकों में—शराब की दुकानों पर धरने, विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरने, अवैधानिक सम्मेलन, अहिंसक प्रदर्शन, राष्ट्रीय दिवस का आयोजन, राष्ट्रीय, झंडे का प्रतीकात्मक रोहण, चौकीदारी कर का भुगतान न करना, नमक सत्याग्रह, वन कानूनों का उल्लंघन तथा बंबई के निकट गुप्त रेडियो ट्रांसमीटर की स्थापना प्रमुख थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन के इस चरण में दो भारतीय रियासतों—कश्मीर एवं अलवर में तीव्र जन-प्रतिक्रिया का उभरना आंदोलन का एक महत्वपूर्ण पहलू था। किंतु इतना होने पर भी यह आंदोलन ज्यादा लंबे समय तक नहीं खिंच सका क्योंकि—

(i) गांधीजी तथा अन्य राष्ट्रवादी नेता, जन-प्रतिक्रिया को संगठित करने में पर्याप्त समय नहीं दे सके; तथा

(ii) जनता असंगठित एवं अपरिपक्व थी।

अंततः अप्रैल 1934 में गांधीजी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेने का निर्णय लिया। यद्यपि गांधीजी के निर्णय से जनता तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं में थोड़ी निराशा अवश्य हुई किंतु उनमें कांग्रेस के प्रति निष्ठा कम नहीं हुई। उन्होंने वास्तविक रूप से न सही, दिल से स्वतंत्रता का संघर्ष अवश्य जीत लिया था।

साम्प्रदायिक निर्णय और पूना समझौता

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड ने भारतीय मताधिकार समिति, जिसे लोथियन समिति कहा गया, के अध्ययन के आधार पर 16 अगस्त, 1932 को सांप्रदायिक निर्णय

(कम्यूनल अवॉर्ड) की घोषणा की। सांप्रदायिक निर्णय ने दलित वर्गों, जिन्हें 78 सीटें दी गईं, सहित अल्पसंख्यकों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र एवं सीटें आरक्षित कीं। दरअसल, सांप्रदायिक निर्णय, उपनिवेशवादी शासन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का एक और प्रमाण था।

साइमन कमीशन के सम्मुख अपनी गवाही में अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि दलित या वंचित वर्गों को एक अलग वर्ग के रूप में देखा जाना चाहिए। इसे हिंदू जाति से पृथक एक स्वतंत्र अल्पसंख्यक बनाया जाना चाहिए। उन्होंने अछूतों के अधिकारों की पूर्ति हेतु सीधी कार्रवाई की वकालत की। ऊंची जातियों या वर्गों से स्पष्ट विरोध के कारण, अम्बेडकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सुधार केवल सरकार के उद्देश्यपूर्ण कार्यों से ही हो सकता है और वंचित वर्गों को लोक सेवा के सभी स्तरों पर अधिक प्रतिनिधित्व देने को कहा।

साइमन कमीशन ने दलितों के लिए पृथक् निर्वाचक वर्ग की मांग को निरस्त कर दिया, लेकिन उसने सीटों के आरक्षण की अवधारणा को बनाए रखा। उसने सभी आठ प्रांतों में वंचित वर्गों के लिए कुछ सीटों के आरक्षण की अनुशंसा की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रावधान

- मुसलमानों, सिखों एवं यूरोपियों को पृथक साम्प्रदायिक मताधिकार प्रदान किया जाए।
- आंग्ल-भारतीयों, भारतीय ईसाइयों तथा स्त्रियों को भी पृथक साम्प्रदायिक मताधिकार प्रदान किया जाए।
- प्रांतीय विधानमंडल में साम्प्रदायिक आधार पर स्थानों का वितरण किया जाए।
- प्रांतीय विधानमण्डलों की मौजूदा सीटों को दुगुना किया जाए।
- श्रमिकों, जमींदारों, व्यवसायियों और उद्योगपतियों को सीटें आबंटित की जाएं।
- उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत को छोड़कर, शेष सभी प्रांतीय विधानमंडलों में महिलाओं के लिए 3 प्रतिशत आरक्षण हो।
- मुस्लिमों को उन प्रदेशों में, जहां वे अल्पमत में हैं, अतिरिक्त सीटें मिलें।
- सभी प्रांतों को विभिन्न सम्प्रदायों के निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाए।
- अन्य शेष मतदाता, जिन्हें पृथक निर्वाचन क्षेत्रों में मताधिकार प्राप्त नहीं हो सका था, उन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान का अधिकार प्रदान किया जाए।
- बम्बई प्रांत में सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में से सात स्थान मराठों के लिये आरक्षित कर दिये जाएं।
- विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में दलित जाति के मतदाताओं के लिये दोहरी व्यवस्था की गयी। उन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों तथा विशेष निर्वाचन क्षेत्रों दोनों जगह मतदान का अधिकार दिया जाए।

• दलित जातियों के लिये विशेष निर्वाचन की यह व्यवस्था बीस वर्षों के लिये की जाए।

• दलितों को अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता दी जाए।

कांग्रेस का पक्ष

यद्यपि कांग्रेस साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध थी किंतु अल्पसंख्यकों से विचार-विमर्श किये बिना वह इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में नहीं थी। इस प्रकार साम्प्रदायिक निर्णय से गहरी असहमति रखते हुए कांग्रेस ने निर्णय लिया कि वह न तो साम्प्रदायिक निर्णय को स्वीकार करेगी न ही इसे अस्वीकार करेगी।

साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा, दलितों को सामान्य हिन्दुओं से पृथक कर एक अल्पसंख्यक वर्ग के रूप मे मान्यता देने तथा पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान करने का सभी राष्ट्रवादियों ने तीव्र विरोध किया।

गांधीजी की प्रतिक्रिया

गांधीजी ने दलित वर्गों को पृथक् निर्वाचन क्षेत्र का अधिकार देने के प्रस्ताव पर बेहद तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। गांधीजी ने साम्प्रदायिक निर्णय को राष्ट्रीय एकता एवं भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रहार के रूप में देखा। उनका मत था कि यह हिन्दुओं एवं दलित वर्ग दोनों के लिये खतरनाक है। उनका कहना था कि दलित वर्ग की सामाजिक हालत सुधारने के लिये इसमें कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। एक बार यदि पिछड़े एवं दलित वर्ग को पृथक समुदाय का दर्जा प्रदान कर दिया गया तो अस्पृश्यता को दूर करने का मुद्दा पिछड़ जायेगा और हिन्दू समाज में सुधार की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायेगी। उन्होंने स्पष्ट किया कि पृथक निर्वाचक मंडल का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि यह अछूतों के सदैव अछूत बने रहने की बात सुनिश्चित करता है। वे दलित वर्गों को हिंदू समाज का अविच्छिन्न अंग मानते थे। उन्हें यह आशा थी कि हिन्दू समाज दलितों के कल्याण के लिए काम करेगा और शताब्दियों तक शोषित समाज के इस तबके के साथ सामाजिक न्याय करेगा, जिससे कि वह हिन्दू समाज में पूरी तरह समाहित हो सके। दलितों के हितों की सुरक्षा के नाम पर न ही विधानमंडलों या सरकारी सेवाओं में सीटें आरक्षित करने की आवश्यकता है और न ही उन्हें पृथक समुदाय बनाने की। अपितु सर्वप्रमुख आवश्यकता समाज से अस्पृश्यता की कुरीति को जड़ से उखाड़ फेंकने की है। गांधीजी ने अंग्रेजों की इस नीति का विरोध किया, क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि उनकी यह नीति हिंदू समाज को बांट देगी।

गांधीजी ने मांग की कि दलित वर्ग के प्रतिनिधियों का निर्वाचन आत्म-निर्वाचन मंडल के माध्यम से वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए। तथापि उन्होंने दलित वर्ग के लिये बड़ी संख्या में सीटें आरक्षित करने की मांग का विरोध नहीं किया। अपनी मांगों को स्वीकार किये जाने के लिये 20 सितंबर 1932 से गांधी जी आमरण

अनशन पर बैठ गये। कई राजनीतिज्ञों ने गांधीजी के अनशन को राजनीतिक आंदोलन की सही दिशा से भटकना कहा। इस बीच विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के नेता, जिनमें एम.सी. रजा, मदनमोहन मालवीय तथा बी.आर. अम्बेडकर सम्मिलित थे, सक्रिय हो गये। अंततः एक समझौता हुआ, जिसे पूना समझौता या पूना पैक्ट के नाम से जाना जाता है।

पूना समझौता

24 सितंबर 1932 में डा. अम्बेडकर तथा अन्य हिन्दू नेताओं के प्रयत्न से सवर्ण हिन्दुओं तथा दलितों के मध्य एक समझौता किया गया। इसे पूना समझौते के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के अनुसार–

- दलित वर्ग के लिये पृथक निर्वाचक मंडल समाप्त कर दिया गया तथा व्यवस्थापिका सभा में अछूतों के स्थान हिन्दुओं के अंतर्गत ही सुरक्षित रखे गये।
- प्रांतीय विधानमण्डलों में दलित वर्गों के लिए 147 सीटें आबंटित की गईं जबकि साम्प्रदायिक पंचाट में उन्हें 71 सीटें प्रदान करने का वचन दिया गया था।
- मद्रास में 30, बंगाल में 30, मध्य प्रांत एवं संयुक्त प्रांत में 20-20, बिहार एवं उड़ीसा में 18 बम्बई एवं सिंध में 15, पंजाब में 8 तथा असम में 7 स्थान दलितों के लिये सुरक्षित किये गये।
- यह वादा किया गया कि गैर-मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों को आबंटित सीटों का एक निश्चित प्रतिशत दलित वर्गों के लिए आरक्षित कर दिया जाएगा।
- केंद्रीय विधानमंडल में दलित वर्ग को प्रतिनिधित्व देने के लिये संयुक्त निर्वाचन की प्रक्रिया तथा प्रांतीय विधानमंडल में प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की व्यवस्था को मान्यता दी गयी।
- दलित वर्ग को सार्वजनिक सेवाओं तथा स्थानीय संस्थाओं में उनकी शैक्षणिक योग्यता के आधार पर उचित प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गयी।

सरकार ने पूना समझौते को साम्प्रदायिक निर्णय का संशोधित रूप मानकर उसे स्वीकार कर लिया।

- कांग्रेस ने स्वीकार किया कि दलित वर्गों को प्रशासनिक सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाएगा।
- अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित वर्गों ने संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया।
- वंचित वर्गों के लिए केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानमण्डलों में मताधिकार लोथियन समिति की रिपोर्ट में निर्दिष्ट व्यवस्था के अनुसार किया जाएगा।
- केंद्रीय विधानमण्डल में, ब्रिटिश भारत के लिए सामान्य निर्वाचक वर्ग के लिए प्रदत्त 18 प्रतिशत सीटें दलित वर्गों के लिए आरक्षित होंगी।

• किसी को भी स्थानीय निकाय के किसी चुनाव या लोक सेवाओं में नियुक्ति के संदर्भ में मात्र दलित वर्ग से संबद्ध होने के आधार पर अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा।

पूना समझौते (पैक्ट) का दलितों पर प्रभाव

पूना समझौते ने हिंदू सामाजिक व्यवस्था के अंधकार युग को जारी रखा। इसने कई समस्याओं को जन्म दिया।

• इसने दलितों को राजनीतिक हथियार बना दिया। संयुक्त निर्वाचन में वास्तविक दलितों को हराकर हिंदू जाति संगठनों का एजेंट बना दिया और केवल उन दलितों की चुनावी जीत को पक्का किया जो इन संगठनों के एजेंट या हथियार हैं।

• पूना पैक्ट ने दलितों के राजनीतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक अवनयन को बढ़ावा दिया और इस प्रकार ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था से लड़ने वाली दलितों के वास्तविक एवं स्वतंत्र नेतृत्व को बर्बाद कर दिया।

• इसने हिंदू से पृथक् एवं अलग दलित अस्तित्व को स्वीकार न करके उसे हिंदू सामाजिक व्यवस्था के एक हिस्से के रूप में रखा।

• इस समझौते ने समानता-स्वतंत्रता-बंधुत्व-न्याय पर आधारित 'आदर्श समाज' के सामने बाधा खड़ी की।

• राष्ट्रीय जीवन में दलित को एक पृथक् एवं भिन्न तत्व न मानकर इसने दलित एवं अन्य अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं सुरक्षा संबंधी रक्षोपायों को भारत के संविधान में स्पष्ट करने से रोक दिया।

संयुक्त निर्वाचक वर्ग तथा इसका दलितों पर प्रभाव

अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (एआईएससीएफ) की कार्यकारी समिति ने स्पष्ट रूप से कहा कि भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत आयोजित चुनावों का अनुभव सिद्ध करता है कि संयुक्त निर्वाचक व्यवस्था ने विधानमण्डलों में अपने वास्तविक एवं प्रभावी प्रतिनिधियों को भेजने के अधिकार से अनुसूचित जातियों को वंचित किया है और हिंदू बहुसंख्यक को अनुसूचित जाति का सदस्य नामित करने का वास्तविक अधिकार प्रदान किया है, जो हिंदू बहुसंख्यक के हाथ की कठपुतली बन सके। इसलिए संघ की कार्यकारी समिति ने संयुक्त निर्वाचक व्यवस्था एवं आरक्षित सीट के प्रावधान को समाप्त करने की मांग की और इसके स्थान पर पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था लागू करने को कहा। पृथक् निर्वाचक क्षेत्र की मांग और पूना पैक्ट को समाप्त करने की मांग 1947 तक जारी रही।

गांधीजी का हरिजन अभियान

साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा भारतीयों को विभाजित करने तथा पूना पैक्ट के द्वारा हिन्दुओं से दलितों को पृथक करने की व्यवस्थाओं ने गांधीजी को बुरी तरह आहत कर

दिया था। फिर भी गांधीजी ने पूना समझौते के प्रावधानों का पूरी तरह पालन किये जाने का वचन दिया। अपने वचन को पूरा करने के उद्देश्य से गांधीजी ने अपने अन्य कार्यों को छोड़ दिया तथा पूर्णरूपेण 'अश्पृश्यता निवारण अभियान' में जुट गये। उन्होंने अपना अभियान यरवदा जेल से ही प्रारंभ कर दिया था तत्पश्चात अगस्त 1933 में जेल से रिहा होने के उपरांत उनके आंदोलन में और तेजी आ गयी।

अपनी कारावास की अवधि में ही उन्होंने सितम्बर 1932 में 'अखिल भारतीय अश्पृश्यता विरोधी लीग' का गठन किया तथा जनवरी 1933 में उन्होंने *हरिजन* नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। जेल से रिहाई के उपरांत वे सत्याग्रह आश्रम वर्धा आ गये। साबरमती आश्रम, गांधीजी ने 1930 में ही छोड़ दिया था और प्रतिज्ञा की थी कि स्वराज्य मिलने के पश्चात ही वे साबरमती आश्रम (अहमदाबाद) में वापस लौटेंगे। 7 नवंबर 1933 को वर्धा से गांधीजी ने अपनी 'हरिजन यात्रा' प्रारंभ की। नवंबर 1933 से जुलाई 1934 तक गांधीजी ने पूरे देश की यात्रा की तथा लगभग 20 हजार किलोमीटर का सफर तय किया। अपनी यात्रा के दौरान गांधीजी ने स्वयं द्वारा स्थापित संगठन 'हरिजन सेवक संघ' के लिये जगह-जगह पर कोष एकत्रित करने का कार्य भी किया। गांधीजी की इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य था—हर रूप में अश्पृश्यता को समाप्त करना। उन्होंने कांग्रेस कार्यकर्ताओं से आग्रह किया कि गांवों का भ्रमणकर हरिजनों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का कार्य करें। दलितों को 'हरिजन' नाम सर्वप्रथम गांधीजी ने ही दिया था। हरिजन उत्थान के इस अभियान में गांधीजी 8 मई व 16 अगस्त 1933 को दो बार लंबे अनशन पर बैठे। उनके अनशन का उद्देश्य, अपने प्रयासों की गंभीरता एवं अहमियत से अपने समर्थकों को अवगत कराना था। अनशन की रणनीति ने राष्ट्रवादी खेमे को बहुत प्रभावित किया। बहुत से लोग भावुक हो गये।

अपने हरिजन आंदोलन के दौरान गांधीजी को हर कदम पर सामाजिक प्रतिक्रियावादियों तथा कट्टरपंथियों के विरोध का सामना करना पड़ा। उनके खिलाफ प्रदर्शन किये तथा उन पर हिंदूवाद पर कुठाराघात करने का आरोप लगाया गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा कांग्रेस का विरोध करने के निमित्त, सरकार ने इन प्रतिक्रियावादी तत्वों का भरपूर साथ दिया। अगस्त 1934 में लेजिस्लेटिव एसेंबली में 'मंदिर प्रवेश विधेयक' को गिराकर, सरकार ने इन्हें अनुग्रहित करने का प्रयत्न किया। बंगाल में कट्टरपंथी हिन्दू विचारकों ने पूना समझौते द्वारा हरिजनों को हिन्दू अल्पसंख्यक का दर्जा दिये जाने की अवधारणा को पूर्णतयाः खारिज कर दिया।

गांधी जी के जाति संबंधी विचार

गांधीजी ने अपने पूरे हरिजन आंदोलन, सामाजिक कार्य एवं अनशनों में कुछ मूलभूत तथ्यों पर सर्वाधिक जोर दियाः

● हिन्दू समाज में हरिजनों पर किये जा रहे अत्याचार तथा भेदभाव की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की।

● दूसरा प्रमुख मुद्दा था—छुआछूत को जड़ से समाप्त करना। उन्होंने अश्पृश्यता की कुरीति को समूल नष्ट करने तथा हरिजनों को मंदिर में प्रवेश का अधिकार दिये जाने की मांग की।

● उन्होंने इस बात की मांग उठायी कि हिन्दुओं द्वारा सदियों से हरिजनों पर जो अत्याचार किया जाता रहा है, उसे अतिशीघ्र बंद किया जाना चाहिए तथा इस बात का प्रायश्चित करना चाहिए। शायद यही वजह थी कि गांधीजी ने अम्बेडकर या अन्य हरिजन नेताओं की आलोचनाओं का कभी बुरा नहीं माना। उन्होंने हिन्दू समाज को चेतावनी दी कि ''यदि अश्पृश्यता का रोग समाप्त नहीं हुआ तो हिन्दू समाज समाप्त हो जायेगा। यदि हिंदूवाद को जीवित रखना है तो अश्पृश्यता को समाप्त करना ही होगा।''

● गांधीजी का सम्पूर्ण हरिजन अभियान मानवता एवं तर्क के सिद्धांत पर अवलंबित था। उन्होंने कहा कि 'शास्त्र' छुआछूत की इजाजत नहीं देते हैं। लेकिन यदि वे ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करते हैं तो हमें उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करना मानवीय प्रतिष्ठा के विरुद्ध है।

गांधीजी अस्पृश्यता निवारण के मुद्दे को अंतर्जातीय विवाह एवं अंतर्जातीय भोज जैसे मुद्दों के साथ जोड़ने के पक्षधर नहीं थे क्योंकि उनका मानना था कि ये चीजें स्वयं हिन्दू सवर्ण समाज एवं हरिजनों के बीच में भी हैं। उनका कहना था कि उनके हरिजन अभियान का मुख्य उद्देश्य, उन कठिनाइयों एवं कुरीतियों को दूर करना है, जिससे हरिजन समाज शोषित और पिछड़ा है।

इसी तरह उन्होंने जाति निवारण तथा छुआछूत निवारण में भी भेद किया। इस मुद्दे पर वे डा. अम्बेडकर के इन विचारों से असहमत थे कि 'छुआछूत की बुराई जाति प्रथा की देन है तथा जब तक जाति प्रथा बनी रहेगी यह बुराई भी जीवित रहेगी। अतः जाति प्रथा को समाप्त किये बिना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है।' गांधीजी का कहना था कि वर्णाश्रम व्यवस्था के अपने कुछ दोष हो सकते हैं, लेकिन इसमें कोई पाप नहीं है। हां, छुआछूत अवश्य पाप है। उनका तर्क था कि छुआछूत, जाति प्रथा के कारण नहीं अपितु ऊंच-नीच के कृत्रिम विभाजन के कारण है। यदि जातियां एक दूसरे की सहयोगी एवं पूरक बन कर रहें तो जाति प्रथा में कोई दोष नहीं है। कोई भी जाति न उच्च है न निम्न। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक एवं विरोधियों दोनों से आह्वान किया कि वे आपस में मिलकर काम करें क्योंकि दोनों ही छुआछूत के विरुद्ध हैं।

गांधीजी का विचार था कि छुआछूत की बुराई का उन्मूलन करने से उसका साम्प्रदायिकता एवं ऐसे ही अन्य मुद्दों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा, जबकि इसकी

उपस्थिति का तात्पर्य होगा जाति प्रथा में उच्च एवं निम्न की अवधारणा को स्वीकार करना। गांधीजी ने छुआछूत के समर्थक दकियानूसी प्रतिक्रियावादी हिन्दुओं को 'सेनापति' कहा। किंतु वे इन पर किसी प्रकार का दबाव डाले जाने के विरोधी थे। उनका कहना था कि इन्हें समझा-बुझाकर तथा इनके दिलों को जीतकर इन्हें सही रास्ते पर लाना होगा न कि इन पर दबाव डालकर। उन्होंने स्पष्ट किया कि उनके अनशन का उद्देश्य, उनके द्वारा चलाये जा रहे छुआछूत विरोधी आंदोलन के संबंध में उनके मित्रों एवं अनुयायियों के उत्साह को दुगना करना है।

अभियान का प्रभावः गांधीजी ने बार-बार यह बात दुहराई कि उनके हरिजन अभियान का उद्देश्य राजनीतिक नहीं है अपितु यह हिन्दू समाज एवं हिन्दुत्व का शुद्धीकरण आंदोलन है। वास्तव में गांधीजी ने अपने हरिजन अभियान के दौरान केवल हरिजनों के लिये ही कार्य नहीं किया। उन्होंने कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को बताया कि जनआंदोलन के निष्क्रिय या समाप्त हो जाने पर वे स्वयं को किस प्रकार के रचनात्मक कार्यों में लगा सकते हैं। उनके आंदोलन ने राष्ट्रवाद के संदेश को हरिजनों तक पहुंचाया। यह वह वर्ग था, जिसके अधिकांश सदस्य खेतिहर मजदूर थे तथा धीरे-धीरे किसान आंदोलन तथा राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ते जा रहे थे।

गांधी एवं अम्बेडकर के मध्य वैचारिक भिन्नता एवं समानता

महात्मा गांधी, स्वतंत्रता संघर्ष के प्रमुख उन्नायक और शिल्पकार, तथा डा. बी.आर. अम्बेडकर, स्वतंत्र भारत के प्रमुख संविधान निर्माता, कई मामलों में समान विचार रखते थे, लेकिन सामाजिक सुधार के तरीकों तथा राजनीतिक स्वतंत्रता को लेकर उनमें गहरे मतभेद भी मौजूद थे। गांधीजी की योजना बेहद व्यापक थी। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता को अलग करके सामाजिक सुधार की अनुमति कभी नहीं दी। गांधीजी ने विदेशी कपड़े जलाए और अम्बेडकर ने मनुस्मृति जलाई, इसलिए नहीं कि ये दोनों भावनात्मक कृत्य थे, अपितु ये भारतीयों की दास्ता एवं बंधन के प्रतीक थे।

गांधीजी विश्वास करते थे कि स्वतंत्रता कभी भी प्रदान नहीं की जाती, अपितु यह उस सत्ता में निहित होती है, जो इसकी मांग करती है और इसका प्रयोग करने की चाह रखती है, जबकि अम्बेडकर उम्मीद करते थे कि स्वतंत्रता शासकों द्वारा प्रदान की जाती है।

इसी प्रकार लोकतंत्र की प्रकृति एवं क्षेत्र पर दोनों के विचारों में भिन्नता है। अम्बेडकर स्वतंत्र भारत के लिए संसदीय व्यवस्था चाहते थे जबकि गांधीजी संसदीय व्यवस्था के प्रति अधिक सकारात्मक रुख नहीं रखते थे। गांधीजी का मानना था कि नेतृत्व द्वारा प्रभुत्व की प्रवृत्ति के साथ लोकतंत्र भीड़तंत्र में परिवर्तित हो जाता है, दूसरी ओर, अम्बेडकर इस संभावना से बेपरवाह थे, अपितु उन्होंने भीड़तंत्र के लिए लोगों

में इच्छा जागृत की जहां वंचित या दलितों के उन्नयन द्वारा सरकार पर दबाव बनाया जा सकता है।

गांधी एवं अम्बेडकर दोनों राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ता थे। अम्बेडकर की कार्यगत पद्धति में कुछ बेहद कठोर थीं लेकिन अहिंसा को लेकर समझौता विहीन तरीके के अलावा गांधीजी में वैचारिक या सैद्धांतिक कठोरता नहीं थी। गांधी जी 20वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारधाराओं (उदारवाद, साम्यवाद और फासीवाद) से स्पष्ट रूप से आगे बढ़े और इन जटिल संरचनाओं, जिन्होंने व्यक्ति को किंकर्तव्यवमूढ़ बना दिया, के सरल व्यावहारिक विकल्पों के साथ शुरुआत करना चाहते थे। दूसरी ओर अंबेडकर का उदारवादी विचारधारा और सहायक संस्थागत ढांचे के प्रति काफी झुकाव था। अम्बेडकर का प्रबल जातिगत पहचान के प्रति भी लगाव था।

अम्बेडकर की राजनीति में भारतीय भिन्नता एवं खण्डता के पहलू उजागर होते हैं, जबकि गांधी की राजनीति में भारतीय एकता एवं अखण्डता का पहलू दिखाई दिया। *'हिंद स्वराज'* में गांधी जी ने सिद्ध किया कि साम्राज्यवादी शासन से पूर्व भारत एक राष्ट्र रहा और ये अंग्रेज थे जिन्होंने भारत की सांस्कृतिक एकता को तोड़ा। अम्बेडकर का विचार था कि भारतीय एकता औपनिवेशिक राज्य द्वारा लागू ब्रिटिश विधिक व्यवस्था का उपोत्पाद थी।

गांधीजी की दृष्टि में *'ग्रामराज, रामराज है'* और एक सच्ची स्वतंत्रता है लेकिन अम्बेडकर के विचार इसके विपरीत थे। उनका मानना था कि भारतीय ग्रामों की यथास्थिति की प्रकृति ने समानता और बंधुत्व तथा स्वतंत्रता को भी नकारा है। इसलिए उनके अनुसार, हमें भारतीय ग्राम व्यवस्था पर अभिमान करने की अपेक्षा शर्म आनी चाहिए।

अम्बेडकर ने सामाजिक एकीकरण और सुधार के लिए बल प्रयोग करना या बलपूर्वक बाध्य करने का जोरदार खंडन किया। परिवर्तन, सुधार एवं एकीकरण उचित शिक्षा के माध्यम से हो सकता है, इस पर गांधी एवं अम्बेडकर दोनों एकमत थे।

दलितों या वंचितों के उत्थान के तरीके एवं माध्यम पर दोनों में गहरा अंतर्विरोध था। दलितों या अछूतों को गांधी जी द्वारा *'हरिजन'* नाम देना अम्बेडकर जी को पसंद नहीं आया वह इसे गांधी जी की चालाकी मानते थे। जब गांधी जी ने डिप्रेस्ड क्लासेज लीग का नाम बदलकर हरिजन सेवक संघ किया, तो अम्बेडकर ने इसका विरोध किया और यह कहते हुए इस संगठन को छोड़ दिया कि गांधी जी के लिए अस्पृश्यता मात्र एक मंच है न कि एक सजग कार्यक्रम।

गांधी जी से भिन्नता रखते हुए, अम्बेडकर जी का मानना था कि धर्म का केंद्र मनुष्यों के बीच होना चाहिए, न कि मनुष्य एवं भगवान के बीच, जैसा गांधी जी का मानना था। गांधी जी की भांति अम्बेडकर भी हिंदुत्व से बुराइयों को समाप्त करना

चाहते थे, लेकिन वे इन्हें पूरी तरह समाप्त न करके, इसमें सुधार एवं इसे पुनर्निर्मित करना चाहते थे।

राजनीति में अम्बेडकर की अवधारणाएं थीं—धर्म की स्वतंत्रता, निर्बाध नागरिकता और राज्य एवं धर्म की पृथक्ता। गांधी जी ने भी धर्म की स्वतंत्रता का विचार दिया, लेकिन वे राजनीति एवं धर्म को पृथक् करने के पक्षधर नहीं थे। लेकिन गांधी एवं अम्बेडकर दोनों ने ही यह स्वीकार किया कि धर्म सामाजिक परिवर्तन के एजेंट की भांति है।

अम्बेडकर के अनुसार, निःसंदेह, प्रभुसत्ता लोगों में निहित होती है और वो राज्य की सीमित प्रभुसत्ता में विश्वास करते हैं। गांधीजी के अनुसार भी, राज्य की सीमित प्रभुसत्ता होती है, अन्यथा यह व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं इच्छा का समूल मिटा देगा।

हिंसा एवं अहिंसा को लेकर गांधी एवं अम्बेडकर में मत-भिन्नता है। अम्बेडकर का मानना था कि पूर्ण अहिंसा साध्य है और सापेक्षिक हिंसा एक साधन है, जबकि गांधीजी ऐसा अंतर नहीं मानते और किसी भी प्रकार की हिंसा के घोर विरोधी थे।

उत्पादन के मशीनीकरण और भारी मशीनों के उपयोग पर भी गांधी एवं अम्बेडकर में मत भिन्नता है। गांधीजी मशीनीकरण के विनाशकारी वि-मानवीकरण प्रभाव के आलोचक थे और इसके लिए उन्होंने शोषणकारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया। अम्बेडकर ने निजी संपत्ति बनाने वाले गलत सामाजिक संगठनों को लेकर मशीनीकरण के बुरे प्रभाव को दिखाया। उनके अनुसार, मशीनीकरण से सभी को लाभ पहुंचेगा। उनका पक्का विश्वास था कि मशीन एवं आधुनिक सभ्यता सभी के लाभ के लिए थी, और कहा कि ''लोकतांत्रिक समाज का नारा मशीन और अधिक मशीनीकरण, सभ्यता और अधिक सभ्यता होना चाहिए''।

अम्बेडकर मानव जीवन के समग्र पहलुओं को महत्व देते थे। जीवन के आध्यात्मिक एवं भौतिक पहलुओं के बीच संतुलन उनकी मुख्य चिंता थी। गांधी की पंचायत व्यवस्था भी व्यक्ति के समग्र पहलू पर बल डालती है।

गांधी, अम्बेडकर के वेदों एवं ग्रंथों को छोड़ने के आह्वान से सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि जाति धार्मिक सीमा/क्षेत्र और आध्यात्मिकता के साथ कुछ नहीं कर सकती। जाति और वर्ण अलग-अलग हैं और जाति विकृत विकार है।

अम्बेडकर अछूतों को हिंदू समुदाय के बाहर एक 'धार्मिक अल्पसंख्यक' मानते थे, जबकि गांधीजी उन्हें हिंदू समुदाय का अभिन्न अंग मानते थे। अम्बेडकर ने अछूतों को *'राजनीतिक अल्पसंख्यक* या *'बलपूर्वक बनाए गए अल्पसंख्यक'* कहना उचित समझा। गांधीजी के अनुसार, अस्पृश्यता भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओं में से एक है, लेकिन अम्बेडकर के लिए यह एकमात्र समस्या थी, जिसने उनका समग्र ध्यान आकर्षित किया। अम्बेडकर ने इस समस्या का ऐतिहासिक कोण से समग्र एवं व्यापक अध्ययन

किया और गांधीजी ने इसे समकालीन स्थिति के रूप में अधिक लिया और इसके उन्मूलन के लिए व्यवहारिक समाधान करने का प्रयास किया।

इस प्रकार गांधी एवं अम्बेडकर के विचारों में भिन्नता है, तो समानता भी है। विरोध है तो सहमति भी है। दोनों के मध्य दृष्टिकोण की भिन्नता अवधारणा, पृष्ठभूमि, शिक्षा एवं अनुभव इत्यादि के कारण हो सकती है। अम्बेडकर ने मानव गरिमा के साथ गांधीवादी नजरिए को साझा किया। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के मतानुसार, ''इस प्रकार यह दिखाई देगा कि गांधीजी एवं अम्बेडकर का सामाजिक बुराई एवं औपनिवेशिक अत्याचार को लेकर समान आकुलता है। लेकिन मौलिक अंतर, वास्तविक की जगह ऊपरी अधिक, दोनों बुद्धिजीवियों का सीमांकन करता है। कानून बनाने एवं तोड़ने के लिए असहयोग, हड़ताल, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा इत्यादि गांधीवादी श्रेष्ठ बाहरी अभिव्यक्ति थीं। लेकिन अम्बेडकर राजनीतिक प्रक्रिया में संवैधानिक एवं कानूनी समीक्षा की तरफ अधिक झुके प्रतीत होते हैं।

सारांश

- **कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन (दिसम्बर 1928)**
  सरकार को डोमिनियन स्टेट्स की मांग को स्वीकार करने के लिए एक वर्ष का अल्टीमेटम; मांग स्वीकार न किये जाने पर सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने की घोषणा।
- **कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन (दिसम्बर 1929)**
  पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस ने अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया।
  कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने का निर्णय लिया।
  26 जनवरी 1930 को पूरे राष्ट्र में प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया गया।
- **दांडी मार्च (12 मार्च-6 अप्रैल, 1930)**
  गांधीजी ने नेतृत्व किया, प्रतिक्रियास्वरूप तमिलनाडु, मालाबार, आंध्र, असम एवं बंगाल में नमक सत्याग्रह प्रारंभ
- **विरोध के अन्य मार्गों सहित आंदोलन का प्रसार**
  पश्चिमोत्तर प्रांत में खुदाई खिदमतगार द्वारा सक्रिय आंदोलन।
  शोलापुर में कपड़ा मजदूरों की सक्रियता।
  धारासाणा में नमक सत्याग्रह।
  बिहार में चौकीदारी कर न अदा करने का अभियान।
  बंगाल में चौकीदारी कर एवं यूनियन बोर्ड कर के विरुद्ध अभियान।
  गुजरात में कर-ना अदायगी अभियान।
  कर्नाटक, महाराष्ट्र एवं मध्य प्रांत में वन कानूनों का उल्लंघन।
  असम में 'कनिंघम सरकुलर' के विरुद्ध प्रदर्शन।
  उत्तर प्रदेश में कर-ना अदायगी अभियान।

महिलाओं, छात्रों, मुसलमानों के कुछ वर्ग, व्यापारी-एवं छोटे व्यवसायियों, दलितों, मजदूरों एवं किसानों की आंदोलन में सक्रिय भागीदारी।

- **गांधी-इरविन समझौता (मार्च 1931)**
  कांग्रेस, सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेने तथा द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने हेतु सहमत।
- **कांग्रेस का कराची अधिवेशन (मार्च 1931)**
  गांधीजी और इरविन के मध्य हुए दिल्ली समझौते का अनुमोदन, अल्पसंख्यकों के मुद्दे पर अधिवेशन में गतिरोध पैदा हो गया।
- **गोलमेज सम्मेलन**
  प्रथम गोलमेज सम्मेलन (नवम्बर 1930-जनवरी 1931)
  द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (दिसम्बर 1931)
  तीसरा गोलमेज सम्मेलन (नवम्बर-1932-दिसंबर 1932)
  ब्रिटेन के दक्षिणपंथी गुट द्वारा भारत को किसी तरह की रियासतें दिये जाने का विरोध।
  अल्पसंख्यकों को संरक्षण दिये जाने के प्रावधानों पर सम्मेलन में गतिरोधन
  दिसम्बर 1931 से अप्रैल 1934 तक सविनय अवज्ञा आंदोलन का द्वितीय चरण।
- **साम्प्रदायिक निर्णय (1932) एवं पूना समझौता**
  दलित वर्ग के लोगों को पृथक प्रतिनिधित्व।
  राष्ट्रवादियों ने महसूस किया कि यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के लिये गंभीर खतरा है।
  गांधीजी का आमरण अनशन (सितम्बर 1932) तथा पूना समझौता।
  संयुक्त निर्वाचन एवं इसका दलितों पर प्रभाव
  पूना समझौते का दलितों पर प्रभाव
- **गांधी एवं अम्बेडकर के मध्य वैचारिक विभिन्नता एवं समानता**

अध्याय 20

सविनय अवज्ञा आंदोलन के पश्चात् भविष्य की रणनीति पर बहस

सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के उपरांत राष्ट्रवादियों के मध्य भविष्य की रणनीति के संबंध में द्वि-स्तरीय बहस प्रारंभ हुई—*प्रथम, निकट* भविष्य में राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति कैसी हो तथा *द्वितीय,* 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत होने वाले 1937 के आगामी प्रांतीय चुनावों में, सत्ता में भागीदारी के प्रश्न पर किस रणनीति का अनुगमन किया जाये।

प्रथम चरण की बहस

इस चरण में तीन अवधारणायें सामने आयीं। इनमें से प्रथम दो परम्परागत प्रतिक्रियावादी अवधारणायें थीं, जबकि तीसरी, कांग्रेस में सशक्त वामपंथी विचारों का प्रतिनिधित्व कर रही थी। ये तीनों अवधारणायें निम्नानुसार थीं—

1. पहली अवधारणा के अनुसार, गांधीवाद की तर्ज पर रचनात्मक कार्य प्रारंभ किया जाये।

2. दूसरी अवधारणा के अनुसार, एक बार पुनः संवैधानिक तौर-तरीकों से संघर्ष प्रारंभ करना चाहिए। इस मत के समर्थक 1934 के भावी केंद्रीय विधान सभा के लिये होने वाले चुनावों में भाग लेने का भी समर्थन कर रहे थे। इस मत के समर्थकों में आसफ अली, सत्यमूर्ति, डा. एम.ए. अंसारी, भूलाभाई देसाई तथा बी.सी. राय प्रमुख थे। इन सभी का मत था कि—

- राजनीतिक निराशा के इस दौर में, जबकि कांग्रेस जन-आंदोलन जारी रखने की अवस्था में नहीं हैं, उसे चुनावों में भाग लेकर विधानमंडल में प्रवेश करना चाहिए तथा राजनीतिक संघर्ष जारी रखना चाहिए, जिससे जनता का मनोबल गिरने न पाये।
- चुनाव में भाग लेने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे केवल संवैधानिक राजनीतिक संघर्ष के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्ति में विश्वास रखते हैं। इसका मतलब एक अन्य राजनीतिक मोर्चा प्रारंभ करना है।

● इस नये राजनीतिक मोर्चे से कांग्रेस मजबूत होगी, जनता में उसका प्रभाव बढ़ेगा तथा जनता अगले दौर के आंदोलन के लिये तैयार हो सकेगी।

● विधान मंडल में कांग्रेस की उपस्थिति उसे नये राजनैतिक संघर्ष के लिये उपयुक्त मंच प्रदान करेगी।

3. तीसरी अवधारणा का समर्थन कांग्रेस का सशक्त वामपंथी विचारों का समर्थक दल कर रहा था, जिसका नेतृत्व नेहरू के हाथों में था। यह गुट सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेकर उसके स्थान पर रचनात्मक कार्य प्रारंभ करने तथा विधान मंडल में भागीदारी, दोनों मतों का विरोधी था। इनका मत था कि ये दोनों तरीके जन-आंदोलन को उसके पथ से विमुख कर देंगे तथा उपनिवेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष के मुख्य मुद्दे से जनता का ध्यान दूसरी ओर मोड़ देंगे। ये जन-आंदोलन को जारी रखने के पक्षधर थे। इनका मानना था कि आर्थिक संकट का यह दौर क्रांतिकारी आंदोलन का उचित समय है तथा जनता संघर्ष के लिये पूरी तरह तैयार है।

नेहरू के विचार

नेहरू ने कहा कि ''न केवल भारतीय जनता अपितु पूरे विश्व की जनता के सम्मुख इस समय मुख्य लक्ष्य पूंजीवाद का समूल उन्मूलन तथा समाजवाद की स्थापना है।'' नेहरू के विचार से सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना, रचनात्मक कार्य प्रारंभ करना तथा संसद में भागीदारी करना 'एक प्रकार की आध्यात्मिक पराजय', 'आदर्शों का समर्पण' तथा 'क्रांतिकारी पथ का परित्याग कर सुधारवादी पथ को अपनाने जैसा' था।

उन्होंने सुझाव दिया कि समाज के वर्गीय चरित्र की वास्तविकता और वर्ग संघर्ष की महत्ता को स्वीकार करते हुए समाज के स्वार्थपरक तत्वों को जनसाधारण के हितों की ओर मोड़ा जाना चाहिए। जमींदारों तथा पूंजीपतियों के विरुद्ध मजदूरों तथा किसानों के संघर्ष तथा उनकी मांगों का समर्थन किया जाना चाहिए। उन्होंने तर्क दिया कि मजदूरों और किसानों को वर्गीय आधार पर संगठित किया जाये, जिससे कांग्रेस इन संगठनों की गतिविधियों एवं नीतियों को निर्देशित कर सके। नेहरू का मानना था कि वर्ग संघर्ष के अभाव में वास्तविक साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन नहीं चलाया जा सकता।

नेहरू द्वारा संघर्ष-समझौता-संघर्ष की रणनीति का विरोध

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के एक बड़े तबके का मानना था कि साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध पहले संवैधानिक तरीके से जबरदस्त संघर्ष प्रारंभ करके आंदोलन अचानक वापस ले लिया जाये, फिर सरकार के सुधारवादी कदमों से समझौता कर पुनः समय आने पर संघर्ष प्रारंभ कर दिया जाये। क्योंकि पहले तीव्र संघर्ष के पश्चात संघर्ष के सुप्तावस्था में आने पर जनसामान्य को अपना सार्मथ्य बढ़ाने का मौका मिलेगा तथा

सरकार को राष्ट्रवादी मांगों का प्रत्युत्तर देने का अवसर दिया जा सकेगा। जनसामान्य को अनिश्चितकालीन बलिदान की रणनीति नहीं अपनानी चाहिए। लेकिन यदि सरकार ने राष्ट्रवादी मांगों के संबंध में कोई सकारात्मक जवाब नहीं दिया तो जनसाधारण को पूरे सामर्थ्य से पुनः संघर्ष प्रारंभ कर देना चाहिए। इसे ही 'संघर्ष–समझौता–संघर्ष की रणनीति' कहते हैं।

नेहरू, संघर्ष–समझौता–संघर्ष की इस रणनीति से असहमत थे। उन्होंने तर्क दिया कि लाहौर अधिवेशन में पूर्णस्वराज्य के कार्यक्रम को तय किये जाने के पश्चात भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन उस अवस्था में पहुंच गया है, जहां हमें औपनिवेशिक सत्ता से तब तक संघर्ष करते रहना होगा, जब तक कि हम उसे पूर्णरूपेण उखाड़ फेंकने में सफल न हो जायें। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि कांग्रेस को 'निरंतर संघर्ष की नीति' का पालन करना चाहिए तथा उसे साम्राज्यवादी ढांचे से सहयोग एवं समझौते के जाल में नहीं फंसना चाहिए। उन्होंने कांग्रेस को चेताया कि अत्यंत शक्तिशाली औपनिवेशिक सत्ता को *आने-चार-आने की ताकत* द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता। अपितु इसके लिये सतत संघर्ष अपरिहार्य है। उन्होंने संघर्ष-समझौता-संघर्ष की रणनीति का विरोध करते हुए, उसके स्थान पर 'संघर्ष-विजय की रणनीति' का प्रतिपादन किया।

सत्ता में भागीदारी पर सहमति

इस समय भारतीय राष्ट्रवादी जहां एक ओर असमंजस की स्थिति में थे, वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश हुकूमत यह मानकर चल रही थी कि कांग्रेस में सूरत विभाजन की तरह शीघ्र ही एक और विभाजन होना लगभग तय है। किंतु इस अवसर पर गांधीजी ने दूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाकर कांग्रेस को विभाजित होने से बचा लिया। यह जानते हुए भी कि स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रमुख और एकमात्र तरीका सत्याग्रह ही है, उन्होंने कौंसिलों में भागीदारी के समर्थकों की मांगे स्वीकार कर लीं। उन्होंने कहा कि ''संसदीय राजनीति से स्वतंत्रता हासिल नहीं की जा सकती किंतु वे सभी कांग्रेस जन जो न तो स्वयं को रचनात्मक कार्यों में लगा सकते हैं और न ही सत्याग्रह में भाग ले सकते हैं, वे सभी संसदीय राजनीति के माध्यम से स्वयं को सक्रिय बनाये रख सकते हैं, बशर्ते कि वे संविधानवादी या सुविधावादी न बन जायें''। साथ ही, गांधीजी ने वामपंथियों को आश्वस्त करते हुए ये भी कहा कि 'सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना आवश्यक एवं तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में उचित कदम था, लेकिन इसका तात्पर्य राजनीतिक अवसरवादिता के सम्मुख समर्पण या साम्राज्यवाद से समझौता नहीं है।''

मई 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन पटना में हुआ, जहां चुनाव में भाग लेने के लिये एक संसदीय बोर्ड का गठन किया गया।

गांधीजी ने महसूस किया कि कांग्रेस में उभर रही सबसे सशक्त धारा से वह कट से गये हैं। वे जानते थे कि बुद्धजीवी वर्ग का एक बड़ा तबका संसदीय राजनीति के

पक्ष में है, जबकि वे मौलिक तौर पर संसदीय राजनीति के विरोधी थे। बुद्धिजीवी वर्ग का दूसरा खेमा गांधी जी के रचनात्मक कार्यों यथा-चरखा कातने इत्यादि से असहमत था, जिसे गांधीजी 'राष्ट्र का दूसरा हृदय' कहते थे। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में समाजवादी गुट भी गांधीजी की नीतियों से असहमत था। इसी कारण 1934 में गांधीजी ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया और कहा कि 'वे कांग्रेस एवं उसमें उभरती नयी विचारधारा पर नैतिक दबाव डालकर उसे रोकना नहीं चाहते, क्योंकि यह उनके अहिंसा के सिद्धांत के विपरीत है'।

नेहरू और समाजवादियों ने भी राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि रखा। कांग्रेस के विरोधियों का मत था कि नेहरू एवं समाजवादियों के द्वारा कांग्रेस में किये जा रहे मौलिक परिवर्तनों से कांग्रेस विभाजित हो जायेगी, किंतु ऐसा नहीं हुआ। नेहरू एवं समाजवादियों ने इस खतरे को भांपकर अपनी प्राथमिकतायें तय कर लीं। उनका मत था कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ करने से पहले उपनिवेशी शासन को समाप्त करना आवश्यक है तथा साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में कांग्रेस का सहयोग करना भी आवश्यक है। क्योंकि कांग्रेस ही भारतीयों का एक मात्र प्रमुख संगठन है। नेहरू एवं समाजवादियों का तर्क था कि वैचारिक या राजनीतिक शुद्धीकरण के नाम पर कांग्रेस से त्यागपत्र देने या उससे नाता तोड़ने की बजाय, कांग्रेस में रहकर उसे जुझारू चरित्र प्रदान करना कहीं ज्यादा आवश्यक है। दक्षिणपंथियों ने भी इस मसले पर सही रणनीति अपनायी। नवंबर 1934 में केंद्रीय विधान सभा के लिये हुए चुनाव में कांग्रेस ने प्रशंसनीय प्रदर्शन करते हुए भारतीयों के लिये आरक्षित 75 सीटों में से 45 सीटें जीत लीं।

भारत सरकार अधिनियम, 1935

अधिनियम के पारित होने की परिस्थितियां

वर्ष 1919 के मांटफोर्ड सुधारों को कांग्रेस ने ''असंतोषजनक, अपर्याप्त और निराशाजनक'' कहा। इसने दिसम्बर 1921 में असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया, जिसमें केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानमंडलों का बहिष्कार सम्मिलित था। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के पारित होने के लिये प्रमुख उत्तरदायी कारक निम्न प्रकार थे–

स्वराज्य दल की भूमिकाः 1919 के सुधारों के प्रति असंतोष धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। उदारवादी, जो लंबे समय तक सरकार के साथ सहयोग की नीति के पक्षधर थे, इन सुधारों को अपर्याप्त और असंतोषजनक मानने लगे थे। तत्पश्चात स्वराज्य दल ने इन सुधारों के विरोध में सक्रिय भूमिका निभायी। इस दल के गठन का तो उद्देश्य ही इनके विरोध से जुड़ा हुआ था। उद्देश्य यह था कि विधानमंडलों में प्रवेश कर इन सुधारों तथा उनसे सम्बद्ध किसी भी संवैधानिक प्रक्रिया को अवरुद्ध किया जाये।

1923 के चुनावों में इस दल को मिली प्रचण्ड सफलता के लाभ को स्वराजियों ने विधेयक एवं सरकारी कार्यों के विरोध की ओर मोड़ दिया।

साइमन कमीशन की भूमिकाः 1927 में सरकार ने साइमन कमीशन की नियुक्ति कर अप्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकार कर लिया था कि मोंट-फोर्ड सुधार असफल रहे हैं। दूसरी ओर, 1923 के चुनावों में कांग्रेस को मिली सफलता से भी सरकार भयातुर थी। एक और तर्क यह था कि लंदन में लॉर्ड बिरकनहैड भी कमीशन के गठन का श्रेय आगामी उदारवादी सरकार को नहीं देना चाहते थे।

कमीशन की रिपोर्ट में जो संस्तुतियां थीं, वे अप्रत्यक्ष रूप से मोंट-फोर्ड सुधारों की कमियों तथा कुछ अन्य सुधारों की आवश्यकताओं को रेखांकित कर रही थीं।

नेहरू रिपोर्टः नेहरू रिपोर्ट ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था की भरपूर आलोचना की तथा उसके स्थान पर अल्पसंख्यकों को जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देने की मांग की। इसने सम्पूर्ण भारत के लिये एक एकीकृत संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की, जिससे केंद्र तथा सभी प्रांतों को पूर्ण स्वायत्तता मिल सके।

लार्ड इरविन की डोमिनियन स्टेट्स से सम्बद्ध घोषणाः अक्टूबर 1929 में वायसराय ने रैम्जे मैक्डोनाल्ड के नेतृत्व में सत्ताधारी श्रमिक सरकार से विचार-विमर्श के उपरांत यह घोषणा की कि भारत में सुधारों का चरमोत्कर्ष डोमिनियन स्टेट्स प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त उसने साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर गोलमेज सम्मेलन में समीक्षा किये जाने की घोषणा भी की।

गोलमेज सम्मेलनों की भूमिकाः 1930, 1931 और 1932 में क्रमशः तीन गोलमेज सम्मेलन आयोजित किये गये, जिनका मुख्य उद्देश्य भारत में संवैधानिक विकास के मुद्दे पर विचार-विमर्श करना तथा आगे की रणनीति तय करना था। किंतु इन सम्मेलनों में कोई विशेष उपलब्धि हासिल नहीं हो सकी।

सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा तत्कालीन अन्य परिस्थितियांः 1932-33 के राष्ट्रीय आंदोलन को यद्यपि सरकार दमन का सहारा लेकर दबाने में सफल तो हो गयी, किंतु उसे यह अहसास हो गया कि दमन की नीति द्वारा राष्ट्रवादी भावनाओं को ज्यादा दिन तक दबाया नहीं जा सकता। आगामी समय में किसी आंदोलन के जन्म लेने की संभावना को खत्म करने के लिये सरकार राष्ट्रीय आंदोलन को स्थायी रूप से दुर्बल करने पर विचार करने लगी। उसने कांग्रेस को विभक्त करने की योजना बनायी। इसी परिप्रेक्ष्य में उसने 1935 का भारत शासन अधिनियम प्रस्तुत किया। क्योंकि उसे उम्मीद थी कि संवैधानिक सुधारों के इस अधिनियम से कांग्रेस के एक खेमे को संतुष्ट एवं औपनिवेशिक प्रशासन में समाहित कर लिया जायेगा तथा राष्ट्रवादी आंदोलन की बची हुई शक्ति को दमन से समाप्त कर दिया जायेगा। अपनी इन्हीं नीतियों को वास्तविकता का जामा पहनाने के लिये ब्रिटिश संसद ने अगस्त 1935 में 'गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935' पारित किया।

(नवंबर 1932 में तृतीय गोलमेज सम्मेलन, कांग्रेस की अनुपस्थिति में संपन्न हुआ। लेकिन विलिंगटन की अत्याचारी एवं आतंकवादी नीतियों के कारण सम्मेलन में कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं लिया जा सका)।

अधिनियम की मुख्य विशेषतायें

भारत सरकार अधिनियम, 1935 ब्रिटिश संसद ने अगस्त 1935 में पारित किया। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थे–

1. एक अखिल भारतीय संघः इस अधिनियम के अनुसार, प्रस्तावित संघ में सभी ब्रिटिश भारतीय प्रांतों, मुख्य आयुक्त के प्रांतों तथा सभी भारतीय प्रांतों का सम्मिलित होना अनिवार्य था, किंतु देशी रियासतों का सम्मिलित होना वैकल्पिक था। इसके लिये दो शर्तें थीं–(i) रियासत के प्रतिनिधियों में न्यूनतम आधे प्रतिनिधि चुनने वाली रियासतें संघ में सम्मिलित न हों (ii) रियासतों की कुल जनसंख्या में से आधी जनसंख्या वाली रियासतें संघ में सम्मिलित न हों। जिन शर्तों पर इन सभी रियासतों को संघ में सम्मिलित होना था, उनका उल्लेख एक पत्र (instrument of Accession) में किया जाना था। चूंकि यह नहीं हो सका, इसलिये यह संघ कभी अस्तित्व में नहीं आया तथा 1946 तक केंद्र सरकार, भारत सरकार अधिनियम 1919 के प्रावधानों के अनुसार ही चलती रही।

2. संघीय व्यवस्थाः *कार्यपालिका* • गवर्नर-जनरल केंद्र में समस्त संविधान का केंद्र बिंदु था।

• प्रशासन के विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया–सुरक्षित एवं हस्तांतरित। सुरक्षित विषयों में–विदेशी मामले, रक्षा, जनजातीय क्षेत्र तथा धार्मिक मामले थे–जिनका प्रशासन गवर्नर-जनरल को कार्यकारी पार्षदों की सलाह पर करना था। कार्यकारी पार्षद, केंद्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। हस्तांतरित विषयों में वे सभी अन्य विषय सम्मिलित थे, जो सुरक्षित विषयों में सम्मिलित नहीं थे। इन विषयों का प्रशासन गवर्नर-जनरल को उन मंत्रियों की सलाह से करना था, जिनका निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया गया था। ये मंत्री केंद्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे तथा अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर उन्हें त्यागपत्र देना अनिवार्य था।

• देश की वित्तीय स्थिरता, भारतीय साख की रक्षा, भारत या उसके किसी भाग में शांति की रक्षा, अल्पसंख्यकों, सरकारी सेवकों तथा उनके आश्रितों की रक्षा, अंग्रेजी तथा बर्मी माल के विरुद्ध किसी भेदभाव से उसकी रक्षा, भारतीय राजाओं के हितों तथा सम्मान की रक्षा तथा अपनी निजी विवेकाधीन शक्तियों की रक्षा इत्यादि के संबंध में गवर्नर-जनरल को व्यक्तिगत निर्णय लेने का अधिकार था।

व्यवस्थापिकाः संघीय विधान मंडल (व्यवस्थापिका) द्विसदनीय होना था। जिसमें राज्य परिषद (उच्च सदन) तथा संघीय सभा (निम्न सदन) थी। राज्य परिषद एक

स्थायी सदन था, जिसके एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक 3 वर्ष के पश्चात चुने जाने थे। इसकी अधिकतम सदस्य संख्या 260 होनी थी, जिसमें से 156 प्रांतों के चुने हुए प्रतिनिधि और अधिकतम 104 रियासतों के प्रतिनिधि होने थे। जिन्हें सम्बद्ध राजाओं को मनोनीत करना था। संघीय सभा का कार्यकाल पांच वर्ष होना था। इसके सदस्यों में से 250 प्रांतों के और अधिकाधिक 125 सदस्य रियासतों के होने थे। रियासतों के सदस्य सम्बद्ध राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाने थे, जबकि ब्रिटिश प्रांतों के सदस्य प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा चुने जाने थे।

• यह एक अत्यंत विचित्र व्यवस्था थी तथा साधारण प्रचलन के विपरीत थी कि उच्च सदन के सदस्यों का चुनाव सीधे मतदाताओं द्वारा किया जाये तथा निम्न सदन, जो ज्यादा महत्वपूर्ण था उसके सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष तरीके से हो।

• इसी प्रकार राजाओं को उच्च सदन के 40 प्रतिशत तथा निम्न सदन के 33 प्रतिशत सदस्य मनोनीत करने थे।

• समस्त विषयों का बंटवारा तीन सूचियों में किया गया—केंद्रीय सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची।

• संघीय सभा के सदस्य मंत्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव ला सकते थे। किंतु राज्य परिषद में अविश्वास प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता था।

• धर्म-आधारित एवं जाति-आधारित निर्वाचन व्यवस्था को आगे भी जारी रहने देने की व्यवस्था की गयी।

• संघीय बजट का 80 प्रतिशत भाग ऐसा था, जिस पर विधानमंडल मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता था।

• गवर्नर-जनरल के अधिकार अत्यंत विस्तृत थे। वह—(क) अनुदान मांगों में कटौती कर सकता था (ख) विधान परिषद द्वारा अस्वीकार किये गये विधेयक का अनुमोदन कर सकता था। (ग) अध्यादेश जारी कर सकता था। (घ) किसी विधेयक के संबंध में अपने निशेषाधिकार (Veto) का प्रयोग कर सकता था तथा (ङ) दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकता था।

3. प्रांतीय स्वायत्तताः • प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान कर दी गयी।

• प्रांतों को स्वायत्तता एवं पृथक विधिक पहचान बनाने का अधिकार दिया गया।

• प्रांतों को भारत सचिव एवं गवर्नर-जनरल के 'आलाकमान वाले आदेशों' से मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार अब वे प्रत्यक्ष और सीधे तौर पर महामहिम ताज (crown) के अधीन आ गये।

• प्रांतों को स्वतंत्र आर्थिक शक्तियां एवं संसाधन दिये गये। प्रांतीय सरकारें अपने स्वयं की साख पर धन उधार ले सकती थीं।

कार्यपालिका • गर्वनर, प्रांत में ताज का मनोनीत प्रतिनिधि होता था, जो महामहिम ताज की ओर से समस्त कार्यों का संचालन एवं नियंत्रण करता था।

• गवर्नर को अल्पसंख्यकों, लोक सेवकों के अधिकार, कानून एवं व्यवस्था, ब्रिटेन के व्यापारिक हितों तथा देशी रियासतों इत्यादि के संबंध में विशेष शक्तियां प्राप्त थीं।

• यदि गवर्नर यह अनुभव करे कि प्रांत का प्रशासन संवैधानिक उपबंधों के आधार पर नहीं चलाया जा रहा है, तो शासन का सम्पूर्ण भार वह अपने हाथों में ले सकता था।

व्यवस्थापिका • साम्प्रदायिक तथा अन्य वर्गों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया गया। अधिनियम के मतदाता मंडलों का निर्धारण साम्प्रदायिक निर्णय तथा पूना समझौते के अनुसार किया गया।

• प्रांतीय विधान मंडलों का आकार तथा रचना विभिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न थी। अधिकांश प्रांतों में यह एक सदनीय तथा कुछ प्रांतों में यह द्विसदनीय थी। द्विसदनीय व्यवस्था में उच्च सदन, विधान परिषद तथा निम्न सदन, विधान सभा थी।

• सभी सदस्यों का निर्वाचन सीधे तौर पर होता था। मताधिकार में वृद्धि की गयी। पुरुषों के समान महिलाओं को भी मताधिकार प्रदान किया गया।

• सभी प्रांतीय विषयों का संचालन मंत्रियों द्वारा किया जाता था। ये सभी मंत्री एक प्रमुख (मुख्यमंत्री) के अधीन कार्य करते थे।

• मंत्री, अपने विभाग के कार्यों के प्रति जवाबदेह थे तथा व्यवस्थापिका में उनके विरुद्ध मतदान कर उन्हें हटाया जा सकता था।

प्रांतीय, व्यवस्थापिका-प्रांतीय तथा समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बना सकती थी।

• अभी भी बजट का 40 प्रतिशत हिस्सा मताधिकार से बाहर था।

• गवर्नर- (क) विधेयक लौटा सकता था (ख) अध्यादेश जारी कर सकता था (ग) सरकारी कानूनों पर रोक लगा सकता था।

1935 के अधिनियम की अन्य धारायें: 1. संघीय न्यायालय की स्थापना।

2. नया संविधान अनम्य (Rigid) था। इसमें संशोधन करने की शक्ति केवल अंग्रेजी संसद को ही थी। भारतीय विधानमंडल केवल उसमें संशोधन का प्रस्ताव कर सकता था।

3. एक केंद्रीय बैंक (Reserve Bank of India) की स्थापना की गयी।

4. बर्मा तथा अदन को भारत के शासन से पृथक कर दिया गया।

5. उड़ीसा और सिंध दो नये प्रांत बनाये गये तथा उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत को गवर्नर के अधीन रख दिया गया।

अधिनियम का मूल्यांकन

गवर्नर-जनरल को प्रदान किये गये 'विशेष संरक्षण' एवं 'विशिष्ट उत्तरदायित्व' से अधिनियम के वास्तविक क्रियान्वयन में रुकावटें आयीं।''

• प्रांतों में भी गवर्नर को असीमित अधिकार थे।

• पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था ने कालांतर में साम्प्रदायिकता को उभारा तथा अंततः इसकी दुःखद परिणति 1947 के भारत के विभाजन के रूप में हुई।

• इस अधिनियम ने एक अनम्य (Rigid) संविधान प्रस्तुत किया, जिसमें आंतरिक विकास की कोई संभावना नहीं थी। संविधान संशोधन की शक्ति का ब्रिटिश संसद में निहित होना एक बड़ा दोष था।

• अधिनियम की संघीय व्यवस्था दोषपूर्ण थी। अधिनियम में जिस संघ के निर्माण की परिकल्पना की गयी थी, उसके प्रति न तो सरकार गंभीर थी न ही उसने इसके लिये कोई निश्चित प्रावधान किये थे। संघ में शामिल होने या न होने का निर्णय देशी रियासतों की मर्जी पर छोड़ दिया गया था। इसलिये संघ निर्माण की अवधारणा कभी पूर्ण नहीं हो सकी।

• इस अधिनियम ने केंद्र पर द्वैध शासन थोप दिया। जिस द्वैध शासन को साइमन कमीशन ने दोषपूर्ण बताया था, उसी व्यवस्था को केंद्र पर थोप दिया गया।

• इसमें भारत के राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की गयी।

• प्रांतीय स्वायत्तता नाममात्र की ही थी।

अंग्रेजी सरकार की दीर्घकालिक रणनीति

1935 से 1939 की अवधि में अंग्रेजी सरकार ने जो दीर्घकालिक रणनीति तय की, उसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार थे–

• अंग्रेजी सरकार का मत था कि दमन एक अस्थायी उपाय है। लंबी अवधि के लिये दमन की रणनीति अपनाने पर कांग्रेस का एक बड़ा तबका संघर्ष के संवैधानिक तरीकों को छोड़कर हिंसा का रास्ता स्वीकार कर सकता है। इसलिये दमन का मार्ग उचित नहीं है।

• उदारवादी तथा संवैधानिक नरमपंथी, जो सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान जन-समर्थन खो चुके हैं, सुधारों के द्वारा सरकार की ओर आकर्षित हो जायेंगे।

• संवैधानिक तथा अन्य रियासतों द्वारा संवैधानिक संघर्ष में आस्था रखने वाले लोगों को सरकार के प्रति निष्ठावान बनाया जा सकेगा और जन-आंदोलन की मुख्य धारा से पृथक किया जा सकेगा।

• एक बार सत्ता के स्वाद को चख लेने के पश्चात कांग्रेसी संघर्ष और बलिदान की राजनीति में वापस नहीं लौटेंगे।

• सुधारों के सवाल पर कांग्रेस विभाजित हो जायेगी तथा कांग्रेस में वामपंथियों तथा संविधानवादियों और दक्षिणपंथियों में संघर्ष प्रारंभ हो जायेगा। इससे राष्ट्रीय आंदोलन कमजोर पड़ जायेगा। तदुपरांत उदारवादियों को सुधारों से लुभाकर सरकार अपनी ओर कर लेगी तथा वामपंथियों को दमन से कुचल दिया जायेगा।

प्रमुख विचार

भारत शासन अधिनियम 1935 इसलिये पास किया गया, क्योंकि हम समझते थे कि भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व बरकरार रखने का.....यह सर्वोत्तम तरीका है।

लार्ड लिनलिथगो, वायसराय (1936-43)

हमें एक ऐसी कार दी गयी है, जिसमें अनेक ब्रेक हैं किंतु इंजन का अभाव है।

जवाहरलाल नेहरू, (1935 के अधिनियम के संदर्भ में)

भारत में संवैधानिक सुधारों की प्रक्रिया को प्रारंभ करना, उपनिवेशी शासन की ओर भारतीयों को आकृष्ट करने की चेष्टा है।

बी.आर. टॉमलिंसन

• प्रांतीय स्वायत्तता लागू होने से सशक्त प्रांतीय नेताओं का उदय होगा तथा धीरे-धीरे प्रांत राजनीतिक शक्ति के स्वायत्त केंद्र बन जायेंगे। इससे कांग्रेस प्रांतीय स्तर पर सिमट कर रह जायेगी तथा कांग्रेस का केंद्रीय नेतृत्व महत्वहीन तथा उपेक्षित हो जायेगा।

राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया

1935 के अधिनियम का सभी भारतीयों ने विरोध किया तथा कांग्रेस ने इसे एक स्वर से नामंजूर कर दिया। इन विचारों के स्थान पर कांग्रेस ने स्वतंत्र भारत के लिये संविधान बनाये जाने की मांग की। उसने मांग की कि अतिशीघ्र एक संविधान सभा का गठन किया जाये तथा इसके सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।

द्वितीय चरण की रणनीति पर बहस

1937 के प्रारंभ में प्रांतीय विधान सभाओं हेतु चुनाव कराने की घोषणा कर दी गयी तथा इसी के साथ ही सत्ता में भागीदारी के प्रश्न पर द्वितीय चरण की रणनीति पर बहस प्रारंभ हो गयी।

इस बात पर सभी राष्ट्रवादियों में आम सहमति थी कि 1935 के अधिनियम का पूरी तरह विरोध किया जाये। किंतु मुख्य प्रश्न यह था कि ऐसे समय में जबकि आंदोलन चलाना असंभव है, इसका विरोध किस तरह किया जाये। इस बात पर पूर्ण सहमति थी कि व्यापक आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम को आधार बनाकर कांग्रेस को ये चुनाव लड़ने चाहिए। इससे जनता में उपनिवेशी शासन के विरुद्ध चेतना का और प्रसार होगा। लेकिन चुनाव के पश्चात क्या किया जायेगा यह तय नहीं था। यदि चुनावों में कांग्रेसियों को प्रांतों में बहुमत मिला तो उसे सरकार बनानी चाहिए या नहीं?

इस मुद्दे को लेकर राष्ट्रवादियों के मध्य तीव्र मतभेद थे। इस मुद्दे पर बहस ने, एक बार पुनः वामपंथियों एवं दक्षिणपंथियों के मध्य उग्र रूप धारण कर लिया।

मत-भिन्नता

नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, कांग्रेस सोशलिस्ट एवं साम्यवादीः सत्ता में भागीदारी के खिलाफ थे, तथा 1935 के अधिनियम का विरोध किये जाने के पक्ष में थे। इन्होंने तर्क दिया कि सत्ता में भागीदारी करने का अर्थ 1935 के अधिनियम को स्वीकार करना तथा राष्ट्रवादियों द्वारा स्वयं को दोषी ठहराना होगा। इसका तात्पर्य बिना अधिकार के उत्तरदायित्व स्वीकार करना होगा। इसके साथ ही इससे जन-आंदोलन का क्रांतिकारी चरित्र समाप्त हो जायेगा तथा कांग्रेस, संसदीय कार्यों में इस प्रकार उलझ जायेगी कि साम्राज्यवादी शासन का एक अंग बनकर रह जायेगी तथा स्वतंत्रता, सामाजिक-आर्थिक न्याय और गरीबी दूर करने का उसका लक्ष्य अधूरा रह जायेगा।

इस संबंध में इन्होंने यह रणनीति सुझाई कि संसद में घुसकर सरकारी कदमों का विरोध किया जाये तथा ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी जायें, जिससे 1935 के अधिनियम का अमल संभव न हो सके। (उनकी यह रणनीति पुराने स्वराजियों की ही रणनीति थी)। दीर्घकालिक रणनीति के तहत इन्होंने सुझाव दिया कि मजदूरों और किसानों को वर्गीय आधार पर संगठित किया जाये तथा इन संगठनों को कांग्रेस से सम्बद्ध किया जाये। तत्पश्चात कांग्रेस को समाजवादी राह पर लाकर आंदोलन को पुनः प्रारंभ करने का प्रयत्न किया जाये।

सत्ता में भागीदारी के समर्थकः सत्ता में हिस्सेदार समर्थकों ने तर्क दिया कि वे भी 1935 के अधिनियम का विरोध करते हैं, किंतु सत्ता में भागीदारी, संसदीय संघर्ष की एक अल्पकालिक रणनीति है। यद्यपि इससे स्वतंत्रता हासिल नहीं की जा सकती किंतु मौजूदा राजनीतिक परिस्थितियों में संसदीय संघर्ष की राजनीति अपनाना ही श्रेयकर है, क्योंकि हमारे पास जन-आंदोलन का कोई और विकल्प नहीं है। अतः समय की आवश्यकता है कि जन-राजनीति को संसदीय राजनीति, उसमें हो रही गतिविधियों तथा प्रांतों की सरकारों से सम्बद्ध किया जाये, जिससे आंदोलन के लिये उपयुक्त राजनीतिक वातावरण निर्मित किया जा सके। यहां चुनाव के सिद्धांत से ज्यादा महत्वपूर्ण बात रणनीति की है। उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया कि इसके कई खतरे भी हैं तथा सत्ता में किसी भी पद को धारण करने वाला कांग्रेसी किसी गलत रास्ते पर भी जा सकता है। लेकिन हमें इन खतरों और बुराइयों से संघर्ष करना है न कि इनके डर से प्रशासन में भागीदारी का बहिष्कार करना है। हमें प्रशासन को स्वार्थपरक तथा अवसरवादी तत्वों के लिये नहीं छोड़ देना चाहिए। यदि कांग्रेस, प्रांतों में सरकारों का गठन करने में सफल होती है, तो सीमित अधिकारों के बावजूद मंत्री रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहित कर सकते हैं।

गांधीजी की स्थिति

इन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में सत्ता में भागीदारी का विरोध किया, किंतु 1936 के प्रारंभ होने तक वे कांग्रेस को सरकार बनाने का अवसर देने के पक्ष में राजी हो गये। 1936 के प्रारंभ में लखनऊ अधिवेशन और 1937 के अंत में फैजपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने चुनावों में भाग लेने, प्रशासन में भागीदारी के विरोध को स्थगित करने तथा सत्ता में भागीदारी के मुद्दे पर चुनाव के पश्चात विचार करने का निर्णय लिया।

कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र

कांग्रेस ने अपने घोषणा-पत्र में 1935 के भारत शासन अधिनियम को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया। इसके अतिरिक्त, उसने नागरिक स्वतंत्रता की बहाली, राजनीतिक बंदियों की रिहायी, कृषि के ढांचे में व्यापक परिवर्तन, भू-राजस्व और लगान में उचित कमी, किसानों को कर्ज से राहत तथा मजदूरों को हड़ताल करने, विरोध प्रदर्शन करने तथा संगठन बनाने के अधिकार देने इत्यादि का वचन दिया। गांधीजी ने किसी भी चुनावी सभा को संबोधित नहीं किया।

कांग्रेस का प्रदर्शन

कांग्रेस ने 1161 सीटों में से 716 स्थानों पर चुनाव लड़ा। असम, बंगाल, पंजाब, सिंध और उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत को छोड़कर शेष सभी प्रांतों में उसने स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया तथा बंगाल, असम और उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में वह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। कांग्रेस ने 6 प्रांतों में सरकार का गठन किया। चुनावों में उल्लेखनीय सफलता हासिल करने के कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई तथा नेहरू मानने लगे कि 'संघर्ष-समझौता-संघर्ष' की रणनीति ही सही रणनीति है।

सारांश

- **प्रथम चरण की बहस**
  (i) गांधीवादी विचारधारा का अनुसरण करते हुए रचनात्मक कार्य
  (ii) संवैधानिक संघर्ष और चुनावों में सहभागिता
  (iii) रचनात्मक कार्यों को दरकिनार करना और संवैधानिक संघर्ष—सविनय अवज्ञा आंदोलन—को जारी रखना
- **भारत सरकार अधिनियम, 1935**
  प्रस्तावित-एक अखिल भारतीय संघ, केंद्र में द्विसदनीय व्यवस्थापिका, प्रांतीय स्वायत्तता, विधान हेतु तीन सूचियां-केंद्रीय, प्रांतीय एवं समवर्ती।
  केंद्र में प्रशासन हेतु विषयों का सुरक्षित एवं हस्तांतरित वर्ग में विभाजन।

प्रांतीय व्यवस्थापिका के सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन।

1937 के प्रारंभ में प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं हेतु चुनाव संपन्न। कांग्रेस द्वारा बंबई, मद्रास, संयुक्त प्रांत, मध्यभारत, बिहार, उड़ीसा एवं पश्चिमोत्तर प्रांत में मंत्रिमंडलों का गठन।

- **दूसरे चरण की बहस**

नेहरू, सुभाष, कांग्रेस समाजवादी और साम्यवादियों ने सत्ता में भागीदारी का विरोध किया।

वामपंथियों ने गतिरोध को समाप्त करने के उद्देश्य से परिषद् में प्रवेश का प्रस्ताव रखा।

गांधी ने, प्रारंभ में सत्ता में भागीदारी का विरोध किया, लेकिन बाद में अपनी अनुमति दे दी।

कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (1936) और फैजपुर अधिवेशन (1937) में चुनाव लड़ने का निर्णय लिया गया।

अध्याय 21

प्रांतों में कांग्रेस शासन

जुलाई 1937 में कांग्रेस ने छह प्रांतों-बम्बई, मद्रास, मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार एवं संयुक्त प्रांत में मंत्रिमंडल का गठन किया। बाद में असम और पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत में भी उसने सरकार बनायी।

गांधीजी की सलाह

गांधीजी ने कांग्रेसियों को सलाह दी कि सरकार में शामिल होने के मुद्दे को वे सहजता से लें, गंभीरता से नहीं। यह कांटों का ताज है। इससे कोई गौरव प्राप्त नहीं होगा। ये पद इसलिये स्वीकार किये गये हैं, जिससे हम यह जान सकें कि हम अपने राष्ट्रवादी लक्ष्य की ओर अपेक्षित गति से आगे बढ़ रहे हैं या नहीं। गांधी ने सलाह दी कि 1935 के अधिनियम का उपयोग हुकूमत की उम्मीदों के अनुसार नहीं किया जाना चाहिए तथा हुकूमत जिस रूप में चाहती है, उस रूप में इसके इस्तेमाल से बचना चाहिए।

कांग्रेस द्वारा विभिन्न प्रांतों में सरकार के गठन से पूरा राष्ट्र पुलकित हो उठा। भारतीय ऐसा महसूस करने लगे मानो वे स्वयं के शासन में जी रहे हैं। सरकारों के गठन से कांग्रेस की प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई तथा इससे यह बात भी रेखांकित हुई कि यह न केवल जनता की विजय है, अपितु यह जनता की भलाई के लिए, जनता द्वारा, उसके प्रतिनिधियों को सौंपा हुआ उत्तरदायित्व है। अब जनता के प्रतिनिधि राज्य की शक्तियों का प्रयोग जनता के हित में करेंगे। लेकिन कांग्रेस के मंत्रियों के अधिकार और वित्तीय संसाधन सीमित थे। वे अपने प्रशासन द्वारा साम्राज्यवादी स्वरूप को परिवर्तित नहीं कर सकते थे तथा वे किसी क्रांतिकारी युग का सूत्रपात भी नहीं कर सकते थे।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के अधीन किये गये कार्य

नागरिक स्वतंत्रता

कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने नागरिक स्वतंत्रता की बहाली हेतु अनेक कदम उठायेः

- 1932 में जनसुरक्षा अधिनियम द्वारा प्रांतीय सरकारों को प्रदान किये गये सभी आपातकालीन अधिकार रद्द कर दिये।
- हिन्दुस्तान सेवा दल और यूथ लीग जैसे संगठन तथा पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं से प्रतिबंध हटा दिया गया।
- प्रेस पर लगाये गये प्रतिबंधों को समाप्त कर दिया गया।
- सरकारी विज्ञापन के लिये जिन प्रेसों को काली सूची में डाल दिया गया था, उनको उठा लिया गया।
- जब्त किये गये हथियार वापस लौटा दिये गये तथा रद्द किये गये लाइसेंस पुनः बहाल कर दिये गये।
- पुलिस के अधिकारों में कटौती कर दी गयी। पुलिस द्वारा जनता के बीच दिये गये व्याख्यान को दर्ज करने तथा गुप्तचर पुलिस द्वारा राजनीतिक कार्यकर्ताओं का पीछा किये जाने की व्यवस्था पर रोक लगा दी गयी।
- राजनीतिक बंदियों तथा जेल में बंद क्रांतिकारियों को रिहा कर दिया गया। राजनीतिक निर्वासन तथा नजरबंदी से संबंधित सभी आदेश रद्द कर दिये गये।
- बंबई में सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान जब्त की गयी भूमि, किसानों को वापस कर दी गयी।
- सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान बर्खास्त अधिकारियों के पेंशन-भत्ते पुनः प्रारंभ कर दिये गये।

गांधीजी ने कांग्रेसजनों से आग्रह किया कि वे ये सिद्ध करके दिखायें कि वे पुलिस और सेना की अत्यल्प सहायता से शासन चला सकते हैं। किंतु नागरिक स्वतंत्रता के संबंध में कांग्रेस मंत्रियों द्वारा किये गये कुछ कार्यों की आलोचना भी की गयी। जुलाई 1937 में एक समाजवादी नेता युसुफ मेहर अली को उत्तेजक भाषण देने के आरोप में मद्रास सरकार ने दंडित किया। इसी तरह अक्टूबर 1937 में एक समाजवादी कांग्रेसी नेता एस.एस. बाटलीवाला पर राजद्रोह भड़काने वाला भाषण देने का आरोप लगाया गया। इस कारण मद्रास सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया तथा उन्हें छह माह की सजा दी गयी।

बंबई के तत्कालीन गृहमंत्री के.एम. मुंशी ने साम्यवादी तथा वामपंथी कांग्रेसियों पर नजर रखने के लिये खुफिया विभाग का उपयोग किया।

कृषि सुधार

जमींदारी प्रथा को पूरी तरह समाप्त करके भी कांग्रेस ने कृषि ढांचे के कायाकल्प की कोशिश नहीं की। इसके निम्न प्रमुख कारण थेः

(i) मंत्रिमंडलों के पास पर्याप्त अधिकार नहीं थे।

(ii) इस कार्य के लिये उनके पास वित्तीय संसाधनों का घोर अभाव था, क्योंकि भारतीय राजस्व के अधिकांश हिस्से का उपयोग भारत की केंद्रीय सरकार करती थी।

(iii) कांग्रेसी मंत्रिमंडल मौजूदा प्रशासनिक ढांचे को किसी भी प्रकार से परिवर्तित नहीं कर सकते थे क्योंकि ऐसा करने का अधिकार केवल वायसराय या गवर्नरों के ही पास था।

(iv) विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्य बैठाना एक अन्य प्रमुख समस्या थी। विभिन्न वर्गों को साथ लेकर चलाया जाने वाला आंदोलन तभी प्रगति कर सकता था, जब विभिन्न प्रतिस्पर्धी हितों के बीच ताल-मेल बनाये रखा जाये।

(v) उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष करने हेतु भारतीयों को एकजुट करने के लिये आपसी सामंजस्य अत्यंत आवश्यक था।

(vi) कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पास ज्यादा समय नहीं था।

(vii) 1938 के बाद यूरोप में युद्ध के बादल मंडराने लगे।

(viii) लगभग सभी कांग्रेस-शासित राज्यों यथा-बंबई, बिहार, मद्रास, असम और संयुक्त प्रांत में प्रतिक्रियावादी तत्वों वाला द्वितीय सदन मौजूद था, जिसे विधान परिषद (लेजिस्लेटिव काऊंसिल) के नाम से जाना जाता था। इसमें जमीदारों, भूस्वामियों, पूंजीपतियों और सूदखोरों का वर्चस्व था। इन परिषदों में कांग्रेस अल्पमत में थी। अतः किसी भी कानून को पास कराने के लिये सरकार को इन तत्वों से समझौता करना पड़ता था।

(ix) कृषि का ढांचा अत्यंत जटिल और उलझा हुआ था।

किंतु इन अवरोधों के पश्चात भी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने कृषि ढांचे में अनेक सुधार किये तथा अनेक विधानों का निर्माण किया। ये विधान—भू-सुधार, ऋणग्रस्तता से राहत, वनों में पशुओं को चराने की अनुमति, भू-राजस्व की दरों में कमी तथा नजराना व बेगारी जैसे गैर-कानूनी कार्यों को समाप्त करने इत्यादि से संबंधित थे।

किंतु ये सभी लाभ मुख्यतया बड़े काश्तकारों को ही प्राप्त हुए तथा उप-काश्तकार इनसे ज्यादा लाभान्वित नहीं हो सके। खेत मजदूरों पर भी इसका कोई असर नहीं पड़ा।

मजदूरों के प्रति नजरिया

कांग्रेस मंत्रिमंडलों का रुख मजदूर समर्थक था। इनका आधारभूत दृष्टिकोण था—मजदूरों के हितों की रक्षा तथा औद्योगिक शांति की स्थापना। इन्होंने हड़तालों का कम से कम आयोजन करने तथा हड़ताल पर जाने के पहले अनिवार्य मध्यस्थता

की वकालत की। मजदूरों और मालिकों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों की स्थापना हेतु उन्होंने कांग्रेस के कार्यकर्ताओं तथा कांग्रेसी मंत्रियों को मध्यस्थ बनाने की सलाह दी। इसके साथ ही इन्होंने श्रमिकों की माली हालत सुधारने तथा उनकी मजदूरी में वृद्धि करने के प्रयास भी किये।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने उग्रवादी मजदूर संघ की हड़तालों को कानून एवं व्यवस्था के रूप में हल किया तथा जहां तक संभव हो सका, इनके लिये मध्यस्थ की भूमिका निभायी। इस रणनीति को काफी सफलता मिली, किंतु, बंबई में यह उतनी सफल नहीं रही। इसके अतिरिक्त वामपंथी आलोचक भी इस व्यवस्था से उतने संतुष्ट नहीं थे। आंदोलनकारी मजदूरों के विरुद्ध उन्होंने धारा 144 का इस्तेमाल किया तथा कई अवसरों पर मजदूर नेताओं को गिरफ्तार भी किया गया।

जवाहरलाल नेहरू व्यक्तिगत तौर पर जन-आंदोलन के विरोध प्रदर्शन के प्रति कांग्रेस मंत्रिमंडलों के व्यवहार से अप्रसन्न थे। किंतु अपनी अप्रसन्नता को उन्होंने सार्वजनिक तौर पर कभी व्यक्त नहीं किया। जनता के बीच उन्होंने कांग्रेस मंत्रिमंडलों का समर्थन किया तथा उनके कदमों को उचित बताया। इसके अतिरिक्त गांधीजी भी उग्रवादी एवं हिंसक तरीके अपनाये जाने के विरुद्ध थे। उन्होंने जनसामान्य को राजनीतिक शिक्षा दिये जाने का प्रयास किया। उन्होंने महसूस किया कि कांग्रेस को अपना लोकप्रिय जनाधार नहीं खोना चाहिए। उन्होंने कांग्रेसजनों से प्रशासन चलाने के लिये साम्राज्यवादी तौर-तरीके न अपनाने की सलाह की।

समाज कल्याण संबंधी सुधार

इन सुधारों में निम्न प्रावधान सम्मिलित थे–

- कुछ निश्चित क्षेत्रों में शराब निषेध लागू कर दिया गया।
- हरिजनों के कल्याण हेतु अनेक उपाय लागू किये गये। जिनमें–मंदिरों में प्रवेश, सामान्य नागरिक सुविधाओं का प्रयोग, छात्रवृत्तियां, पुलिस एवं सरकारी नौकरियों में इसकी संख्या में वृद्धि इत्यादि सम्मिलित थे।
- प्राथमिक, तकनीकी एवं उच्च शिक्षा की ओर ज्यादा ध्यान दिया गया तथा लोक स्वास्थ्य एवं स्वच्छता जैसे मुद्दों को प्राथमिकता दी गयी।
- अनुदान एवं अन्य तरीकों द्वारा खादी के प्रयोग को प्रोत्साहित किया गया।
- बंदी सुधार प्रारंभ किये गये।
- स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया।
- राष्ट्रीय योजना के विकास को प्रोत्साहित करने हेतु 1938 में कांग्रेस अध्यक्ष सुभाषचंद्र बोस ने 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन किया गया।

कांग्रेस की अन्य संसदीय जन-गतिविधियां

इन गतिविधियों में निम्न प्रयास सम्मिलित थे–

- जन-शिक्षा अभियान की स्थापना।

● कांग्रेस पुलिस स्टेशनों एवं पंचायतों की स्थापना।

● कांग्रेस लोक शिकायत समितियों की स्थापना; जिसका कार्य लोक शिकायतों को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना था। एवं

● राज्यों के लोक आंदोलन।

मूल्यांकन

यद्यपि 1939 के अंत तक कांग्रेसियों के मध्य, सत्ता के लिये अवसरवादिता, आंतरिक कलह एवं जोड़-तोड़ के प्रयास जैसी बुराइयां परिलक्षित होनी लगी थीं किंतु फिर भी उनके संसदीय कार्यों ने उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि की तथा जनता के मध्य उनके आधार को पुख्ता किया। कांग्रेस का 28 माह का शासन निम्न कारणों से भी महत्वपूर्ण था–

● यह धारणा सिद्ध हो गयी कि मौलिक सामाजिक संक्रमण के लिये भारतीय स्व-शासन आवश्यक है।

● मंत्रिमंडलों ने भारतीयों के सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये।

● मंत्रिमंडलों ने सांप्रदायिकता को रोकने के सार्थक एवं सफल प्रयास किये।

● अंग्रेजी नौकरशाही के मनोबल में कमी आ गयी।

● कांग्रेस के संसदीय कार्यों ने तब तक के विरोधी तत्वों पर अंकुश लगाया जैसे-जमींदार इत्यादि।

● लोगों को एक ऐसा खाका खींचने में मदद मिली, जैसे कि उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली हो।

● मंत्रिमंडलों के प्रशासनिक कार्यों ने इस भ्रांति को तोड़ दिया कि भारतीय शासन करने में सक्षम नहीं हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न राजनीतिक संकटों के चलते, अक्टूबर 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया।

सारांश

- **मंत्रियों/पदाधिकारियों को गांधीजी का परामर्श**
  पद का इस्तेमाल ब्रिटिश शासन द्वारा निर्धारित या अपेक्षानुरूप नहीं होना चाहिए।
  पद का लोभ न करें, उसे त्यागने के लिए तैयार रहें।
- **कांग्रेस मंत्रालयों के अधीन कार्य**
  नागरिक स्वतंत्रताओं की बहाली हेतु कदम उठाए।
  प्रेस पर लगे प्रतिबंधों को हटाया।
  राजनीतिक कैदियों एवं क्रांतिकारियों को मुक्त किया।
  विभिन्न संगठनों, पुस्तकों एवं जर्नल्स से प्रतिबंध हटाया।
  सविनय अवज्ञा आंदोलन से सम्बद्ध अधिकारियों की पेंशन को पुनः शुरू किया।

इकाई

8 स्वतंत्रता एवं विभाजन की ओर (1939–1947)

- द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया
- भारत छोड़ो आंदोलन, आजाद हिंद फौज एवं पाकिस्तान की मांग
- युद्धोपरांत राष्ट्रीय परिदृश्य
- स्वतंत्रता एवं विभाजन

अध्याय 22

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया

राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया

वर्ष 1919 की वर्साय संधि, जिसके द्वारा प्रथम विश्व युद्ध का अंत हुआ था, बड़ी यूरोपीय शक्तियों के बीच विद्यमान तनावों को दूर नहीं कर सकी थी। द्वितीय विश्व युद्ध यूरोपीय शक्तियों के बीच विद्यमान प्रतिद्वंद्विता तथा दो युद्धों के बीच के वर्षों के दौरान यूरोप में चलने वाले घटना-चक्र का परिणाम था। 1 सितम्बर, 1939 को जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया और द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारंभ हुआ। 3 सितम्बर, 1939 में ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। ब्रिटेन का एक उपनिवेश होने के नाते भारत को अपनी जनता की इच्छाओं के विरुद्ध इस युद्ध में शामिल होना पड़ा। इसके कारण भारतीय जनता को असंख्य कष्ट झेलने पड़े और साथ ही इसने भारत में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को भी प्रभावित किया। इस युद्ध के दौरान

विभिन्न उपनिवेशों में मुक्ति आंदोलनों में तीव्रता आई थी और साम्राज्यवादी नियंत्रण कमजोर पड़ गया था।

हरिपुरा एवं त्रिपुरी अधिवेशन

हरिपुरा अधिवेशनः वर्ष 1938 तक, जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस कांग्रेस के कद्दावर प्रवक्ताओं के तौर पर उभर चुके थे। इसी समय कांग्रेस विचारधारा को लेकर दो गुटों में विभाजित हो चुकी थी। एक परम्परावादी गुट था, और दूसरा आमूल-चूल परिवर्तनवादी गुट था। गांधीजी सक्रिय राजनीति से बाहर हो चुके थे और वे हरिजनों के उन्नयन के कार्य में लग गए।

हिंसा और अहिंसा के बीच, समाजवादी विचारधारा के नवीन विकास के बीच, कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के विरुद्ध दबे हुए रोष के बीच, जो स्वतंत्रता के प्रति प्रगति को लेकर धीमे पड़ गए थे, और विचारधाराओं के संघर्ष के बीच, कांग्रेस 19-21 फरवरी, 1938 में विट्ठल नगर, हरिपुरा में मिली। सुभाष चंद्र बोस इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे।

हरिपुरा अधिवेशन में सुभाष चंद्र बोस के अंतर्गत एक प्रस्ताव पारित किया गया कि ब्रिटेन को भारत को स्वतंत्र करने हेतु छह माह का समय दिया जाना चाहिए, जिसके विफल होने पर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह किया जाएगा। गांधीजी इस बात से असहमत थे। सुभाष चंद्र बोस ने ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए गांधीजी के अहिंसा और सत्याग्रह की तकनीकों को नहीं माना। इसके परिणामस्वरूप गांधी और सुभाष चंद्र बोस के बीच स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके को लेकर एक खाई पैदा हो गई। यह खाई और चौड़ी तब हो गई जब सुभाष चंद्र बोस ने राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया। इसका उद्देश्य औद्योगीकरण पर आधारित भारत के आर्थिक विकास के लिए व्यापक योजना का निर्माण करना था। यह गांधीजी की चरखा नीति के विरुद्ध था।

कांग्रेस संकट एवं त्रिपुरी अधिवेशनः 1939 का त्रिपुरी कांग्रेस सत्र भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में संकट की घड़ी थी। कांग्रेस के अनुदारवादी नेतृत्व के संयुक्त प्रतिरोध एवं असहयोग ने कांग्रेस के अधिवेशन (1939) में हाल ही में चुने गए कांग्रेस अध्यक्ष सुभाष चंद्र बोस को हटाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। हालांकि, सुभाष चंद्र बोस के विभिन्न कार्यों से प्रभावित होकर गांधी जी ने उन्हें 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेस का राष्ट्राध्यक्ष घोषित किया। ज्ञातव्य हो कि सरदार वल्लभ भाई पटेल ने गांधी द्वारा सुभाष को राष्ट्राध्यक्ष बनाए जाने का विरोध किया था, लेकिन गांधीजी ने पटेल की आपत्ति को खारिज कर दिया।

दरअसल, हरिपुरा के अधिवेशन में सुभाष चंद्र बोस के प्रथम अध्यक्षीय भाषण को सुनकर ही गांधीजी उनकी भिन्न कार्यशैली को भांप गए थे। इसके बाद गांधी व सुभाष के संबंध कभी मधुर नहीं हो सके। वस्तुतः सुभाष चंद्र बोस की स्वतंत्रता आंदोलन के प्रति कठोर पद्धति एवं शैली तथा स्टालिनवादी साम्यवाद और बेनिटो मुसोलिनो के

फासिज्म जैसी अलोकतांत्रिक विचारधाराओं की प्रशंसा एवं झुकाव ने उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नरमदलीय नेताओं से दूर कर दिया। कांग्रेस के दो गुटों के बीच की दूरी ने, अंततः उन्हें अलग हो जाने के लिए बाध्य किया।

हरिपुरा कांग्रेस के बाद बोस ने जिस वर्किंग कमेटी की नियुक्ति की थी, उसमें जवाहरलाल नेहरू के अतिरिक्त (1936 में जवाहरलाल नेहरू द्वारा किए गए नामांकनों के विपरीत) एक भी वामपंथी नहीं था और उन्होंने श्रमिक एवं किसान संघर्षशीलता के प्रति कांग्रेसी मंत्रिमंडलों एवं हाईकमान के अधिक वैमनस्यपूर्ण रवैये को रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया। वर्ष 1938 के उत्तरार्द्ध में अंतरराष्ट्रीय संबंध निरंतर बिगड़ते गए और यूरोप के आसमान में युद्ध के बादल मंडराने लगे।

1939 में, जब पूरा विश्व दूसरे विश्व युद्ध के मुहाने पर खड़ा था, तब सुभाष चंद्र बोस कांग्रेस का एक ऐसा राष्ट्रीय अध्यक्ष चाहते थे, जो गरम दल से हो और अंग्रेजों के बुरे दौर में उन पर हावी होकर देश को आजाद करवा सके। द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन अपने सबसे कमजोर दौर में होगा और केवल एक गरम दल (लेफ्ट विंग) का उग्र नेता ही उनके घुटने टिकवा सकता है, यही सोचकर सुभाष या तो स्वयं पुनः राष्ट्राध्यक्ष बनवाना चाहते थे या अपनी विचारधारा वाले किसी अन्य को राष्ट्राध्यक्ष बनवाना चाहते थे। इसके विपरीत गांधीजी ऐसा नहीं चाहते थे।

दरअसल वर्ष 1938 तक कांग्रेस में बिना चुनावों के (गांधीजी की सलाह पर) एकमत से राष्ट्राध्यक्ष का चुनाव होता आया था। गांधीजी के कांग्रेस में पदार्पण के पश्चात्, प्रथम बार किसी ने गांधीजी की सत्ता को चुनौती दी थी। इसलिए कांग्रेस में कई वर्षों के पश्चात् राष्ट्रयक्ष पद के लिए चुनावों की घोषणा हुई थी। 1939 का चुनाव जहां एक तरफ नरम दल (दक्षिणपंथ–राइट विंग) और गरम दल के मध्य सीधा युद्ध था, वहीं यह 'गांधी बनाम सुभाष' नामक नवीन दिशा का श्रीगणेश भी था।

पूरा वामपंथ चुनाव में सीतारमैया के विरुद्ध सुभाष के साथ था। मौलाना आजाद द्वारा अपना नाम वापस ले लेने पर गांधीजी ने सीतारमैया को ही अपना प्रत्याशी घोषित किया। 29 जनवरी, 1939 को सुभाष चंद्र बोस 1377 के मुकाबले 1580 मतों से चुने गए। सुभाष चंद्र बोस के चुने जाने से कांग्रेस में उग्रवादी विचारधारा अधिक सुदृढ़ हुई। लेकिन अत्यंत श्रेष्ठतर रणनीति एवं वामपंथ की एकता के अभाव के कारण गांधीजी और कांग्रेस के दक्षिणपंथ ने स्पष्ट रूप से निर्णायक पराजय को विजय में परिवर्तित कर दिया। गांधीजी ने तत्काल इस मामले को निजी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। 31 जनवरी, 1939 को गांधीजी ने बयान जारी किया कि "श्री सुभाष चंद्र बोस ने अपने प्रतिद्वंदी डा. सीतारमैया पर एक निर्णायक विजय प्राप्त की है। मुझे स्वीकार करना होगा कि शुरुआत से ही मैं निश्चित तौर पर उसके पुनर्निर्वाचन के कुछ ऐसे कारणों से विरुद्ध था, जिनके बारे में अब जिक्र नहीं करना चाहता। मैं उसके घोषणापत्र के तथ्यों और तर्कों से सहमत नहीं हूं। मेरा मानना है कि अपने साथियों

के लिए उनके संदर्भ अनुचित और महत्वहीन हैं। क्योंकि मैं मौलाना आजाद द्वारा अपना नाम वापस लिए जाने के बाद डा. सीतारमैया को नाम वापस न लेने देने के लिए जिम्मेदार हूं, यह सीतारमैया से अधिक मेरी हार है''।

22 फरवरी, 1939 को कार्यकारिणी के 15 में से 13 सदस्यों ने यह कहते हुए त्यागपत्र दे दिया कि सुभाष ने सार्वजनिक रूप से उनकी आलोचना की है। पार्टी के भीतर और अंतरराष्ट्रीय संकट की छाया में कांग्रेस त्रिपुरी में मिली। हालांकि, सुभाष चंद्र बोस 3 फरवरी, 1939 को ही घोषणा कर चुके थे कि यदि वे 'देश के महानतम व्यक्ति का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकते, तो उनकी चुनावी जीत निरर्थक है'। त्रिपुरी अधिवेशन (8-12 मार्च) के समय बोस बीमार थे, लेकिन ऐसा होते हुए भी आश्चर्यजनक रूप से लगभग पूर्व दृष्टि के साथ उन्होंने आगाह किया कि छह महीनों के भीतर यूरोप में साम्राज्यवादी युद्ध शुरू हो जाएगा, और उन्होंने मांग रखी कि ''कांग्रेस को ब्रिटेन को छह माह में देश छोड़ने की अंतिम चेतावनी देनी चाहिए और ऐसा न कर पाने पर एक राष्ट्रव्यापी 'पूर्ण स्वराज्य' के लिए आंदोलन चलाया जाना चाहिए''। उनकी चेतावनी और सलाह पर ध्यान नहीं दिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके एवं अन्य को लेकर गांधी एवं सुभाष के मध्य मतैयक्ता एवं मत-भिन्नता

महात्मा गांधी एवं सुभाष चंद्र बोस दो प्रसिद्ध व्यक्ति थे, जो अपने राजनीतिक सदाचार और नीतिपरक रुतबे में अत्यधिक विशाल थे। दोनों ही भारत माता के सच्चे सपूत थे। 1915 में, दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पश्चात्, जल्द ही गांधीजी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्विवाद नेता बन गए। उन्होंने निःशस्त्र, राजनीतिक रूप से अधीन, गूंगे एवं अशिक्षित जनमानस को निडर, अहिंसक, राजनीतिक रूप से जागरूक, पुनरुत्थित नागरिक सेना में परिवर्तित कर दिया।

सुभाष चंद्र बोस, जो गांधीजी से 28 वर्ष छोटे थे, ने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में अपने अमिट योगदान देने के लिए भारतीय सिविल सेवा (आईसीएस) जैसे सुनहरे भविष्य को त्याग दिया। वर्ष 1920 में उनका चयन आईसीएस में हुआ। जलियांवाला बाग के जघन्य नरसंहार के पश्चात् अप्रैल 1921 में त्यागपत्र देने के पश्चात् वे भारत लौट आए।

सुभाष और गांधीजी के बीच संबंध की शुरुआत 16 जुलाई, 1921 को बॉम्बे में उनके बीच मुलाकात से हुई। सुभाष चंद्र बोस मार्गदर्शन के लिए गांधीजी के पास आए। गांधीजी ने सुभाष के मन में भारत की स्वतंत्रता के लिए धुन को जान लिया और उन्हें देशबंधु चितरंजन दास के पास भेजा। इस प्रकार, चितरंजन दास सुभाष चंद्र बोस के राजनीतिक गुरू हुए।

सुभाष चंद्र बोस के लिए, गांधी हमेशा भारत के महानतम व्यक्ति रहेंगे। उन्होंने

स्वतंत्रता संघर्ष में गांधीजी को जनता का निर्विवाद एवं अद्वितीय नेता स्वीकार किया। सुभाष चंद्र बोस ने गांधीजी की अविचल राष्ट्रभक्ति, चारित्रिक दृढ़ता, सत्य के प्रति प्रेम इत्यादि की प्रशंसा की। वास्तव में बोस ने गांधीजी के एकल समर्पण, उनकी अदम्य इच्छा और उनके अथक परिश्रम के आगे सिर झुकाया।

गांधी जी के लिए, सुभाष भारत माता का ऐसा सपूत था, जिसका आत्मसमर्पण एवं आत्मबल, अखण्डता और राष्ट्रहित के प्रति प्रतिबद्धता और समस्त भारतीय जनमानस को एक साथ जोड़े रखने की विलक्षण क्षमता थी।

गांधी एवं बोस दोनों ही पूरी तरह ईमानदारी व्यक्ति थे। वे अंतरराष्ट्रीयतावादी और मानववादी थे। वे कार्यप्रणाली में धर्मनिरपेक्ष और दृष्टिकोण में नस्लवाद के विरुद्ध थे। किसी भी परिस्थिति में, उनकी तल्लीनता अपनी मातृभूमि की मुक्ति को लेकर थी। स्वतंत्रता संघर्ष के दोनों ही नेताओं का समस्त जीवन भारतीय स्वतंत्रता को समर्पित था। वास्तव में दोनों की जीवनपर्यन्त तपस्या, अंततः उनके जीवन की आहुति के साथ समाप्त हुई।

उपर्युक्त मतैयक्ता एवं समानता के बावजूद, गांधी एवं सुभाष के बीच स्पष्ट मतभेद थे और राजनीतिक जीवन में दोनों एक-दूसरे के विरोधी थे। युवा नेताजी उग्र राष्ट्रवादी थे और तिलक और अरविंदो की परम्परा में विश्वास रखते थे। दूसरी ओर, गांधीजी एक ऐसे राष्ट्रवादी थे जो अपने गुरू गोखले और टैगोर की परम्परा में विश्वास रखते थे।

सुभाष बोस जल्द ही भारत की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के पक्षधर थे, जबकि कांग्रेस कमेटी डोमिनियम स्टेट्स के माध्यम से चरणों में स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहती थी। सुभाष बोस का मानना था कि महात्मा गांधी की अहिंसा की पद्धति से भारत की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकेगी और वो हिंसक प्रतिरोध की वकालत करते थे।

अपनी पुस्तक 'इंडियन स्ट्रगल' में, जो 1934 में प्रकाशित हुई, सुभाष चंद्र बोस ने लिखा कि, 'यदि महात्मा गांधी तानाशाह स्टालिन, मुसोलिनी या हिटलर, जॉन बुल की भाषा में बोलते तो उन्हें सुना और समझा जाता और उनके सम्मान में सिर झुकाए जाते'। ऐसा सुभाष चंद्र बोस ने द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधीजी की भूमिका को लेकर कहा और वे चाहते थे कि गांधीजी को सम्मेलन में दृढ़ता से अपनी बात रखनी चाहिए थी। हालांकि, सुभाष चंद्र बोस ने गांधीजी के दांडी मार्च और नमक सत्याग्रह (1930) की प्रशंसा की और उन्होंने लिखा कि ''दांडी मार्च की घटना उतनी ही ऐतिहासिक महत्व की थी, जितनी नेपालियन की पेरिस मार्च की घटना थी''। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं को सफलतापूर्वक शामिल करने के लिए उनकी प्रशंसा की।

1937 में गांधीजी ने महसूस किया कि सुभाष चंद्र बोस की शक्ति और प्रतिभा की अब अधिक उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए और उन्होंने सुभाष को 1938 में हरिपुरा

में आयोजित कांग्रेस के 51वें अधिवेशन में अध्यक्ष चुना, जबकि वे कांग्रेस पार्टी के सदस्य भी नहीं थे। दुर्भाग्यपूर्ण रूप से, बोस और गांधी के बीच यह गठबंधन देश और कांग्रेस दोनों के लिए सही नहीं रहा। सुभाष ने न केवल गांधीजी के प्रसिद्ध चरखे की निंदा की, अपितु आधुनिकृत भारत का आह्वान किया। उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ लोगों को सशस्त्र संघर्ष करने के लिए एकजुट होने का आह्वान किया।

सुभाष चंद्र बोस ने 20 जून, 1940 को महात्मा गांधी से बात की और उन पर दबाव डाला कि उन्हें द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन की खराब स्थिति का फायदा उठाते हुए स्वतंत्रता आंदोलन का आह्वान करना चाहिए और यह एक सुअवसर है। गांधीजी उनकी बात से सहमत नहीं हुए। 2 अक्टूबर, 1943 को गांधीजी के जन्म दिवस पर बैंकॉक से अपने प्रसारण में उन्होंने गांधीजी की प्रशंसा की और अपनी श्रद्धा प्रकट की और कहा कि, 'भारत के प्रति महात्मा गांधी द्वारा दी गई सेवाएं एवं बलिदान अद्वितीय और अतुलनीय है, जिसके लिए उनका नाम हमारे राष्ट्रीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा।

यहां तक कि गांधीजी सुभाष बोस के स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके से भिन्न होते हुए भी, उन्होंने सुभाष चंद्र बोस के देश की स्वतंत्रता के लिए अथक प्रयासों की सराहना की। एक मौके पर गांधीजी ने सुभाष को लिखा कि 'देश के प्रति आपका प्रेम और आजादी की प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय अदम्य एवं विलक्षण है। आपकी सजगता पारदर्शी है। भारत छोड़ो आंदोलन के प्रारंभ के मौके पर गांधीजी ने सुभाष बोस को 'देशभक्तों का देशभक्त' कहा।

इस प्रकार गांधीजी और सुभाष चंद्र बोस ने उनके सम्मुख सभी समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। दोनों ने ईमानदारीपूर्वक अपने मतभेदों को स्वीकार किया। उनका आपसी संबंध सच्चाई, पारदर्शिता, बलिदान एवं पीड़ा पर आधारित था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि, अंत तक दोनों की एक दूसरे के प्रति गहरी संवेदना एवं सम्मान था।

फॉरवर्ड ब्लॉक का गठन

दक्षिणपंथ ने गोविंदवल्लभ पंत के प्रसिद्ध प्रस्ताव के माध्यम से अपना आक्रमण किया, जिसमें पुरानी कार्यकारिणी में विश्वास व्यक्त किया गया था। विगत् 20 वर्षों में अपनाई जाने वाली गांधीवादी नीतियों में आस्था की बात को दोहराया गया था और सुभाष चंद्र बोस से कहा गया था कि वे गांधीजी की इच्छानुसार अपनी नई कार्यकारिणी का चयन करें। *पंत प्रस्ताव* विषय समिति में 133 के मुकाबले 218 मतों से भारी बहुमत से पारित हुआ। सुभाष के पक्ष की मौलिक कमजोरी, विशेषतया वामपंथ के बिखराव के संदर्भ में, तब प्रकट हुई जब वे 29 अप्रैल, 1939 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कलकत्ता बैठक में गांधीजी की यह चुनौती स्वीकार नहीं कर सके कि ''आप अपनी कमेटी का चयन करने के लिए स्वतंत्र हैं''। आखिर उन्होंने

त्यागपत्र दे दिया और मई 1939 में कांग्रेस के भीतर फॉरवर्ड ब्लॉक के निर्माण की घोषणा की।

11 अगस्त, 1939 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सुभाष बोस को बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद से हटा दिया और उन्हें तीन वर्ष तक कांग्रेस में किसी भी पद के लिए अयोग्य घोषित कर दिया गया। 1 सितंबर, 1939 में युद्ध छिड़ जाने के बाद इस बात का भी खतरा हो गया था कि कांग्रेसी सरकारों को युद्ध विरोधी कांग्रेस प्रदर्शनकारियों के विरुद्ध ही नई आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग करना पड़ेगा। भारत को साम्राज्यवादी युद्ध में घसीटा गया। इस प्रकार, 29-30 अक्टूबर, 1939 को सात प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया, जो तर्कसंगत और अपरिहार्य था। महात्मा गांधी ने घोषणा की कि वह युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार को परेशान नहीं करेंगे।

कांग्रेस की स्थिति

कांग्रेस, ब्रिटेन की उम्मीद से कहीं अधिक फासीवाद, नाजीवाद, सैन्यवाद तथा साम्राज्यवाद की विरोधी हो गयी। किन्तु युद्ध में कांग्रेस के समर्थन का प्रस्ताव दो आधारभूत मांगों पर आधारित थाः

1. युद्धोपरांत संविधान सभा की बैठक आहूत की जानी चाहिये, जो स्वतंत्र भारत की राजनीतिक संरचना पर विचार करेगी। तथा

2. अतिशीघ्र, केंद्र में किसी प्रकार की वास्तविक एवं उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाये।

वायसराय लिनलिथगो ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। किंतु कांग्रेस ने स्पष्ट किया कि युद्ध में भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने के लिये सरकार को उक्त मांगें मानना अत्यन्त आवश्यक है।

कांग्रेस कार्य समिति की वर्धा में आयोजित बैठक (10-14 सितम्बर, 1939): इस बैठक में भारत द्वारा ब्रिटेन को युद्ध में समर्थन देने के मुद्दे पर विभिन्न विचार प्रतिध्वनित हुए–

गांधीजी इन्होंने मित्र राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। गांधीजी का मत था कि पश्चिम यूरोप के लोकतांत्रिक राज्यों और हिटलर का नेतृत्व स्वीकार करने वाले निरंकुशतावादी राज्यों में स्पष्ट अंतर है।

सुभाषचन्द्र बोस और समाजवादी इनका तर्क था कि चूंकि यह युद्ध साम्राज्यवादी है तथा दोनों पक्ष अपने-अपने औपनिवेशिक हितों के लिये युद्धरत हैं, फलतः किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं किया जा सकता। कांग्रेस को इस स्थिति का लाभ उठाकर स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये तुरंत सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ कर देना चाहिये।

नेहरू ने फासीवाद और लोकतंत्र के बीच स्पष्ट भेद प्रकट किया। उनका दृष्टिकोण यह था कि फ्रांस, ब्रिटेन और पोलैंड का पक्ष न्यायोचित है, किन्तु फ्रांस और ब्रिटेन साम्राज्यवादी नीतियों वाले देश हैं और द्वितीय विश्वयुद्ध, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् पूंजीवाद के गहराते हुए अंतर्विरोधों का परिणाम है। अतः भारत को स्वतंत्र होने से पूर्व न ही युद्ध में सम्मिलित होना चाहिये और न ही ब्रिटेन की परेशानियों का लाभ उठाकर आंदोलन प्रारम्भ करना चाहिये।

कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रस्ताव पारित कर फासीवाद तथा नाजीवाद की भर्त्सना की। प्रस्ताव में कहा गया कि—(i) भारत किसी ऐसे युद्ध में सम्मिलित नहीं हो सकता, जो प्रत्यक्षतः लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के लिये लड़ा जा रहा हो, जबकि खुद उसे ही स्वतंत्रता से वंचित रखा जा रहा हो। (ii) यदि ब्रिटेन प्रजातांत्रिक मूल्यों तथा स्वाधीनता की रक्षा के लिये युद्ध कर रहा है, तो उसे भारत को स्वाधीनता प्रदान कर यह सिद्ध करना चाहिये। (iii) सरकार को अतिशीघ्र ही अपने युद्ध के उद्देश्यों को सार्वजनिक बनाना चाहिये तथा यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि भारत पर किस तरह के लोकतांत्रिक सिद्धांतों को लागू किया गया था।

कांग्रेस का नेतृत्व ब्रिटिश सरकार और वायसराय को पूरा मौका देना चाहता था।

सरकार की प्रतिक्रिया

ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया आंतरिक तौर पर नकारात्मक थी। लिनलिथगो ने अपने वक्तव्य में (17 अक्टूबर, 1939) मुस्लिम लीग तथा देशी रियासतों को कांग्रेस के विरुद्ध उकसाने की कोशिश की। इस अवसर पर सरकार ने—

- ब्रिटेन के युद्ध पर, इससे अधिक कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया कि ब्रिटेन भेदभावपूर्ण आक्रमण का प्रतिरोध कर रहा है।
- भविष्य के लिये यह वायदा किया कि युद्धोपरांत सरकार, भारत के ''कई दलों, समुदायों और हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों तथा भारतीय राजाओं'' से इस मुद्दे पर विचार-विमर्श करेगी कि 1935 के भारत सरकार अधिनियम में किस प्रकार के संशोधन किये जायें।
- आवश्यकता पड़ने पर परामर्श लेने के लिये सरकार, एक परामर्श समिति का गठन करेगी।

सरकार की गुप्त कार्यनीतिः लिनलिथगो का वक्तव्य वास्तविकता से विचलन नहीं अपितु सामान्य ब्रिटिश योजना का हिस्सा था। जिसके अनुसार—''युद्ध से फायदा उठाकर खोये हुये उस आधार को पुनः प्राप्त करना, जो कि कांग्रेस के प्रयासों के कारण सरकार के हाथ से निकल गया था।'' सरकार की नीति थी कि कांग्रेस को सरकार के साथ विवादों में उलझा दिया जाये, तत्पश्चात् उत्पन्न परिस्थितियों का उपयोग सत्ता को और स्थायी बनाने में किया जाये। इसी नीति के तहत युद्ध की घोषणा के उपरांत 1935 के अधिनियम में संशोधन कर केंद्र ने राज्य के विषयों में हस्तक्षेप करने के

असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिये। जिस दिन युद्ध की घोषणा की गयी, उसी दिन नागरिक अधिकारों की स्वतंत्रता के दमन हेतु सरकार ने भारतीय सुरक्षा अध्यादेश देश पर थोप दिया। मई 1940 में क्रांतिकारी आंदोलन से संबंधित एक अति गुप्त अध्यादेश तैयार किया गया, इसका उद्देश्य कांग्रेस द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले आंदोलन को कुचलना था। इसके पीछे सरकार की मंशा थी कि वह कांग्रेस द्वारा प्रारम्भ किये गये किसी भी आंदोलन को आसानी से दबा सके तथा भारतीयों की सहानुभूति भी प्राप्त कर सके। सरकार का मानना था कि यह अध्यादेश उदारवादियों एवं वामपंथियों की सहानुभूति प्राप्त करने में सहायक होगा तथा सरकार, कांग्रेस की छवि को जापान एवं जर्मनी समर्थक दल के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हो जायेगी।

ब्रिटिश भारतीय सरकार की दमनकारी एवं भेदभावमूलक नीतियों का इंग्लैंड के प्रधानमंत्री विंसटन चर्चिल एवं भारत सचिव जेटलैंड ने पूर्णरूपेण समर्थन किया। जेटलैंड ने तो कांग्रेस को विशुद्ध हिंदूवादी संगठन तक घोषित कर दिया।

धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि ब्रिटिश सरकार, युद्ध के पूर्व या पश्चात् अपनी उपनिवेशवादी पकड़ में किसी भी प्रकार की ढील नहीं देना चाहती तथा कांग्रेस से शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने की मंशा रखती है। अंग्रेजी सरकार द्वारा भारतीय जनमानस की उपेक्षा तथा कांग्रेस के प्रति उसके शत्रुतापूर्ण रवैये की गांधीजी ने कड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा कि—"सरकार की भारत संबंधी घोषणा यह दर्शाती है कि ब्रिटेन का वश चले तो वह भारत में लोकतंत्र कभी न आने दे।" अल्पसंख्यक तथा विशिष्ट वर्ग के हितों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि "कांग्रेस प्रत्येक अल्पसंख्यक तथा विशिष्ट वर्ग के हितों की रक्षा करेगी बशर्ते उनके दावों का देश की स्वाधीनता के मुद्दे से कोई टकराव नहीं होना चाहिये।"

कांग्रेस सरकार द्वारा त्यागपत्र का निर्णय

23 अक्टूबर 1939 को कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक आयोजित की गयी, जिसमें—

- वायसराय के वक्तव्य को पुरानी साम्राज्यवादी नीति का ही हिस्सा बताकर अस्वीकार कर दिया गया।
- युद्ध का समर्थन न करने का निर्णय किया गया।
- कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों को त्यागपत्र देने का आदेश दिया गया।

जनवरी 1940 में लिनलिथगो ने घोषणा की कि "युद्ध के पश्चात् डोमीनियन स्टेट्स की स्थापना, भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति का मुख्य लक्ष्य है।"

भारतीय राजनीति पर युद्ध के प्रभाव

1938-39 के फासीवादी आक्रमण के प्रति भारत में राजनीतिक प्रतिक्रिया बेहद तीक्ष्ण थी। ब्रिटेन विरोधी कांग्रेसी राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद विरोधी तथा फासीवाद विरोधी वाम अंतरराष्ट्रीयतावाद दोनों ही फासीवादी आक्रमण तथा चैम्बरलेन की तुष्टिकरण

की नीति की भर्त्सना करने में अग्रणी रही। 3 सितंबर, 1939 को भारत की इच्छा के विरुद्ध ब्रिटेन ने उसे युद्ध में शामिल कर लिया। राष्ट्रवादियों द्वारा युद्ध में शामिल होने की शर्तों पर ब्रिटेन की नकारात्मक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों ने निष्क्रिय सविनय अवज्ञा के साथ प्रतिक्रिया प्रकट की, लेकिन कांग्रेस के वाम पक्ष ने कम्युनिस्टों के साथ मिलकर एक जुझारू युद्ध विरोधी संघर्ष के लिए प्रचार किया।

रूस पर जर्मनी के आक्रमण तथा जापान द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया के अभिग्रहण से भारतीय परिस्थिति में नाटकीय परिवर्तन आए। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी गहन वाद-विवाद के पश्चात् जनवरी 1942 में फासिस्ट विरोधी जन युद्ध तथा मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासों के समर्थन में खुले आम सामने आयी। अगस्त 1942 में गांधीजी ने "करो या मरो" के रूप में जुझारू प्रतिक्रिया जाहिर की। इस प्रकार भारत छोड़ो आंदोलन पूरे भारत में फैल गया। लेकिन 1942 के अंत तक ब्रिटिश नौकरशाही ने आंदोलन को कुचल दिया। देशव्यापी जनाक्रोश के विरुद्ध कम्युनिस्ट साहसपूर्ण तरीके से फासीवाद के विरुद्ध कार्य करते रहे।

भारत में युद्ध के भयावह आर्थिक परिणाम—मुद्रास्फीति, बाजार में वस्तुओं की कमी, कालाबाजारी और भ्रष्टाचार तथा 1943 का अकाल, जिसमें बंगाल में लगभग 30 लाख लोग मारे गए। सांप्रदायिकता के बढ़ने से पाकिस्तान के लिए मुस्लिम लीग की मांग तथा औपनिवेशिक शासकों के साथ समझौते के लिए कांग्रेस के प्रयास भारत में युद्ध के पश्चात् के राजनीतिक वातावरण की ओर संकेत करते हैं।

हालांकि, किसानों और मजदूरों द्वारा साम्राज्यवाद विरोधी, जमींदार विरोधी और पूंजीवाद विरोधी जुझारू संघर्ष एवं 1945-46 के नाविक विद्रोह ने पूर्ण स्वतंत्रता की प्रक्रिया एवं साथ-साथ सामाजिक क्रांति को प्रोत्साहित किया। लेकिन 1945-47 के दौरान जनता सांप्रदायिक विध्वंस तथा विभाजन की तनावपूर्ण स्थिति में जीवन जीने के लिए विवश थी।

त्वरित जन सत्याग्रह के मुद्दे पर बहस

अक्टूबर 1939 में लिनलिथगो की घोषणा के पश्चात् तुरंत जन सत्याग्रह छेड़ने के मुद्दे पर एक बार पुनः बहस प्रारम्भ हो गयी। गांधीजी एवं उनके समर्थक तुरंत आंदोलन प्रारम्भ करने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उनका मानना था कि—

- मित्र राष्ट्रों का पक्ष न्यायसंगत है;
- साम्प्रदायिक संवेदनशीलता एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता के अभाव में साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो सकते हैं;
- संगठनात्मक तौर पर कांग्रेस की स्थिति अच्छी नहीं है तथा तत्कालीन परिस्थितियां जन सत्याग्रह के प्रतिकूल हैं; एवं
- जनता अभी किसी भी प्रकार के संघर्ष के लिये तैयार नहीं है।

अतः इसके स्थान पर आवश्यक यह है कि सांगठनिक रूप से कांग्रेस को मजबूत बनाया जाये, जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण दिया जाये, उसे संघर्ष हेतु तैयार किया जाये तथा सरकार से तब तक विचार-विमर्श किया जाये जब तक यह सार्वजनिक न हो जाये कि विचार-विमर्श से समस्या का समाधान नहीं हो सकता तथा इसके लिये उपनिवेशिक शासन जिम्मेदार है। इसके पश्चात् ही आंदोलन प्रारम्भ किया जाना चाहिये।

कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन (मार्च 1940) में पारित किये गये प्रस्ताव में गांधीजी तथा उनके समर्थकों के इन विचारों को पूर्ण महत्ता प्रदान की गयी। इस प्रस्ताव में कहा गया कि ''जैसे ही कांग्रेस संगठन संघर्ष के योग्य हो जाता है या फिर परिस्थितियां इस प्रकार बदल जाती हैं कि संघर्ष निकट दिखाई दे, वैसे ही कांग्रेस, सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ कर देगी।''

सुभाषचन्द्र बोस और उनके फारवर्ड ब्लाक, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी तथा रायवादियों इत्यादि वामपंथी समूहों का तर्क था कि यह युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है तथा यही उचित समय है जबकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध चारों ओर से युद्ध छेड़कर स्वतंत्रता हासिल कर ली जाये। इनका मानना था कि जनता संघर्ष के लिये पूरी तरह तैयार है तथा सिर्फ आंदोलन प्रारम्भ किये जाने की प्रतीक्षा कर रही है। इन्होंने स्वीकार किया कि कांग्रेस संगठन की कमजोरी तथा साम्प्रदायिक कटुता जैसी समस्यायें अवश्य विद्यमान हैं, किन्तु जनसंघर्ष के प्रवाह में ये सारी समस्यायें बह जायेंगी। इन्होंने तर्क दिया कि संगठन संघर्ष के पहले तैयार नहीं किया जाता, अपितु इसका निर्माण संघर्ष प्रारम्भ होने के पश्चात् होता है। फलतः कांग्रेस को अतिशीघ्र आंदोलन प्रारम्भ कर देना चाहिये।

यहां तक कि सुभाषचन्द्र बोस ने इस बात का प्रस्ताव रखा कि यदि कांग्रेस शीघ्र ही सत्याग्रह प्रारम्भ करने के मुद्दे पर उनका साथ नहीं देती तो वामपंथी उससे नाता तोड़ लें तथा समानांतर कांग्रेस का गठन कर अपनी ओर से आंदोलन प्रारम्भ करें। किन्तु कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी ने सुभाष चन्द्र बोस के इस प्रस्ताव से असहमति प्रकट की।

जवाहरलाल नेहरू का झुकाव दोनों पक्षों की ओर था। एक ओर उन्हें मित्र राष्ट्रों के साम्राज्यवादी चरित्र का एहसास था तो दूसरी ओर वे ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे, जिससे यूरोप में नाजीवाद के समर्थक हिटलर की विजय आसान हो जाये। एक ओर उनकी सम्पूर्ण मंशा और राजनीतिक चिंतन त्वरित आंदोलन प्रारम्भ किये जाने को उद्यत परिलक्षित हो रहा था तो दूसरी ओर वे नाजी विरोधी संघर्ष और जापान विरोधी संघर्ष को दुर्बल बनाये जाने के पक्षधर भी नहीं थे। बहरहाल नेहरू ने अंत में कांग्रेस नेतृत्व और गांधीजी के बहुमत का समर्थन करने का ही निर्णय किया।

पाकिस्तान प्रस्ताव–लाहौर (मार्च 1940)

23 मार्च 1940 को मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। इस अधिवेशन में प्रसिद्ध 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पारित किया गया। इस प्रस्ताव की रुपरेखा तैयार करने में खलीक उज्जमां, फजल-उल-हक तथा सिकदार हयात खां ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस प्रस्ताव को फजल-उल-हक ने प्रस्तुत किया तथा खलीक उज्जमां ने इसका अनुमोदन किया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि ''भौगोलिक स्थिति से एक-दूसरे से लगे हुए प्रदेश आवश्यक परिवर्तनों के साथ इस प्रकार गठित किये जायें ताकि वहां मुस्लिम समुदाय बहुसंख्यक हो जायें। जैसे कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी प्रदेशों को मिलाकर एक स्वतंत्र राज्य बना दिया जाये और उसमें सम्मिलित प्रदेश प्रभुसत्ता सम्पन्न और स्वशासी हों.....तथा जिन राज्यों में मुसलमान अल्पसंख्यक हों वहां उनके हितों की सुरक्षा के लिये आवश्यक उपबंध हों।''

अगस्त प्रस्ताव

द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर की असाधारण सफलता तथा बेल्जियम, हालैंड एवं फ्रांस के पतन के पश्चात् ब्रिटेन की स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गयी, फलतः ब्रिटेन ने समझौतावादी दृष्टिकोण की नीति अपनायी। युद्ध में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से 8 अगस्त 1940 को वायसराय लिनलिथगो ने एक घोषणा की, जिसे अगस्त प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है। इस प्रस्ताव में निम्न प्रावधान थे–

- भारत के लिये डोमिनियन स्टेट्स मुख्य लक्ष्य।
- भारतीयों को सम्मिलित कर युद्ध सलाहकार परिषद की स्थापना।
- वायसराय की कार्यकारिणी परिषद का विस्तार।
- युद्ध के पश्चात् संविधान सभा का गठन किया जायेगा, जिसमें मुख्यतया भारतीय अपने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक धारणाओं के अनुरूप संविधान के निर्माण की रूपरेखा सुनिश्चित करेंगे। संविधान ऐसा होगा कि रक्षा, अल्पसंख्यकों के हित, राज्यों से संधियां तथा अखिल भारतीय सेवायें इत्यादि मुद्दों पर भारतीयों के अधिकार का पूर्ण ध्यान रखा जायेगा।
- अल्पसंख्यकों को आश्वस्त किया गया कि सरकार ऐसी किसी संस्था को शासन नहीं सौंपेगी, जिसके विरुद्ध सशक्त मत हो।
- उक्त आधारों पर भारतीय सरकार को सहयोग प्रदान करेंगे।

कांग्रेस ने अगस्त प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। नेहरूजी ने कहा ''डोमिनियन स्टेट्स का मुद्दा पहले ही अप्रासंगिक हो चुका है।'' गांधीजी ने घोषणा की–''अगस्त प्रस्तावों के रूप में सरकार ने जो घोषणायें की हैं, उनसे राष्ट्रवादियों तथा उपनिवेशी सरकार के बीच खाई और चौड़ी होगी।''

यद्यपि मुस्लिम लीग ने प्रस्ताव में अल्पसंख्यकों के संबंध में दिये गये आश्वासन का

स्वागत किया, किन्तु प्रस्ताव में पाकिस्तान की मांग स्पष्ट रूप से स्वीकार न किये जाने के कारण उसने भी प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। लीग ने घोषणा की कि भारत का विभाजन ही गतिरोध के हल का एकमात्र उपाय है।

मूल्यांकन

प्रस्ताव में प्रथम बार भारतीयों द्वारा स्वयं संविधान निर्माण करने के तर्क को मान्यता दी गयी तथा कांग्रेस की संविधान सभा गठित करने की मांग को स्वीकार किया गया। डोमिनियन स्टेट्स के मुद्दे को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया।

जुलाई 1941 में वायसराय की कार्यकारिणी परिषद का विस्तार कर भारतीयों को प्रथम बार बहुमत दिया गया, किन्तु रक्षा, वित्त एवं गृह जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर अभी भी अंग्रेजों का वर्चस्व बना रहा। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का भी गठन किया गया, जिसका कार्य संबंधित विषय पर सलाह देना था।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

अगस्त प्रस्ताव के बाद की परिस्थितियों में जो प्रगति हुई उसके पश्चात् सरकार ने अड़ियल रवैया अपना लिया तथा घोषित किया कि कांग्रेस जब तक मुस्लिम नेताओं के साथ किसी तरह के समझौते को मूर्तरूप नहीं देती, तब तक भारत में किसी प्रकार का संवैधानिक सुधार संभव नहीं है। सरकार एक के बाद एक अध्यादेश जारी करती जा रही थी तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता तथा सभा करने एवं संगठन बनाने का अधिकार जैसे अधिकार धड़ाधड़ छीन रही थी। 1940 के अंत में कांग्रेस ने एक बार पुनः गांधीजी से कमान संभालने का आग्रह किया।

इसके पश्चात् गांधीजी ने ऐसे कदम उठाने प्रारम्भ कर दिये जिससे उनकी अपनी व्यापक रणनीति के अंतर्गत जनसंघर्ष की भूमिका का निर्माण होता। उन्होंने व्यक्तिगत आधार पर सीमित सत्याग्रह प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इस रणनीति के तहत उन्होंने तय किया कि हर इलाके में कुछ चुने हुए लोग व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ करेंगे।

गांधीजी द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ करने के मुख्य लक्ष्य थे– (i) यह प्रदर्शित करना कि राष्ट्रवादियों के धैर्य का अर्थ उनकी दुर्बलता नहीं लगाया जाना चाहिये; (ii) यह व्यक्त करना कि भारत के लोग युद्ध के पक्षधर नहीं हैं तथा न ही वे नाजीवाद एवं भारत के साम्राज्यवादी शासन में कोई फर्क समझते हैं; तथा (iii) कांग्रेस की मांगों को शांतिपूर्वक स्वीकार करने के लिये सरकार को एक और मौका देना।

सत्याग्रहियों की मांग यह होगी कि युद्ध एवं युद्ध में भाग लेने के खिलाफ प्रचार करने के लिये अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होनी चाहिये। यदि सत्याग्रहियों को गिरफ्तार नहीं किया गया तो वे युद्ध-विरोधी भाषण को दुहरायेंगे तथा गांवों की ओर प्रस्थान करेंगे। तत्पश्चात् गांवों में ये अपना संदेश फैलाते हुए दिल्ली की ओर मार्च करने का

प्रयास करेंगे। इसी नीति के कारण ही इस आंदोलन का नाम ''दिल्ली चलो आंदोलन'' पड़ गया।

17 अक्टूबर 1940 को विनोबा भावे पहले सत्याग्रही बने और इसके बाद जवाहरलाल नेहरू दूसरे। मई 1941 तक लगभग 25 हजार सत्याग्रहियों को सविनय अवज्ञा के लिये सरकार द्वारा दंडित किया जा चुका था।

दिसम्बर 1941 में कांग्रेस के नेताओं को रिहा कर दिया गया। ये नेता भारतीय सीमाओं की रक्षा करने तथा मित्र राष्ट्रों की सहायता करने को आतुर थे। कांग्रेस कार्यसमिति ने महात्मा गांधी तथा नेहरूजी की आपत्तियों को दरकिनार करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें भारत की रक्षा के लिये सरकार को इस शर्त पर सहयोग देने की पेशकश की गई कि यदि–

1. युद्ध के पश्चात् भारत को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जायेगी तथा
2. ब्रिटेन, तुरंत ठोस रूप में सत्ता के हस्तांतरण पर राजी हो जाये।

यह वही समय था, जब गांधीजी ने जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

गांधीजी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी क्यों चुना?

नेहरू एवं गांधी आधुनिकता, धर्म, ईश्वर, राज्य एवं औद्योगीकरण के प्रति विचारों में भिन्न थे। नेहरू धर्म के प्रति उदासीन थे, जबकि गांधीजी ईश्वर में गहरी आस्था रखते थे। नेहरू जी का मानना था कि औद्योगीकरण ही भारत में व्याप्त अत्यधिक निर्धनता का एकमात्र समाधान है, जबकि गांधीजी ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार का आह्वान किया। नेहरू समाज सुधार एवं निर्धनता उन्मूलन में आधुनिक राज्य की शक्ति में विश्वास करते थे। जबकि गांधी राज्य शक्ति को लेकर शंका में थे, और इसकी जगह व्यक्तियों एवं समुदायों की चेतना और इच्छाशक्ति में विश्वास करते थे। कई प्रकार की मत-भिन्नता होने के बावजूद नेहरू गांधीजी का सम्मान करते थे और गांधी अपने पुत्रों से अधिक नेहरू पर विश्वास करते थे। दोनों गुरु-शिष्य में मूलभूत समानताएं थीं। दोनों ही देशभक्ति को समावेशी और समग्र भाव में देखते थे। उन्होंने भारत को किसी विशेष जाति, भाषा, क्षेत्र या धर्म की अपेक्षा समग्र रूप से देखा। दोनों ही अहिंसा और लोकतांत्रिक सरकार में विश्वास करते थे।

राजमोहन गांधी ने अपनी पुस्तक, *'द गुड बोटमैन'*, में लिखा कि गांधी ने अपने विकल्प के तौर पर नेहरू को स्वीकार किया, क्योंकि नेहरू जी ने बेहद विश्वसनीय रूप से भारत के बहुलवादी एवं समावेशी स्वरूप को प्रतिबिम्बित किया, जिस पर महात्मा गांधी ने स्वयं बल दिया। अन्य विकल्प–पटेल, राजाजी, आजाद, कृपलानी, राजेन्द्र प्रसाद–कुछ हद तक वर्गीय हितों एवं सहबद्धता के प्रति झुके हुए थे। लेकिन नेहरू एक ऐसे हिंदू थे, जिन पर मुसलमान भरोसा कर सकते थे, एक ऐसे उत्तर भारतीय व्यक्ति थे जिनका दक्षिण भारत में सम्मान होता था, और एक ऐसे पुरुष थे, महिलाएं जिनकी प्रशंसा किया करती थीं।

गांधी की तरह, सच्चे अर्थों में, नेहरू सचमुच में एक अखिल भारतीय नेता थे, और उन्हें उत्तराधिकारी बनाने का बड़ा कारण यह भी था कि उन्होंने भारतीयों को आशान्वित किया कि हम एक बेहद समृद्ध एवं शांतिपूर्ण समाज का निर्माण कर सकते हैं।

क्रिप्स मिशन

भारत के राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने ब्रिटिश संसद सदस्य तथा मजदूर नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में मार्च 1942 में एक मिशन भारत भेजा। हालांकि इस मिशन का वास्तविक उद्देश्य, युद्ध में भारतीयों को सहयोग प्रदान करने हेतु उन्हें फुसलाना था। सर क्रिप्स, ब्रिटिश युद्ध मंत्रिमंडल के सदस्य भी थे तथा उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सक्रियता से समर्थन किया।

क्रिप्स मिशन क्यों भेजा गया

- 'जहां एक ओर दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्रिटेन को करारी हार का सामना करना पड़ा, वहीं दूसरी ओर भारत पर जापान के आक्रमण का भय दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। इन परिस्थितियों में ब्रिटेन को भारत से समर्थन की कोई उम्मीद नहीं दिखाई दे रही थी।
- ब्रिटेन पर मित्र राष्ट्रों (अमेरिका, सोवियत संघ एवं चीन) की ओर से यह दबाव डाला जा रहा था कि वो भारत का समर्थन प्राप्त करे।
- भारतीयों ने इस शर्त पर मित्र राष्ट्रों को समर्थन देना स्वीकार कर लिया था कि भारत को ठोस उत्तरदायी शासन का त्वरित हस्तांतरण कर दिया जाये तथा युद्धोपरांत भारत को पूर्ण आजादी देने का वचन दिया जाये।

मुख्य प्रावधान

क्रिप्स मिशन के मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थे–

1. डोमिनियन राज्य के दर्जे के साथ एक भारतीय संघ की स्थापना की जायेगी; यह संघ राष्ट्रमंडल के साथ अपने संबंधों के निर्धारण में स्वतंत्र होगा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य अंतरराष्ट्रीय निकायों एवं संस्थाओं में अपनी भूमिका को खुद ही निर्धारित करेगा।

जून 1941: जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया तथा उसे भी युद्ध में घसीट लिया।

दिसम्बर 1941: जापान में पर्ल हार्बर स्थित अमेरिकी बेड़े पर अचानक हमला कर दिया।

मार्च 1942: जापान ने लगभग पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् रंगून को भी अधिग्रहित कर लिया।

2. युद्ध की समाप्ति के पश्चात् नये संविधान निर्माण हेतु संविधान निर्मात्री परिषद का गठन किया जायेगा। इसके कुछ सदस्य प्रांतीय विधायिकाओं द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे तथा कुछ (रियासतों का प्रतिनिधित्व करने के लिये) राजाओं द्वारा मनोनीत किये जायेंगे।

3. ब्रिटिश सरकार, संविधान निर्मात्री परिषद द्वारा बनाये गये नये संविधान को अग्रलिखित शर्तों के अधीन स्वीकार करेगी—(i) संविधान निर्मात्री परिषद द्वारा निर्मित संविधान जिन प्रांतों को स्वीकार नहीं होगा, वे भारतीय संघ से पृथक होने के अधिकारी होंगे। पृथक होने वाले प्रांतों को अपना पृथक संविधान बनाने का अधिकार होगा। देशी रियासतों को भी इसी प्रकार का अधिकार होगा; तथा (ii) नवगठित संविधान निर्मात्री परिषद तथा ब्रिटिश सरकार सत्ता के हस्तांतरण तथा प्रजातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के मुद्दे को आपसी समझौते द्वारा हल करेंगे।

4. उक्त व्यवस्था होने तक भारत के सुरक्षा संबंधी दायित्वों का निर्वहन ब्रिटेन करेगा; देश की सुरक्षा का नियंत्रण एवं निर्देशन करेगा; तथा गवर्नर-जनरल की समस्त शक्तियां पूर्ववत् बनी रहेंगी।

क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों का पूर्ववर्ती प्रस्तावों से भिन्न होना

क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव इसके पूर्ववर्ती प्रस्तावों से अनेक अर्थों में भिन्न थे—

- संविधान के निर्माण का अधिकार अब वास्तविक तौर पर भारतीयों के हाथों में था।
- संविधान निर्मात्री सभा के गठन हेतु एक ठोस योजना बनायी गयी थी।
- प्रांतों को अपना पृथक संविधान बनाने का विकल्प दिया गया था। यह व्यवस्था, अप्रत्यक्ष रूप से भारत का विभाजन सुनिश्चित करती थी।
- स्वतंत्र भारत के लिये यह अधिकार सुनिश्चित किया गया था कि उसे राष्ट्रमंडल से पृथक होने का अधिकार होगा।
- भारतीयों को प्रशासन में भागीदारी का भरपूर अवसर प्रदान किया जाना सुनिश्चित किया गया था।

क्रिप्स मिशन क्यों असफल हुआ

क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव भारतीय राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने में असफल रहे तथा साधारण तौर पर भारतीयों के किसी भी वर्ग की सहमति प्राप्त नहीं कर सके। विभिन्न दलों तथा समूहों ने अलग-अलग आधार पर इन प्रस्तावों का विरोध किया।

कांग्रेस ने निम्न आधार पर प्रस्तावों का विरोध किया:

(i) भारत को पूर्ण स्वतंत्रता के स्थान पर डोमिनियन स्टेट्स का दर्जा दिये जाने की व्यवस्था।

(ii) देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के लिये निर्वाचन के स्थान पर मनोनयन की व्यवस्था।

(iii) प्रांतों को भारतीय संघ से पृथक होने तथा पृथक संविधान बनाने की व्यवस्था, जो कि राष्ट्रीय एकता के सिद्धांत के विरुद्ध था।

(iv) सत्ता के त्वरित हस्तांतरण की योजना का अभाव तथा प्रतिरक्षा के मुद्दे पर वास्तविक भागीदारी की व्यवस्था का न होना; गवर्नर जनरल की सर्वोच्चता पूर्ववत थी; तथा गवर्नर-जनरल को केवल संवैधानिक प्रमुख बनाने की मांग को स्वीकार न किया जाना।

कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद को क्रिप्स मिशन के संदर्भ में परीक्षण एवं विचार विमर्श हेतु अधिकृत किया गया था।

मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया तथा इसके लिये निम्न तर्क दियेः

(i) एकल भारतीय संघ की व्यवस्था का होना उसे स्वीकार्य नहीं था।

(ii) संविधान निर्मात्री परिषद के गठन का जो आधार सुनिश्चित किया था वह उसे स्वीकार्य नहीं था तथा प्रांतों के संघ से पृथक होने तथा अपना पृथक संविधान बनाने की जो विधि निर्धारित की गयी थी, उससे भी लीग असहमत थी।

(iii) प्रस्तावों में मुसलमानों के आत्म-निर्धारण के सिद्धांत तथा पृथक पाकिस्तान की मांग को स्वीकार नहीं किया गया था।

अन्य दलों ने भी प्रांतों को संघ से पृथक होने का अधिकार दिये जाने का विरोध किया। उदारवादियों का मानना था कि प्रांतों को संघ से पृथक होने का विकल्प देना भारत की एकता एवं सुरक्षा के विरुद्ध है। हिन्दू महासभा ने भी इस प्रावधान की आलोचना की। दलितों ने अनुमान लगाया कि विभाजन के पश्चात् उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं की कृपा पर जीना पड़ेगा। सिक्खों का विरोध इस बात पर था कि विभाजन होने पर पंजाब उनसे छिन जायेगा।

अंग्रेजों ने कहा कि यह योजना 1940 के अगस्त प्रस्तावों का ही एक रुप है, जिसे अधिक स्पष्ट किया गया है। इसका उद्देश्य उस पुराने प्रस्ताव का अतिक्रमण करना नहीं है। अंग्रेजों की इस घोषणा से सरकार के प्रति शंका और बढ़ गयी।

क्रिप्स द्वारा प्रस्तावों से आगे आकर भारतीयों का विश्वास जीतने की असफलता तथा उनका यह कहना कि ''इसे स्वीकार करो या छोड़ दो'' गतिरोध के सबसे प्रमुख कारण थे। प्रारम्भ में क्रिप्स ने ''मंत्रिमंडल के गठन'' तथा ''राष्ट्रीय सरकार'' की स्थापना की बात कही, किन्तु बाद में वे अपनी बातों से मुकर गये तथा कहने लगे कि उनका आशय केवल कार्यकारिणी परिषद् के विस्तार से था।

प्रांतों के विलय या पृथक होने की व्यवस्था का प्रावधान अस्पष्ट था। संघ से पृथक होने के प्रस्ताव का विधानमंडल में 60 प्रतिशत सदस्यों द्वारा अनुमोदन किया जाना

आवश्यक था। यदि इस प्रस्ताव का 60 प्रतिशत से कम सदस्य समर्थन करेंगे तब इसे प्रांत के वयस्क पुरुषों के सामान्य बहुमत से पारित होना आवश्यक होगा। यह व्यवस्था विशेष रूप से पंजाब एवं बंगाल के हिन्दुओं के लिये हानिकारक थी, भले ही वे भारतीय संघ में शामिल होना चाहते थे।

मिशन के प्रस्तावों में यह भी अस्पष्ट था कि सत्ता के हस्तांतरण संबंधी प्रावधानों को कौन लागू करेगा तथा कौन इनकी व्याख्या करेगा।

ब्रिटिश सरकार की वास्तविक मंशा यह थी कि क्रिप्स मिशन सफल न हो। क्योंकि वह भारतीयों को सत्ता के हस्तांतरण तथा देश की प्रतिरक्षा संबंधी जिम्मेदारी में भागीदारी, दोनों के विरुद्ध थी।

उधर, चर्चिल (ब्रिटिश प्रधानमंत्री), एमरी (विदेश मंत्री), लिनलिथगो (वायसराय) तथा वेवेल (कमांडर-इन-चीफ) भी नहीं चाहते थे कि क्रिप्स मिशन सफल हो।

वायसराय के वीटो (निशेषाधिकार) के मुद्दे पर स्टैफर्ड क्रिप्स तथा कांग्रेस के नेताओं के मध्य बातचीत टूट गयी।

गांधीजी ने क्रिप्स प्रस्तावों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि ''यह आगे की तारीख का चेक था, जिसका बैंक नष्ट होने वाला था'' (It was post-dated cheque on a crashing Bank)। जवाहरलाल नेहरू ने क्रिप्स प्रस्तावों के संबंध में कहा कि ''क्रिप्स योजना को स्वीकार करना भारत को अनिश्चित खण्डों में विभाजित करने के लिये मार्ग प्रशस्त करना था।''

इस प्रकार स्टैफर्ड क्रिप्स भारतीयों को निराशा एवं असमंजस के वातावरण में छोड़कर वापस इंग्लैंड लौट गये। भारतीय जो अभी भी फासीवादी आक्रमण के पीड़ितों के प्रति पूरी सहानुभूति की तस्वीर अपने मनो-मस्तिष्क में संजोये हुए थे, अंग्रेजी सरकार के रवैये से खुद को छला हुआ महसूस करने लगे थे। अब भारतीयों ने यह मानना प्रारम्भ कर दिया कि वर्तमान परिस्थितियां असहनीय बन चुकी हैं तथा साम्राज्यवाद पर अंतिम प्रहार करना आवश्यक हो गया है।

प्रमुख विचार

क्रिप्स के प्रस्तावों ने हमें कुछ नहीं दिया। यदि हम उसके प्रस्ताव को स्वीकार करते हैं तो हो सकता है कि भविष्य में भी हम पर शासन किया जाता रहे। यदि अंग्रेज भारत से वापस चले जायें तब हमें कोई नया आंदोलन प्रारंभ नहीं करना चाहिये। विश्व युद्ध ने भारत को एक सुअवसर प्रदान किया है कि वह अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त कर ले। हमें केवल साधारण आश्वासन पर निर्भर रहकर इस सुअवसर को खोना नहीं चाहिये। **मौलाना अबुल कलाम आजाद**

मैं महामहिम सम्राट का प्रधानमंत्री इसलिये नहीं बना हूं कि मैं उनके साम्राज्य को खत्म कर दूं या नुकसान पहुंचाऊं। **विस्टंन चर्चिल**

सारांश

- **राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया**

  कांग्रेस का हरिपुरा एवं त्रिपुरी अधिवेशन

  स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके एवं अन्य को लेकर गांधी एवं सुभाष के मध्य मतैक्यता एवं मत-भिन्नता

  फारवर्ड ब्लॉक का गठन

- **द्वितीय विश्व युद्ध की पूर्व संध्या पर कांग्रेस की स्थिति**

  कांग्रेस युद्ध में ब्रिटेन को सहयोग करेगी यदि–

  (i) युद्धोपरांत भारत को स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाये। तथा

  (ii) अतिशीघ्र, केंद्र में किसी प्रकार की वास्तविक एवं उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाये।

  1 सितम्बर, 1939: द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ तथा ब्रिटेन ने भारत के युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा की।

  10-14 सितम्बर 1939: वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में–

  – गांधीजी ने ब्रिटेन को बिना शर्त युद्ध में समर्थन देने की घोषणा की।

  – सुभाषचंद्र बोस और समाजवादियों ने तर्क दिया कि स्थिति का लाभ उठाकर उपनिवेशी शासन के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ किया जाये तथा उसे अपदस्थ करने की कोशिश की जाये।

  – जवाहरलाल नेहरू ने युद्ध के साम्राज्यवादी स्वरूप को स्वीकार किया लेकिन वे युद्धरत ब्रिटेन की परेशानियों से लाभ उठाये जाने के पक्षधर नहीं थे। इसके साथ ही उन्होंने युद्ध में भारत की सहभागिता का भी विरोध किया। कांग्रेस कार्यकारिणी ने पारित प्रस्ताव में कहा–जब तब भारत को आजादी देने का वायदा नहीं किया जाता, भारत युद्ध में ब्रिटेन को सहयोग नहीं देगा; सरकार को शीघ्र ही युद्ध के उद्देश्यों को स्पष्ट करना चाहिए।

- **लिनलिथगो की घोषणा (17 अक्टूबर, 1939)**

  ब्रिटेन के युद्ध का उद्देश्य भेदभावपूर्ण अतिक्रमण को रोकना है।

  1935 के भारत शासन अधिनियम में संशोधन के लिये सरकार शीघ्र ही भारत के राजनीतिक दलों, विभिन्न समुदायों तथा समूहों से विचार-विमर्श करेगी।

  आवश्यकता पड़ने पर परामर्श लेने के लिये सरकार एक 'परामर्श समिति' का गठन भी करेगी।

  सरकार की प्रतिक्रिया

- **कांग्रेस की प्रतिक्रिया**

  युद्ध में भारत का समर्थन नहीं।

  प्रांतीय कांग्रेस सरकारों द्वारा त्यागपत्र।

लेकिन अभी (शीघ्र ही) कोई जन-आंदोलन प्रारंभ नहीं किया जायेगा।

- **पाकिस्तान प्रस्ताव–मार्च 1940**
  मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पारित किया गया।
- **अगस्त प्रस्ताव (अगस्त 1940)**
  – भारत के लिये डोमिनियन स्टेट्स मुख्य लक्ष्य।
  – युद्ध के पश्चात संविधान सभा गठित की जायेगी, जिसमें मुख्यतयाः भारतीय होंगे।
  – भविष्य की किसी भी योजना के लिये अल्पसंख्यकों की सहमति आवश्यक है।
  – कांग्रेस ने अगस्त प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया।
- **व्यक्तिगत सत्याग्रह (अक्टूबर 1940)**
  कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ किया।
  लगभग 25 हजार सत्याग्रही जेल भेजे गये।
- **मार्च 1942**
  लगभग सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया को विजित करते हुए जापानी सेनायें रंगून तक पहुंच गयीं।
- **गांधीजी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी क्यों चुना?**
- **क्रिप्स मिशन (मार्च 1942)** इसने प्रस्ताव किया कि–
  डोमिनियन स्टेट्स के साथ भारतीय संघ की स्थापना; इसे राष्ट्रमंडल से पृथक होने का अधिकार होगा।
  युद्ध के पश्चात प्रांतीय विधानसभाओं द्वारा संविधान सभा, के सदस्यों का चुनाव किया जायेगा; यह संविधान सभा, संविधान का प्रारूप तैयार करेगी।
  यदि कोई प्रांत, संघ में सम्मिलित होना न चाहे तो ब्रिटेन उससे पृथक से समझौता करेगा।
  इस दौरान भारत की सुरक्षा का दायित्व ब्रिटेन के हाथों में होगा।
  कांग्रेस ने निम्न प्रावधानों पर आपत्ति की–
  डोमिनियन स्टेट्स
  प्रांतों को संघ से पृथकता का अधिकार
  गवर्नर-जनरल की सर्वोच्चता बनाये रखने का प्रावधान
  मुस्लिम लीग ने निम्न प्रावधानों पर आपत्ति की–
  स्पष्ट रूप से पाकिस्तान के निर्माण की बात का न होना
  संविधान सभा के गठन की प्रक्रिया

अध्याय 23

भारत छोड़ो आंदोलन, आजाद हिंद फौज एवं पाकिस्तान की मांग

भारत छोड़ो आंदोलन

क्रिप्स मिशन के वापस लौटने के उपरांत, गांधीजी ने एक प्रस्ताव तैयार किया जिसमें अंग्रेजों से तुरन्त भारत छोड़ने तथा जापानी आक्रमण होने पर भारतीयों से अहिंसक असहयोग का आह्वान किया गया था। कांग्रेस कार्यसमिति ने वर्धा की अपनी बैठक (14 जुलाई 1942) में संघर्ष के गांधीवादी प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे दी।

संघर्ष क्यों अपरिहार्य हो गया?

इसके कई कारण थे–

1. संवैधानिक गतिरोध को हल करने में क्रिप्स मिशन की असफलता ने संवैधानिक विकास के मुद्दे पर ब्रिटेन के अपरिवर्तित रुख को उजागर कर दिया तथा यह बात स्पष्ट हो गयी कि भारतीयों की ज्यादा समय तक चुप्पी उनके भविष्य को ब्रिटेन के हाथों में सौंपने के समान होगी। इससे अंग्रेजों को भारतीयों से विचार-विमर्श किये बिना उनके भविष्य निर्धारण का अधिकार मिल जायेगा।

2. मूल्यों में बेतहाशा वृद्धि तथा चावल, नमक इत्यादि आवश्यक वस्तुओं के अभाव के कारण सरकार के विरुद्ध जनता में तीव्र असंतोष था। सरकार ने बंगाल और उड़ीसा की नावों को जापानियों द्वारा दुरुपयोग किये जाने के भय से जब्त कर लिया था, जिससे स्थानीय लोगों को परेशानी का सामना करना पड़ रहा था। जापानी आक्रमण के भय से ब्रिटेन ने असम, बंगाल एवं उड़ीसा में दमनकारी एवं भेदभावपूर्ण भू-नीति का सहारा लिया।

3. दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्रिटेन की पराजय तथा शक्तिशाली ब्रिटेन के पतन के समाचार ने असंतोष को व्यक्त करने की इच्छाशक्ति भारतीयों में जगायी। ब्रिटिश

शासन के स्थायित्व से लोगों की आस्था कम होने लगी तथा लोग डाकघरों एवं बैंकों से अपना रुपया वापस निकालने लगे।

4. बर्मा और मलाया को खाली करने के ब्रिटिश सरकार के तौर-तरीकों से काफी असंतोष फैला। सरकार ने यूरोपीयों की बस्तियां खाली करा लीं तथा स्थानीय निवासियों को उनके भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। यहां दो तरह की सड़कें बनायी गयीं—भारतीय शरणार्थियों के लिये काली सड़क तथा यूरोपीय शरणार्थियों के लिये सफेद सड़क। ब्रिटिश सरकार की इन हरकतों से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा तथा उनकी सर्वश्रेष्ठता की मनोवृत्ति उजागर हो गयी।

5. निराशा के कारण जापानी आक्रमण का जनता द्वारा कोई प्रतिरोध न किये जाने की आशंका से राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को संघर्ष प्रारम्भ करना अपरिहार्य लगने लगा।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक—गवालिया टैंक, बम्बई

ग्वालिया टैंक में 8 अगस्त, 1942 को आयोजित इस बैठक में अंग्रेजो भारत छोड़ो का प्रस्ताव पारित किया गया तथा घोषणा की गई कि—

- भारत में ब्रिटिश शासन को तुरंत समाप्त किया जाये।
- घोषणा की गयी कि स्वतंत्र भारत सभी प्रकार की फासीवाद एवं साम्राज्यवादी शक्तियों से स्वयं की रक्षा करेगा तथा अपनी अक्षुण्णता को बनाये रखेगा।
- अंग्रेजों की वापसी के पश्चात् कुछ समय के लिये अस्थायी सरकार की स्थापना की जायेगी।
- ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आंदोलन का समर्थन किया गया।
- गांधीजी को संघर्ष का नेता घोषित किया गया।

विभिन्न वर्गों को गांधीजी द्वारा दिये गये निर्देश

हालांकि गांधीजी द्वारा इन निर्देशों की घोषणा कांग्रेस की गवालिया टैंक बैठक में ही कर दी गयी थी, लेकिन उस समय उन्हें सार्वजनिक नहीं किया गया था। इनके तहत समाज के विभिन्न वर्गों को गांधीजी ने विभिन्न निर्देश दिये थे। ये निर्देश इस प्रकार थे—

- **सरकारी सेवकः** त्यागपत्र नहीं दें लेकिन कांग्रेस से अपनी राजभक्ति घोषित कर दें।
- **सैनिकः** सेना से त्यागपत्र नहीं दें किंतु अपने सहयोगियों एवं भारतीयों पर गोली नहीं चलायें।
- **छात्रः** यदि आत्म-विश्वास की भावना हो तो, शिक्षण संस्थाओं में जाना बंद कर दें तथा पढ़ाई छोड़ दें।

- **कृषकः** यदि जमींदार सरकार विरोधी हों तो पारस्परिक सहमति के आधार पर तय किया गया लगान अदा करते रहें किंतु यदि जमींदार सरकार समर्थक हों तो लगान अदा करना बंद कर दें।
- **राजे-महाराजेः** जनता को सहयोग करें तथा अपनी प्रजा की संप्रभुता को स्वीकार करें।
- **देशी रियासतों के लोगः** शासकों का सहयोग तभी करें, जब वे सरकार विरोधी हों तथा सभी स्वयं को राष्ट्र का एक अंग घोषित करें।

इस अवसर पर गांधी जी ने लोगों से कहा था ''एक मंत्र है, छोटा सा मंत्र, जो मैं आपको देता हूं। उसे आप अपने हृदय में अंकित कर सकते हैं और प्रत्येक सांस द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। यह *मंत्र* हैः 'करो या मरो।' या तो हम भारत को आजाद कराएंगें या इस प्रयास में अपनी जान दे देंगे; अपनी गुलामी का स्थायित्व देखने के लिये हम जिन्दा नहीं रहेंगे।''

आंदोलन का प्रसार

गांधी जी सविनय अवज्ञा आंदोलन, सांगठनिक कार्यों तथा लगातार प्रचार अभियान से आंदोलन का वातावरण निर्मित कर चुके थे। लेकिन सरकार न तो कांग्रेस से किसी तरह के समझौते के पक्ष में थी, न ही वह आंदोलन के औपचारिक शुभारंभ की प्रतीक्षा कर सकती थी। फलतः उसने गिरफ्तारी और दमन के निर्देश जारी कर दिये। 9 अगस्त को प्रातः ही सभी महत्वपूर्ण कांग्रेसी नेताओं को बंदी बना लिया गया तथा अज्ञात स्थानों पर ले जाया गया। इन शीर्षस्थ नेताओं की गिरफ्तारी से आंदोलन की बागडोर युवा उग्रवादी तत्वों के हाथों में आ गयी।

जन विद्रोहः जनता ने सरकारी सत्ता के प्रतीकों पर आक्रमण किया तथा सरकारी भवनों पर बलपूर्वक तिरंगा फहराया। सत्याग्रहियों ने गिरफ्तारियां दीं, पुल उड़ा दिये गये, रेलों की पटरियां उखाड़ दी गयीं तथा तार एवं टेलीफोन की लाइनें काट दी गयीं। शिक्षण संस्थाओं में छात्रों ने हड़ताल कर दी, छात्रों द्वारा जुलूस निकाले गये, उन्होंने गैरकानूनी पर्चे लिखे, जगह-जगह उन्हें बांटने लगे तथा भूमिगत कार्यकर्ताओं के लिये संदेशवाहक का कार्य किया। अहमदाबाद, बम्बई, जमशेदपुर, अहमदनगर एवं पूना में मजदूरों ने हड़ताल कर दी।

भूमिगत गतिविधियांः भूमिगत गतिविधियों के संचालन का कार्य मुख्यतया समाजवादी, फारवर्ड ब्लाक के सदस्य, गांधी आश्रम के अनुयायी तथा क्रांतिकारियों के हाथों में रहा। बंबई, पूना, सतारा, बड़ौदा तथा गुजरात के अन्य भाग, कर्नाटक, केरल, आंध्र, संयुक्त प्रांत, बिहार एवं दिल्ली इन गतिविधियों के मुख्य केंद्र थे। राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ अली, उषा मेहता, बीजू पटनायक, छोटू भाई पुराणिक, अच्युत पटवर्धन, सुचेता कृपलानी तथा आर.पी. गोयन्का भूमिगत गतिविधियां संचालित करने वाले अग्रगण्य नेताओं में से थे। उषा मेहता ने बम्बई में

भूमिगत रेडियो स्टेशन की स्थापना की। भूमिगत गतिविधियों में संलग्न लोगों को व्यापक सहयोग मिल रहा था। उन्हें बड़ी मात्रा में हथियार और गोला-बारूद दिया गया। इन आंदोलनकारियों का मुख्य उद्देश्य यह होता था कि सरकारी भवनों, संचार तथा यातायात के माध्यमों तथा अन्य सरकारी प्रतिष्ठानों पर हमले किये जायें तथा जो व्यक्ति सरकार के समर्थक हैं या सरकार के लिये जासूसी करते हैं, उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाये।

समानांतर सरकारें

भारत छोड़ो आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, कि देश के कई स्थानों में समानांतर सरकारों की स्थापना की गईः

बलिया (अगस्त 1942 में; केवल एक सप्ताह के लिये): यहां चित्तू पांडे के नेतृत्व में समानांतर सरकार की स्थापना की गयी। उनकी सरकार ने स्थानीय जिलाधिकारी से शासन के सभी अधिकार छीन लिये तथा जेल में बंद सभी कांग्रेस नेताओं को रिहा कर दिया।

तामलुक (मिदनापुर; दिसम्बर 1942 से सितम्बर 1944 तक): यहां की जातीय सरकार ने तूफान पीड़ितों की सहायता के लिए कार्यक्रम प्रारंभ किया, स्कूलों को अनुदान दिये, धनी लोगों का अतिरिक्त धन गरीबों में बांटा तथा एक सशस्त्र विद्युत वाहिनी का गठन किया।

सतारा (1943 के मध्य से 1945 तक): यह सबसे लंबे समय तक चलने वाली सरकार थी। यहां ''प्रति सरकार'' के नाम से समानांतर सरकार स्थापित की गयी। सरकार की स्थापना में वाई.बी. चव्हाण तथा नाना पाटिल इत्यादि की प्रमुख भूमिका थी। सरकार के कार्यों में ग्रामीण पुस्तकालयों की स्थापना, न्यायदान मंडलों (जन अदालतों) का गठन, शराब बंदी अभियान तथा गांधी विवाहों का आयोजन जैसे कार्य सम्मिलित थे।

भारत छोड़ो आंदोलन में आम जनता ने आंदोलनकारियों को अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया। समाज का कोई भी वर्ग सहायता एवं समर्थन देने में पीछे नहीं रहा। उद्योगपतियों (अनुदान, प्रश्रय एवं अन्य वस्तुओं के रूप में सहयोग), छात्रों (संदेशवाहक के रूप में सहयोग), सामान्य ग्रामीणों (सरकारी अधिकारियों को आंदोलनकारियों के संबंध में सूचनायें देने से इंकार), ट्रेन चालकों (ट्रेन में बम एवं अन्य आवश्यक वस्तुयें ले जाकर) तथा पुलिस एवं सरकारी अधिकारियों सभी ने आंदोलनकारियों को पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

आंदोलन में जनता की भागीदारी

भारत छोड़ो आंदोलन में जनता की भागीदारी कई स्तरों पर थी–

युवकः मुख्य रूप से स्कूल एवं कालेज के छात्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

महिलायें: मुख्यतया स्कूल एवं कालेज की छात्राओं ने आंदोलन में सक्रियता से भाग लिया। अन्य महिलाओं में अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी तथा उषा मेहता के नाम प्रमुख हैं।

किसानः पूरे देश के किसान इस आंदोलन की जान थे। किसान चाहे अमीर हों या गरीब, सभी ने आंदोलन में ऐतिहासिक भागीदारी निभायी। यहां तक कि कुछ जमींदारों ने भी आंदोलन में भाग लिया। विशेषकर दरभंगा के राजा, जो काफी बड़े जमींदार भी थे। किसानों ने केवल ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों को ही अपना निशाना बनाया तथा जमींदारों के विरुद्ध उन्होंने कोई हिंसा प्रदर्शित नहीं की। बंगाल (मिदनापुर), बिहार, महाराष्ट्र (सतारा), आंध्र, गुजरात, केरल तथा यू.पी. किसानों की गतिविधियों के प्रमुख केंद्र थे।

सरकारी अधिकारीः विशेष रूप से प्रशासन एवं पुलिस के निचले तबके से सम्बद्ध अधिकारी। इन्होंने भी आंदोलन में महत्वपूर्ण सहयोग दिया, फलतः इस तबके के सरकारी अधिकारियों से सरकार का विश्वास समाप्त हो गया।

मुसलमानः इन्होंने भूमिगत आंदोलनकारियों को प्रश्रय प्रदान किया। आंदोलन के दौरान साम्प्रदायिक हिंसा का नामो-निशान नहीं था।

कम्युनिस्टः यद्यपि इनका निर्णय आंदोलन का बहिष्कार करना था फिर भी स्थानीय स्तर पर सैकड़ों कम्युनिस्टों ने आंदोलन में भाग लिया।

देशी रियासतें: इनका सहयोग सामान्य था।

सरकारी दमन

आंदोलनकारियों के विरुद्ध सरकार ने दमन की नीति का सहारा लिया तथा वह आंदोलन को पूर्णरूपेण कुचल देने की नीति पर उतर आयी। यद्यपि मार्शल लॉ नहीं लागू किया गया था, किंतु सरकार की दमनात्मक कार्रवाई अत्यंत गंभीर थी। प्रदर्शनकारियों पर निर्दयतापूर्वक लाठी चार्ज किया गया, आंसू गैसे के गोले छोड़े गये तथा गोलियां बरसायी गयीं। अनुमानतः 10 हजार लोग मारे गये। सरकार ने प्रेस पर हमला बोल दिया तथा कई समाचार-पत्रों पर पाबंदी लगा दी गयी। सेना ने कई शहरों को अपने नियंत्रण में ले लिया तथा पुलिस एवं गुप्तचर सेवाओं का साम्राज्य कायम हो गया। विद्रोही गांवों पर भारी जुर्माने लगाये गये तथा लोगों को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाये गये।

भारत छोड़ो आंदोलन का मूल्यांकन

- भारत छोड़ो आंदोलन के मुख्य केंद्र थे– पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मिदनापुर, महाराष्ट्र एवं कर्नाटक।
- छात्र, मजदूर एवं कृषक आंदोलन की रीढ़ थे, जबकि उच्च वर्ग एवं नौकरशाही आंदोलन में तटस्थ बनी रही।

● सरकार के प्रति निष्ठा रखने वाले तत्वों को आंदोलनकारियों ने देशद्रोही माना। आंदोलन से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीयों में राष्ट्रवाद की भावना काफी गहराई तक घर कर चुकी है।

● आंदोलन से यह बात स्पष्ट हो गयी कि भारतीयों की इच्छा के विरुद्ध भारत पर अब और अधिक शासन करना संभव नहीं है।

● पूर्ववर्ती आंदोलनों की तुलना में इस आंदोलन में स्वतः स्फूर्तता का तत्व कहीं ज्यादा था। यद्यपि असहयोग आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन (दोनों चरण) में भी कांग्रेस ने स्वतःस्फूर्त तत्वों के विकास की संभावनाओं को अवसर प्रदान किया था, किंतु 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में यह तत्व तुलनात्मक रूप से काफी अधिक था। वस्तुतः गांधीवादी जनआंदोलन की रणनीति यह थी कि शीर्ष नेतृत्व कार्यक्रम की योजना बना देता था तथा उसका कार्यान्वयन जनता तथा स्थानीय स्तर के कार्यकर्ताओं के हाथों में छोड़ दिया जाता था। यद्यपि नेतृत्व को आंदोलन छेड़ने का अवसर न मिल पाने के कारण भारत छोड़ो आंदोलन की रूपरेखा स्पष्ट नहीं की गयी थी, किंतु एक बार जब कांग्रेस नेतृत्व एवं गांधीजी ने आंदोलन को परिभाषित कर दिया, सभी लोग उत्प्रेरित होकर आंदोलन से जुड़ गये। इसके अतिरिक्त कांग्रेस भी सैद्धांतिक, राजनीतिक एवं संगठनात्मक तौर पर काफी लंबे समय से इस संघर्ष की तैयारी कर रही थी।

● भारत छोड़ो आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि स्वतंत्रता संघर्ष के एजेंडे में भारत को तुरंत आजादी दिये जाने की मांग को सम्मिलित किया गया था। इस आंदोलन के पश्चात कांग्रेस का नेतृत्व तथा भारतीय, इस मांग के संदर्भ में कभी नरम नहीं पड़े।

● इस आंदोलन में जनसामान्य की भागीदारी अप्रत्याशित थी। लोगों ने अदम्य साहस एवं राष्ट्रभक्ति का परिचय दिया। यद्यपि उन्होंने जो प्रताड़ना सही वह अत्यंत बर्बर एवं अमानवीय थी तथा संघर्ष की परिस्थितियां भी उनके प्रतिकूल थीं। किंतु आंदोलन के हर मोर्चे पर जनता ने अत्यंत सराहनीय भूमिका निभायी तथा आंदोलनकारियों को पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्रदान किया।

गांधीजी का उपवास

सरकार, गांधीजी पर लगातार यह दबाव डाल रही थी कि वो आंदोलन के दौरान हो रही व्यापक हिंसा के लिये आंदोलनकारियों की निंदा करें। लेकिन गांधीजी ने ऐसा करने से इंकार कर दिया तथा तर्क दिया कि इस हिंसा के लिये सरकार की दमनकारी नीतियां ही उत्तरदायी हैं। गांधीजी ने इसी सरकारी दमन के विरोध में फरवरी 1943 में 21 दिन का उपवास प्रारंभ कर दिया। गांधीजी के उपवास की खबर से पूरे देश में आक्रोश फैल गया। देश भर में प्रदर्शन, हड़ताल एवं जुलूसों का आयोजन किया गया। विदेशों में भी गांधी के उपवास की खबर से व्यापक प्रतिक्रिया हुई तथा सरकार से उन्हें तुरंत

रिहा करने की मांग की गयी। वायसराय की कार्यकारिणी परिषद से तीन सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया। गांधीजी के उपवास से निम्न उपलब्धियां हासिल हुई–

- जनता के मनोबल में वृद्धि हुई।
- ब्रिटिश-विरोधी भावनायें और प्रखर हो गयीं।
- इसने राजनीतिक गतिविधियों के संचालन को नया अवसर प्रदान किया।
- सरकार की सर्वोच्चता एवं दंभ की प्रवृत्ति का खुलासा हो गया।

सरकार, गांधीजी से किसी भी तरह का समझौता करने के पक्ष में नहीं थी तथा वह यह मानकर चल रही थी कि उपवास के कारण गांधीजी की मृत्यु हो जायेगी तथा उसकी साम्राज्यवादी नीति का सबसे बड़ा कंटक दूर हो जायेगा। किंतु गांधीजी ने हमेशा की तरह अपने विरोधियों को मात दे दी तथा मरने से इंकार कर सरकारी मंसूबों पर पानी फेर दिया।

आजाद हिन्द फौज

आजाद हिन्द फौज या इंडियन नेशनल आर्मी (आई.एन.ए.) की स्थापना का विचार सर्वप्रथम मोहन सिंह के मन में मलाया में आया। मोहन सिंह, ब्रिटिश सेना में एक भारतीय सैन्य अधिकारी थे, किंतु कालांतर में उन्होंने साम्राज्यवादी ब्रिटिश सेना में सेवा करने के स्थान पर जापानी सेना की सहायता से अंग्रेजों को भारत से निष्कासित करने का निश्चय किया।

प्रथम चरण

जापानी सेना ने जब भारतीय युद्ध बंदियों को मोहन सिंह को सौंपना प्रारंभ कर दिया तो वे उन्हें आजाद हिन्द फौज में भर्ती करने लगे। सिंगापुर के जापानियों के हाथ में आने के पश्चात मोहन सिंह को 45 हजार युद्धबंदी प्राप्त हुए। यह घटना अत्यंत महत्वपूर्ण थी। 1942 के अंत तक इनमें से 40 हजार लोग आजाद हिंद फौज में सम्मिलित होने को राजी हो गये। आजाद हिंद फौज के अधिकारियों ने निश्चय किया कि वे कांग्रेस एवं भारतीयों द्वारा आमंत्रित किये जाने के पश्चात ही कार्रवाई करेंगे। बहुत से लोगों का यह भी मानना था कि आजाद हिंद फौज के कारण जापान, दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीयों से दुर्व्यवहार नहीं करेगा या भारत पर अधिकार करने के बारे में नहीं सोचेगा।

भारत छोड़ो आंदोलन ने आजाद हिंद फौज को एक नयी ताकत प्रदान की। मलाया में ब्रिटेन के विरुद्ध तीव्र प्रदर्शन किये गये। 1 सितम्बर 1942 को सोलह हजार तीन सौ सैनिकों को लेकर आजाद हिंद फौज की पहली डिवीजन का गठन किया गया। इस समय तक जापान यह योजना बनाने लगा था कि भारत पर आक्रमण किया जाये। भारतीय सैनिकों के संगठित होने से जापान अपनी योजना को मूर्तरूप देने हेतु

उत्साहित हो गया। किंतु दिसम्बर 1942 तक आते-आते आजाद हिन्द फौज की भूमिका के प्रश्न पर मोहन सिंह एवं अन्य भारतीय सैन्य अधिकारियों तथा जापानी अधिकारियों के बीच तीव्र मतभेद पैदा हो गये। दरअसल जापानी अधिकारियों की मंशा थी कि भारतीय सेना प्रतीकात्मक हो तथा उसकी संख्या 2 हजार तक सीमित रखी जाये किंतु मोहन सिंह का उद्देश्य 2 लाख सैनिकों की फौज तैयार करने का था।

द्वितीय चरण

आजाद हिंद फौज का द्वितीय चरण 2 जुलाई 1943 को सुभाषचंद्र बोस के सिंगापुर पहुंचने पर प्रारंभ हुआ। इससे पहले गांधीजी से मतभेद होने के कारण सुभाषचंद्र बोस ने कांग्रेस की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था तथा 1940 में फॉरवर्ड ब्लाक के नाम से एक नये दल का गठन कर लिया था। मार्च 1941 में वे भारत से भाग निकले, जहां उन्हें नजरबंद बनाकर रखा गया था। भारत से पलायन के पश्चात उन्होंने रूसी नेताओं से मुलाकात कर ब्रिटेन के विरुद्ध सहायता देने की मांग की। जब जून 1941 में सोवियत संघ भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया तो सुभाषचंद्र बोस जर्मनी चले गये। तत्पश्चात वहां से फरवरी 1943 में वे जापान पहुंचे। उन्होंने जापान से ब्रिटेन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष प्रारंभ की मांग की। जुलाई 1943 में सुभाषचंद्र बोस सिंगापुर पहुंचे, जहां रासबिहारी बोस एवं अन्य लोगों ने उनकी मदद की। यहां दक्षिण-पूर्व एशिया में निवास करने वाले भारतीयों तथा बर्मा, मलाया एवं सिंगापुर के भारतीय युद्धबंदियों ने उन्हें महत्वपूर्ण सहायता पहुंचायी। अक्टूबर 1943 में उन्होंने सिंगापुर में अस्थायी भारतीय सरकार का गठन किया। सिंगापुर के अतिरिक्त रंगून में भी इसका मुख्यालय बनाया गया। धुरी राष्ट्रों ने इस सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। सैनिकों को गहन प्रशिक्षण दिया गया तथा फौज के लिये धन एकत्रित किया गया। नागरिकों को भी सेना में भर्ती किया गया। स्त्री सैनिकों का भी एक दल बनाया गया तथा उसे 'रानी झांसी रेजीमेंट' नाम दिया गया। जुलाई 1944 में सुभाषचंद्र बोस ने गांधी जी से ''भारत की स्वाधीनता के अंतिम युद्ध'' के लिये आशीर्वाद मांगा।

शाह नवाज के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज की एक बटालियन जापानी फौज के साथ भारत-बर्मा सीमा पर हमले में भाग लेने के लिये इम्फाल भेजी गयी। किंतु यहां भारतीय सैनिकों से दुर्व्यवहार किया गया। उन्हें न केवल रसद एवं हथियारों से वंचित रखा गया अपितु जापानी सैनिकों के निम्न स्तरीय काम करने के लिये भी बाध्य किया गया। इससे भारतीय सैनिकों का मनोबल टूट गया। इम्फाल अभियान की विफलता तथा जापानी सैनिकों के पीछे लौटने से इस बात की उम्मीद समाप्त हो गयी कि आजाद हिंद फौज भारत को स्वाधीनता दिला सकती है। जापान के द्वितीय विश्व युद्ध में आत्मसर्पण करने के पश्चात जब आजाद हिंद फौज के सैनिकों को युद्ध बंदी के रूप में भारत लाया गया तथा उन्हें कठोर दंड देने का प्रयास किया गया तो भारत में उनके बचाव में एक सशक्त जनआंदोलन प्रारंभ हो गया।

1943 का अकाल

इस अकाल से सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्र दक्षिण पश्चिमी-बंगाल का क्षेत्र था, जिसमें तामलुक-कोन्ताई-डायमंड हार्बर क्षेत्र, ढाका, फरीदपुर, तिपेरा एवं नोआखाली सम्मिलित थे। अनुमान है कि इस मानव निर्मित भीषण अकाल में 15 से 30 लाख लोग काल के ग्रास बन गये। मरने वालों में अधिकांशतया महामारी (मलेरिया, हैजा तथा चेचक), कुपोषण एवं भूख के कारण मारे गये। इस भयानक दुर्भिक्ष के लिये निम्न कारण उत्तरदायी थे–

1. युद्ध प्रचार एवं युद्ध-व्यय के कारण खाद्यानों की आपूर्ति बंद हो गयी।
2. बर्मा एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया से चावल का आयात बंद हो गया।
3. राहत कार्य विलंब से प्रारंभ हुए तथा वे पर्याप्त नहीं थे। केंद्रीय सरकार ने इसे प्रांतीय जिम्मेदारी कहकर कोई सहायता नहीं की; सहायता कार्य मुख्यतया बड़े शहरों में ही चलाया गया; धन के अभाव के कारण सहायता कार्य सीमित रहे। इन सभी कारणों से दुर्भिक्ष की भयंकरता बढ़ गयी।

राजगोपालाचारी फार्मूला, 1944

इस बीच संवैधानिक गतिरोध को हल करने के प्रयास बराबर चल रहे थे। इसी परिप्रेक्ष्य में कुछ व्यक्तिगत प्रयास भी समस्या के समाधान हेतु किये गये। व्यक्तिगत स्तर पर गतिरोध को हल करने हेतु कुछ सुझाव दिये गये तथा प्रस्ताव पेश किये गये।

इसी तरह का व्यक्तिगत स्तर पर एक प्रयास कांग्रेस के वरिष्ठ नेता पी. राजगोपालाचारी ने किया। राजगोपालाचारी ने कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य सहयोग बढ़ाने हेतु 10 जुलाई 1944 को एक फार्मूला प्रस्तुत किया, जिसे उन्हीं के नाम पर *राजगोपालाचारी* फार्मूले के नाम से जाना जाता है। यह फार्मूला अप्रत्यक्ष रूप से पृथक पाकिस्तान की अवधारणा का ही प्रस्ताव था। गांधीजी ने इस फार्मूले का समर्थन किया। इस फार्मूले की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थीं–

- मुस्लिम लीग, भारतीय स्वतंत्रता की मांग का समर्थन करे।
- प्रांत में अस्थायी सरकारों की स्थापना के कार्य में मुस्लिम लीग, कांग्रेस की सहायता करे।
- युद्ध की समाप्ति के पश्चात, एक कमीशन उत्तर-पूर्वी तथा उत्तर पश्चिमी भारत में उन क्षेत्रों को निर्धारित करे, जहां मुसलमान स्पष्ट बहुमत में हैं। उस क्षेत्र में जनमत सर्वेक्षण कराया जाये तथा उसके आधार पर यह तय किया जाये कि वे भारत से पृथक होना चाहते हैं या नहीं।
- देश के विभाजन की स्थिति में आवश्यक विषयों–प्रतिरक्षा, वाणिज्य, संचार तथा आवागमन इत्यादि के संबंध में दोनों के मध्य कोई संयुक्त समझौता हो जाये।

● ये बातें उसी स्थिति में स्वीकृत होंगी, जब ब्रिटेन, भारत को पूरी तरह से स्वतंत्र कर देगा।

जिन्ना की आपत्ति

जिन्ना चाहते थे कि कांग्रेस द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को स्वीकार कर ले। उन्होंने यह भी मांग की कि उत्तर-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में केवल मुसलमानों को ही मत देने का अधिकार दिया जाये न कि पूरी जनसंख्या को। उन्होंने केंद्र में साझा सरकार के गठन के विचार का भी विरोध किया।

हालांकि कांग्रेस, भारतीय संघ की स्वतंत्रता के लिये मुस्लिम लीग को पूर्ण सहयोग प्रदान किये जाने पर सहमत थी, लेकिन लीग ने भारतीय संघ की स्वतंत्रता की मांग पर कोई ध्यान नहीं दिया तथा उसका सम्पूर्ण ध्यान केवल पृथक पाकिस्तान की मांग पर ही केंद्रित था।

हिन्दू नेताओं जैसे वीर सावरकर ने राजगोपालाचारी फार्मूले की तीव्र आलोचना की।

देसाई-लियाकत समझौता

अभी भी गतिरोध को दूर करने के प्रयास चल रहे थे। इन्हीं प्रयासों के तहत केंद्रीय विधान मंडल में कांग्रेस के नेता भूलाभाई देसाई, केंद्रीय विधानमंडल में ही मुस्लिम लीग के उपनेता लियाकत अली खान से मिले तथा दोनों ने मिलकर केंद्र में अंतरिम सरकार के गठन हेतु एक प्रस्ताव तैयार किया। इस प्रस्ताव में प्रावधान था कि—

● अंतरिम सरकार में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों केंद्रीय विधान मंडल से अपने समान सदस्यों को मनोनीत करेंगे।

● सदस्यों में 20 प्रतिशत स्थान अल्पसंख्यकों के लिये सुरक्षित होंगे। लेकिन इस समझौता प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य कोई सहमति होने की बात तो दूर रही, दोनों के मध्य मतभेद और गहरे हो गये। बाद के वर्षों में इस मतभेद का व्यापक प्रभाव हुआ तथा विभाजन की धारणा और पुष्ट हो गयी।

वेवेल योजना

यद्यपि मई 1945 में, यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध, समाप्ति की अवस्था में पहुंच चुका था किंतु भारत पर जापान के आक्रमण का भय अभी भी बना हुआ था। ब्रिटेन में चर्चिल के नेतृत्व में रूढ़िवादी सरकार यह चाहती थी कि भारत में संवैधानिक प्रश्न को किसी भी तरह हल कर लिया जाये। इसीलिये वायसराय लार्ड वेवेल से यह कहा गया कि वो इस संबंध में भारत के नेताओं से विचार- विमर्श कर समझौते का प्रयास करें। जून 1945 में सभी कांग्रेसी नेताओं को जेल से रिहा कर दिया गया।

सरकार समस्या के समाधान हेतु क्यों तत्पर थी?

1. 1945 के मध्य में इंग्लैंड में चुनाव आयोजित होने वाले थे। रूढ़िवादी यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि वे समस्या के समधान हेतु गंभीर हैं।

2. विभिन्न राष्ट्रों की ओर से ब्रिटेन पर लगातार यह दबाव डाला जा रहा था कि वो भारत का समर्थन प्राप्त करे।

3. सरकार भारतीयों की ऊर्जा को ऐसी दिशा में मोड़ना चाहती थी, जहां वो अंग्रेजों के लिये लाभदायक हो सके।

योजना

सरकार की ओर से, जब तक नया संविधान न बने, वायसराय की कार्यकारिणी के पुनर्गठन का प्रस्ताव पेश किया गया। इसी उद्देश्य से वायसराय लार्ड वेवेल ने जून 1945 में शिमला में एक सम्मेलन बुलाया। जिसमें कांग्रेस, मुस्लिम लीग एवं अन्य लोगों ने भाग लिया। वेवेल योजना के मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थे–

- अपवाद स्वरूप गवर्नर-जनरल एवं कमांडर-इन-चीफ को छोड़कर, गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सभी सदस्य भारतीय होंगे।
- परिषद में हिन्दू एवं मुसलमानों की संख्या बराबर रखी जायेगी।
- पुर्नगठित परिषद, 1935 के अधिनियम के ढांचे के तहत अंतरिम सरकार के रूप में कार्य करेगी।
- यद्यपि गवर्नर-जनरल का निषेधाधिकार (Veto) समाप्त नहीं किया जायेगा परंतु उसका प्रयोग करना आवश्यक नहीं होगा।
- राजनीतिक दलों की एक संयुक्त सभा आहूत की जायेगी, ताकि कार्यकारिणी की नियुक्ति के लिये एक सर्वसम्मत सूची प्रस्तुत की जा सके। किंतु यदि इस मसले पर आम सहमति न बन सके तो इस कार्य के लिये पृथक-पृथक सूचियां प्रस्तुत की जायें।
- इस बात की पूरी संभावना रखी गयी कि जैसे ही युद्ध में ब्रिटेन को निर्णायक विजय प्राप्त होती है, नये संविधान के निर्माण की आवश्यक प्रक्रिया प्रारंभ की जायेगी।

मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया

मुस्लिम लीग यह चाहती थी कि लीग को ही समस्त मुसलमानों का प्रतिनिधी माना जाये और वायसराय की सूची में मुस्लिम लीग से बाहर का कोई मुसलमान नहीं होना चाहिये। लीग को इस बात का भय था कि अल्पसंख्यक वर्ग में–अनुसूचित जातियां, सिख और इसाइयों इत्यादि के प्रतिनिधि होने थे, जिससे प्रस्तावित कार्यकारिणी में मुसलमानों की संख्या केवल एक-तिहाई रह जायेगी। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी

कि पंजाब के संघवादी दल के मलिक खिजर हयात खां जो मुस्लिम लीग के नहीं थे, वेवेल उन्हें कार्यकारिणी में रखना चाहते थे।

कांग्रेस की प्रतिक्रिया

कांग्रेस ने यह कहकर वेवेल योजना का विरोध किया कि ''इसका प्रयास है कि कांग्रेस की छवि विशुद्ध सवर्ण हिन्दू दल की बनकर रह जाये।'' इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने यह मांग भी रखी थी कि उसे यह अधिकार दिया जाये कि वह अपने सदस्यों के मनोनयन में सभी संप्रदाय के सदस्यों को मनोनीत कर सके।

वेवेल की भूल

वेवेल द्वारा शिमला सम्मेलन को असफल कह कर समाप्त कर दिये जाने से मुस्लिम लीग की स्थिति मजबूत हो गयी। इससे लीग और सुदृढ़ होकर उभरी, जिसका प्रमाण 1945-1946 के चुनावों से मिल गया। वेवेल के कदम से जिन्ना की स्थिति में भी अत्यधिक सुधार आया तथा इसने ब्रिटेन की चर्चिल के नेतृत्व वाली रूढ़िवादी सरकार के मुखौटे को अनावृत कर दिया।

सारांश

- **भारत छोड़ो आंदोलन**

  आंदोलन क्यों प्रारंभ किया गया?

  क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों में भारतीय मांगों को पूरा करने के लिये सरकारी इच्छाशक्ति का अभाव।

  युद्ध के समय उत्पन्न कठिनाइयों से उपजा जन-असंतोष

  ब्रिटेन की अपराजेयता का भ्रम टूटना।

  संभावित जापानी आक्रमण के मद्देनजर, भारतीय नेताओं की जनता को तैयार करने की अभिलाषा।

  - **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की बैठक (बंबई-8 अगस्त, 1942)**

    बैठक में भारत छोड़ो प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित कर दिया गया।
  - **9 अगस्त, 1942** सभी प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये।
  - **मुख्य गतिविधियां**

  जनता विद्रोह एवं प्रदर्शन पर उतारू-मुख्यतया पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मुख्यतया सरकारी भवनों एवं प्रतीकों पर आक्रमण।

  आंदोलनकारियों को समुचित नेतृत्व प्रदान करने के लिय कुछ नेताओं की भूमिगत गतिविधियां।

  बलिया (उ.प्र.), तामलुक (बंगाल) एवं सतारा (महाराष्ट्र) में समानांतर सरकारों का गठन।

समाज के विभिन्न वर्ग, जिन्होंने आंदोलन में सक्रियता से भाग लिया-युवा, महिलायें, श्रमिक, किसान, सरकारी सेवक एवं साम्यवादी।
फरवरी 1943 में गांधी ने आमरण अनशन प्रारंभ किया।
23 मार्च, 1943 को पाकिस्तान दिवस मनाया गया।

- **आजाद हिंद फौज**
  प्रथम चरण
  द्वितीय चरण
- **सी. राजगोपालाचारी फार्मूला (मार्च 1944)**
  मुस्लिम लीग को तुरंत भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का समर्थन करना चाहिए तथा अंतरिम सरकार को सहयोग प्रदान करना चाहिये।
  युद्ध के उपरांत मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों को आत्म-निर्धारण का अधिकार प्रदान किया जाये।
  देश के विभाजन की स्थिति में रक्षा, वाणिज्य एवं दूरसंचार इत्यादि मुद्दों का संचालन एक ही केंद्र (Common Center) से किया जाये।
  जिन्ना ने फार्मूले को अस्वीकार कर दिया क्योंकि वे चाहते थे कि कांग्रेस द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को स्वीकार कर ले।
- **देसाई-लियाकत समझौता**
  केंद्रीय कार्यकारिणी में कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग दोनों का समान प्रतिनिधित्व हो।
  20 प्रतिशत स्थान अल्पसंख्यकों के लिये आरक्षित किये जायें।
- **वेवेल योजना (शिमला सम्मेलन-जून 1945)**
  अपवादस्वरूप गवर्नर-जनरल एवं कमांडर-इन-चीफ को छोड़कर, गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सभी सदस्य भारतीय होंगे।
  परिषद में हिन्दू एवं मुसलमानों की संख्या बराबर रखी जाएगी।
  मुस्लिम लीग ने शर्त रखी कि परिषद के सभी मुसलमानों का मनोनयन वह स्वयं करेगी तथा उसने कार्यकारिणी परिषद में साम्प्रदायिक निषेधाधिकार की मांग की।
  कांग्रेस ने आरोप लगाया कि वेवेल योजना, उसे विशुद्ध सवर्ण हिन्दू दल घोषित करने का प्रयास है।

अध्याय 24

युद्धोपरांत राष्ट्रीय परिदृश्य

1943 में 'भारत छोड़ो आंदोलन' के कमजोर पड़ने से लेकर 1945 में धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली और जापान) के पतन तक भारत का राजनीतिक परिदृश्य प्रत्यक्षतः शांत था। लेकिन आंतरिक रूप से युद्धजनित कष्टों के कारण आक्रोश बढ़ रहा था, जिसे अंग्रेज शासन अपने तमाम प्रयत्नों के बावजूद रोक नहीं पा रहा था। इस आक्रोश को शांत करने के लिए अंग्रेजी शासन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक जोरदार ढंग से लोगों का ध्यान इस बिंदु से हटाने के लिए प्रयासरत् था। इस जनाक्रोश का मुख्य कारण भारतीय उत्पादनों का सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भेजा जाना और भारतीयों के लिए ब्रिटेन से उपभोग की वस्तुओं के आयात में गिरावट आने के कारण बढ़ने वाली महंगाई थी। रक्षा व्यय में भारतीय योगदान का ब्रिटेन द्वारा भुगतान न किए जाने तथा ब्रिटेन पर भारत के बढ़ते हुए कर्ज के कारण स्थिति और भी गंभीर हो गई।

स्पष्ट रूप से 1945 तक लोग कष्टों की चरम सीमा तक पहुंच गए थे और तथाकथित सर्वोपरि ब्रिटिश राज भी स्थिति को बदलने में असमर्थ था।

राष्ट्रीय विप्लव के दो पहलू

ब्रिटिश शासन के अंतिम दो वर्षों में राष्ट्रीय विप्लव के संबंध में दो आधारभूत कारकों का विश्लेषण किया जा सकता है–

(i) इस दौरान सरकार, कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग तीनों ही कुटिल समझौते करने में संलग्न रहे। इससे साम्प्रदायिक हिंसा को बढ़ावा मिला, जिसकी चरम परिणति स्वतंत्रता एवं देश के विभाजन के रूप में सामने आयी।

(ii) श्रमिकों, किसानों एवं राज्य के लोगों द्वारा असंगठित, स्थानीय एवं उग्रवादी जन प्रदर्शन। इसने राष्ट्रव्यापी स्वरूप धारण कर लिया। इस तरह की गतिविधियों में–आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों को रिहा करने से संबंधित आंदोलन, शाही नौसेना

के नाविकों का विद्रोह, पंजाब किसान मोर्चा का आंदोलन, ट्रावनकोर के लोगों का संघर्ष तथा तथा तेलंगाना आंदोलन प्रमुख है।

सरकार के दृष्टिकोण में परिवर्तन क्यों आया

जब सरकार ने जून 1945 में कांग्रेस से प्रतिबंध हटाकर उसके नेताओं को रिहा किया तो उसे उम्मीद थी कि इसे जनता हतोत्साहित होगी। लेकिन इसके स्थान पर भारतीयों का उत्साह दोगुना हो गया। तीन वर्षों के दमन से जनता में सरकार के विरुद्ध तीव्र रोष का संचार हो चुका था। राष्ट्रवादी नेताओं की रिहायी से जनता की उम्मीदें और बढ़ गयीं। रूढ़िवादी सरकार के समय की वैवेल योजना, मौजूदा संवैधानिक संकट को हल करने में विफल रही।

जुलाई 1945 में, ब्रिटेन में श्रमिक दल सत्ता में आया। क्लीमेंट एटली ने ब्रिटेन के नये प्रधानमंत्री का पदभार संभाला तथा पैथिक लारेंस नये भारत सचिव बने।

अगस्त 1945 में, केंद्रीय एवं प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं के लिये चुनावों की घोषणा की गयी।

सितम्बर 1945 में, सरकार ने घोषणा की कि युद्ध के उपरांत एक संविधान सभा गठित की जायेगी।

सरकार के रुख में परिवर्तन निम्न कारकों के प्रभावाधीन आया।

- युद्ध की समाप्ति के पश्चात विश्व-शक्ति-संतुलन परिवर्तित हो गया—ब्रिटेन अब महाशक्ति नहीं रहा तथा अमेरिका एवं सोवियत संघ विश्व की दो महान शक्तियों के रूप में उभरे। इन दोनों ने भारत की स्वतंत्रता का समर्थन किया।
- ब्रिटेन की नयी लेबर सरकार, भारतीय मांगों के प्रति ज्यादा सहानुभूति रखती थी।
- संपूर्ण यूरोप में इस समय समाजवादी-लोकतांत्रिक सरकारों के गठन की लहर चल रही थी।
- ब्रिटिश सैनिक हतोत्साहित एवं थक चुके थे तथा ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गयी थी।
- दक्षिण-पूर्व एशिया—विशेषकर वियतनाम एवं इंडोनेशिया में इस समय साम्राज्यवाद—विरोधी वातावरण था। यहां उपनिवेशी शासन का तीव्र विरोध किया जा रहा था।
- अंग्रेज अधिकारियों को भय था कि कांग्रेस पुनः नया आंदोलन प्रारंभ करके 1942 के आंदोलन की पुनरावृत्ति कर सकती है। सरकार का मानना था कि यह आंदोलन 1942 के आंदोलन से ज्यादा भयंकर हो सकता है क्योंकि इसमें कृषक असंतोष, संचार-व्यवस्था पर प्रहार, मजदूरों की दुर्दशा, सरकारी सेवाओं से असंतुष्ट तथा आजाद हिंद फौज के सैनिकों इत्यादि जैसे कारकों का गठजोड़ बन सकता है।

सरकार इस बात से भी चिंतित थी कि आजाद हिंद फौज के सैनिकों का अनुभव, सरकार के विरुद्ध हमले में प्रयुक्त किया जा सकता है।

• युद्ध के समाप्त होते ही भारत में चुनावों का आयोजन तय था क्योंकि 1934 में केंद्र के लिये एवं 1937 में प्रांतों के लिये जो चुनाव हुए थे उसके पश्चात दुबारा चुनावों का आयोजन नहीं किया गया था।

यद्यपि ब्रिटेन भारतीय उपनिवेश को खोना नहीं चाहता था लेकिन उसकी सत्तारूढ़ लेबर सरकार समस्या के शीघ्र समाधान के पक्ष में थी।

कांग्रेस का चुनाव अभियान एवं आजाद हिंद फौज पर मुकदमा

1946 में सर्दियों में चुनावों के आयोजन की घोषणा की गयी। इन चुनावों में अभियान के समय राष्ट्रवादी नेताओं के समक्ष यह उद्देश्य था कि वे न केवल वोट पाने का प्रयास करें अपितु लोगों में ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को और सशक्त बनायें।

चुनाव अभियान में राष्ट्रवादियों ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान सरकार की दमनकारी नीतियों की खुलकर आलोचना की। कांग्रेसी नेताओं ने शहीदों की देशभक्ति एवं त्याग की प्रशंसा तथा सरकार की आलोचना करके भारतीयों में देश प्रेम की भावना को संचारित करने का प्रयत्न किया। कांग्रेस के नेताओं ने 1942 के आंदोलन में नेतृत्वविहीन जनता के साहसी प्रतिरोध की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। अनेक स्थानों पर शहीद स्मारक बनाये गये तथा पीड़ितों को सहायता पहुंचाने के लिये धन एकत्रित किया गया। सरकारी दमन की कहानियों को विस्तार से जनता के मध्य सुनाया जाता था, दमनकारी नीतियां अपनाने वाले अधिकारियों की निंदा की जाती थी तथा उनके विरुद्ध जांच कराकर उन्हें सजा देने की धमकी दी जाती थी।

किंतु सरकार इन गतिविधियों में रोक लगाने में असफल रही। राष्ट्रवादियों के इन कार्यों से जनता सरकार से और भयमुक्त हो गयी। उन सभी प्रांतों में कांग्रेस की सरकार की स्थापना लगभग सुनिश्चित हो गयी, जहां सरकारी, दमन ज्यादा बर्बर था। इन कारणों से सरकार परेशान हो गयी। अब सरकार कांग्रेस के साथ कोई 'सम्मानजनक समझौता' करने हेतु मजबूर सी दिखने लगी।

सरकार द्वारा आजाद हिंद फौज के सैनिकों पर मुकदमा चलाये जाने के निर्णय के विरुद्ध पूरे देश में जितनी तीव्र प्रतिक्रिया हुई उसकी कल्पना न तो कांग्रेसी नेताओं को और न ही सरकार को थी। पूरा देश इन सैनिकों के बचाव में आगे आ गया। इससे पहले सरकार ने यह निर्णय लिया था कि इन सैनिकों पर मुकदमा चलाया जायेगा। कांग्रेस ने सैनिकों के बचाव हेतु 'आजाद हिंद फौज बचाव समिति' का गठन किया। सैनिकों को आर्थिक सहायता देने तथा उनके लिये रोजगार की व्यवस्था करने हेतु 'आजाद हिंदू फौज राहत तथा जांच समिति' भी बनायी गयी।

आजाद हिंद फौज का मानसिक प्रभाव अत्यंत प्रबल था और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण

था, आजाद हिंद फौज के बंदी बनाये गये सैनिकों की रिहाई के पक्ष में जन और नेतृत्व-स्तर पर राष्ट्रीय आंदोलन। इस संदर्भ में दो साम्राज्यवादी नीतियों का सशक्त प्रभाव पड़ा। एक तो पहले ही सरकार ने आजाद हिन्द फौज के कैदियों पर सार्वजनिक मुकदमा चलाने का निर्णय लिया। तथा दूसरा, मुकदमा नवंबर में लाल किले में एक हिन्दू (प्रेम कुमार सहगल), एक मुसलमान (शाहनवाज खान) तथा एक सिख (गुरुबख्श सिंह ढिल्लो) को एक ही कटघरे में खड़ा करके चलाया गया। बचाव पक्ष में भूलाभाई देसाई और तेजबहादुर सप्रू के साथ नेहरू भी थे। काटजू एवं आसफ अली उनके सहायक थे।

इसके अतिरिक्त वियतनाम एवं इंडोनेशिया में भी उपनिवेशी शासन की स्थापना हेतु भारतीय सेना की टुकड़ियों का प्रयोग किये जाने से ब्रिटिश विरोधी भावनायें पुख्ता हुईं। इससे शहरी वर्ग एवं सैनिकों दोनों में असंतोष जागा।

आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों को कांग्रेस का समर्थन

● द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत 1945 में बंबई में पहली बार आयोजित हो रहे कांग्रेस के अधिवेशन में आजाद हिंद फौज के कैदियों के समर्थन में एक सशक्त प्रस्ताव पारित किया गया तथा उन्हें पूर्ण सहयोग देने की घोषणा की गयी।

● आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों पर चलाये जा रहे मुकदमें में भूलाभाई देसाई, तेज बहादुर सप्रू, कैलाश नाथ काटजू, जवाहरलाल नेहरू एवं आसफ अली बचाव पक्ष की ओर से प्रस्तुत हुये तथा इनके समर्थन में वकालत की।

● आजाद हिंद फौज जांच एवं राहत समिति ने युद्धबंदियों एवं उनके आश्रितों के लिये धन एवं खाद्यान्न की व्यवस्था की तथा उनके लिये रोजगार के अवसर जुटाये।

● जनता को समर्थन देने के लिये प्रेरित किया।

आजाद हिन्द फौज के युद्धबंदियों के समर्थन में आंदोलन

आजाद हिन्द फौज के युद्धबंदियों को रिहा करने के लिये भारतीयों ने जिस अभूतपूर्व एकता का परिचय दिया तथा इसके समर्थन में जो राष्ट्रव्यापी आंदोलन एवं प्रदर्शन किये गये, वह अप्रत्याशित था। इस संबंध में चलाये जा रहे विरोध प्रदर्शन को समाचार-पत्रों ने प्रमुखता से स्थान दिया। इससे आंदोलन को काफी लोकप्रियता मिली। आंदोलन के समर्थन में समाचार-पत्रों में सम्पादकीय लेख लिखे गये तथा पैम्फलेट्स बांटे गये। इनमें सरकार को धमकी दी जाती थी तथा जनता से आंदोलन के समर्थन में आगे आने का आह्वान किया जाता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर सभाओं का आयोजन किया जाता था तथा सरकार के विरुद्ध तीव्र प्रदर्शन किया जाता था। 1 से 11 नवंबर तक आजाद हिंद फौज सप्ताह का आयोजन किया गया तथा 12 नवंबर 1945 को आजाद हिंद फौज दिवस मनाया गया।

सामाजिक और भौगोलिक दृष्टि से भी आंदोलन का दायरा काफी बड़ा था। समाज

के सभी वर्गों तथा सभी राजनीतिक दलों ने इस आंदोलन का समर्थन किया। दिल्ली, पंजाब, बंगाल, बंबई, मद्रास तथा संयुक्त प्रांत आंदोलन के मुख्य केंद्र थे। किंतु अजमेर, बलूचिस्तान, असम, कुर्ग, ग्वालियर तथा दूर-दराज के गांवों में भी आंदोलन का काफी प्रभाव था। सरकार के विरुद्ध जनता विभिन्न तरीकों से अपने रोष का प्रदर्शन कर रही थी। छात्र सबसे अधिक सक्रिय थे। छात्रों ने न केवल शिक्षण संस्थानों का बहिष्कार किया अपितु सभाओं, प्रदर्शनों एवं हड़तालों का आयोजन भी किया। कई स्थानों पर पुलिस से उनकी मुठभेड़ भी हुई। दुकानदारों ने दुकानें बंद कर दीं। कोष एकत्रित किया गया। कोष में नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों, गुरुद्वारा समितियों, प्रवासी भारतीयों, कैंब्रिज मजलिस, कलकत्ता और बंबई के फिल्मी सितारे तथा अमरावती के तांगे वालों इत्यादि ने चंदा दिया। विभिन्न स्थानों पर किसान सभायें आयोजित की गयीं तथा अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों को रिहा करने की मांग की गयी।

जिन राजनीतिक दलों ने आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों का समर्थन किया, उनमें—कांग्रेस, मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी, यूनियनवादी, अकाली जस्टिस पार्टी, रावलपिंडी के अहरार, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिन्दू महासभा एवं सिख लीग प्रमुख थीं।

आजाद हिंद फौज आंदोलन की व्यापकता इतनी अधिक थी कि अभी तक ब्रिटिश राज के परंपरागत समर्थक माने जाने वाले सरकारी कर्मचारी एवं सशस्त्र सेनाओं के लोग भी सरकार के विरुद्ध हो गये तथा उन्होंने आंदोलनकारियों का समर्थन किया। सरकारवादियों और उदारवादियों दोनों ने सरकार से आग्रह किया कि भारत एवं ब्रिटेन के संबंधों को अच्छा बनाये रखने के लिये वह युद्धबंदियों को रिहा कर दे। सरकारी कर्मचारियों तथा सशस्त्र सेनाओं के लोगों को युद्धबंदियों से पूरी सहानुभूति थी। वे सरकार विरोधी सभाओं में जाते थे, भाषण सुनते थे तथा पैसे भी भेजते थे।

इस प्रकार आजाद हिंद फौज के आंदोलन ने, न केवल यह सिद्ध किया कि भारतीयों के संबंध में किसी भी प्रकार का निर्णय लेने का अधिकार केवल भारतीयों को है, बल्कि उसने यह अधिकार प्राप्त भी किया, ब्रिटेन, आजाद हिन्द फौज के मुद्दे की महत्ता से भलीभांति परिचित हो चुका था। अब 'भारत बनाम इंगलैंड' का मुद्दा बिल्कुल स्पष्ट हो चुका था तथा दिन-ब-दिन भारतीय आंदोलन पूर्ण आजादी के रंग से रंगने लगा।

1945-46 में विद्रोह की तीन घटनायें

1946-56 की सर्दियों में भारतीयों की प्रखर राष्ट्रवादी भावना का उभार, अंग्रेज अधिकारियों के साथ टकराव के रूप में सामने आया। इस समय विद्रोह की तीन घटनायें हुईं—

1. 21 नवंबर 1945– कलकत्ता में; आजाद हिंद फौज पर मुकद्दमें को लेकर।
2. 11 फरवरी, 1946– कलकत्ता में; आजाद हिंद फौज के अधिकारी राशिद अली को सात वर्ष का कारावास सुनाये जाने को लेकर। एवं
3. 18 फरवरी 1946– बंबई में; जब रॉयल इंडियन नेवी के नाविकों ने हड़ताल कर दी।

त्रि-स्तरीय पैटर्न

सभी तीन विद्रोहों का एक-समान त्रि-स्तरीय पैटर्न था–

चरण I. छात्रों या नाविकों के किसी समूह द्वारा अधिकारियों की बात मानने से इंकार कर देना और फिर उनका दमन करनाः इस दिन (21 नवंबर, 1945) फारवर्ड ब्लाक के छात्रों का जुलूस, कलकत्ता में सरकारी सत्ता के केंद्र डलहौजी स्क्वायर की ओर बढ़ा। जुलूस में छात्र फेडरेशन एवं इस्लामिया कालेज के छात्र भी सम्मिलित थे। पुलिस ने प्रदर्शनकारी छात्रों पर लाठी चार्ज किया पर वह छात्रों को तितर-बितर करने में सफल नहीं हो सकी। उल्टे छात्रों ने पुलिस पर ईंट-पत्थर फेंके। इसके जवाब में पुलिस ने छात्रों पर गोलियां चला दीं। इस घटना में 2 छात्रों की मृत्यु हो गयी तथा 52 छात्र घायल हो गये।

विद्रोह की दूसरी घटना (11 फरवरी, 1946) आजाद हिंद फौज के कैप्टन अब्दुल रशीद को सात वर्ष का कारावास दिये जाने के निर्णय से संबंधित थी। इस घटना में एक प्रतिवादी जुलूस निकाला गया, जिसका नेतृत्व मुस्लिम लीग के छात्रों ने किया। कांग्रेस एवं कम्युनिस्ट पार्टी के छात्र संगठन भी इस जुलूस में सम्मिलित हुए। पुलिस ने धर्मतल्ला स्ट्रीट पर कुछ प्रदर्शनकारियों को गिरफ्तार कर लिया। इससे छात्र उत्तेजित हो गये तथा विरोधस्वरूप उन्होंने डलहौजी स्क्वायर क्षेत्र में धारा 144 का उल्लंघन किया। इसके परिणामस्वरूप पुलिस ने लाठी चार्ज किया तथा कई और लोगों को बंदी बना लिया।

रायल इंडियन नेवी (भारतीय शाही सेना) के इस विद्रोह (18 फरवरी, 1946) की शुरुआत बंबई में हुई, जब एच.एम.आई.एस. तलवार के 1100 नाविकों ने निम्न कारणों से हड़ताल कर दी–

★ नस्लवादी भेदभाव (भारतीय नाविक, अंग्रेज सैनिक के बराबर वेतन की मांग करने लगे)।

★ अखाद्य भोजन।

★ नाविक बी.सी. दत्त द्वारा एच.एम.आई. एस. तलवार की दीवारों पर 'भारत छोड़ो' लिखने के आरोप के कारण उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था। रॉयल इंडियन नेवी के नाविक उन्हें रिहा करने की मांग कर रहे थे।

★ आजाद हिंद फौज पर मुकदमा।

★ इंडोनेशिया में भारतीय सेना का प्रयोग तथा उसकी वापसी की मांग।

आंदोलनकारियों ने तिरंगे फहराये तथा जहाजी बेड़ों में जगह-जगह झंडे लगा दिये। शीघ्र ही कैसेल और फोर्ट बैरक भी हड़ताल में शामिल हो गये। आंदोलनकारी कांग्रेस के झंडों से सजी गाड़ियों में बैठकर पूरे बंबई में घूमने लगे। उन्होंने कुछ स्थानों पर यूरोपियों एवं पुलिसवालों को धमकाया तथा कुछ दुकानों के कांच तोड़ दिये। भारतीयों ने आंदोलनकारियों को भोजन पहुंचाया तथा दुकानदारों ने उन्हें आमंत्रित किया कि वे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें दुकानों से निःशुल्क ले सकते हैं।

चरण II. पूरे शहर के लोगों का आंदोलनकारियों की मांगों में शामिल हो जानाः विद्रोह के दूसरे चरण में शहर के लगभग सभी लोग आंदोलनकारियों के साथ हो गये। इस चरण में ब्रिटिश-विरोधी भावनायें अत्यंत उग्र हो गयीं तथा बंबई एवं कलकत्ता में सारा काम-काज ठप्प पड़ गया। शुरू में शहरवासियों ने आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन किया तथा उनकी मांगों के समर्थन में सभाओं, जुलूस एवं हड़तालों का आयोजन किया। बाद में जगह-जगह अवरोध खड़े किये गये, गलियों और मकानों की छतों से लड़ाइयां की गयीं, यूरोपियों पर हमले किये गये तथा थानों, बैंकों, डाकघरों एवं अनाज की दुकानों में आग लगा दी गयी। एक ईसाई संगठन वाई एम.सी.ए. के केंद्र में भी आगजनी की घटना हुई। ट्राम के दफ्तरों एवं रेलवे स्टेशनों पर भी आक्रमण किये गये तथा बलपूर्वक रेल एवं सड़क यातायात को अवरुद्ध कर दिया गया।

चरण III. देश के दूसरे हिस्से के लोगों द्वारा आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति और एकजुटता की अभिव्यक्तिः इस चरण में देश के अन्य हिस्से के छात्रों ने आंदोलनकारी छात्रों एवं नाविकों के समर्थन एवं सहानुभूति में शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार किया तथा हड़तालों एवं प्रदर्शनों का आयोजन किया। छात्रों ने जुलूस भी निकाले तथा सरकार की भर्त्सना की। दूसरे जहाज के नाविकों ने भी विद्रोह कर दिया। बंबई के बाद कराची में नाविकों ने हड़ताल की। एच.एम.आई.एस. हिन्दुस्तान तथा एक अन्य जहाज के नाविकों और तीन तटवर्ती प्रतिष्ठान के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। मद्रास, विशाखापट्टनम, कलकत्ता, दिल्ली, कोचीन, जामनगर अंडमान, बहरीन एवं अदन में भी रक्षा प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों ने सांकेतिक हड़ताल कर दी। बंबई, पूना, कलकत्ता, जैसोर तथा अंबाला में रायल इंडियन एयर फोर्स के कर्मचारियों ने सहानुभूति हड़ताल की। जबलपुर एवं कोलाबा के सैनिकों ने भी असंतोष व्यक्त किया। वल्लभभाई पटेल एवं मुहम्मद अली जिन्ना ने नाविकों से आग्रह किया कि वे आत्मसमर्पण कर दें तथा उन्हें आश्वासन दिया कि सभी राष्ट्रीय दल, आंदोलनकारियों के विरुद्ध चलाये गये मुकदमों में उनका पूर्ण सहयोग करेंगे।

विद्रोह की तीनों घटनाओं की शक्ति तथा उनके प्रभाव का मूल्यांकन

विद्रोह की ये तीनों घटनायें कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण थीं–

● इनके द्वारा जनता के बेखौफ लड़ाकूपन की समर्थ अभिव्यक्ति हुई।

● सशस्त्र सेनाओं के विद्रोह का जनता के मनो-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा वह बिल्कुल निर्भीक हो गयी।

● रायल इंडियन नेवी के विद्रोह को भारतीयों ने ब्रिटिश शासन की पूर्ण समाप्ति के रूप में देखा तथा इस तिथि को वे स्वतंत्रता दिवस की तरह मानने लगे।

● इन विद्रोहों ने ब्रिटिश सरकार को कुछ रियायतें देने हेतु विवश किया। यथाः

–1 दिसंबर 1946 को सरकार ने घोषणा की कि, आजाद हिंद फौज के केवल उन्हीं सैनिकों पर मुकद्दमा चलाया जायेगा, जिन पर हत्या या क्रूर अपराधों में शामिल होने का आरोप है।

–जनवरी 1947 में पहले बैच को दी गयी कैद की सजा समाप्त कर दी गयी।

–फरवरी 1947 तक हिन्द-चीन एवं इंडोनेशिया से भारतीय सैनिकों को वापस बुला लिया गया।

–एक उच्चस्तरीय संसदीय शिष्टमंडल भारत भेजने का निर्णय किया गया।

–जनवरी 1946 में भारत में कैबिनेट मिशन भेजने का निर्णय भी लिया गया।

लेकिन ब्रिटिश सरकार से इस प्रत्यक्ष, उग्रवादी एवं हिंसक मुठभेड़ की कुछ सीमायें भी थीं। इसमें समाज के सापेक्षिक रूप से ज्यादा लड़ाकू हिस्से ही शामिल हो सकते थे। इन विद्रोहों में उन उदारवादियों एवं परंपरा प्रिय समूहों के लिये कोई स्थान न था, जिन्होंने आई.एन.ए. के युद्धबंदियों का समर्थन किया था, या जो इससे पूर्ववर्ती विभिन्न राष्ट्रीय आंदोलनों के आधार स्तंभ थे। ये विद्रोह एवं उसमें जनता की सहभागिता अल्पकालिक थी। हड़तालों में भी मजदूर ही सबसे ज्यादा सक्रिय थे, बाकी अन्य वर्ग ज्यादा तत्पर नहीं दिखाई दिये।

विद्रोह का प्रसार भी सीमित था तथा यह कुछ शहरों तक ही सीमित रहा, जबकि आजाद हिन्द फौज के युद्धबंदियों के समर्थन से चलाया गया आंदोलन दूरदराज के गांवों में भी पहुंचा था। विद्रोह के सीमित प्रसार के कारण सरकार को दमन करने एवं नियंत्रण स्थापित करने में आसानी हुई। थलसेना ने भी रायल इंडियन नेवी के नाविकों का साथ नहीं दिया, इससे ब्रिटिश सरकार को नाविकों के विद्रोह को दबाने में उसकी सहायता मिल सकी। बंबई में तो मराठा बटालियन ने नाविकों को घेर लिया और खदेड़कर उन्हें उनकी बैरकों में पहुंचा दिया।

इस विद्रोह के सिलसिले में एक महत्वपूर्ण यह तथ्य भी उभरकर सामने आया कि अभी भी ब्रिटिश सरकार की दमन करने की नीति अक्षुण्ण थी और उसके कठोर इस्तेमाल का इरादा भी बना हुआ था। नौकरशाही के मनोबल में उल्लेखनीय गिरावट

आने के बावजूद भी सरकार दमन का सहारा लेकर किसी भी आंदोलन को कुचलने की रणनीति अपनाने लग गई थी।

इस विद्रोह के दौरान जो साम्प्रदायिक एकता परिलक्षित हुई उसकी भी सीमायें थीं। यह जन-एकता कम संगठनात्मक एकता ज्यादा थी। केवल रशीद अली के मुकदमे का प्रतिवाद करने के मुद्दे पर ही कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी के छात्र संगठनों में एकता स्थापित हो सकी तथा यह एकता भी कुछ समय के लिये ही थी। कलकत्ता, जहां फरवरी 1946 में लोगों ने नाविकों के समर्थन में सराहनीय एकता प्रदर्शित की थी, अगस्त 1946 में सांप्रदायिक दंगों की आग में जल उठा। यद्यपि नाविकों ने मुस्लिम लीग, कांग्रेस एवं कम्युनिस्ट पार्टी तीनों के झंडे साथ-साथ जहाजों पर लगाये थे, किंतु वैचारिक स्तर पर उनमें तीव्र मतभेद थे तथा सम्प्रदायवाद से वे गहरे प्रभावित थे। नीतिगत मसलों पर विचार-विमर्श के लिये अधिकांश नाविक जहां कांग्रेस के पास जाते थे, वहीं मुसलमान नाविकों का ज्यादा झुकाव मुस्लिम लीग की ओर था। राष्ट्रवादी नेताओं ने भी अपने संप्रदाय विशेष के नाविकों को अपने प्रयासों से प्रभावित करने की चेष्टा की। यह अवधारणा कि इन विद्रोहों में प्रदर्शित साम्प्रदायिक एकता को यदि राष्ट्रवादी नेता सुदृढ़ एवं स्थायी बना देते तो देश को विभाजन की आग से बचाया जा सकता था, एक विचारात्मक प्रतिक्रिया है। यद्यपि इस तथ्य में कोई यथार्थ नहीं है। अधिकांश इतिहासकारों का भी यही मत है।

कांग्रेस की रणनीति

वर्ष 1945 के समय यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका था कि उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में कांग्रेस ही सबसे प्रमुख संस्था है। जहां भी साम्राज्यवादी सत्ता को चुनौती दी गयी या सरकार विरोधी झंझावात आया, वहां कांग्रेस ही सर्वाधिक सक्रिय थी तथा उसने ही जनता की आवाज को सबसे ज्यादा मुखरित किया। चाहे आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों का मामला हो या भारत छोड़ो आंदोलन के विरुद्ध सरकारी दमन की बात, कांग्रेस ही इन मुद्दों के समर्थन या आलोचना में सबसे ज्यादा प्रखर संस्था थी। जन सामान्य में कांग्रेस की गहरी पैठ थी एवं उसे और उसके नेताओं को बेहद सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। अपनी निरंतर मुखरता तथा जनप्रिय नीतियों के कारण कांग्रेस ने पूरे राष्ट्र में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का प्रसार किया तथा अंग्रेजी शासन की नींव हिलाकर रख दी।

1945-46 की सर्दियों में जो तीन बड़े विप्लव हुए उनमें मुख्य तौर पर कांग्रेस द्वारा उत्पन्न की गयी राष्ट्रप्रेम की भावना ने ही मुख्य भूमिका निभायी थी। कांग्रेस के प्रयासों से ही तत्कालीन जनता ऊर्जावान बन सकी तथा इन तीनों विद्रोहों में उसने अपनी उपनिवेशवादी घृणा को खुलकर अभिव्यक्त किया। चाहे आई.एन.ए. के युद्धबंदियों की बात हो या रायल इंडियन नेवी के नाविकों का मसला, कहीं भी कांग्रेस पीछे नहीं रही तथा हर जगह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसने अपनी भूमिका का निर्वहन किया। विद्रोहों

के उपरांत किये गये सरकारी सर्वेक्षणों एवं जांचों से भी यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि इन विद्रोहों की प्रेरणादायक संस्था कांग्रेस ही थी न कि मुस्लिम लीग या कम्युनिस्ट पार्टी। ये तीनों विद्रोह, उन पूर्ववर्ती राष्ट्रवादी गतिविधियों का विस्तार ही थे, जिनसे कांग्रेस अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। इन विद्रोहों में उसकी भूमिका सिर्फ समर्थक दल की ही नहीं थी, बल्कि उसने रणनीति तय करने तथा कार्रवाइयों के संचालन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इन विद्रोहों को पूर्ववर्ती घटनाओं से इस आधार पर पृथक किया जा सकता है कि इनमें विरोध प्रदर्शन का जो तरीका अपनाया गया वह पहले से भिन्न था। पूर्ववर्ती घटनाओं में राष्ट्रीय अखंडता की शांतिपूर्ण अभिव्यक्ति होती थी, जबकि इन विद्रोहों में सत्ता को स्पष्ट एवं हिंसक चुनौती दी गयी थी।

यद्यपि अपनी रणनीति एवं समय के मद्देनजर कांग्रेस ने आधिकारिक तौर पर इन विद्रोहों का समर्थन नहीं किया। 'समझौतावादी रुख' कांग्रेस की रणनीति का अभिन्न हिस्सा था। उसके विचार में प्रतिवाद का यह रूप और उसका समय दोनों ही उपयुक्त नहीं है, अतः समझौते की रणनीति सबसे उचित है। उसका मानना था कि भारतीय अभी इतने तैयार नहीं हैं कि उपनिवेशवादी शासन का समूल उखाड़ फेंकें। इसीलिये उसने आंदोलनकारी जनता एवं नाविकों का सलाह दी कि वे हिंसक प्रतिवाद का रास्ता छोड़ दें तथा कांग्रेस के झंडे तले आकर उपयुक्त ढंग से संघर्ष करने में सहयोग प्रदान करें। उसने कहा कि कांग्रेस उचित समय की प्रतीक्षा में है तथा समय आने पर ही वह संघर्ष का बिगुल बजायेगी।

गांधीजी ने संघर्ष के लिये विद्रोह का तरीका अख्तियार करने की प्रक्रिया को निंदनीय कहा। उन्होंने कहा कि एक तो विद्रोह करना गलत है और यदि यह विद्रोह भारत की स्वतंत्रता के लिये किया गया तो यह दोहरी गलती है। उनका मानना था कि यदि लोगों को किसी प्रकार का शिकवा-शिकायत है, तो इसके लिये उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं से सलाह करनी चाहिए तथा अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति उचित ढंग से करनी चाहिए।

चुनाव के नतीजे

कांग्रेस का प्रदर्शन

- उसे 91 प्रतिशत गैर-मुस्लिम मत प्राप्त हुए।
- केंद्रीय व्यवस्थापिका (सेंट्रल एसेंबली) की 102 में से 57 सीटों पर कब्जा कर लिया।
- प्रांतीय चुनावों में इसने बंगाल, सिंध एवं पंजाब को छोड़कर लगभग सभी अन्य प्रांतों में बहुमत प्राप्त किया। उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत तथा असम में भी

कांग्रेस को बहुमत मिला, जहां कि मुस्लिम लीग यह दावा कर रही थी कि ये पाकिस्तान के हिस्से हैं।

मुस्लिम लीग का प्रदर्शन

- इसे 86.6 प्रतिशत मुस्लिम वोट मिले।
- केंद्रीय व्यवस्थापिका में इसने 30 आरक्षित स्थानों पर कब्जा कर लिया।
- प्रांतीय चुनावों में इसने बंगाल व सिंध में बहुमत प्राप्त किया।
- 1937 के चुनावों के विरुद्ध, इस बार मुस्लिम लीग मुसलमानों की मुख्य पार्टी बन गयी।

पंजाबः यहां यूनियनवादी–कांग्रेस एवं अकाली गठबंधन ने खिज्र हयात खां के नेतृत्व में सरकार बनायी।

चुनाव के महत्वपूर्ण बिन्दु

इन चुनावों में पूर्ववर्ती विद्रोहों में परिलक्षित होने वाली सशक्त ब्रिटिश–विरोधी भावनाओं के स्थान पर साम्प्रदायिक मत विभाजन का मुद्दा ज्यादा प्रभावी रहा। इसके निम्न कारण थे–

- पृथक निर्वाचन पद्धति।
- सीमित मताधिकार–प्रांतीय चुनावों में कुल जनसंख्या के केवल 10 प्रतिशत हिस्से ने ही मताधिकार का प्रयोग किया, जबकि केंद्रीय व्यवस्थापिका के लिये चुनावों में कुल जनसंख्या का केवल 1 प्रतिशत भाग ही मताधिकार के योग्य माना गया।

कैबिनेट मिशन

फरवरी 1946 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली ने भारत में एक तीन सदस्यीय उच्च-स्तरीय शिष्टमंडल भेजने की घोषणा की। इस शिष्टमंडल में ब्रिटिश कैबिनेट के तीन सदस्य-लार्ड पैथिक लारेंस (भारत सचिव), सर स्टैफर्ड क्रिप्स (व्यापार बोर्ड के अध्यक्ष) तथा ए.वी. अलेक्जेंडर (एडमिरैलिटी के प्रथम लार्ड या नौसेना मंत्री) थे। इस मिशन को विशिष्ट अधिकार दिये गये थे तथा इसका कार्य भारत को शांतिपूर्ण सत्ता हस्तांतरण के लिये, उपायों एवं संभावनाओं को तलाशना था।

अंग्रेजों की भारत से वापसी क्यों अपरिहार्य प्रतीत होने लगी

1. सरकार-विरोधी संघर्ष में राष्ट्रवादियों की सफलता से उनकी विजय निर्णायक स्थिति में पहुंच चुकी थी। राष्ट्रवाद, अब समाज के उन वर्गों और क्षेत्रों तक पहुंच-चुका था, जो कि अब तक इस प्रक्रिया से अछूते थे।

2. प्रथम विश्व युद्ध से लेकर 1939 के अंत तक भारतीय सिविल सेवा में यूरोपीयों

की जो सर्वोच्चता स्थापित थी, वह धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। इसका प्रमुख कारण इन सेवाओं में भारतीयों का बढ़ता प्रतिनिधित्व तथा सेवाओं का भारतीयकरण था। इन सेवाओं के भारतीयकरण से यूरोपीयों में असंतोष बढ़ने लगा तथा धीरे-धीरे उनकी रुचि इन सेवाओं के प्रति कम होने लगी। इसके साथ नौकरशाही एवं सरकार भक्त तबके में भी असंतोष बढ़ने लगा। लंबे विश्व युद्धों के कारण भारत में आर्थिक कठिनाइयां बढ़ रही थीं तथा देश धीरे-धीरे दिवालियेपन की ओर अग्रसर हो रहा था।

3. अंग्रेज सरकार की समझौतावादी एवं दमनकारी नीति की अपनी कुछ सीमायें थीं। साथ ही इसमें विरोधाभास प्रकट होने लगा था। जैसे कि–

● क्रिप्स मिशन के उपरांत सरकार पूर्ण स्वतंत्रता को छोड़कर केवल सीमित समझौते की नीति पर ही चल रही थी।

● जब अहिंसक असहयोग आंदोलन को दबाने के लिये सरकार ने दमन का सहारा लिया तो उसका फासीवादी चेहरा अनावृत हो गया तथा जब सरकार ने आंदोलनों के विरुद्ध दमन का सहारा लेने से बचने की कोशिश की तो नौकरशाही हताश हुई तथा सरकार की प्रतिष्ठा में भारी गिरावट आयी।

● सरकार द्वारा कांग्रेस के प्रति प्रेम दिखाये जाने से उसके भक्त असंतुष्ट हो गये।

सरकार की इन विरोधाभासी नीतियों के कारण नौकरशाही असमंजस की स्थिति में फंस गयी, जो कि अभी तक सर्वश्रेष्ठता की भावना पाले हुए थी तथा किसी भी स्थिति में भारतीयों के समक्ष झुकने को तैयार नहीं थी। चुनावों के उपरांत विभिन्न प्रांतों में कांग्रेस सरकारों के गठन से यह स्थिति और जटिल हो गयी तथा नौकरशाही एवं राजभक्त असमंजस के दलदल में आकंठ डूब गये।

4. संविधानवाद या कांग्रेस राज ने भारतीयों में जुझारूपन की प्रवृत्ति को और सशक्त बना दिया तथा राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार को और तेज कर दिया।

5. आजाद हिन्द फौज के युद्धबंदियों के समर्थन में पूरे राष्ट्र ने जिस अभूतपूर्व एकता का परिचय दिया, उससे सरकार सकते में आ गयी। तदुपरांत रायल इंडियन नेवी के नाविकों के विद्रोह से सरकार के सम्मुख यह बात स्पष्ट हो गयी कि अब वह सेना पर भी पूर्ण विश्वास नहीं कर सकती। उसने महसूस किया कि यदि कांग्रेस ने अब कोई आंदोलन प्रारंभ किया तो उसे प्रांतीय कांग्रेसी सरकारें भी खुलकर सहयोग प्रदान करेंगी।

6. तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीयों के पूर्ण दमन का एक ही उपाय था–अंतरिम शासन व्यवस्था। किंतु अब यह व्यवस्था असंभव प्रतीत होने लगी थी क्योंकि सरकार के पास अब पर्याप्त संख्या में दक्ष अधिकारी नहीं थे।

7. ब्रिटिश सरकार अब यह सोचने पर विवश हो गयी कि जन आंदोलन के दैत्य को दफन करने के लिये भारतीयों से समझौता अपरिहार्य हो चुका है तथा भविष्य में भारत-ब्रिटिश संबंधों को अच्छा बनाये रखने का एकमात्र यही उपाय है।

ब्रिटेन में भी सरकार एवं उच्च नीति-नियामक यह महसूस करने लगे कि अंग्रेजों की सम्मानपूर्वक वापसी का यही एक उपाय है कि भारतीयों से समझौता कर लिया जाये तथा शांतिपूर्ण ढंग से उन्हें सत्ता सौंप दी जाये।

कैबिनेट मिशन योजना की पूर्व संध्या

कैबिनेट मिशन योजना की पूर्वसंध्या पर कांग्रेस ने मांग की कि वह एकीकृत केंद्र में ही सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया को स्वीकार करेगी। अल्पसंख्यकों की मांग के संबंध में उसकी नीति थी कि मुस्लिम बहुल प्रांतों को आत्मनिर्णय द्वारा केंद्र में विलय होने का अधिकार है। किंतु उसने यह स्पष्ट किया कि यह प्रक्रिया अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ने के उपरांत ही पूर्ण होगी।

ब्रिटेन की मंशा भी यही थी कि वह संयुक्त एवं मैत्रीभाव वाले भारत को सत्ता हस्तांतरित करे तथा राष्ट्रमंडल की सुरक्षा हेतु भारत को सक्रिय साझेदार बनाये क्योंकि ब्रिटेन का मानना था कि विभाजित भारत से राष्ट्रमंडल की शक्ति क्षीण होगी तथा ब्रिटिश सर्वोच्चता की उसकी नीति प्रभावित होगी।

1946 में ब्रिटेन की संयुक्त भारत के संबंध में स्पष्ट नीति थी, जो कि उसकी पूर्ववर्ती नीतियों से सर्वथा भिन्न थी। 15 मार्च 1946 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने कहा कि ''.....अल्पसंख्यकों की मांगें विचारणीय हैं.....परंतु उन्हें बहुसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करके पूरा नहीं किया जा सकता।'' यह घोषणा शिमला सम्मेलन में सरकार द्वारा अपनायी गयी उस घोषणा से बिल्कुल भिन्न थी, जिसमें वायसराय वेवेल ने जिन्ना को संतुष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया था।

भारत में कैबिनेट मिशन का आगमन

24 मार्च 1946 को कैबिनेट मिशन दिल्ली पहुंचा। मिशन ने विभिन्न दलों एवं समूहों के नेताओं से निम्न मुद्दों पर कई दौर की बातचीत की–

(i) अंतरिम सरकार।

(ii) भारत को स्वतंत्रता देने एवं नये संविधान के निर्माण हेतु आवश्यक सिद्धांत एवं उपाय।

जब एकता या विभाजन के आधारभूत मुद्दे पर कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग दोनों में कोई सहमति नहीं हो सकी तो मिशन ने अपनी ओर से संवैधानिक समस्या के समधान हेतु मई 1946 में योजना प्रस्तुत की।

कैबिनेट मिशन योजना–मुख्य बिन्दु

• पूर्ण पाकिस्तान के गठन की मांग अस्वीकार कर दी क्योंकि–

(i) पाकिस्तान के गठन से बड़ी संख्या में गैर-मुस्लिम जनसंख्या उसमें सम्मिलित हो जायेगी। जैसे–उत्तर-पश्चिम में 38 प्रतिशत जनसंख्या तथा उत्तर-पूर्व में 48 प्रतिशत जनसंख्या।

(ii) साम्प्रदायिक आत्म-निर्णय के सिद्धांत से नयी-समस्यायें खड़ी हो सकती थीं। जैसे—पश्चिमी-बंगाल में हिन्दू बहुसंख्या में थे तथा पंजाब के जालंधर व अम्बाला डिवीजन में हिन्दू व सिख बहुसंख्यक थे, अतः वे भी विभाजन की मांग कर सकते थे। दूसरी ओर, कुछ सिख नेता पहले से ही राग अलाप रहे थे कि यदि देश का विभाजन किया गया तो वे भी पृथक राज्य की मांग उठायेंगे।

(iii) पंजाब एवं बंगाल के विभाजन से क्षेत्रीय संधियां खतरे में पड़ सकती थीं।

(iv) विभाजन से प्रशासनिक एवं आर्थिक समस्यायें खड़ी हो सकती थीं। जैसे कि—पाकिस्तान के पूर्वी एवं पश्चिमी भागों के मध्य संचार की समस्या। तथा

5. सशस्त्र सेनाओं का विभाजन अत्यंत खतरनाक हो सकता था।

● प्रातीय विधानमंडलों का तीन समूहों में विभाजन—

समूह-कः मद्रास, बंबई, मध्य प्रांत, संयुक्त प्रांत, बिहार एवं उड़ीसा (हिन्दू बहुसंख्यक प्रांत)।

समूह-खः पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत एवं सिंध (मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांत)।

समूह-गः बंगाल एवं असम (मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांत)।

● कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का त्रिस्तरीय—केन्द्रीय, प्रांतीय एवं समूह स्तरों में विभाजन।

● संविधान सभा का निर्वाचन, प्रांत की विधानसभाओं के सदस्य तथा प्रांत की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के द्वारा किया जायेगा। निर्वाचन मंडल में केवल तीन वर्ग माने गये—मुस्लिम, सिख और अन्य (हिन्दू सहित)। प्रस्तावित संविधान सभा में 389 सदस्य होने थे; जिनमें से 292 सदस्य भारतीय प्रांतों से, 4 मुख्य आयुक्तों के राज्यों से तथा 93 देशी रियासतों से चुने जाने थे।

यह एक उपयुक्त एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था थी, जो कि परिमाण पर आधारित नहीं थी।

● इस संविधान सभा में—समूह क, ख एवं ग तीनों के सदस्य प्रांतों का संविधान बनाने हेतु पृथक-पृथक बैठकर विचार-विमर्श करेंगे और यदि संभव हुआ तो समूहों के लिये संविधान निर्माण का भी प्रयास करेंगे। तत्पश्चात तीनों समूहों के सदस्य (अर्थात संपूर्ण संविधान सभा) एक साथ बैठकर संघीय संविधान का निर्माण करेंगे।

● ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर एक भारतीय परिसंघ बनाया जायेगा। एकीकृत संघ-रक्षा, संचार एवं विदेशी मामलों पर नियंत्रण रखेगा।

● केंद्रीय व्यवस्थापिका में साम्प्रदायिक प्रश्नों का हल दोनों समुदायों के उपस्थिति एवं मत देने वाले सदस्यों के सामान्य बहुमत के आधार पर किया जायेगा।

● हर प्रांत को पृथक-पृथक कार्यपालिका और विधायिका के साथ समूह बनाने का

अधिकार होगा तथा प्रत्येक समूह को अपने अधीन रखे जाने वाले प्रांतीय विषयों के संबंध में निर्णय का अधिकार होगा।

● सत्ता हस्तांतरण के पश्चात भारतीय राज्यों से संबद्ध सर्वोच्च शक्ति न इंग्लैंड के पास रहेगी और न ही भारत के पास। भविष्य में 552 देशी रियासतों का भारत में क्या स्थान होगा, इस विषय में ये रियासतें संविधान सभा से बातचीत करेंगी और इस बीच इन रियासतों का संविधान सभा में प्रतिनिधित्व होगा।

● केंद्रीय संविधान सभा और इंग्लैंड में सत्ता-हस्तांरण से उत्पन्न विवादों के निराकरण के लिये एक संधि के संदर्भ में बातचीत की आवश्यकता दर्शायी गयी थी।

● सभी दलों की सहायता से एक अंतरिम सरकार की स्थापना की जायेगी, जिसमें सभी विभाग भारतीय नेताओं के पास रहेंगे।

समूह व्यवस्था के संबंध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएं

प्रत्येक पार्टी या समूह ने समूह व्यवस्था की अवधारणा को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा तथा उसकी अलग-अलग व्यवस्था की–

कांग्रेस जब तक समूह व्यवस्था की अवधारणा वैकल्पिक है, तब तक कैबिनेट मिशन योजना पाकिस्तान के निर्माण के विरुद्ध है; एकल संविधान सभा का गठन विचारणीय है; मुस्लिम लीग का वीटो पावर समाप्त हो गया है।

मुस्लिम लीग अनिवार्य समूहीकरण की व्यवस्था में पाकिस्तान का निर्माण अंर्तभूत है।

कैबिनेट मिशन योजना के संबंध में मुख्य आपत्तियां

विभिन्न दलों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर कैबिनेट मिशन का विरोध कियाः

कांग्रेसः ● प्रथम आम चुनावों के होने तक समूह के रूप में प्रांतों का इंतजार करना उचित व्यवस्था नहीं है। प्रांतों को यह छूट होनी चाहिए कि वे समूह में सम्मिलित हों या नहीं।

● समूहों में सम्मिलित होने की अनिवार्यता प्रांतीय स्वायत्तता के सिद्धांत के विपरीत है।

● संविधान सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के लिये निर्वाचन की व्यवस्था न होने की बात स्वीकार नहीं की जा सकती। (विदित है कि देशी रियासतों के प्रतिनिधि राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाने थे)।

मुस्लिम लीगः समूहीकरण की शर्त समूह ख एवं ग के लिये अनिवार्य होनी चाहिये तभी भविष्य में पाकिस्तान के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। लीग का सोचना था कि कांग्रेस, कैबिनेट मिशन योजना को अस्वीकार कर देगी तब सरकार अंतरिम सरकार के गठन के लिये लीग को आमंत्रित करेगी।

स्वीकार्यता

6 जून को मुस्लिम लीग ने और 24 जून 1946 को कांग्रेस ने कैबिनेट मिशन योजना के दीर्घ अवधि के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया।

जुलाई 1946: संविधान सभा के गठन हेतु प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में चुनाव संपन्न हुए।

10 जुलाई, 1946: नेहरू ने कहा, ''हम संविधान सभा (निहित था कि संविधान सभा संप्रभु थी और प्रक्रिया नियमों का निर्णय करेगी) में जाने के निर्णय के अतिरिक्त किसी ओर बात से बंधे नहीं हैं। इस बात की अधिक संभावना है कि किसी प्रकार का समूहीकरण नहीं होगा, जैसाकि एनडब्ल्यूएफपी और असम खण्ड ख और ग में शामिल होने से आपत्ति जताएंगे''।

29 जुलाई, 1946: नेहरू जी के कथन के प्रत्युत्तर में लीग ने दीर्घावधिक योजना को मानने से इंकार कर दिया और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए 16 अगस्त को **''प्रत्यक्ष कार्यवाही''** का आह्वान किया।

सांप्रदायिक विध्वंस और अंतरिम सरकार

16 अगस्त, 1946 से, भारतीय परिदृश्य में तेजी से बदलाव आया। अनेक स्थानों पर भीषण दंगे हुए, जिसमें लगभग 5000 लोग मारे गए। सांप्रदायिक दंगों से सर्वाधिक प्रभावित होने वाले क्षेत्रों में कलकत्ता, सिलहट, नोआखली, बिहार, त्रिपुरा एवं गढ़मुक्तेश्वर (उत्तर प्रदेश) शामिल थे।

सरकार की प्राथमिकताओं में परिवर्तन

वेवेल अब किसी भी प्रकार से कांग्रेस को अंतरिम सरकार में शामिल करने के लिए उत्सुक था। यहां तक कि लीग को इससे बाहर रखा गया था। सरकार का यह रवैया लीग के इस आग्रह के विरुद्ध था कि उसे सभी प्रावधान स्वीकार हैं और पहले की सरकार की सांप्रदायिक ताकतों को प्रोत्साहित करने, राष्ट्रवाद की वैधता से इंकार करने, और कांग्रेस की प्रतिनिधित्व प्रकृति से मना करने, की प्रकृति के विरुद्ध था।

इस प्रकार, ब्रिटिश शासन की निरंतरता ने ब्रिटेन से जागरूक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके की मांग की।

अंतरिम सरकार

2 सितम्बर 1946 को जवाहरलाल नेहरू और उनके सहकर्मियों ने वायसराय की काउंसिल के सदस्यों के रूप में शपथ ली। यह काउंसिल नेहरू के नेतृत्व में एक प्रकार से मंत्रिमंडल के रूप में काम करने लगी। नेहरू के नेतृत्व में काउंसिल के राष्ट्रसमर्थक कार्यों और कांग्रेस की शक्ति में वृद्धि को देखते हुए वायसराय लार्ड वेवेल ने घबराकर मुस्लिम लीग को काउंसिल में शामिल होने के लिये राजी कर लिया। मुस्लिम लीग को

प्रमुख विचार

कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य बढ़ती हुई खाई को ब्रिटिश कैबिनेट ने 'ट्रंप कार्ड' के रूप में देखा.....लिनलिथगो तथा कैबिनेट दोनों ने महसूस किया कि कांग्रेस और लीग के बीच की प्रतिस्पर्धा भारतीय स्वतंत्रता की मांग के विरुद्ध सबसे उपयुक्त हथियार है। **बी.आर.टामलिंसन**

भारत में हमारी उपस्थिति का समय सीमित है तथा घटनाओं को नियंत्रित करने की हमारी क्षमता का लगभग ह्रास हो चुका है। हमारी प्रतिष्ठा उन पूर्ववर्ती घटनाओं के कारण है, जो हमने अपने व्यापारिक चरण में हासिल की थी, किंतु ये भी अब ज्यादा दिन तक नहीं चलेगी।

लार्ड वेवेल (अक्टूबर 1946)

काउंसिल में शामिल करना इसलिये आपेक्षित था क्योंकि उसके बिना काउंसिल असंतुलित थी। मुस्लिम लीग ने अब भी संविधान सभा में शामिल होने से अस्वीकार कर दिया था। लेकिन जवाहरलाल नेहरू को लार्ड वेवेल ने यह सूचना दी कि मुस्लिम लीग ने काउंसिल में शामिल होना स्वीकार कर लिया है।

वेवेल के इस कार्य से मंत्रिमंडल (काउंसिल) में असहयोग का वातावरण उत्पन्न हो गया और लीग द्वारा यह घोषणा कर दिये जाने पर कि उसने संविधान सभा में शामिल होने का कोई वायदा नहीं किया था, वेवेल के लिये असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो गयी। 9 दिसंबर, 1946 को संविधान सभा की प्रथम बैठक में, मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति में, आचार्य जे.बी. कृपलानी के आह्वान पर डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा, सभा के वयोवृद्ध सदस्य, को संविधान सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। बाद में, इस प्रथम सत्र में ही, 11 दिसंबर, 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को निर्विरोध रूप से संविधान सभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। [दरअसल, संविधान सभा के 12 सत्र या बैठकों के दौर हुए थे। पहला 9-23 दिसंबर, 1946; दूसरा 20-25 जनवरी, 1947; तीसरा 28 अप्रैल-2 मई, 1947; चौथा 14-31 जुलाई, 1947; पांचवां 14-30 अगस्त 1947, छठा 27 जनवरी, 1948; सातवां 4 नवम्बर, 1948-8 जनवरी, 1949; आठवां 16 मई-16 जून, 1949; नौवां 30 जुलाई-18 सितंबर, 1949; दसवां 6-17 अक्टूबर, 1949; ग्यारहवां 4-26 नवम्बर, 1949; और बारहवां 24 जनवरी, 1950] मुस्लिम लीग ने इस संविधान सभा का विरोध किया और पृथक पाकिस्तान की मांग को और अधिक प्रखर रूप में सामने रखा।

अंतरिम सरकार के मंत्री

1. जवाहरलाल नेहरूः कार्यकारी परिषद् के उपाध्यक्ष, विदेश मामले एवं कॉमनवेल्थ संबंध

2. वल्लभभाई पटेलः गृह, सूचना एवं प्रसारण

3. **बलदेव सिंहः** रक्षा
4. **डा. जॉन मथाईः** उद्योग एवं आपूर्ति
5. **सी. राजगोपालाचारीः** शिक्षा
6. **सी.एच. भाभाः** निर्माण, खनन एवं ऊर्जा
7. **राजेन्द्र प्रसादः** कृषि एवं खाद्य
8. **जगजीवन रामः** श्रम
9. **आसफ अलीः** रेलवे
10. **लियाकत अली खान (मुस्लिम लीग):** वित्त
11. **इब्राहीम इस्माइल चुंद्रीगर (मुस्लिम लीग):** वाणिज्य
12. **अब्दुर रब निश्तर (मुस्लिम लीग):** संचार
13. **गजनफर अली खान (मुस्लिम लीग):** स्वास्थ्य
14. **जोगेन्द्र नाथ मण्डल (मुस्लिम लीग):** कानून

मुस्लिम लीग की गतिरोध उत्पन्न करने की मानसिकता तथा भविष्य की रणनीति

9 दिसम्बर 1946 को आयोजित संविधान सभा की प्रथम बैठक में मुस्लिम लीग सम्मिलित नहीं हुई। तत्पश्चात लीग की अनुपस्थिति में बैठक में जवाहरलाल नेहरू द्वारा तैयार किये गये एक मसौदे को पारित किया गया, जिसमें ''एक स्वतंत्र, पूर्ण प्रभुसत्तासंपन्न गणराज्य की स्थापना का आदर्श लक्ष्य था। जिसे स्वायत्तता, अल्पसंख्यकों को पर्याप्त संरक्षण देने का अधिकार तथा सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होगी''।

मुस्लिम लीग ने मंत्रिमंडल द्वारा निर्णय लिये जाने के लिये आहूत की गयी अनौपचारिक बैठक में भी भाग नहीं लिया।

मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के सदस्यों द्वारा लिये गये निर्णय तथा नियुक्तियों पर सवाल उठाये।

वित्तमंत्री के रूप में लियाकत अली खान मंत्रिमंडल के अन्य मंत्रियों के कार्य में बाधक बन रहे थे।

मुस्लिम लीग का उद्देश्य किसी भी तरह पृथक पाकिस्तान का निर्माण करना था तथा उसकी समस्त गतिविधियां तथा निर्णय इसी भावना से ओत-प्रोत थीं। उसके लिये यह गृहयुद्ध जैसी प्रक्रिया थी। दूसरी ओर, कांग्रेस ने सरकार से मांग की कि वह या तो मुस्लिम लीग को अंतरिम सरकार को सहयोग देने के लिये कहे या सरकार से अलग होने को कहे।

फरवरी 1947 में, मंत्रिमंडल के नौ कांग्रेस सदस्यों ने वायसराय को पत्र लिखकर मांग की कि वे लीग के सदस्यों को त्यागपत्र देने के लिये कहें अन्यथा वे मंत्रिमंडल से अपना नामांकन वापस ले लेंगे। तत्पश्चात लीग द्वारा संविधान सभा को भंग करने की

मांग से स्थिति और बिगड़ गयी। इस प्रकार गतिरोध सुलझने के स्थान पर और बढ़ता हुआ प्रतीत होने लगा।

भारत में सांप्रदायिकता का जन्म एवं विकास

भारतीय साम्प्रदायिकता की विशिष्टतायें

मौलिक रूप में साम्प्रदायिकता एक विचारधारा है। भारत में इस साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन मुख्य चरण हैं–

(i) **साम्प्रदायिक राष्ट्रवादः** इस विचारधारा में एक ही समूह या किसी विशेष धार्मिक समुदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले सभी लोगों के हित समान होते हैं। उदारहणार्थ–यदि उनके हितों का धर्म से कोई लेना देना न हो, तब भी वे सभी को समान रूप से प्रभावित करते हैं।

(ii) **उदारवादी साम्प्रदायिकताः** इस विचारधारा के अनुसार, बहुभाषी समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न हैं।

(iii) **चरम या उग्रवादी साम्प्रदायिकताः** इस विचारधारा के अनुसार, विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के हित एक दूसरे के विरोधी होते हैं। इस तरह की व्यवस्था में दो विभिन्न धर्म समुदाय एक साथ अस्तित्व में नहीं रह सकते क्योंकि एक समुदाय के हित दूसरे समुदाय के हित से टकराते हैं।

भारत में साम्प्रदायिकता का विकास भी इसी प्रकार का है। ऐसा नहीं है कि साम्प्रदायिकता का विकास सिर्फ भारत में ही हुआ है। यह भी उन्हीं परिस्थितियों का प्रतिफल था, जिन्होंने दूसरे समाजों में साम्प्रदायिकता जैसी घटनाओं और विचारधाराओं को जन्म दिया था। जैसे नस्लवाद, सामीवाद विरोध फासीवाद, उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष या लेबनान में ईसाई-मुस्लिम संघर्ष।

साम्प्रदायिकता को उभारने वाले तत्वों ने आर्थिक हितों को दरकिनार कर इसे ज्यादा महत्वपूर्ण बताया तथा जनमानस में इसके लिये एक व्यापक आधार तैयार किया।

साम्प्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा और राजनीतिक प्रवृत्ति है, जिसकी सामाजिक जड़ों तथा इसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक लक्ष्यों को भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में खोजा जा सकता है। यह आधुनिक सामाजिक समूहों, वर्गों और ताकतों की सामाजिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती है और उनकी राजनीतिक जरूरतों की पूर्ति करती है। समकालीन आर्थिक ढांचे ने न केवल इसे उत्पन्न किया है अपितु उसके कारण ही यह फली-फूली भी।

साम्प्रदायिकता का सामाजिक आधार उस उभरते हुए मध्य वर्ग पर अवलंबित था,

जो तत्कालीन परिस्थतियों के वातावरण में अपने धार्मिक हितों के साथ अपने आर्थिक हितों को भी ढूंढ़ रहा था। यह उस काल में बुर्जुआ वर्ग का प्रश्न था।

भारत में साम्प्रदायिक चेतना का जन्म उपनिवेशवादी नीतियों तथा उसके विरुद्ध संघर्ष करने की आवश्यकता से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ। विभिन्न क्षेत्रों तथा देश के सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक एकीकरण, भारत को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया, आधुनिक सामाजिक वर्गों एवं उपवर्गों का निर्माण तथा भारतीयों के बढ़ते हुए अंतर्विरोध जैसे कारणों से लोगों में अपने साझा हितों को देखने के लिये नये तरीकों की जरूरत हुई। संपर्कों और वफादारियों के विस्तृत आयामों का विकास तथा नयी पहचानों का निर्माण आवश्यक हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीति की जिस नयी अवधारणा का जन्म हुआ उससे भी साम्प्रदायिकता की विचारधारा को बल मिला।

नये विचारों को ग्रहण करने, नई पहचानों तथा विचारधाराओं का विकास करने तथा संघर्ष के दायरे को व्यापक बनाने के लिये लोगों ने पुरातन तथा पूर्व-आधुनिक तरीकों के प्रति आसक्ति प्रकट की, उसने भी साम्प्रदायिकता की विचारधारा को सशक्त बनाने में मदद की। संकीर्ण सामाजिक प्रतिक्रियावादी तत्वों ने साम्प्रदायिकता का पूर्ण समर्थन दिया।

यद्यपि धार्मिकता, साम्प्रदायिकता को बहुत अधिक प्रोत्साहित करने का मूल कारण नहीं था, किंतु भारत जैसे देश में जहां शिक्षा का अभाव था तथा लोगों में बाह्य जगत संबंधी चेतना ना के बराबर थी, धार्मिकता ने साम्प्रदायिकता के लिये उत्प्रेरक की भूमिका निभायी तथा तथाकथित तत्वों ने इसे साम्प्रदायिकता के वाहन के रूप में प्रयुक्त किया।

साम्प्रदायिकता के विकास के कारण

साम्प्रदायिकता से तात्पर्य उस संकीर्ण मनोवृत्ति से है, जो धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर पूरे समाज तथा राष्ट्र के व्यापक हितों के विरुद्ध व्यक्ति को केवल अपने व्यक्तिगत धर्म के हितों को प्रोत्साहित करने तथा उन्हें संरक्षण देने की भावना को महत्व देती है। यह व्यक्ति में अंतरराष्ट्रीय एवं सर्वमान्य सत्य की भावना के विरुद्ध व्यक्तिगत धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर परस्पर घृणा, द्वंद, ईर्ष्या तथा द्वेष को जन्म देती है। यह भावना अपने धर्म के प्रति अंध भक्ति तथा परधर्म तथा उसके अनुयायियों के प्रति विद्वेष की भावना उत्पन्न करती है। भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में विभिन्न कारणों, परिस्थितियों एवं तत्वों ने सम्मिलित भूमिका निभायी, जो इस प्रकार हैं–

सामाजिक-आर्थिक कारणः कालांतर में भारत में बुर्जआ वर्ग तथा व्यावसायिक वर्ग का उदय हुआ। उदय की यह प्रक्रिया हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों में समान थी। सरकारी सेवाओं, व्यवसाय एवं उद्योगों में दोनों वर्गों के मध्य प्रतिद्वंदिता

अवश्यंभावी थी और धीरे-धीरे यह बढ़ती गयी। मुस्लिम बुर्जुआ वर्ग ने अपने पक्षपोषण हेतु हिन्दू बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध, निम्न मध्यवर्गीय मुसलमानों को प्रोत्साहित किया।

भारत के आर्थिक पिछड़ेपन तथा भयावह बेरोजगारी जैसी समस्याओं ने अंग्रेजों को साम्प्रदायिकता को उभारने तथा अलगाववादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने का भरपूर अवसर प्रदान किया। अंग्रेजों ने इस हेतु व्यक्तिगत गुणों, पक्षपात तथा आरक्षण को विस्तृत आधार प्रदान कर प्रतिद्वंदिता को बढ़ाया तथा इनका उपयोग साम्प्रदायिकता के उत्थान में किया। इसके साथ ही मुसलमानों में आधुनिक राजनीतिक चेतना के विकास की प्रक्रिया अपेक्षाकृत धीमी थी तथा उन पर परम्परागत प्रतिक्रियावादी कारक ज्यादा हावी थे, फलतः इस समुदाय में साम्प्रदायिक विचारधारा को अपनी जड़ें जमाने के लिये उचित अवसर मिला।

अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीतिः प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को शंकालु दृष्टि से देखा। 1857 के विद्रोह और वहाबी आंदोलन के पश्चात तो सरकार की शंका उनके प्रति और बढ़ गयी। फलतः अंग्रेजों ने मुसलमानों के प्रति दमन तथा भेदभाव की नीति अपनायी। शिक्षा में अंग्रेजी भाषा के प्रसार से अरबी तथा फारसी भाषायें पिछड़ गयीं। मुस्लिम समाज में इसका प्रतिकूल प्रभाव यह हुआ कि उनमें आर्थिक पिछड़ापन बढ़ा तथा वे धीरे-धीरे सरकारी सेवाओं से वंचित होने लगे।

1870 के पश्चात भारतीय राष्ट्रवाद के उभरने तथा नवशिक्षित मध्य-वर्ग के राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं सिद्धांतों से परिचित होने के कारण अंग्रेजों ने मुसलमानों के दमन की अपनी नीति त्याग दी तथा उनमें चेतना का प्रसार कर तथा उन्हें आरक्षण एवं समर्थन देकर उन्हें उभारने का प्रयत्न किया, जिससे मुसलमानों को राष्ट्रवादी ताकतों के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सके। अंग्रेजों ने सर सैय्यद अहमद खां जैसे मुस्लिम नेताओं को कांग्रेस के विरुद्ध उकसाया। यद्यपि प्रारंभ में सैय्यद अहमद खां का दृष्टिकोण बुद्धिमत्तापूर्ण, दूरदर्शी एवं सुधारवादी था, किंतु बाद में उन्होंने उपनिवेशी शासन का समर्थन करना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस का विरोध करने तथा राजनीतिक गतिविधियों से तटस्थ रहने की सलाह दी। उन्होंने हिन्दू एवं मुसलमानों के पृथक अस्तित्व एवं पृथक हितों की बात भी कही। कालांतर में उन्होंने यह भी प्रचार करना शुरू कर दिया कि चूंकि हिन्दू भारतीय संख्या में बहुमत में है, इसलिये ब्रिटिश शासन के निर्बल होने या समाप्त हो जाने की स्थिति में हिन्दुओं का मुसलमानों पर दबदबा कायम हो जायेगा।

भारतीय इतिहास लेखन द्वारा साम्प्रदायिकता को बढ़ावाः अनेक अंग्रेजी इतिहासकारों ने हिन्दू-मुस्लिम फूट को बढ़ावा देने तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें सुदृढ़ करने के उद्देश्य से भारतीय इतिहास की व्याख्या इस तरह की जिससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिल सके। बाद में विभिन्न भारतीय इतिहासकारों ने उनका

अनुसरण करते हुए प्राचीन भारत को हिन्दू काल तथा मध्यकालीन भारत को मुस्लिम काल की संज्ञा दी। मध्यकालीन भारत में शासकों के आपसी संघर्ष को इन इतिहासकारों ने हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में उद्धृत किया।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का पार्श्व प्रभावः 19वीं शताब्दी में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों समुदायों में अनेक सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलन हुए। इन सभी सुधार आंदोलनों ने स्वयं को अपने-अपने समुदाय के लोगों तक ही सीमित रखा। सुधार आंदोलनों की इस प्रवृत्ति से देश विभिन्न समुदायों में विभक्त हो गया। मुस्लिम सुधार आंदोलन जैसे 'वहाबी आंदोलन' तथा हिन्दू सुधार आंदोलन जैसे 'शुद्धि आंदोलन' के व्यक्तिगत धार्मिक स्वरूप के कारण धर्म का उग्रवादी चरित्र रेखांकित हुआ तथा इससे साम्प्रदायिकता को बल मिला। इन सुधार आंदोलनों में सांस्कृतिक विरासत के धार्मिक तथा दार्शनिक पहलुओं पर एकांकी बल दिया गया। इन विभिन्न सुधार-आंदोलनों के समानांतर प्रवाह को एक धर्म के द्वारा दूसरे धर्म का अपमान करना समझा गया।

उग्र राष्ट्रवाद का पार्श्व प्रभावः राष्ट्रवाद के प्रारंभिक चरण में राष्ट्रवादियों ने अल्पसंख्यकों के भय को दूर करने पर विशेष बल दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1886 में आयोजित दूसरे अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में घोषित किया कि कांग्रेस के अधिवेशनों या सम्मेलनों में सामाजिक-धार्मिक प्रश्न नहीं उठाये जायेंगे। 1889 में कांग्रेस ने निश्चय किया कि वह ऐसे किसी भी मुद्दे को अपने कार्यक्रमों या उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं करेगी, जिसका मुसलमान विरोध करेंगे। किंतु कालांतर में उग्रवादी राष्ट्रवाद के उभरने से इसमें हिन्दू राष्ट्रवादी हावी हो गये। तिलक के गणपति एवं शिवाजी उत्सव तथा गोहत्या के विरुद्ध अभियानों ने विभिन्न प्रकार की शंकाओं को जन्म दिया। भारत माता तथा राष्ट्रवाद की धर्म के रूप में अरविंद घोष की अवधारणायें, गंगा स्नान के पश्चात बंग-भंग विरोध आंदोलन प्रारंभ करना तथा क्रांतिकारियों द्वारा देवी काली या भवानी के सम्मुख शपथ ग्रहण करने जैसी रस्में शायद ही किसी मुसलमान को पसंद आ सकती थीं। निःसंदेह ये सभी रस्में मुस्लिम समुदाय के सदस्यों की धार्मिक भावनाओं के प्रतिकूल थीं। तदुपरांत क्रांतिकारियों द्वारा शिवाजी एवं महाराणा प्रताप के क्रमशः औरंगजेब तथा अकबर के विरुद्ध संघर्ष को धार्मिक संघर्ष के रूप में महिमामंडित करना भी उनकी भयंकर भूल थीं। लखनऊ समझौते (1916) तथा खिलाफत आंदोलन (1920-22) का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विशिष्ट साम्प्रदायिक प्रभाव हुआ।

बहुसंख्यक समुदाय की सम्प्रदायिक प्रतिक्रियाः बहुसंख्यक समुदाय द्वारा विभिन्न उग्रवादी संगठनों यथा—हिन्दू महासभा (1915) तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (1925) इत्यादि के गठन की अल्पसंख्यकों पर साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया हुई। इन

संगठनों ने हिन्दू राष्ट्रवाद तथा हिन्दू हितों की वकालत की, जिसका मुस्लिम समुदाय पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा तथा निःसंदेह इससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला।

द्वि-राष्ट्र सिद्धांत का जन्म

विभिन्न वर्षों में द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के जन्म तथा विकास से संबंधित विभिन्न कारक इस प्रकार हैं–

1887: भारत के वायसराय डफरिन एवं संयुक्त प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर कोलविन ने कांग्रेस पर हमला बोल दिया। ब्रिटिश सरकार ने सर सैय्यद खां तथा राजा शिव प्रसाद को कांग्रेस विरोधी मोर्चा बनाने के लिये प्रोत्साहित किया। सर सैय्यद अहमद खां ने बुद्धिजीवी मुसलमानों से अपील की कि वे कांग्रेस से दूर रहें, फिर भी कुछ मुसलमानों ने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। इनमें बदरुद्दीन तैयबजी, मीर मुशर्रफ हुसैन, ए. भीमजी, आर.एस. सयानी तथा हामिद अली खान प्रमुख थे।

1906: सर आगा खां के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्टमंडल (शिमला शिष्ट मंडल) भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड मिन्टो से मिला। शिष्टमंडल ने ब्रिटिश सुधारों की प्रशंसा की तथा उसके प्रति पूर्ण राज्य भक्ति की भावना प्रकट की। इस शिष्टमंडल ने वायसराय से मांग की कि–(क) मुसलमानों को व्यवस्थापिकाओं में उचित प्रतिनिधित्व देने हेतु पृथक निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की जाये। (ख) उच्च पदों पर ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा एवं वफादारी के आधार पर नियुक्तियां की जायें तथा इसके लिये प्रतियोगिता परीक्षा नहीं ली जाये। तथा (ग) सरकारी सेवाओं में मुसलमानों को ज्यादा अवसर दिये जायें।

लॉर्ड मिन्टो ने मांगों को पूर्णतया उचित बताया तथा उन पर सहानुभूति पूर्वक विचार करने का आश्वासन दिया। शिष्टमंडल को उसने आश्वस्त किया कि सरकार मुसलमानों को सम्राट के प्रति उच्च निष्ठा के कारण उन्हें उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व देगी। इस शिष्टमंडल के प्रयासों से देश में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला।

1907: आगा खां, ढाका के नवाब सलीमुल्ला, नवाब मोहसिन-उल-मुल्क तथा नवाब बकार-उल-मुल्क के संयुक्त प्रयत्नों से *ऑल इंडिया मुस्लिम लीग* की स्थापना की गयी। लीग का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा प्रकट करना तथा मुस्लिम बुद्धिजीवियों को कांग्रेस से अलग रखना था।

1909: मार्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा पृथक निर्वाचन प्रणाली की शुरुआत की गयी। बी.एन. मुखर्जी तथा लाल चंद्र ने *पंजाब हिन्दू सभा* की स्थापना की।

1915: अखिल भारतीय हिन्दू महासभा का प्रथम अधिवेशन कासिम बाजार के महाराजा की अध्यक्षता में हुआ।

1912-24: इस अवधि में मुस्लिम लीग, कांग्रेस की नीतियों के काफी करीब पहुंच चुकी थी तथा उसमें मोहम्मद अली, मौलाना आजाद तथा मो. अली जिन्ना जैसे युवा

राष्ट्रवादी हावी होने लगे थे। लेकिन दुर्भाग्यवश जिन्ना जैसे कुछ नेताओं को छोड़कर उनकी राष्ट्रीयता पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष नहीं थी। उनका प्रखर धार्मिक और इस्लामी एकतावादी झुकाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था। साथ ही राजनीतिक सवालों पर उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक था।

1916: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की पृथक मतदाता मंडलों तथा सीटों के आरक्षण की मांग मान ली तथा दोनों ने सरकार के समक्ष संयुक्त मांगें पेश कीं। यद्यपि यह समझौता कई दृष्टियों से प्रगतिशील था, किंतु कांग्रेस ने इसके द्वारा साम्प्रदायिक राजनीति को स्वीकार कर लिया। समझौते में यह निहित था कि भारत विभिन्न समुदायों का देश है तथा समुदायों के हित भिन्न-भिन्न हैं। कालांतर में इसके हानिकारक नतीजे निकले।

1920-22: रोलेट एक्ट के विरुद्ध आंदोलन तथा खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन में मुसलमानों ने हिस्सा लिया, किंतु उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक था।

1920: देश में साम्प्रदायिक दंगों का खतरा मंडराने लगा। इसी समय स्वामी श्रद्धानंद के नेतृत्व में आर्यसमाज ने शुद्धि आंदोलन चलाया, जिसका उद्देश्य इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में वापस लाना था। आर्य समाजियों ने एक अन्य आंदोलन 'संगठन आंदोलन' भी प्रारंभ किया। मुसलमानों ने इनके विरोध में तंजीम और तबलीग आंदोलन चलाये।

इस साम्प्रदायिक वातावरण का प्रभाव बहुत से राष्ट्रवादियों पर भी पड़ा तथा उनकी विचारधारा भी साम्प्रदायिक या अर्द्ध-साम्प्रदायिक हो गयी। स्वराज्यवादी दो गुटों में बंट गये। एक गुट ने तथाकथित हिंदू हितों की रक्षा के लिये सरकार को सहयोग देने का निर्णय किया तथा दूसरा गुट धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादियों का था। मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपत राय तथा एन.सी. केलकर हिन्दू महासभा में शामिल हो गये। हिन्दू महासभा के सदस्यों तथा सरकार परस्त स्वराज्यवादियों ने धर्मनिरपेक्ष कांग्रेसियों जैसे-मोतीलाल नेहरू इत्यादि पर इस्लामिक हितों के प्रति प्रेम दिखाने तथा हिन्दू हितों पर कुठाराघात करने का आरोप लगाया। किंतु सबसे नाटकीय परिवर्तन अली बंधुओं-मुहम्मद अली तथा शौकत अली के दृष्टिकोण में आया। प्रारंभ में कांग्रेस के साथ प्रशंसनीय सहयोग करने वाले अली बंधुओं ने कांग्रेस पर हिन्दू हितों की रक्षा करने तथा हिंदू सरकार स्थापित करने की चेष्टा करने का आरोप लगाया।

इन परिस्थितियों में राष्ट्रवादी नेतृत्व साम्प्रदायिकता के प्रसार को रोकने के लिये कोई प्रभावी कार्य प्रणाली विकसित नहीं कर सका।

1928: कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में संवैधानिक सुधारों के मुद्दे पर कांग्रेस की नेहरू रिपोर्ट का मुस्लिम सम्प्रदायवादियों तथा सिख लीग ने तीव्र धीरे-धीरे विरोध किया। नेहरू रिपोर्ट को हिन्दू हितों का दस्तावेज बताते हुये जिन्ना ने मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचक मंडल तथा स्थानीय निकायों एंव शासकीय सेवाओं में आरक्षण

देने की मांग की। इस अवसर पर मुस्लिम लीग से समझौता करने की कोशिश करते हुये कांग्रेस ने अनेक गल्तियां कीं जैसे–

● कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की राजनीति को वैधता प्रदान कर दी। उसने यह भी स्वीकार कर लिया कि सभी साम्प्रदायिक नेता अपने-अपने हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा साम्प्रदायिक एवं धर्म पर आधारित हितों का वास्तविक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है।

● इसने धर्मनिरपेक्ष एवं साम्राज्यवाद विरोधी मुस्लिम नेताओं की स्थिति दुर्बल कर दी।

● इससे कांग्रेस की साम्प्रदायिकता के खिलाफ दृढ़ राजनीतिक-विचारधारात्मक अभियान चलाने की इच्छाशक्ति और अधिकार कम हो गये।

● साम्प्रदायिकता पर संगठित एवं एकमुश्त प्रहार करने की कांग्रेस की रणनीति भी परिवर्तित हो गयी।

1930-34: यद्यपि जमायते-उल-उलेमा-ए-हिंद, कश्मीर राज्य तथा खुदाई खिदमतगार ने कांग्रेस के साथ मिलकर सविनय अवज्ञा आंदोलन में हिस्सा लिया किंतु कुल मिलाकर मुसलमानों की संख्या उतनी नहीं थी, जितनी खिलाफत–असहयोग आंदोलन में थी। भावी संवैधानिक सुधारों के संबंध में लंदन में आयोजित तीन गोलमेज सम्मेलनों में से कांग्रेस ने दो सम्मेलनों का बहिष्कार किया तथा केवल एक सम्मेलन में हिस्सा लिया, वहीं सम्प्रदायवादियों ने तीनों सम्मेलनों में शिरकत की।

1932: साम्प्रदायिक निर्णय (communal Award) में जिन्ना द्वारा प्रस्तुत चौदह सूत्रीय मांगों में से अधिकांश को मान लिया गया।

1937 के पश्चात: 1937 के प्रांतीय चुनावों में निराशाजनक प्रदर्शन के पश्चात मुस्लिम लीग ने साम्प्रदायिकता के मुद्दे को और तीव्र करने का निश्चय किया। उसने अब मुसलमानों को एक अल्पसंख्यक समुदाय की जगह एक पृथक राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करना प्रारंभ कर दिया। (1930 के दशक में सर्वप्रथम एक युवा मुस्लिम बुद्धिजीवी रहमत अली ने 'पृथक मुस्लिम राष्ट्र' की अवधारणा प्रतिपादित की तथा बाद में कवि इकबाल ने इसका और प्रचार किया)। इसके पश्चात सम्प्रदायवाद एक संगठित जन-आंदोलन के रूप में प्रारंभ हो गया, जिसका मुख्य आधार समाज का मध्य एवं उच्च वर्ग था। जेड.ए. सुलेरी, एफ.एम. दुर्रानी एवं फैज-उल-हक इत्यादि ने कांग्रेस के विरुद्ध व्यापक आंदोलन प्रारंभ कर दिया। अब साम्प्रदायिकता का स्वरूप उग्र हो गया तथा उसके चरित्र में भय, घृणा, जुल्म, दमन एवं हिंसा जैसे शब्दों का समावेश हो गया।

1937 तक साम्प्रदायिकता का नरमपंथी दौर जारी रहा, जो मुख्यतया बचाव तथा आरक्षण जैसे मुद्दों के आसपास केंद्रित रहा। किंतु इसके बाद वह तेजी से उग्रवादी या फासीवादी तौर-तरीके अपनाने लगा। उसका सामाजिक आधार अब तेजी से व्यापक होने लगा तथा जनसामान्य को गिरफ्त में लेने के प्रयास होने लगे। इसके लिये मुख्यतया

शहरी निम्न–मध्य वर्ग को आधार बनाया गया। इस वर्ग को उभारकर सुसंगठित एवं आक्रामक साम्प्रदायिक राजनीति प्रारंभ करने की कोशिश की जाने लगी। अभी तक सम्प्रदायवादी राजनीति का मुख्य आधार उच्च वर्ग था अतः निम्न-मध्य वर्ग को अपनी चपेट में लेने तथा साम्प्रदायिकता को जनआंदोलन का स्वरूप देने के लिये भय तथा घृणा जैसी अतार्किक भावनाओं का सहारा लिया गया।

हिन्दुओं के उग्रवादी साम्प्रदायिक राष्ट्रवादी संगठनों यथा-हिन्दू महासभा तथा आर.एस.एस. एवं गोलवकर के विचारों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उग्रवादी स्वरूप धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उग्रवादी साम्प्रदायिकता के उदय के अनेक कारण थे, जो इस प्रकार हैं–

1. सिद्धांतवादी–मौलिकतावादी अवधारणा का विकास, प्रतिक्रियावादी तत्वों ने साम्प्रदायिकता का सहारा लेकर अपना सामाजिक आधार पुख्ता किया।

2. उपनिवेशवादी शासन ने राष्ट्रवादियों को विभाजित करने हेतु अन्य सभी माध्यमों का सहारा लिया।

3. सम्प्रदायवादी मानसिकता को चुनौती देने की प्रारंभिक असफलताओं ने उग्रवादी साम्प्रदायिकता को रेखांकित एवं सुदृढ़ किया।

1937-39: मु. अली जिन्ना ने समझौते की उन सभी संभावनाओं को समाप्त कर दिया, जब उन्होंने यह असंभव मांग प्रस्तुत की कि कांग्रेस स्वयं को हिन्दू संगठन घोषित करे तथा मुस्लिम लीग को मुसलमानों की मुख्य प्रतिनिधि संस्था के रूप में मान्यता दे।

24 मार्च 1940: मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसमें कहा गया ''अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारत में ऐसी कोई भी संवैधानिक योजना सफल और मुसलमानों को स्वीकृत नहीं होगी, जो कि अग्रलिखित सिद्धांतों पर आधारित न हो: ''भौगोलिक स्थिति से एक-दूसरे से लगे हुए प्रदेश, यथानुसार आवश्यक परिवर्तनों सहित इस प्रकार गठित किये जायें ताकि वहां मुलसमान बहुमत में हों जैसा कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी प्रदेश और इनको मिलाकर एक 'स्वतंत्र' राज्य बना दिया जाये और उसमें सम्मिलित प्रदेश स्वशासी और प्रभुसत्तासपन्न हों तथा जिन अन्य स्थानों में मुसलमान अल्पमत में हो वहां उन्हें पर्याप्त सुरक्षा प्रदान की जाये''।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरानः ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों का सक्रिय सहयोग पाने के उद्देश्य से युद्धोपरांत संविधान सभा बनाने का आश्वासन दिया लेकिन साथ ही उसने अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की नीति भी अपनायी। उसने सभी अल्पसंख्यक समुदायों को भरोसा दिलाया कि वह किसी भी ऐसी सरकार को मान्यता नहीं देगी, जिसमें देश के सभी महत्वपूर्ण सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व न हो। एक प्रकार से उसने मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत को अपनी मौन स्वीकृति दे दी। मुस्लिम लीग ने इस

विशेषाधिकार का भरपूर-प्रयोग किया तथा यथासंभव हर अवसर पर पृथक पाकिस्तान की मांग उठायी। लीग ने अगस्त प्रस्ताव, क्रिप्स प्रस्ताव, शिमला सम्मेलन तथा मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल (कैबिनेट मिशन) के प्रस्तावों में पृथक पाकिस्तान की मांग को पूर्णरूपेण स्वीकार किये जाने की संभावनायें तलाशीं। अंततः मुस्लिम लीग की पृथक पाकिस्तान की मांग पूर्ण हो गयी, जब 1947 में मुस्लिम बहुल प्रांतों—पंजाब, सिन्ध, ब्लूचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत तथा बंगाल को मिलाकर एक नये राष्ट्र, स्वतंत्र पाकिस्तान का गठन हुआ।

प्रमुख विचार

अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक समुदाय का प्रश्न ब्रिटिश सरकार की उपज हैं तथा इसकी भारत से वापसी के पश्चात ये प्रश्न स्वयंमेव अदृश्य हो जायेंगे।

महात्मा गांधी

हम विभाजित होते हैं और वे शासन करते हैं।

मौलाना मोहम्मद अली

1940 के पश्चात दिन के प्रकाश की भांति यह बिल्कुल स्पष्ट हो चुका था कि मुसलमानों की मंजिल न ही हिन्दू राष्ट्र के अधीन दोयम दर्जे की नागरिकता है, न ही बहुराष्ट्रीय भारत में संदिग्ध भागीदारी.....उनका अंतिम लक्ष्य है-पृथक मातृभूमि के साथ पृथक राष्ट्र।

पाकिस्तान के स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास

एक स्वतंत्र संप्रभुता सम्पन्न राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान का जन्म अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में हुआ था। **आगा खां**

सारांश

- **ब्रिटिश शासन के अंतिम दो वर्ष**

  दो मुख्य आधार—

  1. स्वतंत्रता एवं विभाजन के संबंध में कुटिल समझौते; सांप्रदायिकता एवं हिंसा से परिपूर्ण।
  2. तीव्र, उन्मादी जन-प्रतिक्रिया।

  जुलाई 1945: ब्रिटेन में श्रमिक दल का सत्ता में आना।

  अगस्त 1945: केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानसभाओं के लिये चुनावों की घोषणा।

  सितम्बर 1945: युद्ध के उपरांत संविधान सभा गठित करने की घोषणा।

- **सरकारी रूख में परिवर्तन; इसका कारण था—**

  वैश्विक शक्ति समीकरण में परिवर्तन, ब्रिटेन अब विश्व की नंबर एक शक्ति नहीं रहा।

  श्रमिक दल का भारत से सहानुभूति प्रदर्शन।

ब्रिटिश सैनिकों का पस्त होना एवं ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में पराभव।
सम्पूर्ण एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी लहर।
ब्रिटिश नौकरशाही, कांग्रेस द्वारा पुनः नया आंदोलन करने की संभावना से भयाक्रांत।

- **कांग्रेस के लिये दो मुख्य चुनावी मुद्दे**
  1. 1942 का सरकारी दमन।
  2. आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों के लिये जनता का दबाव।
- **आजाद हिंद फौज के संबंध में जन-प्रदर्शनः मुख्य बिंदु**
  अप्रत्याशित उत्साह एवं सशक्त भागीदारी।
  अप्रत्याशित भौगोलिक एवं सामाजिक प्रसार।
  सरकार के परम्परागत भक्त-सरकारी सेवक एवं निष्ठावान समूह भी आंदोलन के प्रभाव से अछूते नहीं रहे।
  दिनोंदिन यह मुद्दा भारत बनाम ब्रिटेन बनता गया।
- **तीन प्रमुख विद्रोह,**
  1. 21 नवंबर, 1945 को कलकत्ता में; आजाद हिंद फौज के सैनिकों पर मुकद्दमा चलाये जाने को लेकर।
  2. 11 फरवरी 1946 को पुनः कलकत्ता में; आजाद हिंद फौज के एक अधिकारी को सात वर्ष का कारावास दिये जाने के विरोध में।
  3. 18 फरवरी, 1946 को बंबई में; भारतीय शाही सेना के नाविकों की हड़ताल के संबंध में।
     कांग्रेस ने विद्रोहों की रणनीति एवं समय को अनुपयुक्त मानते हुए, इनका समर्थन नहीं किया।
- **चुनाव परिणाम**
  कांग्रेस ने केंद्रीय व्यवस्थापिका की 102 सीटों मे से 57 सीटों पर विजय प्राप्त की। उसे मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत एवं उड़ीसा में पूर्ण बहुमत मिला, पंजाब में उसने यूनियनवादियों एवं अकालियों के साथ मिलकर गठबंधन सरकार बनायी।
  मुस्लिम लीग ने केंद्रीय व्यवस्थापिका के 30 आरक्षित स्थानों पर विजय प्राप्त की—सिंध एवं बंगाल में उसे पूर्ण बहुमत मिला।
- **1946 के अंत तक अंग्रेजों की वापसी क्यों सुनिश्चित लगने लगी?**
  1. राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में भारतीय राष्ट्रवादियों की उत्तरोत्तर सफलता।
  2. नौकरशाही एवं अंग्रेज राजभक्तों के मनोबल में ह्रास।
  3. आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों के प्रति सैनिकों का समर्थन तथा भारतीय शाही सेना के नाविकों का विद्रोह।
  4. समझौते एवं दमन की ब्रिटिश नीति का सीमाकरण।
  5. आंतरिक सरकारी शासन का असंभव हो जाना।

- **सरकारी नीति का मुख्य उद्देश्य**
  भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करके सम्मानजनक वापसी तथा साम्राज्यवादी शासन के पश्चात भारत-ब्रिटेन संबंधों को मधुर बनाये रखने की योजना।
- **कैबिनेट मिशन**
  प्रावधान
  पाकिस्तान का प्रस्ताव अस्वीकृत।
  मौजूदा विधानसभाओं का तीन समूहों—क, ख एवं ग में समूहीकरण।
  संघ, प्रांतों एवं देसी रियासतों में तीन-स्तरीय कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका।
  प्रांतीय विधानसभायें, संविधान सभा के सदस्यों का चयन करेंगी।
  रक्षा, विदेशी मामले एवं संचार के लिये एक सामान्य केंद्र (Common Center) की व्यवस्था।
  प्रांतों को स्वायत्तता तथा अवशिष्ट शक्तियां।
  देशी रियासतें, उत्तराधिकारी सरकार या ब्रिटिश सरकार से समझौता करने हेतु स्वतंत्र।
  भविष्य में प्रांतों को समूह या संघ में सम्मिलित होने की छूट।
  इस बीच संविधान सभा द्वारा एक अंतरिम सरकार का गठन किया जायेगा।
- **व्याख्याः** कांग्रेस ने तर्क दिया कि समूहीकरण वैकल्पिक था, जबकि लीग ने सोचा कि समूहीकरण अनिवार्य है। मिशन ने लीग के मसले को समर्थन देने का निश्चय किया।
- **स्वीकार्यताः** जून 1946 में लीग तथा कांग्रेस दोनों ने कैबिनेट मिशन योजना को स्वीकार कर लिया।
- **आगे का विकासः जुलाई 1946:** नेहरू के प्रेस वक्तव्य के पश्चात मुस्लिम लीग ने योजना से अपना समर्थन वापस ले लिया तथा 16 अगस्त, 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' मनाने की घोषणा की।
  सितम्बर, 1946: जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार ने शपथ ली।
  अक्टूबर, 1946: मुस्लिम लीग, अंतरिम सरकार में सम्मिलित लेकिन उसने अड़ियल रवैया अपनाया।
  फरवरी 1947: कांग्रेस के सदस्यों ने मुस्लिम लीग के सदस्यों को अंतरिम सरकार से निष्कासित करने की मांग की, लीग ने संविधान सभा को भंग करने की मांग उठायी।

अध्याय 25

स्वतंत्रता एवं विभाजन

एटली की घोषणा

क्लीमेंट एटली, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री, ने सभी ओर से समस्याओं से घिरता महसूस करते हुए, 20 फरवरी, 1947 को एक घोषणा की।

एटली की घोषणा के प्रमुख बिंदु

- अंग्रेज सरकार 30 जून 1948 तक भारतवासियों को सत्ता सौंप देगी।
- यदि इस तिथि तक संविधान नहीं बन सका तो उस स्थिति में ब्रिटिश सम्राट की सरकार यह विचार करेगी कि निश्चित तिथि को ब्रिटिश शासित भारत की केंद्रीय सरकार की सत्ता किसको सौंपी जाये। क्या ब्रिटिश भारत की केंद्रीय सरकार के किसी रूप को अथवा कुछ भागों में वर्तमान प्रांतीय सरकारों को अथवा किसी अन्य ढंग से जो सर्वाधिक न्यायसंगत एवं भारतीयों के सर्वाधिक हित में हो, सत्ता दी जाये।
- लार्ड वेवेल के स्थान पर लार्ड मांउटबेटन को भारत का नया वायसराय नियुक्त किया गया।

एटली की उपर्युक्त घोषणा में पाकिस्तान के निर्माण का भाव निहित था। साथ ही यह घोषणा राज्यों के बाल्कनीकरण एवं क्रिप्स प्रस्तावों के समर्थन का आभास दे रही थी।

सरकार ने भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने के लिये तिथि निर्धारित क्यों की?

- सरकार को आशा थी कि सत्ता हस्तांतरण के लिये तिथि निर्धारित करने पर भारत के राजनीतिक दल मुख्य समस्या के समाधान हेतु सहमत हो जायेगें।
- सरकार तत्कालीन संवैधानिक संकट को टालना चाहती थी।
- सरकार इस बात को स्वीकार कर चुकी थी कि भारत से उसकी वापसी तथा भारतवासियों को सत्ता हस्तांतरण अपरिहार्य हो चुका है।

कांग्रेस की प्रतिक्रिया

कांग्रेस ने स्वायत्तशासी उपनिवेशों को सत्ता हस्तांतरित करने की योजना को इसलिये स्वीकार कर लिया क्योंकि इससे भारत के अधिक विखंडित होने की संभावना समाप्त हो गयी। इस योजना में प्रांतों एवं देशी रियासतों को अलग से स्वतंत्रता देने का कोई प्रावधान नहीं था। साथ ही तत्कालीन प्रांतीय व्यवस्थापिकायें स्वयं अपने क्षेत्रों के लिये संविधान का निर्माण कर सकती थीं तथा इससे गतिरोध को समाप्त करने में मदद मिलने की उम्मीद थी।

लेकिन शीघ्र ही मुस्लिम लीग के प्रयासों से कांग्रेस की यह उम्मीद धूल-धूसरित हो गयी। लीग ने पंजाब की गठबंधन सरकार के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ कर दिया तथा समझौते की संभावनायें नगण्य दिखने लगीं।

भारत विभाजन और स्वतंत्रता की ओर

1947 के प्रारंभ में साम्प्रदायिक दंगों की आग में झुलस रहे देश तथा कांग्रेस एवं लीग के मध्य बढ़ते गतिरोध के कारण भारतीय राष्ट्रवादी विभाजन के उस दुखद एवं ऐतिहासिक निर्णय के संबंध में सोचने को विवश हो गये, जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। इस दौरान सबसे महत्वपूर्ण मांग बंगाल एवं पंजाब के हिन्दू एवं सिख समुदाय की ओर से उठायी गयी। इसका प्रमुख कारण यह था कि यह समुदाय समूहीकरण की अनिवार्यता के कारण इस बात से चिंतित था उसे कहीं पाकिस्तान में सम्मिलित न होना पड़े। बंगाल में हिन्दू महासभा ने प. बंगाल के रूप में एक पृथक हिन्दू राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की।

10 मार्च, 1947 को जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि वर्तमान समस्या के समाधान का सर्वोत्तम उपाय यह है कि कैबिनेट मिशन, पंजाब एवं बंगाल का विभाजन कर दें।

अप्रैल 1947 में भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष जे.बी. कृपलानी ने वायसराय को लिखा कि....''युद्ध से बेहतर यह है कि हम उनकी पाकिस्तान की मांग को मान लें। किंतु यह तभी संभव होगा जब आप पंजाब और बंगाल का ईमानदारीपूर्वक विभाजन करें।''

माउंटबैटन वायसराय के रूप में

लार्ड माउंटबैटन अपने पूर्ववर्ती वायसरायों की तुलना में निर्णय लेने में ज्यादा त्वरित एवं निर्णायक सिद्ध हुए क्योंकि उन्हें निर्णय लेने के ज्यादा एवं अनौपचारिक अधिकार प्रदान किये गये थे। साथ ही उन्हें ब्रिटिश सरकार के इस दृढ़ निर्णय से भी काफी सहायता मिली कि जितनी जल्दी हो सके भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित कर दी जाये। उनका प्रमुख कार्य यह था कि अक्टूबर 1947 से पहले वे इस बात का पता लगायें कि भारत में एकता या विभाजन दोनों में से क्या होना है और इसके पश्चात उनका

उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार को इस बात से अवगत कराना है कि भारतीयों को सत्ता हस्तांतरण किस प्रकार किया जायेगा तथा उसका स्वरूप क्या होगा? मांउटबैटन के आने से पूर्व ही भारतीय परिस्थितियां निर्णायक मोड़ लेने लगी थीं, इससे भी माउंटबैटन को परिस्थितियों को समझने तथा निर्णय लेने में मदद मिली।

कैबिनेट मिशन निष्फल प्रयास के रूप में सामने आया तथा जिन्ना इस बात पर दृढ़तापूर्वक अड़े हुए थे कि वे पाकिस्तान से कम कुछ भी स्वीकार नहीं करेंगे।

माउंटबैटन योजना

लॉर्ड वेवेल के स्थान पर लार्ड माउंटबैटन के वायसराय बन कर आने के पूर्व ही भारत में 'विभाजन के साथ स्वतंत्रता' का फार्मूला भारतीय नेताओं द्वारा लगभग स्वीकार कर लिया गया था। 3 जून, 1947 को माउंटबैटन ने भारत के विभाजन के साथ सत्ता हस्तांतरण की एक योजना प्रस्तुत की। इसे 'माउंटबैटन योजना' के साथ ही '3 जून योजना' के नाम से भी जाना जाता है।

मुख्य बिन्दुः माउंटबैटन योजना के मुख्य बिन्दु निम्नानुसार थे–

• पंजाब और बंगाल में हिन्दू तथा मुसलमान बहुसंख्यक जिलों के प्रांतीय विधानसभा के सदस्यों की अलग बैठक बुलाई जाये और उसमें कोई भी पक्ष यदि प्रांत का विभाजन चाहेगा तो विभाजन कर दिया जायेगा।

• विभाजन होने की दशा में दो डोमनियनों तथा दो संविधान सभाओं का निर्माण किया जायेगा।

• सिंध इस संबंध में अपना निर्णय स्वयं लेगा।

• उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत तथा असम के सिलहट जिले में जनमत संग्रह द्वारा यह पता लगाया जायेगा कि वे भारत के किस भाग के साथ रहना चाहते हैं।

• योजना में कांग्रेस की भारत की एकता की मांग को अधिक से अधिक पूरा करने की कोशिश की गयी। जैसे–

(i) भारतीय रजवाड़ों को स्वतंत्र रहने का विकल्प नहीं दिया जा सकता। उन्हें या तो भारत में या पाकिस्तान में सम्मिलित होना होगा।

(ii) बंगाल को स्वतंत्रता देने से मना कर दिया गया।

(iii) हैदराबाद की पाकिस्तान में सम्मिलित होने की मांग अस्वीकृत कर दी गयी। (इस मांग के संबंध में माउंटबैटन ने कांग्रेस का पूर्ण समर्थन किया)।

• 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान को डोमिनियन स्टेट्स के आधार पर सत्ता का हस्तांतरण हो जायेगा।

• यदि विभाजन में गतिरोध उत्पन्न हुआ तो एक सीमा आयोग का गठन किया जायेगा।

माउंटबैटन योजना को कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया तथा

भारत का भारत एवं पाकिस्तान दो डोमिनियनों में विभाजन कर दिया गया। इस योजना से जहां मुस्लिम लीग की बहुप्रतीक्षित पाकिस्तान के निर्माण की मांग पूरी हो गयी, वहीं योजना में कांग्रेस की इस मांग का भी पूरा ध्यान रखा गया कि यथासंभव पाकिस्तान का भौगोलिक क्षेत्र छोटे से छोटा हो।

भारत ने डोमिनियन का दर्जा क्यों स्वीकार किया?

लाहौर अधिवेशन (1929) की भावना के विरुद्ध कांग्रेस ने डोमिनियन स्टेट्स का दर्जा स्वीकार किया, क्योंकि–

(i) इससे शांतिपूर्ण एवं त्वरित सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया सुनिश्चित हो गयी।

(ii) देश की तत्कालीन विस्फोटक परिस्थितियों को नियंत्रित करने के लिये आवश्यक था कि कांग्रेस जल्द से जल्द शासन की शक्तियां प्राप्त करे।

(iii) देश में प्रशासनिक एवं सैन्य ढांचे की निरंतरता को बनाये रखने के लिये भी यह अनिवार्य था।

भारत द्वारा डोमिनियन स्टेट्स का दर्जा स्वीकार किये जाने से ब्रिटेन को उसे राष्ट्रमंडल में शामिल करने का अवसर मिल गया। इससे ब्रिटेन की यह चिर-प्रतीक्षित इच्छा पूरी हो गयी। यद्यपि भले ही यह अस्थायी था, परंतु ब्रिटेन को विश्वास था कि भारत के राष्ट्रमंडल में आ जाने से उसे आर्थिक सुदृढ़ता तथा रक्षात्मक शक्ति मिलेगी तथा भारत में उसके निवेश के नये द्वार खुलेंगे।

ब्रिटेन द्वारा सत्ता हस्तांतरण की तिथि समय से पूर्व तय करने के कारण

ब्रिटेन, डोमिनियन स्टेट्स के मुद्दे पर कांग्रेस की स्वीकृति चाहता था। इसके साथ ही वह उस समय हो रहे भीषण सांप्रदायिक दंगों की जिम्मेदारी से भी बचना चाहता था।

योजना यह थी कि जैसे ही डोमिनियन स्टेट्स के लिये कांग्रेस की स्वीकृति मिले, योजना को तुरंत, बिना किसी विलंब के क्रियान्वित कर दिया जाये। इस योजना के अनुसार, सीमांत प्रांत में जनमत संग्रह द्वारा यह तय होना था कि वह भारत में शामिल होगा या पाकिस्तान में। इसी प्रकार, असम के मुस्लिम बहुसंख्यक सिल्हट जिले में भी जनमत संग्रह द्वारा यह निश्चित होना था कि वह भारत में सम्मिलित होगा या पूर्वी बंगाल में। बंगाल और पंजाब की विधानसभाओं को दो भागों में, एक में मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश के प्रतिनिधि तथा दूसरे में शेष अन्य प्रतिनिधियों को यह निश्चित करना था कि प्रांतों का विभाजन हो या नहीं। जैसी कि उम्मीद थी दोनों प्रांतों के हिंदू बहुसंख्यक प्रदेशों के प्रतिनिधियों ने यह निश्चय किया कि प्रांतों का विभाजन हो। पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल ने यह तय किया कि वे पाकिस्तान में सम्मिलित होंगे, जबकि पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब ने यह तय किया कि वे भारत में सम्मिलित होंगे। सिल्हट और सीमांत प्रांत का जनमत संग्रह पाकिस्तान के पक्ष में गया।

ब्लूचिस्तान एवं सिंध में जनमत ने भारी बहुमत से पाकिस्तान में सम्मिलित होने की इच्छा जतायी।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम

आधुनिक भारत के इतिहास में भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 का विशेष महत्व है। इसका निर्णायक महत्व इस दृष्टि से है कि इसने भारत में एक नवीन युग की शुरुआत की। वस्तुतः ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह अंतिम अधिनियम था। इसके पश्चात स्वतंत्र भारत का अपना संवैधानिक इतिहास प्रारंभ होता है।

वास्तव में 1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम स्वयं में कोई मौलिक कृति न था। इसके द्वारा माउंटबैटन की योजना को ही प्रभावी बनाया गया था। भारत में अंतिम गवर्नर-जनरल के रूप में माउंटबैटन की नियुक्ति का उद्देश्य, भारत में सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया को मूर्तरूप देना था। माउंटबैटन ने प्रमुख भारतीय राजनीतिक दलों में एकमतता ध्येय प्राप्त कर अपनी योजना का प्रारूप तैयार किया। प्रारूप को वैधानिक रूप प्रदान करने के ध्येय से ब्रिटिश सरकार ने औपचारिकता पूरी करने हेतु कदम उठाया। इसी के प्रयास-स्वरूप प्रधानमंत्री एटली ने माउंटबैटन योजना को विधेयक के रूप में 15 जुलाई, 1947 ई. को कामन्स सभा में तथा 16 जुलाई को लार्ड्स सभा में प्रस्तुत किया। शीघ्र ही, 18 जुलाई 1947 ई. को इसके पारित होने के बाद इस पर शाही हस्ताक्षर हो गये। यही विधेयक भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के नाम से जाना गया। वस्तुतः इस अधिनियम द्वारा 3 जून, 1947 की योजना को ही वैधानिक रूप प्रदान किया गया था। इस अधिनियम की प्रमुख धारायें निम्नानुसार थीं–

- भारतीय उपमहाद्वीप को दो उपनिवेशों, भारतीय संघ तथा पाकिस्तान में बांट दिया गया।
- भारतीय संघ या हिन्दुस्तान प्रदेश में वे सभी प्रदेश सम्मिलित किये जायेंगे, सिवाय उन प्रदेशों के जो अब पाकिस्तान कहलायेगा। पाकिस्तान के प्रदेश में सिंध, ब्रिटिश ब्लूचिस्तान, उ.-प. सीमांत प्रांत, पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बंगाल सम्मिलित होंगे। इसमें अंतिम दो प्रांतों की सुनिश्चित सीमाओं का निर्धारण एक सीमा आयोग, जनमत तथा निर्वाचन द्वारा किया जायेगा।
- उन समस्त संधियों की समाप्ति की जायेगी व अनुबंध रद्द समझे जायेंगे जो महामहिम की सरकार तथा भारतीय नरेशों के मध्य हुए थे। शाही उपाधि से 'भारत का सम्राट' शब्द समाप्त हो जायेगा।
- प्रत्येक राज्य के लिये एक-एक गवर्नर-जनरल होगा, जो महामहिम द्वारा नियुक्ति किया जायेगा और वह इस राज्य की सरकार के प्रयोजन के लिये महामहिम का प्रतिनिधित्व करेगा, इसमें यह भी प्रावधान था कि यदि दोनों राज्य चाहें तो वही व्यक्ति इन दोनों राज्यों का गवर्नर-जनरल रह सकता है।

● भारत तथा पाकिस्तान के विधानमंडलों को कुछ विषयों पर कानून निर्माण का पूर्ण अधिकार दिया गया—अपने राज्यों के संबंध में इत्यादि।

● 15 अगस्त 1947 के बाद भारत तथा पाकिस्तान पर अंग्रेजी संसद के क्षेत्राधिकार की समाप्ति।

● इस अवधि के उपरांत महामहिम की सरकार, ब्रिटिश सरकार के शासन अथवा उसकी रक्षा के प्रति उत्तरदायी नहीं होगी।

स्वतः ही केंद्रीय विधानसभा तथा राज्य परिषद भंग हो जायेंगी तथा इन नये दो राज्यों की संविधान सभायें अपने-अपने राज्यों के लिये विधान मंडल की शक्तियों का प्रयोग करेंगी।

● भारत सरकार अधिनियम 1935 तब तक यथासंभव इन दोनों राज्यों का शासन चलाने में सहायता देगा, जब तक कि नये संविधान प्रत्येक राज्य द्वारा अपना नहीं लिये जाते। आवश्यकता पड़ने पर अधिनियम परिवर्तित भी किया जा सकता है लेकिन इसके लिये गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक होगी।

● भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को क्रियान्वित करने के लिये गवर्नर-जनरल को आवश्यक शक्तियां दी गयीं।

● भारत सचिव द्वारा नियुक्त उन पदाधिकारियों को पूर्व सुरक्षा दी गयी, जो इन राज्यों की सेवा में लगे हुए थे। भविष्य में ऐसे पदाधिकारियों की नियुक्ति के अधिकार से भारत सचिव वंचित था।

● गवर्नर-जनरल इस बात की आज्ञा दे सकता था कि महामहिम की भारतीय सेना का दोनों राज्यों में बंटवारा होगा। साथ ही विभाजन कार्य की पूर्णता तक गवर्नर-जनरल ही सेना की कमान तथा प्रशासन के लिये उत्तरदायी होगा। दोनों ही राज्य अपनी-अपनी सीमा में आई सेना के शासन के लिये पूर्णरूपेण उत्तरदायी होंगे।

● भारत सचिव तथा भारत गृह लेखा-आयुक्त के कार्य को बनाये रखने के लिये भी संक्रमणीय प्रावधान बनाये गये।

● यह अधिनियम, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 कहलाया।

● अंततः 15 अगस्त 1947 को भारत को दो स्वतंत्र डोमिनियनों-भारत तथा पाकिस्तान में बांट दिया गया। पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल मु. अली जिन्ना बने, किंतु भारत के लिये माउंटबैटन को ही साग्रह गवर्नर-जनरल बने रहने को कहा गया।

इस प्रकार, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 ई. ने विभाजन के साथ भारत की स्वतंत्रता घोषित कर दी।

अधिनियम का मूल्यांकनः भारत के संवैधानिक तथा आधुनिक इतिहास में 1947 ई. के भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम का विशेष महत्व है। प्रथमतः इसके द्वारा भारत, पाकिस्तान तथा भारतीय रियासतों में अंग्रेजी सत्ता समाप्त हो गयी। इन क्षेत्रों में गवर्नर-जनरल को संवैधानिक प्रमुख बनाया गया। इस प्रकार, भारत तथा पाकिस्तान

प्लान बाल्कान

इसे बाल्कान योजना के नाम से भी जाना जाता है। वर्ष 1947 में मार्च से मई के बीच माउंटबैटन ने निर्णय किया कि कैबिनेट मिशन योजना अनियंत्रित हो चुकी है तथा उन्होंने इसकी जगह वैकल्पिक योजना तैयार की। इस योजना में यह प्रावधान था कि सत्ता का हस्तांतरण पृथक-पृथक प्रांतों को किया जाये या सत्ता हस्तांतरण से पहले यदि परिसंघ का गठन हो जाये तो उसके साथ ही इसमें यह प्रावधान भी था कि बंगाल एवं पंजाब को यह विकल्प दिया जाये कि वे अपने बंटवारे के लिये जनमत संग्रह का सहारा ले सकते हैं। इस प्रकार देशी रियासतों के साथ विभिन्न समूहों को यह छूट होगी कि वे भारत में सम्मिलित होना चाहते हैं या पाकिस्तान में या फिर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। लेकिन जवाहरलाल नेहरू द्वारा इस योजना पर अत्यंत तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के कारण यह योजना त्याग दी गयी।

को अपने-अपने संविधान के निर्माण का अधिकार देकर भारतीय उपमहाद्वीप में साम्राज्यवादी युग का अंत कर दिया गया। इस परिणाम के कारण अधिनियम का यह पहलू तो सुखद था, किंतु विभाजन इस महाद्वीप के लिये इतनी बड़ी समस्या बन गया कि इसके दुष्परिणाम आज भी दिखाई देते हैं। वास्तव में विभाजन का आधार धर्म नहीं था; भारत में अब भी कई करोड़ मुसलमान थे। वैसे विभाजन तथा स्वतंत्रता अधिनियम में मौलिकता नहीं थी। यह पूर्णनिर्मित परिस्थितियों से प्रेरित तथा निर्मित योजना की वैधानिकता का प्रमाण मात्र था।

अंग्रेजों की जल्द वापसी के निर्णय से उत्पन्न समस्याएं

अंग्रेजों की भारत से शीघ्रातिशीघ्र वापसी तथा भारतीयों को जल्द सत्ता-हस्तांतरण करने के निर्णय से अनेक समस्यायें भी खड़ी हो गयीं। इससे विभाजन के संबंध में सुनिश्चित योजना बनाने की रणनीति गड़बड़ा गयी तथा यह पंजाब में व्यापक नरसंहार को रोकने में असफल रही क्योंकि–

- विभाजन की योजना के संबंध में एक सुनिश्चित एवं दूरदर्शितापूर्ण रणनीति का अभाव था। साथ ही यह योजना भी नहीं बनायी गयी थी कि विभाजनोपरांत उत्पन्न समस्याओं को कैसे हल किया जायेगा।
- माउंटबैटन यह मानकर चल रहे थे कि उन्हें भारत एवं पाकिस्तान दोनों का गवर्नर-जनरल बनाया जायेगा, जिससे वे विभाजनोपरांत उत्पन्न समस्याओं को हल कर लेंगे। लेकिन जिन्ना, पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल पद स्वयं संभालना चाहते थे।
- सीमा आयोग (रेडक्लिफ की अध्यक्षता में) की घोषणा करने में अनावश्यक देरी की गयी। यद्यपि इस संबंध में निर्णय 12 अगस्त 1947 को ही लिया जा चुका था, लेकिन माउंटबैटन ने इसे 15 अगस्त 1947 को सार्वजनिक करने का निर्णय लिया।

इसके पीछे उनकी यह सोच थी कि इससे सरकार, किसी भी प्रकार की विपरीत घटना होने पर उसकी जिम्मेदारी से बच जायेगी।

राज्यों का एकीकरण

वर्ष 1946-47 के दौरान राज्यों में विभिन्न जन-आंदोलन उठ खड़े हुए, जिसमें लोगों ने अधिक राजनीतिक अधिकार तथा संविधान सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की मांग की। 1945 में उदयपुर में तथा 1947 में ग्वालियर में अखिल भारतीय राज्य जन सम्मेलनों का आयोजन किया गया, जिनकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की। उन्होंने घोषणा की कि जो राज्य संविधान सभा में सम्मिलित होने से इंकार करेंगे उनसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया जायेगा। जुलाई 1947 में वल्लभभाई पटेल को 'नये राज्यों के विभाग' का दायित्व सौंपा गया। श्री पटेल के नेतृत्व में दो चरणों में विभिन्न राज्यों को भारत में सम्मिलित करने का कार्य किया गया। इसके लिये पटेल ने दूरदर्शितापूर्ण सामंजस्य, जनता के दबाव एवं धमकी तीनों युक्तियों का सहारा लिया।

प्रथम चरणः 15 अगस्त 1947 तक कश्मीर, हैदराबाद एवं जूनागढ़ को छोड़कर लगभग सभी राज्यों ने भारत में सम्मिलित होने के विलय-पत्रों पर हस्ताक्षर कर दिये थे। ये सभी राज्य अपनी रक्षा, विदेशी मामले और संचार व्यवस्था को भारत के अधीनस्थ मानकर सम्मिलित हो गये। देशी रियासतों के शासक विलय-पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिये आसानी से तैयार हो गये, क्योंकि- (1) उनके सम्मुख इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था। (2) इन तीन प्रमुख मामलों का दायित्व भारत की सरकार द्वारा ले लेने से वे लगभग निश्चिंत हो गये। तथा (3) आंतरिक राजनैतिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा था।

15 अगस्त 1947 तक 136 देशी रियासतें भारत में सम्मिलित हो चुकी थीं। कश्मीर ने 26 अक्टूबर 1947 को तथा हैदराबाद एवं जूनागढ़ ने 1948 में विलय-पत्रों पर हस्ताक्षर किये।

द्वितीय चरणः बहुत सी छोटी-छोटी रियासतें, जो आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था में अलग-अलग नहीं रह सकती थीं, संलग्न प्रांतों में विलय कर दी गयीं। जैसे-छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की 39 रियासतें या तो मध्य प्रांत या उड़ीसा में मिला दी गयीं तथा गुजरात की रियासतों को बंबई प्रांत में सम्मिलित कर दिया गया। इन रियासतों के विलय का एक अन्य रूप उन्हें ऐसी इकाइयों के रूप में गठित करना था, जिनका प्रशासन केंद्र द्वारा चलाया जाये। इस श्रेणी में विन्ध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, बिलासपुर, भोपाल और कच्छ की रियासतें थीं। एक अन्य प्रकार का विलय, राज्य संघों का गठन करना था। इस प्रकार काठियावाड़ की संयुक्त रियासतें, मध्य प्रांत की रियासतें, मध्य भारत एवं विन्ध्य प्रदेश के संघ, पूर्वी पंजाब रियासती संघ और पटियाला, राजस्थान, कोचीन और ट्रावनकोर की संयुक्त रियासतें अस्तित्व में आयीं।

इस चरण को पूरा होने में लगभग एक वर्ष का समय लगा। देशी रियासतों को

विलय के लिये राजी करने हेतु राजाओं को अनेक रियासतें दी गयीं। रजवाड़ों को विशेषाधिकार (प्रिवीपर्स) प्रदान किये गये तथा अनेक राजाओं को *राज्यपाल* एवं *राजप्रमुख* के पद दिये गये।

कम समय में देश का इस तीव्र गति से एकीकरण, सरदार वल्लभभाई पटेल की एक महान उपलब्धि थी।

क्या भारत का विभाजन अनिवार्य था?

इस मुद्दे पर इतिहासकारों में एकमत का अभाव है तथा इसके संबंध में भिन्न-भिन्न इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न धारणायें प्रस्तुत की हैं।

इस मुद्दे की व्याख्या करते समय विशेषकर भारतीय, पाकिस्तानी एवं अंग्रेज इतिहासकारों ने विभाजन को अपने-अपने नजरिये से देखा है तथा अपनी-अपनी विचारधारायें प्रस्तुत की हैं। भारतीय इतिहासकार विभाजन को महान दुर्घटना मानते हैं तथा इसे देश के लिये एक अपूरणीय क्षति बताते हैं। उनके मतानुसार, भारत का विभाजन अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति तथा मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता तथा पृथकता की नीति का चरमोत्कर्ष था। इन दोनों कारकों ने एक-दूसरे के समानांतर रहते हुए कार्य किया तथा भारतीय उपमहाद्वीप को विभाजन की त्रासदी झेलने हेतु विवश कर दिया। ये दोनों ही कारक अपने उदय के उपरांत उत्तरोत्तर प्रभावी होते गये तथा इनका अंतिम चरण विभाजन के रूप में सामने आया। इन कारकों की प्रभावोत्पादकता इस बात से भी परिलक्षित होती है कि कांग्रेस जो विभाजन के बिल्कुल विरुद्ध थी, वह भी इन कारकों को निष्प्रभावी न बना सकी तथा उसे भी विभाजन स्वीकार करना पड़ा। कुछ भारतीय इतिहासकार विभाजन के लिये कांग्रेस की नीतियों तथा उसके नेताओं को जिम्मेदार ठहराते हैं। उनका तर्क है कि यदि कांग्रेस द्वारा स्पष्ट एवं दूरदर्शितापूर्ण नीति अपनायी गयी होती तथा मुस्लिम जनसमुदाय को राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में समाहित कर लिया गया होता तो न ही इससे सांप्रदायिकता का उद्भव एवं विकास होता और न ही देश को विभाजन की त्रासदी झेलनी पड़ती।

पाकिस्तानी इतिहासकार विभाजन को न्यायोचित एवं अनिवार्य मानते हैं। उनके मत से विभाजन ही मुसलमानों के हितों के संरक्षण एवं पोषण का एकमात्र उपाय था। यदि विभाजन नहीं होता तो मुसलमानों की अस्मिता तथा उनकी महत्वाकांक्षायें बहुसंख्यक हिन्दू राष्ट्र में घुटकर रह जातीं।

अंग्रेज इतिहासकार एवं पदाधिकारी भी विभाजन के प्रश्न पर भिन्न-भिन्न राय प्रस्तुत करते हैं। कुछ इसे उचित तथा कुछ इसे अनुचित मानते हैं। परंतु भले ही इस प्रश्न पर इतिहासकारों की धारणा कुछ भी हो, इतना तय है विभाजन का सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व मुहम्मद अली जिन्ना पर था। उन्होंने इस प्रश्न को सुलझाने के बजाय दिनों-दिन जटिल बनाया। वे मुसलमानों को इस बात का अहसास कराने में सफल रहे

कि वे एक पृथक समुदाय हैं तथा हिन्दू बहुसंख्यक भारत में उनके हित कभी सुरक्षित नहीं हो सकते। फलतः मुस्लिम समाज की उन्नति एवं सुदृढ़ता के लिये उनका अलग राष्ट्र में रहना जरूरी है। उन्होंने विभाजन की डोर को इस प्रकार थामा कि वह डोर से रस्सी बन गयी तथा अंततः उसने मुस्लिम भावनाओं को इसी रस्सी के अंदर जकड़कर रख दिया। वे दिनोदिन शक्तिशाली होते रहे तथा धीरे-धीरे सफलतापूर्वक अपने मूल उद्देश्य की ओर बढ़ते रहे। उन्होंने अंततः एक ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया कि समाधान की सभी संभावनायें खत्म हो गयीं तथा देश का विभाजन अपरिहार्य हो गया।

यद्यपि विभाजन के लिये जिन्ना एवं उनके कार्यक्रम सर्वाधिक उत्तरदायी थे, किंतु यदि घटनाओं का संतुलित विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि भूल दोनों पक्षों से हुई। इस कार्य में हिन्दू महासभा जैसे हिन्दूवादी संगठनों ने भी कुछ कम गलत कदम नहीं उठाये तथा उन्होंने भी माहौल को बिगाड़ने में भरपूर योगदान दिया। समय-समय पर उन्होंने भेदभावपूर्ण बयान दिये तथा स्थिति को बद से बदतर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यदि वे ही कुछ संतुलित रूख अपना लेते तो शायद बात बन जाती। परंतु सभी कारकों एवं परिस्थितियों ने मिलकर ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया कि देश को अंततः दो भागों में विभाजित होना पड़ा तथा उसे इस प्रक्रिया की अपूरणीय क्षति झेलनी पड़ी।

कांग्रेस ने विभाजन क्यों स्वीकार किया?

● कांग्रेस ने इस टाले न जा सकने वाले दुखद विभाजन को इसलिये स्वीकार किया क्योंकि वह मुसलमानों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में सम्मिलित करने में असफल रही। विभाजन से कांग्रेस के नेतृत्व में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के दो पक्ष उजागर हुए। इस दिशा में कांग्रेस द्वारा किये गये प्रयासों को दो भागों में बांटा जा सकता है—(i) विभिन्न समूहों, वर्गों, समुदायों एवं क्षेत्रों का एक राष्ट्र के रूप में एकीकरण तथा (ii) भारत के लिये स्वतंत्रता सुनिश्चित करना। यद्यपि कांग्रेस, अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिये बाध्य करने पर सफल रही। वह इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भारतीयों में चेतना जागृत करने तथा जन दबाव बनाने में भी सफल रही किंतु वह साम्प्रदायिक रूप से राष्ट्र का एकीकरण नहीं कर सकी। विशेषतया मुसलमानों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने में तो वह पूर्णतया विफल रही।

● सत्ता का त्वरित हस्तांतरण ही साम्प्रदायिक हिंसा एवं लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाई को रोक सकता था। अंतरिम सरकार के कई मुद्दों पर असफल होने से भी पाकिस्तान के निर्माण की धारणा को हवा मिली तथा उसका निर्माण अवश्यंभावी दिखाई देने लगा।

● विभाजन की योजना में देशी रियासतों को स्वतंत्रता देने या अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखने से स्पष्ट रूप से इंकार किया गया था। यह राष्ट्रीय एकता के लिये

महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। क्योंकि इनके स्वतंत्र होने की दिशा में ये देश की एकता के लिये खतरा उत्पन्न कर सकते थे। यह एक प्रकार यह राष्ट्र का बाल्कनीकरण था।

• विभाजन को स्वीकार करना ही मुस्लिम लीग की वर्षों से चली आ रही इस अड़ियलवादी मांग का समाधान था कि पृथक पाकिस्तान का निर्माण किया जाये। इसके लिये मुस्लिम लीग शुरू से ही प्रयासरत रही थी। लीग की मांग चरणबद्ध तरीके से आगे बढ़ती रही।

—क्रिप्स मिशन (1942 ई.) के दौरान मुस्लिम बहुल प्रांतों को स्वायत्ता प्रदान कर दी गयी।

—गांधी-जिन्ना वार्ता (1944 ई.) के दौरान गांधी जी ने मुस्लिम बहुल प्रांतों के आत्म-निर्धारण के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

—कैबिनेट मिशन योजना (1946 ई.) के पश्चात कांग्रेस ने मुस्लिम बहुल प्रांतों की पृथक संविधान सभा गठित किये जाने की संभावना को स्वीकार कर लिया। बाद में कांग्रेस ने बिना किसी आपत्ति के अनिवार्य समूहीकरण के प्रावधान को स्वीकार कर लिया (दिसम्बर-1946)।

—पाकिस्तान के संबंध में आधिकारिक तौर पर घोषणा मार्च 1947 में की गयी; कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव में यह जोर देकर कहा गया कि यदि देश का विभाजन किया गया तो पंजाब एवं बंगाल का भी विभाजन होना चाहिए।

—3 जून योजना के तहत् कांग्रेस ने विभाजन स्वीकार कर लिया।

• संविधान सभा को स्वायत्तता दिये जाने की दृढ़तापूर्वक मांग करने के साथ ही कांग्रेस ने अनिवार्य समूहीकरण एवं विभाजन की मांग को शांतिपूर्वक स्वीकार कर लिया क्योंकि साम्प्रदायिक दंगों को तभी रोका जा सकता था।

विभाजन के संबंध में कांग्रेस की सोच संतुलित नहीं रही। उसके नेताओं द्वारा दिये जा रहे वक्तव्यों में भी यह बात परिलक्षित हो रही थी कि उनमें विभाजन के संबंध में उपयुक्त एवं दूरदर्शितापूर्ण समझ का अभाव है। कांग्रेस विभाजन का बिल्कुल सटीक आकलन करने में भी असफल रही। यह बात समय-समय पर कांग्रेसी नेताओं द्वारा दिये गये वक्तव्यों से प्रकट होती है। जैसे, नेहरू ने कहा—

—''एक बार अंग्रेजों के भारत से चले जाने पर हिन्दू-मुस्लिम एकता पुनः स्थापित हो जायेगी तथा संयुक्त भारत का निर्माण हो जायेगा।''

—''विभाजन अस्थायी है।''

—''विभाजन शांतिपूर्ण होगा—एक बार जब पाकिस्तान का निर्माण हो जायेगा तो लीग के पास लड़ने के लिये क्या बचेगा।''

1920 से 1930 के मध्य साम्प्रदायिकता का जो स्वरूप था वह 1940 के दशक से भिन्न था। इस दशक में यह पूर्णरूप से एक पृथक मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना के लिये सिमटकर रह गया था। लेकिन कांग्रेस नेतृत्व, साम्प्रदायिकता के इस रूप एवं उसकी शक्ति का आंकलन करने में विफल रहा।

गांधीजी की असमर्थताः इस समय गांधीजी स्वयं को असमर्थ महसूस कर रहे थे, क्योंकि पूरे देश के लोग सांप्रदायिकता के रंग में रंग चुके थे। उन्होंने अत्यंत दुखी मन से विभाजन स्वीकार किया, क्योंकि लोग यही चाहते थे। अतः उनके सम्मुख कोई दूसरा विकल्प नहीं था। भला साम्प्रदायिक मानसिकता पर आधारित एक आंदोलन सांप्रदायिकता के विरुद्ध कैसे लड़ सकता था? उन्होंने कांग्रेस के लोगों से आग्रह किया कि वे दिल से विभाजन को स्वीकार न करें।

अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य करने वाली शक्तियां

वर्ष 1947 में अंग्रेजों ने सत्ता की शक्तियां, भारतीयों को हस्तांतरित कर दीं तथा भारत छोड़ कर चले गये। इसके पीछे अनेक शक्तियों तथा कारकों का सम्मिलित प्रभाव था। इनका विवेचन निम्नानुसार हैः

ऐतिहासिक उद्देश्य का सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन अंग्रेज इतिहासकारों तथा राजनीतिज्ञों ने किया। इस सिद्धांत के अनुसार, ब्रिटेन का भारत छोड़ने का निर्णय स्वैच्छिक था तथा उसने भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने का निर्णय अपनी ओर से ही लिया था। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली तथा लेबर पार्टी के प्रमुख लास्की के बयानों के आधार पर इन इतिहासकारों एवं राजनीतिज्ञों ने यह तर्क दिया है कि ब्रिटेन ने मानवता के आधार पर भारत को स्वतंत्रता सौंपी थी। उनके अनुसार, भारत भेजे जाने वाले विभिन्न शिष्टमंडल तथा समय-समय पर बनाये गये विभिन्न अधिनियम इसी कड़ी का अंग थे। ब्रिटेन ऐसा करके उन ऐतिहासिक उद्देश्यों की प्राप्ति करना चाहता था, जिनमें शासक ने शोषित को सत्ता का हस्तांतरण शक्ति के आधार पर न करके, अपने अंर्तमन की भावना के आधार पर किया था।

साम्राज्यवाद का पतन

प्रथम युद्ध के उपरांत यद्यपि ब्रिटेन के साम्राज्यवादी प्रभुत्व का विस्तार अवश्य हुआ लेकिन साथ ही उसके विरोध में विभिन्न शक्तियां अपना सिर भी उठाने लगी थीं। खुद ब्रिटेन में साम्राज्यवाद का विरोध होने लगा था। तत्पश्चात विश्व के अन्य भागों में होने वाली कुछ घटनाओं ने भी साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं को प्रसारित किया। इंग्लैंड में श्रमिक दल के उदय, भारत में असहयोग आंदोलन एवं चीन में कूमिन्तांग आंदोलन की सफलता तथा 1917 में रूस की क्रांति ने साम्राज्यवाद पर करारा प्रहार किया। इन सबके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध आग सुलगने लगी तथा वह पतन की ओर अग्रसर हो गया।

दो महान शक्तियों का उदय

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात फासीवाद तथा नाजीवाद का पतन हो गया तथा विश्व में दो नयी शक्तियों अमेरिका तथा रूस का उदय हुआ। यद्यपि इस युद्ध में ब्रिटेन विजित राष्ट्रों में सम्मिलित था, किंतु युद्धोपरांत वह दूसरे दर्जे की शक्ति रह गया तथा विश्व में द्वि-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का उदय हुआ। युद्ध के पश्चात विश्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की जाने लगी। अब रूस और अमेरिका जो विश्व की प्रमुख ताकतें थीं, उन दोनों ही देशों में साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं का तेजी से प्रसार हो रहा था। इन परिस्थितियों में साम्राज्यवाद की समाप्ति के दिन गिने-चुने नजर आने लगे।

इंग्लैंड में श्रमिक दल का उदय

मई 1945 में ब्रिटेन में हुए चुनावों में श्रमिक दल विजयी रहा तथा एटली, ब्रिटेन के नये प्रधानमंत्री चुने गये। एटली ने सत्ता ग्रहण करते ही यह घोषणा की कि इंग्लैण्ड यथाशीघ्र भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित कर देगा तथा अंग्रेज भारत से वापस चले जायेंगे। यद्यपि एटली के इन वक्तव्यों का ब्रिटेन के रूढ़िवादी नेताओं ने कड़ा विरोध किया, किंतु एटली ने इन आलोचनाओं को नकारते हुए अपने वायदा पूरा किया तथा भारत को स्वतंत्रता प्रदान कर दी।

भारतीय राष्ट्रवाद को रोकने में अंग्रेजों की विफलता

गांधीजी के 'कुशल नेतृत्व एवं उनकी प्रशंसनीय संगठन क्षमता, ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी दिशा दी। गांधीजी के प्रयासों से ही कांग्रेस की एक विशेष पहचान कायम हुई। कांग्रेस की लोकप्रियता एवं समर्थन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। गांधीजी के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलाये गये विभिन्न आंदोलनों से भारतीय राष्ट्रवाद सशक्त होता गया तथा अंग्रेज सरकार उसे रोकने में विफल रही।

विस्फोटक परिस्थितियां तथा कानून व्यवस्था की स्थिति

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में हिंसा के प्रवेश कर जाने के पश्चात भारत की राजनीतिक परिस्थितियां विस्फोटक हो गयी थीं। पहले क्रांतिकारी आतंकवाद तदुपरांत जनसामान्य की हिंसात्मक प्रवृत्ति का राष्ट्रवाद में समावेश हो जाने से परिस्थितियां नाजुक बन गयीं तथा कानून एवं व्यवस्था की समस्या पैदा हो गयी। समय-समय पर होने वाली हिंसा तथा साम्प्रदायिक दंगे इस बात का प्रमाण थे कि राष्ट्रीय आंदोलन में हिंसा के तत्व का समावेश हो चुका है। अंग्रेज अधिकारियों ने भी यह स्वीकार किया कि विभिन्न आंदोलनों की हिंसात्मक मनोवृत्ति के कारण शांति की स्थापना एक दुरुह कार्य हो गया है। अंततः अंग्रेजों ने निश्चय किया कि हाथ से निकलती इन परिस्थितियों के मद्देनजर भारत को स्वतंत्र कर देना ही उचित होगा।

भारतीय नौसेना का विद्रोह

भारत में अंग्रेजी शासन का आधार सेना थी। अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों की शक्ति से ही भारत को जीता था। विजयोपरांत भारत में शासन को बनाये रखने का आधार भी सेना ही थी। किंतु धीरे-धीरे भारतीय सेना में उपनिवेशी शासन के विरुद्ध प्रतिशोध की ज्वाला सुलगने लगी। यद्यपि 1857 के विद्रोह से ही भारतीय सैनिकों की अंग्रेजों के प्रति घृणा जाहिर होने लगी थी। किंतु अंग्रेजों ने इसके मूल कारणों पर ध्यान नहीं दिया तथा आगे भी प्रजातीय सर्वश्रेष्ठता तथा भेदभाव की नीति जारी रखी। फरवरी 1946 में भारतीय नौसेना के विद्रोह ने तो अंग्रेज शासकों की नींद हराम कर दी। यद्यपि इसका मूल कारण भी अंग्रेजों की दंभपूर्ण श्रेष्ठता की नीति एवं प्रजातीय भेदभाव था किंतु अंग्रेजों ने इन कारकों को उपेक्षित कर दमन का सहारा लिया। नौसेना में विद्रोह से थलसेना तथा वायुसेना भी अछूती नहीं रही तथा उसने साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध असंतोष जाहिर किया। इन परिस्थितियों में जबकि अंग्रेजी शासन का आधार स्तंभ (सेना) ही उसके विरुद्ध हो गया तो अंग्रेजों के सम्मुख भारत छोड़ने के अतिरिक्त कोई विकल्प न बचा।

वामपंथ का उभरना

भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ ही सामाजिक अतिवादी आंदोलन भी धीरे-धीरे गति पकड़ रहा था। इस वामपंथी संस्था के उत्थान ने अंग्रेजों के साथ संभवतः कांग्रेस को भी भयभीत कर दिया तथा इन्हें लगने लगा कि राष्ट्रीय नेतृत्व में कांग्रेस का स्थान अब वामपंथ ले लेगा। संभवतः यही कारण था कि कांग्रेस एवं अंग्रेज दोनों 1947 में सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया को शीघ्रातिशीघ्र क्रियान्वित करने हेतु सहमत हो गये।

द्वि-विकल्प सिद्धांत

भारतीय परिस्थितियों को अनियंत्रित होता देख अंग्रेज अधिकारी अब यह महसूस करने लगे कि या तो नौकरशाही में और अधिक अंग्रेजों को भरती कर उसका पूर्ण यूरोपीयकरण कर दें तथा भारत को उपनिवेश बनाये रखें या भारत को स्वतंत्र कर दें। प्रथम विकल्प अत्यंत मुश्किल कार्य था, अतः अंग्रेजों ने दूसरे विकल्प को उचित मानकर भारत छोड़ देने का निर्णय किया।

राष्ट्रमंडल का विकल्प

कुछ अंग्रेज इतिहासकारों के अनुसार, स्वतंत्रता के उपरांत भारत को राष्ट्रमंडल में शामिल करने की सुनिश्चितता से अंग्रेजों ने महसूस किया कि उनके भारत छोड़ देने के उपरांत भी भारत में ब्रिटिश ताज का शासन अप्रत्यक्ष रूप से कायम रहेगा तथा भारत उसके अधीन बना रहेगा। इसके साथ ही सरकार उन रूढ़िवादि आलोचकों का मुंह-बंद करने में भी सफल हो सकी, जो भारत को स्वतंत्रता दिये जाने का विरोध कर

रहे थे। क्योंकि उसने तर्क दिया कि भारत स्वतंत्र होने के उपरांत भी ब्रिटिश झंडे के तले ही रहेगा तथा उसके हितों का पक्षपोषण करता रहेगा।

इस प्रकार इन्हीं सब कारकों एवं शक्तियों ने ऐसा वातावरण निर्मित किया, जिसके कारण अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर विवश होना पड़ा।

प्रमुख विचार

अंग्रेज न ही हिन्दुओं के दुश्मन न ही मुसलमानों के दोस्त हैं। उन्होंने पाकिस्तान का निर्माण इसलिये नहीं किया कि वे मुसलमानों से दोस्ती प्रदर्शित करना चाहते थे। वस्तुतः यह उनकी अंतरराष्ट्रीय नीतियों की बाध्यता का परिणाम था।

वली खान

भारत को 'बांटो एवं राज्य करो' की नीति से उतना नुकसान नहीं हुआ, जितना उसे चरणों में सत्ता हस्तांतरित करने से। यह कार्य राजनीतिक एवं सामाजिक रूप से देश को हताश करने वाला था। **आर.जे. मूर**

हमने यह महसूस किया कि यदि हमने विभाजन स्वीकार नहीं किया तो भारत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होकर विनष्ट हो जायेगा। कार्यालय में मेरे एक वर्ष के अनुभव से मुझे ज्ञात हुआ कि हम जिस रास्ते पर चल रहे थे वह हमें विनाश की ओर ले जा रहा था। ऐसा करने पर हमारे पास एक नहीं कई पाकिस्तान होते। हमारे प्रत्येक कार्यालय में एक पाकिस्तानी शाखा होती।

सरदार वल्लभभाई पटेल

कांग्रेस के साथ-साथ मुस्लिम लीग ने भी विभाजन को स्वीकार किया.....यद्यपि वास्तविक स्थिति बिल्कुल भिन्न थी....देश का विभाजन केवल कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में पारित प्रस्ताव तथा मुस्लिम लीग के रजिस्टर में ही स्वीकार किया गया था। भारत के लोगों ने कभी भी इसे स्वतंत्र एवं खुले मन से स्वीकार नहीं किया। यदि कुछ ने इसे स्वीकार किया भी तो बुझे हुए मन एवं गुस्से के साथ तथा अन्य ने एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना के रूप में।

मौलाना आजाद

मैने अपने सचिव तथा उसके टाइपराइटर की सहायता से मुसलमानों के लिये पाकिस्तान प्राप्त किया।

मु.अली जिन्ना

1940 के उपरांत मुसलमानों को यह स्पष्ट था कि उनका उद्देश्य न तो एक राष्ट्रीय हिंदू भारत में दूसरे दर्जे का नागरिक था, और न ही एक बहुराष्ट्रीय भारत में संदिग्ध सी साझेदारी। उन्हें तो एक भिन्न प्रदेश में एक भिन्न राष्ट्रीयता की आकांक्षा थी।

हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट ऑफ पाकिस्तान

एक साम्प्रदायिकता से दूसरी साम्प्रदायिकता समाप्त नहीं होती। प्रत्येक एक-दूसरे को बढ़ावा देती है, और दोनों ही पनपती हैं।

जवाहरलाल नेहरू

भारत में भिन्न धर्मों का एक साथ होना हमारी राजनीतिक स्थिति के लिये बहुत अच्छी बात है।

सर जान स्ट्रेची (अंग्रेज अधिकारी)

गांधीजी 'वनमैन बाउंड्री फोर्स' के समान हैं।

माउंटबैटन (सांप्रदायिकता का अकेले ही मुकाबला करने के कारण गांधी की प्रशंसा में)

सारांश

- **एटली की घोषणा (20 फरवरी, 1947)**
  30 जून, 1948 की अवधि तक सत्ता-हस्तांतरण कर दिया जायेगा, सत्ता हस्तांतरण या तो एक सामान्य केंद्र (Common Center) या कुछ क्षेत्रों में प्रांतीय सरकारों को किया जा सकता है।
- **माउंटबैटन योजना (3 जून, 1947)**
  पंजाब एवं बंगाल विधान सभायें विभाजन का निर्णय स्वयं करेंगी; सिंध भी अपना निर्णय स्वयं करेगा।
  उ. प्र. सीमांत प्रांत तथा असम के सिलहट जिले में जनमत संग्रह कराया जायेगा यदि विभाजन हुआ दो डोमिनियन बनाये जायेंगे, दोनों की अलग-अलग संविधान सभायें होंगी।
  15 अगस्त, 1947 को भारत को स्वतंत्रता दे दी गयी।
- **भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम**
  ब्रिटिश संसद ने 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947' 18 जुलाई, 1947 को पारित किया; 15 अगस्त, 1947 से इसे क्रियान्वित किया गया।
- **अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य करने वाली शक्तियां**
  ऐतिहासिक उद्देश्य का सिद्धांत।
  साम्राज्यवाद का पतन।
  दो महान शक्तियों का उदय।
  इंग्लैंड में श्रमिक दल का उदय।
  भारतीय राष्ट्रवाद को रोकने में अंग्रेजों की विफलता।
  विस्फोटक परिस्थितियां तथा कानून व्यवस्था की स्थिति।
  भारतीय नौसेना का विद्रोह।
  वामपंथ का उभरना।
  द्वि-विकल्प सिद्धांत।
  राष्ट्रमंडल का विकल्प।

इकाई 9

ब्रिटिश शासन के अधीन भारत: शासन एवं अन्य पहलू

- संवैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक विकास
- भारत में ब्रिटिश नीतियों का सर्वेक्षण
- भारत में ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव
- भारत में प्रेस का विकास
- भारत में शिक्षा का विकास
- कृषक आंदोलन (1857-1947)
- भारतीय श्रमिक वर्ग आंदोलन

अध्याय 26

संवैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक विकास

वर्ष 1600 में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना और 1765 में इसके व्यापारिक कंपनी से शासकीय निकाय में रूपांतरित होने से भारतीय शासन एवं राजव्यवस्था पर प्रभाव डाला। लेकिन कंपनी शासन के अधीन 1773 और 1858 के बीच और फिर 1947 तक ब्रिटिश क्राउन के अंतर्गत शासन व्यापक एवं पर्याप्त संवैधानिक तथा प्रशासनिक और न्यायिक परिवर्तनों का साक्षी रहा है। इन परिवर्तनों की प्रकृति और उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी विचारधारा को पोषित करना था लेकिन अनजाने में उन्होंने

भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में आधुनिक राज्य के तत्वों का समावेश भी किया।

1773 और 1858 के बीच संवैधानिक विकास

बक्सर के युद्ध (1764) के पश्चात, 12 अगस्त 1765 को क्लाइव ने तत्कालीन मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय से एक फरमान द्वारा बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी (राजस्व वसूलने का अधिकार) प्राप्त कर ली। इसके बदले ईस्ट इंडिया कंपनी ने बादशाह को 26 लाख रुपये वार्षिक देना स्वीकार किया। अवध का नवाब शुजाउद्दौला भी कंपनी का पेंशनर बन चुका था। कंपनी ने दो उप-दीवान नियुक्त किये-बंगाल के लिये मुहम्मद रजा खां एवं बिहार के लिये राजा शिताब राय।

1767: ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय प्रशासन में हस्तक्षेप की पहली घटना 1767 में हुई, जब ब्रिटिश सरकार ने कंपनी की 40 लाख पाउंड की विशाल वार्षिक आय में से 10 प्रतिशत हिस्से की मांग की।

1765-72: प्रशासन की दोहरी प्रणाली अस्तित्व में रही। इसके अनुसार कंपनी दीवानी थी तथा नवाब नाजिम। अब कंपनी पर भूमि का सीमा शुल्क इत्यादि वसूलने की जिम्मेदारी थी। इस व्यवस्था में कंपनी के पास वास्तविक अधिकार थे परंतु उसका कोई दायित्व नहीं था, जबकि इसके भारतीय प्रतिनिधियों (उप-दीवान) को सभी अधिकार थे लेकिन उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी। यह व्यवस्था सात वर्षों तक जारी रही। इस अवधि की निम्न विशेषतायें रहीं–

☆ कंपनी के कर्मचारियों के मध्य भ्रष्टाचार चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया तथा उन्होंने निजी व्यापार द्वारा अकूत धन कमाया।

☆ अत्यधिक भू-राजस्व की वसूली तथा किसानों का उत्पीड़न।

☆ कंपनी दिवालियेपन की कगार पर पहुंच गयी, जबकि उसके कर्मचारी मालामाल हो गये।

इस बीच ब्रिटिश सरकार ने कंपनी के मामलों में कुछ कानून बनाने का निश्चय किया। जिसके फलस्वरूप निम्न अधिनियम अस्तित्व में आये–

रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773

• कंपनी के डायरेक्टरों को कहा गया कि वे अब से राजस्व से संबंधित सभी मामलों तथा दीवानी एवं सैन्य प्रशासन के संबंध में किये गये सभी प्रकार कार्यों से सरकार को अवगत करायेंगे। (इस प्रकार, पहली बार ब्रिटिश कैबिनेट को भारतीय मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार दिया गया)।

• अब 500 पौंड के अंशधारियों के स्थान पर 1000 पौंड के अंशधारियों को संचालक चुनने का अधिकार दिया गया।

● संचालक मंडल (Court of Directors) का कार्यकाल चार वर्ष कर दिया गया। प्रति वर्ष उनमें से एक-चौथाई सदस्यों के स्थान पर नये सदस्यों के निर्वाचन की पद्धति अपनायी गयी।

● बंगाल में एक प्रशासक मंडल गठित किया गया, जिसमें गवर्नर-जनरल तथा चार पार्षद नियुक्त किये गये। ये पार्षद, नागरिक तथा सैन्य प्रशासन से सम्बद्ध थे। इस मंडल (Council) में निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाते थे। इस अधिनियम द्वारा मंडल में वारेन हेस्टिंग्स को गवर्नर-जनरल के रूप में तथा क्लैवरिंग, मॉनसल, बरवैल एवं फिलिप फ्रांसिस को पार्षदों के रूप में नियुक्त किया गया। इन सभी का कार्यकाल पांच वर्ष था तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स की सिफारिश पर केवल ब्रिटिश सम्राट द्वारा ही इन्हें हटाया जा सकता था। भावी नियुक्तियां कंपनी द्वारा की जानी थीं।

● बंगाल के गवर्नर को अब समस्त अंग्रेजी क्षेत्रों का गवर्नर कहा गया। सपरिषद गवर्नर-जनरल को बंगाल में फोर्ट विलियम की प्रेसीडेंसी के असैनिक तथा सैनिक शासन का अधिकार दिया गया। कुछ विशेष मामलों में उसे बंबई तथा मद्रास की प्रेसीडेसियों का अधीक्षण भी करना था।

● इस अधिनियम द्वारा बंगाल में 1774 में एक उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) की स्थापना की गयी। कंपनी के सभी कार्यकर्ता इसके न्याय क्षेत्र (Jurisdiction) में कर दिये गये। इस न्यायालय को प्राथमिक तथा अपील के अधिकार की अनुमति थी। इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीश थे। सर एलिजाह एम्पी को सुप्रीम कोर्ट का प्रथम मुख्य न्यायधीश नियुक्त किया गया। उच्चतम न्यायालय में अंग्रेज एवं भारतीय सभी न्याय की गुहार कर सकते थे। यहां इंग्लैंड में प्रचलित न्यायिक विधियों के अनुसार न्याय की व्यवस्था थी। न्यायालय को यह भी अधिकार था कि वह कंपनी तथा सम्राट की सेवा में लगे व्यक्तियों के विरुद्ध मामले, कार्यवाही अथवा शिकायत की सुनवायी कर सकता था।

● कानून बनाने का अधिकार गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद को दे दिया गया किंतु इन कानूनों को लागू करने से पूर्व भारत सचिव से अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था।

● कंपनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार को पूर्णतया प्रतिबंधित कर दिया गया।

● कर्मचारियों के लिये वेतन वृद्धि कर दी गयी तथा उन्हें नजराना, घूंस, भेंट आदि लेने की मनाही कर दी गयी।

इस अधिनियम के सभी प्रावधान 'परीक्षण एवं संतुलन' के सिद्धांत पर आधारित थे।

संशोधन (1781) ● कलकत्ता स्थित उच्चतम न्यायालय के न्याय क्षेत्र को परिभाषित कर दिया गया।

● राजस्व एकत्रित करने की व्यवस्था में कोई रुकावट न डाली जाये।

• कानून बनाते तथा उनका क्रियान्वयन करते समय भारतीयों के सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों का सम्मान किया जाये।

पिट्स इंडिया एक्ट, 1784

रेग्यूलेटिंग एक्ट के दोषों को दूर करने के लिये इस एक्ट को पारित किया गया। इस एक्ट से संबंधित विधेयक ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमंत्री पिट द यंगर ने संसद में प्रस्तुत किया तथा 1784 में ब्रिटिश संसद ने इसे पारित कर दिया। इस एक्ट के प्रमुख उपबंध निम्नानुसार थे–

• 6 कमिश्नरों के एक नियंत्रण बोर्ड की स्थापना की गयी, जिसे भारत में अंग्रेजी अधिकृत क्षेत्र पर पूरा अधिकार दिया गया। इसे 'बोर्ड आफ कन्ट्रोल' के नाम से जाना जाता था। इसके सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटेन के सम्राट द्वारा की जाती थी। इसके 6 सदस्यों में–एक ब्रिटेन का अर्थमंत्री (Chancellor of exchequer), दूसरा विदेश सचिव (Secretary of State) तथा 4 अन्य सम्राट द्वारा प्रिवी कौंसिल के सदस्यों में से चुने जाते थे।

• भारत में गवर्नर-जनरल के परिषद की सदस्य संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी। इन तीन में से एक स्थान मुख्य सेनापति (Commander-in-Chief) को दे दिया गया।

• बंबई तथा मद्रास के गवर्नर पूर्णरूपेण गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिये गये।

• भारत में कंपनी के अधिकृत प्रदेशों को पहली बार नया नाम 'ब्रिटिश अधिकृत भारतीय प्रदेश' दिया गया।

• मद्रास तथा बंबई के गवर्नरों की सहायता के लिये तीन-तीन सदस्यीय परिषदों का गठन किया गया।

• देशी राजाओं से युद्ध तथा संधि से पहले गवर्नर-जनरल को कंपनी के डायरेक्टरों से स्वीकृति लेना अनिवार्य था।

• भारत में अंग्रेज अधिकारियों के ऊपर मुकदमा चलाने के लिये इंग्लैण्ड में एक कोर्ट की स्थापना की गयी।

• कंपनी के डायरेक्टरों की एक गुप्त सभा बनायी गयी, जो अधिकार सभा या संचालक मंडल के सभी आदेशों को भारत भेजती थी।

• संचालक मंडल द्वारा तैयार किये जाने वाले पत्र व आज्ञायें नियंत्रण बोर्ड के सम्मुख रखे जाते थे। संचालक मंडल को भारत से प्राप्त होने वाले पत्रों को भी नियंत्रण बोर्ड के सम्मुख रखना आवश्यक था। नियंत्रण बोर्ड, पत्रों में तब्दीली कर सकता था।

अधिनियम, 1786

• गवर्नर-जनरल को मुख्य सेनापति की शक्तियां भी मिल गयीं।

• गवर्नर-जनरल को विशेष परिस्थितियों में अपनी परिषद के निर्णयों को रद्द करने तथा अपने निर्णय लागू करने का अधिकार दे दिया गया।

चार्टर एक्ट, 1793

• कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को अगले 20 वर्ष के लिये और आगे बढ़ा दिया गया।

चार्टर एक्ट, 1813

1813 में कंपनी के चार्टर की अवधि समाप्त होने वाली थी तो इंग्लैंड में कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करने की मांग की जाने लगी। कंपनी के भारतीय साम्राज्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से भी उसके व्यापारिक तथा राजनीतिक दोनों मोर्चों को संभालना मुश्किल हो रहा था। इसके साथ ही अहस्तक्षेप (laissez faire) के सिद्धांत तथा नेपोलियन द्वारा लागू की गयी 'महाद्वीपीय व्यवस्था' (Continental System) से अंग्रेजों के लिये यूरोपीय व्यापार के मार्ग लगभग बंद हो गये थे। फलतः सभी चाहते थे कि कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया जाये।

इन परिस्थितियों में 1813 का चार्टर एक्ट पारित हुआ, जिसमें निम्न व्यवस्थायें की गयीं–

• कंपनी का भारतीय व्यापार का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, यद्यपि उसका चीन से व्यापार एवं चाय के व्यापार पर एकाधिकार बना रहा।

• कंपनी के भागीदारों को भारतीय राजस्व से 10.5 प्रतिशत लाभांश दिये जाने की व्यवस्था की गयी।

• कंपनी को और अगले 20 वर्षों के लिये भारतीय प्रदेशों तथा राजस्व पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया गया। किंतु स्पष्ट कर दिया कि इससे इन प्रदेशों का क्राउन के प्रभुत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। (उल्लेखनीय है कि भारत में अंग्रजी राज्य की संवैधानिक स्थिति को पहली बार स्पष्ट किया गया था)।

• सभी अंग्रेज व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की छूट दे दी गयी।

• नियंत्रण बोर्ड (Board of Control) की शक्ति को परिभाषित किया गया तथा उसका विस्तार भी कर दिया गया।

• ईसाई धर्म प्रचारकों को आज्ञा प्राप्त करके भारत में धर्म-प्रचार के लिये आने की सुविधा प्राप्त हो गयी।

• ब्रिटिश व्यापारियों तथा इंजीनियरों को भारत आने तथा यहां बसने की अनुमति, प्रदान कर दी गयी लेकिन इसके लिये उन्हें संचालक मंडल या नियंत्रण बोर्ड से लाइसेंस लेना आवश्यक था।

• कंपनी की आय से भारतीयों की शिक्षा के लिये प्रतिवर्ष 1 लाख रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी।

चार्टर एक्ट, 1833

• चाय के व्यापार तथा चीन के साथ व्यापार करने संबंधी कंपनी के अधिकार को समाप्त कर दिया गया।

● भारतीय प्रदेशों तथा राजस्व पर कंपनी के अधिकारों को 20 वर्षों के लिये और बढ़ा दिया गया। किंतु यह निश्चित किया गया कि भारतीय प्रदेशों का प्रशासन अब ब्रिटिश सम्राट के नाम से किया जायेगा।

● अंग्रेजों को बिना अनुमति-पत्र के ही भारत आने तथा रहने की आज्ञा दे दी गयी। वे भारत में भूमि भी खरीद सकते थे।

● भारत में सरकार का वित्तीय, विधायी तथा प्रशासनिक रूप से केंद्रीयकरण करने का प्रयास किया गया।

– बंगाल का गवर्नर-जनरल, भारत का गवर्नर-जनरल हो गया।

– गवर्नर-जनरल को कम्पनी के नागरिक तथा फौजी कार्यों के नियंत्रण, व्यवस्था तथा निर्देशन का अधिकार दिया गया।

– बंगाल के साथ मद्रास, बंबई तथा अन्य अधिकृत प्रदेशों को भी गवर्नर-जनरल के नियंत्रण में रख दिया गया।

– सभी कर गवर्नर-जनरल की आज्ञा से ही लगाये जाने थे और उसे ही इसके व्यय का अधिकार दिया गया।

– सपरिषद गवर्नर-जनरल को ही भारत के लिये कानून बनाने का अधिकार दिया गया और मद्रास और बंबई की कानून बनाने की शक्ति समाप्त कर दी गयी।

● गवर्नर-जनरल की परिषद में एक चौथा सदस्य विधि-विशेषज्ञ के रूप में बढ़ा दिया गया। मैकाले पहला विधि-विशेषज्ञ था।

● भारतीय कानून को संचलित, संहिताबद्ध तथा सुधारने की भावना से एक विधी आयोग की नियुक्ति की गयी।

● इस एक्ट द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि कंपनी के प्रदेशों में रहने वाले किसी भारतीय को केवल धर्म, वंश, रंग या जन्म स्थान इत्यादि के आधार पर कंपनी के किसी पद से जिसके वह योग्य हो, वंचित नहीं किया जायेगा। (लेकिन यह प्रावधान वास्तव में कागजों में ही सिमटकर रह गया)।

● भारत में दास-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया तथा गवर्नर-जनरल को निर्देश दिया गया कि भारत से दास प्रथा को समाप्त करने के लिये आवश्यक कदम उठाये। (1843 में दास प्रथा का उन्मूलन किया गया)।

चार्टर एक्ट, 1853

● कंपनी को भारतीय प्रदेशों को 'जब तक संसद न चाहे' तब तक के लिये अपने अधीन रखने की अनुमति दे दी गयी।

● डायरेक्टरों की संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गयी और उनमें से 6 सम्राट द्वारा मनोनीत किये जाने थे।

● नियुक्तियों के मामले में डायरेक्टरों का संरक्षण समाप्त कर दिया गया।

● विधि सदस्य को गवर्नर-जनरल की परिषद का पूर्ण सदस्य बना दिया गया।

• गर्वनर-जनरल की परिषद में कानून निर्माण में सहायता देने के लिये 6 नये सदस्यों की नियुक्ति की गयी। परंतु, कार्यकारी परिषद को विधान परिषद के विधेयक को वीटो करने का अधिकार था।

• बंगाल के लिये पृथक लेफ्टिनेंट-गवर्नर की नियुक्ति की गयी।

भारत के शासन को अच्छा बनाने के लिये 1858 का अधिनियम

1857 के विद्रोह ने कंपनी की, जटिल परिस्थितियों में प्रशासन की सीमाओं को स्पष्ट कर दिया था। इसके पश्चात कंपनी से प्रशासन का दायित्व वापस लेने तथा ताज (crown) द्वारा भारत का प्रशासन प्रत्यक्ष रूप से संभालने की मांग और तेज हो गयी। इसीलिये यह अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा—

• भारत का शासन ब्रिटेन की संसद को दे दिया गया।

• अब भारत का शासन, ब्रिटिश साम्राज्ञी की ओर से भारत राज्य सचिव (secretary of state for India) को चलाना था, जिसकी सहायता के लिये 15 सदस्यीय भारत परिषद (India council) का गठन किया गया। अब भारत के शासन से संबंधित सभी कानूनों एवं कदमों पर भारत सचिव की स्वीकृति अनिवार्य कर दी गयी, जबकि भारत परिषद केवल सलाहकारी प्रकृति की थी। (इस प्रकार पिट्स इंडिया एक्ट द्वारा प्रारंभ की गयी द्वैध शासन की व्यवस्था समाप्त कर दी गयी)।

• डायरेक्टरों की सभा (Court of Directors) और नियंत्रण बोर्ड या अधिकार सभा (Board of Control) समाप्त कर दिये गये तथा उनके समस्त अधिकार भारत सचिव को दे दिये गये।

• भारत परिषद के 15 सदस्यों में से 7 सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट तथा शेष सदस्यों के चयन का अधिकार कंपनी के डायरेक्टरों को दे दिया गया।

• अखिल भारतीय सेवाओं तथा अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध मसलों पर भारत सचिव, भारत परिषद की राय मानने को बाध्य था।

• भारत के गवर्नर-जनरल को भारत सचिव की आज्ञा के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य कर दिया गया।

• अब गवर्नर-जनरल, भारत में ताज के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगा तथा उसे 'वायसराय' की उपाधि दी गयी।

• संरक्षण-ताज, सपरिषद राज्य सचिव तथा भारतीय अधिकारियों में बंट गया।

• अनुबद्ध सिविल सेवा (covenanted civil service) में नियुक्तियां खुली प्रतियोगिता द्वारा की जाने लगीं।

• भारत राज्य सचिव एक निगम निकाय (Corporate Body) घोषित किया गया, जिस पर इंग्लैंड एवं भारत में दावा किया जा सकता था अथवा जो दावा दायर कर सकता था।

(1861 से आगे के संवैधानिक विकास हेतु स्वतंत्रता संघर्ष से सम्बद्ध अध्यायों को देखें।)

भारत में सिविल सेवाओं का विकास

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारत में अपने वाणिज्यिक मामलों को देखने के लिए सिविल सेवा व्यवस्था स्थापित की गई, जो भारत में प्राप्त किए गए क्षेत्रों के प्रशासनिक मामलों को देखने वाली सु-व्यवस्थित तंत्र में तब्दील हो गई। वास्तव में, शुरुआती दौर में, सिविल सेवा शब्द का प्रयोग कंपनी के वाणिज्यिक मामलों के देखने वाले कर्मचारियों और सैन्य तथा नौसेना सेवाओं में कार्यरत कर्मियों के बीच अंतर करने के लिए किया गया। धीरे-धीरे लोक सेवकों को अन्य जिम्मेदारियां तथा प्राधिकार प्रदान किए गए।

लार्ड कार्नवालिस (गवर्नर-जनरल, 1786-93) पहला गवर्नर-जनरल था, जिसने भारत में इन सेवाओं को प्रारंभ किया तथा उन्हें संगठित किया। उसने भ्रष्टाचार को रोकने के लिये निम्न कदम उठाये–

- वेतन में वृद्धि।
- निजी व्यापार पर पूर्ण प्रतिबंध।
- अधिकारियों द्वारा रिश्वत एवं उपहार इत्यादि लेने पर पूर्ण प्रतिबंध।
- वरिष्ठता (seniority) के आधार पर तरक्की (Promotion) दिये जाने को प्रोत्साहन।

वर्ष **1800** में, वैलेजली (गवर्नर-जनरल, 1798-1805) ने प्रशासन के नये अधिकारियों को प्रशिक्षण देने हेतु फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। वर्ष **1806** में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने वैलेजली के इस कालेज की मान्यता रद्द कर दी तथा इसके स्थान पर इंग्लैण्ड के हैलीबरी (Haileybury) में नव-नियुक्त अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु ईस्ट इंडिया कॉलेज की स्थापना की गयी। यहां भारत में नियुक्ति से पूर्व इन नवनियुक्त प्रशासनिक सेवकों को दो वर्ष का प्रशिक्षण लेना पड़ता था।

चार्टर अधिनियम, 1853 में सिविल सेवा संबंधी प्रावधान

इस एक्ट के द्वारा नियुक्तियों के मामले में डायरेक्टरों का संरक्षण समाप्त हो गया तथा सभी नियुक्तियां एक प्रतियोगी परीक्षा के द्वारा की जाने लगीं, जिसमें किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं रखा गया।

कंपनी के उच्च पदों में नियुक्ति के लिये प्रारंभ से ही भारतीयों के लिये द्वार पूर्णतया बंद थे। कार्नवालिस का विचार था कि "हिन्दुस्तान का प्रत्येक नागरिक भ्रष्ट है।" 1793 के चार्टर एक्ट द्वारा 500 पाउंड वार्षिक आय वाले सभी पद, कंपनी के अनुबद्ध अधिकारियों (Covenanted Servents) के लिये आरक्षित कर दिये गये थे। कंपनी के प्रशासनिक पदों से भारतीयों को पृथक रखने के निम्न कारण थे–

• अंग्रेजों का यह विश्वास कि ब्रिटिश हितों को पूरा करने के लिये अंग्रेजों को ही प्रशासन का दायित्व संभालना चाहिये।

• अंग्रेजों की यह धारणा कि भारतीय, ब्रिटिश हितों के प्रति अयोग्य, अविश्वसनीय एवं असंवेदनशील हैं।

• यह धारणा कि जब इन पदों के लिये यूरोपीय ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं तथा उनके बीच ही इन पदों को प्राप्त करने हेतु कड़ी प्रतिस्पर्धा है, तब ये पद भारतीयों को क्यों दिये जायें।

यद्यपि 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा कंपनी के पदों हेतु भारतीयों के लिये भी प्रवेश के द्वार खोल दिये गये किंतु वास्तव में कभी भी इस प्रावधान का पालन नहीं किया गया। 1857 के पश्चात, 1858 में साम्राज्ञी विक्टोरिया की घोषणा में यह आश्वासन दिया गया कि सरकार सिविल सेवाओं में नियुक्ति के लिये रंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगी तथा सभी भारतीय स्वतंत्रतापूर्वक अपनी योग्यतानुसार प्रशासनिक पदों को प्राप्त करने में सक्षम होंगे। किंतु इस घोषणा के पश्चात भी सभी उच्च प्रशासनिक पद केवल अंग्रेजों के लिये ही सुरक्षित रहे। भारतीयों को फुसलाने एवं समानता के सिद्धांत का दिखावा करने के लिये डिप्टी मैजिस्ट्रेट तथा डिप्टी कलेक्टर के पद सृजित कर दिये गये, जिससे भारतीयों को लगा कि वे इन पदों को प्राप्त कर सकते हैं, किंतु स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही।

भारतीय सिविल सेवा अधिनियम, 1861

इस अधिनियम द्वारा कुछ पद अनुबद्ध सिविल सेवकों के लिये आरक्षित कर दिये गये किंतु यह व्यवस्था की गयी कि प्रशासनिक सेवाओं में भर्ती के लिये अंग्रेजी माध्यम से एक प्रवेश परीक्षा इंग्लैण्ड में आयोजित की जायेगी, जिसमें ग्रीक एवं लैटिन इत्यादि भाषाओं के विषय होंगे। प्रारंभ में इस परीक्षा के लिये आयु 23 वर्ष थी। तदुपरांत यह 23 वर्ष से, 22 वर्ष (1860 में), फिर 21 वर्ष (1866 में) और अंत में घटाकर 19 वर्ष (1878) में कर दी गयी।

1863 में, सत्येंद्र नाथ टैगोर ने इंडियन सिविल सर्विस में सफलता पाने वाले प्रथम भारतीय होने का गौरव प्राप्त किया।

1878-79 में, लार्ड लिटन ने वैधानिक सिविल सेवा (Statutory Civil Service) की योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार, प्रशासन के 1/6 अनुबद्ध पद उच्च कुल के भारतीयों से भरे जाने थे। इन पदों के लिये प्रांतीय सरकारें सिफारिश करेंगी तथा वायसराय एवं भारत-सचिव की अनुमति के पश्चात उम्मीदवारों की नियुक्ति कर दी जायेगी। इनकी पदवी और वेतन संश्रावित सेवा से कम होता था। लेकिन यह वैधानिक सिविल सेवा असफल हो गयी तथा 8 वर्ष पश्चात इसे समाप्त कर दिया गया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की मांग

1885 में अपनी स्थापना के पश्चात कांग्रेस ने मांग की कि–

- इन सेवाओं में प्रवेश के लिये आयु में वृद्धि की जाये। तथा
- इन परीक्षाओं का आयोजन क्रमशः ब्रिटेन एवं भारत दोनों स्थानों में किया जाये।

लोक सेवाओं पर एचिसन कमेटी, 1886

इस कमेटी का गठन डफरिन ने 1886 में किया। इस समिति ने निम्न सिफारिशें की–

- इन सेवाओं में अनुबद्ध (Covenanted) एवं अ-अनुबद्ध (uncovenanted) शब्दों को समाप्त किया जाये।
- सिविल सेवाओं को तीन भागों में वर्गीकृत किया जाये–

1. सिविल सेवाः इसके लिये प्रवेश परीक्षायें इंग्लैण्ड में आयोजित की जायें।
2. प्रांतीय सिविल सेवाः इसके लिये प्रवेश परीक्षायें भारत में आयोजित की जायें। तथा
3. अधीनस्थ सिविल सेवाः इसके लिये भी प्रवेश परीक्षायें भारत में आयोजित की जायें।

- सिविल सेवाओं में आयु सीमा को बढ़ाकर 23 वर्ष कर दिया जाये।

1893 में, इंग्लैण्ड के हाऊस आफ कामन्स में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि इन सेवाओं के लिये प्रवेश परीक्षाओं का आयोजन अब क्रमशः इंग्लैण्ड एवं भारत दोनों स्थानों में किया जायेगा। किंतु इस प्रस्ताव को कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। भारत सचिव किम्बरले ने कहा कि ''सिविल सेवाओं में पर्याप्त संख्या में यूरोपीयों का होना आवश्यक है। यह एक ऐसा मुद्दा है, जिसे त्यागा नहीं जा सकता''।

मांटफोर्ड सुधारों (1919) में सिविल सेवा

इन सुधारों के तहत् सिविल सेवा में निम्न प्रावधानों की सिफारिश की गईः

- इस नीति की घोषणा की गयी कि–''यदि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना होती है तो लोक सेवाओं में ज्यादा से ज्यादा भारतीय नियुक्त हो सकेंगे, जो भारतीयों के हित में होगा''।
- इसने भी सिविल सेवा की प्रवेश परीक्षा का आयोजन क्रमशः इंग्लैण्ड एवं भारत में कराने की सिफारिश की।
- इसने प्रशासनिक सेवा के एक-तिहाई पदों को केवल भारतीयों से भरे जाने की सिफारिश की तथा इसे प्रतिवर्ष 1.5 प्रतिशत की दर से बढ़ाने का सुझाव दिया।

ली आयोग (1924)

इस आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं–

• भारत सचिव को ही–भारतीय सिविल सेवा, सिंचाई विभाग के इंजीनियरों, तथा भारतीय वन सेवा इत्यादि में नियुक्तियों की प्रक्रिया जारी रखनी चाहिये।

• स्थानांतरित क्षेत्रों यथा-शिक्षा एवं लोक स्वास्थ्य सेवाओं में नियुक्तियों का दायित्व प्रांतीय सरकारों को दे दिया जाये।

• इंडियन सिविल सर्विसेज में भारतीयों एवं यूरोपियों की भागीदारी 50:50 के अनुपात में हो तथा भारतीयों को 15 वर्ष में यह अनुपात प्राप्त करने की व्यवस्था की जाये।

• अतिशीघ्र एक लोक सेवा आयोग का गठन किया जाये (1919 के भारत सरकार अधिनियम में भी इसकी सिफारिश की गयी थी)।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत सिविल सेवा

इस अधिनियम में सिफारिश की गयी कि केंद्रीय स्तर पर एक संघीय लोक सेवा आयोग तथा प्रांतों में प्रांतीय लोक सेवा आयोगों की स्थापना की जाये।

लेकिन प्रशासन में नियंत्रण एवं अधिकार जैसे मुद्दे अंग्रेजों के हाथों में ही केंद्रित रहे तथा सिविल सेवाओं का भारतीयकरण करने के प्रयासों को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि अभी भी सरकार, प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी के पक्ष में नहीं थी।

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत सिविल सेवाओं का मूल्यांकन

कानून एवं नीति निर्धारक संस्थाओं से भारतीयों को अलग रखने की एक सोची-समझी रणनीति के तहत इस दिशा में अनेक कदम उठाये गये। वे संस्थायें, जो नीतियां बनाने एवं उन्हें क्रियान्वित करने जैसे कार्यों के लिये उत्तरदायी थीं, उनमें भारतीयों की नियुक्ति लगभग बंद कर दी गयी। साथ ही प्रशासन के महत्वपूर्ण विभागों से भारतीयों को दूर रखा जाने लगा। भारतीय जनपद सेवा (I.C.S.) में भी यूरोपियनों की श्रेष्ठता स्थापित करने के प्रयास किये गये। इन सभी उद्देश्यों के लिये मुख्यतयाः दो तरीके अपनाये गये।

पहला, यद्यपि 1863 में सत्येंद्रनाथ टैगोर के भारतीय सिविल सेवा में सफल होने के पश्चात (प्रथम भारतीय) इन सेवाओं में भारतीयों की सहभागिता बढ़ने लगी थी, किंतु इन सेवाओं में भारतीयों को सफल होने से रोकने के लिये प्रवेश के नियमों को अत्यंत कड़ा बना दिया गया। भारतीय सिविल सेवा के लिये प्रवेश परीक्षा लंदन में आयोजित की जाती थी तथा इसमें अंग्रेजी माध्यम से ही परीक्षा दी जा सकती थी। इसके विषय में शास्त्रीय यूनानी एवं लैटिन जैसे विषय सम्मिलित थे, जिनका अध्ययन भारतीयों के लिये अत्यंत कठिन था। पुनश्च, 1859 में परीक्षार्थियों की अधिकतम

आयु सीमा 23 वर्ष से घटाकर 22 वर्ष, फिर 1878 में 19 वर्ष कर दी गयी। *दूसरा,* शासन के सभी महत्वपूर्ण तथा उच्च वेतन वाले पदों पर यूरोपियनों का अधिकार था।

राष्ट्रवादी नेताओं के भारी दबाव के कारण यद्यपि 1918 के पश्चात प्रशासन के भारतीयकरण की प्रक्रिया प्रारंभ तो हो गयी किंतु इसकी गति अभी भी काफी धीमी थी तथा अधिकांश महत्वपूर्ण पदों पर यूरोपियनों का ही अधिकार था। लेकिन धीरे-धीरे भारतीयों को इस बात का आभास होने लगा कि केवल सिविल सेवा का ही भारतीयकरण आवश्यक नहीं है अपितु, शासन की सभी प्रमुख शक्तियां भारतीयों को हस्तांतरित की जानी चाहिये। इसका कारण यह था कि भारतीय सिविल सेवा के कुछ भारतीयों को छोड़कर अधिकांश भारतीय अभी भी साम्राज्यवादी शासकों के पक्ष में ही कार्य करते थे।

आधुनिक भारत में पुलिस व्यवस्था का सूत्रपात

पूर्व-औपनिवेशिक भारत में, मुगलों एवं अन्य स्वतंत्र राज्यों में सरकारें कुलीनतंत्रीय, निरकुंश एवं सैन्य प्रकृति की थीं और वहां दक्ष पुलिस तंत्र का अभाव था। यहां तक कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा में 1765-1772 के द्वैध शासन के दौरान कानून व्यवस्था और शांति बनाए रखने और साथ ही साथ अपराध और अपराधियों से निपटने के लिए जमींदारों से उम्मीद की जाती थी कि वे कर्मियों की व्यवस्था एवं प्रबंध करे, जिसमें थानेदार शामिल थे। लेकिन प्रायः जमींदार अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते थे और कुख्यात डाकुओं के गैंग के साथ गठजोड़ करके लूट में अपना हिस्सा लेते थे। इसलिए वर्ष 1770 में, *फौजदार* एवं *अमील* जैसी संस्थाओं को समाप्त कर दिया गया। हालांकि, 1774 में, वॉरिन हेस्टिंग्ज ने फौजदार संस्था को पुनः स्थापित किया और डकैती, हिंसा एवं अव्यवस्था से निपटने में जमींदारों को उनकी मदद करने को कहा गया। 1775 में, बड़े जिलों के मुख्य कस्बों में *फौजदार थाने* स्थापित किए गए और उनकी सहायता के लिए कई छोटे पुलिस स्टेशन भी गठित किए गए। ब्रिटिश शासनाधीन पुलिस व्यवस्था में क्रमिक विकास का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है।

1791: सर्वप्रथम लार्ड कार्नवालिस ने कानून एवं व्यवस्था की स्थापना के लिये पुलिस बल को भलीभांति संगठित किया। उसने पुरानी पुलिस व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया। जिलों को 400 वर्ग मील के क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। प्रत्येक थाने (क्षेत्र) को एक दरोगा के अधीन रखा गया तथा दरोगा की सहायता के लिये पुलिस कर्मचारी नियुक्त किये गये। प्रत्येक जिले को पुलिस अधीक्षक (Superintendent of Police) के अधीन रखा गया। पुलिस अधीक्षक, जिले का सबसे बड़ा पुलिस अधिकारी था। ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदारों के पुलिस संबंधी अधिकार समाप्त कर दिये गये।

पुलिस कर्मचारियों में तत्परता तथा इमानदारी लाने के लिये उसने, इनके वेतन बढ़ा दिये तथा हत्यारों, एवं चोरों को पकड़ने पर उनके लिये पुरस्कार की व्यवस्था की गयी।

1808: मेयो ने प्रत्येक डिवीजन के लिये एक एस.पी. (Suprentendent of Police) की नियुक्ति की तथा इसकी सहायता के लिये बहुत से गोयंदा (Spies) नियुक्त किये गये। किंतु कालांतर में गोयंदा भ्रष्ट हो गये तथा स्थानीय जनता के मध्य लूट-खसोट मचाने लगे।

1814: कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के एक आदेश द्वारा बंगाल को छोड़कर अन्य सभी स्थानों में कंपनी द्वारा दरोगा एवं उसके सहायकों की नियुक्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया गया।

लार्ड विलियम बैंटिक (गवर्नर-जनरल 1828-35): पुलिस अधीक (S.P.) के कार्यालय को समाप्त कर दिया गया। अब यह व्यवस्था की गयी कि जिले का कलेक्टर या दंडाधिकारी (मजिस्ट्रेट) पुलिस विभाग का प्रमुख तथा प्रत्येक संभाग (Division) का आयुक्त, (commissioner) पुलिस अधीक्षक के पद का दायित्व भी निभायेगा। लेकिन इस व्यवस्था से अनेक दुष्प्रभाव उत्पन्न हुए। पुलिस बल का संगठन दुर्बल हो गया तथा जिला दंडाधिकारी कार्य के बोझ से दब गये। सर्वप्रथम प्रेसीडेंसी नगरों में जिला दंडाधिकारियों एवं कलेक्टरों के कार्यों को पृथक किया गया।

1860 में **पुलिस आयोग** की सिफारिशों से भारतीय पुलिस अधिनियम 1861 बना। इस आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं—

- नागरिक पुलिस वाहिनी की व्यवस्था—यह गांवों की वर्तमान चौकसी व्यवस्था को संचालित करेगा (गांवों में चौकीदार यह कार्य करता था) तथा इसका अन्य पुलिस वाहिनियों से प्रत्यक्ष संबंध होगा।
- प्रांतों में पुलिस महानिदेशक (Inspector-General) पूरे प्रांत के पुलिस विभाग का प्रमुख होगा। उप-महानिदेशक (Deputy-Inspector General) रेंज के एवं पुलिस अधीक्षक (S.P.) जिले के पुलिस प्रमुख होंगे।

पुलिस विभाग को सुसंगठित रूप प्रदान करने से विभिन्न आपराधिक गतिविधियों यथा-डकैती, चोरी, हत्या, ठगी इत्यादि में धीरे-धीरे कमी आने लगी, लेकिन विभिन्न अपराधों की जांच-पड़ताल करने में साधारण जनता से पुलिस का व्यवहार अशोभनीय होता था। सरकार ने राष्ट्रीय आंदोलन के दमन में भी पुलिस का भरपूर दुरुपयोग किया।

अंग्रेजों ने अखिल भारतीय स्तर पर पुलिस व्यवस्था की स्थापना नहीं की। 1861 के पुलिस अधिनियम में केवल प्रांतीय स्तर पर ही पुलिस विभाग के गठन से संबंधित दिशा-निर्देश थे।

1902 में, पुलिस आयोग ने केंद्र में केंद्रीय जांच ब्यूरो (central intelligence bureau, CBI) एवं प्रांतों में सी.आई.डी. (criminal investigation department) की स्थापना की सिफारिश की।

ब्रिटिश शासनाधीन सेना में परिवर्तन एवं पुनर्गठन

1857 के पश्चात अंग्रेजों ने सेना का व्यवस्थित पुनर्गठन प्रारंभ किया। दिसम्बर 1888 में लार्ड डफरिन ने इस संबंध में चेतावनी देते हुए कहा कि ''अंग्रेजों को तीस वर्ष पहले हुए उस भयानक अनुभव से सबक सीखना चाहिये तथा उसे सदैव याद रखना चाहिए।''

अंग्रेजों द्वारा सेना के पुनर्गठन का मुख्य उद्देश्य 1857 के विद्रोह जैसी किसी घटना की पुनरावृत्ति को रोकना था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार इस क्षेत्र में विश्व की अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों यथा-रूस, जर्मनी, फ्रांस इत्यादि से भी अपने उपनिवेशों की रक्षा के निमित्त भारतीय सेना का उपयोग करना चाहती थी। सरकार की नीति यह थी कि वह सेना की भारतीय शाखा का उपयोग एशिया एवं अफ्रीका में अपने उपनिवेशों के विस्तार में करेगी तथा सेना की ब्रिटिश शाखा का उपयोग, भारत में अंग्रेजी शासन की पकड़ मजबूत करने तथा उसे स्थायित्व प्रदान करने में किया जायेगा।

सरकार की इस नीति के तहत सेना की भारतीय शाखा पर यूरोपीय शाखा की सर्वोच्चता सुनिश्चित की गयी। इस संबंध में 1859 एवं 1879 में गठित आयोगों ने यह सुझाव दिया कि अंग्रेजी सेना की संख्या कम से कम एक-तिहाई अवश्य होनी चाहिये (1857 से पहले अंग्रेजी सेना की संख्या केवल 14 प्रतिशत थी)। यूरोपीय सैनिकों की संख्या, जो 1857 से पूर्व 45 हजार थी, अब बढ़ाकर 65 हजार कर दी गयी तथा भारतीय सैनिकों की संख्या 2 लाख 38 हजार से घटाकर 1 लाख 40 हजार कर दी गयी। बंगाल में यूरोपीय सैनिकों का भारतीय सैनिकों से अनुपात 1:2 रखा गया, जबकि बंबई तथा मद्रास में यह अनुपात 1 : 3 सुनिश्चित किया गया। संवेदनशील भौगोलिक क्षेत्रों तथा सेना के महत्वपूर्ण विभागों यथा—तोपखाने, सिगनल्स तथा सशस्त्र बलों में कड़ाई से यूरोपियनों का एकाधिकार स्थापित किया गया। यहां तक कि सन् 1900 तक भारतीय सैनिकों को दी जाने वाली बंदूकें, यूरोपियनों की तुलना में घटिया किस्म की होती थीं, तथा सेना के किसी महत्वपूर्ण विभाग में भारतीयों को कोई महत्वपूर्ण दायित्व नहीं सौपा जाता था। यह स्थिति द्वितीय विश्व युद्ध तक बनी रही। सेना में ऑफीसर रैंक के पद पर किसी भारतीय को नियुक्त किये जाने की अनुमति नहीं थी तथा 1914 तक सेना का सर्वोच्च पद, जहां कोई भारतीय पहुंच सकता था, वह सूबेदार का था। 1918 के पश्चात ही भारतीयों को सेना में कमीशन (रैंक) दिया जाना प्रारंभ हुआ। 1926 के अंत में भारतीय सैंडहर्स्ट आयोग ने अनुमान लगाया कि 1952 तक सेना का केवल 50 प्रतिशत भारतीयकरण ही हो सकेगा।

संतुलन एवं प्रतितुलन या बांटो एवं राज करो की नीति के अधार पर सेना की भारतीय शाखा का पुनर्गठन किया गया। 1879 के सेना आयोग ने इस बात पर बल दिया कि ''सेना में भारतीयों को भारतीयों से संतुलित किया जाये तथा यूरोपियनों की सर्वोच्चता स्थापित की जाये।'' सन् 1887 से 1892 तक सेना के कमांडर-इन चीफ

(मुख्य सेनापति) रहे लार्ड रार्बट्स के काल में 1880 के समय एक नयी विचारधारा का विकास हुआ। इसके अनुसार, लड़ाकू-जातियों एवं गैर-लड़ाकू जातियों की स्थिति स्पष्ट होनी चाहिए। इससे विशिष्ट समुदायों से सेना को अच्छे फौजी प्राप्त हो सकेंगे। कालांतर में इसी विचारधारा के तहत सिख, गोरखा एवं पठानों को सेना में भर्ती किया गया तथा इनका प्रयोग भारतीयों द्वारा किये जाने वाले विद्रोहों तथा राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलने के लिये किया गया। इसके पीछे सरकार की मंशा यह थी कि इससे भारतीयों में प्रजातीय भेदभाव पनपेगा तथा राष्ट्रवादी आंदोलन स्वयंमेव दुर्बल हो जायेगा।

1857 के विद्रोह में वे स्थान, जहां के सैनिकों ने विद्रोहियों का साथ दिया था गैर-लड़ाकू जाति के घोषित कर दिये गये। इन स्थानों में अवध, बिहार, मध्य भारत एवं दक्षिण भारत प्रमुख थे। इससे भी अधिक, सेना की सभी रेजीमेंट्स में जातीय एवं साम्प्रदायिक कंपनियों का गठन किया गया तथा भारतीय शाखा में संतुलन के लिये विभिन्न सामाजिक-जातीय तबकों से युवाओं को सेना में भर्ती किया गया। सैनिकों में साम्प्रदायिक, जातीय, दलित तथा क्षेत्रीय भावनाओं को उभारा गया, जिससे राष्ट्रवाद के विकास को रोका जा सके। भारत सचिव चार्ल्स वुड ने घोषणा की कि "उसकी इच्छा है कि सैनिकों में विद्रोह एवं प्रतिद्वंदितापूर्ण भावनाओं का विकास किया जाये, जिससे आवश्यकता पड़ने पर सिख, हिन्दू, गोरखा इत्यादि सभी एक-दूसरे पर बिना किसी हिचकिचाहट के गोली चला सकें"।

इसी प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना अंग्रेजी सेना में सम्मिलित कर ली गयी तथा यूरोपीय पदाति एवं घुड़सवार, ब्रिटेन के पदातियों एवं घुड़सवारों में सम्मिलित कर लिये गये। अंग्रेजी सेना के सैनिक तथा पदाधिकारी, भारत में सेवा करने तथा अनुभव प्राप्त करने के उद्देश्य से नियमित रूप से भारत भेजे जाने लगे। बंबई, मद्रास तथा बंगाल के तोपखाने, शाही तोपखाने एवं शाही इंजीनियर्स में सम्मिलित कर लिये गये। पंजाब, नेपाल तथा उत्तर-पश्चिमी प्रांतों की जातियों को अच्छा फौजी मानकर उन्हें बहुसंख्या में सेना में भर्ती किया गया। जिन प्रदेशों के सैनिकों ने विद्रोहों में अधिक भाग लिया था, वहां के लोगों की सेना में भर्ती बंद कर दी गयी।

सेना के इस पुनर्गठन से रक्षा व्यय बहुत अधिक बढ़ गया, जिसका बोझ भारतीय जनता पर डाल दिया गया। यह कार्य वस्तुतः अंग्रेजी लोलुपता के लिये था, भारत की रक्षा के लिये नहीं।

अंततः सेना को समाज एवं देश की मुख्य धारा से बिल्कुल अलग कर देने का प्रयास किया गया, जिससे उनमें देशप्रेम की भावना बिल्कुल जागृत न हो सके। इसके लिये राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं एवं जर्नल्स से उन्हें दूर कर दिया गया तथा सैनिकों को उनकी गतिविधियों तक ही सीमित कर देने के उपाय किये गये।

इस प्रकार ब्रिटिश भारतीय सेना, साम्राज्यवाद की रक्षा करने वाली एक मशीन बनकर रह गयी।

ब्रिटिश भारत में न्यायपालिका का विकास

औपनिवेशिक-पूर्व भारत, या तो मुगल काल में या उससे पूर्व (प्राचीन भारत सहित), समग्र रूप से ना तो न्यायिक व्यवस्था की उचित प्रक्रियाओं को अपनाया गया था और ना ही अधीनस्थ न्यायालयों का कोई उचित संगठन था। हिंदुओं के बीच अधिकतर मुकदमों या मामलों को जाति, बुजुर्गों द्वारा या ग्राम पंचायतों द्वारा सुलझाया जाता था। मुस्लिम समुदाय में, न्यायिक प्रशासन की इकाई काजी था। राजा और बादशाह को न्याय की सर्वोच्च अदालत समझा जाता था, और न्याय प्रदान करने की प्रक्रिया प्रायः स्वेच्छाचारी होती थी।

सामान्य विधि व्यवस्था की शुरुआत, अभिलेखित न्यायिक निर्णयों पर आधारित, को ईस्ट इंडिया द्वारा 1726 में मद्रास, कलकत्ता और बॉम्बे में स्थापित *मेयर कोर्ट* को स्थापित करने से माना जा सकता है। व्यापारिक कंपनी से शासकीय शक्ति में परिवर्तित होने के साथ, न्यायिक व्यवस्था के नवीन तत्वों ने मौजूदा मुगल न्यायिक व्यवस्था को प्रतिस्थापित कर दिया। उन परिवर्तनों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है।

वारेन हेस्टिंग्स के अधीन सुधार (1772-1785)

• न्याय सुधारों की दिशा में वारेन हेस्टिंग्स द्वारा किये गये प्रयास अत्यधिक सफल रहे। उसने मुगल शासकों की न्यायिक प्रणाली को अपनाने का प्रयास किया। इससे पूर्व न्याय-व्यवस्था अत्यंत अस्पष्ट एवं असंतोषजनक थी। वारेन हेस्टिंग्स ने न्याय-व्यवस्था को दुरस्त करने के लिये निम्न कदम उठाये–

• प्रत्येक जिले में एक जिला दीवानी अदालत व एक जिला फौजदारी अदालत स्थापित की गयी।

• जिला दीवानी अदालत में न्याय का कार्य कलेक्टर के अधीन होता था तथा यहां दीवानी मामलों की सुनवायी की जाती थी। इन अदालतों में हिन्दुओं के लिये हिंदू विधि तथा मुसलमानों के लिये मुस्लिम विधि लागू होती थी। इन अदालतों में 500 रुपये तक के मुकद्दमे की सुनवायी हो सकती थी। जिला दीवानी अदालत के ऊपर सदर दीवानी अदालत होती थी, जहां जिला दीवानी अदालत के फैसले के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। सदर दीवानी अदालत में अध्यक्ष, सर्वोच्च परिषद के प्रधान तथा अन्य सदस्य होते थे। इनकी सहायता के लिये भारतीय अधिकारी होते थे।

• जिला फौजदारी अदालत में फौजदारी मामलों की सुनवायी की जाती थी। यह अदालत एक भारतीय अधिकारी के अधीन होती थी, जिसकी सहायता के लिये मुफ्ती और काजी होते थे। यह अदालत भी कलेक्टर के सामान्य नियंत्रण में होती थी। इस अदालत में मुस्लिम कानून लागू होता था तथा न्याय की कार्यवाही खुली अदालत में की जाती थी। सम्पत्ति की जब्ती तथा मृत्युदंड के लिये मुर्शिदाबाद स्थित सदर निजामत अदालत से स्वीकृति मिलना आवश्यक था। जिला निजामत अदालत के

विरुद्ध सदर निजामत अदालत में अपील की जा सकती थी। इसका अध्यक्ष एक उप-निजाम होता था तथा एक मुख्य मुफ्ती, एक मुख्य काजी तथा तीन मौलवी उसकी सहायता करते थे।

● 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गयी। इसके अधिकार क्षेत्र में कलकत्ता में रहने वाले सभी अंग्रेज तथा भारतीय आते थे। यदि किसी मामले में दोनों पक्ष सहमति दें तो यह कलकत्ता से बाहर के मुकदमों की सुनवायी भी कर सकता था। यहां अंग्रेजी कानून लागू होता था। लेकिन अक्सर सुप्रीम कोर्ट एवं अन्य न्यायालयों के मध्य टकराव होता रहता था।

कार्नवालिस के अधीन सुधार (1786-1793)—शक्तियों का पृथक्करण

● जिला फौजदारी न्यायालय समाप्त कर दिये गये तथा इनके स्थान पर चार भ्रमणकारी न्यायालयों (Circuit Court) की स्थापना-कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद एवं पटना में की गयी। इन भ्रमणकारी न्यायालयों के न्यायाधीश यूरोपीय होते थे तथा ये दीवानी एवं फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों की सुनवायी कर सकते थे।

● सदर निजामत अदालत को कलकत्ता स्थानांतरित कर दिया गया। यह अदालत गवर्नर-जनरल तथा उसके पार्षदों के अधीन कार्य करती थी। इनकी सहायता के लिये मुख्य काजी तथा मुख्य मुफ्ती होते थे।

● जिला कलेक्टरों से न्यायिक तथा फौजदारी शक्तियां ले ली गयीं। जिला दीवानी अदालतों को अब जिला या शहर अदालत के नाम से जाना जाने लगा। इन जिला अदालतों की सभी न्यायिक शक्तियां, जिला न्यायाधीशों को दे दी गयीं। कलेक्टर के पास अब केवल कर संबंधी अधिकार शेष रह गये।

● दीवानी अदालतों की एक क्रमिक लड़ी (Gradation) स्थापित की गयी—

(i) मुंसिफ अदालत भारतीय अधिकारी के अधीन।

(ii) रजिस्ट्रार की अदालत यूरोपीय न्यायाधीश के अधीन।

(iii) जिला न्यायालय, जिला न्यायाधीश के अधीन।

(iv) जिला न्यायालयों के ऊपर चार प्रांतीय न्यायालय।

(v) कलकत्ता में सदर निजामत अदालत। तथा

(vi) सपरिषद सम्राट (King-in-council), जहां 5 हजार से अधिक मूल्य के मामलों की सुनवायी हो सकती थी।

● **कार्नवालिस संहिताः** लार्ड कार्नवालिस ने अपने न्यायिक सुधारों को अंतिम रूप देकर उन्हें 1793 में एक संहिता (Code) के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे कार्नवालिस संहिता के नाम से जाना जाता है। यह संहिता मुख्यतया 'शक्तियों के पृथक्करण' (Separation of Powers) के सिद्धांत पर आधारित थी। इस संहिता द्वारा कार्नवालिस ने—

– कर तथा न्याय प्रशासनों को पृथक कर दिया।

– यूरोपियों के मामलों को भी अदालतों के अधीन कर दिया।

– सरकारी अधिकारियों को सरकारी कार्यों के लिये दीवानी अदालतों के सम्मुख जवाबदेह बना दिया।

– कानून के विशिष्टता का सिद्धांत (Principle of sovereignty of Law) स्थापित किया।

विलियम बैंटिक के अधीन सुधार (1828-1833)

• कार्नवालिस द्वारा स्थापित चार प्रांतीय अपीलीय तथा भ्रमणकारी न्यायालय समाप्त कर दिये गये तथा इनका कार्य कलेक्टरों तथा दण्डनायकों को दे दिया गया, जो राजस्व तथा भ्रमणकारी आयुक्तों (Revenue and circuit commissioners) के अधीन होते थे।

• दिल्ली तथा आधुनिक उत्तर प्रदेश (upper provinces) के लोगों की सुविधा के लिये इलाहाबाद में एक पृथक सदर दीवानी अदालत तथा एक सदर निजामत अदालत की स्थापना की गयी। अब यहां के निवासियों को अपील के लिये कलकत्ता नहीं जाना पड़ता था।

• इस समय न्यायालयों की भाषा फारसी थी। अब न्यायालयों में फारसी के स्थान पर स्थानीय भाषाओं के प्रयोग की अनुमति दे दी गयी। जबकि सुप्रीम कोर्ट में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी का प्रयोग किया जाने लगा।

1833: भारतीय विधि को संहिताबद्ध करने के लिये मैकाले की अध्यक्षता में एक विधि आयोग का गठन किया गया। इसके परिणामस्वरूप, दीवानी नियम संहिता (1859), भारतीय दंड संहिता (1860) तथा फौजदारी नियम संहिता (1861) का निर्माण किया गया।

1860: अब यूरोपीय, फौजदारी मामलों के अतिरिक्त अन्य मामलों में विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकते थे, साथ ही भारतीय न्यायाधीशों से अंग्रेजों के मामलों की सुनवायी का अधिकार छीन लिया गया।

1865: सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों का कलकत्ता, बंबई एवं मद्रास में स्थित उच्च न्यायालयों में विलय कर दिया गया।

1935: के भारत सरकार अधिनियम द्वारा एक संघीय न्यायालय (Federal Court) की स्थापना (1937 में) की गयी। यह न्यायालय सरकारी विवादों का निपटारा करता था तथा उच्च न्यायालयों की सीमित अपीलों की सुनवायी कर सकता था।

ब्रिटिश शासन के अधीन न्यायपालिका के पहलू

सकारात्मक पहलू: • विधि का शासन (Rule of Law) स्थापित किया गया।

• शासकों के व्यक्तिगत एवं धार्मिक कानूनों की जगह संहिताबद्ध कानून लागू किया गया।

• यद्यपि यूरोपियों के मामलों को भी कानून के दायरे में ला दिया गया किंतु फौजदारी मामलों में उनकी सुनवायी केवल अंग्रेज न्यायाधीश ही कर सकते थे।

• सरकारी अधिकारियों को अपने कार्यों के प्रति दीवानी न्यायालयों के सम्मुख जवाबदेह बना दिया गया।

नकारात्मक पहलू: • न्याय व्यवस्था अत्यधिक दुरुह, जटिल एवं खर्चीली बन गयी। धनवान एवं प्रभावशाली व्यक्ति इसका दुरुपयोग करने लगे।

• मुकद्मा दायर करने का तात्पर्य था न्याय में देरी होना।

• मुकद्मों की संख्या बढ़ने से न्यायालय कार्य के बोझ से दब गये।

• अक्सर यूरोपीय न्यायाधीश भारतीय परम्पराओं एवं तौर-तरीकों से परिचित नहीं होते थे। फलतः निष्पक्ष न्याय की संभावना नगण्य हो जाती थी।

1857 के पश्चात् प्रशासनिक संरचना में प्रमुख परिवर्तन

प्रशासनिक परिवर्तनों की उत्पत्ति

1857 के विद्रोह से अंग्रेजों को इस बात का भलीभांति एहसास हो चुका था कि एक सुसंगठित जन विद्रोह कभी भी ब्रिटिश शासन के लिये एक गंभीर चुनौती बन सकता है। इस विद्रोह में प्रशासन एवं जनता के मध्य संपर्क का अभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ। साम्राज्यवादी सरकार को यह अनुभव हो गया कि शासन को जन सामान्य से सम्पर्क बनाये रखकर ही उसे प्रशासन से जोड़ा जा सकता है। इसके साथ ही उन्हें अहसास हुआ कि प्रशासन को भारतीयों की सभ्यता, संस्कारों एवं रीति-रिवाजों से भलीभांति अवगत होना है तो उसके लिये जनता का सहयोग अपरिहार्य है, इससे प्रशासन को सुदृढ़ता तो मिलेगी ही, उसे 1857 जैसी घटनाओं को ज्यादा कुशलतापूर्वक हल करने में भी सहायता मिल सकेगी।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक क्रांति उत्तरोत्तर सघन होती गयी तथा उसका तेजी से प्रसार हुआ। इस अवधि में अमेरिका, जापान तथा यूरोपीय देश नयी औद्योगिक शक्तियों के रूप में उभरे तथा कच्चे माल, विनिर्मित सामान के लिये बाजार तथा पूंजी विनिवेश के लिये उपनिवेशों में इन औद्योगिक शक्तियों के मध्य गलाकाट प्रतियोगिता प्रारंभ हो गयी। तत्कालीन समय में विभिन्न शक्तिशाली राष्ट्रों के मध्य ये कारक ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण थे। वित्त एवं विनिर्मित सामान के क्षेत्र में ब्रिटेन की सर्वोच्चता का अंत हो गया। इस समय रेलवे में ब्रिटिश पूंजी का भारी निवेश हुआ तथा ब्रिटेन द्वारा भारत सरकार को ऋण के रूप में प्रचुर मात्रा में धन दिया गया। भारत

में इस धन का निवेश मुख्यतया चाय बागानों, कोयला खदानों, जूट मिलों, जहाजरानी, छोटे उद्योगों एवं बैकिंग इत्यादि में किया गया।

इन सभी कारकों ने मिलकर भारत में उपनिवेशवाद का एक नया युग प्रारंभ किया। भारत में उपनिवेशी सरकार का मुख्य लक्ष्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ एवं सुरक्षित करना था, जिससे कि वह ब्रिटेन के आर्थिक तथा वाणिज्यिक हितों की रक्षा कर सके तथा विश्व के अन्य भागों में जब भी और जहां भी संभव हो इसका विस्तार कर सके। विभिन्न अंग्रेजी वायसरायों तथा गवर्नर-जनरलों यथा-लिटन, डफरिन, लैंसडाउन, एल्गिन, कर्जन तथा अन्य सभी ने साम्राज्यवादी नियंत्रण तथा साम्राज्यवादी विचारधारा को उत्तरोत्तर सुदृढ़ करने का प्रयास किया, जिसकी झलक इन प्रशासकों की नीतियों एवं वक्तव्यों से मिलती है। भारत में सरकारी ढांचे एवं सरकारी नीतियों में परिवर्तन का प्रभाव आधुनिक भारत में विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता है।

प्रशासनः केंद्रीय, प्रांतीय एवं स्थानीय

केंद्रीय सरकार

भारत सरकार को बेहतर बनाने के लिये 1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भारत का शासन कंपनी के हाथों से लेकर क्राउन के अधीन कर दिया गया। कठिन परिस्थितियों में कंपनी प्रशासन की सीमायें 1857 के विद्रोह के समय उजागर हो चुकी थीं; इसके साथ ही कंपनी प्रशासन की जवाबदेही में कमी भी प्रकट हो गयी थी। अधिनियम में प्रावधान किया गया कि अब भारत का प्रशासन ब्रिटिश साम्राज्ञी के नाम से चलाया जायेगा। इस उद्देश्य के लिये डायरेक्टरों की सभा (Court of Directors) तथा अधिकार सभा (Board of Control) को समाप्त कर दिया गया तथा उनके समस्त अधिकार भारत सचिव (Secretary of State for India) को दे दिये गये। भारत सचिव, ब्रिटिश कैबिनेट का सदस्य था, इसकी सहायता के लिये 15 सदस्यों की एक सभा 'भारत परिषद' (India Council) की स्थापना की गयी। भारत सचिव, ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। सभी महत्वपूर्ण कदम भारत सचिव द्वारा ही उठाये जाने थे तथा सभी मसलों पर अंतिम निर्णय उसी को लेना था। भारत परिषद केवल सलाहकारी परिषद थी। (इस प्रकार 1784 में पिट्स इंडिया अधिनियम द्वारा प्रारंभ की गयी द्वैध शासन व्यवस्था का अंत हो गया)। लेकिन इतना होते हुए भी भारत से संबंधित सभी शक्तियां ब्रिटिश संसद में ही निहित थीं।

गवर्नर-जनरल अब चूंकि क्राउन का प्रतिनिधि था, अतः उसे 'वायसराय' कहा जाने लगा। यद्यपि इस उपाधि का कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं था और न ही ब्रिटिश संसद ने इस उपाधि का कभी प्रयोग किया परंतु जनसाधारण द्वारा इसका उपयोग किया जाने लगा। वायसराय के लिये एक कार्यकारिणी परिषद की नियुक्ति की गयी, जिसके

सदस्य विभिन्न विभागों के प्रमुखों के रूप में काम करते थे, साथ ही वे वायसराय के सलाहकार भी थे।

भारत में शासन की समस्त गतिविधियों का केंद्र लंदन का भारत सचिव था तथा सभी प्रशासनिक शक्तियां उसी के हाथों में केन्द्रित थीं। भारत सचिव की इस विशेष स्थिति के कारण वायसराय का पद उसकी तुलना में कुछ कम महत्व का रह गया तथा आगे चलकर भारतीय जनमानस नीति निर्धारण का प्रमुख अधिकारी भारत सचिव को ही समझने लगे। दूसरी ओर, ब्रिटिश उद्योगपतियों, व्यापारियों एवं बैंकरों का भारत की सरकारी नीतियों में प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रकार भारतीय प्रशासन, 1858 के पूर्ववर्ती वर्षों की तुलना में ज्यादा प्रतिक्रियावादी बन गया।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में 5वें सदस्य की नियुक्ति की गयी, जो विधि विशेषज्ञ था। विधि निर्माण हेतु कार्यकारिणी परिषद में 6 से लेकर 12 तक अतिरिक्त सदस्य नियुक्ति किये गये, जिनमें आधे गैर-सरकारी थे। ये गैर-सरकारी सदस्य या तो भारतीय या अंग्रेज हो सकते थे। इस प्रकार परिषद के पास कोई वास्तविक अधिकार नहीं था तथा उसकी प्रकृति केवल सलाहकारी परिषद की ही थी। इसकी मुख्य दुर्बलतायें निम्नानुसार थीं–

- यह किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार नहीं कर सकती थी, न ही इसे कोई वित्तीय अधिकार थे। इसे वित्तीय मसलों के लिये सरकार की अनुमति लेना अनिवार्य था।
- बजट पर इसका कोई नियंत्रण नहीं था।
- यह किसी प्रशासनिक कार्य या आदेश पर विरोध प्रकट कर सकती थी।
- यदि वायसराय किसी कार्य की अनुमति दे भी देता था तो भारत सचिव उसे अस्वीकार कर सकता था।
- गैर-सरकारी सदस्यों के रूप में जो भारतीय सदस्य थे, वे केवल महत्वपूर्ण तबकों से संबंधित थे। जैसे-रजवाड़े, जमींदार एवं *दीवान* इत्यादि। सामान्य भारतीयों का परिषद में कोई प्रतिनिधित्व नहीं था।
- आपातकालीन परिस्थितियों में वायसराय अध्यादेश (6 माह के लिये वैध) जारी कर सकता था।

परिषद का एक मात्र महत्वपूर्ण कार्य था–धीरे-धीरे सरकारी कार्यप्रणाली का गठन तथा एकीकरण तथा कुछ हद तक व्यवस्थापिका सभा की महत्ता स्थापित करना। किंतु अभी भी भारत में ब्रिटिश सरकार के सभी कार्यों का संचालन भारत सचिव के कार्यालय से ही होता था।

प्रांतीय सरकार

1861 के भारत परिषद अधिनियम ने मद्रास एवं बंबई को विधायी शक्तियां पुनः दिलायीं, जिन्हें कि 1833 में वापस ले लिया गया था। कालांतर में अन्य प्रांतों में भी विधान परिषदें स्थापित हो गयीं। मद्रास, कलकत्ता एवं बंबई की प्रेसिडेंसियों को अन्य

प्रांतों की तुलना में ज्यादा अधिकार एवं शक्तियां प्राप्त थीं। प्रेसिडेंसियों का प्रशासन गवर्नर एवं उसकी तीन सदस्यीय कार्यकारिणी परिषद द्वारा चलाया जाता था, जिनकी नियुक्ति क्राउन द्वारा की जाती थी। जबकि अन्य प्रांतों का प्रशासन लेफ्टिनेंट-गवर्नर या मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) संचालित करते थे, जिनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा की जाती थी।

बाद के वर्षों में आर्थिक विकेंद्रीकरण की दिशा में कुछ कदम उठाये गये। लेकिन ये प्रकृति में प्रशासकीय ज्यादा थे तथा इनका मुख्य उद्देश्य व्यय में कमी करना तथा अधिक से अधिक राजस्व वसूल करना था। इनका प्रांतीय स्वायत्तता से कोई सरोकार नहीं था तथा न ही इससे प्रांतीय स्वायत्तता को कोई प्रोत्साहन मिला।

1870 में लार्ड मेयो के प्रस्ताव द्वारा केंद्रीय एवं प्रांतीय वित्त को विभाजित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। इसके अनुसार, अब प्रांतीय सरकारों के लिये कुछ निश्चित सेवाओं के प्रशासन यथा-पुलिस, जेल, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और सड़कों इत्यादि के लिये केंद्रीय राजस्व से कुछ भाग निश्चित कर दिया गया। अब प्रांतीय सरकारें इन सेवाओं के प्रशासन हेतु अपनी इच्छानुसार धन की मांग कर सकती थीं।

1877 में लार्ड लिटन द्वारा कुछ अन्य क्षेत्रों जैसे भू-राजस्व, सामान्य प्रशासन तथा कानून एवं न्याय का हस्तांतरण प्रांतों को कर दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रांतीय सरकारें, प्रांतों द्वारा वसूल की जाने वाली कुछ मदों जैसे-स्टैम्प, उत्पाद शुल्क एवं आयकर से कुछ निश्चित भाग प्राप्त करती थीं।

1882 में राजस्व के समस्त श्रोतों को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया। पहला, सामान्य (केंद्र को जाने वाला), दूसरा, प्रांतीय (राज्यों को जाने वाला) तथा तीसरा, वह जिसका विभाजन केंद्र एवं प्रांत दोनों के मध्य होता था।

किंतु इसके बावजूद भी केंद्रीय सरकार की सर्वोच्चता बनी रही तथा प्रांतों पर उसका पूर्ण नियंत्रण यथावत रहा। जबसे केंद्रीय एवं प्रांतीय सरकारें ब्रिटिश सरकार तथा भारत सचिव के नियंत्रण में आयीं, यह व्यवस्था और अनिवार्य बन गयी।

स्थानीय स्वायत्त संस्थाएं

सरकार द्वारा यह निर्णय लिया गया कि नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों को प्रोत्साहन देकर प्रशासन का और अधिक विकेंद्रीकरण किया जाये। विचार यह था कि ये स्थानीय विकास विभिन्न स्थानीय मुद्दों यथा-शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, जलापूर्ति, सड़क एवं अन्य स्थानीय आवश्यकता के कार्यों का संचालन करें तथा इसके लिये वित्तीय संसाधनों के रूप में स्थानीय कर वसूलें। ऐसे बहुत से कारक थे, जिन्होंने सरकार के लिये यह आवश्यक बना दिया कि वह स्थानीय निकायों के क्षेत्र में सुधार करे तथा इसके लिये आवश्यक कदम उठाये।

प्रथम, अतिशय केंद्रीयकरण के कारण सरकार के सम्मुख जो वित्तीय संकट की

समस्या थी, उसे विकेंद्रीकरण द्वारा ही हल किया जा सकता था। दूसरा, यूरोप में स्थानीय संस्थाओं के विकास से यह महसूस किया जाने लगा था कि भारत में भी इनका उन्नयन और विकास किया जाये, तभी यूरोप से आर्थिक सम्पर्क में वृद्धि हो सकेगी। तीसरा, राष्ट्रवाद के उफान को स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास से रोकने में मदद मिलेगी। चतुर्थ, ब्रिटिश नीति-निर्धारकों के एक तबके ने महसूस किया कि प्रशासन के कुछ भागों का विकास ब्रिटिश सर्वोच्चता के बिना होना चाहिए, इसी से भारत के तीव्र गति से हो रहे राजनीतिकरण को रोका जा सकेगा। पांचवां, स्थानीय स्तर पर वसूले गये करों का उपयोग स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं द्वारा करने से सरकार के प्रति आलोचना को कम किया जा सकेगा। क्योंकि अभी तक सरकार पर यह आरोप लगाया जाता रहा था कि वह राजस्व का अधिकांश भाग सरकारी सेवकों एवं उच्च वर्ग के लोगों पर ही व्यय करती है तथा स्थानीय विकास की उसने उपेक्षा की है।

स्थानीय प्रशासन के विकास से संबंधित महत्वपूर्ण चरणों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है–

1864 से 1868 के मध्यः इस अवधि में, पहली बार स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का निर्माण किया गया किंतु अभी इसके अधिकांश सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे तथा इनका प्रमुख जिला दंडाधिकारी (District Magistrate) होता था। इस प्रकार, इनका स्वरूप अतिरिक्त कर संग्रहित करने वाली संस्थाओं से कुछ अधिक नहीं था।

1870 का मेयो का प्रस्तावः भारतीय परिषद अधिनियम 1861 द्वारा वैधानिक विकेंद्रीकरण की नीति प्रारंभ की गयी और मेयो का 1870 का वित्तीय विकेंद्रीकरण का प्रस्ताव उसका प्राकृतिक परिणाम था। इस प्रस्ताव के द्वारा कुछ विभागों जैसे-स्वास्थ्य, शिक्षा एवं सड़कों इत्यादि का नियंत्रण प्रांतीय सरकारों को दे दिया गया। इसी के फलस्वरूप 'स्थानीय वित्त' की प्रक्रिया का शुभारंभ हुआ। अपने बजट को संतुलित करने के लिये प्रांतीय सरकारों को स्थानीय कर लगाने का अधिकार दिया गया, जबकि शेष धन उन्हें केंद्रीय कोष से प्राप्त होता था। मेयो के इस प्रस्ताव में सुझाव दिया गया कि स्थानीय स्वायत्त शासन को सुदृढ़ बनाया जाये तथा इस उद्देश्य से नगरपालिकाओं को विकसित किया जाये तथा इनमें भारतीयों तथा यूरोपियों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जाये।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रांतीय सरकारों ने कई नगरपालिका अधिनियम बनाये। 1871 में बंगाल जिला बोर्ड उपकर अधिनियम द्वारा बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन प्रारंभ करने का प्रथम प्रयास किया गया।

इसी प्रकार के अधिनियम मद्रास, पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में भी बनाये गये।

1882 का रिपन का प्रस्तावः 1882 का लार्ड रिपन का प्रस्ताव स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। रिपन की सरकार स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास में असमानता को दूर करना चाहती थी। इसीलिये सरकार ने सुझाव दिया कि प्रांतीय सरकारों को स्थानीय संस्थाओं के लिये वित्तीय विकेंद्रीकरण की वही नीति अपनानी चाहिये, जो लार्ड मेयो की सरकार ने प्रारंभ की थी। रिपन के इस प्रस्ताव के प्रमुख बिंदु निम्नानुसार थेः

- स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विकास किया जाना चाहिये क्योंकि यह लोगों की राजनीतिक एवं लोकप्रिय शिक्षा का साधन है। इससे प्रशासन में सुधार होगा।
- शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय प्रशासन से संबंधित नीतियों में परिवर्तन किया जाये तथा इन्हें कुछ निश्चित करों के आरोपण का अधिकार दिया जाये। इस व्यवस्था से इन संस्थाओं के लिये राजस्व की आय के स्रोत सुनिश्चित हो सकेंगे।
- इन संस्थाओं में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत होना चाहिये और यदि सरकारी सदस्य चाहें तो इनके लिये चुनाव भी कराया जा सकता है।
- इन संस्थाओं का अध्यक्ष गैर-सरकारी सदस्यों में से ही बनाया जाना चाहिए।
- स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं में सरकारी हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए। लेकिन सरकार को यह अधिकार होगा कि वह इन संस्थाओं की कार्यप्रणाली को संशोधित बना सकेगी तथा निरीक्षण भी कर सकेगी। लेकिन वह इस संबंध में कोई बाध्यकारी दिशा-निर्देश जारी नहीं कर सकती।
- कुछ निश्चित मामलों में सरकारी अधिकारियों की अनुमति आवश्यक होगी। जैसे—ऋणों में वृद्धि, नये करों को लागू करना, किसी निर्माण कार्य की लागत का अनुमानित लागत से अधिक होना, नये नियमों एवं उपनियमों का निर्माण तथा नगरपालिका की सम्पत्ति को बेचना या गिरवी रखना इत्यादि।

इस प्रस्ताव के कारण 1883 से 1885 के मध्य अनेक अधिनियम पारित किये गये। इन अधिनियमों से भारत के शहरी स्वायत्त निकायों के संविधान, शक्तियों एवं कार्यप्रणाली में ऐतिहासिक परिवर्तन हुए। लेकिन अभी भी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं द्वारा स्थानीय शासन का समस्त संचालन करना, एक स्वप्न की तरह था। तत्कालीन समय में जो भी स्थानीय निकाय थे, उनमें अनेक कमियां थीं।

- सभी जिला बोर्डों और अधिकांश नगरपालिकाओं में निर्वाचित सदस्य अल्पमत में थे।
- मताधिकार अत्यंत सीमित था।
- जिला बोर्डों के प्रमुख सरकारी अधिकारी ही होते थे, यद्यपि नगपालिकाओं के प्रमुख धीरे-धीरे गैर-सरकारी सदस्य भी बनाये जाने लगे थे।
- अभी भी सरकार का स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं पर कड़ा नियंत्रण था। वह इन्हें अपनी इच्छा के अनुसार निलंबित कर सकती थी।

नौकरशाही ने लार्ड रिपन के उदार विचारों का ज्यादा समर्थन नहीं किया, क्योंकि उसका तर्क था कि भारतीय स्व-शासन के योग्य नहीं हैं। 19वीं शताब्दी का अंतिम दशक, साम्राज्यवाद का काल था तथा इस समय प्रजातीय सर्वश्रेष्ठता की भावना अपने चरमोत्कर्ष पर थी। लार्ड कर्जन के आने से स्वशासन की गति और मंद हो गयी क्योंकि उसने इन संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण और ज्यादा बढ़ा दिया।

विकेंद्रीकरण पर राजकीय आयोग (1908): स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के प्रभावशाली ढंग से कार्य करने में धन के अभाव को सबसे प्रमुख बाधा के रूप में रेखांकित करते हुए, इस आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं–

(i) इसने सुझाव दिया कि ग्राम पंचायतों को अधिक शक्तियां प्रदान की जायें। जैसे-छोटे मामलों में न्यायिक अधिकार, ग्रामीण विकास के छोटे कार्यों में खर्च बढ़ाने का अधिकार, ग्राम विद्यालयों का निर्माण, प्रशासन तथा उनका भरण-पोषण, छोटे-छोटे ईंधन तथा चारे का संचय इत्यादि।

(ii) आयोग ने उप-जिला बोर्डों के महत्व पर विशेष बल दिया और सिफारिश की कि प्रत्येक *तालुक* या *तहसील* में उप-जिला बोर्डों का गठन किया जाये तथा इनको ग्रामीण बोर्डों के प्रशासन का मुख्य साधन बनाया जाये। उप-जिला बोर्ड, जिला बोर्डों के अधीन नहीं होने चाहिये तथा जिला बोर्डों एवं उप-जिला बोर्डों का पृथक अस्तित्व होना चाहिये। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि जिला बोर्डों तथा उप-जिला बोर्डों के लिये आय के पृथक स्रोत सुनिश्चित किये जाने चाहिये।

(iii) नगरपालिकाओं के संबंध में आयोग ने सिफारिश की कि उनकी कर लगाने की शक्ति पर किसी प्रकार का नियंत्रण न लगाया जाये तथा उन्हें जल-आपूर्ति तथा निकासी की योजनाओं के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य के लिये प्रांतीय सहायता नहीं दी जानी चाहिये।

(iv) नगरपालिकाओं को प्राथमिक शिक्षा तथा यदि वे चाहें तो मिडिल वर्नाक्यूलर स्कूल की भी जिम्मेदारी उन्हें दी जाये। सरकार को माध्यमिक शिक्षा, अकाल सहायता, अस्पताल, पशु-चिकित्सा के कार्य से पूर्णरूपेण मुक्त कर दिया जाये।

1915 के भारत सरकार के प्रस्तावों में राजकीय विकेंद्रीकरण आयोग की सिफारिशों पर सरकारी प्रतिक्रिया व्यक्त की गयी। प्रस्ताव में नये करों का सुझाव अस्वीकार कर दिया गया और आयोग के सुझाव केवल कागज पर ही रह गये।

मई, 1918 का प्रस्तावः 16 मई 1918 के भारत सरकार के इस प्रस्ताव में 20 अगस्त 1917 की घोषणा के संदर्भ में सभी प्रश्नों की समीक्षा की गयी और कहा गया कि स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं पर कम से कम नियंत्रण हो तथा उन्हें गलतियों से सबक लेने का अवसर प्रदान किया जाये। विकेंद्रीकरण आयोग द्वारा दिये गये सुझावों को उन्होंने पृष्ठांकित किया तथा कर लगाने के मामले में नगरपालिकाओं को अधिक अधिकार दे दिये गये। ग्राम पंचायतों को केवल स्थानीय संस्थाओं का प्रतीक बनकर

ही नहीं रहना चाहिये, अपितु इन्हें ग्रामीण जीवन के आधुनिक व सर्वांगीण विकास का प्रयास भी करना चाहिए।

प्रस्ताव में कहा गया कि जहां तक हो सके स्थानीय संस्थाओं को प्रतिनिधि संस्थाओं का स्वरूप दिया जाये तथा किसी भी क्षेत्र में उनका अधिकार वास्तविक हो, नाममात्र का नहीं।

दोहरे शासन के अधीनः 1919 के भारत शासन अनिधियम द्वारा स्थानीय स्वायत्त शासन एक हस्तांतरित विषय बन गया, जिसका नियंत्रण लोकप्रिय शक्ति के अधीन हो गया। प्रांतों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास की अनुमति प्रदान कर दी गयी तथा केंद्रीय सरकार ने इस विषय पर प्रांतीय सरकारों को आदेश देने बंद कर दिये। अनुसूचित करों के नियमों के अनुसार, प्रांतीय करों तथा स्थानीय करों की सूची को पृथक कर दिया गया। किंतु वित्त अभी भी आरक्षित विषय था, अतएव भारतीय मंत्री इस विषय में ज्यादा कुछ नहीं कर सकते थे।

मई 1930 में साइमन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के वित्तीय अधिकारों के संबंध में उल्लेख किया किंतु इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया कि मद्रास, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के अलावा कहीं और ग्राम पंचायतों में कोई विशेष प्रगति देखने को नहीं मिली है। आयोग ने यह सुझाव दिया कि इन स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया जाये। आयोग ने अपने कथन की पुष्टि में इंग्लैण्ड का उदाहरण दिया जहां सरकारी नियंत्रण के कारण ये संस्थायें अधिक अच्छा कार्य करने लगी हैं। आयोग के अनुसार, 1919 के सुधारों के पश्चात इन स्थानीय संस्थाओं की स्थिति और बिगड़ गयी है तथा नये करों के आरोपण में इन संस्थाओं के निर्वाचित सदस्य अधिक उत्साह नहीं दिखाते।

1935 का भारत सरकार अधिनियम तथा उसके बादः इस अधिनियम के अनुसार, प्रांतीय स्वशासन के प्रचलन से स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन और गति मिली है। प्रांतीय तथा स्थानीय करों के मध्य जो पृथकीकरण था वह समाप्त हो गया। लोकप्रिय सरकारों द्वारा वित्त का नियंत्रण किया जाता था इसलिये वे इन संस्थाओं को अधिक वित्त उपलब्ध करा सकती थीं। यद्यपि सभी प्रांतों में स्थानीय संस्थाओं को अधिक कार्यभार दे दिया गया था लेकिन उनकी कर आरोपण की शक्ति न केवल वहीं रही अपितु कम कर दी गयी। उनकी चुंगी बढ़ाने तथा सम्पत्ति एवं व्यवसाय इत्यादि पर करों में वृद्धि करने की शक्तियां कम कर दी गयीं। विकेंद्रीकरण आयोग की सिफारिशों को भी लागू नहीं किया गया। 1947 तक बिना प्रांतीय सरकारों की आज्ञा के बिना स्थानीय संस्थायें नये कर नहीं लगा सकतीं थीं।

स्वतंत्र भारत के संविधान में राज्य सरकारों को निर्देशित किया गया कि वे ग्राम पंचायतों का विकास, प्रभावी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के रूप मे करें। (अनु. 40)।

संविधान के 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन द्वारा सरकार ने शहरी एवं ग्रामीण स्वायत्त संस्थाओं को सुदृढ़ करने तथा प्रभावी बनाने का प्रयास किया है। सरकार की योजना है कि इन संस्थाओं को अधिकाधिक अधिकार सौंपकर स्थानीय स्वशासन को मजबूत बनाया जाये। इससे विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को गति मिलेगी तथा स्थानीय स्तर से ही विकास एवं समृद्धि की प्रक्रिया प्रारंभ हो सकेगी।

सारांश

- **संवैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक विकास**
- **1753-1858 के मध्य संवैधानिक विकास**
  1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट
  पिट्स इंडिया एक्ट 1784
  1786 एक्ट
  चार्टर एक्ट 1793
  चार्टर एक्ट 1813
  चार्टर एक्ट 1833
  चार्टर एक्ट 1853
  भारत में बेहतर सरकार अधिनियम 1858
- **भारत में लोक सेवाओं का उद्‌गम**
- **आधुनिक भारत में पुलिस व्यवस्था**
- **ब्रिटिश शासनाधीन सेना में परिवर्तन**
  यूरोपियन शाखा की सर्वोच्चता सुनिश्चित की गयी।
  सेना में भारतीयों को संतुलित करने के लिये संतुलन एवं प्रतितुलन की नीति अपनायी गयी।
  महत्वपूर्ण पदों एवं शाखाओं में भारतीयों को न नियुक्त करने का निर्णय
  सेना का उपयोग, ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा तथा उसके विस्तार के लिये किये जाने का निर्णय।
  ब्रिटेन के वाणिज्यिक हितों को पोषित करने के लिये भी सेना का उपयोग किये जाने का फैसला।
- **आधुनिक भारत की न्यायपालिका का विकास**
  वॉरेन हेस्टिंग्ज के अधीन सुधार (1772-1785)
  कार्नवालिस के अधीन सुधार (1786-1793)
  विलियम बैंटिंग के अधीन सुधार (1828-1833)
  बिटिश के अधीन न्यायपालिका के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू
- **1857 के पश्चात् प्रशासनिक संरचना में प्रमुख परिवर्तन**
  प्रशासनिक परिवर्तनों का उदय

नयी साम्राज्यवादी शक्तियों का उदय; विश्व अर्थव्यवस्था में ब्रिटिश सर्वोच्चता को चुनौती।

भारत में बड़ी मात्रा में ब्रिटिश पूंजी का निवेश।

- **प्रशासन–केंद्रीय, प्रांतीय एवं स्थानीय**

भारत में शासन का अधिकार कंपनी से ब्रिटिश ताज ने अपने हाथों में लिया; भारत सचिव इस कार्य का केंद्र बिंदु।

वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को नियुक्त करने से, भारतीयों की व्यवस्थापिका से जुड़ने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई लेकिन उनके अधिकार बहुत सीमित थे।

1870 में केंद्रीय एवं प्रांतीय वित्त को विभाजित करने की महत्वपूर्ण प्रक्रिया का शुभारंभ।

अधूरे मन से एवं अपर्याप्त प्रशासकीय कदम उठाये गये, जिनका मुख्य उद्देश्य सरकारी राजस्व में वृद्धि करना था।

1860 में विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया का शुभारंभ।

1882 में रिपन का प्रस्ताव, एक सकारात्मक कदम।

वास्तविक शक्तियों एवं वित्तीय नियंत्रण का अधिकार नहीं।

अध्याय 27

भारत में ब्रिटिश नीतियों का सर्वेक्षण

प्रशासनिक नीतियां

1857 के पूर्व आधुनिक तरीके से भारत को विकास के पथ पर अग्रसर करने की नीति के विरुद्ध, सरकार ने अब व्यापक प्रतिक्रियावादी नीतियों का अनुसरण प्रारंभ कर दिया। इसके पीछे सरकार का यह मानना था कि भारतीय स्वशासन के लिये उपयुक्त नहीं हैं तथा उनके लिये अंग्रेजों की उपस्थिति अपरिहार्य है।

बांटों एवं राज करो की नीति

अब अंग्रेजों ने साम्राज्य के विरुद्ध किसी संगठित जन-प्रतिक्रिया को रोकने का दृढ़ निश्चय कर लिया तथा बांटो व राज करो की नीचतापूर्ण नीति प्रारंभ कर दी। इस नीति के तहत उन्होंने शासकों को अपनी प्रजा के विरुद्ध, एक राज्य को दूसरे राज्य के विरुद्ध, एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र के विरुद्ध तथा हिंदुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उकसाने की नीति अपनायी।

1857 के विद्रोह के पश्चात मुसलमानों के दमन की जो नीति अपनायी गयी थी, सरकार ने उसे त्याग दिया तथा निश्चय किया कि वह मुसलमानों के मध्य एवं उच्च शिक्षित वर्ग का प्रयोग, राष्ट्रवाद के उदय को रोकने में करेगी। अपनी नीति के तहत उसने मुसलमानों को शिक्षा तथा सरकारी सेवाओं में प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया तथा उनके राजनीतिक शोषण की प्रक्रिया भी प्रारंभ कर दी। इस कार्य के पीछे उसकी मंशा थी शिक्षित भारतीयों के मध्य टकराव पैदा करना तथा इसका उपयोग एक हथियार के रूप में उपनिवेशी शासन के हितों के लिये कर पाने में सक्षम होना।

शिक्षित भारतीयों के प्रति द्वेष

भारत के उभरते मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी नेतृत्व ने अंग्रेजों की शोषणकारी प्रशासनिक नीतियों का विश्लेषण किया तथा प्रशासन में भारतीयों की हिस्सेदारी की मांग की।

इस समय, जब भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन का शुभारंभ हुआ, (1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना) अंग्रेजों ने इस कदम को उपनिवेशी शासन के विरुद्ध एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया तथा उसने इस राष्ट्रवादी नेतृत्व के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण रवैया अपना लिया। वास्तव में, इसके बाद अंग्रेजों ने उन सभी व्यक्तियों एवं प्रयासों का विरोध किया, जिन्होंने आधुनिक शिक्षा की वकालत की।

जमींदारों के प्रति दृष्टिकोण

1857 के विद्रोह को कुचलने के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के अत्यंत प्रतिक्रियावादी समूह अर्थात भूस्वामियों और जमींदारों के प्रति भी मित्रता का हाथ बढ़ाया। सरकार ने उन्हें अपना भक्त बनाने के लिये कई प्रकार की उपाधियां प्रदान कीं। अनेक जमीदारों को उनकी पुरानी जमीदारियां वापस लौटा दी गयीं। उदाहरणार्थ-अवध राज्य के अधिकांश ताल्लुकदारों की जमीनें उन्हें लौटा दी गयीं। सरकार ने जमीदारों एवं भूस्वामियों को भारतीयों का परम्परागत नेता कहा। उनके सभी विशेषाधिकारों तथा स्वार्थों की रक्षा की गयी तथा उन्हें खुश करने के निमित्त सरकार ने किसानों के हितों की बलि चढ़ा दी। वस्तुतः सरकार इस बात से भलीभांति अवगत हो चुकी थी कि जमीदारों का तत्कालीन भारतीय लोगों पर गहरा प्रभाव है, भले ही इसका आधार जमींदारों की शक्ति ही था। सरकार का अनुमान था कि वह इनका प्रयोग कर शिक्षित भारतीयों की मांगों को भलीभांति कुचल सकती है। व्यवहारिक रूप में अंग्रेजों का यह अनुमान सही निकला। उसके प्रयासों से धीरे-धीरे भूस्वामी और जमींदार, उपनिवेशी शासन के भक्त बन गये तथा उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अंग्रेजों का खुलकर साथ निभाया। इसके पीछे जमींदारों की यह सोच थी कि उनके विशेषाधिकारों एवं स्वार्थों की पूर्ति के लिये ब्रिटिश राज्य का होना आवश्यक है।

सामाजिक सुधारों के प्रति दृष्टिकोण

अंग्रेजों द्वारा भारतीय समाज के प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन करने का निर्णय लेने के कारण, सरकार ने सामाजिक सुधारों से अपना समर्थन वापस ले लिया। अंग्रेजों का मानना था कि इन सुधारों का समर्थन करने के कारण समाज का रूढ़िवादी तबका उसके विरुद्ध हो जायेगा तथा सरकार को अपने क्रोध का निशाना बनायेगा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने प्रतिक्रियावादी तत्वों को बढ़ावा देने के लिये जातीय एवं साम्प्रदायिक चेतना को भी प्रोत्साहित किया।

अविकसित सामाजिक सेवायें

सरकार द्वारा सेना एवं नागरिक प्रशासन पर किये जा रहे भारी व्यय तथा विभिन्न विद्रोहों को कुचलने में संसाधनों के अंधाधुंध उपयोग से शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं भौतिक आधारभूत ढांचे इत्यादि जैसी सामाजिक सेवायें उपेक्षित हो गयीं तथा इन पर

प्रमुख विचार

इंग्लैंड की राजशाही को भविष्य में शक्तिशाली देशी कुलीन तंत्रों की आशाओं, इच्छाओं, सहानुभूतियों और हितों के साथ अपना घनिष्ठ संबंध स्थापित करना होगा।

लार्ड लिटन

किये जाने वाला व्यय अत्यल्प रह गया। जन सामान्य के लाभार्थ किये जाने वाले विकास कार्य लगभग ठप्प हो गये तथा अधिकांश सरकारी योजनायें समाज के उच्च व विशिष्ट वर्गों के हितों के अनुरूप बनने लगीं। प्रशासनिक व्यय का एक बड़ा हिस्सा उच्च वर्गों की सुविधाओं के आस-पास सिमट कर रह गया।

श्रमिक विधान

19वीं शताब्दी में यूरोप में हुए औद्योगीकरण के परिप्रेक्ष्य में, भारत में इस अवधि में विभिन्न कारखानों एवं बागानों में कार्य की दशायें अत्यंत दयनीय थीं। कार्य के घंटे काफी-लंबे थे तथा पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं एवं बच्चों को भी काफी लंबे समय तक काम करना पड़ता था। इन मजदूरों का वेतन भी काफी कम था। कार्यस्थलों में अत्यधिक भीड़ होती थी तथा स्वच्छ हवा इत्यादि की समुचित व्यवस्था नहीं थी। प्रदूषित हवा की निकासी के लिये आवश्यक सुविधाओं का अभाव था तथा श्रमिकों को कम रोशनी में भी घंटों काम करना पड़ता था। कार्यस्थलों में प्रायोगिक तौर पर सुरक्षा उपाय भी अत्यल्प होते थे।

लेकिन आश्चर्यजनक रूप से भारत में कारखानों में कार्यरत श्रमिकों की दशाओं में सुधार एवं उनके लिये विधान बनाने की मांग, सर्वप्रथम भारत में नहीं अपितु ब्रिटेन में लंकाशायर के कपड़ा कारखानों के मालिकों द्वारा उठायी गयी। उन्हें डर था कि भारतीय कपड़ा उद्योग सस्ती मजदूरी के कारण उनका प्रतिद्वंद्वी न बन जाये। इस मांग से भारतीय श्रमिक नेता काफी प्रभावित हुए तथा उन्होंने मांग की कि भारतीय कपड़ा मिलों की निम्न स्तरीय कार्य दशाओं में सुधार किया जाये तथा मजदूरों का शोषण रोका जाये। उन्होंने कारखानों में कार्य दशाओं (Working Conditions) की जांच करने के लिये एक आयोग गठित करने की मांग भी की। 1875 में ऐसे प्रथम आयोग की नियुक्ति की गयी तथा 1881 में प्रथम कारखाना अधिनियम बनाया गया।

भारतीय कारखाना अधिनियम, 1881: यह अधिनियम बाल श्रमिकों की समस्याओं से संबंधित था। (7 से 12 वर्ष की आयु के बीच के)। इसके मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थे–

- 7 वर्ष से कम आयु के बच्चों के काम करने पर रोक लगायी जाये।
- बच्चों के लिये एक दिन में काम करने की अवधि अधिकतम 9 घंटे से अधिक नहीं होनी चाहिये।

- बाल श्रमिकों को एक माह में चार अवकाश दिये जायें।
- खतरनाक मशीनों के चारों ओर बाड़ लगायी जाये।

भारतीय कारखाना अधिनियम, 1891: • बच्चों के काम करने के लिये न्यूनतम आयु 7 और 12 वर्ष से बढ़ाकर 9 और 14 वर्ष कर दी गयी।

• बच्चों के लिये काम करने के घंटों को घटाकर 7 घंटे प्रतिदिन कर दिया गया।

• महिलाओं के लिये काम करने का समय 11 घंटे कर दिया गया, जिसमें 1 घंटे का मध्यावकाश निश्चित किया गया। (लेकिन पुरुषों के लिये काम के घंटे अभी भी अनिश्चित रहे)।

लेकिन इन नियमों को अंग्रेजों के स्वामित्व वाले चाय एवं कहवा (काफी) बागानों में लागू नहीं किया गया, जहां मजदूरों का निर्दयतापूर्ण शोषण किया जाता था तथा उनकी स्थिति दासों के समान थी। कुछ बागान मालिक, मजदूरों से एक अनुबंध-पत्र पर दस्तखत करवा लेते थे, जिसके पश्चात मजदूर उस मालिक के यहां काम करने को विवश हो जाता था तथा वह किसी प्रकार के काम से इंकार नहीं कर सकता था। सरकार ने भी ऐसे बागान मालिकों को इस प्रकार के भेदभावपूर्ण नियम बनाने हेतु प्रोत्साहित किया। इस अनुबंध की अवहेलना फौजदारी अपराध था, जिसमें बागान मालिक को यह अधिकार दिया गया था कि वह दोषी मजदूर को गिरफ्तार कर दंडित कर सकता था।

20वीं शताब्दी में राष्ट्रवादी दबाव के कारण कई अन्य श्रमिक विधान बनाये गये लेकिन मजदूरों की दशाओं में कोई बहुत ज्यादा सुधार नहीं आया।

प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध

भारतीय राष्ट्रवादी, प्रेस की अत्याधुनिक तकनीकों का उपयोग करने में अत्यधिक सजग थे तथा अत्यंत शीघ्रता से इसका उपयोग कर लेते थे। उनका उद्देश्य, प्रेस के माध्यम से लोगों को शिक्षित बनाना, भारतीयों में चेतना जागृत करना तथा सरकार की दमनकारी एवं पक्षपातपूर्ण योजनाओं की आलोचना करना था।

1835 में चार्ल्स मैटकाफ ने भारतीय प्रेस पर लगाये गये प्रतिबंधों को हटा लिया। लेकिन लिटन, जो कि इस बात से भयभीत था कि प्रेस के द्वारा राष्ट्रवादी, भारतीयों में चेतना का प्रसार कर सरकार के लिये खतरा पैदा कर सकते हैं, वह भारतीय प्रेस के दमन पर उतर आया तथा उसने 1878 में अलोकप्रिय भारतीय भाषा समाचार-पत्र अधिनियम (वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट) पारित कर दिया। तीव्र जन-विरोध के कारण लार्ड रिपन ने 1882 में इस घृणित अधिनियम को रद्द कर दिया। इसके पश्चात लगभग दो दशकों तक भारतीय प्रेस स्वतंत्रता के साये में फलता-फूलता रहा लेकिन स्वदेशी एवं बंग-भंग विरोधी आंदोलन के समय 1908 एवं 1910 में इस पर अनेक प्रतिबंध लगा दिये गये।

रंगभेद की नीति

अंग्रेजों ने प्रजातीय सर्वश्रेष्ठता के विचार का अत्यंत व्यवस्थित ढंग से पालन किया। अपनी रंगभेद की नीति के चलते उन्होंने स्वयं को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया तथा प्रशासन के सर्वोच्च पदों से भारतीयों को दूर रखा। अंग्रेजों ने नागरिक प्रशासन एवं सेना के साथ ही रेल के डिब्बों, पार्कों, होटलों तथा क्लबों इत्यादि में भी रंगभेद की नीति को लागू करने का घृणित प्रयास किया। अपनी प्रजातीय सर्वश्रेष्ठता को प्रदर्शित करने के लिये अंग्रेजों ने भारतीयों को सरेआम पीटने, जिंदा जला देने तथा उनकी हत्या कर देने जैसे अमानवीय एवं कायरतापूर्ण हथकंडे भी अपनाये। एक स्थान पर लार्ड एल्गिन ने लिखा कि ''हम भारत पर केवल इसलिये राज कर सके क्योंकि हम श्रेष्ठ नस्ल के थे। यद्यपि हमें भारतीयों को सरकारी सेवाओं में आने हेतु प्रोत्साहित करना चाहिये, किंतु उन्हें इस बात का बराबर एहसास कराते रहना होगा कि वे हमसे निकृष्ट हैं, तभी हमारे साम्राज्य के हित सुरक्षित रह सकेंगे।''

भारत में अंग्रेजों की भू-राजस्व नीतियां

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत में जो परम्परागत भूमि व्यवस्था कायम थी उसमें भूमि पर किसानों का अधिकार था तथा फसल का एक भाग सरकार को दे दिया जाता था। 1765 में इलाहाबाद की संधि के द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। यद्यपि 1771 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में प्रचलित पुरानी भू-राजस्व व्यवस्था को ही जारी रखा किंतु कम्पनी ने भू-राजस्व की दरों में वृद्धि कर दी। धीरे-धीरे कम्पनी के खर्चे में वृद्धि होने लगी, जिसकी भरपाई के लिये कम्पनी ने भू-राजस्व की दरों को बढ़ाया। ऐसा करना स्वाभाविक भी था क्योंकि भू-राजस्व ही ऐसा माध्यम था जिससे कम्पनी को अधिकाधिक धन प्राप्त हो सकता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने आर्थिक व्यय की पूर्ति करने तथा अधिकाधिक धन कमाने के उद्देश्य से भारत की कृषि व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया तथा कृषि के परम्परागत ढांचे को समाप्त करने का प्रयास किया। यद्यपि क्लाइव तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय तक भू-राजस्व पद्धति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया गया तथा इस समय तक भू-राजस्व की वसूली बिचौलियों (जमींदारों या लगान के ठेकेदारों) के माध्यम से ही की जाती रही, किंतु उसके पश्चात कम्पनी द्वारा नये प्रकार के कृषि संबंधों की शुरुआत की गयी। इसके परिणामस्वरूप कम्पनी ने करों के निर्धारण और वसूली के लिये कई नये प्रकार के भू-राजस्व बंदोबस्त कायम किये।

मुख्य रूप से अंग्रेजों ने भारत में तीन प्रकार की भू-धृति पद्धतियां (Land tenure system) अपनायीं–

(i) जमींदारी (ii) रैयतवाड़ी एवं (iii) महालवाड़ी।

यद्यपि प्रारंभ में (1772 में) वारेन हेस्टिंग्स ने **इजारेदारी प्रथा** भी प्रारंभ की थी

किंतु यह व्यवस्था ज्यादा दिनों तक नहीं चली तथा ब्रिटिश शासनकाल में यही तीन भू-राजस्व व्यवस्थायें हीं प्रभावी रहीं। इजारेदारी प्रथा मुख्यतया बंगाल में ही लागू की गयी थी। तत्पश्चात लागू की गयी जमींदारी या स्थायी बदोबस्त व्यवस्था को बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश के बनारस तथा कर्नाटक के उत्तरी भागों में लागू किया गया। रैयतवाड़ी पद्धति मद्रास, बम्बई तथा असम के कुछ भागों में लागू की गयी। जबकि महालवाड़ी पद्धति मध्य प्रांत, यू.पी. एवं पंजाब में लागू की गयी। इन विभिन्न भू-राजस्व व्यवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार है–

इजारेदारी प्रथा

1772 में वारेन हेस्टिंग्स ने एक नयी भू-राजस्व पद्धति लागू की, जिसे 'इजारेदारी प्रथा' के नाम से जाना गया है। इस पद्धति को अपनाने का मुख्य उद्देश्य अधिक भू-राजस्व वसूल करना था। इस व्यवस्था की मुख्य दो विशेषतायें थीं–

1. इसमें पंचवर्षीय ठेके की व्यवस्था थी; तथा
2. सबसे अधिक बोली लगाने वाले को भूमि ठेके पर दी जाती थी।

किंतु इस व्यवस्था से कम्पनी को ज्यादा लाभ नहीं हुआ क्योंकि इस व्यवस्था से उसकी वसूली में अस्थिरता आ गयी। पंचवर्षीय ठेके के इस दोष के कारण 1777 ई. में इसे परिवर्तित कर दिया गया तथा ठेके की अवधि एक वर्ष कर दी गयी। अर्थात अब भू-राजस्व की वसूली का ठेका प्रति वर्ष किया जाने लगा। किंतु प्रति वर्ष ठेके की यह व्यवस्था और असफल रही। क्योंकि इससे भू-राजस्व की दर तथा वसूल की राशि की मात्रा प्रति वर्ष परिवर्तित होने लगी। इससे कम्पनी को यह अनिश्चितता होती थी कि अगले वर्ष कितना लगान वसूल होगा। इस व्यवस्था का एक दोष यह भी था कि प्रति वर्ष नये-नये व्यक्ति ठेका लेकर किसानों से अधिक से अधिक भू-राजस्व वसूल करते थे। चूंकि इसमें इजारेदारों (ठेकेदारों या जमींदारों) का भूमि पर अस्थायी स्वामित्व होता था, इसलिये वे भूमि सुधारों में कोई रुचि नहीं लेते थे। उनका मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लगान वसूल करना होता था। इसके लिये वे किसानों का उत्पीड़न भी करते थे। ये इजारेदार वसूली की पूरी रकम भी कम्पनी को नहीं देते थे। इस व्यवस्था के कारण किसानों पर अत्यधिक बोझ पड़ा तथा वे कंगाल होने लगे।

यद्यपि यह व्यवस्था काफी दोषपूर्ण थी फिर भी इससे कम्पनी की आय में वृद्धि हुयी।

स्थायी बंदोबस्त

पृष्ठभूमिः बंगाल की लगान व्यवस्था 1765 से ही कम्पनी के लिये एक समस्या बनी हुयी नहीं। क्लाइव ने इस व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया तथा उसके काल में वार्षिक लगान व्यवस्था ही जारी रही। बाद में वारेन हेस्टिंग्स ने लगान व्यवस्था में सुधार के लिये इजारेदारी प्रथा लागू की किंतु इससे समस्या सुलझने के

बजाय और उलझ गयी। इस व्यवस्था के दोषपूर्ण प्रावधानों के कारण कृषक बर्बाद होने लगे तथा कृषि का पराभव होने लगा।

1886 में जब लार्ड कार्नवालिस गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया उस समय कम्पनी की राजस्व व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी तथा उस पर पर्याप्त वाद-विवाद चल रहा था। अतः उसके सम्मुख सबसे प्रमुख कार्य कम्पनी की लगान व्यवस्था में सुधार करना था। प्रति वर्ष ठेके की व्यवस्था के कारण राजस्व वसूली में आयी अस्थिरता एवं अन्य दोषों के कारण कम्पनी के डायरेक्टरों ने कार्नवालिस को आदेश दिया कि वह सर्वप्रथम लगान व्यवस्था को दुरुस्त करे तथा वार्षिक ठेके की व्यवस्था से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये जमींदारों से स्थायी समझौता कर ले। डायरेक्टरों का यही आदेश अंत में स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था का सबसे मुख्य कारण बना। इसके फलस्वरूप भू-राजस्व या लगान के संबंध में जो व्यवस्था की गयी, उसे 'जमींदारी व्यवस्था' या 'इस्तमरारी व्यवस्था' या 'स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था' के नाम से जाना जाता है।

यद्यपि प्रारंभ में इस व्यवस्था से संबंधित कुछ समस्यायें थीं। जैसे–

(i) समझौता किससे किया जाये? किसान से या जमींदार से।

(ii) राज्य को पैदावार का कितना भाग लगान के रूप में प्राप्त हो। और

(iii) यह समझौता कुछ वर्षों के लिये किया जाये या स्थायी रूप से।

प्रारंभ में इन समस्याओं के संबंध में जान शोर, चार्ल्स ग्रांट एवं स्वयं कार्नवालिस में तीव्र मतभेद थे। अतः इन समस्याओं पर पर्याप्त एवं पूर्ण विचार किया गया। अंत में प्रधानमंत्री पिट्, बोर्ड आफ कंट्रोल के सभापति डण्डास, कम्पनी के डायरेक्टर्स, जॉन शोर, चार्ल्स ग्रांट तथा कार्नवालिस की आपसी सहमति से 1790 में जमींदारों के साथ 10 वर्ष के लिये समझौता किया गया, जिसे 22 मार्च 1793 में स्थायी कर दिया गया।

यह व्यवस्था बंगाल, बिहार, उड़ीसा, यू.पी. के बनारस प्रखण्ड तथा उत्तरी कर्नाटक में लागू की गयी। इस व्यवस्था के तहत ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्रफल का लगभग 19 प्रतिशत भाग सम्मिलित था।

विशेषतायें: इसकी निम्न विशेषतायें थीं–

(i) जमीदारों को भूमि का स्थायी मालिक बना दिया गया। भूमि पर उनका अधिकार पैतृक एवं हस्तांतरणीय था। उन्हें उनकी भूमि से तब तक पृथक नहीं किया जा सकता था, जब तक वे अपना निश्चित लगान सरकार को देते रहें।

(ii) किसानों को मात्र रैयतों का नीचा दर्जा दिया गया तथा उनसे भूमि संबंधी तथा अन्य परम्परागत अधिकारों को छीन लिया गया।

(iii) जमींदार, भूमि के स्वामी होने के कारण भूमि को खरीद या बेच सकते थे।

(iv) जमींदार, अपने जीवनकाल में या वसीयत द्वारा अपनी जमींदारी अपने वैध उत्तराधिकारी को दे सकते थे।

(v) जमींदारों से लगान सदैव के लिये निश्चित कर दिया गया।

(vi) सरकार का किसानों से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं था।

(vii) जमींदारों को किसानों से वसूल किये गये भू-राजस्व की कुल रकम का 10/11 भाग कम्पनी को देना था तथा 1/11 भाग स्वयं रखना था।

(viii) तय की गयी रकम से अधिक वसूली करने पर, उसे रखने का अधिकार जमींदारों को दे दिया गया।

(ix) यदि कोई जमींदार निश्चित तारीख तक, भू-राजस्व की निर्धारित राशि जमा नहीं करता था तो उसकी जमींदारी नीलाम कर दी जाती थी।

(x) कम्पनी की आय में उल्लेखनीय वृद्धि हुयी।

उद्देश्यः कंपनी द्वारा भू-राजस्व की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था को लागू करने के मुख्य दो उद्देश्य थे–

1. इंग्लैण्ड की तरह, भारत में जमींदारों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना, जो अंग्रेजी साम्राज्य के लिये सामाजिक आधार का कार्य कर सके। भारत में कम्पनी के फैलते साम्राज्य के मद्देनजर अंग्रेजों ने महसूस किया कि भारत जैसे विशाल देश पर नियंत्रण बनाये रखने के लिये उनके पास एक ऐसा वर्ग होना चाहिये, जो अंग्रेजी सत्ता को सामाजिक आधार प्रदान कर सके। इसीलिये अंग्रेजों ने जमींदारों का ऐसा वर्ग तैयार किया जो कम्पनी की लूट-खसोट से थोड़ा सा हिस्सा प्राप्त कर संतुष्ट हो जाये तथा कम्पनी को सामाजिक आधार प्रदान करे।

2. कम्पनी की आय में वृद्धि करना। चूंकि भू-राजस्व कम्पनी की आय का अत्यंत प्रमुख साधन था अतः कम्पनी अधिक से राजस्व प्राप्त करना चाहती थी।

स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था के लाभ व हानियांः स्थायी बंदोस्त व्यवस्था के संबंध में इतिहासकारों ने अलग-अलग राय प्रकट की है। कुछ इतिहासकारों ने इसे साहसी एवं बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य माना है तो कुछ ने इसके विरोध में तीव्र मत प्रकट किये।

तुलनात्मक तौर पर इस व्यवस्था से होने वाले लाभ व हानियां इस प्रकार थीं–

***लाभः* जमींदारों को**–1. इस व्यवस्था से सबसे अधिक लाभ जमींदारों को ही हुआ। वे स्थायी रूप से भूमि के मालिक बन गये।

2. लगान की एक निश्चित रकम सरकार को देने के पश्चात काफी बड़ी धनराशि जमींदारों को प्राप्त होने लगी।

3. अधिक आय से कालांतर में जमींदार अत्यधिक समृद्ध हो गये तथा वे सुखमय जीवन व्यतीत करने लगे। बहुत से जमींदार तो गांव छोड़कर शहरों में बसे गये।

सरकार कोः 1. जमींदारों के रूप में सरकार को ऐसा वर्ग प्राप्त हो गया, जो हर परिस्थिति में सरकार का साथ देने को तैयार था। जमींदारों के इस वर्ग ने अंग्रेजी सत्ता को सामाजिक आधार प्रदान किया तथा कई अवसरों पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध किये गये विद्रोहों को कुचलने में सरकार की सहायता की। कालांतर में इन जमींदारों ने अनेक संस्थायें (जैसे-लैंड ओनर एसोसिएशन, लैंड होल्डर्स एसोसिएशन इत्यादि) बनायीं तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में सरकार के प्रति अपनी अटूट निष्ठा घोषित की।

2. सरकार की आय में अत्यधिक वृद्धि हो गयी।

3. सरकार की आय निश्चित हो गयी, जिससे अपना बजट तैयार करने में उसे आसानी हुयी।

4. सरकार को प्रतिवर्ष राजस्व की दरें तय करने एवं ठेके देने के झंझट से मुक्ति मिल गयी।

5. कम्पनी के कर्मचारियों को लगान व्यवस्था से मुक्ति मिल गयी, जिससे वे कम्पनी के व्यापार की ओर अधिक ध्यान दे सके। उसके प्रशासनिक व्यय में भी कमी आयी तथा प्रशासनिक कुशलता बढ़ी।

अन्यः 1. राजस्व में वृद्धि की संभावनाओं के कारण जमींदारों ने कृषि में स्थायी रूप से रुचि लेनी प्रारंभ कर दी तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि के अनेक प्रयास किये। इससे कृषि उत्पादन में वृद्धि हुयी।

2. कृषि में उन्नति होने से व्यापार एवं उद्योग की प्रगति हुयी।

3. जमींदारों से न्याय एवं शांति स्थापित करने की जिम्मेदारी छीन ली गयी, जिससे उनका ध्यान मुख्यतया कृषि के विकास में लगा तथा इससे सूबों की आर्थिक संपन्नता में वृद्धि हुयी।

4. सूबों की आर्थिक संपन्नता से सरकार को लाभ हुआ।

हानियां: 1. इस व्यवस्था से सबसे अधिक हानि किसानों को हुयी। इससे उनके भूमि संबंधी तथा अन्य परम्परागत अधिकार छीन लिये गये तथा वे केवल खेतिहर मजदूर बन कर रह गये।

2. किसानों को जमींदारों के अत्याचारों व शोषण का सामना करना पड़ा तथा वे पूर्णतया जमींदारों की दया पर निर्भर हो गये।

3. वे जमींदार, जो राजस्व वसूली की उगाही में उदार थे, भू-राजस्व की उच्च दरें सरकार को समय पर नहीं अदा कर सके, उन्हें बेरहमी के साथ बेदखल कर दिया गया तथा उनकी जमींदारी नीलाम कर दी गयी।

4. जमींदारों के समृद्ध होने से वे विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे जिससे सामाजिक भ्रष्टाचार में वृद्धि हुयी।

5. स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ने कालांतर में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष को भी हानि पहुंचायी। जमींदारों का यह वर्ग स्वतंत्रता संघर्ष में अंग्रेज भक्त बना रहा तथा कई अवसरों पर तो उसने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सरकार की मदद भी की।

6. इस व्यवस्था से किसान दिनों-दिन निर्धन होते गये तथा उनमें सरकार तथा जमींदारों के विरुद्ध असंतोष बढ़ने लगा। कालांतर में होने वाले कृषक आंदोलनों में से कुछ के लिये इस असंतोष ने भी योगदान दिया। इस प्रकार इस व्यवस्था ने कुछ कृषक आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार करने में अप्रत्यक्ष भूमिका निभायी।

7. इस व्यवस्था से सरकार को भी हानि हुयी क्योंकि कृषि उत्पादन में वृद्धि के

साथ-साथ उसकी आय में कोई वृद्धि नहीं हुयी तथा उसका सम्पूर्ण लाभ केवल जमींदारों को ही प्राप्त होता रहा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्थायी बंदोबस्त से सर्वाधिक लाभ जमींदारों को हुआ। यद्यपि सरकार की आय भी बढ़ी किंतु अन्य दृष्टिकोणों से इससे लाभ के स्थान पर हानि अधिक हुयी। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण लाभ 15-20 वर्ष या इससे थोड़े अधिक समय के बंदोबस्त द्वारा प्राप्त किये जा सकते थे और इस बंदोबस्त को स्थायी करने की आवश्यकता नहीं थी।

इस प्रकार स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था कुछ समय के लिये भले ही लाभदायक रही हो किंतु इससे कोई दीर्घकालिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये कुछ स्थानों के अलावा अंग्रेजों ने इस व्यवस्था को भारत के अन्य भागों में लागू नहीं किया। स्वतंत्रता के पश्चात सभी स्थानों से इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

रैयतवाड़ी व्यवस्था

स्थायी बंदोबस्त के पश्चात, ब्रिटिश सरकार ने भू-राजस्व की एक नयी पद्धति अपनायी, जिसे रैयतवाड़ी बंदोबस्त कहा जाता है। मद्रास के तत्कालीन गवर्नर (1820-27) टॉमस मनरो द्वारा 1820 में प्रारंभ की गयी इस व्यवस्था को मद्रास, बम्बई एवं असम के कुछ भागों लागू किया गया। बम्बई में इस व्यवस्था को लागू करने में बंबई के तत्कालीन गवर्नर (1819-27) एल्फिन्सटन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भू-राजस्व की इस व्यवस्था में सरकार ने रैयतों अर्थात किसानों से सीधा बंदोबस्त किया। अब रैयतों को भूमि के मालिकाना हक तथा कब्जादारी अधिकार दे दिये गये तथा वे सीधे या व्यक्तिगत रूप से स्वयं सरकार को लगान अदा करने के लिये उत्तरदायी थे। इस व्यवस्था ने किसानों के भू-स्वामित्व की स्थापना की। इस प्रथा में जमींदारों के स्थान पर किसानों को भूमि का स्वामी बना दिया गया। इस प्रणाली के अंतर्गत रैयतों से अलग-अलग समझौता कर लिया जाता था तथा भू-राजस्व का निर्धारण वास्तविक उपज की मात्रा पर न करके भूमि के क्षेत्रफल के आधार पर किया जाता था।

सरकार द्वारा इस व्यवस्था को लागू करने का उद्देश्य, बिचौलियों (जमीदारों) के वर्ग को समाप्त करना था। क्योंकि स्थायी बंदोबस्त में निश्चित राशि से अधिक वसूल की गयी सारी रकम जमींदारों द्वारा हड़प ली जाती थी तथा सरकार की आय में कोई वृद्धि नहीं होती थी। अतः आय में वृद्धि करने के लिये ही सरकार ने इस व्यवस्था को लागू किया ताकि वह बिचौलियों द्वारा रखी जाने वाली राशि को खुद हड़प सके। दूसरे शब्दों में इस व्यवस्था द्वारा सरकार स्थायी बंदोबस्त के दोषों को दूर करना चाहती थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत 51 प्रतिशत भूमि आयी। कम्पनी के अधिकारी भी इस व्यवस्था को लागू करने के पक्ष में थे क्योंकि उनका मानना था कि दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारत में इतने बड़े जमींदार नहीं है कि उनसे स्थायी बंदोबस्त किया जा सके। इसलिये इन क्षेत्रों में रैयतवाड़ी व्यवस्था ही सबसे उपयुक्त है।

हालांकि इस व्यवस्था के बारे में यह तर्क दिया गया कि यह व्यवस्था भारतीय कृषकों एवं भारतीय कृषि के अनुरूप है किंतु वास्तविकता इससे बिल्कुल भिन्न थी। व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था जमींदारी व्यवस्था से किसी भी प्रकार कम हानिकारक नहीं थी। इसने ग्रामीण समाज की सामूहिक स्वामित्व की अवधारणा को समाप्त कर दिया तथा जमींदारों का स्थान स्वयं ब्रिटिश सरकार ने ले लिया। सरकार ने अधिकाधिक राजस्व वसूलने के लिये मनमाने ढंग से भू-राजस्व का निर्धारण किया तथा किसानों को बलपूर्वक खेत जोतने को बाध्य किया। रैयतवाड़ी व्यवस्था के अन्य दोष भी थे। इस व्यवस्था के तहत किसान का भूमि पर तब तक ही स्वामित्व रहता था, जब तक कि वह लगान की राशि सरकार को निश्चित समय के भीतर अदा करता रहे अन्यथा उसे भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। अधिकांश क्षेत्रों में लगान की दर अधिक थी अतः प्राकृतिक विपदा या अन्य किसी भी प्रकार की कठिनाई आने पर किसान लगान अदा नहीं कर पाता था तथा उसे अपनी भूमि से हाथ धोना पड़ता था। इसके अलावा किसानों को लगान वसूलने वाले कर्मचारियों के दुर्व्यवहार का सामना भी करना पड़ता था।

महालवाड़ी पद्धति

लार्ड हेस्टिंग्स के काल में ब्रिटिश सरकार ने भू-राजस्व की वसूली के लिये भू-राजस्व व्यवस्था का संशोधित रूप लागू किया, जिसे महालवाड़ी बंदोबस्त कहा गया। यह व्यवस्था मध्य प्रांत, यू.पी. (आगरा) एवं पंजाब में लागू की गयी तथा इस व्यवस्था के अंतर्गत 30 प्रतिशत भूमि आयी।

इस व्यवस्था में भू-राजस्व का बंदोबस्त एक पूरे गांव या महाल में जमींदारों या उन प्रधानों के साथ किया गया, जो सामूहिक रूप से पूरे गांव या महाल के प्रमुख होने का दावा करते थे। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से भूमि पूरे गांव या महाल की मानी जाती थी किंतु व्यावहारिक रूप में किसान महाल की भूमि को आपस में विभाजित कर लेते थे तथा लगान, महाल के प्रमुख के पास जमा कर देते थे। तदुपरांत ये महाल-प्रमुख, लगान को सरकार के पास जमा करते थे। मुखिया या महाल प्रमुख को यह अधिकार था कि वह लगान अदा न करने वाले किसान को उसकी भूमि से बेदखल कर सकता था। इस व्यवस्था में लगान का निर्धारण महाल या सम्पूर्ण गांव के उत्पादन के आधार पर किया जाता था।

महालवाड़ी बंदोबस्त का सबसे प्रमुख दोष यह था कि इसने महाल के मुखिया या प्रधान को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया। किसानों को भूमि से बेदखल कर देने के अधिकार से उनकी शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी तथा वे यदाकदा मुखियाओं द्वारा इस अधिकार का दुरुपयोग कियी जाने लगा। इस व्यवस्था का दूसरा दोष यह था कि इससे सरकार एवं किसानों के प्रत्यक्ष संबंध बिल्कुल समाप्त हो गये।

इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा भारत में भू-राजस्व वसूलने की विभिन्न पद्धतियों को

अपनाया गया। इन पद्धतियों को अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर लागू किया गया। किंतु इन सभी प्रयासों के पीछे अंग्रेजों का मूल उद्देश्य अधिक से अधिक भू-राजस्व को हड़प कर अपनी आय में वृद्धि करना था तथा किसानों की भलाई से उनका कोई संबंध नहीं था। इसके कारण धीरे-धीरे भारतीय कृषक वर्ग कंगाल होने लगा तथा भारतीय कृषि बर्बाद हो गयी।

भारत में अंग्रेजों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक नीति

1813 तक अंग्रेजों ने भारत के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में अहस्तक्षेप की नीति अपनायी, किंतु यूरोप में 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों के प्रकाश में ब्रिटेन के हितों एवं विचारधाराओं में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए फलतः 1813 के पश्चात अंग्रेजों ने भारतीय समाज एवं देश के सांस्कृतिक वातावरण में परिवर्तन के लिये कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाने प्रारंभ कर दिये।

इनमें से कुछ प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार थे–

(i) **औद्योगिक क्रांतिः** इसकी शुरुआत 18वीं शताब्दी में हुई। इसके फलस्वरूप मशीनी युग एवं पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। इस क्रांति के फलस्वरूप ब्रिटेन के औद्योगिक हितों में परिवर्तन आया। इन औद्योगिक हितों में वृद्धि के कारण इस बात की आवश्यकता महसूस की जाने लगी कि यदि भारत को एक बड़े बाजार के रूप में विकसित किया जाये तो ब्रिटेन में निर्मित सामान की खपत वहां आसानी से हो जायेगी तथा उसके औद्योगिक हितों की पूर्ति हो सकेगी। इस कार्य के लिये आंशिक आधुनिकीकरण तथा भारतीय समाज में परिवर्तन आवश्यक था।

(ii) **बौद्धिक क्रांतिः** इसके फलस्वरूप नई प्रकार की विचारधाराओं, मान्यताओं, शिष्टाचार के तरीकों तथा नैतिकता की नयी-नयी अवधारणा का जन्म हुआ।

(ii) **फ्रांसीसी क्रांतिः** इस क्रांति के तीन महान संदेशों–स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व ने न केवल फ्रांस अपितु पूरे विश्व में लोकतंत्र एवं राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इस नये रुझान के बौद्धिक प्रवर्तक थे–बैकन, लॉक, वाल्टेयर, रूसो, कांट, एडम स्मिथ एवं बेंथम तथा साहित्यिक प्रवर्तक थे–वर्डस्वर्थ, बायरन, शीले एवं चार्ल्स डिकेन्स।

नये विचारों की विशेषताएं

नये विचारों की इस लहर की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नानुसार थीं–

(i) ***तर्कवादः*** यह किसी भी वस्तु के संबंध में तर्क एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थक था।

(ii) ***मानवतावादः*** यह मानवता से प्रेम की वकालत करता है–इसके अनुसार मानवतावाद का सिद्धांत सर्वोपरि है। प्रत्येक मनुष्य को न केवल स्वयं से, अपितु सम्पूर्ण

मानवता से प्यार करना चाहिये। किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तिगत आनंद के लिये किसी दूसरे मनुष्य का अहित करे। इससे मानवतावाद को हानि पहुंचती है। मानवतावाद के सिद्धांत से स्वतंत्रता, समाजवाद एवं वैयक्तिकता के सिद्धांतों को प्रोत्साहन मिला।

(iii) **विकास का सिद्धांतः** इस सिद्धांत के अनुसार कुछ भी अपरिवर्तनीय नहीं है, तथा समय के साथ प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ परिवर्तन होता है। मानव में यह क्षमता है कि वह अपनी परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप प्रकृति एवं समाज को परिवर्तित कर सकता है।

विचारधाराएं या सिद्धांत

विचारों के नये प्रवाह से प्रशासकों के मध्य टकराव हुए तथा इसकी प्रतिक्रियास्वरूप विभिन्न सिद्धांतों या विचारधाराओं का जन्म हुआः

रूढ़िवादीः ये परम्परागत व्यवस्था के हिमायती थे। इन्होंने अत्यल्प परिवर्तनों की वकालत की। इनके मतानुसार भारतीय सभ्यता, यूरोपीय सभ्यता से भिन्न है लेकिन उससे निम्न नहीं है। इस विचारधारा के चिंतक भारतीय दर्शन एवं सभ्यता को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनके अनुसार, यदि इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करना भी हो तो पाश्चात्य विचारों का समावेश शनैः-शनैः एवं अत्यंत सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। इन्होंने महसूस किया कि सामाजिक स्थायित्व का होना आवश्यक है। इस विचारधारा के प्रारंभिक अनुयायियों में वारेन हेस्टिंग्स एवं एडमंड बर्क का नाम उल्लेखनीय है। बाद में मुनरो, मैटकाफ एवं एल्फिस्टन ने भी इस विचारधारा का समर्थन किया। रूढ़िवादी अपने पूरे कार्यकाल में इसी व्यवस्था के पक्षधर रहे तथा ब्रिटिश शासन के अधिकांश अधिकारी भी इसी विचारधारा के समर्थक बने रहे।

संरक्षणवादी साम्राज्यवादीः ये मुख्यतया 19वीं शताब्दी से प्रभावी हुए। इस विचारधारा के अनुयायी भारतीय समाज एवं सभ्यता के तीव्र आलोचक थे तथा इन्होंने भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक दासता की स्थिति को जायज ठहराया।

मौलिकतावादीः इन्होंने भारतीय समाज एवं संस्कृति की आलोचना से परे, रूढ़िवादियों तथा साम्राज्यवादियों के दृष्टिकोण से असहमति प्रकट की तथा भारतीय परिस्थितियों में उन्नत मानवतावादी एवं तर्कवादी विचारों के अनुप्रयोग की वकालत की। इनके मतानुसार भारत में वह शक्ति है, जिससे वह उन्नति कर सके तथा इस कार्य में उन्हें अवश्य सहायता करनी चाहिये। इनकी इच्छा भारत को विज्ञान एवं मानवतावाद पर आधारित आधुनिक एवं प्रगतिशील विश्व के एक भाग के रूप में विकसित करने की थी, इसीलिये इन्होंने देश में आधुनिक एवं पाश्चात्य विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य को प्रवृत्त (introduce) करने की वकालत की। 1820 के पश्चात भारत आने वाले ब्रिटिश अधिकारियों में से कुछ इसी विचारधारा के समर्थक थे। इन

अधिकारियों का राजा राममोहन राय एवं कुछ अन्य प्रबुद्ध भारतीयों ने भरपूर समर्थन किया, जो इसी सिद्धांत के समर्थक थे।

लेकिन दुर्भाग्यवश पहले से शासन पर अपनी पकड़ बनाये हुए तत्वों ने अपनी साम्राज्यवादी एवं शोषणात्मक शासन की नीति जारी रखी। इनका तर्क था कि भारत का आधुनिकीकरण एवं विकास अंग्रेजों की छत्रछाया में ही हो सकता है तथा इसके लिये भारतीय संसाधनों का दोहन आवश्यक है। साम्राज्यवादियों की इस अवधारणा के कारण मौलिकतावादियों से उनका मतभेद अपरिहार्य था। साम्राज्यवादियों के इस तर्क से कि भारत में ब्रिटिश शासन की उपस्थिति एवं संरक्षण प्राथमिक तथ्य है तथा अन्य कारक द्वितीयक तत्व, मौलिकतावाद ने अपनी असहमति प्रकट की।

सरकार के सम्मुख असमंजस की स्थिति

सरकार इस बात से भयभीत थी कि भारत का बहुत ज्यादा आधुनिकीकरण किया गया तो ऐसी ताकतें पैदा हो सकती हैं, जो ब्रिटिश हितों को आघात पहुंचा सकती हैं। इसीलिये सरकार ने भारत के आंशिक आधुनिकीकरण की नीति अपनायी। एक ओर जहां कुछ क्षेत्रों में उसने इस प्रक्रिया को प्रारंभ किया, वहीं दूसरी ओर उसने अन्य क्षेत्रों में यह प्रक्रिया अवरुद्ध कर दी। दूसरे शब्दों में उसने 'उपनिवेशवादी आधुनिकीकरण' की प्रक्रिया प्रारंभ की।

ईसाई मिशनरियों की भूमिका

ईसाई मिशनरियों (धर्म प्रचारकों) ने ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में प्रचारित किया तथा पाश्चात्यीकरण के द्वारा इसके प्रसार की नीति अपनायी। उनका विश्वास था कि इस नीति के द्वारा वे भारतीयों की अपने धर्म एवं संस्कृति में आस्था को विनष्ट कर देंगे। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इन मिशनरियों ने–

–मौलिकतावादियों (Radicals) का समर्थन किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि मौलिकतावादियों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अवनति होगी।

–साम्राज्यवादियों का समर्थन किया, क्योंकि उनके उद्देश्यों की सफलता के लिये कानून एवं व्यवस्था की स्थिति का उनके अनुकूल होना आवश्यक था। साथ ही मिशनरियों का मानना था कि ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का होना नितांत आवश्यक है।

–ब्रिटिश व्यवसायियों एवं पूंजीपतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका विश्वास था कि वे ईसाई धर्म का प्रचार कर भारतीयों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार करेंगे। इससे अंग्रेजी वस्तुओं की खपत बढ़ेगी तथा अंग्रेज पूंजीपति एवं व्यापारी, मिशनरियों को उनके उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता पहुंचायेंगे।

1858 के पश्चात, झिझकपूर्ण आधुनिकीकरण की नीति (Policy of hesitant

modernisation) त्याग दी गयी, क्योंकि भारतीय धीरे-धीरे शासन के सम्मुख शिष्य की तरह व्यवहार करने लगे तथा अपने समाज एवं संस्कृति के तीव्रता से आधुनिकीकरण किये जाने की मांग करने लगे। साथ ही, भारतीयों ने अपने अनुरूप स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय पर आधारित प्रशासन की मांग प्रारंभ कर दी थी। अब अंग्रेजों ने सामाजिक रूढ़िवादी एवं समाज के सकींर्णतावादी तत्वों का पक्ष लेना प्रारंभ कर दिया। अंग्रेजों ने जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को उभारना भी प्रारंभ कर दिया।

भारतीय रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति

भारतीय रियासतों के साथ अंग्रेजों के संबंध दो चरणीय नीति से निर्देशित थे—पहली, साम्राज्य की रक्षा के लिये उनसे संबंधों की स्थापना एवं उनका उपयोग तथा दूसरा, उन्हें पूर्णतया साम्राज्य के अधीन कर लेना (अधीनस्थ संघीय नीति)।

भविष्य में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध होने वाले किसी राजनीतिक आंदोलन के समय इन देशी रियासतों को मध्यस्थ के रूप में प्रयुक्त करने तथा 1857 के विद्रोह के समय इनकी राजभक्ति हेतु इन्हें पुरस्कृत के लिये सरकार ने विलय की नीति त्याग दी। अब नयी नीति शासकों को पदच्युत करने या उन्हें दंड देने की थी न कि उनके राज्य को विलय करने की। इसके साथ ही रियासतों को उनकी क्षेत्रीय अखंडता की गारंटी भी दी गयी तथा घोषणा की गयी कि सरकार रियासतों द्वारा किसी उत्तराधिकारी को गोद लेने के अधिकार का सम्मान करेगी।

1876 में ब्रिटिश संसद ने 'रायल टाइटल्स' नामक एक अधिनियम पारित किया, जिससे ब्रिटेन की साम्राज्ञी विक्टोरिया ने समस्त ब्रिटिश प्रदेशों तथा देशी रियासतों समेत *कैसर-ए-हिन्द* अथवा 'भारत की साम्राज्ञी' की उपाधि धारण कर ली। बाद में लार्ड कर्जन ने स्पष्ट किया कि सभी रजवाड़े अपने-अपने राज्यों (रियासतों) में ब्रिटिश ताज के प्रतिनिधि के रूप में शासन करेंगे। बाद में भी ब्रिटिश सरकार ने राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार द्वारा अपनी 'सर्वोच्च श्रेष्ठता' की नीति को बनाये रखा। सरकार इन राज्यों में अपने रेजिडेंट नियुक्त कर या अधिकारियों की नियुक्ति या बर्खास्तगी संबंधी मामलों में हस्तक्षेप कर अपने हस्तक्षेप करने के अधिकार का पक्षपोषण करती रही।

कालांतर में ब्रिटिश सरकार ने संचार, रेलवे, सड़क, टेलीग्राफ, नहरों, पोस्ट-आफिस आदि का इन राज्यों में आधुनिक ढंग से विकास किया तथा इन माध्यमों द्वारा भी उसे राज्यों में दखल देने का अवसर बराबर मिलता रहा। राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने का सरकार का एक उद्देश्य यह था कि इससे राष्ट्रवाद के उदय एवं लोकतांत्रिक भावनाओं के प्रसार को रोका जा सके। लेकिन इन आधुनिक राजनीतिक आंदोलनों का सकारात्मक पक्ष यह था कि इन प्रयासों से अंग्रेजों ने इन राज्यों में आधुनिक प्रशासनिक संस्थाओं को अपनाने हेतु प्रोत्साहित किया।

भारत में ब्रिटिश विदेश नीति

अंग्रेजों की विदेश नीति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों की संरक्षक थी। किंतु विदेश नीति का स्वरूप ऐसा था कि इसने समय-समय पर पड़ोसी देशों के साथ विवादों को भी जन्म दिया। इन विवादों के कई कारण थे। प्रथम, संचार के आधुनिक साधनों के प्रयोग ने भारत को राजनीतिक एवं प्रशासनिक रूप से एक सूत्र में आबद्ध कर दिया। इसके साथ ही देश की रक्षा एवं अन्य कार्यों के निमित्त सरकार एवं प्रशासन की पहुंच देश के दूरदराज एवं सीमावर्ती क्षेत्रों में आसान हो गयी। इसके फलस्वरूप सीमावर्ती क्षेत्रों में झड़पें होने लगीं।

द्वितीय, ब्रिटिश सरकार का एक प्रमुख उद्देश्य यह था कि वह एशिया एवं अफ्रीका में–

(i) अमूल्य भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा सुनिश्चित करे।

(ii) ब्रिटेन के वाणिज्यिक एवं आर्थिक हितों का विस्तार करे। तथा

(iii) ब्रिटेन की प्रतिद्वंद्वी अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों से अपने उपनिवेशों तथा अपने हितों की रक्षा करे तथा उन्हें अक्षुण्ण बनाये रखे।

इन उद्देश्यों के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों ने भारत के सीमाक्षेत्र से बाहर अनेक विजयें कीं तथा अपने साम्राज्य का विस्तार किया किंतु इस क्रम में उसकी तत्कालीन अन्य साम्राज्यवादी ताकतों यथा-रूस एवं फ्रांस से झड़पें भी हुईं।

जबकि, इन सभी कार्यों में ब्रिटेन के स्वार्थों की पूर्ति हो रही थी, भारत के धन को अंधाधुंध तरीके से व्यय किया जा रहा था एवं भारतीयों का खून बह रहा था।

(भारत के विभिन्न पड़ोसियों के साथ ब्रिटिश संबंधों का सर्वेक्षण 'भारत में ब्रिटिश विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण' नामक अध्याय में किया गया है)

प्रमुख विचार

समस्त अनुभव हमें यह शिक्षा देता है कि जहां भी एक प्रभावी जाति, एक अन्य जाति पर राज करती है तो सरकार का मृदुतम स्वरूप भी निरंकुशता होता है।

सर चार्ल्स वुड (1859-66 तक भारत सचिव)

मनोनयन, प्रतिनिधित्व एवं चुनाव जैसी व्यवस्थायें, भारतीयों को साम्राज्यवादी शासन का अंत करने के लिये, सूचीबद्ध करने जैसी हैं।

अनिल सील

उत्तर-पश्चिम एवं पंजाब में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मध्य मतभेद बढ़ने की खबरें सुनकर मुझे खेद हुआ है। लेकिन दोनों के मध्य एकता होनी चाहिये या मतभेद, यह तय करना अत्यंत कठिन है। वैसे यदि एकता होगी तो यह ब्रिटिश साम्राज्य के लिये खतरनाक होगा और यदि मतभेद होंगे तो अंग्रेजों को शासन करने में मुश्किलें आयेंगी

क्योंकि सांप्रदायिक दंगे जैसी घटनायें होंगी। फिर भी यदि उपनिवेशवादी हितों के मद्देनजर सोचा जाये तो हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य मतभेद होना ही अंग्रेजों के लिये अधिक लाभप्रद होगा।

हैमिल्टन (भारत सचिव, 1897)

हमसे कहा गया कि अंग्रेज साम्राज्यवादी प्रजाति के हैं तथा हम पर शासन करना उनका ईश्वर प्रदत्त अधिकार है, यदि हमने उनका विरोध किया तो वे अपनी साम्राज्यवादी प्रजाति के शेर जैसे गुणों को दिखाना प्रारंभ कर देंगे।

जवाहरलाल नेहरू

अंग्रेजों को भारतीय रजवाड़ों की आवश्यकता थी और रजवाड़ों को अंग्रेजों की; लेकिन एक राष्ट्र के रूप में भारत को न तो अंग्रेजों की जरूरत थी और न ही रजवाड़ों की।

एफ.जी.हचिन्स

सारांश

- **प्रशासनिक नीतियां**
  बांटो एवं राज करो की नीति।
  शिक्षित भारतीयों के प्रति द्वेष।
  प्रतिक्रियावादी समूहों को राष्ट्रवादियों के विरुद्ध खड़ा करने का निर्णय।
  सामाजिक सुधारों से समर्थन वापस लेने का निर्णय।
  सामाजिक सेवाओं की उपेक्षा।
  अपर्याप्त तथा अधूरे मन से कुछ श्रमिक कानूनों का निर्माण।
  प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध।
  रंगभेद की नीति।
- **ब्रिटिश सामाजिक एवं सांस्कृतिक नीतियां**
  1813 तक–अहस्तक्षेप की नीति
  1813 के पश्चात्–अंतरराष्ट्रीय कारकों–औद्योगिक क्रांति, बौद्धिक क्रांति और फ्रांसीसी क्रांति–के कारण, भारतीय समाज को परिवर्तित करने के लिए कदम उठाए गए।
- **प्रमुख विचारधाराएं**
  रूढ़िवादी
  संरक्षणवादी साम्राज्यवादी
- **विदेश नीति**
  ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा तथा उसके हितों के पक्षपोषण हेतु प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं को लांघने का निर्णय।
  अन्य यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों को दूर रखना।
  ब्रिटेन के आर्थिक व व्यापारिक हितों को प्रोत्साहित करना।

अध्याय 28

भारत में ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव

भारत में प्रारंभिक आक्रमणकारियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों में मुख्य अंतर यह था कि अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रारंभिक आक्रमणकारी ने न ही भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना में परिवर्तन किया और न ही धन की निरंतर निकासी का सिद्धांत अपनाया। भारत में ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था, उपनिवेशी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित हो गयी तथा भारतीय अर्थव्यवस्था की सभी नीतियां एवं कार्यक्रम उपनिवेशी हितों के अनुरूप बनने लगे।

अनौद्योगीकरण-भारतीय हस्तशिल्प का ह्रास

एकतरफा मुक्त व्यापार

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत से व्यापार करने की छूट मिलने के फलस्वरूप, भारतीय बाजार सस्ते एवं मशीन-निर्मित आयात से भर गया। दूसरी ओर, भारतीय उत्पादों के लिये यूरोपीय बाजारों में प्रवेश करना अत्यंत कठिन हो गया। 1820 के पश्चात तो यूरोपीय बाजार भारतीय उत्पादों के लिये लगभग बंद ही हो गये। भारत में रेलवे के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों तक पहुंचने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारत एक सम्पूर्ण निर्यातक से सम्पूर्ण आयातक देश बन गया।

आधुनिक औद्योगिकीकरण की दिशा में कोई प्रयास नहीं

भारत में परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास इसलिये नहीं हुआ कि यहां औद्योगीकरण या औद्योगिक क्रांति हुई। बल्कि यह ह्रास अंग्रेजी माल के भारतीय बाजारों में भर जाने से हुआ क्योंकि भारतीय हस्तशिल्प, अंग्रेजों के सस्ते माल का मुकाबला नहीं कर सका। लेकिन इस अवधि में यूरोप के अन्य देशों के परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग में भी गिरावट

आयी पर इसका कारण वहां कारखानों का विकसित होना था। यह वह समय था जहां एक ओर भारतीय हस्तशिल्प उद्योग तेजी से पतन की ओर अग्रसर था तथा वह अपनी समाप्ति के कगार पर पहुंच गया था, वहीं दूसरी ओर, इस काल में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति तेजी से अपने पैर जमा रही थी तथा देश का तेजी से औद्योगिकीकरण हो रहा था। इस समय भारतीय शिल्पकार एवं दस्तकार पर्याप्त संरक्षण के अभाव में विषम परिस्थितियों के दौर से गुजर रहे थे, वहीं नये पाश्चात्य अनुप्रयोगों तथा तकनीक ने उनके संकट को और गंभीर बना दिया।

गांवों की ओर गमन

अनौद्योगीकरण का एक और नकारात्मक प्रभाव था—भारत के अनेक शहरों का पतन तथा भारतीय शिल्पियों का गावों की ओर पलायन। अंग्रेजों की शोषणकारी तथा भेदभावमूलक नीतियों के कारण बहुत से भारतीय दस्तकारों ने अपने परंपरागत व्यवसाय को त्याग दिया तथा वे गांवों में जाकर खेती करने लगे। (उदाहरणार्थ-बंगाल में कंपनी शासन के दौरान दस्तकारों एवं शिल्पकारों को बहुत कम दरों पर काम करने तथा अपने उत्पाद अत्यंत कम मूल्यों पर बेचने हेतु विवश किया गया)। इससे भूमि पर दबाव बढ़ा। अंग्रेज सरकार की कृषि विरोधी नीतियों के कारण यह क्षेत्र पहले से ही संकटग्रस्त था और भूमि पर दबाव बढ़ने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था बिल्कुल चरमरा गयी।

कृषकों की बढ़ती दरिद्रता

ब्रिटिश सरकार की रुचि केवल लगान में वृद्धि करने तथा उसका अधिकाधिक हिस्सा प्राप्त करने में थी। इसी लालच की वजह से अंग्रेजों ने देश के कई हिस्सों में भूमि की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था लागू कर दी। इस व्यवस्था में सरकार की मांग तो स्थिर थी किंतु लगान जो जमींदार, किसान से लेता था वह परिवर्तशील था, अतएव कालांतर में लगान की दरों में अत्यधिक वृद्धि कर दी गयी। लगान अदा न करने पर किसानों को उनकी भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। इससे किसान भूमि पर अपने पुश्तैनी अधिकारों से हाथ धो बैठते थे। सरकार द्वारा जमीन की उर्वरता बढ़ाने के लिये अत्यंत कम धन खर्च किया जाता था। जमींदार, जिन्हें किसानों को भूमि से बेदखल करने का अधिकार था, अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते थे तथा लगान में अपने हिस्से को बढ़ाने के लिये किसानों को *बेगार* (बलपूर्वक कार्य) करने हेतु विवश करते थे। कृषि में अधिक धन लगाने हेतु सरकार की ओर से कृषकों को किसी तरह का प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। कृषकों पर लगान का बोझ अधिक हो जाने पर वे सूदखोरों से ऋण लेने पर बाध्य हो जाते थे। सूदखोर, जो अधिकांशतया गांव के अनाज व्यापारी होते थे, काफी ऊंची दरों पर किसानों को ऋण देते थे तथा ऋण चुकाने हेतु उन्हें अपने

उत्पाद (अनाज) को निम्न दरों पर बेचने हेतु मजबूर करते थे। इन शक्तिशाली सूदखोरों के प्रशासन एवं न्यायालय से अच्छे संबंध होते थे, जिसका उपयोग वे अपने विरुद्ध होने वाले मुकद्दमों के लिये करते थे।

इस प्रकार किसानों के ऊपर सरकार, जमींदार एवं सूदखोरों का तिहरा बोझ होता था। अकाल एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं के समय कृषकों की समस्यायें और भी बढ़ जाती थीं। अतः ब्रिटिश शासन की नीतियों से भारतीय कृषि पर अत्यंत नकारात्मक प्रभाव पड़ा तथा कृषकों की दरिद्रता अत्यंत बढ़ गयी।

पुराने जमीदारों की तबाही तथा बिचौलियों का उदय

वर्ष 1815 के अंत तक बंगाल की कुल भूमि का लगभग 50 प्रतिशत दूसरे हाथों में स्थानांतरित किया जा चुका था। इन नये हाथों में भूमि के जाने से जमींदारों के एक नये वर्ग का उदय हुआ तथा नये भू-संबंधों का विकास हुआ। जमींदारों के इस नये वर्ग के पास सीमित शक्तियां एवं अत्यल्प संसाधन थे तथा भूमि पर कब्जे के कारण यह वर्ग अस्तित्व में आया था। लगान व्यवस्था में बिचौलियों के बढ़ने से प्रत्यक्ष जमींदारी का लोप हो गया तथा किसानों पर बोझ और ज्यादा बढ़ गया। भूमि की मांग बढ़ने से इसकी कीमतों में वृद्धि हुई तथा किसानों की क्रय शक्ति से यह और दूर होने लगी। जमींदारों एवं किसानों के मध्य कोई परंपरागत समझौता न होने से इन जमींदारों ने कृषि के विकास के लिये न किसी प्रकार का निवेश किया और न ही इस कार्य में कोई रुचि ली। इन जमींदारों का हित ब्रिटिश शासन के चलते रहने में ही था और इसीलिये इन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अंग्रेजों का साथ दिया।

कृषि की बिगड़ती दशा एवं गतिरोध

कृषकों के पास न ही कृषि के साधन थे और न ही कृषि में निवेश करने के लिये धन। जमींदारों का गांवों से कोई संबंध नहीं था तथा सरकार द्वारा कृषि तकनीक एवं कृषि से संबंधित शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला धन अत्यल्प था। इन सभी कारणों से भारतीय कृषि का धीरे-धीरे पतन होने लगा तथा उसकी उत्पादकता बहुत कम हो गयी।

अकाल एवं निर्धनता

निरंतर अकालों का आना भारत के दैनंदिन जीवन के लिए आम बात बन गई। ये अकाल न केवल खाद्यान्न की कमी के कारण आते थे, अपितु ये भारत में औपनिवेशिक बलों द्वारा शोषण के कारण उत्पन्न गरीबी का प्रत्यक्ष परिणाम थे। 1850 से 1900 के बीच, लगभग 2.8 करोड़ लोग अकाल में मारे गए।

भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय कृषि में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, वह था कृषि का वाणिज्यीकरण। इस समय तक कृषि जीवनयापन का एक मार्ग थी, न कि व्यापारिक प्रयत्न। अब कृषि पर वाणिज्यिक प्रभाव आने लगा। अब कुछ विशेष फसलों का उत्पादन राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय बाजार के लिये होने लगा न कि ग्रामीण उपयोग के लिये। मूंगफली, गन्ना, पटसन, कपास, तिलहन, तंबाकू, मसालों, फलों तथा सब्जियों जैसी वाणिज्यिक फसलों का उत्पादन बढ़ गया क्योंकि ये फसलें अब अन्न के स्थान पर अधिक लाभदायक सिद्ध होने लगीं थीं। संभवतः बागान उद्योगों यथा-चाय, काफी, रबर एवं नील इत्यादि में तो कृषि का वाणिज्यीकरण अपने चरमोत्कर्ष में पहुंच गया। इन बागान उद्योगों का स्वामित्व—लगभग यूरोपियों के हाथों में था तथा इनके उत्पाद मुख्यतया अंतरराष्ट्रीय बाजार में बेचने के उद्देश्य से ही तैयार किये जाते थे।

वाणिज्यीकरण और विशेषीकरण की इस प्रक्रिया को कई कारणों ने प्रोत्साहित किया। जैसे मुद्रा अर्थव्यवस्था का प्रसार, रूढ़ि और परंपरा के स्थान पर संविदा और प्रतियोगिता, एकीकृत राष्ट्रीय बाजार का अभ्युदय, देशी एवं विदेशी व्यापार में वृद्धि, रेलवे एवं सड़क संचार साधनों से राष्ट्रीय मंडी का विकास एवं अंग्रेजी पूंजी के आगमन से विदेशी व्यापार में वृद्धि इत्यादि।

भारतीय कृषकों के लिये कृषि का वाणिज्यीकरण एक विवशता थी। भूमि कर अत्यधिक होने से उसे अदा कर पाने में वह असमर्थ था। फलतः उसे साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था, जिनकी ब्याज दरें काफी अधिक होती थीं। इस ब्याज को चुकाने के लिये उसे अपने उत्पाद को काफी कम मूल्य पर बेचना पड़ता था। कई बार तो उसे अपने ही अनाज को साहूकार के यहां बेचकर आवश्यकता पड़ने पर दुगने मूल्य पर खरीदना पड़ जाता था। कृषि का वाणिज्यीकरण होने से भारतीय कृषि मूल्यों पर विदेशी उतार-चढ़ाव का प्रभाव भी पड़ने लगा। उदाहरणार्थ-1860 के पश्चात—कपास के मूल्यों में जो वृद्धि हुई, उससे बिचौलियों को काफी लाभ प्राप्त हुआ, जबकि कृषकों को इसका कोई लाभ नहीं मिला। इसी प्रकार 1866 में जब मंदी आयी तो इसकी मार किसानों पर पड़ी, जिसके फलस्वरूप गावों में किसान ऋण के बोझ में और दब गये, उनकी जमीनें नीलाम हो गयीं, उन्हें अकाल का सामना करना पड़ा तथा दक्षिण भारत में व्यापक पैमाने पर किसान आंदोलन हुए। इस प्रकार, कृषि के वाणिज्यीकरण से न तो कृषकों को कोई लाभ हुआ और न ही कृषि उत्पादन में कोई वृद्धि हुई।

आधुनिक उद्योगों का विकास

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में बड़े पैमाने पर आधुनिक उद्योगों की स्थापना की गयी, जिसके फलस्वरूप देश में मशीनी युग प्रारंभ हुआ। भारत में पहली सूती वस्त्र मिल 1853 में कावसजी नानाभाई ने बंबई में स्थापित की। इसी प्रकार भारत की पहली जूट मिल 1855 में रिशरा (बंगाल) में स्थापित की गयी। लेकिन इस समय तक अधिकांश आधुनिक उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबंधन विदेशियों के हाथों में ही था।

भारत में मुनाफे की व्यापक संभावनायें, सस्ते श्रम की उपलब्धता, कच्चे एवं तैयार माल की उपलब्धता, भारत एवं उसके पड़ोसी देशों के बाजारों की उपलब्धता, पूंजी निवेश की अनुकूल दशायें, नौकरशाही द्वारा उद्योगपतियों को समर्थन देने की दृढ़ इच्छाशक्ति तथा कुछ वस्तुओं जैसे-चाय, जूट एवं मैंगनीज के आयात के लाभप्रद अवसरों के कारण भारत में तेजी से विदेशी पूंजी का प्रवाह हुआ।

भारत में देशी स्वामित्व वाले मुख्य क्षेत्र थे—सूती वस्त्र एवं जूट मिलें, जो 19वीं शताब्दी में अस्तित्व में आयीं, जबकि 20वीं शताब्दी में चीनी, सीमेंट इत्यादि क्षेत्रों में भारतीय स्वामित्व वाले उद्योग स्थापित किये गये। लेकिन इस अवधि में भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों के समक्ष अनेक समस्यायें थीं। जैसे—साख की समस्या, सरकार द्वारा प्रशुल्क संरक्षण का अभाव, विदेशी उद्योगों से असमान प्रतिस्पर्धा तथा ब्रिटिश उद्योगपतियों का दृढ़ विरोध—जो कि वित्तीय एवं तकनीकी संरचना के क्षेत्र में अत्यधिक समृद्ध थे।

उपनिवेशी कारकों ने भी कुछ संरचनात्मक एवं संस्थात्मक परिवर्तन किये। भारत में औद्योगीकरण की इस प्रक्रिया में कुछ प्रमुख उद्योगों का तेजी से विकास हुआ, लेकिन कुछ अन्य क्षेत्र उपेक्षित रह गये। इसी प्रकार उद्योगों की स्थापना में भी देश के कुछ प्रमुख क्षेत्रों को ज्यादा महत्व दिया गया, जबकि अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा की गयी। इससे क्षेत्रीय असमानता में वृद्धि हुई। क्षेत्रीय असमानता के कारण राष्ट्रीय अखंडता को धक्का लगा। तकनीकी शिक्षा को संरक्षण न दिये जाने के कारण उद्योगों को तकनीकी रूप से दक्ष मानवशक्ति के अभाव का सामना करना पड़ा। सामाजिक तौर पर, एक औद्योगिक पूंजीवादी वर्ग तथा एक श्रमिक वर्ग का अभ्युदय इस चरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का उदय

भारतीय व्यापारियों, बैंकरों तथा साहूकारों ने भारत में छोटे सहयोगी के रूप में अंग्रेजी व्यापारियों के वित्त से काफी धन कमाया था। अंग्रेजों की साम्राज्यीय शोषण की नीति में उनकी भूमिका ठीक बैठती थी। भारतीय साहूकारों ने ऋण के बोझ से दबे किसानों को ऋण दिये और सरकार के भू-राजस्व संग्रहण में सहायता की। इसी प्रकार भारतीय

व्यापारियों ने अंग्रेजी माल को भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों में पहुंचाया तथा भारतीय कृषि उत्पादों के निर्यात के आंदोलन में मदद की। किंतु इस साम्राज्यीय व्यवस्था से स्वस्थ और स्वतंत्र औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के विकास में रुकावट आयी तथा इसका विकास जापान तथा जर्मनी जैसे स्वतंत्र देशों से भिन्न था।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की राष्ट्रवादी आलोचना

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुद्धिजीवियों ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका मानना था कि अंग्रेज सरकार अत्याधुनिक तकनीक एवं पूंजीवादी आर्थिक संगठन द्वारा देश का आधुनिकीकरण कर रही है। लेकिन 1860 के पश्चात् भारतीयों में राजनीतिक चेतना का तेजी से प्रसार हुआ तथा ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का वास्तविक स्वरूप उनके सम्मुख अनावृत होने लगा।

भारत के कुछ राष्ट्रवादी नेताओं ने भी इसी समय साम्राज्यवादी सरकार की आर्थिक शोषण की नीतियों को सार्वजनिक किया तथा लोगों के सामने यह स्पष्ट किया कि अंग्रेज सरकार एक सुविचारित योजना के तहत भारत को लूटने की प्रक्रिया में संलग्न है। इन राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों में दादा भाई नौरोजी 'ग्रांड ओल्ड मैन आफ इंडिया' का नाम सबसे प्रमुख है। सर्वप्रथम इन्होंने ही ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का विश्लेषण किया तथा अपनी पुस्तक *पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया* में धन के निकास का सिद्धांत प्रस्तुत किया। दादा भाई नौरोजी के अतिरिक्त जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे, रोमेश चंद्र दत्त (द इकनॉमिक हिस्ट्री आफ इंडिया), गोपाल कृष्ण गोखले, जी सुब्रह्मण्यम अय्यर तथा पृथ्वीशचंद्र राय भी भारत के प्रमुख आर्थिक विश्लेषकों में से थे। इन राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने अपने अध्ययनों से यह सिद्ध किया कि किस प्रकार अनाज एवं कच्चे माल के रूप में भारत का धन इंग्लैण्ड भेजा जाता है, और फिर किस प्रकार वह विनिर्मित उत्पादों का रूप लेकर भारतीय बाजार पर कब्जा करता है। इनके अनुसार, भारतीय धन इंग्लैण्ड पहुंचकर वापस भारत आता है तथा पुनः उसे यहां पूंजी के रूप में लगा दिया जाता है। इस प्रकार देश के शोषण का दुष्चक्र बन चुका है। इन प्रारंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने सरकार के इस अन्यायपूर्ण शोषण के विरुद्ध भारतीय बुद्धजीवियों को संगठित करने का प्रयत्न किया तथा भारतीय अर्थव्यवस्था को उपनिवेशी दासता से विमुक्त करने की मांग उठायी। इन्होंने सरकार से मांग की कि भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप भारतीय हितों के अनुरूप तय किया जाये, जिससे देश का समग्र एवं आधुनिक ढंग से विकास हो सके। इन राष्ट्रवादियों का मत था कि भारतीय अर्थव्यवस्था को स्वतंत्र रूप से विकसित किया जाना चाहिए।

आर्थिक निकास

भारतीय उत्पाद का वह हिस्सा, जो जनता के उपभोग के लिये उपलब्ध नहीं था तथा राजनीतिक कारणों से जिसका प्रवाह इंग्लैण्ड की ओर हो रहा था, जिसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था, उसे 'आर्थिक निकास' की संज्ञा दी गयी। दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक *पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया* में सर्वप्रथम आर्थिक निकास की अवधारणा प्रस्तुत की। आर्थिक निकास के प्रमुख तत्व थे-अंग्रेज प्रशासनिक एवं सैनिक अधिकारियों के वेतन एवं भत्ते, भारत द्वारा विदेशों से लिये गये ऋणों के ब्याज, नागरिक एवं सैन्य विभाग के लिये ब्रिटेन के भंडारों से खरीदी गयी वस्तुयें, नौवहन कंपनियों को की गयी अदायगी तथा विदेशी बैंकों तथा बीमा कंपनियों को दिया गया धन, गृह-व्यय एवं ईस्ट इंडिया कंपनी के भागीदारों का लाभांश।

भारतीय धन के इंग्लैण्ड को निकास से देश में पूंजी का निर्माण एवं संग्रहण नहीं हो सका, जबकि इसी धन से इंग्लैण्ड में औद्योगिक विकास के साधन तथा गति बहुत बढ़ गयी। ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को, इस धन से जो लाभांश प्राप्त होता था, उसे पुनः पूंजी के रूप में भारत में लगा दिया जाता था और इस प्रकार भारत का शोषण निरंतर बढ़ता जाता था। इस धन के निकास से भारत में रोजगार तथा आय की संभावनाओं पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

ब्रिटिश नीतियों ने भारत को निर्धन बनाया

इन प्रारंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार, ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों के कारण भारत निर्धन से और निर्धन बनता जा रहा है। भारत की निर्धनता मानव-निर्मित है तथा इसका स्पष्टीकरण करके इसे दूर किया जा सकता है। इस निर्धनता के कारण पूंजी का संचय एवं निर्माण नहीं हो रहा है तथा लोगों का जीवन स्तर बहुत निम्न हो गया है। इस प्रकार, इन्होंने निर्धनता को एक राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया। इससे समाज के सभी वर्ग के लोगों को यह सोचने पर विवश होना पड़ा कि उनकी समस्त आर्थिक समस्यायें, उपनिवेशी शासन की देन हैं।

भारत के इन प्रारंभिक राष्ट्रवादी चिंतकों ने भारत के औद्योगीकरण और विकास का भी तुलनात्मक अध्ययन किया। तत्पश्चात उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत का औद्योगीकरण भारतीय धन पर ही आधारित है, न कि ब्रिटेन के धन पर। इसकी व्याख्या करते हुये उन्होंने बताया कि जो धन भारत से बाहर जाता है, उसी धन को ब्रिटिश उद्योगपति पुनः यहां लगा देते हैं, और उसी से मुनाफा कमाते हैं। इस प्रकार भारत का जो तथाकथित औद्योगीकरण हो रहा है, उसका आधार भारतीय धन एवं संसाधन ही हैं न कि विदेशी धन। इस प्रक्रिया में भारत का धन निरंतर इंग्लैण्ड की ओर प्रवाहित हो रहा है तथा इससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर इंग्लैण्ड की पकड़ दिनोंदिन मजबूत होती जा रही है। इन आलोचकों के अनुसार, भारत में विदेशी पूंजी निवेश के प्रभाव अत्यंत घातक हैं क्योंकि इससे राजनीतिक वशीकरण तथा विदेशी

निवेशकों के हितों का पक्षपोषण होता है तथा भारत में विदेशी शासन की निरंतरता को गति मिलती है।

व्यापार और रेल की प्रगति ने ब्रिटेन को लाभ पहुंचाया

इन राष्ट्रवादी आलोचकों ने ब्रिटिश सरकार के इस वक्तव्य का तर्कपूर्ण खंडन किया कि भारत में विदेशी व्यापार के विकास एवं रेलवे की स्थापना से देश की प्रगति हुई है। उन्होंने तर्क दिया कि भारत का विदेशी व्यापार देश के बिल्कुल प्रतिकूल है। इस व्यापार ने भारत को कृषिगत वस्तुओं एवं कच्चे माल का निर्यातक तथा तैयार माल का आयातक बना दिया है। इन आलोचकों ने तर्क दिया कि अंग्रेजों ने रेलवे का विकास अपने वाणिज्यिक हितों को पूरा करने के उद्देश्य से किया है न कि भारत को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के लिये। रेलवे के विकास से भारत की औद्योगिक आवश्यकताओं में समन्वय भी नहीं हो पा रहा है। अंग्रेजों द्वारा रेलवे के विकास का उद्देश्य, भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों से कच्चे माल का दोहन एवं विनिर्मित सामान को उन क्षेत्रों में पहुंचाने की अभिलाषा है। इससे भी अधिक इस्पात उद्योग को बढ़ाने एवं मशीनीकरण करने का कार्य भी उपनिवेशी हितों को ध्यान में रखकर किया गया है। जी.बी. जोशी ने तर्क दिया ''रेलवे के विकास को, ब्रिटेन के उद्योगों द्वारा भारत के दिये गये अनुदान के रूप में देखा जाना चाहिए''।

एकमार्गी मुक्त व्यापार और प्रशुल्क नीति

राष्ट्रवादी आलोचकों ने अंग्रेजों पर आरोप लगाया कि उनके द्वारा अपनायी गयी एकमार्गी व्यापार नीतियां, भारत के हस्तशिल्प उद्योग का सर्वनाश कर रही हैं तथा इससे अपरिपक्व, असमान एवं भेदभावपूर्ण प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हो रही है। वित्तीय क्षेत्र में दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि कर के अत्यधिक बोझ से गरीब दबा हुआ है तथा ब्रिटिश पूंजीपति एवं नौकरशाह मालामाल हो रहे हैं। उन्होंने, भू-राजस्व में कमी करने, नमक कर का उन्मूलन करने, उच्च मध्यवर्गीय लोगों पर आयकर लगाने तथा इस वर्ग द्वारा उपभोग की जा रही वस्तुओं पर उत्पाद कर आरोपित करने की मांग सरकार से की। इन आलोचकों ने तर्क दिया कि सरकारी व्यय का उद्देश्य उपनिवेशी हितों की पूर्ति करना है, जबकि विकास एवं कल्याण जैसे मुद्दे बिल्कुल उपेक्षित कर दिये गये हैं।

आर्थिक निकास के प्रभाव

इन विद्वानों ने विदेशी पूंजी के दुरुपयोग और कम उपयोग की ओर संकेत किया और यह स्पष्ट किया कि उपनिवेशी शासन जानबूझकर देश को कम विकास की ओर ले जा रहा है। राष्ट्रवादी अनुमानों के अनुसार, उस समय देश से आर्थिक निकास निम्नानुसार था–

- देश के कुल भू-राजस्व से अधिक। या
- कुल सरकारी राजस्व का आधा। या
- कुछ बचत का एक-तिहाई। (वर्तमान समय के अनुसार यह कुल राष्ट्रीय उत्पाद का लगभग 8 प्रतिशत था)।

निकास का सिद्धांत-जिसके अनुसार एक देश, दूसरे देश का धन अपने यहां ले जाता है, एक कृषि प्रधान देश के लिये अत्यंत कष्टकारी है, क्योंकि ऐसे देश में कृषक के लिये यह उसके रोज के अनुभव की विषय-वस्तु बन जाती है।

आर्थिक मामलों ने राष्ट्रीय असंतोष को उग्र बनाया

इन राष्ट्रवादी विद्वानों द्वारा आर्थिक निकास का सिद्धांत प्रस्तुत करने से देश के समक्ष साम्राज्यवादी शासकों की वास्तविक मंशा उजागर हो गयी तथा इस धारणा का खोखलापन सार्वजनिक हो गया कि विदेशी शासन, भारत के हित में है। इस प्रकार इस मिथक की नैतिक अवधारणा का पर्दाफाश हो गया। इस सिद्धांत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत निर्धन है क्योंकि वह उपनिवेशी हितों के अनुरूप शासित किया जा रहा है। इन विद्वानों का यह आंदोलन, अंग्रेजी शासन को एक प्रकार की चुनौती तथा राष्ट्रीय आंदोलन के उदारवादी काल (1885-1905) में राष्ट्रीय चेतना का प्रसार था। यह काल राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का शैशवकाल था।

19वीं शताब्दी के अंत तक राष्ट्रवादियों ने यह मांग प्रारंभ कर दी थी कि उन्हें राजनीतिक शक्तियों में हिस्सेदारी तथा कुछ अन्य अधिकार दिये जायें। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में उन्होंने इंग्लैण्ड या अन्य राष्ट्रों की तरह स्वशासन की मांग कर दी। इन राष्ट्रवादियों में दादाभाई नौरोजी अग्रगण्य थे।

प्रमुख विचार

कंपनी के पदाधिकारी, भारतीय बुनकरों से जो धूर्तता बरतते हैं वह सोच से भी परे है।

विलियम बोल्ट्स

भारत की अवस्था बहुत बुरी है। उसकी अवस्था एक स्वामी व दास जैसी नहीं अपितु उससे भी गिरी हुई है। यह एक ऐसे लुटे हुये राष्ट्र की अवस्था है, जहां लुटेरा साफ लूट रहा है और फिर साफ बचकर निकल जाता है।

दादा भाई नौरोजी

आत्मा और बुद्धि का चातुर्य, जो प्रकृति सभी देशों को देती है, भारत के लिये एक खोया हुआ कोष है। इसलिये प्रशासन की आधुनिक प्रणाली के अधीन भारतीय जाति का तीन रूपों में ह्रास हो रहा है।

दादा भाई नौराजी

इस दुर्दशा का व्यापार के इतिहास में कोई दूसरा जोड़ नहीं है। भारतीय बुनकरों की हड्डियां भारत के मैदानों में बिखरी पड़ी हैं।

विलियम बैंटिक

सूरत, मुर्शिदाबाद, ढाका और अन्य स्थानों, जहां भारतीय शिल्पकार रहते थे की बर्बादी और सर्वनाश इतना अधिक दर्दनाक तथ्य है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। मैं इसे व्यापार का न्यायपूर्ण तरीका नहीं मानता। मेरे विचार में यह निर्बल पर सबल का बल प्रयोग है।

मांटगोमरी मार्टिन (प्रसिद्ध इतिहासकार)

सारा बंगाल एक जंगल में बदल गया है, जिसमें केवल वनचर ही रहते हैं।

लार्ड कार्नवालिस (भारी करों के दुष्परिणाम के संबंध में)

यह आर्थिक नियमों का निर्दयतापूर्ण अभियान नहीं है अपितु यह ब्रिटिश नीतियों की विवेकरहित एवं निर्दयतापूर्ण कार्यवाही है। यह भारतीय संसाधनों का भारत में ही निर्दयतापूर्ण भक्षण है तथा और आगे यह भारतीय धन का इंग्लैण्ड को निर्दयतापूर्ण निकास है। यह भारतीयों की निर्दयतापूर्ण हत्या है तथा यह भारत के सर्वनाश की तैयारी है।

दादाभाई नौरोजी

भारत से इंग्लैण्ड को धन का निकास एक भारतीय कवि की उपमा के समान था, जिसमें एक राजा का अपनी प्रजा से अधिक धन ग्रहण करना सूरज द्वारा पृथ्वी से उस पानी को प्राप्त करने के समान होता है, जो वह वर्षा के रूप में उसे पुनः भूमि को दे देता है। परंतु यहां तो सूरज, पानी भारत से ग्रहण करता है और वर्षा इंग्लैण्ड में करता है।

आर.सी. दत्त

हमारी प्रणाली एक ऐसे स्पंज के रूप में काम करती है, जो गंगा के किनारों से प्रत्येक अच्छी वस्तु सोख लेती है तथा उसे फिर टेम्स के किनारे निचोड़ देती है।

जॉन सुलीवन (प्रेसीडेंट, बोर्ड आफ रेवेन्यू-मद्रास)

भारत और इंग्लैंड के आर्थिक हित प्रत्येक क्षेत्र में टकराते हैं।

जवाहरलाल नेहरू

अलग-थलग रहने वाले आत्मनिर्भर गांवों के कवच को इस्पात की रेल ने बेध दिया तथा उनकी प्राण शक्ति को छीन लिया।

डी.एच.बुकानन

रेलवे की स्थापना से भारत को सामाजिक और व्यावसायिक लाभ होंगे जिनकी गणना नहीं की जा सकती।....इंग्लैण्ड में रुई की मांग में निरंतर वृद्धि हो रही है, इसे दूर के खेतों से बंदरगाहों तक ले जाने के लिये समुचित साधन उपलब्ध हों तो पर्याप्त मात्रा में अच्छे किस्म की रुई प्राप्त की जा सकती है।....भारत के दूरस्थ बाजारों में भी ब्रिटिश माल की मांग बढ़ रही है।

लार्ड डलहौजी

सारांश

- **ब्रिटिश शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव**
  अनौद्योगीकरण–भारतीय हस्तशिल्प का ह्रास
  कृषकों की बढ़ती हुई दरिद्रता
  पुराने जमींदारों की तबाही तथा नयीं जमीदारीं व्यवस्था का उदय
  कृषि में स्थिरता एवं बर्बादी
  भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण
  आधुनिक उद्योगों का विकास
  राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का उदय
  आर्थिक निकास
  अकाल एवं गरीबी
- **औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की राष्ट्रवादी आलोचना**
  औपनिवेशिक शोषण के कारण ही भारत दिनोंदिन निर्धन होता जा रहा है, गरीबी की समस्या एवं निर्धनता में वृद्धि।
  औद्योगिकीकरण का विदेशी हितों के अनुरूप होना। इसे भारतीय हितों के अनुरूप होना चाहिए।
  ब्रिटिश शासन की व्यापार, वित्त, आधारभूत विकास तथा व्यय की नीतियां साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप हैं।
  भारतीय शोषण को रोकने एवं भारत की स्वतंत्रता अर्थव्यवस्था को विकसित करने की मांग।
  रेलवे का विकास अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक लाभ के लिये किया है, न कि भारत के विकास के लिये।

अध्याय-29

भारत में प्रेस का विकास

भारत का पहला समाचार-पत्र जेम्स आगस्टस हिक्की ने 1780 में प्रकाशित किया, जिसका नाम था *द बंगाल गजट* या *कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर*। किंतु सरकार के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाने के कारण 1872 में इसका मुद्रणालय जब्त कर लिया गया। तदन्तर कई और समाचार-पत्रों/जर्नलों का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। यथा-*द बंगाल जर्नल, कलकत्ता क्रॉनिकल, मद्रास कुरियर* तथा *बाम्बे हैराल्ड* इत्यादि। अंग्रेजी हुकूमत के अधिकारी इस बात से भयभीत थे कि यदि ये समाचार-पत्र लंदन पहुंच गये तो उनके काले कारनामों का भंडाफोड़ हो जायेगा। इसलिये उन्होंने प्रेस के प्रति दमन की नीति अपनाने का निश्चय किया।

प्रारंभिक विनियमन

समाचार-पत्रों का पत्रेक्षण अधिनियम, 1799

फ्रांसीसी आक्रमण के भय से लार्ड वेलेजली ने इसे लागू किया तथा सभी समाचार-पत्रों पर सेंसर लगा दिया। इस अधिनियम द्वारा सभी समाचार-पत्रों के लिये आवश्यक कर दिया गया कि वो अपने स्वामी, संपादक और मुद्रक का नाम स्पष्ट रूप से समाचार-पत्र में अंकित करें। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों को प्रकाशन के पूर्व सरकार के सचिव के पास पूर्व-पत्रेक्षण (Pre-censorship) के लिये समाचार-पत्रों को भेजना अनिवार्य बना दिया गया।

लार्ड हेस्टिंग्स के उदारवादी और प्रगतिशील रवैये के कारण इन नियमों में ढील दे दी गयी। 1818 में समाचार-पत्रों का पूर्व-पत्रेक्षण बंद कर दिया गया।

अनुज्ञप्ति नियम, 1823

प्रतिक्रियावादी गवर्नर-जनरल जॉन एडम्स ने 1823 में इन नियमों को आरोपित किया। इस नियम के अनुसार, बिना अनुज्ञप्ति लिये प्रेस की स्थापना या उसका उपयोग दंडनीय

अपराध माना गया। ये नियम, मुख्यतया उन समाचार-पत्रों के विरुद्ध आरोपित किये गये थे, जो या तो भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होते थे या जिनके स्वामी भारतीय थे। इस नियम द्वारा राजा राममोहन राय की पत्रिका *मिरात-उल-अखबार* का प्रकाशन बंद करना पड़ा।

प्रेस अधिनियम या मेटकॉफ अधिनियम, 1835

कार्यवाहक गवर्नर-जनरल चार्ल्स मेटकॉफ ने भारतीय प्रेस के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया तथा 1823 के कुत्सित अनुज्ञप्ति नियमों को रद्द कर दिया। इस प्रयास के कारण मेटकॉफ को 'भारतीय समाचार-पत्रों के मुक्तिदाता' की संज्ञा दी गयी।

1835 के इस नये प्रेस अधिनियम के अनुसार, प्रकाशक या मुद्रक को केवल प्रकाशन के स्थान की निश्चित सूचना ही सरकार को देनी थी और वह आसानी से अपना कार्य कर सकता था। यह कानून 1856 तक चलता रहा तथा इस अवधि में देश में समाचार-पत्रों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

अनुज्ञप्ति अधिनियम, 1857

1857 के विद्रोह से उत्पन्न हुई आपातकालीन स्थिति से निपटने के लिये 1857 के अनुज्ञप्ति अधिनियम से अनुज्ञप्ति व्यवस्था पुनः लागू कर दी गयी। इस अधिनियम के तहत बिना अनुज्ञप्ति के मुद्रणालय रखना और उसका प्रयोग करना अवैध घोषित कर दिया गया। सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह किसी समाचार-पत्र को किसी समय अनुज्ञप्ति दे सकती थी या उसकी अनुज्ञप्ति को रद्द कर सकती थी। अधिनियम द्वारा सरकार को यह अधिकार भी दिया गया कि वह समाचार-पत्र के साथ ही किसी पुस्तक, पत्रिका, जर्नल या अन्य प्रकाशित सामग्री पर प्रतिबंध लगा सकती थी। यद्यपि यह एक संकटकालीन अधिनियम था तथा इसकी अवधि केवल एक वर्ष थी।

पंजीकरण अधिनियम, 1867

इस अधिनियम द्वारा मैटकॉफ के अधिनियम को परिवर्तित कर दिया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य, प्रेस एवं समाचार-पत्रों पर प्रतिबंध लगाना नहीं, अपितु उन्हें नियमित करना था। अब यह आवश्यक बना दिया गया कि किसी भी मुद्रित सामग्री पर मुद्रक प्रकाशक तथा मुद्रण स्थान के नाम का उल्लेख करना अनिवार्य होगा। इसके अतिरिक्त प्रकाशन के एक माह के अंदर पुस्तक की एक निःशुल्क प्रति स्थानीय सरकार को देना आवश्यक था।

प्रेस की स्वतंत्रता को बचाने के लिये प्रारंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा किये गये प्रयास

19वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा का मुद्दा, जिनमें प्रेस की स्वतंत्रता का मुद्दा सबसे प्रमुख था, राष्ट्रवादियों के घोषणा-पत्र में सबसे प्रमुख स्थान बनाये हुये था। 1824 में राजा राममोहन राय ने उस अधिनियम की तीखी आलोचना की, जिसके द्वारा प्रेस पर प्रतिबंध लगाया गया था।

1870 से 1918 के मध्य राष्ट्रीय आंदोलन का प्रारंभिक चरण कुछ प्रमुख मुद्दों पर केंद्रित रहा। इन मुद्दों में भारतीयों को राजनीतिक मूल्यों से अवगत कराना, उनके मध्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना, राष्ट्रवादी विचारधारा का निर्माण एवं प्रसार, जनमानस को प्रभावित करना तथा उसमें उपनिवेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत करना, जन-प्रदर्शन या भारतीयों को जुझारू राष्ट्रवादी कार्यप्रणाली से अवगत कराना एवं उन्हें उस ओर मोड़ना प्रमुख थे। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रेस, राष्ट्रवादियों का सबसे उपयुक्त औजार साबित हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने प्रारंभिक दिनों से ही प्रेस को पूर्ण महत्व प्रदान किया तथा अपनी नीतियों एवं बैठकों में पारित किये गये प्रस्तावों को भारतीयों तक पहुंचाने में इसका सहारा लिया।

इन वर्षों में कई निर्भीक एवं प्रसिद्ध पत्रकारों के संरक्षण में अनेक नये समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इन समाचार-पत्रों में प्रमुख थे- *हिन्दू* एवं *स्वदेश मित्र* जी सुब्रह्मण्यम अय्यर के संरक्षण में, *द बंगाली* सुरेंद्रनाथ बनर्जी के संरक्षण में, वॉयस आफ इंडिया दादा भाई नौरोजी के संरक्षण में, *अमृत बाजार पत्रिका* शिशिर कुमार घोष एवं मोतीलाला घोष के संरक्षण में, *इंडियन मिरर* एन.एन. सेन के संरक्षण में, *केसरी* (मराठी में) एवं *मराठा* (अंग्रेजी में) बाल गंगाधर तिलक के संरक्षण में, *सुधारक* गोपाल गणेश अगरकर के संरक्षण में, तथा *हिन्दुस्तान* एवं *एडवोकेट* जी.पी. वर्मा के संरक्षण में। इस समय के अन्य प्रमुख समाचार-पत्रों में-*ट्रिब्यून* एवं *अखबार-ए-एम* पंजाब में, *गुजराती, इंदू प्रकाश ध्यान, प्रकाश* एवं *काल* बंबई में तथा *सोम प्रकाश, बंगनिवासी* एवं *साधारणी* बंगाल में उल्लेखनीय थे।

इन समाचार-पत्रों के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य, राष्ट्रीय एवं नागरिक सेवा की भावना थी न कि धन कमाना या व्यवसाय स्थापित करना। इनकी प्रसार संख्या काफी अधिक थी तथा इन्होंने पाठकों के मध्य व्यापक प्रभाव स्थापित कर लिया था। शीघ्र ही वाचनालयों (लाइब्रेरी) में इन समाचार-पत्रों की विशिष्ट छवि बन गयी। इन समाचार-पत्रों की पहुंच एवं प्रभाव सिर्फ शहरों एवं कस्बों तक ही नहीं था, अपितु ये देश के दूर-दूर के गावों तक पहुंचते थे, जहां पूरा का पूरा गांव स्थानीय वाचनालय (लाइब्रेरी) में इकट्ठा होकर इन समाचार-पत्रों में प्रकाशित खबरों को पढ़ता था एवं उस पर चर्चा करता था। इस परिप्रेक्ष्य में इन वाचनालयों में इन समाचार-पत्रों ने न केवल

भारतीयों को राजनीतिक रूप से शिक्षित किया अपितु उन्हें राजनीतिक भागीदारी हेतु भी प्रोत्साहित एवं विकसित किया। इन समाचार-पत्रों में सरकार की भेदभावपूर्ण एवं दमनकारी नीतियों की खुलकर आलोचना की जाती थी। वास्तव में इन समाचार-पत्रों ने सरकार के सम्मुख विपक्ष की भूमिका निभायी।

सरकार ने प्रेस के दमन के लिये विभिन्न कानूनों का सहारा लिया। उदाहरणार्थ— भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) की धारा-124ए के द्वारा सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे किसी भी व्यक्ति को, जो भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लोगों में असंतोष उत्पन्न कर रहा हो या उन्हें सरकार के विरुद्ध भड़का रहा हो, उसे गिरफ्तार कर सरकार तीन वर्ष के लिये कारावास में डाल सकती है या देश से निर्वासित कर सकती है। लेकिन निर्भीक राष्ट्रवादी पत्रकार, सरकार के इन प्रयासों से लेशमात्र भी भयभीत नहीं हुए तथा उपनिवेशी शासन के विरुद्ध उन्होंने अपना अभियान जारी रखा। सरकार ने समाचार-पत्रों को सरकारी नीति के पक्ष में लिखने हेतु प्रोत्साहित किया तथा उन्हें लालच दिया, जबकि वे समाचार-पत्र जो सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों की भर्त्सना करते थे, उनके प्रति सरकार ने शत्रुतापूर्ण नीति अपनायी। इन परिस्थितियों में राष्ट्रवादी पत्रकारों के सम्मुख यह एक चुनौती भरा कार्य था कि वे उपनिवेशी शासन के प्रयासों एवं षड़यंत्रों को सार्वजनिक करें तथा भारतीयों को वास्तविकता से अवगत करायें। इन परिस्थितियों में पत्रकारों में स्पष्टवादिता, निष्पक्षता, निर्भीकता एवं विद्वता जैसे गुणों का होना अपरिहार्य था।

राष्ट्रीय आंदोलन, प्रारंभ से ही प्रेस की स्वतंत्रता का पक्षधर था। लार्ड लिटन के शासनकाल में उसकी प्रतिक्रियावादी नीतियों एवं अकाल (1876-77) पीड़ितों के प्रति उसके अमानवीय रवैये के कारण भारतीय समाचार-पत्र सरकार के घोर आलोचक बन गये। फलतः सरकार ने 1878 में देशी भाषा समाचार-पत्र अधिनियम (vernacular press Act) द्वारा भारतीय प्रेस को कुचल देने का प्रयास किया।

वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, 1878

1857 की महान क्रांति का एक प्रमुख परिणाम था-शासक और शासितों के बीच संबंधों में कटुता। 1858 के पश्चात यूरोपीय प्रेस ने सरकार की नीतियों का समर्थन किया तथा विवादास्पद मामलों में सरकारी पक्ष का साथ दिया, किंतु देशी भाषाओं के प्रेस सरकारी नीतियों के तीव्र आलोचक थे। लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियों के कारण भारतीयों में सरकार के विरुद्ध तीव्र असंतोष था। 1876-77 में भीषण अकाल से एक ओर जहां लाखों लोग मौत के मुंह से समा गये, वहीं दूसरी ओर, जनवरी 1877 में दिल्ली में भव्य दरबार का आयोजन किया गया। इन सभी कारणों से भारतीयों में उपनिवेशी शासन के विरुद्ध घृणा की भावना निरंतर बढ़ रही थी। दूसरी ओर लॉर्ड लिटन ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीयों में इस असंतोष का कारण मैकाले एवं

मैटकॉफ की गलत नीतियां थीं। फलतः उसने भारतीयों की भावनाओं को दबाने का निर्णय लिया।

1878 के देशी भाषा समाचार-पत्र अधिनियम (वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट) को बनाने का उद्देश्य, भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करना तथा राजद्रोही लेखों को दबाना एवं ऐसे प्रयास के लिये समाचार-पत्रों को दंडित करना था। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थे–

1. जिला दण्डनायकों (District magistrate) को यह अधिकार दिया गया कि वे स्थानीय सरकार की आज्ञा से किसी भी भारतीय भाषा के समाचार-पत्र के प्रकाशक या मुद्रक को बुलाकर बंधन-पत्र (Bond) पर हस्ताक्षर करने के लिये कह सकते हैं। इस बंधन-पत्र में यह प्रावधान था कि ये प्रकाशक या मुद्रक ऐसी कोई भी सामग्री प्रकाशित नहीं करेंगे, जिससे सरकार के विरुद्ध असंतोष भड़के अथवा साम्राज्ञी की प्रजा के विभिन्न जाति, धर्म और वर्ण के लोगों के मध्य आपसी वैमनस्य बढ़े।

2. दण्डनायक का निर्णय अंतिम होगा तथा उसके विरुद्ध किसी प्रकार की अपील की अनुमति नहीं होगी।

3. देशी भाषा का कोई समाचार-पत्र यदि इस अधिनियम की कार्यवाही से बचना चाहे तो उसे पहले से अपने पत्र की एक प्रमाण प्रति (Proof copy) सरकारी पत्रेक्षण को देनी होगी।

इस अधिनियम को 'मुंह बंद करने वाले अधिनियम' की संज्ञा दी गयी। इस अधिनियम का सबसे घृणित पक्ष यह था कि- (i) इसके द्वारा अंग्रेजी एवं देशी भाषा के समाचार-पत्रों के मध्य भेदभाव किया गया था; एवं (ii) इसमें अपील करने का कोई अधिकार नहीं था।

इस अधिनियम के तहत *भारत मिहिर, सोम प्रकाश, सहचर, ढाका प्रकाश* तथा अनेक अन्य समाचार पत्रों के विरुद्ध मामले दर्ज किये गये।

(संयोगवश, इस अधिनियम की कार्यवाही से बचने के लिये *अमृत बाजार पत्रिका* रातोंरात अंग्रेजी समाचार पत्र में परिवर्तित हो गयी)।

कालांतर में (सितम्बर 1878 से), पूर्व पत्रेक्षण (Pre-censorship) की धारा हटा दी गयी तथा उसके स्थान पर प्रेस आयुक्त की नियुक्ति की गयी, जिसका कार्य समाचार-पत्रों को विश्वसनीय एवं सही जानकारी उपलब्ध कराना था।

इस अधिनियम के विरुद्ध सारे देश में तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की गयी तथा अंततः 1882 में उदारवादी गवर्नर-जनरल लार्ड रिपन ने इसे रद्द कर दिया।

1883 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी देश के ऐसे प्रथम पत्रकार बने, जिन्हें कारावास की सजा दी गयी। श्री बनर्जी ने *द बंगाली* के आलोचनात्मक संपादकीय में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पर, एक निर्णय में बंगाली समुदाय की धार्मिक भावनाओं को आहत करने का आरोप लगाया तथा उनकी निंदा की।

प्रेस की स्वतंत्रता के लिये किये जा रहे राष्ट्रवादी प्रयासों में बाल गंगाधर तिलक की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। तिलक ने 1893 में गणपति उत्सव एवं 1896 में शिवाजी उत्सव प्रारंभ करके लोगों में देशप्रेम की भावना जगाने का प्रयास किया। उन्होंने अपने पत्रों *मराठा* एवं *केसरी* के द्वारा भी अपने प्रयासों को आगे बढ़ाया। वे प्रथम कांग्रेसी थे, जिन्होंने समाज के मध्यवर्गीय लोगों, किसानों, शिल्पकारों, दस्तकारों, कारीगरों तथा मजदूरों को कांग्रेस से जोड़ने का प्रयास किया। 1896 में कपास पर उत्पाद-शुल्क आरोपित करने के विरोध में उन्होंने पूरे महाराष्ट्र में विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का अभियान चलाया। 1896-97 में उन्होंने महाराष्ट्र में ही 'कर ना अदायगी' अभियान चलाया तथा किसानों से आग्रह किया कि फसल बर्बाद हो जाने की स्थिति में वे सरकार को लगान अदा न करें। 1897 में पूना में भयंकर प्लेग फैला। यद्यपि तिलक, प्लेग से निपटने के सरकारी प्रयासों के समर्थक थे किंतु इस संबंध में सरकार द्वारा उठाये गये कदमों का लोगों ने तीव्र विरोध किया। इसी संबंध में पूना में प्लेग समिति के अध्यक्ष की चापेकर बंधुओं ने गोली मारकर हत्या कर दी। सरकार की अकाल, मुद्रा एवं कर नीतियों ने भी लोगों में तीव्र असंतोष को जन्म दिया।

सरकार, लोगों में उभरती इन विद्रोही भावनाओं तथा भारतीय प्रेस के सरकार विरोधी रवैये से अत्यंत क्षुब्ध थी तथा इनके दमन के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। अतः सरकार ने जनता के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये तिलक को अपराधी घोषित करने का निश्चय किया। तत्पश्चात तिलक द्वारा *केसरी* में शिवाजी की महिमा का गुणगान करने के लिये एक कविता लिखने तथा शिवाजी महोत्सव के समय तिलक द्वारा एक भाषण में शिवाजी द्वारा अफजल खां की हत्या को सही ठहराने के आधार पर सरकार ने, रैंड की हत्या के पश्चात तिलक को गिरफ्तार कर लिया। सरकार ने उन पर आरोप लगाया कि वे शिवाजी द्वारा अफजल खां की हत्या की घटना को भारतीयों द्वारा ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या की घटना के रूप में चित्रित कर रहे हैं। तिलक को इस अपराध का दोषी ठहराकर उन्हें 18 माह के सश्रम कारावास की सजा दी गयी। इसके पश्चात बम्बई प्रेसीडेंसी के कई अन्य संपादकों को भी विभिन्न आरोपों में गिरफ्तार किया गया तथा उन्हें कठोर सजायें दी गयीं। सरकार की इन कायरतापूर्ण कार्रवाइयों की पूरे देश में निंदा की गयी। गिरफ्तारी के पश्चात बाल गंगाधर तिलक रातोंरात राष्ट्रीय नायक बन गये तथा उन्हें 'लोकमान्य' (लोगों द्वारा आदरणीय एवं सम्माननीय) की उपाधि से विभूषित किया गया। पूरे देश में तिलक की प्रसिद्धि फैल गयी।

1898 में एक अधिनियम द्वारा दण्ड संहिता की धारा 124-ए को पुनः स्थापित और विस्तृत किया गया और उसमें एक नयी धारा 153-ए जोड़ दी गयी। इस धारा में यह प्रावधान था कि किसी व्यक्ति द्वारा भारत सरकार की अवमानना करने या लोगों को राज्य के विरुद्ध कार्य करने की प्रेरणा देने या समाज के विभिन्न वर्गों के बीच घृणा

फैलाने की कार्यवाही को दण्डनीय अपराध माना जायेगा। इस नियम के विरुद्ध भी पूरे राष्ट्र में व्यापक प्रदर्शन किये गये। स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन तथा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के समय भी भारतीयों पर अनेक दमनकारी कानून आरोपित किये गये।

समाचार-पत्र अधिनियम, 1908 (The News Paper Act, 1908) का उद्देश्य, उग्रवादी राष्ट्रवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाना था। अधिनियम द्वारा दण्डनायकों को यह अधिकार दिया कि वे किसी ऐसे समाचार-पत्र की सम्पत्ति व मुद्रणालय को जब्त कर सकते हैं, जिसमें प्रकाशित सामग्री से लोगों को हिंसा करने या हत्या करने की प्रेरणा मिलती हो।

भारतीय समाचार-पत्र अधिनियम, 1910 (The Indian Press Act, 1910) द्वारा लॉर्ड लिटन के 1878 के अधिनियम के सभी घिनौने प्रावधानों को पुनर्जीवित कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार, स्थानीय सरकारें किसी समाचार-पत्र के प्रकाशक या मुद्रणालय के स्वामी से पंजीकरण जमानत (Registration Security) मांग सकती थीं। इस पंजीकरण जमानत की न्यूनतम राशि 500 रुपये व अधिकतम राशि 2000 रुपये तय की गयी। इसके अतिरिक्त सरकार को जमानत जब्त करने एवं पंजीकरण रद्द करने का अधिकार भी दिया गया। सरकार को पुनः पंजीकरण के लिये न्यूनतम 1000 रुपये और अधिकतम 10 हजार रुपये मांगने का अधिकार था। यदि समाचार-पत्र पुनः आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करे तो उसका पंजीकरण रद्द कर उसकी सभी सम्पत्तियों तथा उसके मुद्रणालय को जब्त करने का अधिकार भी सरकार को दिया गया।

एक उग्रवादी राष्ट्रवादी नेता की छवि के कारण बाल गंगाधर तिलक को देशद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया तथा देश से निर्वासन की सजा देकर 6 वर्ष के लिये मांडले जेल (रंगून) भेज दिया गया। पूरे राष्ट्र में तिलक की गिरफ्तारी एवं निर्वासन का विरोध हुआ तथा सरकार के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी प्रदर्शन किये गये। बंबई में कपड़ा मिल मजदूरों तथा रेलवे कारखानों के मजदूरों ने हड़ताल कर दी तथा सरकार के विरुद्ध सड़कों पर उतर आये। रूस के साम्यवादी नेता लेनिन ने मजदूरों की इस हड़ताल का स्वागत किया और कहा कि यह हड़ताल भारत के श्रमिक वर्ग की राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी का एक शुभ संकेत है।

✠ प्रथम विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके पश्चात्

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सरकारी आलोचना को रोकने तथा राजनीतिक प्रदर्शनों का दमन करने के लिये भारतीयों पर अनेक कानून लागू कर दिये गये। 1921 में, तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में 'प्रेस समिति' ने सरकार से 1908 एवं 1910 के

अधिनियमों को रद्द करने की सिफारिश की। तत्पश्चात इन अधिनियमों को रद्द कर दिया गया।

भारतीय समाचार-पत्र (संकटकालीन शक्तियां) अधिनियम, 1931 द्वारा प्रांतीय सरकारों को सविनय अवज्ञा आंदोलन को दबाने के लिये अत्यधिक शक्तियां दे दी गयीं। 1932 में इस अधिनियम का विस्तार करके इसे आपराधिक संशोधित अधिनियम (Criminal Amendment Act) बना दिया गया। इसमें वे सभी गतिविधियां सम्मिलित कर दी गयीं, जिनसे सरकार की प्रभुसत्ता को हानि पहुंचायी जा सकती थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान

भारत रक्षा नियमों के अंतर्गत, भारतीय प्रेस पर पूर्व-पत्रेक्षण (Pre-censorship) की शर्त थोप दी गयी तथा समाचार-पत्र (संकटकालीन शक्तियां) अधिनियम एवं कार्यालयीन गोपनीयता कानूनों में संशोधन किया गया।

स्वतंत्रता के पश्चात्

समाचार-पत्र जांच समिति, 1947 (Press enquiry committee, 1947) की स्थापना संविधान सभा द्वारा मौलिक अधिकारों के रूप में भारतीय नागरिकों को प्रदत्त विभिन्न अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न भारतीय समाचार-पत्र कानूनों की समीक्षा करने के लिये की गयी।

इस समिति ने निम्न सिफारिशें कीं–

1. 1931 के अधिनियम को रद्द कर दिया जाये।
2. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124-ए और 153-ए में परिवर्तन किया जाये।
3. समाचार-पत्र और पुस्तकों के पंजीकरण के अधिनियम में संशोधन किया जाये।
4. 1931 के देशी राज्य (असंतोष के विरुद्ध) अधिनियम को रद्द किया जाये। एवं
5. 1934 के देशी राज्य (रक्षा) अधिनियम को रद्द किया जाये। इत्यादि

समाचार-पत्र (आपत्तिजनक विषय) अधिनियम, 1951 [The Press (objectionable Matters) Act, 1951] संविधान के अनुच्छेद 19(2) में संशोधन के साथ पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा सरकार को, समाचार-पत्रों तथा मुद्रणालयों द्वारा आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करने पर जमानत मांगने तथा जब्त करने का अधिकार दे दिया गया। समाचार-पत्रों के पीड़ित प्रकाशक तथा मुद्रणालय के स्वामियों को जूरी द्वारा परीक्षा [Trial by Jury] मांगने का अधिकार दे दिया गया। यह अधिनियम 1956 तक लागू रहा।

न्यायाधीश राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में समाचार-पत्र आयोग का गठन भारतीय समाचार-पत्रों के संपादकों एवं पत्रकारों द्वारा भारतीय समाचार-पत्रों के कार्यों

की व्यापक जांच कराये जाने की मांग के फलस्वरूप सरकार द्वारा किया गया। अगस्त 1954 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में आयोग ने निम्न प्रमुख सिफारिशें कीं–

(i) अखिल भारतीय समाचार-पत्र परिषद (All India Press Council) गठित की जाये।

(ii) वर्ग प्रहेलिका (crossword puzzles) बंद की जाये तथा पन्ना मूल्य पद्धति (Price page system) अपनायी जाये।

(iii) विज्ञापनों के लिये एक कड़ी संहिता अपनायी जाये। तथा

(iv) सरकार यह प्रयास करे की समाचार-पत्रों के स्वामित्व का संकेंद्रण न हो।

इसके अतिरिक्त सरकार ने किताबों तथा समाचार-पत्रों का प्रतिपादन (नागरिक वाचनालय) अधिनियम, 1954 [(Delivery of Books and News papers (public Libraries) act, 1954], कार्यकर्ता पत्रकार (सेवाशर्तें) तथा विविध आदेश अधिनियम, 1956 [The working Journalists (conditions of service) and miscellaneous Provisions act, 1956], समाचार-पत्रों के पन्ने तथा मूल्य अधिनियम, 1956 [The Newspapers (price and page) act, 1956] और संसद कार्यवाही (संरक्षण और प्रकाशन) अधिनियम, 1960 [The parliamentary proceedings (protection and publication) act, 1960] इत्यादि भी पारित किए।

सारांश

- **प्रारंभिक विनियमन**
  - समाचार-पत्रों का पत्रेक्षण अधिनियम, 1799
  - अनुज्ञप्ति नियम, 1823
  - मेटकॉफ अधिनियम, 1835
  - अनुज्ञप्ति अधिनियम, 1857
  - पंजीकरण अधिनियम, 1867
- **प्रेस की स्वतंत्रता हेतु प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के प्रयास**
- **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, 1878**
- **प्रथम विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके पश्चात् प्रेस विनियमन**
- **द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान प्रेस नियमन**
- **स्वतंत्रता के पश्चात् प्रेस विनियमन**

अध्याय 30

भारत में शिक्षा का विकास

कंपनी शासन के अंतर्गत शैक्षिक विकास

प्रारंभिक 60 वर्षों तक ईस्ट इंडिया कंपनी एक विशुद्ध व्यापारिक कंपनी थी। उसका उद्देश्य व्यापार करके केवल अधिक से अधिक लाभ कमाना था तथा देश में शिक्षा को प्रोत्साहित करने में उसकी कोई रुचि नहीं थी। इन वर्षों में शिक्षा के प्रोत्साहन एवं विकास हेतु जो भी प्रयास किये गये, वे व्यक्तिगत स्तर पर ही किए गए। इन प्रयासों के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नानुसार हैं–

- 1781 में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता मदरसा की स्थापना की। इसका उद्देश्य, मुस्लिम कानूनों तथा इससे संबंधित अन्य विषयों की शिक्षा देना था।
- 1791 में बनारस के ब्रिटिश रेजिडेन्ट, जोनाथन डंकन के प्रयत्नों से बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी। इसका उद्देश्य हिन्दू विधि एवं दर्शन का अध्ययन करना था।
- वर्ष 1800 में लार्ड वैलेजली ने कंपनी के असैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिये फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। इस कालेज में अधिकारियों को विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा भारतीय रीति-रिवाजों की शिक्षा भी दी जाती थी। (किंतु 1802 में डायरेक्टरों के आदेश पर यह कालेज बंद कर दिया गया)।

कलकत्ता मदरसा एवं संस्कृत कालेज में शिक्षा पद्धति का ढांचा इस प्रकार तैयार किया गया था कि कंपनी को ऐसे शिक्षित भारतीय नियमित तौर पर उपलब्ध कराये जा सकें, जो शास्त्रीय और स्थानीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हों तथा कंपनी के कानूनी प्रशासन में उसे मदद कर सकें। न्याय विभाग में अरबी, फारसी और संस्कृत के ज्ञाताओं की आवश्यकता थी, ताकि वे लोग न्यायालयों में अंग्रेज न्यायाधीशों के साथ परामर्शदाता के रूप में बैठ सकें तथा मुस्लिम एवं हिन्दू कानूनों की व्याख्या कर सकें। भारतीय रियासतों के साथ पत्र-व्यवहार के लिये भी कंपनी को इन भाषाओं के विद्वानों

की आवश्यकता थी। इसी समय प्रबुद्ध भारतीयों एवं मिशनरियों ने सरकार पर आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष एवं पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये दबाव डालना प्रारंभ कर दिया क्योंकि–

(i) प्रबुद्ध भारतीयों ने निष्कर्ष निकाला कि पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से ही देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दुर्बलता को दूर किया जा सकता है।

(ii) मिशनरियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से भारतीयों की उनके परंपरागत धर्म में आस्था समाप्त हो जायेगी तथा वे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेंगे। सीरमपुर के मिशनरी इस क्षेत्र में बहुत उत्साही थे।

1813 के चार्टर एक्ट से प्रशंसनीय शुरुआत

इस चार्टर एक्ट में, भारत में स्थानीय विद्वानों को प्रोत्साहित करने तथा देश में आधुनिक विज्ञान के ज्ञान को प्रारंभ एवं उन्नत करने जैसे उद्देश्यों को रखा गया था। इस उद्देश्य के लिये कंपनी द्वारा प्रतिवर्ष 1 लाख रुपये की राशि स्वीकृत की गयी थी। किंतु इस राशि को व्यय करने के प्रश्न पर विवाद हो जाने के कारण 1823 तक यह राशि उपलब्ध नहीं करायी गयी।

इस बीच कुछ प्रबुद्ध भारतीयों ने व्यक्तिगत स्तर पर अपने प्रयास जारी रखे तथा शिक्षा के विकास एवं शिक्षा संस्थानों की स्थापना के लिये भारी अनुदान दिया। इनमें राजा राममोहन राय का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने 1817 में कलकत्ता हिन्दू कालेज की स्थापना के लिये भारी अनुदान दिया। शिक्षित बंगालियों द्वारा स्थापित इस कालेज में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी तथा पाश्चात्य विज्ञान और मानविकी (Humanities) पढ़ायी जाती थी। सरकार ने कलकत्ता, आगरा और बनारस में तीन संस्कृत कालेज स्थापित किये। इसके अतिरिक्त यूरोपीय वैज्ञानिक पुस्तकों का प्राच्य भाषाओं में अनुवाद करने के लिये भी अनुदान दिया गया।

आंग्ल-प्राच्य विवाद (Orientalist-Anglicist Controversy)

लोक शिक्षा की सामान्य समिति में दो दल थे। एक दल प्राच्य शिक्षा समर्थक था और दूसरा आंग्ल शिक्षा समर्थक।

प्राच्य-शिक्षा समर्थकों का तर्क था कि जहां रोजगार के अवसरों में वृद्धि के लिये पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा दिया जा रहा है, वहां इसके स्थान पर परंपरागत भारतीय भाषाओं एवं साहित्य को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

दूसरी ओर आंग्ल-शिक्षा समर्थकों में शिक्षा के माध्यम को लेकर विवाद हो गया तथा वे दो धड़ों में विभक्त हो गये। एक धड़ा, शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को बनाये जाने पर जोर दे रहा था तो दूसरा धड़ा, शिक्षा का माध्यम भारतीय (देशी) भाषाओं को बनाये जाने का पक्षधर था।

आंग्ल एवं प्राच्य शिक्षा समर्थकों के मध्य इस विवाद से शिक्षा के प्रोत्साहन का मुद्दा अप्रभावी हो गया तथा इसके कई दुष्परिणाम निकले।

लॉर्ड मैकाले का स्मरण-पत्र, 1835 (Lord macaulay's minute, 1835): गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य लॉर्ड मैकाले ने आंग्ल-दल का समर्थन किया। 2 फरवरी, 1835 को अपने महत्वपूर्ण स्मरण-पत्र में उसने लिखा कि 'सरकार के सीमित संसाधनों के मद्देनजर पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य की शिक्षा के लिये, माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा ही सर्वोत्तम है'। मैकाले ने कहा कि ''भारतीय साहित्य का स्तर यूरोपीय साहित्य की तुलना में अत्यंत निम्न है''। उसने भारतीय शिक्षा पद्धति एवं साहित्य की आलोचना करते हुए अंग्रेजी भाषा का पूर्ण समर्थन किया।

मैकाले के इन सुझावों के पश्चात सरकार ने शीघ्र ही स्कूलों एवं कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बना दिया तथा बड़े पैमाने पर अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले स्कूलों एवं कालेजों की स्थापना की गयी। इस प्रकार सरकार जनसाधारण की शिक्षा को उपेक्षित करने लगी। सरकार की योजना, समाज के उच्च एवं मध्य वर्ग के एक तबके को शिक्षित कर एक ऐसी श्रेणी बनाने की थी जो ''रक्त एवं रंग से भारतीय हो परंतु अपने विचार, नैतिक मापदण्ड, प्रज्ञा (intellect) एवं प्रवृत्ति (Taste) से अंग्रेज हो''। यह श्रेणी ऐसी हो कि यह सरकार तथा जन-साधारण के बीच दुभाषिये (interpreters) की भूमिका निभा सके। इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का ज्ञान जनसाधारण तक पहुंच जायेगा। इस सिद्धांत को अधोगामी 'विप्रवेशन सिद्धांत' (downward infiltration theory) के नाम से जाना गया।

थॉमसन के प्रयास

उत्तर-पश्चिमी प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स थॉमसन (1843-53) ने देशी भाषाओं द्वारा ग्राम शिक्षा की एक विस्तृत योजना बनायी। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले छोटे-छोटे स्कूलों को बंद कर दिया गया। अब केवल कालेजों में ही अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम रह गयी। गांव के स्कूलों में कृषि विज्ञान तथा क्षेत्रमिती (mensuration) जैसे उपयोगी विषयों का अध्ययन प्रारंभ किया गया। अध्ययन के लिये देशी भाषाओं को माध्यम के रूप में चुना गया। इस योजना के पीछे थामसन का उद्देश्य यह था कि नवगठित राजस्व तथा लोक निर्माण विभागों के लिये शिक्षित व्यक्ति उपलब्ध हो सकें। इसके अतिरिक्त एक शिक्षा विभाग का भी गठन किया गया।

चार्ल्स वुड का डिस्पैच (1854)

सर चार्ल्स वुड, जो अर्ल आफ एबरडीन (1852-55) की मिली-जुली सरकार में बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे, ने 1854 में भारत की भावी शिक्षा के लिये एक विस्तृत योजना बनायी। 'भारतीय शिक्षा का मैग्ना-कार्टा' कहा जाने वाला चार्ल्स वुड का यह

डिस्पैच, भारत में शिक्षा के विकास से संबंधित पहला विस्तृत प्रस्ताव था। इस डिस्पैच की प्रमुख सिफारिशें निम्नानुसार थीं–

(i) इसमें सरकार से कहा गया कि वह जनसाधारण की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं वहन करें। इस प्रकार अधोगामी विप्रवेशन सिद्धांत कम से कम कागजों में ही सिमट कर रह गया।

(ii) इसने सुझाव दिया कि गांवों में देशी-भाषाई प्राथमिक पाठशालायें स्थापित की जायें, उनसे ऊपर जिला-स्तर पर आंग्ल-देशी-भाषाई हाईस्कूल तथा लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर तीनों प्रेसीडेंसी शहरों-बंबई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये जायें। इन विश्वविद्यालयों में एक कुलपति, एक सीनेट और उसके अधि-सदस्य (fellows) होंगें। इन सभी की नियुक्ति सरकार द्वारा की जायेगी। ये विश्वविद्यालय परीक्षाएं आयोजित करेंगे तथा उपाधियां (degree) देंगे।

(iii) इसने उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी तथा स्कूल-स्तर की शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को बनाये जाने का सुझाव दिया।

(iv) इसने स्त्री शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया तथा तकनीकी विद्यालयों एवं अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की।

(v) इस क्षेत्र में निजी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने के लिये अनुदान सहायता (Grant-in-aid) की पद्धति चलाने की सिफारिश भी इसने की।

(vi) कंपनी के पांचों प्रांतों में एक-एक निदेशक के अधीन लोक शिक्षा विभाग (Department of Public instruction) की स्थापना की गयी। इस विभाग का कार्य था–शिक्षा की उन्नति एवं उसके प्रचार-प्रसार की समीक्षा करना तथा सरकार को प्रतिवर्ष इस संबंध में रिपोर्ट भेजना।

(vii) इसने इस बात पर बल दिया कि सरकारी शिक्षण संस्थाओं में दी जाने वाली शिक्षा, धर्मनिरपेक्ष (secular) हो।

(viii) इसने इस बात की घोषणा भी की कि सरकार की शिक्षा नीति का उद्देश्य पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार है।

1857 में कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये तथा बाद में सभी प्रांतों में शिक्षा विभाग का गठन भी कर दिया गया। 1840 से 1858 के मध्य स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में किये गये प्रयासों को सार्थक परिणति तब मिली जब जे.ई.डी. बेथुन द्वारा 1849 में कलकत्ता में बेथुन स्कूल की स्थापना की गयी। बेथुन, शिक्षा परिषद (Council of education) के अध्यक्ष थे। मुख्यतया बेथुन के प्रयत्नों द्वारा ही कुछ महिला पाठशालाओं की स्थापना की गयी और इन्हें सरकार की अनुदान एवं निरीक्षण पद्धति के अधीन लाया गया।

इसी काल में पूसा (बिहार) में कृषि संस्थान तथा रुड़की में अभियांत्रिकी संस्थान (engineering institute) की स्थापना की गयी।

चार्ल्स वुड द्वारा अनुमोदित विधियां एवं आदर्श लगभग 50 वर्षों तक प्रभावी रहे। इसी काल में भारतीय शिक्षा का तीव्र गति से पाश्चात्यीकरण हुआ तथा अनेक शिक्षण संस्थायें स्थापित की गयीं। इस काल में शिक्षण संस्थाओं में प्रधानाध्यापक एवं आचार्य मुख्यतया यूरोपीय ही नियुक्त किये जाते थे। ईसाई मिशनरी संस्थाओं ने भी इस दिशा में अपना योगदान दिया। धीरे-धीरे निजी भारतीय प्रयत्न भी इस दिशा में किए जाने लगे।

क्राउन के शासनाधीन शिक्षा का विकास

हन्टर शिक्षा आयोग (1882-83)

प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रारंभिक योजनाओं की उपेक्षा कर दी गयी। वर्ष 1870 से, जबकि शिक्षा प्रांतों में स्थानांतरित की गयी तो प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की स्थिति और खराब हो गयी, क्योंकि प्रांतों के सीमित संसाधनों के कारण वे इस दिशा में अपेक्षित व्यय नहीं कर पा रहे थे। 1882 में सरकार ने डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया, जिस का कार्य 1854 के पश्चात् देश में शिक्षा की दिशा में किये गये प्रयासों एवं उसकी प्रगति की समीक्षा करना था। हंटर आयोग की समीक्षा का कार्य, केवल प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक ही सीमित था तथा विश्वविद्यालयों के कार्यों से इसका कोई संबंध नहीं था। इस आयोग ने सरकार को निम्न सुझाव दिये–

(i) सरकार को प्राथमिक शिक्षा के सुधार और विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह शिक्षा उपयोगी विषयों तथा स्थानीय भाषा में हो।

(ii) इसने सिफारिश की कि प्राथमिक पाठशालाओं का नियंत्रण नवसंस्थापित नगर और जिला बोर्डों को दे दिया जाये।

(iii) इसने सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा के दो खंड होने चाहिए–

- साहित्यिक : विश्वविद्यालय शिक्षा के लिये। तथा
- व्यावहारिक : विद्यार्थियों के व्यावसायिक-व्यापारिक भविष्य निर्माण के लिये।

(iv) आयोग ने प्रेसीडेंसी नगरों के अतिरिक्त अन्य सभी शहरों, कस्बों एवं गांवों में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त प्रबंध न होने पर खेद प्रकट किया तथा इसे प्रोत्साहित करने का सुझाव दिया।

हन्टर शिक्षा आयोग के सुझावों के आने के पश्चात्, अगले 20 वर्षों में माध्यमिक एवं कालेज शिक्षा का तीव्र गति से विस्तार हुआ तथा भारतीयों ने इसमें सराहनीय योगदान दिया। अध्यापन एवं परीक्षा विश्वविद्यालयों की स्थापना भी की गयी, जिनमें पंजाब विश्वविद्यालय (1882) एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय (1887) प्रमुख थे।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में देश में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण था। निजी प्रबंधन के तहत सरकार की धारणा यह थी कि शिक्षा के स्तर में गिरावट आ रही है तथा शिक्षण संस्थान राजनीतिक क्रांतिकारियों को पैदा करने वाले कारखाने मात्र बनकर रह गये हैं। राष्ट्रवादियों ने भी इस बात को स्वीकार किया कि शिक्षा के स्तर में गिरावट आ रही है, परंतु इसके लिये उन्होंने सरकार को दोषी ठहराया तथा आरोप लगाया कि सरकार अशिक्षा को दूर करने के लिये कोई सार्थक कदम नहीं उठा रही है।

सन् 1902 में सर टामस रैले की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया गया, जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालयों की स्थिति का आकलन करना तथा उनकी कार्यक्षमता एवं उनके संविधान के विषय में सुझाव देना था। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा इस कार्यक्षेत्र में सम्मिलित नहीं थी। इसकी सिफारिशों के आधार पर 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार–

(i) विश्वविद्यालयों को अध्ययन तथा शोध पर अधिक ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

(ii) विश्वविद्यालय के उप-सदस्यों (Fellows) की संख्या तथा अवधि कम की जानी चाहिए तथा यह प्रावधान किया जाना चाहिए कि ये उप-सदस्य मुख्य रूप से सरकार द्वारा मनोनीत हों।

(iii) विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया गया। सरकार को सीनेट द्वारा पास किये गये प्रस्तावों पर निषेधाधिकार (Veto) दिया गया। सरकार को यह अधिकार था कि वह सीनेट द्वारा बनाये गये नियमों में परिवर्तन एवं संशोधन कर सकती थी। सरकार यदि आवश्यक समझे तो इस संबंध में नये नियम भी बना सकती थी।

(iv) अशासकीय कालेजों पर सरकार का नियंत्रण और कड़ा कर दिया गया।

(v) उच्च शिक्षा तथा विश्वविद्यालयों के उत्थान के लिये 5 लाख रुपये की राशि प्रति वर्ष की दर से 5 वर्षों के लिये स्वीकृत की गयी।

(vi) गवर्नर-जनरल को विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमायें निर्धारित करने का अधिकार दे दिया गया।

कर्जन ने गुणवत्ता एवं दक्षता के नाम पर विश्वविद्यालयों में सरकारी नियंत्रण अत्यधिक कड़ा कर दिया। लेकिन उसका वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रवाद के समर्थक शिक्षितों की संख्या को रोकना तथा उन्हें सरकारी भक्त बनाना था।

राष्ट्रवादियों ने इस अधिनियम की तीव्र आलोचना की तथा इसे साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने के एक प्रयास के रूप में देखा। उन्होंने आरोप लगाया कि यह अधिनियम राष्ट्रवादी भावनाओं की हत्या का प्रयास है। गोपाल कृष्ण गोखले ने इसे ''राष्ट्रीय शिक्षा को पीछे की ओर ले जाने वाला अधिनियम'' की संज्ञा दी।

शिक्षा नीति पर सरकारी प्रस्ताव, 1913

1906 में प्रगतिशील रियासत बड़ौदा ने अपनी पूरी रियासत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ कर दी। राष्ट्रवादी नेताओं ने सरकार से पूरे ब्रिटिश भारत में ऐसी व्यवस्था करने का आग्रह किया। (गोखले ने विधान परिषद में इसकी सशक्त वकालत की)।

शिक्षा नीति पर 1913 के अपने प्रस्ताव में सरकार ने अनिवार्य शिक्षा का उत्तरदायित्व लेने से तो इंकार कर दिया, किंतु उसने अशिक्षा को दूर करने की नीति की जिम्मेदारी स्वीकार कर ली तथा प्रांतीय सरकारों से आग्रह किया कि वे समाज के निर्धन एवं पिछड़े वर्ग को निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा देने के लिये आवश्यक कदम उठायें। इस दिशा में उसने अशासकीय प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया तथा सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर में सुधार किया जाना चाहिए। सरकार ने प्रत्येक प्रांत में विश्वविद्यालय की स्थापना तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षण कार्य को प्रोत्साहित करने का भी निर्णय लिया।

सैडलर विश्वविद्यालय आयोग (1917-19)

वर्ष 1917 में सरकार ने लीड्स विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा. एम.ई.सैडलर की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया, जिसका कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन कर इसकी रिपोर्ट सरकार को देना था। यद्यपि यह आयोग केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही सम्बद्ध था, किंतु इसकी सिफारिशें भारत के अन्य विश्वविद्यालयों के संबंध में भी सही थीं। इस आयोग ने प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालयीन स्तर तक की शिक्षा व्यवस्था का गहन अध्ययन किया। आयोग ने अनुमान लगाया कि यदि विश्वविद्यालयीन शिक्षा में सुधार करना है तो इसके लिये पहले माध्यमिक शिक्षा के स्तर में सुधार लाना होगा। इस आयोग की सिफारिशें निम्न प्रकार थीं–

1. स्कूल की शिक्षा 12 वर्ष की होनी चाहिए। विद्यार्थियों को हाईस्कूल के पश्चात नहीं, अपितु उच्चतर-माध्यमिक परीक्षा के पश्चात त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम के लिये विश्वविद्यालय में दाखिला लेना चाहिये। यह निम्न प्रकार से किया जाना चाहिए–

(i) विश्वविद्यालय स्तर के लिये विद्यार्थियों को तैयार करके।

(ii) उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा के पश्चात स्नातक की उपाधि के लिये त्रिवर्षीय शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(iii) वे छात्र जो विश्वविद्यालयीन शिक्षा हेतु जाने के लिये तैयार न हों, उन्हें कालेज स्तर की शिक्षा दी जानी चाहिये।

माध्यमिक तथा उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा के प्रशासन एवं नियंत्रण के लिये पृथक माध्यमिक एवं उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा बोर्डों का गठन किया जाना चाहिये।

2. विश्वविद्यालयों से संबंधित नियम बनाते समय कठोरता नहीं होनी चाहिये।

3. विश्वविद्यालयों को पुराने, संबद्ध विश्वविद्यालयों (affiliating universities) जिनमें, कालेज दूर-दूर बिखरे होते थे, के स्थान पर एकाकी-केंद्रित-आवासीय-अध्ययन एवं स्वायत्तपूर्ण (unitary-residential-teaching and autonomous) संस्थानों के रूप में विकसित किया जाना चाहिये।

4. महिला शिक्षा, अनुप्रयुक्त विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा (applied scientific and technological education) तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण को अधिक प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

1916 से 1921 के मध्य सात नये विश्वविद्यालय-मैसूर, अलीगढ़, ढाका, पटना, बनारस, उस्मानियां एवं लखनऊ अस्तित्व में आये।

1920 में सरकार ने सैडलर आयोग की रिपोर्ट को सभी प्रांतीय सरकारों से लागू करने का आग्रह किया।

द्वैध शासन के अधीन शिक्षा

1919 के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत शिक्षा विभाग, प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिया गया तथा सरकार ने शिक्षा संबंधी मसले पर सीधे तौर पर रुचि लेनी बंद कर दी। यद्यपि सरकार द्वारा शिक्षा विभाग को 1902 से दी जा रही सहायता उदारतापूर्वक जारी रही। वित्तीय कठिनाइयों के कारण प्रांतीय सरकारें शिक्षा संबंधी कोई महत्वपूर्ण योजना नहीं बना सकीं, किंतु लोकोपकारी पुरुषों द्वारा शिक्षा संबंधी महत्वपूर्ण प्रयास जारी रहे।

हार्टोग समिति (1929)

शिक्षण संस्थाओं की संख्या में अंधाधुंध वृद्धि के कारण शिक्षा के स्तर में गिरावट आने लगी। शिक्षा में हुए विकास के संदर्भ में रिपोर्ट देने के लिये वर्ष 1929 में सर फिलिफ हार्टोग की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नानुसार थीं–

1. समिति ने प्राथमिक शिक्षा की महत्ता पर बल दिया लेकिन अनिवार्यता या शीघ्र प्रसार को अनुचित बताया।

2. केवल समर्पित विद्यार्थियों को ही उच्चतर-माध्यमिक (intermediate) एवं उच्च शिक्षा (high education) के विद्यालयों में प्रवेश लेना चाहिये। जबकि सामान्य स्तर के विद्यार्थियों को 8वीं कक्षा के पश्चात व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में दाखिला लेना चाहिये।

3. विश्वविद्यालयीन शिक्षा में सुधार के लिये, विश्वविद्यालयों में प्रवेश संबंधी नियम अत्यंत कड़े होने चाहिये।

शिक्षा की सार्जेन्ट योजना

वर्ष 1944 में केंद्रीय शिक्षा मंत्रणा मंडल (Central Advisory Board of education) ने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार की जिसे, सार्जेन्ट योजना के

नाम से जाना जाता है। सर जान सार्जेन्ट भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। इस योजना के अनुसार–

(i) 3-6 वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिये पूर्व-प्राथमिक (pre-primary) या प्रारंभिक (elementary) शिक्षा की व्यवस्था; 6-11 वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिये निःशुल्क, व्यापक और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था; 11-17 वर्ष के आयु समूह के चुनिंदा बच्चों के लिये उच्च शिक्षा (high education) की व्यवस्था तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पश्चात त्रिवर्षीय स्नातक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के दो भाग होने चाहिये– (i) विद्या विषयक शिक्षा (Academic education) और (ii) तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा (Technical and vocational education)।

मूलभूत शिक्षा की वर्धा योजना, 1937

अक्टूबर 1937 में, कांग्रेस ने शिक्षा पर एक राष्ट्रीय सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया। इस सम्मेलन में पारित किए गए प्रस्तावों के अंतर्गत, मूलभूत शिक्षा (Basic education) पर राष्ट्रीय नीति बनाने के लिये, जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। इस समिति के गठन का मूल उद्देश्य था 'गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना'। यह अवधारणा गांधी जी द्वारा *हरिजन* नामक साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित लेखों की एक शृंखला पर आधारित थी। गांधीजी का मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा ने मुट्ठीभर शिक्षित भारतीयों एवं जनसाधारण के मध्य एक खाई पैदा कर दी है तथा इससे इन शिक्षित भारतीयों की विद्वता अप्रभावी हो गयी है। इस योजना को मूलभूत शिक्षा की वर्धा योजना के नाम से जाना गया। इस योजना में निम्न प्रावधान थे–

(i) पाठ्यक्राम में आधार-दस्तकारी को सम्मिलित किया जाये।

(ii) राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के प्रथम सात वर्ष निःशुल्क एवं अनिवार्य होने चाहिये तथा यह शिक्षा मातृभाषा में दी जाये।

(iii) कक्षा 2 से कक्षा 7 तक की शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना चाहिए। अंग्रेजी भाषा में शिक्षा कक्षा आठ के पश्चात ही दी जाये।

(iv) शिक्षा हस्त उत्पादित कार्यों (manual productive works) पर आधारित होनी चाहिये। अर्थात मूल शिक्षा की योजना का कार्यान्वयन उपयुक्त तकनीक द्वारा शिक्षा देने के सिद्धांत पर आधारित होना चाहिये। इसके लिये छात्रों को कुछ चुनिंदा दस्तकारी तकनीकों के माध्यम से शिक्षित किया जाना चाहिये।

शिक्षा की यह योजना नये समाज की नयी जिंदगी के लिये नये विचारों पर आधारित थी। इस योजना के पीछे यह भावना थी कि इससे देश धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता एवं स्वतंत्रता की ओर बढ़ेगा तथा इससे हिंसा-रहित समाज का निर्माण होगा। यह शिक्षा सहकारिता एवं बच्चों पर केंद्रित थी। किंतु 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने तथा कांग्रेसी सरकारों के त्यागपत्र देने के कारण यह योजना खटाई में पड़ गयी।

(ii) तकनीकी, वाणिज्यिक एवं कला विषयक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये।
(iii) उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रमों को समाप्त कर दिया जाये।
(iv) 20 वर्षों में वयस्कों को साक्षर बना दिया जाये।
(v) शिक्षकों के प्रशिक्षण, शारीरिक शिक्षा तथा मानसिक एवं शारीरिक तौर पर विकलांगों को शिक्षा दिये जाने पर बल।

इस योजना में 40 वर्ष में देश में शिक्षा के पुनर्निर्माण का कार्य पूरा होना था तथा इंग्लैण्ड के समान शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना था। यद्यपि यह एक सशक्त व प्रभावशाली योजना थी, किंतु इसमें इन उपायों के क्रियान्वयन के लिये कोई कार्ययोजना प्रस्तुत नहीं की गयी थी। साथ ही, इंग्लैण्ड जैसे शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना भी भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल न था।

स्वतंत्रता के पश्चात

राधाकृष्णन आयोग (1948-49)

नवंबर 1948 में राधाकृष्णन आयोग का गठन देश में विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में रिपोर्ट देने हेतु किया गया था। स्वतंत्र भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में इस आयोग की रिपोर्ट का अत्यंत महत्व है। इस आयोग ने निम्न सिफारिशें की थीं–

1. विश्वविद्यालय पूर्व (pre-university) 12 वर्ष का अध्ययन होना चाहिये।
2. उच्च शिक्षा के तीन मुख्य उद्देश्य होने चाहिये–
   - सामान्य शिक्षा
   - सरकारी शिक्षा, एवं
   - व्यवसायिक शिक्षा
3. प्रशासनिक सेवाओं के लिये विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि आवश्यक नहीं होनी चाहिये।
4. शांति निकेतन एवं जामिया मिलिया की तर्ज पर ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिये।
5. महाविद्यालयों में छात्रों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये। एक महाविद्यालय में 1 हजार से ज्यादा छात्रों को प्रवेश न दिया जाये।
6. विश्वविद्यालयों के द्वारा आयोजित की जाने वाली परीक्षा के स्तर में सुधार लाया जाये तथा विश्वविद्यालय शिक्षा को 'समवर्ती सूची' में सम्मिलित किया जाये।
7. देश में विश्वविद्यालय शिक्षा की देख-रेख के लिये एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grant Commission) का गठन किया जाये।
8. उच्च शिक्षा से अंग्रेजी माध्यम को जल्दबाजी में न हटाया जाये।
9. विश्वविद्यालयों में कम से कम 180 दिनों का अध्ययन अनिवार्य किया जाये। यह 11-11 सप्ताहों के तीन सत्र में विभाजित हो।

10. जहां राज्यों की भाषा एवं मातृ (स्थानीय) भाषा का माध्यम समान न हो, वहां संघीय भाषा (Federal Language) अर्थात राज्यों की भाषा में शिक्षा देने को प्राथमिकता दी जाये। जहां राज्यों की भाषा एवं स्थानीय भाषा समान हो, वहां छात्रों को परंपरागत या आधुनिक भारतीय भाषाओं का चयन करना चाहिये।

इन्हीं सिफारिशों के आधार पर 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया गया तथा 1956 में संसद द्वारा कानून बनाकर इसे स्वायत्तशासी निकाय का दर्जा दे दिया गया। इस आयोग का कार्य विश्वविद्यालय शिक्षा की देखरेख करना, विश्वविद्यालयों में शिक्षा एवं शोध संबंधी सुविधाओं के स्तर की जांच करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना है। सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था करती है। तदुपरांत आयोग देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों को धन आवंटित करने का सुझाव देता है तथा विश्वविद्यालय शिक्षा से संबंधित विभिन्न विकास योजनाओं को क्रियान्वित करता है।

कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66)

जुलाई 1964 में डाक्टर डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय आयोग का गठन किया गया। इसका कार्य शिक्षा के सभी पक्षों तथा चरणों के विषय में साधारण सिद्धांत, नीतियों एवं राष्ट्रीय नमूने की रूपरेखा तैयार कर उनसे सरकार को अवगत कराना था। आयोग को अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड एवं यूनेस्को के शिक्षा-शास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों की सेवायें भी उपलब्ध करायी गयी थीं। आयोग ने वर्तमान शिक्षा पद्धति की कठोरता की आलोचना की तथा शिक्षा नीति को इस प्रकार लचीला बनाये जाने की आवश्यकता पर बल दिया जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल हो। आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की गयी। जिसमें निम्नलिखित तथ्यों पर बल दिया गया—

- 14 वर्ष की आयु तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।
- शिक्षा के लिये तीन भाषाई फार्मूला—मातृभाषा, हिन्दी एवं अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का विकास।
- राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना।
- अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा उनके लिये मानक तय करना।
- कृषि तथा औद्योगिक शिक्षा का विकास।
- विज्ञान तथा अनुसंधान शिक्षा का समानीकरण (equalisation)।
- सस्ती पुस्तकें उपलब्ध कराना तथा पाठ्य-पुस्तकों को उत्तम बनाना।

शिक्षा के विकास हेतु नवीन प्रयास

1976: शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित कर लिया गया।

1986: नवीन शिक्षा नीति की घोषणा की गयी।

2002: छह से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया गया।

2010: निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा अधिकार अधिनियम लागू हुआ। अब 6-14 वर्ष आयु के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना केंद्र एवं राज्य सरकारों का कानूनी रूप से प्रवर्तनीय कार्य है।

देशी-भाषाई (वर्नाक्यूलर) या स्थानीय शिक्षा का विकास

19वीं शताब्दी तक देशी-भाषाई शिक्षा राज्यों का मामला था। यह मुख्यतया स्थानीय समृद्ध जमीदारों की दया पर निर्भर था।

1835, 1836, 1838: बंगाल एवं बिहार में देशी-भाषाई शिक्षा से संबंधित विलियम एडम्स की रिपोर्ट में इसकी अनेक खामियों पर प्रकाश डाला गया।

1843-53: उत्तर-पश्चिमी प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स जोनाथन के अनुप्रयोग पर इस प्रांत की प्रत्येक तहसील में एक सरकारी विद्यालय को आदर्श विद्यालय (model school) के रूप में विकसित किये जाने तथा देशी-भाषाई विद्यालयों के लिये शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से एक सामान्य विद्यालय खोलने की योजना बनायी गयी।

1853: लार्ड डलहौजी ने अपने प्रसिद्ध स्मरण-पत्र (minute) में, देशी-भाषाई शिक्षा की सशक्त वकालत की।

1854: चार्ल्स वुड के डिस्पैच में देशी-भाषाई शिक्षा के संबंध में निम्न प्रावधान किये गये–

(i) स्तर में सुधार।

(ii) सरकारी संस्थाओं द्वारा निरीक्षण। तथा

(iii) शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिये एक सामान्य स्कूल की स्थापना।

1854-71: सरकार ने माध्यमिक एवं देशी-भाषाई शिक्षा के लिये कुछ कदम उठाये। इस काल में देशी-भाषाई स्कूलों की संख्या में 5 गुना वृद्धि हुई।

1882: हंटर आयोग ने सुझाव दिया कि सरकार को देशी-भाषाई शिक्षा के उन्नयन एवं प्रसार के संबंध में विशेष कदम उठाने चाहिये। जनसाधारण की शिक्षा को स्थानीय शिक्षा के माध्यम से ही प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

1904: शिक्षा नीति ने स्थानीय शिक्षा के विकास एवं इसके लिये और अधिक धन दिये जाने की आवश्यकता पर बल दिया।

1929: हार्टोग समिति ने प्राथमिक शिक्षा की अंधकारमय तस्वीर प्रस्तुत की।

1937: कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने देशी-भाषाई विद्यालयों को प्रोत्साहन एवं समर्थन प्रदान किया।

तकनीकी शिक्षा का विकास

1887 में रुड़की में अभियांत्रिकी महाविद्यालय की (Engineering College) की स्थापना की गयी तथा 1856 में कलकत्ता अभियांत्रिकी महाविद्यालय अस्तित्व में आया। 1858 में पूना के ओवरसियर्स स्कूल का दर्जा बढ़ाकर उसे पूना इंजीनियरिंग कालेज में बदल दिया गया तथा उसे बंबई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया। गुइंडी इंजीनियरिंग कालेज (Guindy Engineering College) को मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया।

1835 में कलकत्ता में चिकित्सा महाविद्यालय (Medical College) की स्थापना से चिकित्सा शिक्षा का शुभारंभ हुआ।

लार्ड कर्जन ने विभिन्न व्यावसायिक पाठ्यक्रमों जैसे अभियांत्रिकी, चिकित्सा, कृषि एवं पशु चिकित्सा इत्यादि के उन्नयन एवं प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसके प्रयत्नों से ही पूसा में कृषि महाविद्यालय की स्थापना हुई। इस महाविद्यालय ने देश के अन्य भागों में स्थापित कृषि महाविद्यालयों के लिये संरक्षक की भूमिका निभायी।

अंग्रेजों की शिक्षा नीति का मूल्यांकन

सीमित रूप से ही सही लेकिन सरकार ने आधुनिक शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किंतु इस संबंध में लोकोपरोकारी भारतीयों के प्रयास ज्यादा सराहनीय थे। सरकार द्वारा आधुनिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने में उठाये गये कदम निम्न कारणों से प्रभावित थे–

- प्रबुद्ध भारतीयों द्वारा आधुनिक शिक्षा के संबंध में किये गये प्रदर्शन, ईसाई मिशनरियां एवं मानवतावादी नौकरशाह।
- प्रशासन के निम्न स्तरीय पदों हेतु भारतीयों की आपूर्ति को सुनिश्चित करने की योजना तथा इंग्लैण्ड के व्यापारिक हितों को पूरा करने की आवश्यकता। इसीलिये सरकार ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने पर ज्यादा जोर दिया।
- सरकार की यह उम्मीद की शिक्षित भारतीय इंग्लैण्ड में निर्मित वस्तुओं की मांग को बढ़ाने में सहायक होंगे।
- सरकार की यह अभिलाषा थी कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से भारतीय अंग्रेजी रंग में रंग जायेंगे तथा इससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को स्थायित्व मिलेगा। साथ ही यह शिक्षा, ब्रिटिश विजेताओं तथा उनके प्रशासन का महिमामंडन करेगी। इस प्रकार अंग्रेजों की योजना थी कि वे आधुनिक एवं पाश्चात्य शिक्षा का प्रयोग कर अपनी सत्ता को भारत में सुदृढ़ एवं स्थायी बना देंगे।
- भारतीय शिक्षा की परम्परागत पद्धति से धीरे-धीरे प्रशासनिक कर्मचारियों की मांग में गिरावट आ रही थी। विशेष रूप से 1844 के पश्चात, जब यह स्पष्ट हो गया

कि सरकारी सेवाओं के लिये आवेदन करने वाले भारतीयों को अंग्रेजी का ज्ञान होना आवश्यक है।

• जनसाधारण की शिक्षा की उपेक्षा करने से देश में निरक्षरता में तेजी से वृद्धि हुई। जैसा कि आकड़ों से स्पष्ट है कि 1911 में निरक्षरता का प्रतिशत 84 था जो 1921 में बढ़कर 92 हो गया। निरक्षरता में वृद्धि से मुट्ठीभर शिक्षित भारतीयों एवं जनसाधारण के बीच भाषायी एवं सांस्कृतिक खाई चिंताजनक रूप से चौड़ी हो गयी।

• शिक्षा व्यवस्था को मंहगा कर दिये जाने से यह आम भारतीय की पहुंच से दूर हो गयी तथा उच्च एवं धनी वर्ग तथा शहरों में निवास करने वाले लोगों का इस पर एकाधिकार (monopoly) हो गया।

• अंग्रेजों ने स्त्री शिक्षा की पूर्णरूपेण उपेक्षा की। क्योंकि—(i) सरकार समाज के रूढ़िवादी तबके को नाराज नहीं करना चाहती थी तथा (ii) तत्कालीन उपनिवेशी शासन के लिये यह किसी प्रकार से फायदेमंद भी नहीं थी।

• वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा की भी उपेक्षा की गयी। 1857 के अंत तक देश में केवल तीन चिकित्सा महाविद्यालय (कलकत्ता, बंबई एवं मद्रास) थे। अभियांत्रिक महाविद्यालय भी केवल एक था (रूड़की में) जिसकी स्थापना यूरोपीय एवं यूरेशियाई लोगों को इंजीनियरिंग की शिक्षा देने के लिये की गयी थी, न कि भारतीयों को।

सारांश

- **कंपनी शासन के अंतर्गत शैक्षिक विकास**
  - चार्टर एक्ट, 1813 से शुरुआत
  - आंग्ल-प्राच्य विवाद
  - थॉमसन के प्रयास
  - चार्ल्स वुड का डिस्पैच (1854)
- **क्राउन के शासनाधीन शिक्षा का विकास**
  - हन्टर शिक्षा आयोग (1882-83)
  - भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (1904)
  - शिक्षा नीति पर सरकारी प्रस्ताव (1913)
  - सैडलर विश्वविद्यालय आयोग (1917-19)
  - द्वैध शासनाधीन शिक्षा
  - हार्टोग समिति (1929)
  - शिक्षा की सार्जेन्ट योजना
- **स्वतंत्रता के पश्चात् शैक्षिक विकास**
  - राधाकृष्ण आयोग (1948-49)
  - कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66)
  - देशी-भाषाई या स्थानीय शिक्षा का विकास
- **तकनीकी शिक्षा का विकास**
- **अंग्रेजों की शिक्षा नीति का मूल्यांकन**

अध्याय 31

कृषक आंदोलन (1857-1947)

उपनिवेशवाद के अधीन भारतीय कृषि व्यवस्था

अंग्रेजों द्वारा भारतीय कृषि व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किये जाने से देश के कृषि जगत में हलचल पैदा हो गयी तथा भारतीय कृषक निर्धनता की बेड़ियों से जकड़ लिए गए। उपनिवेशवाद के अधीन भारतीय कृषि की निर्धनता के निम्न प्रमुख कारण थे–

- उपनिवेशवादी आर्थिक नीतियां।
- भारतीय हस्तशिल्प के विनाश से भूमि पर अत्यधिक दबाव।
- नयी भू-राजस्व व्यवस्था। तथा
- उपनिवेशवादी प्रशासनिक एवं न्यायिक व्यवस्था।

भारतीय कृषक लगान की ऊंची दरों, अवैध करों, भेदभावपूर्ण बेदखली एवं जमींदारी क्षेत्रों में बेगार जैसी बुराइयों से त्रस्त थे। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में सरकार ने स्वयं किसानों पर भारी कर आरोपित कर दिये। इन विभिन्न कठिनाइयों के बोझ से दबे किसान, अपनी जीविका के एकमात्र साधन को बचाने के लिये महाजनों से ऋण लेने हेतु विवश हो जाते थे। ये महाजन उन्हें अत्यंत ऊंची दरों पर ऋण देकर उन्हें ऋण के जाल में फांस लेते थे। अनेक अवसरों पर तो किसानों को अपनी भूमि एवं पशु भी गिरवी रखने पड़ते थे। कभी-कभी ये सूदखोर या महाजन किसानों की गिरवी रखी गयी सम्पत्ति को भी जब्त कर लेते थे। इन सभी कारणों से कृषक धीरे-धीरे निर्धन लगानदाता तथा मजदूर बन कर रह गये। बहुत से कृषकों ने कृषि कार्य छोड़ दिया, कृषि-भूमि रिक्त पड़ी रहने लगी तथा कृषि उत्पादन कम होने लगा।

यदा-कदा किसानों ने अपने अत्याचारों का विरोध भी किया तथा शीघ्र ही वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनका मुख्य शत्रु उपनिवेशवादी शासन है। कभी-कभी उत्पीड़न की पराकाष्ठा हो जाने पर किसानों ने आपराधिक कार्य भी किये। इन अपराधों में डकैती, लूट एवं हत्यायें जैसी घटनायें भी शामिल थीं।

प्रारंभिक कृषक आंदोलनों का सिंहावलोकन

नील आंदोलन (1859-60)

अंग्रेजों के शासनकाल में किसानों का पहला जुझारू एवं संगठित विद्रोह नील विद्रोह था। 1859-60 ई. में बंगाल में हुए इस विद्रोह ने प्रतिरोध की एक मिसाल ही स्थापित कर दी। यूरोपीय बाजारों की मांग की पूर्ति के लिये नील उत्पादकों ने किसानों को नील की अलाभकर खेती के लिये बाध्य किया। जिस उपजाऊ जमीन पर चावल की अच्छी खेती हो सकती थी, उस पर किसानों की निरक्षरता का लाभ उठाकर झूठे करार द्वारा नील की खेती करवायी जाती थी। करार के वक्त मामूली सी रकम अग्रिम के रूप में दी जाती थी और धोखा देकर उसकी कीमत बाजार भाव से कम आंकी जाती थी। और, यदि किसान अग्रिम वापस करके शोषण से मुक्ति पाने का प्रयास भी करता था तो उसे ऐसा नहीं करने दिया जाता था।

कालांतर में सत्ता के संरक्षण में पल रहे नील उत्पादकों ने तो करार लिखवाना भी छोड़ दिया और लठैतों को पालकर उनके माध्यम से बलात नील की खेती शुरू कर दी। वे किसानों का अपहरण, अवैध बेदखली, लाठियों से पीटना, उनकी महिलाओं एवं बच्चों को पीटना, उनके पशुओं को जब्त कर लेना तथा उनके घरों एवं फसलों को जलाने जैसे क्रूर हथकंडे अपनाने लगे।

नील आंदोलन की शुरुआत 1859 के मध्य में बड़े नाटकीय ढंग से हुई। एक सरकारी आदेश को समझने में भूलकर कलारोवा के डिप्टी मैजिस्ट्रेट ने पुलिस विभाग को यह सुनिश्चित करने का आदेश दिया, जिससे किसान अपनी इच्छानुसार भूमि पर उत्पादन कर सकें। बस, शीघ्र ही किसानों ने नील उत्पादन के खिलाफ अर्जियां देनी शुरू कर दीं। पर, जब क्रियान्वयन नहीं हुआ तो *दिगम्बर विश्वास* एवं *विष्णु विश्वास* के नेतृत्व में नादिया जिले के गोविंदपुर गांव के किसानों ने विद्रोह कर दिया। जब सरकार ने बलपूर्वक युक्तियां अपनाने का प्रयास किया तो किसान भी हिंसा पर उतर आये। इस घटना से प्रेरित होकर आसपास के क्षेत्रों के किसानों ने भी उत्पादकों से अग्रिम लेने, करार करने तथा नील की खेती करने से इंकार कर दिया। बाद में किसानों ने जमींदारों के अधिकारों को चुनौती देते हुए उन्हें लगान अदा करना भी बंद कर दिया। यह स्थिति पैदा होने के पश्चात नील उत्पादकों ने किसानों के खिलाफ मुकदमे दायर करना शुरू कर दिये तथा मुकदमे लड़ने के लिये धन एकत्र करना प्रारंभ कर दिया। बदले में किसानों ने भी नील उत्पादकों की सेवा में लगे लोगों का सामाजिक बहिष्कार प्रारंभ कर दिया। इससे किसान शक्तिशाली होते गये तथा नील उत्पादक अकेले पड़ते गये।

बंगाल के बुद्धिजीवियों ने इस आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने

किसानों के समर्थन में समाचार-पत्रों में लेख लिखे, जनसभाओं का आयोजन किया तथा उनकी मांगों के संबंध में सरकार को ज्ञापन सौंपे। हरीशचंद्र मुखर्जी के पत्र *हिन्दू पैट्रियट* ने किसानों का पूर्ण समर्थन किया। दीनबंधु मित्र से *नील दर्पण* द्वारा गरीब किसानों की दयनीय स्थिति का मार्मिक प्रस्तुतीकरण किया।

स्थिति को देखते हुए सरकार ने नील उत्पादन की समस्याओं पर सुझाव देने के लिये नील आयोग का गठन किया। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने एक अधिसूचना जारी की, जिसमें किसानों को यह आश्वासन दिया गया कि उन्हें नील उत्पादन के लिये विवश नहीं किया जायेगा तथा सभी संबंधित विवादों को वैधानिक तरीकों से हल किया जायेगा। कोई चारा न देखकर नील उत्पादकों ने बंगाल से अपने कारखाने बंद करने प्रारम्भ कर दिये तथा 1860 तक यह विवाद समाप्त हो गया।

पाबना विद्रोह (1873-76)

बंगाल में 1870 और 1880 के दशक में जमींदारों द्वारा किसानों पर कानूनी सीमा से बहुत अधिक करारोपण तथा उनकी मनमानी कारगुजारियां बड़े पैमाने पर हुईं। इन कारगुजारियों के विरुद्ध बंगाल में 1873-76 के बीच एक सफल किसान आंदोलन हुआ, जिसे पाबना विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

पाबना जिले के यूसुफशाही परगने में 1873 में जमींदारों की मनमानी के प्रतिकार के लिये 'किसान-संघ' की स्थापना की गयी। इस संघ के अधीन किसान संगठित हुए और उन्होंने 'लगान-हड़ताल' कर दी और बढ़ी हुई दर पर लगान देने से इन्कार कर दिया। संघ ने जमींदारों के खिलाफ मुकदमे दायर किये तथा इसके लिये कोष भी स्थापित किये गये। शीघ्र ही इस प्रकार के संघ पाबना के अन्य भागों एवं पूर्वी बंगाल के दूसरे जिलों में भी स्थापित हो गये और जमींदारों के खिलाफ तेजी से मुकद्दमें दायर किये जाने लगे।

किसानों की यह लड़ाई मुख्यतया कानूनी मोर्चे पर ही लड़ी गयी थी। दरअसल, तब तक किसान अपने कानूनी अधिकारों के प्रति काफी जागरुक हो चुके थे और कानूनी लड़ाई लड़ना सीख गये थे। एकता, संगठन और शांतिपूर्ण संघर्ष के द्वारा अधिकारों की बहाली का तरीका उन्हें ज्ञात हो चुका था। इतने बड़े पैमाने पर चले हिंसक आंदोलन के दौरान हिंसक वारदातें नाममात्र की हुईं। प्रायः जब अदालती फैसलों के लागू करने में बाधा पहुंचायी गयी, तभी किसानों ने लाठी आदि का सहारा लिया।

यद्यपि कृषक विद्रोह का यह चरण 1885 तक चला, जब तक *बंगाल काश्तकारी कानून* नहीं बना, तथापि अधिकांश विवाद इससे बहुत पहले ही निपटा लिये गये थे, और किसानों को उनकी जमीन वापस मिल चुकी थी। कई विवाद सरकारी दबाव और बीच-बचाव से हल कराये गये और कई जमींदारों ने तो स्वयं ही डर के कारण समझौते की पेशकश की। इन जमींदारों को किसानों की संगठित शक्ति से भय लगने लगा था, साथ ही मुकदमों के चक्कर में फंसने में वे अपनी हानि देख रहे थे।

जिन मामलों में हिंसक वारदातें हुईं, वहां सरकार ने जमींदारों का पक्ष लिया और किसानों की गिरफ्तारियां बड़े पैमाने पर की गयीं। परंतु, जहां आंदोलन शांतिपूर्ण रहा तथा किसानों ने सिर्फ कानूनी मोर्चे पर लड़ाई लड़ी, वहां सरकार ने तटस्थ रुख अपनाया। यह आंदोलन न तो जमींदारी प्रथा के विरुद्ध था और न ही किसी भी स्तर पर यह उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति से जुड़ा था।

इस आंदोलन में भी बंगाल के बुद्धिजीवियों ने आंदोलनकारियों का भरपूर समर्थन किया। सुरेंद्रनाथ बनर्जी, आनन्द मोहन बोस और द्वारकानाथ गांगुली ने *इंडियन एसोसिएशन* के मंच से आंदोलनकारियों की मांगों का समर्थन किया। बंकिमचंद्र चटर्जी ने भी इस आंदोलन का समर्थन किया। राष्ट्रवादी अखबारों ने भी करों की वृद्धि को अनुचित बताते हुए स्थायी रूप से लगान निर्धारण का सुझाव दिया। इस आंदोलन में भी हिन्दू तथा मुसलमानों ने मिलकर संघर्ष किया यद्यपि अधिकांश किसान मुसलमान थे और अधिकांश जमींदार हिन्दू।

दक्कन विद्रोह

पश्चिमी भारत के दक्कन क्षेत्र में होने वाले विभिन्न कृषक विद्रोहों का मुख्य कारण 'रैयतवाड़ी बंदोबस्त' के अंतर्गत किसानों पर आरोपित किये गये भारी कर थे। इन क्षेत्रों में भी किसान, करों के भारी बोझ से दबे हुए थे तथा साहूकारों के कुचक्र में फंसने को विवश थे। ये महाजन अधिकांशतया बाहरी लोग थे, जिनमें मारवाड़ी या गुजराती प्रमुख थे। 1864 में अमेरिकी गृह युद्ध के समाप्त हो जाने पर कपास की कीमतों में भारी गिरावट आ गयी, जिससे महाराष्ट्र के किसान बुरी तरह प्रभावित हुए। 1867 में सरकार द्वारा भू-राजस्व की दरों में 50 प्रतिशत वृद्धि का निर्णय तथा लगातार फसलों की बर्बादी से कृषकों की समस्यायें चरम स्थिति में पहुंच गयीं।

महाजनों-सूदखोरों एवं किसानों के मध्य धीरे-धीरे तनाव बढ़ने लगा, जिसके फलस्वरूप 1874 में किसानों ने बाह्य महाजनों के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार आंदोलन प्रारंभ कर दिया। इस आंदोलन के तहत किसानों ने महाजनों की दुकानों से खरीदारी करने तथा उनके खेतों में मजदूरी करने से इंकार कर दिया। नाइयों, धोबियों तथा चर्मकारों ने भी महाजनों की किसी प्रकार की सेवा करने से इंकार कर दिया। किसानों का यह सामाजिक बहिष्कार शीघ्र ही पूना, अहमदनगर, शोलापुर एवं सतारा के गांवों में भी फैल गया। लेकिन यह सामाजिक बहिष्कार शीघ्र ही कृषि दंगों में परिवर्तित हो गया, जिसके फलस्वरूप किसानों ने महाजनों एवं सूदखोरों के घरों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर हमले किये। उनके ऋण संबंधी कागजात तथा करारनामे लूट लिये गये तथा सार्वजनिक तौर पर उनको आग लगा दी गयी।

सरकार ने आंदोलनकारियों के प्रति दमनकारी नीतियां अपनायीं तथा आंदोलन को कुचल दिया। 1879 में *दक्कन कृषक राहत अधिनियम* बनने से आंदोलन पूर्णतया समाप्त हो गया।

इस आंदोलन के समय भी महाराष्ट्र के आधुनिक विचारों से प्रभावित बुद्धिजीवी वर्ग ने सराहनीय भूमिका निभायी तथा तर्कपूर्ण ढंग से किसानों की मांगों को सरकार के सम्मुख उठाया।

1857 के पश्चात किसान आंदोलनों का परिवर्तित चरित्र

- किसान आंदोलनों में किसान मुख्य शक्ति बनकर उभरे तथा अब उन्होंने अपनी मांगों के लिये सीधे लड़ना प्रारंभ कर दिया।
- उनकी मांगें मुख्यतया आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध थीं।
- किसानों के मुख्य दुश्मन विदेशी बागान मालिक, देशी जमींदार, महाजन एवं सूदखोर थे।
- इनके आंदोलन विशिष्ट तथा सीमित उद्देश्यों एवं उनकी व्यक्तिगत समस्याओं से सम्बद्ध होते थे।
- इन आंदोलनों में उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज नहीं उठायी गयी।
- इन आंदोलनों में निरंतरता एवं दीर्घकालीन संगठन का अभाव था।
- इन आंदोलनों का प्रसार क्षेत्र सीमित था।
- इन आंदोलनों का उद्देश्य अधीनस्थ व्यवस्था (System of subordination) को समाप्त करना नहीं था अपितु ये किसानों की तात्कालिक समस्याओं से सम्बद्ध थे।
- किसान अब अपने विधिक अधिकारों से परिचित हो गये थे तथा वे कानूनी तरीके से संघर्ष करने के पक्षधर थे।

दुर्बलताएं

- इन आंदोलनकारियों में उपनिवेशवाद के चरित्र को समझने का अभाव था।
- 19वीं शताब्दी के किसानों में नयी विचारधारा का अभाव था तथा उन्होंने अपने आंदोलनों में नये सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कार्यक्रम सम्मिलित नहीं किये।
- इन संघर्षों का स्वरूप यद्यपि उग्रवादी था किंतु ये परम्परागत ढांचों पर ही अवलंबित थे।
- इनमें सकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव था।

बीसवीं शताब्दी के कृषक आंदोलन

बीसवीं शताब्दी के कृषक विद्रोह, पिछली शताब्दी के विद्रोहों से अधिक व्यापक, प्रभावी, संगठित व सफल थे। इस परिवर्तन के सूत्र, कृषक आंदोलन एवं भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अन्योनाश्रय संबंधों में थे। राष्ट्रीय आंदोलन ने अपना

संघर्ष तीव्र करने के लिये सामाजिक आधार बढ़ाने की कोशिश के क्रम में किसानों से नजदीकियां स्थापित कीं, वहीं दूसरी ओर किसानों ने राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ने के लाभों को देखकर तन-मन-धन से उसे समर्थन देना प्रारंभ कर दिया।

किसान सभा आंदोलन

1857 के विद्रोह के पश्चात अवध के तालुकदारों को उनकी भूमि लौटा दी गयी। इससे प्रांतों में कृषि व्यवस्था पर तालुकदारों या बड़े जमींदारों का नियंत्रण और बढ़ गया। कृषकों का एक बड़ा वर्ग इन तालुकदारों या जमींदारों के मनमाने अत्याचारों से पीड़ित था, जिनमें—लगान की ऊंची दरें, भूमि से बेदखली, अवैध कर तथा नजराना इत्यादि सम्मिलित थे। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत अनाज तथा अन्य आवश्यक चीजों के दाम अत्यधिक बढ़ गये। इससे उत्तर प्रदेश के किसानों की दशा अत्यंत दयनीय हो गयी।

मुख्यतया होमरूल लीग की गतिविधियों के कारण उत्तर प्रदेश में किसान सभाओं का गठन किया गया। फरवरी 1918 में *गौरीशंकर मिश्र* तथा *इंद्रनारायण द्विवेदी* ने उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन किया। इस कार्य में मदन मोहन मालवीय ने इन्हें सराहनीय योगदान प्रदान किया। 1919 के मध्य तक इसकी लगभग 500 शाखायें गठित की जा चुकी थीं। किसान सभाओं के गठन से सम्बद्ध प्रमुख नेताओं में *झिंगुरी सिंह, दुर्गापाल सिंह एवं बाबा रामचंद्र* का नाम भी सम्मिलित है। जून 1920 में बाबा रामचंद्र ने जवाहर लाल नेहरू से इन गांवों का दौरा करने का आग्रह किया। तत्पश्चात नेहरू ने इस आग्रह को स्वीकार करते हुए इन गांवों का दौरा किया तथा गांववासियों से गहन सम्पर्क स्थापित किया।

राष्ट्रवादी नेताओं में मतभेद के कारण अक्टूबर 1920 में 'अवध किसान सभा' का गठन किया गया। अवध किसान सभा ने किसानों से बेदखल जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। सभा ने इन नियमों का पालन न करने वाले किसानों का सामाजिक बहिष्कार करने तथा अपने विवादों को पंचायत के माध्यम से हल करने का आग्रह किसानों से किया।

जनवरी 1921 में कुछ क्षेत्रों में स्थानीय नेताओं की गलतफहमी एवं आक्रोश के कारण किसान सभा आंदोलन ने हिंसक रूप अख्तियार कर लिया। इस दौरान किसानों ने बाजारों, घरों एवं अनाज की दुकानों पर धावा बोलकर उन्हें लूटा तथा पुलिस के साथ उनकी हिंसक झड़पें भी हुईं। रायबरेली, फैजाबाद एवं सुल्तानपुर इन गतिविधियों के प्रमुख केंद्र थे।

धीरे-धीरे सरकारी दमन के कारण आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। इसी बीच सरकार ने 'अवध मालगुजारी रेंट संशोधन अधिनियम' पारित कर दिया। इसने भी आंदोलन को कमजोर किया। मार्च 1921 तक आंदोलन समाप्त हो गया।

एका आंदोलन

1921 के अंत में, उत्तर प्रदेश के उत्तरी जिलों—हरदोई, बहराइच तथा सीतापुर में किसान पुनः संगठित होकर आंदोलन पर उतर आये। इस बार आंदोलन से निम्न मुद्दे सम्बद्ध थे—

(i) लगान की उच्च दरें—लगान की दरें लगभग 50 प्रतिशत से भी अधिक थीं।

(ii) राजस्व वसूली के कार्य में जमींदारों द्वारा अपनायी गयीं दमनकारी नीतियां। तथा

(iii) बेगार की प्रथा।

इस *एका* या *एकता आंदोलन* में प्रतीकात्मक धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन किया जाता था तथा एकत्र किसानों को शपथ दिलायी जाती थी कि वे—

- केवल उचित लगान ही अदा करेंगे तथा लगान अदायगी में समय सीमा का पालन करेंगे।
- यदि उन्हें भूमि से बेदखल किया जायेगा तो वे भूमि नहीं छोड़ेंगे।
- बेगार करने से इंकार कर देंगे।
- अपराधियों से सम्बंध नहीं रखेंगे। तथा
- पंचायत के निर्णय स्वीकार करेंगे।

एका आंदोलन का मुख्य नेतृत्व समाज के निचले तबके के किसानों-मदारी, पासी एवं अन्य पिछड़ी जातियों के किसानों तथा कई छोटे जमींदारों ने किया।

मार्च 1922 के अंत तक सरकार ने इस आंदोलन को दमन का सहारा लेकर कुचल दिया।

मोपला विद्रोह

केरल में मालाबार तट पर अगस्त 1921 में अवध जैसे कारणों से ही प्रेरित होकर स्थानीय मोपला किसानों ने जबर्दस्त विद्रोह किया। मोपला, केरल के मालाबार तट के मुस्लिम किसान थे, जहां जमींदारी के अधिकार मुख्यतया हिन्दुओं के हाथों में थे। 19वीं शताब्दी में भी जमींदारों के अत्याचारों से पीड़ित होकर मोपलाओं ने कई बार विद्रोह किये थे। मोपलाओं के विद्रोह का प्रमुख कारण—लगान की उच्च दरें, नजराना एवं अन्य दमनकारी तौर-तरीके थे। किंतु इस बार के आंदोलन की विशेषता इसका राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ संबंध स्थापित होना थी।

खिलाफत आंदोलन ने किसानों की मांग का समर्थन किया, बदले में किसानों ने आंदोलन में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। यहां भी अवध के समान किसानों की बैठक और खिलाफत की बैठक में फर्क कर पाना कठिन था। गांधी जी, शौकत अली, मौलाना आजाद आदि राष्ट्रीय नेताओं ने इन क्षेत्रों का दौरा कर इनमें और भी सक्रियता ला दी। अंत में सरकार ने फरवरी 1921 में निषेधाज्ञा लागू कर खिलाफत के साथ किसानों

की सभाओं पर रोक लगा दी और इसके सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय मोपला नेताओं के हाथों में आ गया और आंदोलन ने हिंसक रूप अपना लिया। हिंसक चरण की शुरुआत 20 अगस्त 1921 को खिलाफत के एक प्रमुख नेता मुदलियार की गिरफ्तारी के लिये सेना के मस्जिद में प्रवेश करने के मुद्दे को लेकर हुई। इसे मोपलाओं ने अपने धर्म का अपमान समझा।

विद्रोह के प्रथम चरण में बदनाम जमींदारों को निशाना बनाया गया। विद्रोही मोपला किसान मुसलमान थे परंतु उदार जमींदारों और हिन्दुओं को उन्होंने परेशान नहीं किया। इसके लिये नेताओं द्वारा विद्रोहियों को विशेष हिदायत दी जाती थी। परंतु अंग्रेजी सरकार द्वारा 'मार्शल लॉ' लागू करने की घोषणा से विद्रोह का चरित्र बदल गया। सरकार ने तमाम हिन्दुओं को जबरदस्ती अपना समर्थन करने के लिये कहा और कुछ हिन्दू स्वेच्छा से भी खुले तौर पर सरकार का समर्थन करने लगे। इसने विद्रोह को हिन्दू-विरोधी स्वरूप दे दिया तथा बड़े पैमाने पर हिन्दुओं की हत्यायें एवं धर्म परिवर्तन की घटनायें हुईं।

मोपला विद्रोह के हिंसक रूप लेने के साथ ही राष्ट्रवादी नेता आंदोलन से अलग हो गये। आंदोलन के साम्प्रदायिक रूप ले लेने से वह और भी अलग-थलग पड़ गया। दिसम्बर 1921 तक सरकार ने पूरी तरह आंदोलन का दमन कर दिया। इससे मोपलाओं का मनोबल पूरी तरह टूट गया तथा आजादी की पूरी लड़ाई में वे फिर कभी शामिल नहीं हुए, जबकि केरल में वामपंथी नेतृत्व में बड़े पैमाने पर किसान आंदोलन भी चलाया गया।

बारदोली सत्याग्रह

भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर गांधीजी के पदार्पण के पश्चात गुजरात के सूरत जिले के बारदोली तालुके में राजनीतिक गतिविधियों में तेजी आयी। यहां परिस्थितियां उस समय तनावपूर्ण हो गयीं, जब जनवरी 1926 में स्थानीय प्रशासन ने भू-राजस्व की दरों में 30 प्रतिशत वृद्धि की घोषणा की। यहां के कांग्रेसी नेताओं के नेतृत्व में स्थानीय लोगों ने इस वृद्धि का तीव्र विरोध किया। परिस्थिति की गंभीरता को देखते हुए सरकार ने समस्या के समाधान हेतु 'बारदोली जांच आयोग' का गठन किया। आयोग ने संस्तुति दी कि भू-राजस्व की दरों में की गयी वृद्धि अन्यायपूर्ण एवं अनुचित है। फरवरी 1926 में, वल्लभभाई पटेल को आंदोलन की महिलाओं ने *सरदार* की उपाधि से विभूषित किया।

सरदार पटेल के नेतृत्व में किसानों ने बढ़ी हुई दरों पर भू-राजस्व अदा करने से इंकार कर दिया तथा सरकार के सम्मुख यह मांग रखी कि जब तक सरकार समस्या के समाधान हेतु किसी स्वतंत्र आयोग का गठन नहीं करती या प्रस्तावित लगान वृद्धि

वापस नहीं लेती तब तक वे अपना आंदोलन जारी रखेंगे। आंदोलन को संगठित करने के लिये सरदार पटेल ने पूरे तालुके में 13 छावनियों की स्थापना की। आंदोलनकारियों के समर्थन में जनमत का निर्माण करने के लिये *बारदोली सत्याग्रह पत्रिका* का प्रकाशन भी प्रारंभ किया गया। आंदोलन के तरीकों का पालन सुनिश्चित करने के लिये एक 'बौद्धिक संगठन' भी स्थापित किया गया। जिन लोगों ने आंदोलन का विरोध किया, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने हेतु भी अनेक कदम उठाये गये। के.एम.मुंशी तथा लालजी नारंजी ने आंदोलन के समर्थन में बंबई विधान परिषद की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया।

अगस्त 1928 तक पूरे क्षेत्र में आंदोलन पूर्णरूप से सक्रिय हो चुका था। आंदोलन के समर्थन में बंबई में रेलवे हड़ताल का आयोजन किया गया। पटेल की गिरफ्तारी की संभावना को देखते हुए 2 अगस्त 1928 को गांधीजी भी बारदोली पहुंच गये। सरकार अब आंदोलन को शांतिपूर्ण एवं सम्मानजनक ढंग से समाप्त किये जाने का प्रयास करने लगी। सरकार ने एक 'जांच समिति' गठित करना स्वीकार कर लिया। तदुपरांत गठित *ब्लूमफील्ड और मैक्सवेल समिति* ने भू-राजस्व में बढ़ोत्तरी को गलत बताया और बढ़ोत्तरी 30 प्रतिशत से घटाकर 6.03 प्रतिशत कर दी गयी। इस प्रकार बारदोली सत्याग्रह की सफल ऐतिहासिक परिणति हुई।

1930-40 के दशक के किसान आंदोलन

1930 और 1940 के दशक में भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ किसान आंदोलनों की आवृत्ति भी बहुत बढ़ गयी। इस चरण के आंदोलनों को उत्प्रेरित करने वाले तात्कालिक घटनाक्रम थे-1929-30 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का निर्धन कृषक वर्ग पर अत्यंत बुरा प्रभाव पड़ना तथा कांग्रेस द्वारा 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' के साथ एक बार फिर व्यापक जनाधार का आंदोलन छेड़ना। इस आंदोलन ने देश के बहुत बड़े हिस्से में टैक्स और लगान न देने के अभियान का रूप लिया।

इस चरण के किसान संघर्षों ने यद्यपि तात्कालिक तौर पर कुछ ज्यादा प्राप्ति नहीं की, तथापि उन्होंने एक ऐसा वातावरण अवश्य तैयार किया, जिसके फलस्वरूप स्वतंत्रता के पश्चात अनेक कृषि सुधार हुए। यथा-जमींदारी उन्मूलन की जो मांग इस दौर में उठी वह स्वतंत्रता के पश्चात कार्यान्वित हुई। इसी प्रकार, ट्रावनकोर राज्य के भारत में विलय के लिये *पुनप्रवायलार* के आंदोलन ने ऐतिहासिक भूमिका निभायी।

इस चरण में किसानों की जो तात्कालिक मांगें थीं, उनमें-टैक्सों में कटौती, सामंतों की गैर-कानूनी वसूलियां और बेगार की समाप्ति, जमींदारों के अत्याचारों से मुक्ति, ऋण बोझ में कमीं, गैरकानूनी तरीकों से ली गयी भूमि की वापसी तथा किसानों की सुरक्षा आदि प्रमुख थीं। खेतिहर मजदूरों की मांगें आंध्र प्रदेश और गुजरात के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के किसान आंदोलनों में गौण ही रहीं। वास्तव में ये आंदोलन,

कृषि ढांचे में आमूल-चूल परिवर्तन के लिये नहीं हुए, बल्कि इनका उद्देश्य इस व्यवस्था के कुछ अत्यंत पीड़ादायक पहलुओं का अंत करना था।

इस काल में किसान आंदोलनों के अभ्युदय के कुछ महत्वपूर्ण कारण थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन ने युवा एवं जुझारू राजनीतिक कार्यकर्ताओं की एक पूरी पीढ़ी पैदा की। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन में ठहराव आया, तब इन कार्यकर्ताओं ने अपनी राजनीतिक ऊर्जा, किसान एवं मजदूर आंदोलनों में लगा दी। फिर, 1937 के चुनावों में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी। 1937-39 के बीच 28 महीनों का कांग्रेसी शासनकाल किसान आंदोलनों का उत्कर्ष काल था। एक तो इस काल में आंदोलनों के लिये नागरिक स्वतंत्रतायें अधिक मिलीं दूसरे, कांग्रेसी सरकारों ने कृषि-कानूनों में सुधार के लिये कुछ ठोस कदम भी उठाये।

अखिल भारतीय किसान कांग्रेस सभा

इस सभा की स्थापना अप्रैल 1936 में लखनऊ में की गयी। *स्वामी सहजानंद सरस्वती* इस सभा के अध्यक्ष तथा *एन.जी. रंगा* सचिव चुने गये। इस सभा ने किसान घोषणा-पत्र जारी किया तथा इंदुलाल याज्ञिक के निर्देशन में एक पत्र का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का सम्मेलन फैजपुर में आयोजित किया गया। 1937 के प्रांतीय चुनावों हेतु जारी किये गये कांग्रेसी घोषणा-पत्र के अनेक प्रावधान, अखिल भारतीय किसान सभा के एजेंडे से प्रभावित थे।

कांग्रेसी सरकारों के अंतर्गत

1937-39 के मध्य किसान आंदोलनों की आवृति बहुत बढ़ गयी। कांग्रेसी सरकारों के सहयोगात्मक रवैये के कारण किसानों ने तेजी से अपनी मांगे उठानी प्रारंभ कर दीं। इस अवधि में जनसभायें, प्रदर्शन, धरने आदि आयोजित किये गये तथा गांवों में भी किसान आंदोलनों का प्रसार किया गया।

प्रांतों में किसानों की गतिविधियां

केरल

केरल के मालाबार क्षेत्र में वामपंथियों के नेतृत्व में 'कर्षक संघमों' में संगठित होकर किसानों ने सामंती वसूलियों, अग्रिम लगान वसूली तथा बेदखली इत्यादि के विरुद्ध जबरदस्त अभियान छेड़ा। उनका एक तरीका अत्यंत लोकप्रिय और प्रभावी सिद्ध हुआ, जिसमें वे जत्थे बनाकर जमींदारों के घर जाते थे और उनके सामने अपनी मांगें रखकर तत्काल समाधान प्राप्त करते थे। 1938 में किसानों ने मालाबार टेनेंसी एक्ट 1929 में संशोधन के लिये एक महत्वपूर्ण आंदोलन चलाया।

आंध्र प्रदेश

यहां 1937 के चुनावों में जमींदारों तथा उनके समर्थक उम्मीदवारों की पराजय के कारण किसानों का मनोबल बहुत बढ़ा तथा उन्होंने जमींदारों के विशेषाधिकारों और ज्यादतियों के विरुद्ध विद्रोह प्रारंभ कर दिया। ऋण में राहत की मांग भी इस आंदोलन में महत्वपूर्ण थी। इस समय प्रदेश में कई कृषक संगठन सक्रिय थे। 1933 में एन.जी. रंगा ने 'भारतीय कृषक संस्थान' की स्थापना की। आंध्र के किसान आंदोलनों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि किसान कार्यकर्ताओं को अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र में प्रशिक्षित करने के लिये प्रसिद्ध वामपंथी नेता 'ग्रीष्म कालीन स्कूलों' में व्याख्यान देने आते थे, जिनकी व्यवस्था किसानों के द्वारा दिये गये चंदे से होती थी। इन नेताओं में पी.सी. जोशी, अजय घोष एवं आर.डी. भारद्वाज प्रमुख थे।

बिहार

यहां सहजानंद सरस्वती, कार्यानंद शर्मा, यदुनंदन शर्मा, राहुल सांस्कृत्यानन, पंचानन शर्मा एवं जामुन कार्जीति इत्यादि नेताओं ने किसान आंदोलनों को योग्य नेतृत्व प्रदान किया। 1935 में प्रांतीय किसान सभा ने जमींदारों के उन्मूलन का प्रस्ताव पारित किया। बकाश्त जमीन की वापसी के लिये जब इन्होंने आंदोलन तेज किया, तब कांग्रेस सरकार से इस आंदोलन के मतभेद भी हो गये, क्योंकि वह उस दौर में जमींदारों को नाराज कर राष्ट्रीय आंदोलन में बाधाएं खड़ी नहीं करना चाहती थी। आंदोलन का मुख्य स्वरूप था—सत्याग्रह तथा जबरदस्त बुआई और फसल कटाई। इस दौरान किसानों के जमींदारों के साथ बड़े पैमाने पर संघर्ष भी हुए। 1939 में कुछ सुविधायें मिल जाने के कारण तथा कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी के कारण यह आंदोलन कुछ समय के लिए स्थगित हो गया। 1945 में यह पुनः प्रारंभ हुआ और स्वाधीनता के बाद भी चलता रहा, जब तक जमींदारी प्रथा समाप्त नहीं हो गयी।

पंजाब

पंजाब में हुए प्रारंभिक किसान आंदोलनों में पंजाब नौजवान भारत सभा, कीर्ति किसान दल, कांग्रेस एवं अकाली दल की मुख्य भूमिका थी। 1937 में पंजाब किसान समिति ने किसान आंदोलन के संबंध में नये दिशा-निर्देश जारी किये। इस आंदोलन का मुख्य निशाना पश्चिमी पंजाब के जमींदार थे, जिनकी शक्ति यूनियनवादी सरकार के गठन के बाद काफी बढ़ गयी थी। इस आंदोलन का प्रमुख कारण अमृतसर एवं लाहौर में भू-राजस्व में वृद्धि, मुल्तान एवं मांटगोमरी में सिंचाई कर में वृद्धि तथा निजी ठेकेदारों द्वारा नये टैक्स लगाया जाना था। यहां किसानों ने अपनी मांगों के समर्थन में हड़तालें कीं तथा अंत में वे रियायत प्राप्त करने में सफल रहे।

पंजाब में किसानों की गतिविधियों के मुख्य केंद्र थे—जालंधर, अमृतसर,

होशियारपुर, लैलपुरा एवं शेखुपुरा। पश्चिमी पंजाब के मुस्लिम किसान तथा दक्षिण-पूर्वी पंजाब के हिन्दू किसान इन आंदोलनों के प्रभाव से सामान्यतया अछूते ही रहे।

इन प्रांतों के अतिरिक्त बंगाल, उड़ीसा, असम, पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत राज्यों और त्रावनकोर तथा हैदराबाद जैसी देशी रियासतों में भी इस चरण में प्रभावी कृषक आंदोलन हुए।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वामपंथियों की विपरीत धारा की राजनीति के कारण कृषक आंदोलन में कुछ ठहराव सा आ गया। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान किसान सभा के साम्यवादियों और गैर-साम्यवादियों के बीच मतभेद बहुत गहरे हो गये। इसके परिणामस्वरूप कई प्रमुख नेता यथा-सहजानंद, इंदुलाल याज्ञिक तथा एन.जी. रंगा सभा से अलग हो गये तथा 1943 में किसान सभा में विभाजन हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात्

तेभागा आंदोलन

यह आंदोलन बंगाल के सबसे प्रमुख कृषक आंदोलनों में से एक था। 1940 के लगान आयोग द्वारा की गयी सिफारिश के अनुसार, इस आंदोलन में मांग की गयी कि फसल का दो-तिहाई हिस्सा बर्गदारों (किसानों) को दिया जाये। यह आंदोलन बटाईदारों द्वारा जोतदारों के विरुद्ध चलाया गया था। इस आंदोलन में सबसे मुख्य भूमिका 'बंगाल किसान सभा' की थी। इस सभा के नेतृत्व में सभाओं एवं प्रदर्शनों का आयोजन किया गया तथा *तिभागा चाई* (हमें दो-तिहाई भाग चाहिये) एवं *इंकलाब जिंदाबाद* जैसे नारे लगाये गये। शीघ्र ही तिभागा आंदोलन जलपाईगुड़ी, मिदनापुर एवं रंगपुर जिलों में भी फैल गया। इस आंदोलन में सभी स्थानों पर बटाईदारों ने एक जैसी पद्धति अपनायी। वे लाठी लेकर प्रदर्शन करते थे तथा नारे लगाते थे एवं उपज को जोतदार के घर ले जाने की बजाय अपने घर ले जाते थे। बर्गदारों ने आंदोलनकारी किसानों को भरपूर समर्थन दिया। बंगाल की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों-मुफ्फर अहमद, सुनील सेन तथा मोनी सिंह ने इस आंदोलन में मुख्य भूमिका निभायी

इस आंदोलन में कई स्थानों पर महिलाओं ने न केवल सक्रियता से भाग लिया अपितु कुछ ने तो आंदोलन का नेतृत्व भी किया। काकद्वीप में इन्होंने आंदोलनकारियों के साथ मिलकर सभाओं एवं प्रदर्शनों में भाग लिया। 'बंगीय प्रादेशिक किसान सभा' के नेतृत्व में चलाये गये इस आंदोलन के मुख्य केंद्र थे—संदेशखाली, हरोआ, काकद्वीप, भंगर, सोनारपुर, कासनींग और चौबीस परगना जिले का सुंदरवन क्षेत्र। इसके

अतिरिक्त उत्तरी बंगाल के कई क्षेत्रों में भी जोरदार ढंग से आंदोलन चलाया गया। इन स्थानों में किसानों ने 'तिभागा' का नारा बुलंद करते हुए जमींदारों एवं साहूकारों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। आंदोलनकारियों की पुलिस के साथ कई स्थानों पर हिंसक झड़पें भी हुईं।

स्वाधीनता के पश्चात भी यह आंदोलन उस समय तक जारी रहा, जब तक 1949 में 'बर्गदार अधिनियम' नहीं बन गया।

तेलंगाना आंदोलन

यह आंदोलन, आधुनिक भारत के इतिहास का सबसे बड़ा कृषक गुरिल्ला युद्ध था, जिसने 3 हजार गांवों तथा 30 लाख लोगों को प्रभावित किया।

तेलंगाना क्षेत्र में स्थानीय देशमुखों ने पटेल तथा पटवारियों की मिली-भगत से अधिकांश उपजाऊ भूमि पर कब्जा कर लिया तथा अपनी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में पर्याप्त वृद्धि कर ली। इन देशमुखों को स्थानीय प्रशासन एवं पुलिस के साथ ही निजाम की सरकार का भी संरक्षण प्राप्त था।

इन देशमुखों ने किसानों तथा खेतिहर मजदूरों का भरपूर शोषण किया तथा इस क्षेत्र में इनके अत्याचारों की एक बाढ़ सी आ गयी। सामंती दमन तथा जबरन वसूली स्थानीय किसानों के भाग्य की नियति बन गये।

अपने प्रति किये जा रहे अत्याचारों से तंग आकर किसानों एवं खेतिहर मजदूरों ने शोषकों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया। कुछ समय पश्चात स्थानीय कम्युनिस्ट, मझोले कृषक तथा कांग्रेस संगठन भी इस अभियान में शामिल हो गये। इस आंदोलन में विद्रोहियों ने शोषकों के विरुद्ध गुरिल्ला आक्रमण की नीति अपनायी। युद्ध के दौरान कम्युनिस्ट नेतृत्व वाले गुरिल्ला छापामारों ने आंध्र महासभा के सहयोग से पूरे तेलंगाना क्षेत्र के गांवों में अपनी अच्छी पैठ बना ली।

विद्रोह की शुरुआत जुलाई 1946 में तब हुई, जब नालगोंडा के जंगांव तालुका में एक देशमुख की गांव के उग्रवादियों ने हत्या कर दी। शीघ्र ही विद्रोह वारंगल एवं कम्मम में भी फैल गया। किसानों ने 'संघम' के रूप में संगठित होकर देशमुखों पर आक्रमण प्रारंभ कर दिये। इन्होंने हथियारों के रूप में लाठियों, पत्थर के टुकड़ों एवं मिर्च के पाउडर का उपयोग किया। किंतु सरकार ने आंदोलनकारियों के प्रति अत्यंत निर्दयतापूर्ण रुख अपनाया। अगस्त 1947 से सितम्बर 1948 के मध्य आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था। हैदराबाद विलय के संदर्भ में भारतीय सेना ने जब हैदराबाद को विजित कर लिया तो यह आंदोलन अपने आप समाप्त हो गया।

तेलंगाना आंदोलन की कई महत्वपूर्ण उपलब्धियां थीं, जो निम्नानुसार हैं–

- गुरिल्ला छापामारों (वेठियों) ने गांवों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया तथा बेगार प्रथा बिल्कुल समाप्त हो गयी।

- खेतिहर किसानों की मजदूरियां बढ़ा दी गयीं।
- अवैध रूप से कब्जा की गयी जमीन किसानों को वापस लौटा दी गयी।
- लगान की दरों को तय करने तथा भूमि के पुनर्वितरण हेतु अनेक कदम उठाये गये।
- सिंचाई-सुविधाओं में वृद्धि के लिये अनेक कदम उठाये गये तथा हैजे पर नियंत्रण के लिये प्रयास किये गये।
- महिलाओं की दशा में उल्लेखनीय सुधार आया।
- भारत की सबसे बड़ी देशी रियासत से अर्द्ध-सामंती व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया।
- आंदोलन ने भाषायी आधार पर आंध्र प्रदेश के गठन की भूमिका तैयार की।

किसान आंदोलन की उपलब्धियां

- इन आंदोलनों ने स्वाधीनता के उपरांत किये गये विभिन्न कृषि सुधारों के लिये एक अनुकूल वातावरण का निर्माण किया। उदाहरणार्थ—जमींदारी प्रथा का उन्मूलन।
- इन्होंने भूस्वामियों अर्थात किसानों को उनके वास्तविक अधिकारों से अवगत कराया तथा कृषि व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ की।
- ये आंदोलन राष्ट्रवादी विचारधारा पर अवलंबित थे।
- लगभग सभी क्षेत्रों में इन किसान आंदोलनों की प्रकृति समान थी।
- इनसे किसानों में अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता बढ़ी।

सारांश

- **उपनिवेशवाद के अंतर्गत भारतीय कृषि व्यवस्था**
- **प्रारंभिक कृषि आंदोलनों का सिंहावलोकन**
  - नील आंदोलन (1859-60)
  - पाबना विद्रोह (1873-76)
  - दक्कन विद्रोह
- **1857 के पश्चात् किसान आंदोलनों का परिवर्तित चरित्र**
- **बीसवीं शताब्दी के कृषक आंदोलन**
  - किसान सभा आंदोलन
  - एका आंदोलन
  - मोपला विद्रोह
  - बारदोली सत्याग्रह
- **1930-40 के दशक के किसान आंदोलन**
  - अखिल भारतीय किसान कांग्रेस सभा

कांग्रेसी सरकारों के अंतर्गत किसान आंदोलन

- **प्रांतों में किसानों की गतिविधियां**

केरल
आंध्र प्रदेश
बिहार
पंजाब

- **द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान किसान आंदोलन**
- **द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् आंदोलन**

तेभागा आंदोलन
तेलंगाना आंदोलन

- **किसान आंदोलन की उपलब्धियां**

अध्याय 32

भारतीय श्रमिक वर्ग आंदोलन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारंभ में भारत में आधुनिक उद्योग-धंधों की नींव पड़ी। 1853 के पश्चात भारतीय संचार साधनों में मशीनों का प्रयोग होने लगा। रेल लाइनों के बिछाने तथा इंजन के लिये कोयला निकालने में हजारों श्रमिकों को रोजगार मिला। यह भारतीय श्रमिक वर्ग का प्रारंभिक काल था। इन परिस्थितियों में रेलवे उद्योग से सम्बद्ध अन्य आयोगों का विकास भी आवश्यक था। कोयला उद्योग का भी तेजी से विकास हुआ तथा उसने हजारों श्रमिकों को रोजगार के अवसर प्रदान किये। इसके पश्चात कपास एवं जूट उद्योग का विकास हुआ।

इंग्लैंड तथा शेष संसार में औद्योगीकरण के प्रारंभिक चरण में श्रमिक वर्ग को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, भारतीय श्रमिक वर्ग ने भी भारत में उसी प्रकार के शोषण एवं कठिनाइयों का सामना किया। इन कठिनाइयों में—कम मजदूरी, कार्य के लम्बे घंटे, कारखानों में आधारभूत सुविधाओं का अभाव इत्यादि प्रमुख थीं। भारत में औपनिवेशिक शासन की उपस्थिति ने भारतीय श्रमिक आंदोलन को एक नयी विशेषता प्रदान की। भारतीय श्रमिक वर्ग को दो परस्पर विरोधी तत्वों-उपनिवेशवादी राजनीतिक शासन तथा विदेशी एवं भारतीय पूंजीपतियों के शोषण का सामना करना पड़ा। इन परिस्थितियों के कारण भारतीय श्रमिक आंदोलन, अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष का एक हिस्सा बन गया।

श्रमिक वर्ग के उत्थान हेतु प्रारंभिक प्रयास

प्रारंभिक राष्ट्रवादी, विशेषकर उदारवादी—

- भारतीय श्रमिकों की मांगों के प्रति उदासीन थे।
- ब्रिटिश स्वामित्व वाले कारखानों में कार्यरत श्रमिकों एवं भारतीयों के स्वामित्व वाले कारखानों में कार्यरत श्रमिकों को अलग-अलग मानते थे।
- इनका मत था कि श्रमिक विधानों के निर्माण से भारतीयों के स्वामित्व वाले उद्योगों पर बुरा असर पड़ेगा।
- वर्गीय आधार पर आंदोलन में विभाजन के पक्षधर नहीं थे।

• इसीलिये उक्त कारणों से 1881 तथा 1891 के कारखाना अधिनियमों का इन्होंने समर्थन नहीं किया।

इस प्रकार, श्रमिकों की दशाओं में सुधार के लिये किये गये प्रारंभिक प्रयत्न आत्म-केंद्रित थे तथा इनकी प्रकृति पृथक्, वैयक्तिक, विशिष्ट एवं स्थानीय समस्याओं की थी।

1870: शशीपदा बनर्जी ने एक श्रमिक क्लब की स्थापना की तथा *भारत श्रमजीवी* नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया।

1878: सोराबजी शपूर्जी बंगाली ने श्रमिकों को कार्य की बेहतर दशायें उपलब्ध कराने के लिये एक विधेयक प्रस्तुत किया, जिसे बाद में बंबई विधान परिषद ने पारित कर दिया।

1880: नारायण मेघाजी लोखंडे ने *दीनबंधु* नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा 'बंबई मिल एवं मिलहैंड एसोसिएशन' की स्थापना की।

1899: ग्रेट इंडियन पेनिन्सुलर रेलवे की प्रथम हड़ताल आयोजित की गयी। इस हड़ताल को अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त हुआ। तिलक ने अपने समाचार-पत्रों *मराठा* एवं *केसरी* के द्वारा हड़ताल का भरपूर समर्थन किया।

इस समय देश के कई प्रख्यात राष्ट्रवादी नेताओं यथा-बिपिनचंद्र पाल एवं जी. सुब्रहमण्यम अय्यर ने भारतीय श्रमिकों की दशा में सुधार करने तथा उनके लिये नियम-कानून बनाये जाने की मांग की।

स्वदेशी आंदोलन के दौरान

श्रमिकों ने विस्तृत राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी निभायी। अश्विनी कुमार बनर्जी, प्रभात कुमार राय चौधरी, प्रेमतोष बोस एवं अपूर्व कुमार घोष ने अनेक हड़तालों का आयोजन किया। इनकी हड़तालों के क्षेत्र थे—सरकारी मुद्रणालय, रेलवे एवं जूट उद्योग।

इस समय श्रमिक एवं व्यापार संघों की स्थापना के प्रयत्न भी किये गए, किंतु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली।

सुब्रह्मण्यम अय्यर एवं चिदम्बरम पिल्लई के नेतृत्व में तूतीकोरिन एवं तिरुनेलवेल्लि में हड़तालों का आयोजन किया गया, बाद में इन दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया।

तत्कालीन सबसे बड़ी हड़ताल का आयोजन उस समय किया गया, जब बाल गंगाधर तिलक को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया गया।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके उपरांत

प्रथम विश्व युद्ध के दिनों एवं उसकी समाप्ति के पश्चात, दोनों समयावधि में वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा निर्यात बढ़ा, जिससे उद्योगपतियों ने अभूतपूर्व

लाभ कमाया किंतु श्रमिकों की मजदूरी न्यूनतम ही रही।

इसी बीच भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर गांधी जी का अभ्युदय हुआ। गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का जनाधार व्यापक हुआ तथा उन्होंने श्रमिकों एवं किसानों को अपने आंदोलन से सम्बद्ध करने का प्रयास किया।

इस समय श्रमिकों को व्यापार संघों (Trade union) में संगठित किये जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

कुछ अंतरराष्ट्रीय घटनाओं यथा-सोवियत संघ की स्थापना, कूमिन्टर्न की स्थापना तथा अंतरर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) की स्थापना जैसी घटनाओं से भारतीय श्रमिक वर्ग में एक नयी चेतना का प्रसार हुआ।

एटक (AITUC) की स्थापना

31 अक्टूबर, 1920 को ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) की स्थापना की गयी। उस वर्ष (1920) के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष, लाला लाजपत राय एटक के प्रथम अध्यक्ष तथा दीवान चमनलाल इसके प्रथम महासचिव (General Secretary) चुने गये। लाला लाजपत राय ऐसे प्रथम नेता थे, जिन्होंने पूंजीवाद को साम्राज्यवाद से जोड़ने का प्रयास किया। उनके अनुसार ''साम्राज्यवाद एवं सैन्यवाद, पूंजीवाद की जुड़वा संतानें हैं''।

प्रख्यात कांग्रेसी एवं स्वराज्यवादी नेता सी.आर. दास ने एटक के तीसरे एवं चौथे अधिवेशन की अध्यक्षता की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गया अधिवेशन (1922) में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर एटक की स्थापना का स्वागत किया गया तथा इसकी सहायता के लिये एक समिति का गठन किया गया। सी.आर. दास ने सुझाव दिया कि कांग्रेस द्वारा श्रमिकों एवं किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन की प्रक्रिया में भागीदार बनाया जाना चाहिये तथा उसे इनकी (श्रमिकों एवं किसानों) मांगों का समर्थन करना चाहिये। यदि कांग्रेस ऐसा नहीं करती तो ये दोनों ही वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा से पृथक हो जायेंगे। अन्य प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं, यथा-जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, सी.एफ एन्ड्रयूज, जे.एम. सेनगुप्ता, सत्यमूर्ति, वी.वी. गिरी एवं सरोजिनी नायडू ने भी आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से निकट संबंध स्थापित करने के प्रयास किए। अपनी स्थापना के प्रारंभिक वर्षों में 'एटक' ब्रिटेन के श्रमिक दल के सामाजिक एवं लोकतांत्रिक विचारों से प्रभावित था। इस पर अहिंसा, प्रन्यासवाद (Trusteeship) एवं वर्ग सहयोग जैसे गांधीवादी दर्शन के सिद्धांतों का भी गहरा प्रभाव था। गांधीजी ने अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन (1918) की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया तथा इसके साथ मिलकर श्रमिकों की मजदूरी में 27.5 प्रतिशत वृद्धि करने के लिये चलाये गये आंदोलन को समर्थन दिया। अंततः यह आंदोलन सफल रहा तथा श्रमिकों की मजदूरी में 27.5 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गयी।

ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926

इस अधिनियम द्वारा–

- व्यापार संघों को वैध संगठनों के रूप में मान्यता दे दी गयी।
- व्यापार संघों की गतिविधियों के पंजीकरण एवं नियमन संबंधी कानूनों की व्याख्या की गयी।
- व्यापार संघों की गतिविधियों को नागरिक एवं आपराधिक गतिविधियों की परिधि से बाहर माना गया किंतु उनकी राजनीतिक गतिविधियों के लिये कुछ सीमायें भी तय कर दी गयीं।

1920 के पश्चात्

इस अवधि के पश्चात साम्यवादी आंदोलन के उत्थान के फलस्वरूप व्यापार संघ आंदोलनों में कुछ क्रांतिकारी और सैनिक भावना आ गयी। 1928 में गिरनी कामगार यूनियन के नेतृत्व में बंबई टेक्टसटाइल मिल में 6 माह लंबी हड़ताल का आयोजन किया गया। इस पूरे वर्ष में औद्योगिक जगत में अभूतपूर्व उथल-पुथल की स्थिति रही। इस अवधि में विभिन्न साम्यवादी दलों में क्रिस्टलीकरण की प्रक्रिया भी परिलक्षित हुई। इस काल के साम्यवादी नेताओं में एस.ए. डांगे, मुजफ्फर अहमद, पी.सी. जोशी, एवं सोहन सिंह जोशी इत्यादि प्रमुख थे।

उग्रवादी प्रभावों के परिप्रेक्ष में व्यापार संघ आंदोलनों की बढ़ती क्रियाशीलता के कारण सरकार चिंतित हो गयी तथा उसने इन आंदोलनों पर रोक लगाने के लिये वैधानिक कानूनों का सहारा लेने का प्रयास किया। इस संबंध में सरकार ने श्रमिक विवाद अधिनियम, 1929 तथा नागरिक सुरक्षा अध्यादेश, 1929 (Public Safety Ordinance, 1929) बनाये।

श्रमिक विवाद अधिनियम, 1929 द्वारा–

- श्रमिक विवादों के समाधान हेतु जांच एवं परामर्श आयोग की स्थापना को अनिवार्य बना दिया गया।
- रेलवे, डाक, पानी और विद्युत संभरण जैसी सार्वजनिक सेवाओं में उस समय तक हड़ताल नहीं की जा सकती थी, जब तक प्रत्येक श्रमिक लिखित रूप से एक मास की पूर्व सूचना प्रशासन को न दे दे।

मेरठ षड्यंत्र केस (1929)

मार्च 1929 में, सरकार ने 31 श्रमिक नेताओं को बंदी बना लिया तथा मेरठ लाकर उन पर मुकदमा चलाया गया। इन पर आरोप लगाया गया कि ये सम्राट को भारत की प्रभुसत्ता से वंचित करने का प्रयास कर रहे थे। इन नेताओं में मुजफ्फर अहमद, एस. ए. डांगे, जोगलेकर, फिलिप स्प्राट, बेन ब्रैडली, शौकत उस्मानी तथा अन्य सम्मिलित

थे। इस मुकदमें को पूरे संसार में समर्थन मिला, परंतु इससे श्रमिक आंदोलन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। 1930 में गांधीजी के नेतृत्व में चलाये जा रहे सविनय अवज्ञा आंदोलन में श्रमिकों ने सक्रियता से भाग लिया, किंतु 1931 के पश्चात इसमें कुछ कमी आ गयी। इसका प्रमुख कारण 1931 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में विभाजन था। इस वर्ष दक्षिण पंथी मध्यमार्गियों, जिनके नेता एम.एन. जोशी, वी.वी. गिरी और मृणाल क्रांति बोस थे, ने एटक से अलग होकर 'भारतीय ट्रेड यूनियन संघ' (Indian Trade Union Federation) नामक एक नया संगठन बना लिया। अब श्रमिक वामपंथी दल में साम्यवादियों-कांग्रेसी समाजवादियों एवं वामपंथी राष्ट्रवादियों जैसे नेहरू एवं बोस जैसे नेताओं का गठबंधन था।

कांग्रेसी सरकारों के समय

1937 के प्रांतीय चुनावों में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने कांग्रेस के उम्मीदवारों का समर्थन किया। बाद में विभिन्न प्रांतों में गठित कांग्रेसी सरकारों ने व्यापार संघ गतिविधियों को अपना समर्थन दिया सामान्यतया श्रमिकों की मांगों के प्रति कांग्रेसी सरकारों का रवैया सहानुभूतिपूर्ण था। इस दौरान अनेक श्रमिक समर्थक विधान बनाए गए।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय एवं उसके उपरांत

प्रारंभ में श्रमिक संघों एवं नेताओं ने युद्ध का विरोध किया, किंतु 1941 में रूस के मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो जाने के उपरांत उनका रुख परिवर्तित हो गया तथा साम्यवादियों ने इसे 'लोगों का युद्ध' (People's war) कह कर इसका समर्थन प्रारंभ कर दिया। साम्यवादियों ने भारत छोड़ो आंदोलन से भी स्वयं को पृथक कर लिया तथा शांतिपूर्ण औद्योगिक नीति की वकालत प्रारंभ कर दी।

1947 की अवधि में, श्रमिकों ने युद्धोपरांत हुए राष्ट्रीय विप्लवों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। 1945 में बंबई एवं कलकत्ता के बंदरगाह मजदूरों ने इंडोनशिया भेजे जाने वाली रसद को जहाजों पर लादने से इंकार कर दिया। 1946 में शाही नौसेना में विद्रोह होने पर मजदूरों ने इसके समर्थन में हड़तालें कीं। उपनिवेशी शासन के अंतिम वर्ष भी मजदूरों ने पोस्ट, रेलवे एवं अन्य प्रतिष्ठानों में आयोजित हड़तालों में भागीदारी निभाई।

स्वतंत्रता के पश्चात्

राजनीतिक विचारधारा के आधार पर श्रमिक आंदोलनों का ध्रुवीकरण हो गया।

सारांश

- **श्रमिक वर्ग के उत्थान हेतु प्रारंभिक प्रयास**
- **स्वदेशी आंदोलन के दौरान**
- **प्रथम विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके पश्चात्**
  एटक (एआईटीयूसी) की स्थापना
  ट्रेड यूनियन अधिनियम, 1926
  1920 के पश्चात् श्रमिक वर्ग आंदोलन
  मेरठ षड्यंत्र केस (1929)
  कांग्रेसी सरकारों के समय
- **द्वितीय विश्व युद्ध के समय एवं तत्पश्चात्**
- **स्वतंत्रता के पश्चात्**

इकाई

10 स्वतंत्रता एवं स्वातंत्र्योत्तर विकास

- नवोदित राष्ट्र के समक्ष चुनौतियां
- भारतीय रियासतें
- भारतीय संविधान का निर्माण
- राष्ट्रवादी विदेश नीति का विकास
- प्रथम आम चुनाव–प्रवृत्तियां एवं चुनौतियां
- नेहरू के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत (1947-64)
- नेहरू के बाद भारत

अध्याय 33

नवोदित राष्ट्र के समक्ष चुनौतियां

स्वतंत्र भारत का प्रथम दिन

15 अगस्त, 1947 को एक नए युग की शुरुआत हुई जो नवीन भारत के दृष्टिकोण से व्याप्त था। यह दिन दासता के औपनिवेशिक शासन के अंत का प्रतीक और भारत की स्वतंत्रता के प्रारंभ का साक्षी था। 14 अगस्त, 1947 को संविधान सभा में आधी रात को आयोजित एक समारोह में स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के तौर पर बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने 'भाग्य से गुप्त भेंट' नामक ऐतिहासिक भाषण दिया। नेहरू ने भाषण देते हुए कहा कि, ''आज हम दुर्भाग्य के एक युग का अंत कर रहे हैं और भारत पुनः खुद को खोज पा रहा है। आज हम जिस उपलब्धि का उत्सव मना रहे हैं, वो महज एक कदम है, नए अवसरों के खुलने का, इससे भी बड़ी जीत और उपलब्धियां हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं। भारत की सेवा का अर्थ है, लाखों-करोड़ों पीड़ितों की सेवा

करना। इसका अर्थ है गरीबी, अज्ञानता और अवसर की असमानता को मिटाना। आज एक बार फिर वर्षों के संघर्ष के बाद, भारत जागृत और स्वतंत्र है। भविष्य हमें बुला रहा है। हमें किधर जाना चाहिए और क्या करना चाहिए, जिससे हम आम आदमी, किसानों और कामगारों के लिए आजादी और अवसर ला सकें। हम एक समृद्ध, लोकतांत्रिक और प्रगतिशील देश बना सकें। हम ऐसी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं को बना सकें, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन की परिपूर्णता और न्याय सुनिश्चित कर सकें। कोई भी देश तब तक महान नहीं बन सकता जब तक उसके लोगों की सोच या कर्म संकीर्ण हैं...''

जवाहर लाल नेहरू ने 15 अगस्त, 1947 को देश के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में पदभार संभाला और उनके साथ 15 मंत्रियों ने भी पद धारण किया। सरदार पटेल अपनी मृत्यु तक (दिसम्बर 1950 तक) देश के प्रथम उप-प्रधानमंत्री रहे। लार्ड माउंटबेटन और बाद में सी. राजगोपालाचारी ने 26 जनवरी, 1950 तक गवर्नर-जनरल के रूप में सेवाएं दीं। 1950 में भारत गणतंत्र बना और राजेन्द्र प्रसाद देश के प्रथम राष्ट्रपति बने।

स्वतंत्र भारत की प्रथम मंत्रिपरिषद् इस प्रकार है—

1. जवाहर लाल नेहरूः प्रधानमंत्री; विदेश मामले एवं कॉमनवेल्थ संबंध मंत्री; वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्री।

2. सरदार वल्लभभाई पटेलः उप-प्रधानमंत्री; गृह मंत्री, सूचना एवं प्रसारण मंत्री।

3. मौलाना अबुल कलाम आजादः शिक्षा मंत्री

4. जॉन मथाईः रेल एवं परिवहन मंत्री

5. सरदार बलदेव सिंहः रक्षा मंत्री

6. जयरामदास दौलतरामः खाद्य एवं कृषि मंत्री

7. जगजीवन रामः श्रम मंत्री

8. सी.एच. भाभाः वाणिज्य मंत्री

9. अमृत कौरः स्वास्थ्य मंत्री

10. रफी अहमद किदवईः संचार मंत्री

11. नरहर विष्णु गाडगिलः निर्माण, खान एवं ऊर्जा मंत्री

12. आर.के. षणमुखम चेट्टीः वित्त मंत्री

13. के.सी. नियोगीः राहत एवं पुनर्वास मंत्री

14. बी.आर. अम्बेडकरः विधि मंत्री (अनुसूचित जाति संघ से संबंधित; 1951 में त्यागपत्र)

15. श्यामा प्रसाद मुखर्जीः उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री

16. गोपालस्वामी आयंगरः बिना विभाग के मंत्री (मिनिस्टर विदआउट पोर्टफोलियो)

17. मोहनलाल सक्सेनाः मिनिस्टर विदआउट पोर्टफोलियो

हालांकि, स्वतंत्र भारत को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। **तात्कालिक समस्याएं**—भारतीय रियासतों का क्षेत्रीय एवं प्रशासनिक समन्वय, सांप्रदायिक दंगे, पाकिस्तान से प्रवासित लगभग 60 लाख शरणार्थियों के पुनर्वास की चुनौती, भारत में रह रहे मुसलमानों की रक्षा और साथ ही जो सांप्रदायिक समूह पाकिस्तान गए उनके संरक्षण का मामला, पाकिस्तान से युद्ध टालने की चुनौती, साम्यवादी विद्रोह इत्यादि, **मध्यावधिक समस्याएं**—भारत के लिए संविधान तैयार करना, एक प्रतिनिधिक, लोकतांत्रिक और नागरिक उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था, निर्वाचन एवं सामंतवादी व्यवस्था, इत्यादि। **दीर्घावधिक समस्याएं**—राष्ट्रीय एकीकरण, आर्थिक विकास, निर्धनता, आर्थिक नियोजन इत्यादि।

भारत और साथ ही साथ पाकिस्तान, ने भी विभाजन के परिणामों का सामना किया। स्वतंत्रता अधिनियम ने तीन मुख्य समस्याओं—(i) दो राज्यों के बीच सीमाओं का सीमांकन, (ii) भारतीय सिविल सेवाओं और अन्य सेवाओं संबंधी संगठन एवं कर्मचारियों का विभाजन, और (iii) सैन्य संपदाओं एवं संगठनों का विभाजन—के समाधान हेतु प्रक्रिया निर्धारित की।

रेडक्लिफ सीमा निर्णय और सांप्रदायिक दंगे

विभाजन योजना के अनुरूप, पंजाब एवं बंगाल की सम्बद्ध विधायी सभा दो भागों (एक ने मुस्लिम बहुल जिलों का प्रतिनिधित्व किया और दूसरे ने शेष प्रांत का) में मिली और दोनों प्रांतों के विभाजन के पक्ष में सामान्य बहुमत से निर्णय हुआ। पश्चिमी पंजाब पाकिस्तान में चला गया, जिसका 62,000 वर्ग मील का क्षेत्रफल और 15.7 मिलियन जनसंख्या (जनगणना 1941) थी, जिसमें से 11.85 मिलियन मुसलमान थे। पूर्वी पंजाब (भारत के हिस्से में आया) का 37,000 वर्ग मील का भू-क्षेत्र था, जिसमें 12.6 मिलियन जनसंख्या थी और इसमें से 4.37 मिलियन मुसलमान थे। इसी प्रकार, पश्चिम बंगाल भारत का हिस्सा बना, जिसका क्षेत्रफल 28,000 वर्ग मील था और इसकी जनसंख्या 21.2 मिलियन थी, जिसमें से 5.3 मिलियन मुसलमान थे। पूर्वी बंगाल, पाकिस्तान का पूर्वी क्षेत्र बना, जिसमें 49,400 वर्ग मील का क्षेत्र शामिल था और 39.10 मिलियन जनसंख्या (27.7 मिलियन मुसलमान और शेष गैर-मुस्लिम) थी। इस प्रकार रेडक्लिफ रेखा के दोनों तरफ, धार्मिक आधार पर बहुल वर्ग अल्पसंख्यक बन गया (20 मिलियन गैर-मुस्लिम पाकिस्तान में और 42 मिलियन मुस्लिम भारत में)।

सीमा आयोग के सम्मुख चुनौतियां

सर रेडक्लिफ की अध्यक्षता में गठित आयोग में, प्रत्येक मामले में दो मुस्लिम और दो गैर-मुस्लिम न्यायाधीश थे और उन्होंने गंभीर बाधाओं के तहत् कार्य किया। रेडक्लिफ को भारत के बारे में बेहद सीमित जानकारी थी, और प्राचीन मानचित्रों और जनसंख्या आंकड़ों के इस्तेमाल से 6 हफ्तों के भीतर सीमा निर्धारण और विवादास्पद बिंदुओं को निश्चित करना था।

यद्यपि, धार्मिक जनसंख्या निर्णायक कारक था, लेकिन नदियों (प्राकृतिक सीमाओं के रूप में), प्रशासनिक इकाइयों, आर्थिक क्षमता, रेल एवं सड़क मार्ग संपर्कता और अवसंरचनात्मक सुविधाएं जैसे अन्य कारकों पर भी विचार किया गया। सिख, तीसरे पक्ष के रूप में (हिंदू एवं मुस्लिम दो पक्ष थे), पूरे पंजाब में फैले हुए थे। उनकी इस मांग ने कि उनके सभी पवित्र तीर्थ स्थल पूर्वी पंजाब (भारत के हिस्से वाला क्षेत्र) में पड़ते हैं, स्थिति को और अधिक जटिल बना दिया। ऐसी कानूनी जटिलताओं संबंधी तार्किक निर्णय ने राजनीतिक मनन का मार्ग प्रशस्त किया। 1941 की जनगणना, जो इन निर्णयों का आधार थी, भी दोषपूर्ण थी। इसलिए अंतिम सीमा रेखा के निर्धारण ने कई समस्याओं को जन्म दिया और कई लोगों को नाखुश किया।

यद्यपि सीमा आयोग की रिपोर्ट को 12 अगस्त, 1947 को पढ़ा गया था, लेकिन माउंटबेटन ने जानबूझकर इसे 15 अगस्त, 1947 के बाद सार्वजनिक किया, ताकि सांप्रदायिक दंगों और इसके परिणामों की जिम्मेदारी ब्रिटिश शासन पर नहीं आएगी।

सांप्रदायिक दंगों से अत्यधिक प्रभावित क्षेत्र

हालांकि, सांप्रदायिक दंगे अगस्त 1946 में शुरू हो गए थे, लेकिन विभाजन और स्वतंत्रता की घोषणा के साथ स्थिति अत्यधिक भयावह हो गई। वह क्षेत्र जहां से रेडक्लिफ रेखा खींची गई अधिक हिंसक हो उठे और वहां सबसे अधिक संख्या में हत्याएं, बलात्कार और महिलाओं एवं बच्चों के अपहरण की घटनाएं हुईं। सिखों के सशस्त्र (जिसमें हिंदू भी शामिल थे) दल और मुस्लिमों के हथियारबद्ध गुटों ने पंजाब में अत्यधिक अपराध किए। एक आकलन के अनुसार, लभग 1,80,000 लोग मारे गए (60,000 पश्चिमी क्षेत्र से और 1,20,000 पूर्वी क्षेत्र से)।

बंगाल का क्षेत्र, गांधी की उपस्थिति और उपवास जैसे उनके प्रयासों के कारण, पंजाब की अपेक्षा शांतिपूर्ण बना रहा।

दिल्ली में, पंजाब का बदला लेने के लिए मुस्लिमों की व्यापक हत्या के साथ, सांप्रदायिक दंगे शुरू हुए (गांधीजी के उपवास ने अस्थायी प्रभाव डाला)।

बिहार में, विभाजन से पूर्व, अक्टूबर 1946 में, हिंदू किसानों, हिंदू जमींदारों द्वारा उनका ध्यान कृषिगत समस्याओं से हटाया गया, ने मुस्लिमों की हत्या की। इसके पश्चात् संयुक्त प्रांत में गढ़मुक्तेश्वर में हिंदू तीर्थ यात्रियों ने हजारों मुस्लिमों की हत्या

की। लेकिन विभाजन के पश्चात्, गांधी जी के प्रयास से इन स्थानों में कोई जनसंहार नहीं हुआ।

संसाधनों के विभाजन और महात्मा गांधी की हत्या से सम्बद्ध चुनौतियां

भारत का विभाजन सिविल सरकार और साथ ही साथ सैन्य बलों तथा उपकरणों के संसाधनों के विभाजन से जुड़ा था।

सिविल सरकार का विभाजन

इसका सौहार्दपूर्ण समाधान करने के लिए, एक विभाजन परिषद्, गवर्नर जनरल द्वारा पीठासीन, जिसमें भारत एवं पाकिस्तान प्रत्येक से एक प्रतिनिधि शामिल था, का गठन किया गया। संचालन स्तर पर परिषद् की सहायता के लिए एक स्टीरिंग कमेटी बनाई गई, जिसमें एच.एम. पटेल और मोहम्मद अली शामिल थे। सभी सिविल सेवकों को उनकी इच्छानुसार डोमिनियन चुनने का विकल्प प्रदान किया गया, जिसकी वे सेवा करना चाहते हैं। लगभग 1,60,000 कर्मचारियों ने भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत स्थानांतरित होने का निर्णय लिया।

भारतीय सिविल सेवा के कर्मचारियों को मौजूदा पैमाने पर सेवा करने के लिए उनकी पसंद के देश (भारत या पाकिस्तान) को अपनाने के लिए कहा गया। सिविल सेवा में कार्यरत यूरोपियन अधिकारी अपने मौजूदा वेतन, अवकाश, पेंशन अधिकारों इत्यादि के साथ अपनी सेवाएं जारी रख सकते थे, लेकिन यदि वे सेवानिवृत होने की इच्छा रखते हैं तो उन्हें विशेष क्षतिपूर्ति और समय पूर्व सेवानिवृत्ति दी जाएगी।

नकद शेष और साथ ही साथ सार्वजनिक ऋण के बंटवारे ने दोनों देशों के बीच तनाव उत्पन्न किया। पाकिस्तान कुल नकद शेष का एक-चौथाई हिस्सा चाहता था, जबकि भारत पाकिस्तान को विश्वस्त करना चाहता था कि नकद शेप का केवल छोटा-सा भाग अविभाजित भारत की वास्तविक नकद की आवश्यकता को पूरा करता था तथा बाकी हिस्सा मुद्रास्फीति तंत्र से निपटने के लिए था। हालांकि, गांधीजी चाहते थे कि पाकिस्तान को थोड़ा और नकद दे देना चाहिए। इसके लिए, उन्होंने उपवास किया और कांग्रेस को ऐसा करने को बाध्य किया।

सैन्य कर्मियों तथा साजो-सामान का विभाजन

सैन्य बलों और उनके संयंत्रों, मशीनरी, उपकरणों और भंडारगृहों के निर्विघ्न विभाजन के लिए अचिनलेक, सर्वोच्च कमांडर, की अध्यक्षता में एक संयुक्त रक्षा परिषद् का गठन किया गया। परिषद् ने निर्णय किया कि मुस्लिम बहुल इकाइयों को पाकिस्तान और गैर-मुस्लिम यूनिट्स को भारत हस्तांतरित कर दिया जाए, लेकिन दोनों देशों के

बीच गंभीर मतभेद के चलते सर्वोच्च कमांडर के पद को समाप्त कर दिया गया। ब्रिटिश सैनिकों ने 17 अगस्त, 1947 को भारत छोड़ना शुरू कर दिया और यह प्रक्रिया फरवरी 1948 तक पूरी हुई।

महात्मा गांधी की हत्या

30 जनवरी, 1948 को, बिरला भवन में (नई दिल्ली), नाथू राम गोडसे ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी। इस घटना से पूरे देश को झटका लगा और राष्ट्र निर्माण के कार्य की गति अवरुद्ध हो गई। सांप्रदायिकता एवं राष्ट्रवाद की अस्पष्ट अवधारणा के वशीभूत नाथूराम गोडसे ने महात्मा गांधी की हत्या की। ऑल इंडिया रेडियो पर राष्ट्र को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा, ''हमारे जीवन से प्रकाश चला गया और हर तरफ अंधेरा छा गया। उन्हें एवं उनकी यादों को हमारी सर्वश्रेष्ठ श्रंद्धाजली होगी कि हम स्वयं को सत्य को समर्पित करें, जिसके लिए वे जिए और मरे।''

4 फरवरी, 1948 को, सरदार पटेल ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आरएसएस) को प्रतिबंधित कर दिया। 1949 में आरएसएस से उस समय प्रतिबंध हटाया गया, जब उन्होंने पटेल द्वारा प्रस्तुत शर्तों को स्वीकार कर लिया। ये शर्तें थीं—(i) संघ एक लिखित एवं प्रकाशित संविधान को स्वीकार करेगा; (ii) यह स्वयं को मात्र सांस्कृतिक गतिविधियों तक सीमित रखेगा और राजनीति से नहीं जुड़ेगा; (iii) हिंसा एवं गोपनीयता के अपने एजेंडे का त्याग करेगा; (iv) भारत के संविधान और ध्वज (तिरंगे) को सार्वजनिक रूप से स्वीकार करेगा; और (v) लोकतांत्रिक सिद्धांतों के अनुरूप स्वयं को संगठित करेगा। (आज का आरएसएस विभिन्न मोर्चों पर 1940 के आरएसएस से भिन्न है।)

शरणार्थियों का पुनर्वास एवं बंदोबस्त

विभाजन द्वारा विस्थापित लोग इस अर्थ में 'शरणार्थी' थे कि उन्होंने स्वेच्छापूर्वक अपना घर नहीं छोड़ा था, और ना ही दोनों देशों की सरकारों ने जनसंख्या का कोई व्यवस्थाबद्ध आदान-प्रदान किया। शरणार्थी पुनर्वास दोनों सरकारों (भारत एवं पाकिस्तान) के लिए बड़ी चुनौती थी। भारत सरकार ने दिल्ली में संकट से निपटने के लिए केबिनेट की एक आपातकालीन समिति गठित की, और राहत तथा पुनर्वास मंत्रालय को शरणार्थियों के पुनर्वास का काम देखने की जिम्मेदारी सौंपी गई। विस्थापित लोगों की बड़े पैमाने पर बाढ़ के दृष्टिगत, 'छोड़ी गई संपत्ति' की रक्षा करने की सरकार ने जिम्मेदारी उठाई। जो पाकिस्तान चले गए, भविष्य में उनके लौटने की संभावनाओं की स्थिति में यह मुश्किल होगा कि मुसलमानों के छोड़े गए घरों में बस चुके शरणार्थियों को वहां से हटाया जाए (बाद में, शरणार्थियों के लौटने को असंभव बना दिया गया)।

भारत में शरणार्थियों के पुनर्वास एवं बंदोबस्त केंद्र

दिल्ली में, लाजपत नगर, राजेंद्र नगर, पंजाबी बाग, निजामुद्दीन पूर्व एवं किंग्जवे कैम्प में शरणार्थियों को स्थायी रूप से बसाने के लिए आवासीय परिसर विकसित किए गए। जो लोग पश्चिमी पाकिस्तान से आए वे पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश जैसे राज्यों में बस गए। सिंधी हिंदू गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान और मध्य प्रदेश में बस गए। महाराष्ट्र में, उल्हासनगर (सिटी ऑफ जॉय) को विशेष रूप से सिंध क्षेत्र से आए शरणार्थियों को बसाने के लिए विकसित किया गया।

पश्चिम बंगाल, असम, त्रिपुरा और अन्य पूर्वोत्तर राज्यों में पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) से आए शरणार्थियों को बसाया गया। सरकार ने कुछ शरणार्थियों को अंडमान निकोबार द्वीप में भी बसाया (वर्तमान में, अंडमान द्वीप के कुछ क्षेत्रों में बंगाली सबसे बड़ा भाषायी समूह है)।

साम्यवादी (कम्युनिस्ट) और स्वतंत्रता

सितंबर 1948 को, दक्षिण भारत में कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने के संदर्भ में, भारतीय सेना ने निजाम से बिना अधिक प्रतिरोध के हैदराबाद पर नियंत्रण कर लिया। लेकिन कम्युनिस्टों द्वारा चलाए जा रहे तेलंगाना आंदोलन के कारण हैदराबाद की आंतरिक स्थिति जटिल बन गई। कांग्रेस और कम्युनिस्ट के बीच गठजोड़, भारत में हैदराबाद पर हमले से पहले टूट गया।

दिसंबर 1947 में, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) ने भारतीय स्वतंत्रता को त्याग दिया। उन्होंने नारा दिया कि *'ये आजादी झूठी है'* और कांग्रेस और नेहरू सरकार को देश के भीतर आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद और सामंतवादी शक्तियों की कठपुतली कहा। फरवरी-मार्च 1948 में, कलकत्ता में अपने दूसरे अधिवेशन में, सीपीआई ने 'राजनीतिक थीसीस' को स्वीकार किया, जिसमें औपचारिक रूप से घोषणा की गई कि 15 अगस्त, 1947 को स्थापित राष्ट्रीय सरकार लोगों की दुश्मन थी, और इसलिए आम क्रांति के द्वारा इसे बदलने की आवश्यकता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, कम्युनिस्ट नेताओं ने बी.टी. रेंडिव लाइन (सीपीआई के तत्कालीन महासचिव के नाम पर) का अनुसरण करने का निर्णय लिया। उन्होंने घोषणा की, ''वर्तमान राज्य को जन लोकतांत्रिक गणराज्य—श्रमिकों, किसानों और शोषित मध्य वर्ग का गणराज्य—से प्रतिस्थापित किया जाएगा।'' कम्युनिस्ट विद्रोह भारत के अन्य भागों, विशेष रूप से पश्चिम बंगाल में फैल गया।

स्वतंत्रता को लेकर साम्यवादी संशयवादी क्यों थे?

1. उनका मानना था कि कांग्रेस द्वारा चालित राज्य के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष और सशस्त्र विद्रोह की नीति चलाया जाना जरूरी था, जिससे लोगों का ध्यान सांप्रदायिक घृणा की राजनीति, जिसने विभाजन के बाद देश को घेर लिया था, से हटाया जा सके।

2. 1940 के उत्तरार्द्ध और 1950 के पूर्वार्द्ध में चीन, मलाया, इंडोनेशिया, फिलीपीन्स और बर्मा (म्यांमार) जैसे एशियाई देशों में साम्यवाद को सफलता प्राप्त हुई थी। सितम्बर 1947 में, रूस ने अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट दलों को अधिक क्रियाशील रहने को प्रोत्साहित करने के लिए 'झडानोव थीसिस' की घोषणा की। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कम्युनिस्ट सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रोत्साहित हुए।

अध्याय 34

भारतीय रियासतें

भारतीय रियासतों की संख्या 562 थी तथा इनके अंतर्गत 7,12,508 वर्ग मील का क्षेत्र था। इन भारतीय रियासतों में से कुछ रियासतें तो अत्यंत छोटी थीं, जैसे—बिलबारी, जिसकी जनसंख्या केवल 27 थी तथा वार्षिक आय मात्र 8 रु.। जबकि कुछ रियासतें अत्यंत बड़ी थीं, जैसे-हैदराबाद (लगभग इटली के बराबर) जिसकी जनसंख्या 1 करोड़ 40 लाख थी तथा आय 8.5 करोड़ रुपये वार्षिक। ये रियासतें भारतीय प्रायद्वीप के अल्प उर्वर एवं दुर्गम प्रदेशों में स्थित थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने विजय अभियान में महत्वपूर्ण तटीय क्षेत्रों, बड़ी-बड़ी नदी घाटियों—जो कि नौ-परिवहन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थीं, अत्यधिक उर्वर प्रदेश, जहां धनाढ्य लोग निवास करते थे तथा दूर-दराज के दुर्गम प्रदेश, जिनकी भौगोलिक संरचना अत्यधिक जटिल थी तथा उर्वरता की दृष्टि से ये प्रदेश निर्धन थे, इन सभी को अपने अधीन कर लिया।

जिन कारकों ने ईस्ट इंडिया कंपनी को सुदृढ़ बनाया, प्रायः वही कारक इन रियासतों के अस्तित्व में आने के लिये उत्तरदायी थे। इनमें से बहुत सी रियासतें स्वायत्त एवं अर्द्ध-स्वायत्त रूप में अपने अस्तित्व को बनाये हुए थीं तथा संबंधित भू-क्षेत्रों में शासन कर रही थीं। कंपनी ने इस रियासतों के आपसी संघर्ष तथा आंतरिक दुर्बलता से लाभ उठाकर इन्हें अपने नियंत्रण में ले लिया। यद्यपि कंपनी ने अलग-अलग रियासतों के प्रति अलग-अलग नीतियां अपनायीं। कुछ को उसने प्रत्यक्ष रूप से अधिग्रहित कर लिया तथा कुछ पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण बनाये रखा। इन भारतीय रियासतों के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी के संबंधों को निम्न अवस्थाओं में विश्लेषित किया जा सकता है—

ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष (1740-1765)

यह संघर्ष आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिद्वंदिता के रूप में तब प्रारंभ हुआ, जब डूप्ले ने भारतीय रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति अपनायी। अपने व्यापारिक

हितों की रक्षा के लिये अंग्रेजों ने भी डूप्ले की नीति का अनुसरण किया तथा अपनी राजनीतिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये अर्काट का घेरा (1751) डाल दिया। प्लासी के युद्ध (1757) के पश्चात् उसने बंगाल के नवाबों को अपने हाथों की कठपुतली बना लिया। 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय से बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी का अधिकार प्राप्त होने पर कंपनी की स्थिति में अत्यधिक वृद्धि हुई। इस अधिकार से कंपनी की स्थिति, राजस्व वसूल करने वाले अन्य मुगल गवर्नरों के समान हो गयी तथा अब उसे अन्य भारतीय रियासतों के समान समानता का अधिकार प्राप्त हो गया।

मध्य राज्य अथवा घेरे की नीति (1765-1813)

कंपनी की इस नीति की झलक वारेन हेस्टिंग्स के मैसूर तथा मराठों के साथ युद्ध से मिली, जब उसने अपने राज्य के चारों ओर मध्य राज्य (Buffer states) बनाने का प्रयत्न किया। कंपनी को इस समय मुख्य भय मराठों एवं अफगान आक्रांताओं के आक्रमण से था (इसीलिये कंपनी ने बंगाल की रक्षा के निमित्त अवध की रक्षा व्यवस्था का दायित्व संभाल लिया)। वैलेजली की सहायक संधि की नीति (Policy of subsidiary Alliance) घेरे की नीति (Policy of Ring Fence) का ही विस्तार था, जिसका उद्देश्य भारतीय रियासतों को अपनी रक्षा के लिये कम्पनी पर निर्भर करने के लिये बाध्य करना था। हैदराबाद, अवध एवं मैसूर जैसी विशाल रियासतों ने वैलेजली की सहायक संधि को स्वीकार किया, जिससे अंग्रेजी प्रभुसत्ता की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति हुई।

अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813-1857)

वारेन हेस्टिंग्स की नीतियों के फलस्वरूप अंग्रेजों की साम्राज्यवादी भावनायें जाग उठीं तथा सर्वश्रेष्ठता का सिद्धांत विकसित होना प्रारंभ हो गया। अब अंग्रेजों द्वारा भारतीय रियासतों से संबंधों का आधार अधीनस्थ सहयोग (Subordinate Cooperation) तथा कंपनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने की नीति थी, न कि पारस्परिक समानता पर आधारित मैत्रीपूर्ण संबंध। इस नयी नीति के तहत रियासतों ने अपनी समस्त बाह्य संप्रभुता कम्पनी के अधीन कर दी। हालांकि अपने आंतरिक मामलों में वे पूर्ण स्वतंत्र थीं। प्रारंभ में ब्रिटिश रेजीडेन्ट कम्पनी, एवं भारतीय रियासतों के मध्य सम्पर्क सूत्र की भूमिका निभाता था। किंतु धीरे-धीरे रियासतों के आंतरिक प्रशासन में उसके प्रभाव में वृद्धि होने लगी।

1833 के चार्टर एक्ट से कम्पनी की समस्त व्यापारिक शक्तियां समाप्त हो गयीं तथा अब वह पूर्णरूपेण एक राजनीतिक शक्ति के रूप में कार्य करने लगी। रियासतों

के प्रति कम्पनी की नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया कि उत्तराधिकार के मसले पर अब उसे कम्पनी की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। कालांतर में कम्पनी ने उनके मंत्रियों तथा अधिकारियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया।

1834 में कंपनी के डायरेक्टरों ने रियासतों के विलय संबंधी एक विस्तृत दिशा-निर्देश जारी किया, जिसके अनुसार 'जब कभी और जहां कहीं संभव हो' रियासतों का कंपनी में विलय कर लिया जाये। लार्ड डलहौजी के विलय के सिद्धांत द्वारा लगभग आधा दर्जन रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर ली गयीं, जिनमें सतारा एवं नागपुर जैसी बड़ी रियासतें भी सम्मिलित थीं। इन सभी का सम्मिश्रण ही कंपनी की सर्वश्रेष्ठता (Paramountcy) थी।

अधीनस्थ संघ की नीति (1857-1935)

1858 में ब्रिटिश ताज द्वारा भारत का शासन कंपनी से अपने हाथों में लेने पर भारतीय रियासतों तथा सरकार के संबंधों की परिभाषा अधिक स्पष्ट हो गयी। 1857 के विद्रोह में भारतीय रियासतों की कम्पनी के प्रति राजभक्ति एवं निष्ठा तथा भविष्य में किसी राजनीतिक आंदोलन को रोकने में उसकी शक्ति के उपयोग की संभावना के मद्देनजर रियासतों के विलय की नीति त्याग दी गयी। अब नयी नीति, शासक को कुशासन के लिये दंडित करने या आवश्यकता पड़े तो अपदस्थ करने की थी, न कि पूरी रियासत को विलय करने की। 1858 के पश्चात नाममात्र का मुगल शासन भी समाप्त हो गया। अब ताज ही भारत की सर्वोच्च एवं असंदिग्ध शक्ति के रूप में भारत में उपस्थित था। अतः सभी उत्तराधिकारियों को ताज की स्वीकृति लेना आवश्यक था। अब गद्दी पर शासक का पैतृक अधिकार नहीं रह गया था, अपितु अब यह सर्वश्रेष्ठ शक्ति से एक उपहार के रूप में शासकों को मिलती थी। क्योंकि भारतीय राजाओं और ताज के बीच बराबरी की भावना सदा के लिये समाप्त हो गयी थी। 1776 में महारानी विक्टोरिया द्वारा *कैसर-ए-हिन्द* (भारत की साम्राज्ञी) की उपाधि धारण करने के बाद तो इस बात पर नवीन मुहर लग गयी कि अब भारतीय राज्यों की संप्रभुता समाप्त हो चुकी है तथा ताज ही भारत में सर्वश्रेष्ठ है। सर्वश्रेष्ठता अब न केवल एक ऐतिहासिक सत्य था, अपितु एक कानूनी सिद्धांत भी था। अब सरकार को रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी मिल गया था, चाहे वह हस्तक्षेप महाराजा के हितों की रक्षा के लिये हो अथवा उसकी प्रजा के हित के लिये या अंग्रेजों के हितों के लिये हो अथवा भारत के हित के लिये हो।

आधुनिक संचार व्यवस्था, रेलवे, सड़कें, टेलीग्राफ, नहरें, पोस्ट आफिस, प्रेस तथा भारतीय जनमत ने भी अंग्रेजों को भारतीय रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करने तथा उनके अधिकार को कम करने में सहायक परिस्थितियों की भूमिका निभायी। भारत

सरकार इन रियासतों के बाहरी और विदेशी संबंधों में भी पूर्ण नियंत्रण रखती थी। सरकार इनकी ओर से स्वयं युद्ध की घोषणा कर सकती थी, तटस्थता कर सकती थी एवं शांति संधि का प्रस्ताव पारित कर सकती थी। इस संबंध में बटलर आयोग ने 1927 में कहा कि ''अंतरराष्ट्रीय मामलों में रियासतों के प्रदेश अंग्रेजी भारत के प्रदेश हैं और रियासतों के नागरिक अंग्रेजी नागरिकों के समान हैं।''

भारतीय रियासतों के प्रति कर्जन की नीति

कर्जन ने विभिन्न संधियों को विस्तृत रूप से परिभाषित करके यह कहना प्रारंभ कर दिया कि भारतीय राजाओं को अपनी प्रजा के सेवक के रूप में गवर्नर-जनरल से सहयोग करते हुए सरकार की विभिन्न योजनाओं में भागीदारी निभानी चाहिये। उसने 'संरक्षण और अनाधिकार निरीक्षण की नीति' (Policy of Patronage and intrusive surveillance) अपनायी। उसका मत था कि भारतीय रियासतों एवं सरकार के मध्य संबंध न सामंतशाही और न ही संधीय व्यवस्था पर आधारित होने चाहिये। इनका आधार विभिन्न संधियां भी नहीं होना चाहिये, अपितु इन्हें विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में एक निश्चित समय में एक सामान्य स्वरूप की ओर विकसित होना चाहिये।

इस नवीन प्रवृत्ति के फलस्वरूप सभी रियासतों की स्थिति लगभग एक जैसी हो गयी, चाहे वे 'संधि रियासतें' हों, या भिन्न-भिन्न अधिकार प्राप्त रियासतें। सभी रियासतें, अंग्रेजी सरकार पर निर्भर थीं तथा भारतीय राजनैतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग समझी जाती थीं।

1905 के पश्चात्

सरकार ने भारतीय रियासतों के प्रति सौहार्दपूर्ण सहकारिता की नीति अपनायी। भारत में राजनीतिक अस्थिरता के भय से अब सरकार ने प्रतिरक्षात्मक नीति का अनुसरण किया।

मोंटफोर्ड सुधारों की सिफारिशों के आधार पर एक सलाहकारी एवं परामर्शदात्री निकाय के रूप में 'नरेंद्र मंडल' (Chamber of Princes) का गठन किया गया। इसका किसी रियासत के आंतरिक मामलों से कोई संबंध नहीं था और न ही यह मंडल रियासतों के समकालीन अधिकारों एवं उनकी स्वतंत्रता के विषय में कोई सुझाव दे सकता था, और न ही यह इन मुद्दों पर किसी प्रकार का कोई वाद-विवाद कर सकता था।

इस नरेंद्र मंडल में प्रतिनिधित्व के लिये रियासतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया—

1. सीधे प्रतिनिधित्व वाली रियासतें-109

2. सीमित वैधानिक एवं क्षेत्राधिकार वाली रियासतें, जिन्हें प्रतिनिधित्व चुनने का अधिकार था-127

3. सामंतशाही जागीरें या जागीरें-309

किंतु संप्रभुता एवं सर्वश्रेष्ठता के विस्तार के मुद्दे की अभी भी व्याख्या नहीं की गयी थी। सरकार तथा रियासतों के संबंधों के परीक्षण तथा इन्हें परिभाषित करने के लिये भारत सरकार ने 1927 में 'बटलर समिति' की नियुक्ति की। इस समिति ने निम्न सिफारिशें दीं–

- सर्वश्रेष्ठता, सर्वश्रेष्ठ ही रहनी चाहिये तथा इसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपना दायित्व निभाना चाहिये। अस्पष्ट मामलों में रीति-रिवाज महत्वपूर्ण होते हैं।
- भारतीय रियासतों को उनके शासकों की अनुमति के बिना किसी ऐसी भारतीय सरकार को नहीं सौंपना चाहिये, जो भारतीय विधानसभा के प्रति उत्तरदायी हों।
- वायसराय, रियासतों के संबंध संचालन हेतु ताज का प्रतिनिधि होना चाहिये।

किंतु सर्वश्रेष्ठता को अभी भी स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया था। अंततः यह राक्षसरूपी रिवाज, नरेंद्रों की निहित अनुमति तथा ताज के विशेषाधिकारियों पर पल्लवित होता रहा।

एक समान संघ की नीति (1935-1947)

1935 के भारत सरकार अधिनियम में, प्रस्तावित समस्त भारतीय संघ की संघीय विधानसभा में भारतीय नरेंद्रों को 375 में से 125 स्थान दिये गये तथा राज्य विधान परिषद के 260 स्थानों में से 104 स्थान उनके लिये सुरक्षित किये गये। योजना के अनुसार, यह संघ तब अस्तित्व में आना था, जब परिषद में आधे स्थानों वाली रियासतें तथा कम से कम आधी जनसंख्या प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने की स्वीकृति दें।

चूंकि पर्याप्त रियासतों ने इस संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया, इसलिये संघ अस्तित्व में नहीं आ सका तथा सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हो जाने के कारण इस योजना को सदैव के लिये समाप्त घोषित कर दिया गया।

रियासतों का एकीकरण और विलय

द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने के पश्चात भारत में तीव्र राजनैतिक गतिविधियां प्रारंभ होने तथा कांग्रेस द्वारा असहयोग की नीति अपनाये जाने के कारण ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स मिशन (1942), वेवेल योजना (1945), कैबिनेट मिशन (1946) तदुपरांत एटली की घोषणा (1947) द्वारा गतिरोध को हल करने का प्रयत्न किया।

क्रिप्स मिशन ने भारतीय रियासतों की सर्वश्रेष्ठता को भारत के किसी अन्य राजनीतिक दल को देने की संभावना से इंकार कर दिया। रियासतों ने पूर्ण संप्रभुता संपन्न एक अलग गुट बनाने या अन्य इकाई बनाने की विभिन्न संभावनाओं पर विचार-विमर्श किया–जो कि भारत के राजनीतिक परिदृश्य में एक तीसरी शक्ति के रूप में कार्य करे। 3 जून की माउंटबैटन योजना तथा एटली की घोषणाओं में रियासतों

को यह अधिकार दिया गया कि वे भारत या पाकिस्तान किसी भी डोमिनियन में सम्मिलित हो सकती हैं। लार्ड माउंटबैटन ने रियासतों को संप्रभुता का अधिकार देने या तीसरी शक्ति के रूप में मान्यता देने से स्पष्ट तौर पर इंकार कर दिया।

राष्ट्रीय अस्थायी सरकार में रियासत विभाग के मंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने, जिन्हें मंत्रालय के सचिव के रूप में वी.पी. मेनन की सेवायें प्राप्त थीं, भारतीय रियासतों से देशभक्तिपूर्ण अपील की कि वे अपनी रक्षा, विदेशी मामले तथा संचार अवस्था को भारत के अधीनस्थ बना कर भारत में सम्मिलित हो जायें। सरदार पटेल ने तर्क दिया कि चूंकि ये तीनों ही मामले पहले से ही ताज की सर्वश्रेष्ठता के अधीन थे तथा रियासतों का इन पर कोई नियंत्रण भी नहीं था, अतः रियासतों के भारत में सम्मिलित होने से उनकी संप्रभुता पर कोई आंच नहीं आयेगी। 15 अगस्त 1947 के अंत तक 136 क्षेत्राधिकार रियासतें भारत में सम्मिलित हो चुकी थीं। किंतु कुछ अन्य ने स्वयं को इस व्यवस्था से अलग रखा।

जनमत संग्रह एवं सैन्य कार्यवाही

1. जूनागढ़ः यहां का मुस्लिम नवाब रियासत को पाकिस्तान में सम्मिलित करना चाहता था, किंतु हिंदू जनसंख्या भारत में सम्मिलित होने के पक्ष में थी। अंततः नवाब के दमनकारी रवैये के कारण यहां जनमत संग्रह कराया गया, जिसमें जनता ने भारी बहुमत से भारत में सम्मिलित होने के पक्ष में निर्णय दिया।

2. हैदराबादः हैदराबाद का निजाम अपनी संप्रभुता को बनाये रखने के पक्ष में था। यद्यपि यहां की बहुसंख्य जनता भारत में विलय के पक्ष में थी। उसने हैदराबाद को भारत में सम्मिलित करने के पक्ष में तीव्र आंदोलन प्रारंभ कर दिया। निजाम आंदोलनकारियों के प्रति दमन की नीति पर उतर आया। 29 नवंबर 1947 को निजाम ने भारत सरकार के साथ एक समझौते पर दस्तखत तो कर दिये किंतु इसके बावजूद उसकी दमनकारी नीतियां और तेज हो गयीं। सितंबर 1948 तक यह स्पष्ट हो गया कि निजाम को समझा-बुझा कर राजी नहीं किया जा सकता। 13 सितंबर 1948 को भारतीय सेनाएं हैदराबाद में प्रवेश कर गयीं और 18 सितम्बर 1948 को निजाम ने आत्मसमर्पण कर दिया। अंततः नवंबर 1949 में हैदराबाद को भारत में सम्मिलित कर लिया गया।

3. कश्मीरः जम्मू एवं कश्मीर राज्य का शासक हिन्दू एवं जनसंख्या मुस्लिम बहुसंख्यक थी। यहां का शासक भी कश्मीर की संप्रभुता को बनाये रखने के पक्ष में था तथा भारत या पाकिस्तान किसी भी डोमिनियन में सम्मिलित नहीं होना चाहता था। किंतु कुछ समय पश्चात ही नवस्थापित पाकिस्तान ने कबाइलियों को भेजकर कश्मीर पर आक्रमण कर दिया तथा कबाइली तेजी से श्रीनगर की ओर बढ़ने लगे। शीघ्र ही पाकिस्तान ने अपनी सेनायें भी कबाइली आक्रमणकारियों के समर्थन में कश्मीर भेज दीं। अंत में विवश होकर कश्मीर के शासक ने 26 अक्टूबर 1947 को भारत के साथ

विलय-पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर दिये। तत्पश्चात कबाइलियों को खदेड़ने के लिये भारतीय सेना जम्मू-कश्मीर भेजी गयी। भारत ने पाकिस्तान समर्थित आक्रमण की शिकायत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में दर्ज करायी तथा उसने जनमत संग्रह द्वारा समस्या के समाधान की सिफारिश की। इसके साथ ही भारत ने 84 हजार वर्ग किलोमीटर का भू-क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में ही छोड़ दिया। भारतीय संविधान के निर्माण के पश्चात जम्मू एवं कश्मीर राज्य को अनुच्छेद 370 के द्वारा विशेष राज्य का दर्जा प्रदान किया गया।

क्रमिक एकीकरण

इन तीनों प्रमुख रियासतों के भी भारत में सम्मिलित हो जाने के पश्चात अब प्रमुख दो दिक्कतें थीं–

(i) इन सभी रियासतों का एक आधुनिक इकाई के रूप में किस प्रकार गठन किया जाये। तथा

(ii) इन्हें एक ही संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत किस प्रकार लाया जाये।

इस समस्या का समाधान निम्न प्रकार से किया गया–

1. बहुत सी छोटी-छोटी रियासतें (216), जो अलग इकाई के रूप में नहीं रह सकती थीं, संलग्न प्रांतों में विलय कर दी गयीं। इन्हें श्रेणी-ए में सूचीबद्ध किया गया। उदाहरणार्थ-छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की 39 रियासतें बंबई प्रांत में सम्मिलित कर दी गयीं।

2. कुछ रियासतों का विलय एक इकाई में इस प्रकार किया गया कि वो केंद्र द्वारा प्रशासित की जायें। इन्हें श्रेणी-सी में सूचीबद्ध किया गया। इसमें 61 रियासतें सम्मिलित थीं। इस श्रेणी में हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, भोपाल, बिलासपुर, मणिपुर, त्रिपुरा एवं कच्छ की रियासतें थीं।

3. एक अन्य प्रकार का विलय राज्य संघों का गठन करना था। इनकी संख्या 5 थी। ये रियासतें थीं–काठियावाड़ की संयुक्त रियासतें, मत्स्य प्रदेश की संयुक्त रियासतें, पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासती संघ, विन्ध्य प्रदेश और मध्य भारत के संघ तथा राजस्थान, ट्रावनकोर और कोचीन की रियासतें।

प्रारंभ में रक्षा, संचार अवस्था तथा विदेशी मामलों के मुद्दे पर ही इन रियासतों का विलय किया गया था, किंतु कुछ समय पश्चात यह महसूस किया जाने लगा कि आपस में सभी का निकट संबंध होना अनिवार्य है। पांचों राज्य संघ तथा मैसूर ने भारतीय न्याय क्षेत्र को स्वीकार कर लिया। इन्होंने समवर्ती सूची के विषयों (कर को छोड़कर), अनुच्छेद 238 के विषयों तथा केंद्र की नियंत्रण शक्ति को 10 वर्षों के लिये स्वीकार कर लिया।

सातवें संशोधन (1956) से श्रेणी-बी को समाप्त कर दिया गया।

अंत में सभी रियासतें पूर्णरूपेण भारत में सम्मिलित हो गयीं तथा भारत की एकीकृत राजनीतिक व्यवस्था का अंग बन गयीं।

अध्याय 35

भारतीय संविधान का निर्माण

स्वतंत्रता प्राप्ति (15 अगस्त, 1947) के तुरंत बाद भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का चरित्र बहुवर्गीय था। आंदोलन के नेताओं ने आमतौर पर प्रतिनधिमूलक सरकार के उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांतों, व्यवस्क मताधिकार, निर्वाचित संस्थाओं, कानून के शासन, स्वतंत्र न्यायपालिका और व्यक्तियों के समूह के लिए अधिकारों की वकालत की थी। इसके साथ-साथ विशेषतः 1930 के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने स्वतंत्रता के सामाजिक पक्ष पर भी विचार करना आरंभ कर दिया था। इसके अंतर्गत निर्धनता उन्मूलन, अशिक्षा व रोगों को दूर करने, अमीर व गरीब के बीच की खाई को पाटने, शहरों व गांवों के मध्य दूरी समाप्त करने और समतामूलक-कल्याणकारी राष्ट्र निर्माण पर जोर दिया गया।

परम्परागत रूप से संविधानवाद की अवधारणा को सीमित सरकार और कार्यात्मक राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। परंतु जब तीसरी दुनिया के देशों को स्वतंत्रता मिली, तब तक संविधानवाद की अवधारणा सरकार व नागरिकों और सरकार के विभिन्न अंगों में परस्पर संबंधों की व्याख्या से विकसित होकर राजनीतिक व्यवस्था के लिए सामाजिक व आर्थिक लक्ष्यों की व्याख्या के रूप में बदल चुकी थी। भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं—महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू व सुभाष चंद्र बोस इत्यादि—ने यह समझते हुए कि राजनीतिक स्वतंत्रता भारत के नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पुनरुद्धार का माध्यम है, राष्ट्रीय आंदोलन के स्वरूप में परिवर्तन लाने की कोशिश की। इसके साथ ही अमेरिका व पश्चिमी यूरोप के देशों के लोकतंत्र और समाजवाद की बढ़ती लोकप्रियता ने भी भारतीय नेताओं को आकृष्ट किया। इसी संदर्भ में स्वतंत्रता आंदोलन के लक्ष्यों व आदर्शों और जनता की आकांक्षाओं को समाहित करते हुए संविधान निर्माण हेतु संवैधानिक सभा का गठन हुआ। भारत का संविधान, जो 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ, देश के आकार एवं विविधता को देखते हुए विश्व का सबसे बड़ा संविधान है। संविधान निर्माण के समय, भारत न केवल बड़ा एवं विविध था, अपितु अत्यंत

विभाजित था और इसलिए इसे इस प्रकार तैयार किया गया, जिससे देश एकजुट रह सके।

संविधान सभा की पृष्ठभूमि

जब किसी प्रभुता संपन्न लोकतांत्रिक राष्ट्र द्वारा संविधान की रचना का कार्य उसकी जनता के प्रतिनिधि निकाय द्वारा किया जाता है, तो संविधान पर विचार करने तथा उसे स्वीकार करने के लिए जनता द्वारा चुने गए इस प्रकार के निकाय को 'संविधान सभा' कहा जाता है। पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों में जहां कहीं भी लिखित संविधान है, उनका निर्माण जनता ने प्रायः संविधान सभाओं के माध्यम से ही किया है। संविधान सभा की प्रेरणा का स्रोत 17वीं और 18वीं शताब्दी की लोकतांत्रिक क्रांतियां हैं। इन क्रांतियों ने इस विचार को जन्म दिया कि शासन के मूलभूत कानूनों का निर्माण नागरिकों की एक विशिष्ट प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जाना चाहिए।

भारत में संविधान सभा की परिकल्पना सदैव राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ जुड़ी रही। भारत की संविधान सभा का निश्चित उल्लेख, भले ही इन शब्दों में न किया गया हो किंतु भारत शासन अधिनियम, 1919 के लागू होने के पश्चात् 1922 में महात्मा गांधी ने इस तथ्य का उल्लेख किया था।

जनवरी 1925 में दिल्ली में हुए सर्वदलीय सम्मेलन के समक्ष 'कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिया बिल' को प्रस्तुत किया गया, जिसकी अध्यक्षता महात्मा गांधी ने की थी। उल्लेखनीय है कि, भारत के लिए एक संवैधानिक प्रणाली की रूपरेखा प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रमुख प्रयास था।

19 मई, 1928 को बंबई में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन में भारत के संविधान के सिद्धांत निर्धारित करने के लिए मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में एक समिति गठित की गई। 10 अगस्त, 1928 को प्रस्तुत की गई इस समिति की रिपोर्ट को 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से भी जाना जाता है। उल्लेखनीय है कि, संसद के प्रति उत्तरदायी सरकार, न्यायपालिका द्वारा प्रवर्तनीय मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकार सहित मोटे तौर पर जिस संसदीय व्यवस्था की संकल्पना 1928 की नेहरू रिपोर्ट में व्यक्त की गई थी। इसे लगभग ज्यों-का-त्यों 21 वर्ष बाद 20 नवंबर, 1949 को संविधान सभा द्वारा अंगीकृत स्वाधीन भारत के संविधान में समाविष्ट कर लिया गया।

जून 1934 में कांग्रेस कार्यकारिणी ने घोषणा की कि श्वेत-पत्र का एकमात्र विकल्प यह है कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा द्वारा एक संविधान तैयार किया जाए। यह पहला अवसर था जब संविधान सभा के लिए औपचारिक रूप से एक निश्चित मांग प्रस्तुत की गयी।

1940 के 'अगस्त प्रस्ताव' में ब्रिटिश सरकार ने संविधान सभा की मांग को पहली बार आधिकारिक रूप से स्वीकार किया, भले ही स्वीकृति अप्रत्यक्ष तथा महत्वपूर्ण शर्तों

के साथ थी। यद्यपि 1942 का क्रिप्स मिशन पूर्णतः असफल सिद्ध हुआ, फिर भी उसमें संविधान सभा बनाने की बात को स्वीकार कर लिया गया था।

अंततः कैबिनेट मिशन, 1946 द्वारा संविधान निर्माण के लिए एक बुनियादी ढांचे का प्रारूप प्रस्तुत किया गया। कैबिनेट मिशन ने संविधान-निर्माण निकाय द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया को कुछ विस्तारपूर्वक निर्धारित किया, जो इस प्रकार हैः

1. प्रत्येक प्रांत को और प्रत्येक देशी रियासत या रियासतों के समूह को अपनी जनसंख्या के अनुपात में कुल स्थान आवंटित किये गए। स्थूल रूप से 10 लाख के लिए एक स्थान का अनुपात निर्धारित किया गया। इसके परिणामस्वरूप प्रांतों को 292 सदस्य निर्वाचित करने थे और देशी रियासतों को कम से कम 93 स्थान दिए गए।

2. प्रत्येक प्रांत के स्थानों को जनसंख्या के अनुपात के आधार पर तीन प्रमुख समुदायों में बांटा गया। ये समुदाय थे—मुस्लिम, सिख और साधारण।

3. प्रांतीय विधान सभा में प्रत्येक समुदाय के सदस्यों को एकल संक्रमणीय मत से आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करना था।

4. देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के चयन की पद्धति परामर्श से तय की जानी थी।

3 जून 1947 की योजना के अंतर्गत विभाजन के परिणामस्वरूप पाकिस्तान के लिए एक पृथक् संविधान सभा गठित की गई। बंगाल, पंजाब, सिंध, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, बलूचिस्तान और असम के सिलहट जिले (जो जनमत संग्रह द्वारा पाकिस्तान में सम्मिलित हुए थे) के प्रतिनिधि भारत की संविधान सभा के सदस्य नहीं रहे। पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब के प्रांतों में नए निर्वाचन किए गए। परिणामस्वरूप जब संविधान सभा 31 अक्टूबर, 1947 को पुनः समवेत हुई तो सदन की सदस्यता घटकर 299 हो गई। इसमें से 284 सदस्य 26 नवंबर, 1949 को वास्तव में उपस्थित थे और उन्होंने अंतिम रूप से पारित संविधान पर अपने हस्ताक्षर किए।

✠ संविधान सभा की रचना एवं प्रकृति

भारतीय संविधान का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित संवैधानिक सभा ने किया। संविधान सभा ने 9 दिसंबर, 1946 को कार्य करना प्रारंभ किया। संविधान सभा का निर्माण, देश की जनता की आशाओं और राष्ट्रीय आंदोलन की मांग कि भारतीय संविधान का निर्माण ब्रिटिश संसद नहीं, बल्कि भारत की जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि करेंगे, की पराकाष्ठा थी।

संविधान सभा सदस्य-संख्या की दृष्टि से एक काफी बड़ी सभा थी। कैबिनेट मिशन ने उसके सदस्यों की कोई अधिकतम संख्या निर्धारित नहीं की थी। कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव था कि हर दस लाख की आबादी के लिए एक प्रतिनिधि होना चाहिए।

चुनावों के पश्चात् अपनी निर्बल स्थिति देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा के बहिष्कार का निश्चय किया तथा 9 दिसम्बर, 1946 को आहूत संविधान सभा के प्रथम

अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने भाग नहीं लिया। लीग ने अब पाकिस्तान के लिए बिल्कुल पृथक् संविधान सभा की मांग करनी आरम्भ कर दी। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार द्वारा लीग को अपनी हठधर्मिता त्यागने हेतु किए गए सभी प्रयास निरर्थक सिद्ध हुए।

पाकिस्तान के निर्माण और मुस्लिम लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार के कारण सदस्य-संख्या गिर गई। उसमें प्रांतों के केवल 235 और देशी रियासतों के 73 प्रतिनिधि रह गए। संविधान के अंतिम मूल मसौदे पर इन्हीं 308 सदस्यों ने हस्ताक्षर किए थे।

जहां तक प्रांतों का प्रश्न है, उनके प्रतिनिधियों का चुनाव जुलाई 1946 में प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा हुआ। देशी राज्यों के आधे प्रतिनिधि राजाओं द्वारा मनोनीत किए गए और आधे जनता द्वारा चुने गये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के वयस्क स्त्री-पुरुषों ने प्रत्यक्ष रूप से सदस्यों को नहीं चुना।

संविधान सभा में अल्पसंख्यक वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

इस प्रकार विभाजन के बाद जबकि देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त संविधान सभा का गठन हो चुका था, अल्पसंख्यकों को 235 में से 88 अर्थात् 36 प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्राप्त था, अनुसूचित जातियों के भी 33 सदस्य थे।

संविधान सभा के सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य थे—डॉ. राजेंद्र प्रसाद, मौलाना आजाद, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, डॉ. अम्बेडकर, गोविंद वल्लभ पंत, एन. जी. आयंगर, कृष्णास्वामी अय्यर, के.एम. मुंशी, आचार्य कृपलानी तथा श्यामाप्रसाद मुखर्जी।

संविधान सभा के गठन और उसके द्वारा अपना कार्य प्रारंभ किए जाने के तुरंत बाद संविधान सभा की स्थिति के संबंध में एक विवाद प्रारंभ हो गया। विंस्टन चर्चिल ने संविधान सभा की वैधता को ही चुनौती दे दी। संविधान सभा के ही एक सदस्य एम.आर. जयकर ने भी विचार व्यक्त किया कि ''संविधान सभा एक सम्प्रभु संस्था नहीं है, और उसकी शक्तियां मूलभूत सिद्धांतों एवं प्रक्रियाओं दोनों ही दृष्टियों से मर्यादित है।'' उनके विचार का आधार यह था कि संविधान सभा कैबिनेट योजना के अधीन अस्तित्व में आई और यह ब्रिटिश संसद की सत्ता के ही अधीन है। वह कैबिनेट मिशन योजना में वर्णित संविधान की मूल रूपरेखा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। सभा का आह्वान ब्रिटिश सम्राट के अधिकार पर गवर्नर जनरल द्वारा किया गया था और यह अपेक्षित था कि संविधान सभा जो संविधान बनाएगी उसे ब्रिटिश संसद के पास अनुमोदन के लिए भेजा जाएगा, लेकिन संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों ने इन प्रतिबंधों को अस्वीकार करते हुए संविधान सभा की सम्प्रभुसत्ता पर बल दिया। इस अवसर पर बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, ''आजादी और ताकत के मिलते ही हमारी जिम्मेदारियां भी बढ़ गई हैं। संविधान सभा इन जिम्मेदारियों को निभायेगी। संविधान सभा एक पूर्ण प्रभुत्व-संपन्न संस्था है, वह देश के स्वतंत्र नागरिकों का प्रतिनिधित्व करती है''।

इस विचार के अनुसार ही संविधान सभा ने अपनी पूर्ण प्रभुता को प्रदर्शित भी किया—*प्रथम,* यह प्रस्ताव पारित किया गया कि ब्रिटिश सरकार या अन्य किसी भी सत्ता के आदेश से सभा का विघटन नहीं होगा। संविधान सभा को उसी समय भंग किया जाएगा, जबकि सभा स्वयं दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे। *द्वितीय,* संविधान सभा ने सभा के संचालन की पूर्ण शक्ति अपने निर्वाचित सभापति को दे दी।

संविधान सभा का प्रतिनिधिक स्वरूपः आलोचकों का कहना है कि संविधान सभा में जन-साधारण के प्रतिनिधि नहीं थे यानी उसके सदस्यों का चुनाव देश के सभी वयस्क नागरिकों ने नहीं किया था।

यह सत्य है कि संविधान सभा के सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं चुने गये थे, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम इसे प्रतिनिधिक संस्था न मानें। संविधान सभा में लगभग सभी संप्रदायों के व्यक्ति थे।

संविधान निर्माण का मूल्यांकन

हालांकि यह सत्य है कि कांग्रेस पार्टी का संविधान सभा में दो-तिहाई बहुमत था और कांग्रेस पार्टी में निर्णय का अधिकार पार्टी हाई कमान को था जिस पर नेहरू, पटेल और राजेन्द्र प्रसाद का नियंत्रण था, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि संविधान सभा देश की जनता की आशाओं व आकांक्षाओं से परिचित नहीं थी। संविधान सभा के कई सदस्यों ने 'समाजवाद' की अवधारणा को अपनाने पर बल दिया। संविधान सभा में शामिल मार्क्सवादियों, गांधीवादी, समाजवादियों व परम्परागत पूंजीवादियों ने अपनी-अपनी तरह से 'समाजवाद' को परिभाषित किया। लेकिन ये सभी एक बात से सहमत थे कि देश में सामाजिक न्याय की स्थापना करनी है। संवैधानिक सभा की कार्यवाहियों व दस्तावेजों में इस सामाजिक क्रांति के प्रति आग्रह की झलक देखी जा सकती है। सामाजिक क्रांति की इस अवधारणा के आधार पर ही भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार, नीति-निर्देशक सिद्धांतों और कार्यकारिणी, विधायिका व न्यायपालिका के अधिकारों का निर्धारण हुआ। उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में समाजवादी समाज के प्रति कोई प्रतिबद्धता नहीं है।

प्रमुख विचार

''संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों के लिए संविधान में समाजवाद शब्द जोड़ना उतना महत्वपूर्ण नहीं था। संविधान सभा के सदस्य देश के लिए एक लोकतांत्रिक संविधान बनाना चाहते थे, जिसमें समाजवाद की पक्षधरता हो ताकि आने वाले समय में, जैसा देश के नागरिक चाहें या जैसी जरूरत पड़े, देश समाजवाद के रास्ते पर चल सके।''

ग्रेनविल ऑस्टिन

संविधान सभा को विश्वास था कि आर्थिक विकास के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए केंद्रीकृत सरकार आवश्यक थी। संविधान में विधायी प्रावधानों का प्रारूप तैयार करते समय संविधान सभा के सदस्यों ने राष्ट्रीय एकता पर सर्वाधिक बल दिया। आंतरिक स्थिरता की चिंताओं ने संघीय ढांचे को प्रभावित किया, खासकर आपातकालीन स्थिति से संबंधित प्रावधान इसी चिंता का परिणाम थे। संविधान निर्माण में अन्य लक्ष्यों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा, सक्षम सरकार व प्रशासन और राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्यों ने भी संविधान निर्माण को प्रभावित किया।

संविधान सभा में इस बात पर संदेह व्यक्त किया गया था कि क्या भारत में संसदीय लोकतंत्र चल सकेगा? क्या शिक्षा के अभाव, अभिजात्य वर्ग व आम जनता के बीच की खाई और धार्मिक, सांप्रदायिक व भाषाई आधार पर विभाजित देश में यह व्यवस्था चलेगी? गांधीवादियों ने देशी परम्पराओं पर आधारित राजव्यवस्था का समर्थन किया। कुछ अन्य सदस्यों का मानना था कि स्थायित्व हासिल करने व विकास को बढ़ावा देने के लिए विधायिका से स्वतंत्र एक मजबूत केंद्र सरकार आवश्यक है, जबकि कुछ सदस्यों ने लोकतांत्रिक व्यवस्था का विरोध भी किया। इनका मानना था कि व्यस्क मताधिकार और पंचायतों तक विकेंद्रीकृत शासन की अवधारणा राजनीतिक रूप से खतरनाक सिद्ध हो सकती है। आखिरकार, प्रत्यक्ष चुनाव को ही सामाजिक क्रांति का आधार बनाया गया। इस संबंध में नेहरू जी का मानना था कि प्रत्यक्ष चुनाव के आधार पर गठित विधायिका देश की जनता का प्रतिनिधित्व करेगी और सांप्रदायिकता के क्षुद्र मुद्दों की बजाय यह विधायिका जनता के सामाजिक-आर्थिक हितों को बढ़ावा देगी। संविधान सभा में यह भी कहा गया कि प्रत्यक्ष चुनाव से ग्रामीण समाज की रक्षा करनी संभव होगी।

अंततः कहा जा सकता है कि देश के वातावरण, जनता की आकांक्षाओं, राजनीतिज्ञों की सामाजिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित विचारों के आधार पर संविधान सभा बहु-वैचारिक ढांचे के अंतर्गत काम कर रही थी। इसके साथ ही साथ प्रबल नेतृत्व के प्रभाव और सत्ता हस्तांतरण व विभाजन के बाद उपजी प्रशासनिक समस्याओं के कारण देश का नेतृत्व संविधान सभा में आम राय कायम करने के प्रति सचेत था, इसलिए भारत की भावी राजव्यवस्था के बारे में संविधान सभा कई उद्देश्यों को सामने रख कर चली।

अध्याय 36

राष्ट्रवादी विदेश नीति का विकास

औपनिवेशिक काल के अंतर्गत भारत की सु-स्थापित राजनयिक संलग्नता एक ऐसा कारक रही, जिसने भारत की बाहरी दुनिया से अंतर्क्रिया को सुसाध्य बनाया। स्वतंत्रता प्राप्ति पर, भारत 51 अंतरराष्ट्रीय संगठनों का सदस्य और 600 संधियों का हस्ताक्षरकर्ता था। भारत ने प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर किए। 1920 के दशक में, भारत राष्ट्र संघ, अंतरराष्ट्रीय श्रम संघ, और अंतरराष्ट्रीय न्यायालय का संस्थापक सदस्य था। इसने 1921-22 में नौसेना सशस्त्रीकरण पर वाशिंगटन कांफ्रेस में भाग लिया। 1920 से लंदन में एक भारतीय उच्चायुक्त था। यहां तक कि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व, भारतीय कुछ राजनयिक पदों पर नियुक्त किए गए। यह संयोगवश नहीं था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के जल्द बाद भारत ने संयुक्त राष्ट्र और सम्बद्ध अभिकरणों में सबसे बड़े और अत्यधिक प्रभावी गैर-पश्चिमी समूह बनाए।

भारत की विदेश नीति की आधारभूत रूपरेखा 1947 से कहीं पहले निर्मित की जा चुकी थी।

राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों पर पश्चात्य प्रभावों का महत्वपूर्ण एवं अवश्यंभावी परिणाम यह था कि वे अपने हितों को इसमें तलाशने लगे तथा वे तत्कालीन प्रभावी अंतरराष्ट्रीय विचारों एवं गतिविधियों से अवगत हुए। धीरे-धीरे राष्ट्रवादी चिंतक यह महसूस करने लगे कि उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद एक अंतरराष्ट्रीय चरित्र का शासन है तथा इसके प्रभाव विनाशकारी हैं। तदुपरांत साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवादी विचारधारा के उदय एवं विकास के फलस्वरूप राष्ट्रवादी विदेश नीति का दुष्टिकोण निर्मित हुआ। इस नीति के विकास की प्रक्रिया को हम निम्नलिखित अर्थों में देख सकते हैं।

1880 से प्रथम विश्व युद्ध तकः साम्राज्यवाद विरोधी एवं एशिया समर्थक भावनाएं

1878 के पश्चात, अंग्रेजों ने अनेक विस्तारवादी अभियान किये, जिनका राष्ट्रवादियों ने तीव्र विरोध किया। इन अभियानों में सम्मिलित थे–

• द्वितीय अफगान युद्ध (1878-80)।

• 1882 में इंग्लैण्ड द्वारा मिश्र में कर्नल अराबी के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन को कुचलने के लिये सेनायें भेजना।

• 1885 में बर्मा का कम्पनी साम्राज्य में विलय।

• 1890 के दशक में रूस के प्रसार को रोकने के लिये उत्तर-पश्चिम में किये गये विभिन्न प्रयास। राष्ट्रवादियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध जनजातीय कबीलों द्वारा किये गये प्रतिरोध का समर्थन किया।

राष्ट्रवादियों ने उग्र-साम्राज्यवाद के स्थान पर शांति की नीति अपनाये जाने की वकालत की। 1897 में तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष सी.शंकरन नायर ने कहा ''हमारी वास्तविक नीति शांति की नीति है।''

इस प्रकार 1880-1914 के दौरान उभरती विचारधारा थी–

1. उपनिवेशवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रहे राष्ट्रों से घनिष्ठता। जैसे–रूस, आयरलैंड, मिश्र, तुर्की, इथियोपिया, सूडान, बर्मा एवं अफगानिस्तान।

2. एशिया समर्थक भावनायें परिलक्षित हुईं–

• 1885 में बर्मा के अधिग्रहण की भर्त्सना।

• जापान के औद्योगिक विकास के उदाहरण से प्रेरणा।

• आई-हो-त्वान आंदोलन के दमन के लिये 1895 में जापान का विभाजन किये जाने की भर्त्सना।

• चीन को विभाजित करने के साम्राज्यवादी प्रयासों की निंदा।

• जापान द्वारा जारशाही रूस की पराजय–इसने यूरोपीय अजेयता के मिथक को तोड़ दिया।

• कांग्रेस द्वारा बर्मा की स्वतंत्रता का समर्थन।

प्रथम विश्व युद्ध

राष्ट्रवादियों ने युद्ध में इस उम्मीद के साथ ब्रिटेन का समर्थन किया कि वह युद्ध के उपरांत भारत में भी लोकतंत्र के उन सिद्धांतों को लागू करेगा, जिसके लिये वे संघर्षरत थे। युद्ध की समाप्ति के पश्चात कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि प्रस्तावित शांति सम्मेलन में उसे भी प्रतिनिधित्व दिया जाये। 1920 में कांग्रेस ने भारतीयों से अपील की कि वे पश्चिम में लड़ने हेतु जाने वाली सेनाओं में सम्मिलित न हों। 1925 में, कांग्रेस ने सन-यात-सेन के नेतृत्व में चल रहे चीन के राष्ट्रवादी आंदोलन के दमन हेतु भारतीय सेना को भेजे जाने की कड़ी आलोचना की।

1920 एवं 1930 के दशक में—समाजवादियों के साथ समीकरण स्थापित करना

1926-1927 में, जवाहरलाल नेहरू यूरोप में थे, जहां उन्होंने समाजवादियों एवं अन्य वामपंथी नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया। इससे पहले दादा भाई नौरोजी ने समाजवादी कांग्रेस के हेग सम्मेलन में भाग लिया। नौरोजी, विश्व प्रसिद्ध समाजवादी एच.एम. हाइन्डमैन के घनिष्ठ मित्र थे। लाला लाजपत राय ने भी 1914 से 1918 के दौरान अपनी अमेरिका यात्रा के समय, अमेरिका के समाजवादियों से गहन सम्पर्क स्थापित किया। गांधीजी के भी टाल्सटॉय एवं रोलैंड रोंमा से घनिष्ठ संबंध थे। 1927 में, जवाहरलाल नेहरू पीड़ित राष्ट्रवादियों के ब्रुसेल्स में आयोजित सम्मेलन में शामिल हुये तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया। इस सम्मेलन का आयोजन एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमरीकी देशों के राजनीतिक निर्वासन की सजा झेल रहे राष्ट्रवादियों एवं क्रांतिकारियों ने किया था। ये राष्ट्रवादी, राजनीतिक एवं आर्थिक साम्राज्यवाद के चंगुल में जकड़े हुए थे। इस सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू-अल्बर्ट आंइस्टीन, श्रीमती सन-यात-सेन, रोलैंड रोमां एवं जार्ज लैंसबरी के साथ अध्यक्ष चुने गये। नेहरू, अपने यूरोप प्रवास के दौरान ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतराष्ट्रीय चरित्र से परिचित हुए। नेहरू लीग की साम्राज्यवाद विरोधी कार्यकारिणी के लिये भी मनोनीत किये गये। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विश्व के अन्य भागों में चल रहे साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों से सम्पर्क बनाये रखने के लिये 'विदेश विभाग' की स्थापना की। 1927 में जवाहरलाल नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की तथा इस समाजवादी राष्ट्र की उपलब्धियों से वे अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने रूस को साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक विशाल ताकत के रूप में देखा।

1936 के पश्चात्—फासीवाद विरोधी रवैया

1930 का दशक, यूरोप में फासीवाद के उदय एवं इसके विरुद्ध संघर्ष का काल था। राष्ट्रवादियों ने निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद एवं फासीवाद-पूंजीवाद के ही दो अंग हैं। राष्ट्रवादियों ने विश्व के विभिन्न भागों यथा-इथियोपिया, स्पेन, चीन तथा चेकोस्लोवाकिया में चल रहे फासीवाद विरोधी आंदोलन को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। 1939 में अपने त्रिपुरी अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटेन की फासीवाद समर्थक नीति से खुद को पृथक घोषित कर दिया।

1939 में, राष्ट्रवादियों ने जापान द्वारा चीन पर किये गये आक्रमण को निंदनीय बताया। कांग्रेस ने डॉ. एम. अटल के नेतृत्व में एक चिकित्सा मिशन भी चीनी सशस्त्र सेनाओं की सहायता के लिये, चीन भेजा।

फिलिस्तीन के मुद्दे पर कांग्रेस ने फिलिस्तीनियों का समर्थन किया। यद्यपि उसने

यहूदियों के प्रति भी सहानुभूति जताई किंतु मांग की कि फिलिस्तीनियों को उनके स्थानों से विस्थापित न किया जाये तथा इस मुद्दे को फिलिस्तीनी एवं अरब आपस में द्विपक्षीय सहयोग द्वारा हल करें तथा पश्चिम को इस मसले पर हस्तक्षेप न करने दें। कांग्रेस ने फिलिस्तीन के विभाजन का भी विरोध किया।

स्वतंत्रता के उपरांत

स्वतंत्रता के उपरांत भारत ने तत्कालीन शीत युद्ध तथा विश्वव्यापी गुटबंदी से दूर रहते हुए अपनी स्वतंत्र विदेश नीति बनाई। उसकी विदेश नीति गुट-निरपेक्षता की नीति पर आधारित थी तथा शीघ्र ही भारत विश्व के राष्ट्रों के मध्य गुट-निरपेक्षता की नीति का अगुआ बन गया।

स्वतंत्रता संग्राम तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जवाहरलाल नेहरू एक अत्यंत प्रभावशाली और लोकप्रिय नेता के रूप में उभरे। नेहरू के व्यक्तित्व ने घरेलू नीति और विदेश नीति दोनों पर अपना प्रभाव डाला। विदेश नीति की नींव ही उन्होंने रखी थी। आरंभिक वर्षों में भारत की विदेश नीति व्यवहारतः राष्ट्रीय नीति थी जिसकी आधारभूत रूपरेखा राजनीतिक दलों की सहमति और आम जनता की सोच पर थी। परंतु इसके तीन महत्वपूर्ण पहलू गुटनिरपेक्षता, पंचशील, भारत के कॉमनवेल्थ से संबंध जारी रखना, नेहरू की उपज थे। भारत की जनता के बड़े भाग द्वारा इसको स्वीकार करना मुख्यतः नेहरू के व्यक्तित्व के परिणामस्वरूप ही था।

उपस्थित परिस्थितियों में और भारत के अपने राष्ट्रीय हित के संदर्भ में जिसमें, देश की क्षेत्रीय अखण्डता को बनाए रखना, जो कि सभी देशों की विदेश नीति का प्राथमिक उद्देश्य होता है। भारत की विदेश नीति के उद्देश्य थे—नीति की स्वतंत्रता को बनाए रखना, अंतरराष्ट्रीय शांति को बढ़ाना, उपनिवेशों तथा गुलाम क्षेत्रों को मुक्त कराना, नस्लीय समानता को बढ़ाना, देश का आर्थिक विकास करना, विदेशों में भारतीय मूल की जनता के हितों की वैधता को सुरक्षित रखना इत्यादि।

अपने प्रबुद्ध स्व-हितों तथा प्रबल परिस्थितियों को विचार में रखते हुए, भारत ने अपनी विदेश नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के तीन साधन बताए थे—(i) गुटनिरपेक्षता; (ii) विश्व शांति बनाए रखना, और (iii) सभी देशों से मैत्री।

स्वतंत्र भारत की विदेश नीति में शांति, उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता, नस्लीय समानता तथा सैनिक गुटों से गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत शताब्दी के प्रारंभ से चले आ रहे स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष के अनुभवों से अस्तित्व में आए थे।

अध्याय 37

प्रथम आम चुनाव–प्रवृत्तियां एवं चुनौतियां

प्रथम भारतीय आम चुनाव 1951-52

अप्रैल 1950 में, जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम पारित किया गया, और इसके साथ ही भारतीय चुनाव आयोग, एक स्वायत्त निकाय, का गठन किया गया। सुकुमार सेन, भारतीय सिविल सेवा के अधिकारी, भारत के पहले मुख्य चुनाव आयुक्त नियुक्त किए गए। लगभग 173 मिलियन (भारत की तत्कालीन जनसंख्या की आधी आबादी) लोगों, जिन्होंने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली थी, को मतदाता के तौर पर पंजीकृत किया गया। हालांकि, इनमें से 85 प्रतिशत अशिक्षित एवं निर्धन थे और ग्रामीण क्षेत्रों में रहते थे और उन्हें चुनावों का कोई अनुभव नहीं था। इन लोगों को 489 लोकसभा सीटों के लिए और 3283 प्रांतीय विधानसभा सीटों के लिए वोट देना था।

चुनावों में भाग लेने वाले राजनीतिक दल

प्रथम आम चुनाव अक्टूबर 1951-फरवरी 1952 के बीच (चार माह) आयोजित किए गए। इस चुनाव में कुल 53 राजनीतिक दलों ने हिस्सा लिया, जिनमें 14 राष्ट्रीय दल भी शामिल थे।

स्वतंत्र भारत के चुनावों से पूर्व, नेहरू के पूर्व मंत्रिमण्डल में रहे दो साथियों–श्यामा प्रसाद मुखर्जी और बी.आर. अम्बेडकर ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आईएनसी) की सर्वोच्चता को चुनौती देने के लिए पृथक राजनीतिक दलों का गठन किया। जहां श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने अक्टूबर 1951 में **जनसंघ** का गठन किया, वहीं बी.आर. अम्बेडकर ने **अनुसूचित जाति फेडरेशन** (बाद में इसका नाम रिपब्लिकन पार्टी रखा गया) को पुनर्जीवित किया। अन्य दलों में जिन्होंने सामने आना शुरू किया, **किसान मजदूर प्रजा परिषद्** (आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में); **सोशलिस्ट पार्टी** (राममनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में); **भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी** इत्यादि मुख्य रूप

से शामिल हैं। हालांकि, ये छोटे दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की जोरदार जन-समर्थन लहर के सामने टिक नहीं सके।

निर्वाचन क्षेत्र

प्रथम आम चुनाव (1951-1952), जो 401 निर्वाचन क्षेत्रों में लोकसभा की 489 सीटों के लिए आयोजित किए गए, ने 26 भारतीय राज्यों का प्रतिनिधित्व किया। उस समय, एकल सीट वाले 314 निर्वाचन क्षेत्र, दो सीट वाले 86 निर्वाचन क्षेत्र और तीन सीट वाला एक निर्वाचन क्षेत्र था। वर्ष 1960 में बहुल सीट वाले निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

राजनीतिक परिदृश्य

भारत का प्रथम चुनाव आयोजित करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था और इसमें चार माह का समय लगा। हालांकि, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उस समय सबसे बड़ा राजनीतिक दल था, लेकिन चुनावों में विपक्षी दलों को हिस्सा लेने के लिए भी अनुकूल माहौल तैयार किया गया। विपक्षी दलों में जनसंघ, रिपब्लिकन पार्टी, किसान मजदूर प्रजा परिषद्, सोशलिस्ट पार्टी, और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मुख्य थीं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पूरे राष्ट्र में लोगों का विश्वास जीतने का भरसक प्रयास किया। वस्तुतः, जवाहरलाल नेहरू ने अपने चुनावी प्रचार में देश की जनसंख्या के लगभग एक-दसवें हिस्से तक पहुंच बनाई। कांग्रेस के सम्मुख विपक्षी नेता के रूप में मुख्यतः दलित नेता बी.आर. अम्बेडकर; श्यामा प्रसाद मुखर्जी, राम मनोहर लोहिया, आचार्य कृपलानी इत्यादि शामिल थे।

नागालैंड में, नेशनल नागा कौंसिल ने इस चुनाव का सम्पूर्ण बहिष्कार किया और न तो कोई उम्मीदवार खड़ा किया और न ही एक भी मतदान किया।

प्रत्येक उम्मीदवार हेतु पृथक् मतदान पेटी

प्रथम आम चुनाव में प्रत्येक उम्मीदवार के लिए अलग रंग की मतदान पेटी की व्यवस्था की गई। भारत के चुनाव आयोग ने इस बात को बेहद विवेकपूर्ण तरीके से ध्यान में रखा कि भारत की अधिकांश जनसंख्या अशिक्षित है। उस समय साक्षरता दर मात्र 16 प्रतिशत थी, जिससे पृथक् रंगों की मतदान पेटियों (बैलेट बॉक्स) की व्यवस्था की गई। अलग-अलग रंगों की मतदान पेटियों में से प्रत्येक पर उम्मीदवार का नाम तथा चुनाव चिन्ह अंकित किया गया था।

चुनाव व्यवस्था एवं तैयारी

प्रथम आम चुनाव की तैयारियां सिर चकराने वाली और बेहद थकाऊ थीं। 224,000 मतदान केंद्र स्थापित किए गए, और 2 मिलियन बैलेट बॉक्स बनाने में 8,200 टन स्टील का प्रयोग किया गया। मतदाताओं को देश के संविधान से अवगत कराने, चुनाव

प्रक्रिया, निर्वाचक नामावली को तैयार करने, सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार और अन्य बातों एवं अवधारणाओं के बारे में सूचना प्रदान करने के लिए तथा शिक्षित करने हेतु ऑल इंडिया रेडियो पर कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए और 3,000 सिनेमाघरों में एक विशेष डॉक्यूमेंटरी दिखाई गई। विपक्षी दलों–सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, द हिंदू राइट, रिपब्लिकन पार्टी एवं अन्य–ने भी लोगों को शिक्षित किया। यह चुनाव प्रचार बेहद रंगारंग था, जैसाकि *रामचंद्र गुहा* ने अपनी पुस्तक *'इंडिया आफ्टर गांधी'* में लिखा कि कोलकाता में यहां-वहां घूमती गाय पर 'वोट कांग्रेस' का नारा लिखा हुआ देखा जा सकता था।

स्वतंत्रता के पांच वर्ष पश्चात्, 2.8 मिलियन महिला मतदाताओं, जिन्हें भारत के प्रथम आम चुनाव में मतदान हेतु पंजीकृत किया गया था, को निर्वाचक नामावली से इसलिए हटा दिया गया क्योंकि उन्होंने अपने नाम देने से मना कर दिया था और इसके स्थान पर अपने पति या पिता का नाम दिया। यह उन कई चुनौतियों में से एक है, जिसका सामना चुनाव आयोजित करने में करना पड़ा।

लोकसभा के साथ-साथ सभी प्रांतीय विधामंडलों के चुनाव भी कराए गए। प्रधानमंत्री नेहरू 1950 में संविधान लागू होने के साथ ही जल्द से जल्द चुनाव कराना चाहते थे, लेकिन मुख्य चुनाव आयुक्त सुकुमार सेन निर्वाचक नामावली बनाने, बैलेट बॉक्स को तैयार करने, अशिक्षित मतदाताओं को मतदान कर सकने में समर्थ बनाने के लिए चुनाव चिन्ह तैयार करने और यह भी निश्चित करने के लिए कि चुनाव सुदूर पहाड़ी क्षेत्रों और द्वीपों में भी सफलतापूर्वक आयोजित किए जा सकें, के लिए समय मांगा। मतदान की बारंबारता या फर्जी मतदान से बचने के लिए एक विशेष स्याही तैयार की गई, जो एक सप्ताह तक मिटायी नहीं जा सकती थी। मतदान हेतु मतदान पत्रों की छपाई चुनाव आयोग द्वारा भारत सरकार की नासिक में स्थित 'इंडिया सिक्यूरिटी प्रेस' में कराई गई, जहां भारतीय मुद्रा की भी छपाई होती थी। पूरे देश में स्थापित 2,24,000 मतदान केंद्रों में से 27,527 मतदान केंद्र विशिष्ट रूप से महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए।

इस प्रकार कई चुनौतियों एवं युक्तियों तथा अथक प्रयास द्वारा प्रथम आम चुनाव की तैयारी एवं व्यवस्था संभव की जा सकी।

चुनाव का परिणाम

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आईएनसी) ने 489 में से 364 लोकसभा सीटें जीतकर ऐतिहासिक जीत दर्ज की। 45.7 प्रतिशत मतदान किया गया। जवाहरलाल नेहरू लोकतांत्रिक रूप से चुने गए देश के प्रथम प्रधानमंत्री बने। प्रांतीय विधानमंडलों में कांग्रेस ने 2,248 सीटों पर विजय प्राप्त की। कांग्रेस ने केंद्र और सभी राज्यों में सरकार बनाई। यद्यपि कांग्रेस चार राज्यों–मद्रास, त्रावणकोर-कोचीन, उड़ीसा और पेप्सू–में बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी। इस चुनाव में एक बात अविस्मरणीय रही कि 40 प्रतिशत मतदान योग्य महिलाओं ने मतदान किया।

आम चुनाव (1951-52) में सीट प्राप्त करने वाले दल

दल	वोट प्रतिशत	सीट
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आईएनसी)	44.99	364
कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई)	3.29	16
सोशलिस्ट पार्टी	10.59	12
किसान मजदूर प्रजा पार्टी (केएमपीपी)	5.79	9
पीपुल्स डेमोक्रेटिक फ्रंट (पीडीएफ)	1.29	7
गणतंत्र परिषद् (जीपी)	0.91	6
अखिल भारतीय हिंदू महासभा	0.95	4
शिरोमणि अकाली दल	0.99	4
तमिलनाडु टॉयलर्स पार्टी	0.84	4
अखिल भारतीय राम राज्य परिषद्	1.97	3
भारतीय जन संघ	3.06	3
रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी	0.44	3
कॉमनवेल्थ पार्टी	0.31	3
झारखण्ड पार्टी	0.71	3
शिड्यूल कास्ट फेडरेशन	2.38	2
लोक सेवक संघ	0.29	2
पीजेन्ट्स एंड वर्कर्स पार्टी ऑफ इंडिया	0.94	2
फॉरवर्ड ब्लॉक (मार्क्सवादी)	0.91	1
कृषिकर लोक पार्टी	1.41	1
छोटा नागपुर संथाल परगना जनता पार्टी	0.22	1
मद्रास स्टेट मुस्लिम लीग पार्टी	0.08	1
त्रावणकोर तमिलनाडु कांग्रेस पार्टी	0.11	1
निर्दलीय	15.9	37
एंग्लो-इंडियन (नामित)		2

इस चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी ने लोकसभा में 23 सीटें प्राप्त कीं। राजाओं और जमींदारों की पार्टी 'गणतंत्र परिषद्' ने उड़ीसा में राज्य विधानमंडल की 31 सीटें प्राप्त कीं।

उल्लेखनीय है, कि चुनाव में बी.आर. अम्बेडकर बॉम्बे, (नॉर्थ सेंट्रल) जो कि आरक्षित सीट थी, निर्वाचन क्षेत्र से हार गए। तब अम्बेडकर ने राज्य सभा सदस्य के रूप में संसद में प्रवेश किया। उन्होंने 1954 के बान्द्रा उपचुनाव में लड़कर लोकसभा में जाने का प्रयास किया, लेकिन वे कांग्रेस उम्मीदवार से हार गए।

आचार्य कृपलानी भी 'किसान मजदूर प्रजा परिषद्' के उम्मीदवार के रूप में फैजाबाद (उत्तर प्रदेश) से हार गए, लेकिन उनकी पत्नी सुचेता कृपलानी ने दिल्ली में कांग्रेस उम्मीदवार मनमोहनी सहगल को हरा दिया।

अध्याय 38

नेहरू के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत (1947-64)

जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री थे और स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् की भारतीय राजनीति में केन्द्रीय व्यक्तित्व थे। महात्मा गांधी के संरक्षण में वे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के सर्वोच्च नेता के रूप में उभरे और उन्होंने 1947 में भारत के एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में स्थापना से लेकर 1964 तक भारत का शासन संभाला। वे आधुनिक भारतीय राष्ट्र राज्य—एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, और लोकतांत्रिक गणतंत्र के वास्तुकार माने जाते हैं। नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल (1947-1964) के दौरान, भारत में निर्णयों के समस्त पहलुओं पर नेहरू के प्रभाव के कारण इस काल को प्रायः 'नेहरू युग' कहा जाता है। नेहरू युग के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त सर्वेक्षण एवं घटनाक्रम निम्न प्रकार है।

आर्थिक विकास हेतु नियोजन की अवधारणा

दीर्घकालीन औपनिवेशिक शासन के फलस्वरूप भारत को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक ऐसी अर्थव्यवस्था विरासत में मिली, जिसमें सीमित उद्योगीकरण, निम्न कृषि उत्पादन, अल्प प्रतिव्यक्ति आय तथा मंद आर्थिक विकास गति जैसी नकारात्मक विशेषताएं मौजूद थीं। अशिक्षा, संकीर्णता तथा सामाजिक असमानता इसके अन्य प्रमुख तत्व थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनीतिक नेतृत्व द्वारा परिस्थितियों एवं जनाकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए विकास के चार लक्ष्य घोषित किये गये, ये थे—(i) आयात और विदेशी सहायता पर भारत की निर्भरता को कम करना (ii) पूंजी निर्माण एवं संसाधनों का प्रसार करना (iii) सामाजिक एवं क्षेत्रीय असमानताओं का उन्मूलन करना, तथा (iv) जनसामान्य हेतु पर्याप्त एवं न्यूनतम जीवन स्तर की उपलब्धि सुनिश्चित करना।

उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु राजनीतिक नेतृत्व के पास दो विचारधाराओं—पूंजीवादी और साम्यवादी पर आधारित शासन प्रणालियों को अपनाने के विकल्प मौजूद थे, किंतु पूंजीवादी व्यवस्था में व्याप्त असमानता तथा साम्यवादी शासन की

निरंकुशता ने भारतीय नेतृत्व को तीसरे रास्ते का चुनाव करने को प्रेरित किया। जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव के अंतर्गत लोकतांत्रिक व्यवस्था में आर्थिक नियोजन को लागू करने के नये प्रयोग को अपनाने का निर्णय किया गया, जिसमें विकास और समता के उद्देश्यों को शांतिपूर्ण तरीके से प्राप्त किया जाना था।

नियोजन संबंधी प्रारंभिक प्रयास

कांग्रेस ने 1938 में राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया, जिसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू थे। समिति द्वारा तैयार कई रिपोर्टों में मूलभूत उद्योगों के सार्वजनिक स्वामित्व, बड़े और लघु उद्योगों के मध्य समन्वय, क्षतिपूर्ति देकर जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, नियोजन में कृषि क्षेत्र को आवश्यक रूप से शामिल करने तथा सहकारी खेती के विस्तार आदि की सिफारिशें कीं गयीं।

1944 में भारत के आठ बड़े उद्योगपतियों ने आर्थिक विकास का एक दस्तावेज तैयार किया, जिसे **बंबई योजना** कहा जाता है।

आचार्य श्री मन्नारायण द्वारा **'गांधीवादी योजना'** के माध्यम से दस वर्ष में लोगों को जीवन की मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराने का दावा किया गया। 40 प्रतिशत एम. एन. राय ने भी **'जनता योजना'** का प्रस्ताव रखा, जिसमें सरकारी खेती और भूमि के राष्ट्रीयकरण पर बल दिया गया। जयप्रकाश नारायण की **'सर्वोदय योजना'** भी विकास के गांधीवादी मॉडल पर आधारित थी।

इस प्रकार विकास की इन विभिन्न योजनाओं के द्वारा भारत में नियोजन के कई प्रारूप उभर कर आये, जिन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनीतिक नेतृत्व को नियोजन सम्बंधी नीतिनिर्माण हेतु प्रचुर आधार-सामग्री उपलब्ध करायी।

स्वातंत्र्योत्तर प्रारंभिक प्रयास

केंद्रीय मंत्रिमंडल के एक प्रस्ताव द्वारा 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई। आयोग को परामर्शदात्री संस्था का दर्जा दिया गया। आयोग को सात दायित्व निभाने थे—(i) भारत के भौतिक, पूंजीगत तथा मानवीय संसाधनों का आकलन करना; (ii) इन संसाधनों के प्रभावी एवं संतुलित उपयोग के लिए योजना तैयार करना; (iii) विकास की राष्ट्रीय प्राथमिकताएं निर्धारित करना, विकास की स्थितियों को परिभाषित करना तथा संसाधनों के वितरण हेतु सुझाव देना; (iv) योजना के सफल क्रियान्वयन हेतु आवश्यक शर्तों का निर्धारण करना; (v) योजना के प्रत्येक चरण के कार्यान्वयन हेतु अपेक्षित प्रशासन तंत्र सुनिश्चित करना; (vi) योजना क्रियान्वयन द्वारा हासिल की गई प्रगति का समय-समय पर मूल्यांकन करना तथा नीतियों और मापदंडों में अपेक्षित सुधारों की सिफारिश करना; (vii) स्वयं की प्रभावी कार्यशीलता, बदलती आर्थिक परिस्थितियों, चालू नीतियों, कार्यक्रमों व मापदंडों तथा केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा प्रेषित किसी समस्या आदि विषयों के सम्बंध में अपनी सिफारिशें देना।

योजना आयोग की सिफारिशों तथा तैयार नीतियों व योजनाओं पर अंतिम निर्णय 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' द्वारा किया जाता है, जिसकी स्थापना 6 अगस्त, 1952 को की गई।

नियोजन के समाजिक-आर्थिक उद्देश्य

नियोजन के विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्य हैं, जिन्हें विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूपों में वर्णित किया जाता रहा है। एक मोटे अनुमान के आधार पर नियोजन के उद्देश्य निम्न हैं—(i) आधारभूत औद्योगिक संरचना का निर्माण; (ii) कृषि उत्पादन में वृद्धि एवं सुधार; (iii) राष्ट्रीय संपदा की वृद्धि और वितरण; (iv) आत्म निर्भर और स्वस्फूर्त राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना; (v) गरीबी व बेरोजगारी का उन्मूलन; (vi) सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन; (vii) बीमारियों और निरक्षरता की समाप्ति; (viii) व्यापार और वाणिज्य का विस्तार; (ix) आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यातोन्मुख उत्पादन हेतु उद्यमियों को आर्थिक प्रोत्साहन; (x) भारतीय अर्थव्यवस्था का आधुनिक, प्रभावशील व प्रतिस्पर्द्धात्मक रूप में कायांतरण।

पंचवर्षीय योजनाएं

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56**):** प्रथम योजना में सर्वांगीण राष्ट्रीय विकास के साथ-साथ शरणार्थी पुनर्वास, खाद्य आत्मनिर्भरता, मुद्रास्फीति नियंत्रण जैसे तात्कालिक लक्ष्यों का चुनाव किया गया। इस योजना को लक्ष्यों की प्राप्ति में सफलता प्राप्त हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61**):** इस योजना में भारी एवं मूलभूत उद्योगों के विकास एवं विस्तार को प्राथमिकता दी गयी, जो समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित करने की दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम था।

दूसरी योजना के अनेक लक्ष्यों को पूंजी अभाव के कारण प्राप्त नहीं किया जा सका, फिर भी इसे सीमित सफलता प्राप्त हुई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66**):** तीसरी योजना में कृषि को पुनः सर्वोच्च प्राथमिकता देते हुए स्वस्फूर्त एवं निर्भर अर्थव्यवस्था का लक्ष्य तय किया गया। किंतु भारत-चीन युद्ध (1962) तथा भारत-पाकिस्तान युद्ध (1965) के कारण योजना की प्राथमिकताओं को रक्षा जरूरतों तक सीमित होना पड़ा। 1965-66 में पड़े भयंकर अकाल ने पूर्णतः इस योजना को, विफल बना दिया। अतः तीसरी योजना के दौरान भारतीय नियोजन प्रणाली को गंभीर संकटों व अवरोधों का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार जवाहर लाल नेहरू के कार्यकाल में ही नियोजन व्यवस्था के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू पूर्णतः स्पष्ट हो गये। जहां एक ओर उत्पादन वृद्धि, औद्योगीकरण विस्तार, आधार संरचना विकास, विज्ञान एवं तकनीकी विकास, तथा शिक्षा के प्रसार आदि क्षेत्रों में नियोजन प्रणाली को सफलता प्राप्त हुई, वहीं दूसरी ओर

गरीबी व बेरोजगारी उन्मूलन, आय असमानताओं में कमी, भूमिसुधारों के पूर्ण क्रियान्वयन आदि क्षेत्रों में यह असफल साबित हुई।

राज्यनियंत्रित औद्योगीकरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, भारत के औद्योगिक क्षेत्र में आधारभूत संरचना का अभाव, तकनीकी विकास की निम्न स्थिति, विदेशी पूंजी पर निर्भरता, घरेलू बाजार की अनुपस्थिति, पूंजीगत उद्योगों का अभाव तथा पूंजी निर्माण की कमी जैसी विशेषताएं विद्यमान थीं। इस परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय नेतृत्व तथा उद्यमियों द्वारा औद्योगीकरण के विकास व विस्तार के लिए आधारभूत संरचना, घरेलू मांग तथा विशेष योग्य संसाधनों की उपलब्धता को अनिवार्य शर्तों के रूप में स्वीकार किया गया और इन शर्तों को राजकीय सहयोग के बिना पूरा करना असंभव समझा गया।

1938 की 'राष्ट्रीय योजना समिति' तथा 1944 की बंबई योजना' द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को गतिशील बनाने के लिए नियोजन प्रणाली तथा राज्य नियंत्रण की आवश्यकता को स्वीकार किया गया था।

लोकतांत्रिक समाजवाद के उद्देश्यों को औद्योगीकरण के माध्यम से प्राप्त करने के लिए भी उद्योगों पर सरकारी स्वामित्व कायम रखना आवश्यक था। निजी क्षेत्र के अधिकाधिक लाभार्जन करने के दृष्टिकोण के कारण, उससे सामाजिक कल्याण से संबंधित प्राथमिकताओं की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। धन संकेंद्रण तथा एकाधिकारी पूंजीपति नियंत्रण को कम करने के लिए भी सरकारी अंकुश रखना उचित समझा गया। औद्योगीकरण पर राज्य नियंत्रण के स्वरूप को सरकार की आरंभिक औद्योगिक नीतियों में देखा जा सकता है।

1948 की औद्योगिक नीति

इस नीति में मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत आगामी वर्षों में राज्य द्वारा अपने नियंत्रणाधीन नवीन उत्पादक इकाइयों की स्थापना की घोषणा की गई। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र को संयुक्त रूप से कार्य करना था। निजी क्षेत्र को देश की सामान्य औद्योगिक नीति के अंतर्गत अपनी गतिविधियां संचालित करनी थीं। ऊर्जा, शस्त्रास्त्र, रेलवे, मुद्रा उत्पादन आदि क्षेत्रों में राज्य के अधीन सार्वजनिक क्षेत्र की परिकल्पना की गई। विमान एवं पोत निर्माण, लोहा, कोयला खनिज तेल तथा संचार क्षेत्र में राज्य द्वारा आधारभूत उद्योगों की स्थापना करने का निश्चय किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र को सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में मान्यता दी गयी। इस नीति में लघु एवं कुटीर उद्योंगों को राज्य द्वारा प्रोत्साहन देने का प्रस्ताव था। इन उद्योगों हेतु विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन को आरक्षित किया गया। पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना द्वारा क्षेत्रीय असंतुलन दूर करना भी राज्य का दायित्व माना गया। इस प्रकार 1948 की औद्योगिक नीति द्वारा संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों को लागू करने का प्रयास किया गया।

1956 की औद्योगिक नीति

इस नीति के प्रस्ताव में उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया—(i) पहले वर्ग में शस्त्रास्त्र उत्पादन, परमाणु ऊर्जा, भारी उपकरण, लौह इस्पात, कोयला, खनिज तेल, धातु उद्योग, भारी विद्युत उपकरण, अन्य महत्वपूर्ण खनिज, वायु परिवहन, रेलवे, वैमानिकी, टेलीफोन, विद्युत उत्पादन व वितरण तथा तार एवं रेडियो उपकरण जैसे 17 उद्योगों को रखा गया। ये राज्य के पूर्ण नियंत्रण में थे। (ii) दूसरे वर्ग में अन्य अलौह धातु व एल्यूमिनियम, अन्य खनिज उद्योग, लौह मिश्रधातु एवं औजारी इस्पात, प्रतिजैविक व अन्य औषधि, रसायन उद्योग, उर्वरक, संश्लिष्ट रबर, सड़क परिवहन व समुद्री परिवहन, कोयले का कार्बनीकरण तथा रासायनिक अपशिष्ट जैसे 12 उद्योगों को शामिल किया गया। इन उद्योगों में राज्य का नियंत्रण बढ़ता जाना था तथा राज्य इनमें नवीन उद्यमों की स्थापना करेगा। निजी क्षेत्र से इन उद्योगों के संचालन में राज्य की सहायता करने की अपेक्षा की गई। (iii) शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के हाथों में सौंप दिये गये। किंतु इस वर्ग के उद्योगों को भी सामाजिक उद्देश्यों एवं नियंत्रक विधानों के अधीन कार्य करना था।

इस औद्योगिक नीति में स्पष्ट किया गया कि निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र आपस में पृथक या विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर पूरक हैं। निजी क्षेत्र की आशंका का समाधान करने के लिए राज्य द्वारा पूंजी समर्थन, राजकोषीय उपायों तथा संचार व ऊर्जा सुविधाओं के माध्यम से निजी क्षेत्र के विकास को पर्याप्त समर्थन दिया गया। नीति में राज्य के, सरकारी व निजी दोनों इकाइयों के प्रति न्यायपूर्ण एवं भेदभाव रहित व्यवहार को सुनिश्चित किया गया। इसमें लघु व कुटीर उद्योगों के प्रोत्साहन, प्रादेशिक असमानता की समाप्ति तथा श्रमिक सुविधाओं के विस्तार की सिफारिशें भी की गईं, जिन्हें पूरा करना राज्य के नियंत्रण के बगैर असंभव था।

पंचवर्षीय योजनाओं के अधीन औद्योगीकरण

प्रथम योजना में प्रत्यक्ष औद्योगीकरण प्रयासों के स्थान पर आधारभूत सरंचना एवं कृषि तथा सिंचाई के विकास पर जोर दिया गया, ताकि आगामी समय में किये जाने वाले तीव्र औद्योगीकरण हेतु सुगम पृष्ठभूमि निर्मित की जा सके। विभिन्न उद्योगों की विकास दर प्रथम योजना काल में संतोषजनक रही। इसी काल में सिंदरी उर्वरक कारखाना, चितरंजन का रेल इंजन निर्माण कारखाना, इंटीग्रलकोच फैक्ट्री, पेनिसिलीन फैक्ट्री, भारतीय टेलीफोन उद्योग आदि की स्थापना की गई।

द्वितीय योजनाकाल में निर्धारित औद्योगीकरण का लक्ष्य, 1956 की औद्योगिक नीति से प्रेरित था। योजना के कुल विनियोग का 27 प्रतिशत अंश उद्योग क्षेत्र के लिए निश्चित किया गया। 'राज्य द्वारा राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर स्थित इस्पात कारखानों के अतिरिक्त विभिन्न उद्योग क्षेत्रों में अनेक उत्पादक इकाइयां स्थापित की

गई। इस काल में छोटे उद्यमकर्ता समूह का तेजी से विस्तार हुआ, जिससे पूंजी एकाधिकार की प्रवृत्तियों में आंशिक रूप से कमी आयी।

तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ मशीन निर्माण उत्पादन, तकनीकी कौशल एवं प्रबंधकीय दक्षता में सुधार लाने पर बल दिया गया। योजनाकाल के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र को केंद्रीय स्थान प्रदान किया गया। योजनाकाल के दौरान ओटोमोबाइल, डीजल इंजन, बिजली ट्रांसफार्मर, मशीनी उपकरण आदि क्षेत्रों में काफी प्रगति हुई।

उद्योग (विकास एवं विनियमन) अधिनियम 1951: इस अधिनियम के माध्यम से सरकार को मध्यम एवं बड़े औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना के लिए लाइसेंस जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया। सरकार को उत्पादन की मात्रा, आयात-निर्यात कोटा, मजदूरी, मूल्य एवं वेतन के निर्धारण की शक्ति भी प्राप्त हुई। सरकार के इन अधिकारों को उद्योगों के विकेंद्रीकरण तथा उपभोक्ता व श्रमिकों के हित संरक्षण की दृष्टि से औचित्यपूर्ण सिद्ध किया गया। सरकार द्वारा विदेशी व्यापार घरानों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों को भी विभिन्न कानूनों के माध्यम से नियंत्रित करने का प्रयास किया गया।

इस प्रकार, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के डेढ़ दशक में लोकतांत्रिक समाजवाद के आदर्शों के अनुरूप मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत औद्योगीकरण की जो प्रक्रिया आरंभ की गयी, उसमें राज्य के नियंत्रण को अनिवार्य तत्व माना गया। तत्कालीन नवीन अर्थव्यवस्था में आधारभूत क्षेत्रों को मात्र निजी एवं बाजारवादी आर्थिक शक्तियों के सहारे विकसित करना असंभव था और स्वयं निजी क्षेत्र भी इतना सामर्थ्यवान नहीं हो पाया था, जो सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्संरचना हेतु अपेक्षित संसाधनों को जुटा सकने में समर्थ हो पाता। राज्य नियंत्रण के माध्यम से ही कृषि, ऊर्जा, परिवहन तथा संचार क्षेत्र में संसाधनों का निवेश सुनिश्चित किया जा सकता था। इन आधारभूत सुविधाओं के विकास के बिना घरेलू बाजार का निर्माण तथा सामाजिक परिवर्तन का होना संभव नहीं था। इन सब कारणों से राज्य को औद्योगीकरण प्रक्रिया के नियंत्रण की बागडोर सौंपी गयी और कतिपय असफलताओं के बावजूद राज्य द्वारा अपनी भूमिका को कुशलतापूर्वक निभाया गया।

भूमि एवं कृषि सुधार

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत, राजनैतिक नेतृत्व के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती देश का सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण एवं विकास थी। भारत की 80 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या की आजीविका कृषि पर निर्भर होने के कारण कृषि को आर्थिक विकास से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध पाया गया। आजादी के बाद भारत को पिछड़ी हुई कृषि व्यवस्था विरासत में प्राप्त हुई, जिसके मुख्य लक्षण इस प्रकार थे—भूस्वामित्व के

विभिन्न प्रकार, कुछ गिने-चुने हाथों में भूमि का केंद्रीकरण, बिचौलियों की प्रभावशीलता, बहुसंख्यक गरीब किसानों का अस्तित्व, ग्रामीण बेरोजगारी, न्यून कृषि उत्पादन, तकनीकी सुविधाओं का अभाव, सामाजिक पिछड़ापन एवं भेदभाव, निम्न ग्रामीण जीवन स्तर तथा ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरता, रूढ़िवाद, धर्मांधता व जातिवाद का वर्चस्व आदि।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण जीवन और कृषि में सुधार करना नेतृत्व की प्राथमिकता सूची में सबसे ऊपर था।

तत्कालीन समय में कृषि सुधार से जुड़ी तीन विचारधाराएं मौजूद थीं– (i) भारतीय साम्यवादी दल द्वारा भूमि के राष्ट्रीयकरण को अनिवार्य माना गया; (ii) विनोबा भावे के भूदान आंदोलन के अंतर्गत भूमि सुधारों को नैतिक दबाव के आधार पर तय करने का आह्वान किया गया; और (iii) 1949 में कांग्रेस कृषि सुधार समिति के प्रतिवेदन में संघीय लोकतांत्रिक ढांचे के अधीन भूमि सुधार तथा सहकारी खेती पर बल दिया गया। पहली दो विचारधाराओं को कानूनी समर्थन के अभाव में अस्वीकार कर दिया गया तथा कांग्रेस की नीतियों के आधार पर ही कृषि सुधारों की प्रक्रिया को प्रारंभ करने का निश्चय किया गया।

1955 के आवड़ी अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा समाजवादी ढांचे के अंतर्गत कृषि क्षेत्र में सुधारों के निम्न उद्देश्य निश्चित किये गये–

(i) ग्रामीण भारत में प्रभावी अर्धसामंती सामाजिक सम्बंधों तथा आर्थिक संस्थाओं का उन्मूलन; (ii) वास्तविक किसानों को भूमि का वितरण; (iii) सरकारी सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा प्रगतिशील किसानों की क्षमता में वृद्धि; (iv) खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि; (v) काश्तकारी अवधि की सुरक्षा सुनिश्चित करना; (vi) लगान का भुगतान नकदी में करना

इन उद्देश्यों की प्राप्ति संसदीय लोकतंत्र के अधीन तथा सम्पत्ति के अधिकार को बिना क्षति पहुंचाये, की जानी थी। भारतीय संसद द्वारा भी शीघ्र ही कांग्रेस के प्रस्तावों का अनुमोदन कर दिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् योजना आयोग, केंद्रीय सरकार और अन्य राज्य सरकारों ने भूमि सुधारों के बृहत् कार्यक्रमों को जारी किया। इसके अंतर्गत मिलकियत ढांचे में संस्थागत और संरचनात्मक परिवर्तन किए गए, भू-स्वामित्व की नई अवधारणा सामने आई, कृषि क्षेत्रों में आधुनिकीकरण की मांग की गई और ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक स्तर पर सहायता पहुंचाने वाले संस्थानों का गठन किया गया।

भूमि सुधार कार्यक्रमों में उठाए गए कदम थे–

(i) बिचौलियों का उन्मूलन

(ii) काश्तकारी सुधार

(iii) भूमि अधिग्रहण के लिए भूमि जोतों की सीमा का निर्धारण।

इन सुधारों का एकमात्र उद्देश्य था, भारतीय किसान को जमींदार और जागीरदार जैसे बिचौलियों के चंगुल से मुक्त करना और उनकी जमीन को सुरक्षा प्रदान करना, ताकि कृषि के आधुनिकीकरण के लिए वे उसमें पूंजी लगा सकें।

बिचौलियों का उन्मूलन

सरकार द्वारा जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन पर अधिक बल दिया गया, जिससे बिचौलियों को समाप्त करके कृषकों के साथ सीधा सम्पर्क कायम किया जा सके। काश्तकार की वैधानिक परिभाषा में लघु किसानों के साथ-साथ, बड़े-बड़े भूस्वामियों को भी शामिल किया गया। कृषि श्रम जांच रिपोर्ट (1951) के अनुसार, ''कुल कृषक परिवारों में 20 प्रतिशत लोग भूमिहीन थे। 2.5 एकड़ से कम भूमि प्राप्त किसानों का प्रतिशत 38 था और कुल खेती योग्य भूमि के मात्र 6 प्रतिशत पर ही उनका अधिकार था। 59 प्रतिशत कृषक परिवारों के पास 5 एकड़ से अधिक भूमि थी जो कुल खेती योग्य भूमि का 16 प्रतिशत थी।''

आजादी के समय व्यक्तिगत स्वामित्व की 57 प्रतिशत कृषि भूमि पर जमींदारों का प्रभुत्व था। सरकार द्वारा जमींदारी व्यवस्था को समाप्त करने के लिए कदम उठाये जाने पर निम्न कठिनाइयां उपस्थित हुईं—(i) कृषि राज्य सूची का विषय था। अतः इस दिशा में किया गया कोई भी सुधार संपूर्ण भारत में एक साथ लागू करना अत्यंत दुष्कर था। विभिन्न राज्यों की भू-सुधार नीतियों में विभिन्नता थी। (ii) खेतिहर व सीमांत कृषकों को राज्य के प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाना एक विकट समस्या थी। (iii) अधिग्रहीत की गई भूमि के बदले मुआवजा देना भी एक समस्या थी। जमींदार मुआवजे के प्रश्न को मौलिक अधिकार के उल्लंघन के आधार पर न्यायालय से असंवैधानिक घोषित करा लेते थे। अनुच्छेद 31 में संशोधन करके ही भूमि सुधारों को लागू किया जा सका। जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन के बाद भी जमींदारों को 'भू-कृषक' का दर्जा प्रदान किया गया तथा उन्हें निजी खेती के लिए भूमि के पुनर्ग्रहण की सुविधा भी दी गई।

काश्तकारी सुधार

काश्तकारों को भूमि जोतने का स्थायी अधिकार दे दिया गया किंतु वे जमीन का विक्रय नहीं कर सकते थे। एक वर्ष के लगान का दस गुना अदा करने वाले काश्तकार ही भूमि को बेच सकते थे। इस प्रकार अधिकांश किसान भूमिधर और सिरदार के रूप में बदल गये, जो सरकार को सीधे लगान देते थे। किंतु जमींदारों पर अभी भी खुदकाश्त के रूप में काफी भूमि बची रह गयी थी और सरकार से प्राप्त मुआवजे को लाभकारी व्यवसायों में नियोजित करके उन्होंने अपनी प्रभावपूर्ण सामाजिक व आर्थिक स्थिति को पूर्णतः समाप्त नहीं होने दिया था।

कृषिक सुधारों के अंतर्गत अनेक वैधानिक कदम उठाये गये। काश्तकारी अवधि

की सुरक्षा, लगान दर के निर्धारण, तथा काश्तकारों को भूमि खरीद कर स्वामी बनने का अवसर देने के उद्देश्य से कई कानून बनाये गये। कृषि भूमि की सीमा तथा भूमिहीनों को कृषि भूमि के वितरण के संबंध में भी कई कानून बनाये गये। छठे दशक के प्रारंभिक वर्षों में योजना आयोग द्वारा एक पारिवारिक जोत का निर्धारण किया गया, जिसकी वार्षिक आमदनी 1200 रु. के बराबर हो। योजना आयोग द्वारा दिये गये सुझाव में 5 सदस्यीय परिवार के पास 3 पारिवारिक जोतों के स्वामित्व को जरूरी माना गया। प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं के प्रपत्रों में भी काश्तकारों की दशा सुधारने के संबंध में निम्न प्रस्ताव मौजूद थे—(i) भूमि का किराया कुल उत्पादन के 1/2 से 1/4 स्तर से ज्यादा न हो; (ii) जिस भूमि के पुनर्ग्रहण की संभावना न हो, उसका स्वामित्व काश्तकार को सौंपा जाये; (iii) दूरस्थ जमींदारी को हतोत्साहित किया जाये; (iv) व्यक्तिगत कृषि को प्रोत्साहन दिया जाये।

भूमि हदबंदी

पंचवर्षीय योजनाओं में असमानता की समाप्ति तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन किसानों को रोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से भूमि हदबंदी की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। भूमि हदबंदी कानून 1950 के दशक में ही लागू हो गया, किंतु उसका क्रियान्वयन विभिन्न राज्यों में अलग-अलग समय पर हुआ। भूमि हदबंदी के उद्देश्य को आंशिक सफलता ही मिल सकी, क्योंकि भूमिपतियों ने अपनी अधिशेष भूमि अपने रिश्तेदारों, मित्रों व अन्य लोगों के नाम कर दी थी। इस बेनामी हस्तांतरण ने भूमि हदबंदी कानूनों को एक सीमा तक अप्रभावी बना दिया।

अन्य उपाय

कृषि सुधारों के अंतर्गत भारी निवेश के द्वारा भूमि की उत्पादकता बढ़ाने पर भी जोर दिया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भूमि चकबंदी की व्यवस्थित शुरुआत की गई, जिसका उद्देश्य भूमि के उपविभाजन को रोकना था। 1957 के अंत तक 150 लाख एकड़ भूमि की चकबंदी हो चुकी थी। भूमि सुधारों के साथ ही संविधान के निर्देशक तत्वों (अनुच्छेद 40) के अधीन, ग्राम पंचायत व्यवस्था लागू की गयी, जो वयस्क और व्यापक मताधिकार पर आधारित थी। ग्रामीण पंचायतों द्वारा ग्रामीण स्तर के भूमि संसाधनों के नियंत्रण से ग्रामीण जीवन में एक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की शुरुआत हुई।

कृषि सुधारों के अंतर्गत, सरकार ने कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए भी कई प्रयास किये। 1960 में 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' को कुछ राज्यों के चयनित जिलों में लागू किया गया। इसका उद्देश्य किसानों को उर्वरक, कीटनाशक दवाइयां, अच्छे बीज तथा तकनीकी सहायता उपलब्ध कराना था। इन सुविधाओं के साथ-साथ, सिंचाई की उचित व्यवस्था पर भी बल दिया गया।

किंतु इन सुविधाओं का सर्वाधिक लाभ अमीर कृषकों द्वारा उठाया गया। यद्यपि

इससे सरकार को उत्पादन में वृद्धि हासिल करने में सफलता प्राप्त हुई किंतु कृषि क्षेत्र में संरचनात्मक परिवर्तन तथा सामाजार्थिक समानता लाने के प्रयासों को कई अवरोधों का सामना करना पड़ा।

निष्कर्ष रूप में 1947-64 के काल में कृषिक सुधारों को लागू करने के अभूतपूर्व प्रयास किये गये, किंतु वे कृषि क्षेत्र में आमूल संरचनात्मक परिवर्तन लाने में अपर्याप्त रहे, जिसका कारण मूलतः तत्कालीन समाजार्थिक संरचना में निहित था।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

नेहरू का विश्वास था कि भारत की समस्याओं के समाधान के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास बेहद आवश्यक है। वैज्ञानिक नीति प्रस्ताव, जिसमें देश के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की भूमिका स्पष्ट थी, लोक सभा द्वारा मार्च 1958 में पारित किया गया। लेकिन एसपीआर 1958 से पूर्व देश में कई वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय संस्थान स्थापित किए जा चुके थे। विज्ञान एवं वैज्ञानिक अनुसंधान के महत्व पर बल देते हुए, नेहरू ने स्वयं वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सीएसआईआर) की अध्यक्षता धारण की। इस दिशा में उठाए गए कुछ कदम इस प्रकार हैं।

- जनवरी 1947 में, आत्मनिर्भरता, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास को प्रोत्साहित करने के लिए राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला (एनपीएल)—भारत की प्रथम राष्ट्रीय प्रयोगशाला—स्थापित की गई, जिसके पश्चात् अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देने के लिए 17 राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं का एक नेटवर्क स्थापित किया गया।
- 1952 में, मेसाच्यूसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी की तर्ज पर भारत के पांच प्रौद्योगिकी संस्थानों में से पहला खड्गपुर में स्थापित किया गया।
- होमी जे. भाभा की अध्यक्षता में आण्विक ऊर्जा आयोग की स्थापना अगस्त 1948 में की गई। 1954 में, सरकार ने एक पृथक् परमाणु ऊर्जा विभाग का गठन किया, जिसमें होमी. जे. भाभा को सचिव बनाया गया। अगस्त 1956 में, ट्रॉम्बे में भारत का प्रथम परमाणु संयंत्र क्रियाशील हुआ।
- 1962 में, भारतीय राष्ट्रीय अंतरिक्ष अनुसंधान समिति (आईएनसीओएसपीएआर) की स्थापना की गई।
- रक्षा उपकरणों के उत्पादन की भारत की क्षमतावर्धन हेतु कदम उठाए गए।

शिक्षा में विकास

1951 में कुल जनसंख्या का मात्र 16.6 प्रतिशत शिक्षित था और ग्रामीण क्षेत्रों में तो यह प्रतिशत और भी कम था। इसमें सुधार के लिए, संविधान ने निर्देश दिए कि 1961 तक, राज्य 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को मुक्त एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा,

जिसे बाद में बढ़ाकर 1966 और फिर अनिश्चित समय के लिए बढ़ाया गया। वर्ष 2009 में इसे मौलिक अधिकार बनाया गया और शिक्षा का अधिकार अधिनियम पारित किया गया। 1964 तक विश्वविद्यालयों की संख्या को 1947 के 18 से बढ़ाकर 54 किया गया। 1951-1961 के दौरान स्कूल में लड़कों के नामांकन में दोगुनी और लड़कियों के नामांकन में तिगुनी वृद्धि की गई।

1949 में, उच्च शिक्षा के लिए, डा. एस. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग स्थापित किया गया। आयोग की अनुशंसा पर, 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) का गठन किया गया और 1956 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम पारित किया गया।

माध्यमिक शिक्षा के विकास एवं सुधार के लिए, सरकार ने डा. ए. लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में 1952 में मुदालियर आयोग की नियुक्ति की। इसके आगे, स्कूल शिक्षा से सम्बद्ध अकादमिक मामलों पर केंद्र एवं राज्य सरकारों की सहायता एवं परामर्श देने के लिए सितम्बर 1961 में साहित्यिक, वैज्ञानिक और कल्याणकारी सोसायटी के रूप में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) की स्थापना की।

✠ सामाजिक परिवर्तन

वर्ष 1955 में भारत सरकार ने छुआछूत के व्यवहार को दण्डनीय अपराध बनाने के लिए अस्पृश्यता-विरोधी कानून बनाया। संविधान में शैक्षिक संस्थानों और सरकारी नियोजन में (वंचित एवं कमजोर वर्गों के पक्ष में) आरक्षण के संदर्भ में उल्लिखित उपबंधों को लागू किया गया।

समाज में महिलाओं के समान अधिकारों के लिए, संसद में 1951 में हिंदू कोड बिल प्रस्तुत किया गया। समाज के रूढ़िवादी वर्ग के तीव्र विरोध के बावजूद, सरकार ने चार पृथक अधिनियमों के रूप में विधेयक को पारित किया। इन अधिनियमों ने एकल विवाह की बात की और पुरुष एवं महिला दोनों को तलाक का अधिकार दिया, सहमति और विवाह की आयु में वृद्धि की, और महिलाओं को गुजारा-भत्ता और पूर्वजों की संपत्ति में अधिकार दिया। लेकिन दुर्भाग्यवश समान आचार-संहिता के अभाव में, इन क्रांतिकारी कदमों के लाभ केवल हिंदू महिलाओं को प्राप्त हुए, अन्य धर्मों की महिलाएं, विशेष रूप से मुस्लिम धर्म में, अभी भी समानता प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं।

✠ भाषागत समस्याएं और राज्यों का भाषायी पुनर्गठन

■ राष्ट्रीय भाषा को लेकर विचार-विमर्श

स्वतंत्रता के समय, भारत में 11 मुख्य भाषाएं थीं और प्रत्येक भाषा एक मिलियन से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती थी। औपनिवेशिक भारत में, राजकीय भाषा के रूप

में अंग्रेजी का प्रयोग होता था, लेकिन स्वतंत्रता के साथ यह प्रश्न पैदा हुआ कि अंग्रेजी को प्रतिस्थापित कर एक राष्ट्रीय या राजकीय भाषा स्वीकार की जाए। राष्ट्रीय एकीकरण के चलते, गांधी ने हिंदुस्तानी को देश की राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रयोग करने की अनुशंसा की। नेहरू ने भी इस बात को माना कि हिंदुस्तानी में भाषा बनने की क्षमता है। भारी विद्रोह के चलते, संविधान सभा की भाषा समिति ने एक समझौता सूत्र प्रस्तुत किया। समिति ने निर्णय किया कि देवनागरी लिपि में हिंदी राजकीय भाषा होगी, लेकिन हिंदी भाषा की ओर संक्रमण क्रमिक होगा। प्रथम पंद्रह वर्षों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग सभी राजकीय कार्यों के लिए किया जाएगा, और प्रत्येक प्रांत, प्रांत के भीतर राजकीय कार्य हेतु, संविधान की आठवीं अनुसूची में सूचीबद्ध क्षेत्रीय भाषाओं में से एक भाषा का चयन करेगा। इस प्रकार समिति ने हिंदी को राष्ट्रीय की अपेक्षा राजकीय भाषा के तौर पर संदर्भित किया।

संसद द्वारा 1963 में, राजभाषा अधिनियम के माध्यम से भाषागत मामले को स्पष्ट किया गया जिसमें कहा गया, कि हिंदी 1965 से राजभाषा बनेगी। लेकिन गैर-हिंदी भाषी लोगों को राहत के तौर पर, अंग्रेजी को 'सह-अतिरिक्त राजभाषा' का दर्जा दिया गया। गैर-हिंदी भाषी लोगों के बीच, विशेष रूप से दक्षिण भारत में, हिंदी के विरुद्ध प्रदर्शन एवं रोष जारी रहा, और 1964 के उत्तरार्द्ध और 1965 के पूर्वार्द्ध में भाषागत मामले पर दंगे भड़क उठे। राजभाषा (संशोधन) अधिनियम 1967, ने केंद्र एवं राज्य के मध्य किसी भी राजकीय संचार के लिए द्विभाषी (अंग्रेजी-हिंदी) समाधान प्रस्तुत किया और प्रांतीय प्रशासन और लोक सेवा परीक्षाओं में क्षेत्रीय भाषाओं को मान्यता देकर बहुभाषी रियायत प्रदान की।

राज्यों का भाषायी पुनर्गठन

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीय राज्य क्षेत्र दो वर्गों में विभक्त था—ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें।

ब्रिटिश भारत में 9 प्रांत थे, जबकि देशी रियासतों की संख्या 600 थी, जिनमें 542 रियासतों को छोड़कर शेष पाकिस्तान राज्य में शामिल हो गईं। 542 रियासतों में से तीन रियासतों—जूनागढ़, हैदराबाद तथा जम्मू-कश्मीर को भारत में विलय कराने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जूनागढ़ रियासत को जनमत संग्रह के आधार पर तब भारत में मिलाया गया, जब उसका शासक पाकिस्तान चला गया। हैदराबाद की रियासत को सैन्य कार्यवाही करके भारत में सम्मिलित किया गया और जम्मू-कश्मीर रियासत के शासक ने पाकिस्तानी कबायलियों के आक्रमण के कारण विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करके अपनी रियासत को भारत में मिलाया। देशी रियासतों का भारत में विलय तत्कालीन गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल की दूरदर्शिता और साहसपूर्ण कूटनीतिक प्रयासों के कारण संभव हो पाया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत ब्रिटिश प्रांतों एवं देशी रियासतों को एकीकृत करके भारत में राज्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया, जो निम्नलिखित हैं:

'ए' श्रेणी के राज्यः ब्रिटिश भारत के प्रांतों के साथ 216 देशी रियासतों को सम्मिलित करके 'ए' श्रेणी के राज्यों का गठन किया गया। ये राज्य थे—असम, बिहार, बंबई, मध्य प्रदेश, मद्रास, ओडीशा, पंजाब, संयुक्त प्रांत, पश्चिमी बंगाल, आंध्र प्रदेश। इनकी संख्या 10 थी।

'बी' श्रेणी के राज्यः 275 देशी रियासतों को नयी प्रशासनिक इकाई में गठित करके 'बी' राज्य की श्रेणी प्रदान की गयी। ये राज्य थे—हैदराबाद, जम्मू-कश्मीर, मध्य भारत, मैसूर, पेप्सू (पटियाला और पूर्वी पंजाब के राज्यों का संघ), राजस्थान, सौराष्ट्र तथा त्रावणकोर-कोचीन। इनकी संख्या 8 थी।

'सी' श्रेणी के राज्यः 61 देशी रियासतों को एकीकृत करके 'सी' राज्य की श्रेणी में रखा गया। ये राज्य थे—अजमेर, बिलासपुर, भोपाल, दुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा और विंध्य प्रदेश के राज्य। इनकी संख्या 10 थी।

'डी' श्रेणी के राज्यः अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूह को 'डी' राज्य की श्रेणी में रखा गया था।

संविधान के द्वारा, राज्यों का श्रेणियों में विभाजन तात्कालिक उपयोगिता के आधार पर किया गया था। प्रायः सभी इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे। जब केंद्रीय सरकार ने मद्रास राज्य की तेलुगू भाषी जनता के अनुरोध पर 1952 में आंध्र को अलग राज्य बना देने का निर्णय किया तो स्थिति में आकस्मिक परिवर्तन आ गया। 1 अक्टूबर, 1953 में आंध्र प्रदेश राज्य की स्थापना के पश्चात्, भाषा के आधार पर नए राज्यों के पुनर्गठन की मांग भड़क उठी। जब इस समस्या को सुलझाना असंभव हो गया तो इस समस्या के शांतिपूर्ण निदान के लिए 1953 में 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की नियुक्ति की गई।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश फजल अली इस आयोग के अध्यक्ष और पंडित एच.एन. कुंजरू और सरदार के.एम. पाणिक्कर इसके सदस्य थे।

हालांकि, संविधान निर्माण के पश्चात् ही 27 नवंबर, 1947 को संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश एस.के. धर की अध्यक्षता में एक चार सदस्यीय आयोग का गठन किया और उसे इस बात की जांच-पड़ताल करने के लिए कहा कि भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन उचित है अथवा नहीं। इस आयोग ने दिसंबर 1948 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट में आयोग ने प्रशासनिक आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन किया।

22 दिसंबर, 1953 को फजल अली की अध्यक्षता में गठित आयोग ने 30 सितंबर, 1955 में केंद्र सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी और राज्यों के पुनर्गठन के संबंध में निम्न सिफारिशें कीं:

(1) राज्यों का पुनर्गठन भाषा और संस्कृति के आधार पर अनुचित है।

(2) राज्यों का पुनर्गठन राष्ट्रीय सुरक्षा, वित्तीय एवं प्रशासनिक आवश्यकता तथा पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

(3) ए, बी, सी और डी वर्गों में विभाजित राज्यों को समाप्त कर दिया जाये तथा इनकी जगह पर सोलह राज्यों तथा तीन केंद्रशासित प्रदेशों का निर्माण किया जाए। संसद ने इस आयोग की सिफारिशों को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार कर 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के अंतर्गत भारत में चौदह राज्य और पांच केंद्रशासित प्रदेश थे। जिन चौदह राज्यों का उल्लेख था, वे हैं—आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, बंबई (वर्तमान में मुंबई), जम्मू-कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास (वर्तमान में चेन्नई), मैसूर, उड़ीसा (वर्तमान में ओडिशा), पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल। जिन पांच केंद्रशासित प्रदेशों का नाम था, वे हैं—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा एवं अंडमान-निकोबार द्वीप समूह।

भारत में मौजूदा 29 राज्य हैं: आंध्र प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, असम, बिहार, छत्तीसगढ़, गोवा, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, झारखंड, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, ओडिशा, पंजाब, राजस्थान, सिक्किम, तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा तेलंगाना (तेलंगाना राज्य, आंध्र प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम, 2014 के अंतर्गत 2 जून, 2014 को अस्तित्व में आया)।

नेहरू के काल में विदेश नीति

देश की विदेश नीति को निर्धारित करने वाले आंतरिक तत्व होते हैं—भौगोलिक स्थिति, इतिहास एवं परम्पराएं, सामाजिक संरचना तथा राजनीतिक संगठन। भारत का राष्ट्रीय नेतृत्व स्वतंत्रता से पूर्व ही विदेश नीति के प्रति जागरूक था। सन् 1921 में अखिल भारतीय कांग्रेस इसमें रुचि लेने लगी थी और स्वतंत्र भारत की विदेश नीति के तत्वों की उद्घोषणा करने लगी थी। सन् 1925 में जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस समिति के विदेश विभाग का प्रमुख बनाया गया। इसके कुछ समय बाद, अर्थात् 1927 में कांग्रेस ने चीन, मेसोपोटामिया तथा पर्शिया में भारतीय सेना के प्रयोग के प्रति खेद प्रकट किया। इन वर्षों में कांग्रेस ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ रही मिस्र, इराक, फिलिस्तीन, सीरिया की जनता के प्रति समर्थन प्रकट किया। वर्ष 1939 में इसने उपनिवेशवाद तथा फासीवाद के मध्य चल रहे युद्ध में भारतीय जनता के भाग न लेने की उद्घोषणा की, चूंकि ये इन दोनों के विरुद्ध थे।

जब भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, उस समय इसने विश्व को दो गुटों में विभाजित पाया। इस समय देश के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती अपनी एकता एवं स्वतंत्रता को बनाए रखना था, विशेषकर तब, जब देश विभाजन तथा फूट डालो और राज करो की

नीतियों का शिकार हो चुका था। इसी आवश्यकता ने देश की विदेश नीति के निर्माण को भी प्रभावित किया।

भारत की विदेश नीति के निर्धारण में पांच अत्यावश्यक घरेलू तत्व हैं—इतिहास एवं परम्पराएं, लोकतंत्र, आर्थिक कारक, भारतीय समाज की बहुलवादी प्रकृति तथा नेहरू का करिश्माई नेतृत्व

भारतीय विदेश नीति के मौलिक सिद्धांत भली-भांति परिभाषित हैं तथा ये आज भी लगभग वहीं हैं जिनका भारत की अंतरिम सरकार के प्रधान के रूप में 1946 में पंडित नेहरू ने वर्णन किया था। इनमें निरंतरता इसलिए बनी रही क्योंकि कुछ क्रांतिकारी घटनाओं के होते हुए भी वातावरण की मुख्य मांगें, अर्थात् विश्व शांति तथा सुरक्षा या उपनिवेशवाद तथा नस्ली भेदभाव की समाप्ति, आपसी असहयोग तथा मित्रता के बंधनों को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता, शक्ति राजनीति, शीत युद्ध से अलग रहने की आवश्यकता तथा संयुक्त राष्ट्र को सुदृढ़ करने की आवश्यकता आज भी उतनी ही वैध मानी जाती है, जितनी कि 1946 में थी। तथापि भारतीय विदेश नीति के प्रारंभिक वर्षों में अपनाए गए उद्देश्य तथा सिद्धांत काफी स्पष्ट हो गए हैं परंतु स्थिति में परिवर्तन तथा सूक्ष्म पुनर्व्याख्याएं भी हुई हैं। इन सिद्धांतों को सर्वप्रथम पंडित नेहरू ने बनाया तथा परिकल्पित किया।

भारत की विदेश नीति की मूल बातों का समावेश हमारे संविधान के **अनुच्छेद** 51 में कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देगा, राज्य राष्ट्रों के मध्य न्याय और सम्मानपूर्वक सम्बंधों को बनाए रखने का प्रयास करेगा, राज्य अंतरराष्ट्रीय कानूनों तथा संधियों का सम्मान करेगा तथा राज्य अंतरराष्ट्रीय झगड़ों को पंच फैसलों द्वारा निपटाने की रीति को बढ़ावा देगा। कुल मिलाकर भारत की विदेश नीति के प्रमुख आदर्श निम्नलिखित हैं:

(i) भारतीय विदेश नीति अपने आप में स्वतंत्र है, भारत दो बड़ी शक्तियों में से किसी के गुट में शामिल नहीं है। पर ऐसा मानना सही नहीं कि भारत की विदेश नीति ''तटस्थ'' है। वस्तुतः अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर भारत कभी ''तटस्थ'' नहीं रहा, बल्कि इसके गुण और दोष के आधार पर विभिन्न अंतरराष्ट्रीय मंचों से अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से व्यक्त करता रहा है।

(ii) भारत कभी भी द्विपक्षीय या बहुपक्षीय सैन्य संधि के पक्ष में नहीं रहा है। विश्व की समस्याओं को सुलझाने में सैन्य शक्ति की भूमिका का भारत ने हमेशा विरोध किया है।

(iii) भारत ने सभी देशों से मित्रता बनाये रखने की कोशिश की। उल्लेखनीय है कि भारत ने अमरीकी गुट (पूंजीवादी व्यवस्था) और सोवियत गुट (साम्यवादी व्यवस्था) के देशों से बिना किसी भेदभाव के मित्रता की। भारत ने कभी भी एक देश को दूसरे देश से लड़ाने की नीति पर अमल नहीं किया। भारत में सरकार का ढांचा लोकतांत्रिक

है। लेकिन विदेश नीति के मामले में भारत न पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों से अधिक जुड़ा और न ही साम्यवादी देशों से इस कारण दूर हुआ।

(iv) भारत बहुत दिनों तक ब्रिटेन का उपनिवेश रहा, इसने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही उपनिवेशवाद विरोधी नीति का अनुगमन किया। विश्व के मानचित्र पर भारत के एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में उभरने के साथ ही, एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमरीका के देशों में उपनिवेशों के स्वतंत्र होने का सिलसिला शुरू हुआ। भारत की स्वतंत्रता के बाद श्रीलंका, बर्मा और इंडोनेशिया आजाद हुए। इसके बाद भारत ने विभिन्न अंतरराष्ट्रीय मंचों से उपनिवेशवाद के विरुद्ध बोलकर अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(v) भारत ने अपनी विदेश नीति के अंतर्गत नस्लवाद विरोधी नारा बुलंद किया। उल्लेखनीय है, कि गांधी जी ने 19वीं शताब्दी के आरंभ में दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद के खिलाफ संघर्ष किया था।

(vi) भारत इस विचार का समर्थक रहा है कि अस्त्रों की होड़ और सैन्य संधियों को रोके बिना विश्व-शांति कायम करना असंभव है। भारत निरस्त्रीकरण को विश्व शांति की कुंजी मानता है। इसके अतिरिक्त, निरस्त्रीकरण से अस्त्रों पर खर्च की जाने वाली विशाल राशि की बचत होगी और इस राशि का उपयोग गरीब देशों के विकास के लिए किया जा सकता है।

भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं

सितंबर 1946 में, अंतरिम सरकार की स्थापना के बाद से ही भारतीय विदेश नीति विकसित होने लगी। पं. नेहरू ने स्पष्ट कहा कि स्वतंत्र भारत अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतंत्र नीति का अवलम्बन करेगा और किसी गुट में सम्मिलित नहीं होगा। भारत विश्व के किसी भी भाग में उपनिवेशवाद और प्रजातीय सहयोग बढ़ाने पर भी जोर देगा। यदि स्वाधीन भारत की विदेश नीति का समीक्षात्मक विश्लेषण करें तो अग्रलिखित विशेषताएं हमारे सामने प्रकट होती हैं:

शांति की विदेश नीतिः शांति की विदेश नीति सदैव ही विश्व शांति की समर्थक रही है। भारत ने प्रारंभ से ही यह महसूस किया है कि युद्ध और संघर्ष नवोदित भारत के आर्थिक और राजनीतिक विकास को अवरुद्ध करने वाला है। अगस्त 1954 में पणिक्कर ने कहा था, ''भारत को इस बात की बड़ी चिंता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव-जाति की उन्नति को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।'' 1956 के स्वेज नहर के संकट के कारण भारत की आर्थिक योजनाएं अत्यधिक प्रभावित हुईं।

मैत्री और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीतिः भारत की विदेशी नीति मैत्री और सह-अस्तित्व पर जोर देती है। यदि सह-अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता, तो

आणविक शस्त्रों से समूची दुनिया का ही विनाश हो जाएगा। इसी कारण भारत ने अधिक से अधिक देशों के साथ मैत्री संधियां और व्यापारिक समझौते किए।

पंचशील सिद्धांतः 'पंचशील' के पांच सिद्धांतों का प्रतिपालन भी भारत की शांतिप्रियता का द्योतक है। 1954 के बाद से भारत की विदेश नीति को 'पंचशील' के सिद्धांतों ने एक नई दिशा प्रदान की। पंचशील से अभिप्राय है—'आचरण के पांच सिद्धांत''। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में ये व्रत एक व्यक्ति के लिए होते हैं, उसी प्रकार आधुनिक पंचशील के सिद्धांतों द्वारा राष्ट्रों के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ आचरण के संबंध निश्चित किए गए हैं। ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

- एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना
- अनाक्रमण
- एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना
- समानता एवं पारस्परिक लाभ, तथा
- शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व

'पंचशील' के इन सिद्धांतों का प्रतिपादन सर्वप्रथम 29 अप्रैल, 1954 को तिब्बत के संबंध में भारत और चीन के बीच हुए एक समझौते में किया गया था। 28 जून, 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई तथा भारत के प्रधानमंत्री नेहरू ने पंचशील में अपने विश्वास को दोहराया। इसके उपरांत एशिया के प्रायः सभी देशों ने 'पंचशील' के सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया। अप्रैल 1955 में 'बाण्डुंग सम्मेलन' में पंचशील के इन सिद्धांतों को पुनः विस्तृत रूप दिया गया। बाण्डुंग सम्मेलन के बाद विश्व के अधिसंख्य राष्ट्रों ने 'पंचशील' सिद्धांत को मान्यता दी और उसमें आस्था प्रकट की। पंचशील के सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय सम्बंधों के लिए निःसंदेह आदर्श भूमिका का निर्माण करते हैं। 'पंचशील' के सिद्धांत आपसी विश्वासों के सिद्धांत हैं। पं. नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि ''यदि इन सिद्धांतों को सभी देश मान्यता दे दें तो आधुनिक विश्व की अनेक समस्याओं का निदान मिल जाएगा। 'पंचशील' के सिद्धांत आदर्श हैं, जिन्हें यथार्थ जीवन में उतारा जाना चाहिए। इनसे हमें नैतिक शक्ति मिलती है और नैतिकता के बल पर हम न्याय और आक्रमण का प्रतिकार कर सकते हैं। आलोचकों का कहना है कि भारत-चीन सम्बंधों की पृष्ठिभूमि में 'पंचशील' एक अत्यंत असफल सिद्धांत साबित हुआ। इसके द्वारा भारत ने तिब्बत में चीन की सर्वोत्तम सत्ता को स्वीकार करके तिब्बत की स्वायत्तता के अपहरण में चीन का समर्थन किया था। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कृपलानी ने कहा था कि ''यह महान सिद्धांत पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज है, क्योंकि यह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारी साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रतिपादित किया गया था।''

साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोधः ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अधीन दासता में पिसने के बाद भारत को साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नस्लवाद के

अमानवीय, अनुदारवादी, तथा उच्च स्तरीय शोषण प्रवृत्ति का पूर्णतया आभास है। भारत की आजादी की लड़ाई वास्तव में साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई थी। विश्व के किसी भी भाग में साम्राज्यवाद का अस्तित्व भारत को अस्वीकार्य है। भारत के लिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष जीवन-मृत्यु का प्रश्न है।

ऐसे सभी देश जो कभी न कभी साम्राज्यवाद के शिकार थे, जैसे इंडोनेशिया, लीबिया, ट्यूनीशिया, अल्जीरिया, मोरक्को, अंगोला, नामीबिया आदि सभी की भारत ने उपनिवेशीय शासन से छुटकारा पाने के लिए किए जाने वाले संघर्ष में पूर्ण रूप से सहायता की है। 1947 के बाद से भारत, साम्राज्यवाद तथा नवउपनिवेशवाद की शक्तियों (जो नये राष्ट्रों की स्वतंत्रता को विभिन्न अप्रत्यक्ष तथा सूक्ष्म तरीकों से सीमित कर रहे हैं) के विरुद्ध एशियाई, अफ्रीकी तथा लातीनी अमरीकी राष्ट्रों की एकता बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। एशियाई सम्बंध कान्फ्रेंस, 1955 के बाण्डुंग सम्मेलन, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलनों में, संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की बैठकों में तथा वास्तव में सभी अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में, भारत ने इन बुराइयों के विरुद्ध सदा ही आवाज उठाई है। अफ्रीकी-एशियाई एकता की दृढ़ता बल्कि, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध सम्पूर्ण तीसरे विश्व की एकता आज भी भारतीय विदेश नीति के मूल सिद्धांत हैं। उपनिवेशीय तथा साम्राज्यवादी शक्तियों की ओर से घोर विरोध के बावजूद भारत साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष का समर्थन करता रहा है। तथा ऐसा करने के लिए दृढ़ निश्चयी है। इस सम्बंध में शक्तिशाली भूमिका निभाने के लिए भारत दक्षिण-दक्षिण सहयोग के विकास का प्रबल समर्थक रहा है।

संयुक्त राष्ट्र तथा विश्व शांति के लिए समर्थनः भारत संयुक्त राष्ट्र के मूल सदस्यों में से एक है। भारत ने सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया था तथा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर पर हस्ताक्षर किए थे। तब से लेकर आज तक भारत ने संयुक्त राष्ट्र तथा दूसरी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के क्रिया-कलापों का समर्थन किया है तथा इनमें सक्रियता से भाग लिया है।

संयुक्त राष्ट्र की विचारधारा का समर्थन करने तथा इसके क्रिया-कलापों में सक्रियता सकारात्मक तथा रचनात्मक रूप से भाग लेना, भारतीय विदेश नीति का महत्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। भारत महासभा का एक सक्रिय सदस्य रहा है तथा यह सुरक्षा परिषद् में कई बार अस्थाई सदस्य बना है। बहुत-सी अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों के क्षेत्रीय कार्यालय भारत में स्थित हैं। भारत UNICEF, FAO, UNESCO तथा ऐसी अन्य संस्थाओं के कार्यक्रमों में सक्रियता से जुड़ा हुआ है। भारत सदा ही लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण के लिए संयुक्त राष्ट्र के निर्देशों का पालन करता रहा है तथा हर अंतरराष्ट्रीय प्रायोजित वर्षों तथा कार्यक्रमों को लागू करने के यथासम्भव प्रयत्न करता है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र की कार्यप्रणाली का समर्थन करना तथा इसमें सक्रियता से भाग लेना भारतीय विदेश नीति का महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

गुटनिरपेक्ष नीतिः द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत विश्व राजनीति का दो ध्रुवों में विभाजन हो चुका था। साम्यवादी सोवियत संघ और पूंजीवादी अमेरिका द्वारा संसार के नवस्वतंत्र देशों को अपने-अपने गुटों में शामिल करने तथा इन देशों की शासन प्रणालियों को अपनी विचारधाराओं के अनुकूल ढालने के भरसक प्रयास किये जा रहे थे। ऐसे विश्व परिदृश्य में, भारत ने विश्व राजनीति में अपनी पृथक पहचान एवं स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने के उद्देश्य से गुटनिरपेक्षता नीति का अनुपालन किया।

गुटनिरपेक्षता को अपनाये जाने के कारण निम्नलिखित हैं–

(i) भारत किसी गुट में शामिल होकर विश्व में अनावश्यक तनावपूर्ण स्थिति पैदा करने का इच्छुक नहीं था।

(ii) भारत किसी भी गुट के विचारधारायी प्रभाव से ग्रस्त नहीं होना चाहता था। किसी भी गुट में शामिल होने पर भारत की शासनप्रणाली एवं नीतियों पर उस गुट विशेष के नेतृत्व का दृष्टिकोण हावी हो जाता।

(iii) भारत की भौगोलिक सीमाएं साम्यवादी देशों से जुड़ी थीं, अतः पश्चिमी देशों के गुट में शामिल होना अदूरदर्शी कदम होता। दूसरी ओर, साम्यवादी गुट में शामिल होने पर भारत को विशाल पश्चिमी आर्थिक व तकनीकी सहायता से वंचित होना पड़ता।

(iv) नवस्वतंत्र भारत को आर्थिक विकास हेतु दोनों गुटों से समग्र तकनीकी एवं आर्थिक सहायता की जरूरत थी, जिसे गुटनिरपेक्ष रहकर ही प्राप्त किया जा सकता था।

(v) गुटनिरपेक्षता का सिद्धांत भारत की मिश्रित एवं सर्वमान्य संस्कृति के अनुरूप था।

(vi) भारत के दक्षिणपंथी तथा वामपंथी दलों के विदेश-नीति से जुड़े आपसी मतभेदों को समाप्त करने का सर्वमान्य सूत्र–गुटनिरपेक्षता सिद्धांत को ही स्वीकार किया गया।

(vi) गुटनिरपेक्षता स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान घोषित आदर्शों एवं मान्यताओं का पोषण करती थी। यह गांधीवादी विचारधारा के सर्वाधिक निकट थी।

इस प्रकार, उपर्युक्त कारणों से भारत ने गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत को अपने विश्व राजनीतिक व्यवहार का प्रमुख मापदंड बनाया।

भारत की गुटनिरपेक्षता के प्रमुख लक्ष्यः स्वतंत्रता आंदोलन के समय से ही भारतीय नेताओं पर कुछ मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव पड़ चुका था। ये मान्यताएं थीं–राजनीति एवं सत्ता का आदर्शवादी दृष्टिकोण, एशियावाद, पश्चिमी लोकतांत्रिक प्रणाली तथा साम्यवाद का सैद्धांतिक रूप से खंडन और अंतरराष्ट्रीय सम्बंधों के आदर्शवादी दृष्टिकोण को मान्यता।

इन मान्यताओं के प्रत्यक्ष प्रभाव के आलोक में ही भारत की गुटनिरपेक्षता नीति के लक्ष्य निर्धारित किये गये। ये लक्ष्य इस प्रकार थे–

(i) अंतरराष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को कायम रखना और उसका संवर्धन करना।
(ii) उपनिवेशों के लोगों के आत्मनिर्णय अधिकार को बढ़ावा देना।
(iii) समानता पर आधारित विश्व समुदाय की स्थापना तथा रंगभेद का विरोध।
(iv) आणविक निरस्त्रीकरण तथा नवीन आर्थिक व्यवस्था की स्थापना।
(v) अफ्रीका और एशिया के देशों का समर्थन।
(vi) अंतरराष्ट्रीय विवादों तथा संघर्षों के शांतिपूर्ण निपटारे का समर्थन।
(vii) संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के अंतर्गत ही उपर्युक्त लक्ष्यों की सिद्धि करना।

गुटनिरपेक्षता की विशेषताएंः गुटनिरपेक्षता की मुख्य विशेषताएं हैं—(i) शीतयुद्ध का विरोध; (ii) सैन्य एवं सुरक्षा गठबंधनों का विरोध; (iii) शक्ति राजनीति से निर्लिप्तता; (iv) स्वतंत्र विदेश नीति का समर्थन; (v) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा अहस्तक्षेप; (vi) अलगाववाद की बजाय क्रियाशीलता की नीति; (vii) कूटनीतिक साधन या वैधानिक स्थिति नहीं; (viii) गुटनिरपेक्ष देशों की गुटबंदी नहीं; (ix) विकास के लिए आपसी सहयोग की नीति; (x) नवउपनिवेशवाद का विरोध।

जवाहरलाल नेहरू काल में गुटनिपेक्षता की नीति (1947-64)

प्रारंभिक वर्षों (1947-50) में भारत की गुटनिरपेक्षता नीति अस्पष्ट रही। इस समय भारत का झुकाव पश्चिमी गुट की तरफ था। पश्चिमी शिक्षा प्रणाली का प्रभाव, ब्रिटिश बाजार की अर्थव्यवस्था को कायम रखने का निर्णय, देश की सेनाओं पर ब्रिटिश निरीक्षण तथा तकनीकी एवं आर्थिक सहायता की आवश्यकता इत्यादि ने भारत की पश्चिमी देशों पर निर्भरता को बढ़ा दिया था। इसी निर्भरता के कारण, भारत ने पश्चिमी जर्मनी को अपनी मान्यता प्रदान की लेकिन पूर्वी जर्मनी को नहीं। कोरिया युद्ध (1952-53) में भी भारत ने पश्चिमी देशों का समर्थन करते हुए उत्तर कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया।

1953 में, स्टालिन की मृत्यु के बाद भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण काफी उदार हो गया था, जिसके फलस्वरूप भारत की सोवियत संघ से निकटता में वृद्धि होने लगी। 1954 की पाकिस्तान-अमरीका संधि के अनुसार अमरीका द्वारा पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर हथियार उपलब्ध कराने तथा गोआ के प्रश्न पर पुर्तगाल का समर्थन करने के कारण, भारत और अमरीका के सम्बंधों में कटुता पैदा होती गयी। अब सोवियत संघ द्वारा भारत का हर नीतिगत एवं विवादपूर्ण मामले में समर्थन किया जाने लगा था। भारतीय प्रधानमंत्री ने रूस की सद्भावना यात्रा भी की। रूस से व्यापार एवं आर्थिक सम्बंधों में वृद्धि होने लगी। रूस ने भारत के भिलाई इस्पात कारखाने हेतु आर्थिक एवं तकनीकी सहायता प्रदान की। 1956 में स्वेज नहर मामले में भारत ने रूस का समर्थन करते हुए फ्रांस और ब्रिटेन द्वारा मिस्र पर आक्रमण करने की निंदा की। 1955 में, हंगरी के मामले में भी भारत ने रूस का समर्थन किया। 1957 के बाद आर्थिक संकट,

विदेशी मुद्रा की कमी तथा खाद्यान्न के अभाव जैसे मुद्दों ने भारत के दृष्टिकोण को पुनः पश्चिमी देशों की तरफ झुका दिया। नेहरू द्वारा अमेरिका की सद्भावना यात्रा की गयी तथा भारत ने पश्चिमी साम्राज्यवाद विरोध के अपने स्वर को धीमा कर लिया।

1962 में भारत पर चीन द्वारा आक्रमण कर दिया गया, जिससे भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति को कड़ी परीक्षा से गुजरना पड़ा। युद्ध में भारत को दोनों गुटों की सहायता प्राप्त हुई। वर्ष 1963 में भारत और अमरीका के मध्य अणुऊर्जा के असैनिक उपयोग के सम्बंध में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। नवंबर 1964 में, मझगांव बंदरगाह के पुनर्निर्माण तथा लिएंडर वर्ग के युद्धपोतों के निर्माण के विषय में भारत और ब्रिटेन के मध्य एक सुरक्षा संधि सम्पन्न की गई। जून 1964 में भारत के राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने अमरीका की यात्रा की तथा दोनों देशों के मध्य दक्षिण एशियाई क्षेत्र में चीनी आक्रामक गतिविधियों के निरोधक उपायों पर चर्चा की गई। मॉस्को के साथ बातचीत में भी भारत ने क्षेत्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान में अपनी प्रतिबद्धता दोहराई।

इसके अतिरिक्त, संपूर्ण नेहरू युग में निरस्त्रीकरण के प्रश्न, फारमोसा जलडमरूमध्य का संघर्ष (1955), हिंद-चीन से संबंधित जेनेवा सम्मेलन (1954), बांडुंग सम्मेलन (1955) तथा बेलग्रेड सम्मेलन जैसे महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय मामलों में भारत द्वारा सक्रिय भूमिका निभाई गयी। अणुपरीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने का प्रश्न 1959 में भारत द्वारा सामान्य सभा की विषय सूची में रखा गया। अपनी नीतियों और प्रयासों के फलस्वरूप भारत को एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों को महाशक्तियों की शक्ति राजनीति से अलग रखने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। वर्ष 1950 में नेहरू द्वारा दावा किया गया कि ''दिल्ली पिछले वर्षों में विश्व मैत्री और शांति का केंद्र बन गया है।''

मूल्यांकनः भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति पूर्णतः नेहरू के दृष्टिकोण और अंतःप्रज्ञा पर आधारित थी। इसी कारण, गुटनिरपेक्षता को सुसंगत एवं बोधगम्य नीति का रूप देने में कठिनाई पैदा हुई। नेहरू द्वारा गुटनिरपेक्षता को विदेशनीति का साधन तथा लक्ष्य-दोनों, एक साथ मान लेना एक गंभीर भूल थी। गुटनिरपेक्षता भारतीय विदेश नीति की आधारशिला है तथा उसका किसी भी परिस्थिति में परित्याग नहीं किया जा सकता, यह मान लेना आत्मघाती था। परिस्थितियों को ध्यान में रखकर गुटनिरपेक्षता के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों को अपनाया जाना अधिक युक्तिसंगत साबित हो सकता था। इसी प्रकार, गुटनिरपेक्षता को नैतिकता से सम्बद्ध मानना असंगत था। वास्तव में, गुटनिरपेक्षता सिद्धांत नैतिक दृष्टि से निष्क्रिय था। आवश्यकता पड़ने पर उसके स्वरूप में परिवर्तन किया जा सकता था और राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए उसका परित्याग भी किया जा सकता था। चीनी आक्रमण से पहले भारत द्वारा विदेशी सहायता अस्वीकार करने तथा बाद में उसे स्वीकार करने पर, भारत की गुटनिरपेक्षता सिद्धांत पर सदैव अटल रहने की घोषणा का उपहास हुआ। नेहरू

गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन

गुटनिरपेक्ष आंदोलन को सबसे पहले 1955 में बांडुंग (इंडोनेशिया) में सम्पन्न 29 अफ्रीकी-एशियाई देशों के सम्मेलन में स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया गया। इस सम्मेलन में भारत के जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के गामेल अब्दुल नासिर तथा यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो द्वारा उपनिवेशवाद की समाप्ति हेतु गुटनिरपेक्ष देशों के संयुक्त प्रयासों की जरूरत पर बल दिया गया। जून 1961 में 21 देशों का तैयारी सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें प्रथम सम्मेलन की अस्थायी विषय-सूची तथा सदस्यता आमंत्रण से जुड़े कुछ मानदंड तय किये गये।

सितंबर 1961 में गुटनिरपेक्ष देशों के प्रथम सम्मेलन का आयोजन बेलग्रेड (यूगोस्लाविया) में किया गया। इस सम्मेलन में 25 अफ्रीकी-एशियाई देशों तथा एक यूरोपीय देश ने भी भाग लिया। तीन लैटिन अमरीका के देशों ने पर्यवेक्षकों के रूप में भागीदारी की। इस सम्मेलन में एक 27 सूत्रीय घोषणापत्र को स्वीकार किया गया।

सम्मेलन में विश्व के सभी भागों में हर प्रकार की उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी, नव-उपनिवेशवादी तथा नस्लवादी प्रवृत्तियों की बड़ी निंदा की गई। इसमें अल्जीरिया, अंगोला, कांगो, ट्यूनीशिया आदि देशों में चल रहे स्वतंत्रता संघर्षों का पुरजोर समर्थन किया गया। सम्मेलन में विकासशील देशों के व्यापार के विकास हेतु उचित दशाओं की जरूरत पर बल दिया गया। सम्मेलन द्वारा संपूर्ण निरस्त्रीकरण की अपील भी जारी की गयी। निष्कर्ष रूप में गुटनिरपेक्ष देशों ने सभी अल्पविकसित एवं विकासशील देशों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का अह्वान किया।

इस प्रकार प्रथम सम्मेलन के घोषणापत्र ने नवस्वतंत्र राष्ट्रों के मध्य गुटनिरपेक्षता की अवधारणा को व्यापक लोकप्रिय बना दिया, जिसके परिणामस्वरूप दूसरे गुटनिरपेक्ष सम्मेलन (1964, काहिरा) में सदस्यों की संख्या बढ़कर 47 (11 पर्यवेक्षकों के अलावा) हो गयी।

द्वारा विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे पर जोर देना तथा आणविक शस्त्रों के निर्माण व परीक्षण की सदा के लिए निंदा करना भी दुर्भाग्यपूर्ण था। 1962 के भारत-चीन युद्ध में पराजित होने के बाद गुटनिरपेक्षता की नीति की कड़ी आलोचना की गई। आलोचकों का मानना था कि गुटनिरपेक्षता की नीति के तहत राष्ट्रीय हितों की घोर अपेक्षा की गयी तथा देश की प्रतिरक्षा हेतु आवश्यक तैयारियों के महत्व को नजरंदाज किया गया। भारत यदि पश्चिमी गुट में शामिल होता तो चीन भारत पर आक्रमण करने का साहस भी नहीं जुटा सकता था। भारत-चीन युद्ध के समय उन एशियाई-अफ्रीकी देशों द्वारा भी भारत की सहायता नहीं की गई, जिनके हितों की सुरक्षा के लिए भारत गुटनिरपेक्षता सिद्धांत के माध्यम से निरंतर प्रयत्नशील रहा था। पश्चिमी देशों से सहायता स्वीकार करना भी भारत की निर्गुट नीति का उल्लंघन माना गया और इसे

'पथ विचलन' या 'भारत की सैद्धांतिक नारेबाजी का खोखलापन' की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार, भारत की गुटनिरपेक्षता ने भारत के शत्रुओं और मित्रों-दोनों को ही भ्रमित किया। यह भारत के राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करने में भी असफल सिद्ध हुई।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद नेहरू काल में गुटनिरपेक्षता के सार व लक्ष्यों को सुरक्षित रखने में काफी सीमा तक सफलता प्राप्त हुई। गुटनिरपेक्ष नीति के अनुपालन द्वारा ही भारत को तृतीय विश्व के नेतृत्वकर्ता का प्रभावपूर्ण दर्जा हासिल हुआ, जो आर्थिक एवं सैन्य रूप से कमजोर एक नवस्वतंत्र देश के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण बात थी। निरस्त्रीकरण, गठबंधनहीनता, विकासशील देशों की आर्थिक जरूरतों को स्वीकार करने वाली विश्व प्रणाली की स्थापना तथा इन देशों में पूंजी तथा तकनीकी निवेश के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को व्यापक रूप में स्वीकार किया गया। 1955 में, 'मेनचेस्टर गार्जियन' ने भी लिखा था कि, ''जब तटस्थ भाव से समय का इतिहास लिखा जायेगा, तब कदाचित यह देखकर आश्चर्य होगा कि अंतिम विनाश, जिसका सभी को भय है, के निवारण में भारत ने अक्सर कितनी उपयोगी भूमिका निभाई है।''

भारत-चीन युद्ध में विदेशी सहायता के औचित्य को सिद्ध करते हुए नेहरू ने कहा था कि, ''चीन का मुकाबला करने के लिए भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र सहायता ली है, उसके साथ किसी प्रकार की शर्त नहीं जुड़ी है और बिना शर्त सहायता लेना गुटनिरपेक्षता नीति से अलग हटना नहीं कहा जा सकता।'' भारत की गुटनिरपेक्षता नीति के प्रति प्रतिबद्धता के कारण ही उसे भारत-चीन युद्ध में अमेरिका और सोवियत संघ दोनों की सहायता प्राप्त हो सकी। भारत द्वारा गुटनिरपेक्षता का परित्याग कर अमरीकी गुट में शामिल हो जाने पर भारत-चीन सीमा संघर्ष भी शीत युद्ध का एक अंग बन जाता। इसीलिए नेहरू ने स्पष्ट किया था कि भारत अपनी राष्ट्रीय अखंडता की रक्षा के लिए विदेशी मदद लेने के बावजूद गुटनिरपेक्षता की नीति का त्याग नहीं करेगा। भारत ने चीन के साथ उन विषयों पर सहानुभूति दर्शायी, जिनका संबंध सीमा विवादों से नहीं था। भारत की इस नीति की कोलम्बो सम्मेलन के देशों तथा अमेरिका व अन्य देशों द्वारा भी सराहना की गई। भारत में वामपंथियों तथा स्वतंत्र पार्टी दोनों ने भारत की चीन सम्बंधी नीति का विरोध किया, जो गुटनिरपेक्षता नीति की सफलता का द्योतक था। इस प्रकार, नेहरू युग में भारत की गुटनिरपेक्षता नीति सफलता एवं असफलता के विभिन्न चरणों से होकर गुजरी।

भारत के पड़ोसी देशों से संबंध

भारत एवं पाकिस्तान

पाकिस्तान और भारत के बीच संबंध सदैव ही कटु रहे हैं और इसका कारण पाकिस्तान और भारत के विभाजन के तरीके में निहित है। 1947 के विभाजन से दोनों ही देशों के सम्मुख कुछ नई समस्याएं खड़ी हो गईं। दोनों देश अस्त्रों की होड़ में लग गए, जिसके

परिणामस्वरूप भारत-पाकिस्तान युद्ध हुआ। इस कारण दोनों देशों के विकास में बाधा खड़ी हुई। आरंभ से ही पाकिस्तान सभी क्षेत्रों में भारत की बराबरी करने की कोशिश कर रहा था। उसकी दूसरी समस्या अपनी अलग पहचान बनाने की भी थी। पाकिस्तान की प्रतिरक्षा की दृष्टि में भारत का आकार, जनसंख्या, संसाधन और कार्यक्षमताएं गंभीर चुनौती बने हुए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने में विशेष रूप से संलग्न रहा। इस उद्देश्य से उसने विश्व के अनेक देशों से सैनिक सहायता मांगी। पाकिस्तान पश्चिमी गुट में शामिल हो गया और इस प्रकार वह भी शीत युद्ध का भागीदार बन गया। भारत ने भी प्रतिरक्षा के लिए अपनी सैन्य शक्ति को सुदृढ़ किया। हालांकि, भारत ने सदैव एक साथ बैठकर विभिन्न मुद्दों के समाधान निकालने की वकालत की।

• **कश्मीर मामलाः** कश्मीर, भारत और पाकिस्तान के बीच एक अहम् समस्या बना रहा। भारत ने 26 अक्टूबर, 1947 को कश्मीर को अपना हिस्सा बना लिया, लेकिन पाकिस्तान इसे मानने के लिए तैयार नहीं था और उसने जनजातीय कबीलों की आड़ में छुपकर आक्रमण किया। भारत ने पाकिस्तानी आक्रमणकारियों को कश्मीर से खदेड़ दिया। इसमें शेख अब्दुल्लाह के नेतृत्व में जन-समुदाय ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। दुर्भाग्यपूर्ण है, कि भारत ने इस काम को पूरा किए बगैर संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में शिकायत दर्ज कर दी। यह मामला जनवरी, 1948 में दर्ज किया गया, फलतः 1 जनवरी, 1949 को युद्ध-विराम की घोषणा की गई। 1947 में, भारत ने अंतरराष्ट्रीय निरीक्षण के अंतर्गत कश्मीर में जनमत संग्रह कराने का प्रस्ताव रखा लेकिन 1955 में कुछ बदली हुई परिस्थितियों के कारण, इसे वापस ले लिया गया। हालांकि, कश्मीर के मामले पर संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतरराष्ट्रीय मंचों पर कूटनीतिक लड़ाई चलती रही, लेकिन युद्ध की स्थिति 1964 तक नहीं आई। लेकिन कश्मीर की समस्या का कोई समाधान नहीं निकला और दोनों देशों के संबंधों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वस्तुतः अब दोनों देश, अपनी सीमा की रक्षा करने को तत्पर हो गए और इनमें से कोई भी बलपूर्वक इसे बदलने की इच्छा व्यक्त नहीं करता।

• **सिंधु नदी जल विवादः** विभाजन ने अनेक समस्याएं उत्पन्न कीं, जिनमें से एक है—सिंधु नदी जल बंटवारा। दोनों देश सिंधु और उसकी सहायक नदियों के जल का ज्यादा से ज्यादा उपयोग करना चाहते थे। भारत और पाकिस्तान खाद्यान्न में आत्मनिर्भर होना चाहते थे, अतः वे सिंधु के जल का अधिक से अधिक उपयोग करना चाहते थे। विभाजन के बाद, सिंधु नदी से सिंचित होने वाले 280 लाख एकड़ क्षेत्र में 50 लाख एकड़ भूमि भारत के पास रह गई। अधिकांश पश्चिमी नदियां समुद्र में मिल जाती थीं। जबकि पाकिस्तानी नहरें पूर्वी नदियों पर आश्रित थीं। इन नदियों का पानी पूर्वी पंजाब से होकर पाकिस्तान में जाता था। भारत का कृषि विकास भी रावी, व्यास और सतलज जैसी पूर्वी नदियों के जल पर आश्रित था। पाकिस्तान की नहरों का वह भाग, जो नदी से जुड़ा था, भारतीय भू-भाग में पड़ता था। तनाव का कारण यही था।

पाकिस्तान में बाढ़ आने या अकाल पड़ने पर पाकिस्तानी शासक भारत को दोषी ठहराते थे। उन्होंने पानी की समस्या के लिए भारत को दोषी ठहराया और न्याय संगत बंटवारे की मांग की। दूसरी ओर, भारत इस समस्या को सुलझाने के लिए तत्पर था। विश्व बैंक की देखरेख में 17 अप्रैल, 1759 को वाशिंगटन में नहर के जल के बंटवारे से संबंधित अंतरिम समझौता हुआ। इसके बाद दोनों देशों के बीच व्यापक समझौतों का एक सिलसिला चला। 19 सितम्बर, 1969 को करांची में नहर जलसंधि पर हस्ताक्षर किए गए।

भारत और चीन

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत ने सबसे पहले चीन की च्यांगकाई शेक के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय सरकार के साथ अपने राजनयिक सम्बंध स्थापित किये। 1 अक्टूबर, 1949 को चीन में स्थापित माओत्से तुंग की साम्यवादी सरकार को भारत ने दिसंबर 1949 में अपनी मान्यता दे दी तथा उसे संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता दिलाने हेतु भरपूर समर्थन दिया। इस प्रकार आजादी के बाद से ही भारत ने चीन के प्रति मित्रतापूर्वक संबंधों का निर्वहन किया, किंतु इसके परिणाम भारत के लिए घोर निराशाजनक साबित हुए।

भारत-चीन के बीच उत्पन्न तनावों को समझने के लिए तिब्बत में चीन की गतिविधियों, सीमाविवादों तथा 1962 के चीनी आक्रमण से जुड़े विभिन्न पहलुओं को जानना आवश्यक है।

- **तिब्बत विवादः** अक्टूबर 1950 में चीन की जनमुक्ति सेना ने तिब्बत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया। तिब्बत, भारत एवं चीन के मध्य एक 'बफर राज्य' के रूप में स्थापित था। तिब्बत क्षेत्र में 2000 मील की सीमा पर ब्रिटिश शासनकाल से ही भारत को नियंत्रण का अधिकार प्राप्त था। चीन की इस आक्रामक कार्यवाही से विचलित होने के बावजूद भारत ने उसके साथ मित्रतापूर्ण संबंध कायम रखने का निर्णय किया और 1954 में चीन के साथ संधि करके तिब्बत पर उसके अधिकार को मान्यता दे दी। इस संधि में भारत एवं चीन के आपसी संबंधों के निर्देशक के रूप में पंचशील सिद्धांतों को शामिल किया गया।

उक्त संधि के तहत भारत ने चीन को दिल्ली, कलकत्ता और कलिंगपोंग में अपने वाणिज्यिक अभिकरण स्थापित करने की सुविधा प्रदान की, जबकि चीन ने भारत को तिब्बत में अपना व्यापार केंद्र स्थापित करने की छूट दी।

चीन द्वारा सुनियोजित ढंग से तिब्बत की स्वायत्तता कम करते जाने के प्रयासों के फलस्वरूप मार्च 1959 में, तिब्बत में एक जन-विद्रोह भड़क उठा। चीन ने इस विद्रोह को दमनपूर्ण उपायों द्वारा कुचल दिया, जिसका भारत में जनता के स्तर पर गंभीर विरोध किया गया। भारत द्वारा तिब्बती धर्मगुरु दलाईलामा तथा उनके अनुयायियों को राजनैतिक शरण प्रदान की गई, किंतु भारत सरकार ने तिब्बत सरकार को कोई मान्यता नहीं दी। फिर भी चीन द्वारा खुलेरूप से भारत को तिब्बत में विद्रोह भड़काने का

जिम्मेदार ठहराया गया और 1959 में लोंगण तथा लद्दाख क्षेत्र में 12000 वर्ग मील भारतीय क्षेत्र पर कब्जा कर लिया गया। सितंबर 1959 में भारत-चीन सम्बंधों पर पहला श्वेतपत्र भारतीय संसद में पेश किया गया, जिसमें संयुक्त राष्ट्र के सामने स्पष्ट किया गया कि 1954 के समझौते के शैशवकाल में ही भारत और चीन की सेनाएं सीमाक्षेत्र में तनावपूर्ण वातावरण में तैनात थीं। दोनों देशों के मध्य सीमा समस्या पर अनेक विरोधपत्रों, स्मरणपत्रों तथा ज्ञापनों का आदान-प्रदान भी हुआ, जिनमें दोनों देशों द्वारा अपने-अपने दावे पेश किये गये थे।

• **भारत-चीन सीमा पर तनावः** चीन ने भारत के 40000 वर्गमील क्षेत्र पर अपना दावा पेश किया और भारतीय सीमा का उल्लंघन करना प्रारंभ कर दिया। चीन का दावा था कि भारतीय सरकार और चीन की केंद्रीय सरकार के मध्य ऐतिहासिक तौर पर कोई संधि नहीं हुई थी। उसने पहले से स्थित मैकमोहन रेखा को अवैध घोषित किया, क्योंकि यह चीन के तिब्बती क्षेत्र पर ब्रिटिश आक्रामक नीतियों का परिणाम थी।

दूसरी ओर, भारत का मानना था कि दोनों देशों के बीच स्थित ऐतिहासिक सीमाएं उच्चतम जलप्रवाह के भौगोलिक सिद्धांत पर आधारित थीं और अधिकांश क्षेत्र में दोनों देशों की तत्कालीन सरकारों द्वारा सम्पन्न विशिष्ट समझौतों में उन सीमाओं को मान्यता दी गयी थी। 1959-62 के मध्य चीन द्वारा निरंतर भारतीय सीमाओं का उल्लंघन करने के बावजूद भारत ने शांतिपूर्ण उपायों द्वारा ही सीमा विवाद को सुलझाने के प्रयास किये। दोनों देशों के अधिकारियों द्वारा कई बार आपसी वार्ताएं की गईं। अप्रैल 1960 में चीनी प्रधानमंत्री चाउ एन लाई ने भी भारत यात्रा की। किंतु समस्या का कोई समाधान नहीं खोजा जा सका।

• **भारत पर चीनी आक्रमण (1962):** 8 सितंबर, 1962 को चीनी सेनाओं ने सोचे-विचारे ढंग से उत्तरी-पूर्वी सीमांत एजेंसी (नेफा, आधुनिक अरुणाचल प्रदेश) क्षेत्र में मैकमोहन रेखा का अतिक्रमण कर लिया। 20 अक्टूबर, 1962 को चीन ने लद्दाख से नेफा तक की समूची सीमा पर पूरी तरह आक्रमण कर दिया। चीन के इस गंभीर और जबरदस्त आक्रमण के समक्ष भारतीय सेनाओं को हार का सामना करना पड़ा और एक बड़े भारतीय भू-भाग पर चीन का आधिपत्य स्थापित हो गया। युद्ध के दौरान भारत को पश्चिमी शक्तियों तथा सोवियत संघ दोनों से सहायता प्राप्त हुई। 21 नवंबर, 1962 को चीन द्वारा नाटकीय ढंग से समूचे सीमा क्षेत्र में युद्धविराम की एकतरफा घोषणा कर दी गयी और वास्तविक नियंत्रण रेखा से 20 किमी. पीछे हटने का एलान किया गया। लेकिन इसके बावजूद भी लद्दाख का एक बड़ा भाग तथा सिनक्यांग और दक्षिणी चीन को जोड़ने वाले सामरिक महत्व के क्षेत्र पर चीन का कब्जा जमा रहा। चीन द्वारा भारत को यह चेतावनी भी दी गयी कि यदि भारत पूर्वी क्षेत्र की वास्तविक नियंत्रण रेखा से आगे बढ़ा अथवा मध्य एवं पश्चिमी क्षेत्र की वास्तविक नियंत्रण रेखा से पीछे हटने को राजी नहीं होता है, तो वह भारत पर पुनः आक्रमण करेगा।

इसी मध्य 1962 में 6 एफ्रो एशियाई देशों—इंडोनेशिया म्यांमार, संयुक्त अरब गणराज्य, घाना, श्रीलंका द्वारा 'कोलंबो प्रस्ताव' के माध्यम से दोनों देशों के मध्य समझौता कराने का प्रयास किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार, चीन को पारंपरिक सीमा रेखा से 20 किमी. पीछे हटाने, पूर्वी क्षेत्र में वास्तविक नियंत्रण रेखा को दोनों देशों द्वारा युद्धविराम रेखा के रूप में स्वीकार करने तथा मध्यक्षेत्र में यथास्थिति कायम रखे जाने का प्रावधान था।

भारत ने कोलंबो प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान कर दी, किंतु चीन ने मैकमोहन रेखा पर भारतीय सेना की तैनाती और असैनिक घोषित क्षेत्र में नागरिक चौकी स्थापित करने के अधिकार को चुनौती देते हुए उक्त प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। इस प्रकार भारत-चीन के मध्य सम्बंधों में गतिरोध बना रहा।

भारत और नेपाल

नेपाल हिमालय के दक्षिणी ढलान और भारत की उत्तरी सीमा के बीच बसा हुआ है। अतः भारतीय सुरक्षा की दृष्टि से नेपाल का सामरिक महत्व है। भारत इस तथ्य को समझ रहा था, अतः जुलाई 1950 में उसने नेपाल के साथ एक संधि की। भारत ने नेपाल की संप्रभुता, क्षेत्रीय अखंडता और स्वतंत्रता को मान्यता दी। यह समझौता हुआ कि किसी भी प्रकार के मन-मुटाव, किसी समस्या पर हुई गलतफहमी से दोनों देश एक-दूसरे को अवगत कराएंगे।

भारत और भूटान

भूटान हिमालय से घिरा और चीन की सीमा से लगा एक देश है। भूटान सामरिक रूप से भारत से जुड़ा है। अगस्त 1949 में दोनों देशों ने चिरस्थायी शांति और मित्रता के लिए एक संधि की। भारत ने वचन दिया कि वह भूटान के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। दूसरी ओर, भूटान विदेशी संबंधों के लिए भारत के परामर्श पर चलने के लिए तैयार हो गया।

भारत और श्रीलंका

श्रीलंका हिंद महासागर में स्थित है और भारत का पड़ोसी देश है। श्रीलंका में होने वाली किसी भी गतिविधि का भारत की सुरक्षा और शांति पर प्रभाव पड़ता है। श्रीलंका में मुख्य रूप से सिंहली और तमिल रहते हैं। इन दोनों समुदायों में निरंतर संघर्ष और झगड़े होते हैं। 1958 और उसके बाद सिंहली-तमिल दंगे बेहद गंभीर प्रकृति के थे। भारत श्रीलंका के जातीय झगड़ों को उनका आंतरिक मामला मानता है। भारत के श्रीलंका से मित्रतापूर्ण संबंध हैं और दोनों के बीच आर्थिक और व्यापारिक संबंध भी कायम हैं। श्रीलंका गुटनिरपेक्ष आंदोलन का समर्थक है। यह किसी सैन्य संगठन का सदस्य नहीं है।

अध्याय 39

नेहरू के बाद भारत

नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल के अंतिम वर्षों के दौरान, गंभीर चर्चा हो रही थी कि उनके बाद भारत का क्या होगा, जब मई 1964 में उनकी मृत्यु हुई, तो भारत और विदेश में अधिकतर लोग लगभग पूरी तरह से मान रहे थे कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था गंभीर और प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगी और शायद ध्वस्त भी हो जाए। कांग्रेस पार्टी के भीतर प्रधानमंत्री पद को संभालने को लेकर कलह चल रही थी। हालांकि, ऐसी कोलाहल की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई और सत्ता परिवर्तन शांतिपूर्ण तरीके से हो गया। वास्तव में, नेहरू काल से, भारत ने न केवल कई प्रधानमंत्रियों को देखा अपितु अपने राजनीतिक इतिहास में कुछ खास परिवर्तनों को भी देखा। इन वर्षों के दौरान आकर्षण एवं गुंजायमान लोकतंत्र के निर्बाध संचालन को खतरा उत्पन्न करने वाले कुछ उतार-चढ़ाव भी आए, लेकिन इन चुनौतियों एवं बाधाओं से पार पा लिया गया। पड़ोसी देशों में तख्तापलट एवं सैनिकों द्वारा सत्ता पर कब्जा जैसी घटनाओं के बीच, भारत लोकतंत्र के रूप में जीवंत बना रहा और समय-समय पर लोकतांत्रिक निर्वाचनों के माध्यम से यहां निर्बाध सत्ता परिवर्तन होता रहा।

नेहरू की मृत्यु के तुरंत बाद, गुलजारी लाल नंदा को अंतरिम प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया जब तक कि कांग्रेस पार्टी का नया संसदीय नेता नहीं चुन लिया गया, जो प्रधानमंत्री बने।

लाल बहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्रित्व काल (जून 1964-जनवरी 1966)

यह सामान्यतः स्वीकृत था कि कांग्रेस के भीतर एक समूह था, जिसे 1963 में बनाया गया था, और जो सिंडिकेट के रूप में जाना जाता था, और उसमें कांग्रेस अध्यक्ष के. कामराज भी शामिल थे, और कुछ अन्य जवाहरलाल नेहरू के पश्चात् प्रधानमंत्री पद के उत्तराधिकारी का मार्ग प्रशस्त करेंगे। चुनाव मोरारजी देसाई और लाल बहादुर शास्त्री के बीच करना था। मोरारजी देसाई वरिष्ठ और अनुभवी कांग्रेसी थे जो अपनी

ईमानदारी और प्रशासनिक कौशल के लिए जाने जाते थे, लेकिन साथ ही उन्हें अनुदारवादी, कठोर और दक्षिण पंथी माना जाता था। दूसरी ओर लाल बहादुर शास्त्री सौम्य, मृदुभाषी एवं लचीले स्वभाव के साथ-साथ समन्वयवादी और सच्चरित्र प्रकृति के थे। देसाई की अपेक्षा शास्त्री को पूरी पार्टी में अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। अंततः, शास्त्री को पार्टी द्वारा अगला संसदीय नेता चुना गया और इस प्रकार वह प्रधानमंत्री बन गए। लाल बहादुर शास्त्री भारत के दूसरे प्रधानमंत्री बने। वह 9 जून, 1964 से 11 जनवरी, 1966 को अपनी मृत्यु तक लगभग 18 महीने भारत के प्रधानमंत्री रहे। इस प्रमुख पद पर उनका कार्यकाल अद्‌वितीय रहा।

प्रारंभिक जीवन

लाल बहादुर शास्त्री का जन्म 2 अक्टूबर, 1904 को उत्तर प्रदेश (तत्कालीन संयुक्त प्रांत) के मुगलसराय में हुआ। काशी विद्यापीठ से शास्त्री की उपाधि ग्रहण करने के बाद उन्होंने जन्म से चला आ रहा जातिसूचक शब्द *श्रीवास्तव* हमेशा के लिए हटा दिया और अपने नाम के आगे 'शास्त्री' लगा लिया। सन् 1928 में उनका विवाह ललिता देवी से हुआ। वे दहेज प्रथा के धुर विरोधी थे जिसके चलते उन्होंने अपने सुसर के द्वारा दहेज में कुछ लेने पर जोर देने के कारण मात्र पांच गज खादी और एक सूत कताई मशीन स्वीकार की।

भारत सेवक संघ से जुड़कर शास्त्री जी ने अपने राजनैतिक जीवन की शुरुआत की। शास्त्री जी सच्चे गांधीवादी थे। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सभी महत्वपूर्ण कार्यक्रमों व आंदोलनों में उनकी सक्रिय भागीदारी रही और उसके परिणामस्वरूप उन्हें कई बार जेलों में भी रहना पड़ा। असहयोग आंदोलन (1921), दांडी मार्च (1930), भारत छोड़ो आंदोलन (1942) में उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही। शास्त्री जी के राजनीतिक दिग्दर्शकों में पुरुषोत्तम दास टंडन और गोविंद वल्लभ पंत के अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू भी शामिल थे।

शास्त्री जी कांग्रेस राजनीतिक संगठन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थे। वह पार्टी के स्थानीय इकाई के सचिव बने और बाद में इलाहाबाद कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बनाए गए। वह 1937 में संयुक्त प्रांत विधानसभा के लिए निर्वाचित हुए थे।

स्वतंत्रता पश्चात् राजनीतिक यात्रा

स्वतंत्रता पश्चात्, शास्त्री जी को गोविंद वल्लभ पंत के मंत्रिमण्डल में मंत्री बनाया गया और उन्हें पुलिस एवं परिवहन मंत्रालय सौंपा गया। इस पद पर रहते हुए उन्होंने महिलाओं की बस कंडक्टर के तौर पर नियुक्ति की, और पुलिस को निर्देश दिया कि वह उदण्ड भीड़ को तितर-बितर करने के लिए लाठी के बजाय पानी की बौछारों का इस्तेमाल करें।

1951 में जवाहर लाल नेहरू को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष बनाने

के साथ उन्हें सचिव (शास्त्री जी को) बनाया गया। उसी वर्ष उन्हें राज्यसभा के लिए मनोनीत किया गया। नेहरू ने उन्हें अपने मंत्रिमण्डल में रेल मंत्री का पदभार सौंपा, हालांकि उन्होंने एक गंभीर रेल दुर्घटना की नैतिक जिम्मेदारी लेते हुए 1956 में त्यागपत्र दे दिया। 1961 में उन्हें पुनः मंत्रिमण्डल में शामिल किया गया और गृह मंत्री बनाया गया। इस पद पर रहते हुए उन्होंने कुशल मध्यस्थ की छवि हासिल की और उन्होंने के. संथानम की अध्यक्षता में भ्रष्टाचार पर रोक लगाने हेतु एक समिति का भी गठन किया, जिसकी अनुशंसा पर केंद्रीय सतर्कता आयोग की स्थापना की गई। उन्हें परिवहन एवं संचार मंत्री, वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री और नेहरू जी के अस्वस्थ रहने के दौरान बिना विभाग का मंत्री भी बनाया गया। उनकी साफ-सुथरी छवि के कारण उन्हें 1964 में प्रधानमंत्री बनाया गया।

प्रधानमंत्रित्व कालः परिवर्तन के साथ नेहरू की विरासत की निरंतरता

लाल बहादुर शास्त्री ने 9 जून, 1954 को भारत के दूसरे प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। प्रारंभ में उन्होंने विदेश मामले एवं आणविक ऊर्जा विभाग एवं मंत्रालय अपने पास रखे, लेकिन बाद में उन्होंने विदेश मंत्रालय स्वर्ण सिंह को सौंप दिया।

प्रधानमंत्री के रूप में देश को पहली बार संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि ''प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब वह इतिहास के चौराहे पर खड़ा होता है और उसे आगे बढ़ने के लिए एक रास्ता जरूर चुनना पड़ता है। लेकिन हमारे लिए इसमें कोई परेशानी एवं संकोच नहीं है, और न ही दाएं और बाएं देखने की आवश्यकता है। हमारा रास्ता सीधा और स्पष्ट है—सभी के लिए स्वतंत्रता एवं समृद्धि के साथ आंतरिक रूप से समाजवादी लोकतंत्र का निर्माण करना, और सभी राष्ट्रों के साथ विश्व शांति एवं मित्रता बनाए रखना''।

एक सच्चे धर्मनिरपेक्षतावादी होने के नाते, शास्त्री जी ने कहा कि, ''यह हमारे देश की एक अद्वितीय विशेषता है कि हमारे देश में हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी और अन्य धर्मों के लोग रहते हैं। हमारे यहां मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और चर्च हैं। लेकिन हम इन सबका प्रयोग राजनीति में नहीं करते। यह एक बड़ा अंतर हिंदुस्तान और पाकिस्तान में है। जहां पाकिस्तान ने स्वयं को इस्लामिक राज्य घोषित किया और धर्म को एक राजनीतिक कारक के रूप में इस्तेमाल किया, वहीं हम भारतीयों को अपना मनपसंद धर्म चुनने की आजादी है, और अपनी इच्छानुसार प्रार्थना और पूजा करने की स्वतंत्रता है। जहां तक राजनीति का मामला है, हममें से प्रत्येक पहले भारतीय है।''

प्रधानमंत्री के तौर पर, शास्त्री जी ने नेहरू मंत्रिमण्डल के मंत्रियों को बनाए रखा, लेकिन साथ ही नेहरू की पुत्री, इंदिरा गांधी को भी सूचना एवं प्रसारण मंत्री के तौर पर अपने मंत्रिमण्डल में शामिल किया। वह नेहरू का सम्मान करते थे। उन्होंने भारत

के प्रथम प्रधानमंत्री द्वारा तैयार आम नीतियों को जारी रखा, लेकिन उन्होंने नेहरू जी का अंधानुकरण नहीं किया।

शास्त्री जी पहले प्रधानमंत्री थे, जिन्होंने प्रधानमंत्री को सलाह देने के लिए सचिव (एल.के. झा—एक वरिष्ठ आईसीएस अधिकारी) की नियुक्ति की। इस प्रकार उन्होंने आगे चलकर प्रधानमंत्री सचिवालय या प्रधानमंत्री कार्यालय का रूप लेने वाले संस्थान की नींव रखी।

चुनौतियां

शास्त्री जी के छोटे कार्यकाल में कुछ महत्वपूर्ण कार्य हुए। इसने यह भी स्पष्ट किया कि शास्त्री जी कमजोर व्यक्ति नहीं थे अपितु वे स्वयं एक दूरदर्शी व्यक्ति थे और तेजी से कठोर निर्णय लेने में भी सक्षम थे। उन्होंने कहा कि, ''शायद मेरे छोटे कद और मृदुभाषी होने के कारण, लोग उचित ही सोचते हैं कि मैं दृढ़ नहीं हूं। यद्यपि मैं शारीरिक रूप से बलशाली नहीं हूं, मैं समझता हूं कि मैं आंतरिक रूप से बेहद कमजोर नहीं हूं।'' तीन बड़े संकट—मद्रास राज्य (बाद में यह तमिलनाडु बना) में व्यापक हिंसात्मक हिंदी भाषा विरोधी प्रदर्शन; व्यापक खाद्यान्न कमी; पाकिस्तान के साथ दूसरा युद्ध—का सामना उनकी सरकार को करना पड़ा।

आर्थिक विचार

यद्यपि इसे कुछ ही लोगों ने महसूस किया, लाल बहादुर शास्त्री ने देश द्वारा सामना की जा रही चुनौतियों से निपटने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए, जो नेहरूवादी अर्थशास्त्र से बिल्कुल भिन्न थे।

आर्थिक सुधार का एक अग्रदूत

अधिकतर लोग यह नहीं जानते कि शास्त्री जी ने आर्थिक विषयों को देखने वाले मंत्रालयों को सम्बद्ध परियोजनाओं पर निर्णयन करने का अधिकार देने का प्रयास किया, जो योजना आयोग देखता था और इस प्रकार विकेंद्रीकृत शासन स्थापित करने की कोशिश की। वास्तव में, यह राष्ट्रीय नियोजन परिषद् की स्थापना के द्वारा योजना आयोग के प्रभुत्व को कम करने का प्रयास था। 1965 में, शास्त्री जी ने संसद में उद्घोषणा की कि आर्थिक गतिविधियों पर सरकार के नियंत्रण पर पुनर्विचार करना होगा, जिसके परिणामस्वरूप स्टील एवं सीमेंट जैसे कुछ क्षेत्रों के विनियमों में कुछ छूट दी गई। शास्त्री जी की आर्थिक टीम, जिसमें एल.के. झा, आई.जी. पटेल, धर्मवीर और एस. भूथलिंगम जैसे लोग शामिल थे, को कृषि के आधुनिकीकरण और निजी क्षेत्र को अधिक स्वतंत्रता देकर अर्थव्यवस्था के सुधार का श्रेय दिया गया। यहां तक कि रुपये के अवमूल्यन का निर्णय सैद्धांतिक तौर पर शास्त्री जी द्वारा लिया गया लेकिन वास्तविक कदम का क्रियान्वयन इंदिरा गांधी द्वारा किया गया। दुर्भाग्यवश, इससे पहले कि सभी क्षेत्रों में प्रभावी कदम उठाए जाते, शास्त्री जी की मृत्यु हो गई। यदि वे अधिक

विचार

''आर्थिक मुद्दे हमारे लिए सबसे जरूरी हैं, और यह बेहद महत्वपूर्ण है कि हम अपने सबसे बड़े दुश्मन गरीबी और बेरोजगारी से लड़ें''

—लाल बहादुर शास्त्री

उन्होंने (शास्त्री जी ने) किसी प्रकार का वैचारिक चश्मा नहीं पहना; उन्होंने तथ्यों को उनके परिप्रेक्ष्य में देखा। निरंतर खाद्य कमी ने उन्हें उद्योग से कृषि की ओर संक्रमण करने को बाध्य किया। बढ़ते काला बाजार ने उन्हें नियंत्रण से अभिप्रेरण की ओर गतिमान किया, तथा लोक क्षेत्र की बढ़ती अक्षमता ने उन्हें निजी क्षेत्र और विदेशी निवेश के लिए बड़ी भूमिका स्वीकार करने को प्रवृत्त किया। उन्होंने आर्थिक निर्णयन के केंद्र को योजना आयोग से मंत्रालयों और केंद्र से राज्यों की ओर गतिमान करने हेतु भी कदम उठाए।

—पी.एन. धर

समय तक जीवित रहते, तो यह संभव था कि, जैसाकि पी.एन. धर ने कहा, ''25 वर्षों बाद उठाए गए आर्थिक सुधारों के कदमों (नरसिम्हा राव के प्रधानमंत्रित्व काल में) को उठा लिया जाता।''

भारत के पाकिस्तान के साथ युद्ध के दौरान उनके द्वारा दिया गया नारा ''जय जवान जय किसान'' शास्त्री जी के इस दृढ़ विश्वास को जाहिर करता है कि सैनिक द्वारा देश की सुरक्षा की जिम्मेदारी घनिष्ठ रूप से खाद्य सुरक्षा एवं खाद्य उत्पादन से जुड़ी थी जो कि किसान का कार्य क्षेत्र है। इस नारे में निहित था कि खेत में किसान द्वारा खाद्य उत्पादन का कार्य देश सेवा में रणभूमि में सैनिक की आहुति के बराबर है।

हरित क्रांति और श्वेत क्रांति का बीजारोपण

भारत उस समय भोजन की कमी से जूझ रहा था और स्थितियां बेहद विकट थीं जब शास्त्री जी ने सी. सुब्रमण्यम को खाद्य एवं कृषि मंत्री के तौर पर अपने मंत्रिमंडल में शामिल किया। शास्त्री जी ने हरित क्रांति की नींव डालने में अपने मंत्रियों का पूरा सहयोग किया, यद्यपि इसका पूरा श्रेय इंदिरा गांधी को दिया जाता है, जैसाकि इसका प्रभाव एक दशक बाद दृष्टिगोचर हुआ। लेकिन वास्तव में, यह शास्त्री जी की भारतीय कृषि को रूपांतरित करने की पहल का परिणाम था।

हरित क्रांति में तीन क्षेत्रों—प्रौद्योगिकीय, आर्थिक और संगठनात्मक—पर बल शामिल था। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (आईसीएआर) का पुनर्गठन किया गया और, पहली बार, एक वैज्ञानिक, डा. बी.पी. पाल को इसका प्रमुख नियुक्त किया गया। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के एम.एस. स्वामीनाथन द्वारा मेक्सिको में नॉर्मन बोरलॉग की टीम द्वारा विकसित किए गए उच्च पैदावार वाली गेंहू की किस्मों को भारत सरकार से अवगत कराया गया और बताया गया कि भारत को किस प्रकार अपरिहार्य

रूप से इसका खेतों में परीक्षण करना चाहिए। चौतरफा विरोध के बावजूद, जिसमें कांग्रेस पार्टी भी शामिल थी, शास्त्री जी ने 1965 में 250 टन गेहूं के बीज आयात करने की अनुमति दी। बाद में 1966 में कई हजार टन गेहूं के बीज और आयात किए गए। जैसाकि भारतीय वैज्ञानिकों ने इन किस्मों में सुधार किया। नवम्बर 1965 में, जब सी.एस. सुब्रमण्यम और ओरविले फ्रीमैन, अमेरिकी कृषि सचिव, रोम में मिले, उन्होंने एक समझौता किया समझौते के अनुसार, भारत कृषि, सिंचाई, अनुसंधान, बीज, उर्वरकों में अधिक निवेश और उचित आर्थिक और विपणन नीतियों को लागू करके 1971 तक खाद्यान्न के आयात को समाप्त करने हेतु प्रतिबद्ध है। अमेरिका, अपनी तरफ से, भारत को 1965 और 1966 में अधिक गेहूं भेजने पर सहमत हो गया।

नवीन प्रौद्योगिकी को सहयोग करने के अभिप्रेरण पर भी काम किया गया। कृषि मूल्य आयोग (एपीसी) और भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) जनवरी 1965 में अस्तित्व में आए। राष्ट्रीय बीज निगम और केंद्रीय भंडार निगम भी इसी समय में गठित किए गए।

शास्त्री जी श्वेत क्रांति को गति देने वाले कारक भी थे। दूध का उत्पादन और आपूर्ति बढ़ाने के लिए एक राष्ट्रीय अभियान शुरू किया गया। अक्टूबर 1964 में कंजारी में अमूल की कैटल फीड फैक्टरी का उद्घाटन करने के लिए गुजरात के आणंद में अपने दौरे के समय वह दूध सहकारिता (मिल्क को-ऑपरेटिव) से प्रभावित हुए। उन्होंने इच्छा जाहिर की कि वर्गीज कुरियन, जो उस समय कैरा जिले के को-ऑपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर यूनियन लिमिटेड (अमूल) के जनरल मैनेजर थे, ऐसे ही को-ऑपरेटिव को देश के अन्य भागों में शुरू करने में मदद करेंगे ताकि किसानों की स्थिति में सुधार किया जा सके। परिणामस्वरूप, 1965 में आणंद में नेशनल डेयरी डेवलपमेंट बोर्ड (एनडीडीबी) की स्थापना की गई।

एक समय का भोजन त्यागने का विचार

देश में भोजन की निरंतर कमी एक सोचनीय बात थी। साथ ही, पाकिस्तान के साथ 1965 के युद्ध के दौरान, लिंडन बी. जॉनसन, तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति, ने चेतावनी देकर कि यदि भारत पाकिस्तान के साथ युद्ध नहीं रोकता है तो वह उसे पीएल-480 समझौते (भारत को अपनी जनसंख्या की खाद्यान्न जरूरतें पूरी करने के लिए गेहूं आयात करने की आवश्यकता थी) के अंतर्गत गेहूं की आपूर्ति रोक देगा, भारत पर दबाव बनाने का प्रयास किया। शास्त्री जी ने भारतीयों से कहा कि, ''हम भूखे रह सकते हैं लेकिन अमेरिका के आगे झुकेंगे नहीं।''

शास्त्रीजी ने लोगों को सप्ताह में एक बार का भोजन स्वैच्छिक रूप से त्यागने हेतु प्रोत्साहित किया ताकि भोजन को बचाया जा सके और जरूरतमंदों तक वितरित किया जा सके। हालांकि, उन्होंने लोगों से ऐसा कहने से पूर्व अपने परिवार के सदस्यों को यह व्यवस्था अपनाने को कहा और लागू किया। आश्चर्यजनक रूप से, लोगों ने

इसमें बढ़-चढ़कर योगदान किया और यहां तक कि होटल एवं भोजनालय सोमवार की शाम को बंद रहने लगे।

नवीन संस्थाएं एवं परियोजनाएं

शास्त्री जी के प्रधानमंत्रित्व काल में कई नई संस्थाओं की शुरुआत हुई। नवम्बर 1964 में, चेन्नई के थरामनी में केंद्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान; मार्च 1965 में, आंध्र प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय (हैदराबाद), 1996 में इसका नाम बदलकर आचार्य एन.जी. रंगा कृषि विश्वविद्यालय किया गया और तेलंगाना राज्य के गठन के बाद, जुलाई 2014 में, इसे दो विश्वविद्यालयों में विभाजित किया गया और दूसरे विश्वविद्यालय का नाम प्रोफेसर जयशंकर कृषि विश्वविद्यालय रखा गया; इलाहाबाद में राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान की स्थापना इनमें से कुछ हैं।

चेन्नई पत्तन के जवाहर डॉक का उद्घाटन शास्त्री जी द्वारा किया गया, और नवम्बर 1964 में तूतीकोरिन पत्तन का निर्माण कार्य शुरू किया गया।

शास्त्री जी द्वारा 1964 में अपर कृष्णा परियोजना की नींव रखी गई, अलमाटी बांध जिसका हिस्सा है। (सरकार द्वारा यह निर्णय किया गया कि अलमाटी बांध का नाम लाल बहादुर शास्त्री के नाम पर रखा जाए)

यह शास्त्री जी ही थे, जिन्होंने 1965 में ट्राम्बे में प्लूटोनियम प्रसंस्करण संयंत्र की शुरुआत की। यह डॉ. होमी भाभा का सुझाव था कि भारत को शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए नाभिकीय विस्फोट करना चाहिए, जिसे शास्त्री जी ने लागू किया। होमी भाभा की पहल पर, *स्टडी ऑफ न्यूक्लियर एक्सप्लोजन फॉर पीसफुल परपजेस* (एसएनईपीपी) का गठन किया गया।

अंतरराष्ट्रीय संबंध (विदेश मामले)

शास्त्री जी ने गुटनिरपेक्षता की नीति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किए। हालांकि, वे इस बात के लिए बेहद सतर्क थे कि, 1962 में भारत-चीन युद्ध और पाकिस्तान तथा चीन के बीच बढ़ता सैन्य सहयोग एवं समझौते के दृष्टिगत्, भारत सरकार को देश के रक्षा बजट में बढ़ोतरी करनी चाहिए। इसलिए उन्होंने भारत के सशस्त्र बल को आधुनिकृत करने का प्रयास किया। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि भारत को सोवियत संघ से घनिष्ठ संबंध बनाने चाहिए।

शास्त्री जी ने सहजगम्य समस्याओं के समाधान हेतु पड़ोसी देशों से संबंध बढ़ाने शुरू किए। भारत और सीलोन (तत्कालीन समय में यह श्रीलंका का नाम था) के बीच लाल बहादुर शास्त्री और उनके समकक्ष सीलोन के प्रधानमंत्री, श्रीमावो भंडारनायके, के बीच 1964 का भंडारनायके–शास्त्री समझौता हुआ। सीलोन में भारतीय तमिलों के दर्जे को लेकर, समझौता 6,00,000 भारतीयों के देश प्रत्यावर्तन को पूर्ण करने और सीलोन में 3,75,000 तमिलों को सीलोन की नागरिकता देने की बात करता है, जो

1981 तक पूरा हो सका। हालांकि, समझौते के तुरंत बाद शास्त्री जी की मृत्यु हो गई, और समझौता लागू नहीं किया जा सका, और कुछ वर्षों बाद भारत ने समझा कि समझौता व्यपगत हो गया।

1962 में बर्मा में सैन्य तख्ता पलट हुआ जिसके परिणामस्वरूप वहां रह रहे भारतीय परिवारों का 1964 में बर्मा की सरकार द्वारा देश प्रत्यावर्तन किया गया। भारत और बर्मा के बीच संबंध तनावपूर्ण हो गए। हालांकि, शास्त्री ने दिसंबर 1965 में रंगून की आधिकारिक यात्रा की, और जनरल 'ने विन' की बर्मा सरकार के अंतर्गत भारत और बर्मा के बीच फिर से मधुर संबंध स्थापित हो गए।

भारतीय उपमहाद्वीप में परिस्थितियों को देखते हुए और पाकिस्तान तथा चीन के साथ तनावपूर्ण संबंधों के चलते, लाल बहादुर शास्त्री ने नाभिकीय विस्फोट कार्यक्रम की पहल करने को लेकर तनिक भी संकोच नहीं किया। 1965 में, उन्होंने परमाणु परीक्षण पर काम करने को लेकर परमाणु ऊर्जा आयोग को अनुमति प्रदान की। इसको लेकर उन्हें स्वयं अपनी सरकार के भीतर और पार्टी में तथा साथ ही अन्य लोगों का प्रचंड विरोध झेलना पड़ा, लेकिन वे अडिग रहे। इससे पहले कि यह कार्यक्रम शुरू हो पाता दुर्भाग्यवश, लाल बहादुर शास्त्री की जनवरी 1966 में मृत्यु हो गई।

भारत-पाकिस्तान युद्ध

1965 में, भारत ने पाकिस्तान की ओर से युद्ध के खतरे का सामना किया। 1958 में सैन्य तख्तापलट के माध्यम से जनरल मोहम्मद अयूब खान पाकिस्तान की सत्ता पर काबिज हो गए, और बलपूर्वक राष्ट्रपति इस्कंदर मिर्जा को अपदस्थ कर स्वयं राष्ट्रपति पद हथिया लिया। ऐसी स्थिति में अमेरिका पाकिस्तान को पूरी सैन्य सहायता प्रदान कर रहा था। 1962 में चीन के साथ युद्ध ने सशस्त्र बलों समेत भारतीयों को निरुत्साहित किया था। अतः अयूब खान ने संभवतः सोचा कि सीमा पर भारतीय सैन्य बलों के साथ जोर-अजमाइश का यह सही समय है। अप्रैल 1965 में, पाकिस्तान ने सिंध में इसकी शुरुआत की। उन्हें लगा कि पाकिस्तान कच्छ के रन में प्रथम लड़ाई जीत सकता है। दोनों तरफ, ब्रिटेन के हस्तक्षेप से, गोलीबारी बंद करने पर सहमति बन गई और झड़प से पहले की स्थिति कायम की गई। इस बात से आश्वस्त होने पर कि भारतीय सेना कमजोर हो गई, और कश्मीर घाटी में शेख अब्दुल्ला और अन्य विरोधियों द्वारा कोलाहल उत्पन्न करने पर, पाकिस्तान में सत्ताधारियों ने कश्मीर में हमला करने का निर्णय लिया। अगस्त (1965) में इस विचार के साथ कि भारतीय फौज एवं पुराने टैंकों के सीमा पर इकट्ठा होने से पहले कश्मीर तक केवल महत्वपूर्ण स्थलीय मार्ग का प्रयोग किया जाना था, *ऑपरेशन ग्रांडसलेम* शुरू किया गया। इस कार्य में पाकिस्तान के तत्कालीन विदेश मंत्री, जुल्फिकार अली भुट्टो ने अयूब खान को प्रोत्साहित किया। कश्मीर घाटी में उपद्रव फैलाने के उद्देश्य से पाकिस्तान द्वारा सुप्रशिक्षित घुसपैठियों को भेजा गया।

भारतीय प्रधानमंत्री ने इस समय अपनी मानसिक शक्ति का परिचय दिया। पाकिस्तान ने दावा किया कि कश्मीर में भारत द्वारा कब्जा किए जाने के खिलाफ उपद्रव हो रहा है। भारत ने वैश्विक समुदाय का ध्यान इस ओर दिलाया कि पाकिस्तान, जैसाकि पाकिस्तान द्वारा कहा जाता है, 'आजाद कश्मीर' (भारत सरकार इसे पाक अधिकृत कश्मीर [POK] कहती है) से जम्मू-कश्मीर में सशस्त्र घुसपैठियों को भारतीय क्षेत्र में भेजकर कोलाहल एवं उपद्रव को हवा दे रहा है। इस बात की घोषणा हो जाने पर कि दोनों देशों की फौजें आमने-सामने होंगी, शास्त्री जी ने आदेश दिया कि भारतीय सेना सीजफायर लाइन को पार कर सकती है और घुसपैठियों द्वारा प्रयोग किए जा रहे मार्ग को बंद कर सकती है। सितम्बर 1965 में, दूसरा भारत-पाकिस्तान युद्ध शुरू हो गया। शास्त्री जी ने सिद्ध किया कि वह इस प्रकार निर्णय ले सकते हैं, जिस प्रकार नेहरू जी ने नहीं लिए। उन्होंने भारतीय फौजों को जरूरी प्रतिशोधात्मक कदम उठाने की अनुमति देने में कुछ समय लिया। उनके रक्षा मंत्री, वाई.बी. चावन, भी उत्कृष्ट साबित हुए। सितम्बर 1965 में, भारतीय फौजों ने पंजाब में सीमा के आर-पार लाहौर एवं सियालिकोट को निशाना बनाने के उद्देश्य से अपने टैंकों के साथ तीन-तरफा हमला किया। यह भी पहली बार था कि स्वतंत्रता के पश्चात् युद्ध में भारतीय वायु सेना ने भाग लिया।

संयुक्त राष्ट्र ने इसमें हस्तक्षेप किया और सीजफायर के लिए मध्यस्थता की गई जिसे 23 सितम्बर, 1965 को दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया।

ताशकंद में शांति समझौता

ताशकंद (उज्बेकिस्तान की राजधानी, जो तत्कालीन सोवियत संघ का एक गणराज्य था) में जनवरी 1966 में एक दक्षिण एशिया शांति सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसे सोवियत राष्ट्रपति *अलेक्सी कोसिगिन* द्वारा प्रायोजित किया गया। यह कोसिगिन की मध्यस्थता से संभव हो सका था कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खान और भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री मिले और अपने देशों के बीच सामान्य एवं शांतिपूर्ण संबंधों को पुनःस्थापित करने तथा अपने लोगों के बीच समझ और मैत्रीपूर्ण संबंधों को प्रोत्साहित करने के लिए 10 जनवरी, 1966 को ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए।

ताशकंद घोषणा का अर्थ था कि भारत और पाकिस्तान के बीच शांति बनाए रखने के लिए एक रूपरेखा बनाना। यह विश्वास किया गया कि दोनों पक्ष स्वयं किसी समझौते पर नहीं पहुंच सकते और इसके लिए सोवियत नेताओं द्वारा तैयार मसौदे पर उन्हें हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया गया। हालांकि, इसे भारत में पूर्ण अनुमोदन नहीं मिला। आलोचकों ने महसूस किया कि समझौता होना चाहिए लेकिन इसमें 'कोई युद्ध नहीं' समझौता नहीं किया गया और न ही ऐसा कोई प्रावधान था कि पाकिस्तान

को कश्मीर में गुरिल्ला आक्रमण को छोड़ देना चाहिए। पाकिस्तान में, समझौते पर बेहद तीखी नाराजगी जाहिर की गई। इसके विरोध में वहां दंगे एवं प्रदर्शन हुए। जुल्फिकार भुट्टो ने अयूब खान एवं इस समझौते से दूरी बना ली, और अंत में इससे अलग होकर अपना खुद का राजनीतिक दल बना लिया।

शास्त्रीजी की रहस्यपूर्ण मृत्यु

11 जनवरी, 1966 की सुबह, ताशकंद घोषणा के हस्ताक्षर के बाद वाली सुबह, लाल बहादुर शास्त्री हृदयाघात से प्राणहीन हो गए। उनकी मृत्यु पर विवाद उत्पन्न हो गया और साथ ही अफवाह फैली कि उन्हें जहर देकर मारा गया है। इस मामले में सेंट्रल इंटेलीजेंस एजेंसी (अमेरिका की सीआईए) का हाथ होने का भी संदेह था, जैसाकि पश्चिम भारत की आणविक महत्वाकांक्षाओं को लेकर शंका में था और दक्षिण एशिया में शक्ति संतुलन में मुश्किल हो रही थी। यह विवाद अभी तक खत्म नहीं हुआ है।

ताशकंद घोषणा

पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खान और भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री द्वारा सितम्बर युद्ध के बाद शांति स्थापना की दिशा में कदम बढ़ाते हुए ताशकंद समझौता किया गया जिसके प्रमुख बिंदु इस प्रकार हैं–

1. भारत और पाकिस्तान शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और अपने-अपने झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से तय करेंगे।
2. दोनों देश 25 फरवरी, 1966 तक अपनी सेनाएं 5 अगस्त, 1965 की सीमा रेखा पर पीछे हटा लेंगे।
3. इन दोनों देशों के बीच आपसी हित के मामलों में शिखर वार्ताएं तथा अन्य स्तरों पर वार्ताएं जारी रहेंगी।
4. भारत और पाकिस्तान के बीच संबंध एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने पर आधारित होंगे।
5. दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंध फिर से स्थापित कर दिए जाएंगे।
6. एक-दूसरे के बीच में प्रचार के कार्य को फिर से सुचारू कर दिया जाएगा।
7. आर्थिक एवं व्यापारिक संबंधों तथा संचार संबंधों की फिर से स्थापना तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान फिर से शुरू करने पर विचार किया जाएगा।
8. ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न की जाएंगी कि लोगों का निर्गमन बंद हो।
9. शरणार्थियों की समस्याओं तथा अवैध प्रवासी प्रश्न पर भी विचार-विमर्श जारी रखा जाएगा तथा हाल के संघर्ष में जब्त की गई एक-दूसरे की सम्पत्ति को लौटाने के प्रश्न पर विचार किया जाएगा।

इस समझौते के क्रियान्वयन के फलस्वरूप दोनों पक्षों की सेनाएं उस सीमा रेखा पर वापस लौट गईं, जहां पर वे युद्ध के पूर्व में तैनात थीं। परंतु इस घोषणा से भारत-पाकिस्तान के दीर्घकालीन संबंधों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

पहली जांच राजनारायण ने करवाई थी, जो बिना किसी परिणाम के समाप्त हो गई। और भारतीय संसद लाइब्रेरी में उसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। वर्ष 2009 में जब यह सवाल उठाया गया तो भारत सरकार की ओर से जवाब दिया गया कि शास्त्री जी के निजी डॉक्टर आर.एन. चुघ और रूस के कुछ डॉक्टरों ने मिलकर उनकी मौत की जांच तो की थी परंतु सरकार के पास उसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। वर्ष 2009 में 'साउथ एशिया पर सीआईए की नजर' नामक पुस्तक के लेखक अनुज धर ने सूचना के अधिकार के अंतर्गत मांगी गई जानकारी पर प्रधानमंत्री कार्यालय की ओर से यह कहा गया कि, ''शास्त्रीजी की मृत्यु के दस्तावेज सार्वजनिक करने से हमारे देश के अंतरराष्ट्रीय संबंध खराब हो सकते हैं तथा इस रहस्य से पर्दा उठते ही देश में उथल-पुथल मचने के अलावा संसदीय विशेषाधिकारों को भी ठेस पहुंच सकती है। ये तमाम कारण हैं जिसमें इस सवाल का जवाब नहीं दिया जा सकता''।

इंदिरा गांधीः प्रथम चरण (जनवरी 1966–मार्च 1977)

जनवरी 1966 में लाल बहादुर शास्त्री की अकस्मात् एवं अनापेक्षित मृत्यु के बाद, एक बार फिर, गुलजारी लाल नंदा को लम्बित चुनावों तक अंतरिम प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। मोरारजी देसाई कांग्रेस पार्टी संसदीय नेता के पद के दावेदार थे। कांग्रेस अध्यक्ष के. कामराज ने इंदिरा का नाम प्रधानमंत्री पद के लिए सुझाया। प्रधानमंत्री पद के दो दावेदारों के बीच गतिरोध कांग्रेस संसदीय पार्टी द्वारा मतदान के माध्यम से सुलझाया गया और इंदिरा गांधी भारी मतों से विजयी हुई। 24 जनवरी, 1966 को इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ग्रहण की। इंदिरा गांधी चार बार भारत की प्रधानमंत्री रहीं। तीन बार लगातार (1966-1977) और चौथी बार (1980-84)।

प्रारंभिक जीवन

इंदिरा गांधी का जन्म 19 नवम्बर, 1917 को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में प्रसिद्ध नेहरू परिवार में हुआ था। उनका पूरा नाम 'इंदिरा प्रियदर्शिनी' था। नेहरू परिवार ने स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नेहरू परिवार आर्थिक एवं बौद्धिक दोनों दृष्टि से बेहद संपन्न था। उन्होंने बचपन से ही राजनीतिक माहौल एवं स्वतंत्रता संघर्ष की लड़ाई को देखा एवं अनुभव किया था। बचपन में ही संघर्षों की धूप ने इंदिरा गांधी को यह समझा दिया था कि कोई भी चीज आसानी से उपलब्ध नहीं होती। उनकी प्राप्ति के लिए इंसान को दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए।

राजनेता और जनसाधारण, दोनों ही आजादी के आंदोलन में बराबर के भागीदार थे। नन्ही इंदिरा के दिल पर इन सभी घटनाओं का अमिट प्रभाव पड़ा था और 13 वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने वानर सेना का गठन कर अपने इरादों को स्पष्ट कर

दिया। वानर सेना के सदस्यों ने देश सेवा की शपथ ली थी। स्वतंत्रता आंदोलन में इस वानर सेना ने आंदोलनकारियों की कई प्रकार से मदद की थी। क्रांतिकारियों तक महत्वपूर्ण सूचनाएं भी इनके माध्यम से पहुंचाई जाती थीं। साथ ही सामान्य जनता के बीच जरूरी संदेशों के पर्चे भी इनके द्वारा वितरित किए जाते थे। इंदिरा की इस वानर सेना का महत्व इससे समझा जा सकता है कि मात्र इलाहाबाद में इसके सदस्यों की संख्या 5000 थी। इस प्रकार बालिका इंदिरा ने बचपन में ही स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते हुए यह समझ लिया था कि किसी भी राष्ट्र के लिए उसकी आजादी का कितना अधिक महत्व होता है।

इंदिरा गांधी ने विभिन्न स्कूल एवं कॉलेज से शिक्षा ग्रहण की। इसमें स्विट्जरलैंड में इकोल डी बेक्स स्कूल, लंदन में बैडमिंटन स्कूल, रवीन्द्रनाथ टैगोर का विश्व-भारती विश्वविद्यालय (शांति निकेतन, बंगाल), और समरविले कॉलेज (ऑक्सफोर्ड, यू.के.) प्रमुख रूप से शामिल हैं।

1936 में इंदिरा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गईं और 1938 में वह इंडिया लीग की एक सदस्य बन गईं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान इनकी मुलाकात फिरोज गांधी से होती थी, जो लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में अध्ययन कर रहे थे। फिरोज को इंदिरा इलाहाबाद से ही जानती थी। भारत वापस लौटने पर दोनों का विवाह 16 मार्च, 1942 को आनंद भवन इलाहाबाद में हुआ। फिरोज भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य थे और उन्होंने भी स्वतंत्रता संघर्ष में भाग लिया। इंदिरा ने भारत छोड़ो आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई और उन्हें कुछ समय के लिए नेनी सेंट्रल जेल में कैद रखा गया, जिसके बाद उन्हें मई 1943 में रिहा किया गया। इंदिरा और फिरोज के दो बेटे—राजीव और संजय—हुए और दोनों ने ही आगे चलकर अलग-अलग तरीके से भारत के राजनीतिक परिदृश्य में अपनी भूमिका निभाई।

विभाजन के बाद फैले दंगों और अराजकता के दौरान इंदिरा गांधी ने शरणार्थी शिविरों को संगठित करने और पाकिस्तान से आए शरणार्थियों की देखभाल करने का महत्वपूर्ण कार्य किया था।

स्वतंत्रता पश्चात् राजनैतिक जीवन

स्वतंत्रता पश्चात्, अंतरिम सरकार के गठन के साथ जवाहर लाल नेहरू कार्यवाहक प्रधानमंत्री बना दिए गए थे। इसके बाद नेहरू की राजनैतिक सक्रियता और अधिक बढ़ गई। त्रिमूर्ति भवन स्थित नेहरूजी के निवास पर सभी आगंतुकों के स्वागत का इंतजाम इंदिरा द्वारा ही किया जाता था। इसके साथ-साथ, उम्रदराज हो रहे पिता की आवश्यकताओं को देखने की जिम्मेदारी भी इंदिरा पर ही पड़ गई।

1951-52 के प्रथम आम चुनाव में, इंदिरा अपने पिता एवं पति, जो रायबरेली निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव लड़ रहे थे, दोनों के प्रचार प्रबंध में लगी रहीं। फिरोज ने अपने

प्रतिद्वंदिता चयन के बारे में नेहरू से सलाह-मशविरा नहीं किया था, यद्यपि वह निर्वाचित हुए। फिरोज ने बहुत जल्द एक राष्ट्रीयकृत बीमा उद्योग में घटे प्रमुख घोटाले को उजागर कर अपने राजनैतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाकू होने की छवि को विकसित किया, जिसके परिणामस्वरूप नेहरू के एक सहयोगी वित्त मंत्री, टी.टी. कृष्णामचारी, को त्यागपत्र देना पड़ा। सितम्बर 1960 में फिरोज की मृत्यु हो गई।

इंदिरा को कांग्रेस पार्टी की कार्यकारिणी में सन् 1955 में शामिल कर लिया गया था। मात्र 42 वर्ष की आयु में वह 1959 में कांग्रेस की अध्यक्ष बन गईं। नेहरू के इस निर्णय पर कई लोगों ने उन पर पार्टी में परिवारवाद फैलाने का आरोप भी लगाया। वर्ष 1964 में नेहरू के निधन के पश्चात् इंदिरा चुनाव जीतकर लाल बहादुर शास्त्री की सरकार में सूचना और प्रसारण मंत्री बन गईं। अपने इस नवीन दायित्व का निर्वहन इंदिरा जी ने कुशलतापूर्वक किया और सूचना एवं प्रसारण मंत्री के तौर पर आकाशवाणी के कार्यक्रमों को मनोरंजक बनाया तथा उसमें गुणात्मक वृद्धि भी की। 1965 में भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान आकाशवाणी ने राष्ट्रीयता की भावना को मजबूत करने में अतुलनीय योगदान दिया। इंदिरा गांधी ने युद्ध के दौरान सीमाओं पर जाकर जवानों का मनोबल ऊंचा किया और अपने नेतृत्व गुण को दर्शाया।

प्रधानमंत्री पद पर

19 जनवरी, 1966 को, इंदिरा गांधी भारत की तीसरी और पहली महिला प्रधानमंत्री बनीं। 1967 के आम चुनाव आर्थिक समस्याओं—गतिरोध एवं खाद्य संकट, कीमत वृद्धि, बेरोजगारी—के बीच हुए, जिन्होंने लोगों में कांग्रेस के प्रति नाराजगी उत्पन्न की। रुपए के अवमूल्यन के निर्णय की बड़े पैमाने पर आलोचना हुई। साथ ही राजनीतिक विवादों ने अमेरिका से गेहूं के आयात को भी बाधित किया। 1967 के चुनाव में कांग्रेस को बहुत नुकसान हुआ, लेकिन पार्टी सरकार बनाने में सफल रही। इंदिरा गांधी रायबरेली से लोकसभा सीट जीत गईं। इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बन गई लेकिन मोरारजी देसाई उप-प्रधानमंत्री और वित्त मंत्री बनाए गए।

1967 में कांग्रेस विधानसभा चुनावों में कई राज्यों में या तो सत्ता-प्राप्त नहीं कर पाई या बहुमत हासिल करने में असफल रही। कई राज्यों में गठबंधन सरकार अस्तित्व में आई, हालांकि इसने अस्थिर सरकारों को जन्म दिया और दल-बदल की घटनाओं में वृद्धि हुई।

कांग्रेस विभाजन और केंद्र में अल्पमत सरकार

आगे के वर्षों में कांग्रेस पार्टी के भीतर अधिक कोलाहल की स्थिति उत्पन्न हुई। सिंडिकेट चाहती थी कि नीलम संजीव रेड्डी के राष्ट्रपति चुने जाने के बाद इंदिरा गांधी को प्रधानमंत्री पद छोड़ने के लिए विवश कर दिया जाए। इंदिरा गांधी को सिंडिकेट की इस चाल का पूर्वानुमान था। उन्होंने तत्कालीन उपराष्ट्रपति वी.वी. गिरि को

राष्ट्रपति उम्मीदवार के रूप में खड़ा कर दिया। इससे जनता के बीच उनकी छवि धूमिल हुई कि वह पार्टी के विरुद्ध जा रही है। एक निर्धारित रणनीति के तहत् इंदिरा गांधी ने वित्त मंत्रालय मोरारजी देसाई से ले लिया और विभिन्न आर्थिक कार्यक्रम चलाए। उन्होंने देश के महत्वपूर्ण 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया ताकि वे सरकार की आर्थिक नीति के अनुसार आचरण कर सकें।

इंदिरा गांधी ने दूसरा कदम यह उठाया कि भूतपूर्व राजा-महाराजाओं को जो बड़ी राशि प्रीविपर्स के रूप में मिलती आ रही थी, उसकी समाप्ति की घोषणा कर दी। इस प्रकार करोड़ों रुपयों की बचत संभव हुई। भूमि हदबंदी योजना को पूरी शक्ति के साथ लागू किया गया। इससे गरीब किसानों को अच्छा लाभ मिला। चौथी पंचवर्षीय योजना को लागू किया गया ताकि नेहरू ने विकास का जो माध्यम तैयार किया था उसे क्रियान्वित किया जा सके। गरीब, दलित, मध्यम वर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग सभी ने इंदिरा गांधी के सुधारवादी कदमों की जमकर प्रशंसा की। इंदिरा गांधी ने अपनी सुदृढ़ छवि बनाकर वी.वी. गिरि के लिए मार्ग साफ कर दिया। वी.वी. गिरि राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित हुए।

12 नवम्बर, 1967 को इंदिरा गांधी को प्रधानमंत्री पद पर रहते हुए पार्टी से निष्कासित कर दिया। इस प्रकार वे उन्हें प्रधानमंत्री पद से अपदस्थ करना चाहते थे। जो व्यक्ति पार्टी की सदस्यता से निष्कासित हो चुका हो, वह उस पार्टी की ओर से प्रधानमंत्री कैसे रह सकता था? इसके जवाब में इंदिरा गांधी ने कांग्रेस पार्टी को विभाजित कर दिया। उन्होंने अपनी कांग्रेस को कांग्रेस-आर (रिक्विसिशनिस्ट) करार दिया जबकि सिंडिकेट की कांग्रेस को कांग्रेस-ओ (ऑर्गेनाइजेशन) नाम प्राप्त हो गया जिसके अध्यक्ष राम सुभाग सिंह थे। इंदिरा गांधी के पास अब लोकसभा में बहुमत नहीं रह गया था, लेकिन डीएमके, अकाली दल और दो कम्युनिस्ट दलों के विषय आधारित समर्थन ने इंदिरा गांधी को सत्ता में बनाए रखा।

1971 के चुनावः इंदिरा गांधी की विजय

इंदिरा गांधी सिंडिकेट के प्रभाव से मुक्त होना चाहती थी और इसके लिए यह आवश्यक था कि वह पुनः जनादेश लें और नई पार्टी के अध्यक्ष के रूप में चुनाव सभा में जाएं। पार्टी और देश में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए इंदिरा गांधी ने लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव की घोषणा कर दी जिससे विपक्ष भौचक्का रह गया। इंदिरा गांधी 'गरीबी हटाओ' नारे के साथ चुनाव में उतरीं और धीरे-धीरे उनके पक्ष में चुनावी माहौल बनने लगा और कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हो गया। कुल 518 में से 352 सीटें कांग्रेस को प्राप्त हुईं। चुनाव के नतीजों ने यह साफ स्पष्ट कर दिया था कि जनता ने 'ग्रैंड अलायंस' (कांग्रेस (ओ), जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी का गठबंधन) नकार दिया था। अब केंद्र में इंदिरा गांधी की स्थिति बेहद मजबूत हो गई थी और वह स्वतंत्र फैसले करने के लिए आजाद थीं।

दिसंबर 1971 में पाकिस्तान पर भारत की विजय और तत्पश्चात् मुक्ति युद्ध में भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान से स्वतंत्र बांग्लादेश के निर्माण ने इंदिरा गांधी की छवि को एक नया आयाम दिया। मार्च 1972 में राज्य विधानसभा चुनावों में कांग्रेस (आर) कई राज्यों में सत्ता में आई। 1971 और 1972 के चुनावों ने वास्तविक रूप से कांग्रेस (ओ) और स्वतंत्र पार्टी को कांग्रेस (आर) के महत्वपूर्ण विरोधी होने की छवि को कमजोर कर दिया।

समस्याएं

इंदिरा गांधी के लिए जनता का उत्साह, हालांकि, 1973 तक फीका पड़ना शुरू हो गया था, जबकि सरकार ने कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की थीं। आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होने लगी थीं। युद्ध पर व्यय, देश के कुछ भागों में अकाल तथा 1973 में तेल संकट के कारण उच्च मुद्रास्फीति एक प्रमुख मुद्दा था। कमजोर मानसून के कारण खाद्यान्न का उत्पादन घट गया था, और निम्न कृषि संवृद्धि ने उद्योग पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला। जैसाकि विश्व में कच्चे तेल की कीमत बढ़ रही थी, भारत आयात की उच्च लागत से प्रभावित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप पेट्रोलियम उत्पादों की कीमतों और बेरोजगारी में वृद्धि हुई। हड़तालों का दौर जारी रहा, जिसमें से सबसे महत्वपूर्ण हड़ताल मई 1974 में अखिल भारतीय रेल हड़ताल थी। अधिकतर प्रभावशाली सामाजिक वर्गों ने धीरे-धीरे इंदिरा गांधी से दूरी बना ली। समृद्ध किसान भूमि सुधारों से नाराज थे, उद्योगपति व्यापक राष्ट्रीयकरण और समाजवादी नीतियों से असंतुष्ट था, और मध्य वर्ग कीमत वृद्धि से अत्यधिक प्रभावित हो रहा था तथा अधिकारियों और राजनेताओं के बीच बढ़ते भ्रष्टाचार से पीड़ित था। यह भी एक कारक था कि संजय गांधी, इंदिरा गांधी का दूसरा बेटा, को एक छोटी ईंधन दक्ष भारतीय कार के उत्पादन का उपक्रम सौंपा गया और उसे इसकी संविदा और विशिष्ट लाइसेंस प्रदान किया गया, यद्यपि उन्हें इस क्षेत्र का बेहद कम अनुभव था और इस कृत्य को अधिकतर लोगों द्वारा भाई-भतीजावाद के रूप में देखा गया।

जे.पी. आंदोलन

जरूरी चीजों की कीमतों में वृद्धि के विरुद्ध कई स्थानों पर, विशिष्ट रूप से गुजरात और बिहार में विरोध आंदोलन हुए।

दिसंबर 1973 और मार्च 1974 के बीच गुजरात में नव-निर्माण आंदोलन ही केंद्र सरकार के लिए राज्य में विधानसभा भंग करने के निर्णय हेतु काफी था। मुख्यमंत्री, चिमनभाई पटेल, को त्यागपत्र देना पड़ा और केंद्र ने गुजरात में राष्ट्रपति शासन लगा दिया।

बिहार में यह छात्र विरोध के तौर पर शुरू हुआ, लेकिन इसमें उच्च पदों पर भ्रष्टाचार के व्यापक मुद्दे पर जल्द ही जयप्रकाश नारायण (लोकप्रिय रूप से जे.पी. के नाम से प्रसिद्ध) शामिल हो गए। जे.पी. ने प्रचलित तंत्र के खिलाफ 'समग्र क्रांति'

इंदिरा गांधी और जे.पी.—क्या दोनों ही दोषी थे?

जे.पी. के नेतृत्व में विरोध प्रदर्शन तेजी से उपद्रवी होता जा रहा था और निश्चित रूप से सरकार के लिए कानून एवं व्यवस्था बनाए रखना एक मुद्दा बन गया था। यहां तक कि जे.पी. ने सेना और पुलिस को 'अवैध' आदेश मानने से इंकार करने को कहा। जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय आया, तो इंदिरा गांधी के इस्तीफे की मांग अधिक जोर पकड़ने लगी।

ऐसा प्रतीत हुआ कि जे.पी. गांधीवादी सिद्धांतों को भूल चुके थे जिन पर वे चले थे। उन्हें मार्च 1976 में होने वाले आम चुनावों की प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। यदि लोग असंतुष्ट थे तो वे इंदिरा गांधी और कांग्रेस को सत्ता से उखाड़ फेंकते। लेकिन जे.पी. और उनके सहयोगी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के पालन को भी इच्छुक नहीं थे और उन्होंने अंतिम निर्णय की भी प्रतीक्षा नहीं की।

26 जून, 1975 की संध्या को राष्ट्र को अपने संबोधन में इंदिरा गांधी ने कहा, ''लोकतंत्र के नाम पर, लोकतंत्र के जरूरी कामों को नकारा जा रहा था, वैध रूप से निर्वाचित सरकार को कार्य नहीं करने दिया जा रहा था, विरोधों ने वातावरण पर कब्जा कर लिया था जिससे हिंसक घटनाओं को बल मिल रहा था। कुछ लोग तो यहां तक कहने लगे कि सशस्त्र बलों को विद्रोह कर देना चाहिए, साथ ही पुलिस को भी विरोध एवं विद्रोह करना चाहिए। कैसे एक सरकार मूक बनी रह सकती है और देश की स्थिरता को नष्ट करने की अनुमति दे सकती है?''

इंदिरा गांधी, अपनी तरफ से अपने पिता के लोकतांत्रिक आदर्शों को भूल चुकी थीं या जानबूझकर नष्ट कर रहीं थीं। लेकिन तब, शायद वह सदैव थोड़ीं निरंकुश थीं, आखिरकार केरल की निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार को अपदस्थ करने में उनकी ही भूमिका थी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात्, वह गरिमापूर्ण रूप से त्यागपत्र दे सकती थीं, लोकसभा को भंग कर सकती थीं और समयपूर्ण आम चुनाव की घोषणा कर सकती थीं या चुनावों के लिए कुछ महीनों की प्रतीक्षा कर सकती थी। लेकिन वह सत्ता छोड़ने की इच्छुक नहीं थीं। बाद में उन्होंने दावा किया कि उनके त्यागपत्र से, उनके अनुसार, लोकतंत्र को खतरा पहुंचाने वाली शक्तियां मजबूत हो जातीं।

जैसाकि जो एल्डर, एक ब्रिटिश समाजशास्त्री, ने कहा कि, ''जे.पी. ने बिना अनुशासनपरक कैडर और अहिंसक स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं के जन-आंदोलन शुरू करके गलती की''। उनके आंदोलन की विश्वसनीयता को वामपंथियों की उग्रता ने चोट पहुंचाई। दूसरी ओर, प्रधानमंत्री ने आपातकाल लगाने में स्पष्ट रूप से सामान्य से अधिक प्रतिक्रिया की।

पी.एन. धर ने कहा कि, ''जब वह शुभ घड़ी आई, जे.पी. ने कानून को उसका काम नहीं करने दिया। चाहे वह इंदिरा गांधी के इरादों के प्रति उनका अविश्वास था, या

लोकतांत्रिक पद्धति में उनके स्वयं के विश्वास में कमी थी, या उनकी इतिहास में राजनीतिक मसीहा बनने की महत्वाकांक्षा थी। इसी प्रकार, इंदिरा गांधी ने अपने विरोधियों को अपनी योग्यता से राजनीति में सृजनात्मक रूप से शामिल करने या राजनीतिक रूप से उनका सामना करने की अपेक्षा उनका दमन करने में अधिक विश्वास दिखाया। चाहे उन्होंने सत्ता खोने से स्वयं को बचाने के लिए आपातकाल लागू किया था देश को फिर से संतुलित करने के लिए एक आघातोपचार के रूप में इसका प्रयोग किया। तथा यह है कि जे.पी. और इंदिरा गांधी दोनों ने, उस समय दोनों के बीच भारत की राजनीति ध्रुवीकृत थी, लोकतंत्र को चोट पहुंचाई और कानून के शासन में अपने अविश्वास को प्रकट किया।''

का आह्वान किया जिसने लोगों को भ्रष्ट होने के लिए मजबूर किया। उन्होंने मांग की कि बिहार में कांग्रेस सरकार त्यागपत्र दे और विधानसभा भंग कर दी जाए। लोगों को विधानसभा और कार्यालयों का घेराव करने को कहा गया और करों की अदायगी करने से मना किया गया। दूसरे शब्दों में, सरकारी कामकाज को बाधित किया गया। जयप्रकाश नारायण ने इंदिरा गांधी सरकार, जिसे एक भ्रष्ट एवं अलोकतांत्रिक सरकार के रूप में प्रस्तुत किया गया था, को हटाने के उद्देश्य से विरोध में देश के अन्य क्षेत्रों के लोगों को शामिल करने के लिए बिहार से बाहर जाकर प्रयास किया। जे.पी. के आह्वान पर उत्तर भारत के कई हिस्सों में लोग उत्साहित हो उठे। इसके अतिरिक्त, गैर-वामपंथी दलों ने भी जे.पी. का साथ दिया। आंदोलन, हालांकि, 1974 के अंत तक धीमा पड़ गया। इंदिरा गांधी ने जय प्रकाश नारायण को चुनौती दी कि वे कांग्रेस के विरुद्ध अपने समूह की शक्ति को 1976 के चुनावों में दिखाएं और जे.पी. ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। हालांकि, मुकाबले के लोकतांत्रिक रूप से होने से पहले स्थितियां तेजी से बदल गईं।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय और आपातकाल लगाया जाना

राजनारायण (जो बार-बार रायबरेली संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से लड़ते और हारते रहे थे) द्वारा दायर एक चुनाव याचिका में कथित तौर पर भ्रष्टाचार आरोपों के आधार पर 12 जून, 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सिन्हा ने 1971 के चुनावों में गड़बड़ी करने पर इंदिरा गांधी के लोक सभा चुनाव को रद्द कर दिया। इस प्रकार अदालत ने उन्हें संसद का पद छोड़ने का आदेश दिया और छह वर्षों के लिए चुनाव में भाग लेने पर प्रतिबंध का आदेश दिया। प्रधानमंत्री पद पर रहने के लिए लोकसभा या राज्यसभा का सदस्य होना अनिवार्य है। इस प्रकार उन्हें प्रभावी रूप से कार्यालय से पदमुक्त कर दिया गया। इस फैसले के विरुद्ध उन्हें अपील करने का समय दिया गया था। ऐसे में इंदिरा गांधी ने फैसले के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील

की और न्यायालय ने सुनवाई के लिए 14 जुलाई, 1975 का दिन सुनिश्चित किया। जे.पी. और विरोधी दल एकजुट होकर इंदिरा गांधी से नैतिकता की दुहाई देकर इस्तीफा देने की मांग करने लगे। इस बीच 24 जून, 1975 को मामले की संवैधानिक व्यवस्था करते हुए छुट्टी पर गए न्यायाधीश, वी.आर. कृष्ण अय्यर, ने कहा कि सुनवाई होने तक इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री पद पर रह सकती हैं और संसद में बोल भी सकती हैं लेकिन उन्हें मतदान का कोई अधिकार नहीं होगा। विरोधी दलों द्वारा 29 जून, 1975 को देशव्यापी विरोध का आह्वान किया गया और सविनय अवज्ञा शुरू करने की घोषणा की गई।

इंदिरा गांधी ने व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के पदक्षेप स्वरूप, अशांति फैलाने वाले अधिकतर विरोधियों की गिरफ्तारी के आदेश दिए। तदोपरांत उनके मंत्रिमण्डल और सरकार द्वारा इस बात की सिफारिश की गई कि राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के बाद फैली अव्यवस्था और अराजकता को देखते हुए आपातकालीन स्थिति की घोषणा करें। तदनुसार, राष्ट्रपति ने आंतरिक अव्यवस्था के दृष्टिगत् 25 जून, 1975 को संविधान की धारा 352 के प्रावधानानुसार आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी।

आपातकाल की स्थिति (1975-1977)

ऑल इंडिया रेडियो पर प्रसारित अपने राष्ट्र के संबोधन में इंदिरा गांधी ने कहा कि, ''राष्ट्रपति ने आपातकाल की घोषणा कर दी है। इसमें भयभीत होने की बात नहीं है। मुझे विश्वास है कि आप व्यापक एवं गहरे षड्यंत्र से अवगत हैं जिसके लिए हम हमेशा से तैयार हैं और जिस कारण से मैं भारत के आम पुरुष और महिला के लाभ के लिए कुछ प्रगतिशील कदम उठाने जा रही हूं।''

जल्द ही गुजरात और तमिलनाडु, दो राज्य जहां कांग्रेस से हटकर दूसरी पार्टियां सत्ता में थीं, में राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया। इस प्रकार, पूरा देश सीधे केन्द्रीय कानून या कांग्रेस शासन के तहत् आ गया। आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग उन मुख्यमंत्रियों को हटाने के लिए किया गया जो इंदिरा गांधी का विरोध कर सकते थे और उनकी जगह अपने विश्वस्त लोगों को लाया गया। सभी लम्बित विधानसभा चुनावों को अनिश्चितकाल के लिए टाल दिया गया।

अधिकांश विपक्षी नेताओं—जयप्रकाश नारायण, अटल बिहारी वाजपेयी, एल.के. आडवाणी, मोरारजी देसाई, चरण सिंह, अशोक मेहता—और कुछ कांग्रेसी असंतुष्टों जैसे चंद्रशेखर, कई पत्रकारों (अजित भट्टाचर्जी और कुलदीप नैयर), व्यापार संघों के नेताओं, छात्र नेताओं और शिक्षाविदों को आंतरिक सुरक्षा प्रबंधन अधिनियम (मीसा-MISA) के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिया गया। आनंद मार्ग, आरएसएस, जमात-ए-इस्लामी, सीपीआई (एमएल) जैसे उग्र विचारधाराओं वाले कई संगठनों को प्रतिबंधित कर दिया गया।

आपातकाल के परिणामस्वरूप, जुलाई 1975 में आंतरिक सुरक्षा प्रबंधन अधिनियम (MISA) और भारत सुरक्षा अधिनियम में संशोधनों के साथ मूल अधिकारों को निलम्बित कर दिया गया और नागरिक स्वतंत्रताओं में कटौती की गई। संसद, व्यावहारिक रूप से, अप्रभावी हो गई, जैसाकि मामलों पर चर्चा करने के लिए कोई प्रभावशाली विपक्ष नहीं रह गया था। न्यायपालिका की शक्तियों में कमी करने के लिए कई डिक्रियां, कानून और यहां तक कि संवैधानिक संशोधन किए गए और घोषणा की गई कि संविधान संशोधन की संसद की शक्ति असीमित है। इस संदर्भ में, 42वां संशोधन स्मरणीय है।

आपातकाल लगते ही अखबारों पर सेंसर बैठा दिया गया था। सेंसरशिप के अतिरिक्त अखबारों और समाचार एजेंसियों को नियंत्रित करने के लिए सरकार ने नया कानून बनाया। इसके माध्यम से आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन पर रोक लगाने की व्यवस्था की गई। सरकार ने चारों समाचार एजेंसियों—पीटीआई, यूएनआई, हिंदुस्तान समाचार और समाचार भारती को समाप्त करके उन्हें 'समाचार' नामक एजेंसी में विलीन कर दिया। अंग्रेजी दैनिक 'इंडियन एक्सप्रेस' का प्रकाशन रोकने के लिए बिजली के तार काट दिए गए। सबसे ज्यादा तंग इंडियन एक्सप्रेस और स्टेट्समैन अखबार को किया गया।

आपातकाल के दौरान आर्थिक नीति में मनचाहा परिवर्तन किया गया और श्रमिकों के बुनियादी अधिकारों को कम कर दिया गया। नागरिकों के साथ जो दुर्व्यवहार, अन्याय और अत्याचार किया गया उसमें नागरिक अधिकारों की रक्षा करने वाले वकीलों को भी नहीं बख्शा गया। परिवार नियोजन के लिए अध्यापकों और छोटे कर्मचारियों पर सख्ती की गई। लोगों का जबरदस्ती परिवार नियोजन भी किया गया। परिवार नियोजन और दिल्ली के सौंदर्यीकरण के नाम पर अल्पसंख्यकों का काफी उत्पीड़न किया गया। दिल्ली में सैकड़ों घरों को बुलडोजरों की मदद से जबरन तोड़कर वहां रह रहे लोगों को शहर से दूर (15-20 किमी.) भेज दिया गया।

आपातकाल में अफसरशाही और पुलिस को जो अनियंत्रित अधिकार प्राप्त हुए उनका बड़े पैमाने पर दुरुपयोग किया गया। हालांकि प्रचार था कि इमरजेंसी के दौरान भ्रष्टाचार कम हुआ, लेकिन दो-तीन महीने बाद हालात अधिक खराब हो गए। सत्ता के शीर्ष पर बैठे संजय गांधी के साथी भ्रष्टाचार में लिप्त थे। संजय गांधी ने मारूति के नाम पर काफी रुपया जमा किया और काफी अनियमितताएं बरती गईं। इस प्रकार, आपातकाल के दौरान सरकार ने जीवन के हर क्षेत्र में आतंक का माहौल पैदा कर दिया था।

आपातकाल का समर्थनः आपातकाल लगाए जाने का सभी ने पूरी तरह विरोध एवं निंदा नहीं की। वास्तव में, यह विचारणीय है कि ऐसे जन-आंदोलन को नियंत्रित कर लिया गया और जे.पी. को गिरफ्तार कर लिया गया। किसी भी प्रकार का

स्वाभाविक प्रदर्शन नहीं हुआ। स्पष्ट रूप से, जे.पी. आंदोलन को पूरे सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य में लोगों का समर्थन प्राप्त नहीं था।

शुरुआत में मध्य वर्ग ने आपातकाल का स्वागत किया। वे विरोध-प्रदर्शन के माहौल से तंग आ चुके थे और वे सभी अनुशासन के पक्ष में थे और कीमत वृद्धि पर नियंत्रण चाहते थे। आपातकाल के पश्चात्, निश्चित रूप से कानून-व्यवस्था में सुधार आया, और शांति महसूस की गई, जिसका स्वागत किया गया। 'MISA' का इस्तेमाल अवैध तस्करी करने वालों, जमाखोरों और कालाबाजारियों को पकड़ने के लिए किया गया। हड़तालों के दमन को भी लोगों की स्वीकृति मिली।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा ने जनसंख्या के निर्धन और ग्रामीण वर्गों को भी उत्साहित किया। शुरुआत में अर्थव्यवस्था में भी सुधार हुआ, लेकिन इसका मुख्य कारण अच्छा मानसून था। और, समग्र तौर पर, लोगों ने समझा कि आपातकाल लगाया जाना देश को प्रगति के पथ पर फिर से लाने के लिए एक अस्थायी कदम था।

यहां तक कि कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष देव कांत बरुआ द्वारा 1976 में इंदिरा गांधी की चापलूसी भरी प्रशंसा में कहा कि, ''भारत इंदिरा है, और इंदिरा भारत है'' समस्त जनमानस ने स्वीकार नहीं किया। फिर भी, कई सुप्रसिद्ध व्यक्तियों ने शुरुआत में उनके कदम का समर्थन किया।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भी आपातकाल का पूरा समर्थन किया, लेकिन बाद में पार्टी को अपने इस निर्णय पर अफसोस हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने, यद्यपि, इसका विरोध किया, और उसके कुछ सदस्यों को जेल में डाल दिया गया।

आचार्य विनोबा भावे ने आपातकाल को 'अनुशासन पर्व' कहकर इसका समर्थन किया था। मदर टेरेसा ने भी इंदिरा गांधी के कदम को देश में शांति और अमन-चैन लाने वाला कहा और इसका समर्थन किया।

सुप्रसिद्ध पत्रकार खुशवंत सिंह ने शुरुआत में, आश्चर्यजनक रूप से, आपातकाल का समर्थन किया था, जैसाकि उनका विश्वास था कि जे.पी. आंदोलन देश में अराजकता को प्रवृत्त करता। बाद में आपातकाल को लेकर उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया, विशिष्ट रूप से, आपातकाल की आड़ में होने वाली हिंसा एवं नृशंसता के परिप्रेक्ष्य में।

जन असंतोष में वृद्धिः वर्ष 1976 के मध्य तक, लोकप्रिय स्वभाव में परिवर्तन आ चुका था। चारों तरफ असंतोष का माहौल था, जैसाकि आर्थिक सुधारों को बनाए नहीं रखा जा सका, अपराधी फिर से सक्रिय हो चुके थे, और जनकल्याण कार्यक्रमों में इतनी गति नहीं थी कि वे निर्धनों को खुश कर सकें। साथ ही भ्रष्टाचारी एवं कलंकित नौकरशाही और चापलूस तथा शोषणकारी नेताओं ने मिलकर बेतहाशा भ्रष्टाचार किया और वह इन कार्यक्रमों का नेतृत्व कर रहे थे जिससे इनका प्रभाव शून्य रहा। सख्त एवं कठोर अनुशासन सरकारी अधिकारियों के स्तर पर दृष्टिगोचर नहीं

हुआ और अध्यापकगण भी लोगों की नसबंदी के लक्ष्य को पूरा करने के लिए बाध्य किए जाने को लेकर असंतुष्ट एवं रोष में थे। पुलिस और नौकरशाही को अत्यधिक शक्ति दी गई, जिसका उन्होंने दुरुपयोग किया। इससे बढ़कर, भय एवं असुरक्षा के वातावरण ने लोगों में गुस्सा एवं असंतोष उत्पन्न किया, लेकिन इन भावनाओं को फूटने का रास्ता नहीं मिला, क्योंकि विरोध समाप्त हो चुका था और यहां तक कि भ्रष्टाचारी और दमनकारी अधिकारियों के खिलाफ शिकायतों के निपटान का कोई वैकल्पिक मार्ग नहीं था।

संजय गांधी की बिना जिम्मेदारी की बढ़ती शक्ति ने बेतहाशा निराशा और गुस्से को जन्म दिया, न केवल बुद्धिजीवियों के बीच, जो लोकतांत्रिक मूल्यों के ह्रास से भयभीत थे, अपितु अधिकाधिक आमजन के बीच भी फैला, जिन्हें अपने घरों के गिराए जाने और बलपूर्वक नसबंदी का दंश झेलना पड़ रहा था। आश्यचर्यजनक रूप से, उनके द्वारा (संजय गांधी) उठाए गए कदम बुरे नहीं थे, जिनकी उन्होंने वकालत की, जैसे दहेज प्रथा का उन्मूलन, वृक्षारोपण और शहरी सौंदयीकरण, साक्षरता को प्रोत्साहन और परिवार के आकार को सीमित करना। लेकिन इन कदमों को क्रियान्वित करने के कठोर एवं असंवेदनशील तरीके ने लोगों को बेहद दुखी एवं आश्चर्यचकित किया। अधिकारियों की मनमानी एवं सत्ता का दुरुपयोग, सीधे रूप से संजय गांधी के निर्देशन में, अनियंत्रित हो गया था। प्रभावी प्रेस के अभाव में सही खबर लोगों तक नहीं

पहुंच पा रही थी। आपातकाल की ज्यादतियां एवं नृशंसता बड़े पैमाने पर दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक हुईं। इसकी प्रतिक्रिया 1977 के चुनावों में परिलक्षित हुई।

सिंहावलोकन में स्पष्ट होता है कि, आपातकाल स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास में एक अंधकारमय काल था। दो वर्षों का लम्बा समय संभवतः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक उदय में भी एक बेहद महत्वपूर्ण समय था।

1977 के चुनाव

आपातकाल को दो बार विस्तारित किया गया, और फिर बेहद अनापेक्षित रूप से इंदिरा गांधी ने चुनावों की घोषणा की। अभिव्यक्ति की आजादी पर रोक लगाना एक बड़ी गलती थी। क्योंकि यदि प्रेस पर प्रतिबंध नहीं होता तो जनता के सामने यह सत्य प्रकट होता कि आपातकाल लगाए जाने के पीछे क्या कारण थे। जनता की प्रतिक्रिया भी इंदिरा गांधी तक नहीं पहुंच रही थी। इस काल के दौरान ऐसी घटनाएं भी घटीं जो

विचार

"लोकतंत्र न केवल साधारण व्यक्ति को ऊपर उठाता है अपितु अधिकांश स्वरों को भी शक्ति प्रदान करता है, फिर वे कितने ही अज्ञानी और नासमझ हों।"

–इंदिरा गांधी

बेहद शर्मनाक थीं। इंदिरा गांधी तक जो खबरें आ रही थीं, उनसे उन्हें यह लगा कि यदि चुनाव कराए जाएं तो उन्हें विजयश्री अवश्य प्राप्त होगी।

इंदिरा गांधी ने 18 जनवरी, 1977 में लोकसभा चुनावों की घोषणा की। इसके साथ ही राजनैतिक कैदियों की रिहाई हो गई। मीडिया की स्वतंत्रता बहाल हो गई। राजनीतिक सभाओं और चुनाव प्रचार की आजादी दे दी गई।

विपक्ष का एकजुट होनाः इंदिरा गांधी ने स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं किया था। जिन नेताओं को आपातकाल के दौरान बंदी बनाया गया था, उन्होंने रिहा होने के बाद जेल में भुगती ज्यादतियों और अत्याचारों का विवरण जनता को दिया। जनता ने भी आपातकाल की पीड़ा झेली थी। उधर विपक्ष अधिक सशक्त होकर सामने आ गया। जनसंघ, कांग्रेस-ओ, समाजवादी पार्टी और लोकदल ने मिलकर एक नई पार्टी का गठन किया जिसका नाम जनता पार्टी रखा गया। इस पार्टी को अकाली दल, डीएमके तथा साम्यवादी पार्टी (मार्क्सवादी) का भी सहयोग प्राप्त हुआ। इंदिरा जी के सहयोगी जगजीवन राम विरोधियों से जा मिले। इनका दलित और हरिजन वर्ग पर काफी प्रभाव था। नंदिनी सत्पथी और हेमवती नंदन बहुगुणा भी कांग्रेस का साथ छोड़ गए और उन्होंने अपनी नई पार्टी 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी (सीएफडी) बनाई। चुनावों के बाद, इसका विलय जनता पार्टी में हो गया।

एक ऐतिहासिक चुनावः जनता गठबंधन ने आपातकाल के अत्याचारों का जनता में प्रचार किया और नागरिक स्वतंत्रता को अपने चुनाव अभियान का बड़ा मुद्दा बनाया। 16 मार्च, 1977 को लोकसभा चुनाव संपन्न हुए। देश की जनता ने आपातकाल की ज्यादतियों के विरोध में इंदिरा गांधी के खिलाफ मतदान किया। चुनाव प्रचार के दौरान इंदिरा गांधी ने हवा का रुख पहचान लिया था। वह जनता गठबंधन से बुरी तरह हार गई थी। लंबे समय से उनके प्रतिद्वंदी रहे देसाई के नेतृत्व और जय प्रकाश नारायण के आध्यात्मिक मार्गदर्शन में जनता दल ने भारत के पास ''लोकतंत्र और तानाशाही'' के बीच चुनाव का आखिरी मौका दर्शाते हुए चुनाव जीत लिए। कांग्रेस पार्टी सत्ता से बाहर हो गई। जनता पार्टी और उनके सहयोगी दलों को 542 में से 330 सीटें प्राप्त हुईं। इंदिरा गांधी की पार्टी मात्र 154 स्थानों पर ही विजय प्राप्त कर सकी। इंदिरा और संजय गांधी दोनों ने अपनी सीट खो दीं। उत्तर भारत में इंदिरा गांधी की कांग्रेस का प्रदर्शन बेहद निराशाजनक था। सात राज्यों की 234 सीटों में से इंदिरा की कांग्रेस को मात्र 2 सीटें ही प्राप्त हो सकीं। दक्षिण भारत की स्थिति इंदिरा गांधी के अनुकूल थी। यहां आपातकाल में ज्यादतियां भी नहीं हुई थीं। दक्षिण भारत के राज्यों को आपातकाल के दौरान लागू हुए बीस सूत्रीय कार्यक्रमों से काफी लाभ भी हुआ था। 1971 के चुनाव की तुलना में इस बार वहां 22 सीटें अधिक मिलीं और आंकड़ा 70 से बढ़कर 92 हो गया।

चुनावों से पूर्व, भारत के कई राजनीतिक विश्लेषक निराश हो चुके थे कि देश में लोकतंत्र का कोई स्थान नहीं है, जहां अधिकतर लोग निरक्षर और लोकतांत्रिक मूल्यों

के प्रति अनभिज्ञ थे। उन्होंने पूर्वानुमान लगाया कि आपातकाल के साथ, सच्चे अर्थों में, भारत में लोकतंत्र समाप्त हो जाएगा। लेकिन चुनावों ने सिद्ध किया कि भारतीय लोग समझदार थे और उन्होंने बेहतरी के लिए अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया। निर्धन लोगों ने भी नागरिक अधिकारों के मूल्य को समझा। चुनावों ने, जिसने स्वतंत्रता के समय से पहली बार केंद्र में गैर-कांग्रेसी सरकार की ताजपोशी की, दिखा दिया कि देश में लोकतंत्र गहरे रूप से समाया हुआ था।

21 मार्च, 1977 को आपातकाल समाप्त हो गया।

राजनीतिक व्यवस्था में प्रगति

चुनावों ने विगत् समय के दौरान स्पष्ट किया है कि मतदाता में किस प्रकार परिवर्तन हुआ। 1967 और 1971 के दौरान निर्वाचन गड़बड़ियों में बढ़ोतरी हुई। मतपेटियों की लूट और बोगस मतदान आम बात हो गई थी। चुनाव आयोग ने महसूस किया कि जातिवाद, जोकि बेहद महत्वपूर्ण बन गया था, विशेष रूप से बिहार में, ''ने बड़े पैमाने पर राजनीतिक माहौल को दूषित किया''। यह विशेषता, व्यावहारिक रूप में, देश के मतदान व्यवहार में दृढ़ हो गई थी।

कांग्रेस में परिवर्तन

1971 के चुनाव—भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् पांचवां आम चुनाव—अपने तय समय से पूर्व कराए गए, इस प्रकार राष्ट्रीय चुनावों और राज्य विधानसभाओं के चुनावों को एक साथ कराए जाने का तालमेल बिगड़ गया (जोकि अभी तक साथ-साथ हो रहे थे)। इन चुनावों में विजय प्राप्ति के पश्चात्, इंदिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस (आर) अब कांग्रेस (आई) बन गई और जल्द ही यह भी परिवर्तित करके केवल कांग्रेस बन गई। उनके गुट की विजय से यह सुनिश्चित हो गया कि उनकी कांग्रेस ही वास्तविक थी। अब से, कांग्रेस के भीतर लोकतंत्र का दिन-प्रतिदिन ह्रास होने लगा।

आपातकाल का चिरस्थायी प्रभाव कांग्रेस पार्टी के बाद की कार्यशैली में भी महसूस किया गया। 1976 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (एआईसीसी) के गुवाहाटी सत्र में, चापलूसी को महत्वपूर्ण राजनीतिक आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत किया गया। वास्तव में, चापलूसी को संस्थागत किया गया और वंशागत राजनीति का मार्ग तैयार किया गया। गुवाहाटी सत्र ने राजनीति में संजय गांधी के पदार्पण को चिन्हित किया और ऐसा कहा गया कि यूथ कांग्रेस ने संजय गांधी को राज सिंहासन के उत्तराधिकारी के लिए ठोस शक्ति प्रदान की। संजय गांधी की मृत्यु के बाद उत्पन्न खाली जगह में, यहां तक कि अनिच्छुक रूप से, राजीव गांधी का प्रवेश हुआ।

क्षेत्रीय हितों में वृद्धि

क्षेत्रीय हितों में वृद्धि हुई और यह देश के कई हिस्सों में होने लगा। राज्यों के स्तर पर, 1967 के चुनावों के पश्चात् कांग्रेस को कई राज्यों में सत्ता गंवानी पड़ी। संयुक्त

विधायक दल (एसवीडी)—जनसंघ, समाजवादियों, स्वतंत्र पार्टी, और कांग्रेस से अलग गुटों से मिलकर बनी—ने उत्तरी राज्यों में सरकार बनाई। एसवीडी के उत्थान को निचली जातियों की राजनीतिक चेतना का परिणाम माना गया, जो भूमि सुधारों से लाभान्वित हुए, लेकिन उन्हें राजनीतिक प्रभाव हासिल नहीं हुआ। इनमें से अधिकतर जातियों को मध्यवर्ती स्थिति प्राप्त थी, जो ब्राह्मण से नीचे और निचली जातियों से ऊपर थीं, और उन्होंने अपने सम्बद्ध क्षेत्रों में प्रभुत्व समूह बनाए। संयोगवश, राजनीति बढ़ते दल-बदल की राजनीति से प्रभावित हुई।

दक्षिण भारत में, विशिष्ट रूप से मद्रास राज्य (बाद में तमिलनाडु), उत्तर-दक्षिण विभाजन पैर पसारने लगा। यह महसूस किया जाने लगा कि उत्तर भारत दक्षिण भारत का शोषण करने और उस पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास कर रहा था। ब्राह्मणवाद, वास्तव में, को इस शोषण के माध्यम के रूप में देखा जाने लगा और माना जाने लगा कि यह चलन उत्तर भारत से आया है। मुख्यतः भाषा झगड़े की जड़ बन गई। दक्षिण भारत, विशेष रूप से मद्रास, ने समझा कि उन पर हिंदी एक राजकीय भाषा के रूप में थोपी जा सकती है। जबकि देश के प्रदेशों में अंग्रेजी का ज्ञान थोड़ा या अधिक व्याप्त है, हिंदी के आरोपण से हिंदी भाषी क्षेत्रों के लोगों को शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्रों में अत्यधिक लाभ होगा।

हिंदी, अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषा को सीखने के लिए एक त्रिभाषा फॉर्मूला लाया गया। इसे लेकर तमिल भाषी लोगों ने असंतोष जताया कि उन्हें सभी तीन भाषाओं में दक्षता हासिल करनी पड़ेगी, जबकि उत्तर भारत के लोगों को अपनी मातृभाषा के कारण अधिक कठिनाई नहीं होगी। दक्षिण भारत की इस मांग की कि उत्तर भारत के राज्यों के लिए त्रिभाषा नीति में दक्षिणी भाषा को भी शामिल किया जाए, सामान्यतः उपेक्षा की गई। केरल, मैसूर राज्य (बाद में कर्नाटक) और आंध्र प्रदेश ने त्रिभाषा फॉर्मूला को स्वीकार कर लिया। उत्तरी राज्यों को कहा गया कि वे या तो त्रिभाषा फार्मूला अस्वीकार कर दें, या यदि वे इसे अपनाते हैं तो, उनके लिए दक्षिणी भाषा के स्थान पर संस्कृत चुनने का विकल्प होगा, अतः फॉर्मूला का कोई अर्थ नहीं रह गया। इस मामले की पृष्ठभूमि में द्रविड़ पार्टियों ने खूब प्रसिद्धि बटोरी।

क्षेत्र की मध्यवर्ती जातियों से बनी और विचार में ब्राह्मण विरोधी, द्रविड़ मुनेत्र कझगम (डीएमके) ने मद्रास में सत्ता हासिल की। यह 1967 के चुनाव में राज्य में भारी बहुमत के साथ सत्ता में आई और वहां सी.एन. अन्नादुराई के नेतृत्व में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार बनाई। तब से, राज्य में अधिकतर चुनावों में सत्ता में या तो डीएमके या ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कझगम (एआईएडीएमके), जो एम.जी. रामचंद्रन के नेतृत्व में डीएमके से अलग होने वाले गुट द्वारा बनाई गई थी, आई।

केरल में, कांग्रेस हार गई। सरकार बनाने के लिए सीपीआई और सीपीएम एकजुट हुए और ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद को एक बार फिर मुख्यमंत्री बनाया गया।

1969 के चुनाव के बाद पश्चिम बंगाल में, कांग्रेस सत्ता से बाहर हो गई, और सीपीएम और बांग्ला कांग्रेस द्वारा गठबंधन सरकार बनाई गई। बांग्ला कांग्रेस के अजॉय मुखर्जी मुख्यमंत्री और सीपीएम के ज्योति बसु गृह मंत्री बनाए गए। गठबंधन में मुश्किलें पैदा होने लगीं और राज्य सरकार की केंद्र के साथ भी मुश्किलें बढ़ने लगीं। उनके नक्सलवादियों के साथ भी मतभेद उत्पन्न हो गए, मुख्यतः कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के साथ। संक्षेप में, चारू मजूमदार के नेतृत्व में 1969 में सीपी (एमएल) का गठन किया गया। इसमें वे विद्रोही शामिल हुए जिन्होंने यह कहकर सीपीएम को छोड़ दिया कि 'क्रांति' को धोखा दिया गया है। यह क्रांति नक्सलवादी क्षेत्र, जिसकी सीमा नेपाल और पाकिस्तान (उस समय पूर्वी पाकिस्तान, जो अब बांग्लादेश है) से लगती थी, में हुई थी, जहां भूमिपतियों/जमींदारों, जिन्होंने काश्तकारों को उनकी भूमि से बाहर कर दिया था, के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन के लिए सीपीएम के कानू सान्याल द्वारा 1967 के आस-पास ग्रामीण निर्धनों को एकजुट किया गया। यह विरोध जल्द ही हिंसक हो उठा, जिसमें कुछ जमींदारों के सिर काट दिए गए। इस स्थान के नाम पर ही उन लोगों को 'नक्सलवादी' कहा जाने लगा जो शोषित लोगों के हितों की रक्षा करने के लिए राज्य के खिलाफ हिंसक विरोध एवं कार्रवाई करने लगे। अब सीपी (एमएल) ने सरकार के एजेंट के रूप में विरोधी कम्युनिस्ट और शहरी क्षेत्रों में पुलिस पर भी हमला करना शुरू कर दिया। पुलिस ने बदले में दमनकारी कार्रवाई की। उन्होंने प्रेरणा के लिए चीन और माओवाद की ओर देखा। अंततः सरकार द्वारा इनका सफलतापूर्वक दमन कर दिया गया, यद्यपि वे अभी भी देश के कुछ क्षेत्रों में निरंतर सक्रिय हैं। आंध्र प्रदेश में, तेलंगाना राज्य बनाए जाने की मांग उठने लगी जिसकी राजधानी हैदराबाद होगी। नक्सलवादियों ने यहां भी खुद को ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित कर लिया।

महाराष्ट्र के, मुम्बई में बाला साहेब ठाकरे, एक कार्टूनिस्ट, ने 1966 में एक नई पार्टी शिव सेना की स्थापना की। इस पार्टी ने जोरदार तरीके से मांग की कि बॉम्बे मराठियों के लिए है और वहां रह रहे दक्षिण भारतीयों को निशाना बनाया जो, उनके मुताबिक, वहां (महाराष्ट्र) के मूल निवासियों की नौकरियां हड़प रहे थे। यहां तक कि दक्षिण भारतीयों के घरों पर हमले भी किए गए और उनके द्वारा चलाए जाने वाले वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों पर भी हमला किया गया। 'महाराष्ट्र मराठियों के लिए' की नीति का कई मराठियों ने समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप बॉम्बे म्युनिसिपल चुनावों में कांग्रेस के बाद शिव सेना का स्थान था।

सीमावर्ती क्षेत्रों में भी अधिक स्वायतत्ता की मांग उठने लगी। 1967 में कश्मीर में चुनाव हुए, जो पूरी तरह गड़बड़ी से हुए, जिसमें कांग्रेस के उम्मीदवारों को बिना विरोध के निर्वाचित कर लिया गया और अन्य उम्मीदवारों के नामांकन पत्रों को रद्द कर दिया गया। शेख अब्दुल्ला, जिन्हें कुछ समय के लिए नजरबंद कर लिया गया था,

को छोड़ दिया गया। भारत की तुलना में कश्मीर की स्थिति को लेकर उनका नजरिया मिले-जुले भाव वाला रहा, लेकिन कुछ रिपोर्ट के अनुसार, वह पहले की तुलना में कश्मीर के भारत पर हमले के विचार के प्रति अधिक तैयार थे। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के पश्चात्, दक्षिण एशिया में नवीन व्यवस्था ने स्पष्ट किया कि कश्मीर के ऊपर भारत का नियंत्रण अधिक मजबूत हो चुका था। शेख अब्दुल्ला का केंद्र को लेकर अधिक मैत्रीपूर्ण रवैया हो चुका था, और इंदिरा गांधी उनके साथ संवाद करने को तैयार थी। वह इस बात पर सहमत हुए कि वह कश्मीर के लिए अलग होने का मुद्दा नहीं उठाएंगे लेकिन भारतीय संघ के भीतर अधिक स्वायतत्ता की मांग तक स्वयं को सीमित रखेंगे। वह जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री और नेशनल कांग्रेस के नेता बने। कश्मीर में सापेक्षिक शांति बहाल हुई और, 1975 में, इंदिरा गांधी ने जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत का अंग घोषित किया।

1966 में इंदिरा गांधी ने अकालियों की इस मांग को स्वीकार किया कि भाषायी तर्ज पर पंजाब का पुनर्गठन हो। जिसके परिणामस्वरूप, पंजाब के दक्षिणी हिस्से, जहां मुख्यतः हिंदी बोली जाती थी, को हरियाणा राज्य के रूप में पृथक किया गया। उसी समय, उत्तर-पूर्वी पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों को हिमाचल प्रदेश में मिला लिया गया। हालांकि, चंडीगढ़ की स्थिति को लेकर विवाद बना रहा, जिसे अकाली दल केवल पंजाब की राजधानी बनाना चाहते थे। चंडीगढ़ को संघ क्षेत्र घोषित कर दिया गया और इसे पंजाब और हरियाणा दोनों राज्यों की राजधानी बनाया गया। यद्यपि चंडीगढ़ की स्थिति को लेकर विरोध-प्रदर्शन 1968 और 1969 में जारी रहे और दर्शन सिंह फेरूमल, एक प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी, ने मृत्युपर्यन्त उपवास किया। प्रारंभिक रूप से की गई अस्थायी व्यवस्था अनिश्चित समय के लिए जारी कर दी गई।

भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र का एक रणनीतिक महत्व है। लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट (एमएनएफ) के साथ मिलकर वृहत मिजोरम की संप्रभु स्वतंत्रता की मांग करते हुए मिजो लोगों ने 1966 में भारत सरकार के विरुद्ध विद्रोह छेड़ दिया। इंदिरा गांधी को विद्रोहियों को तितर-बितर करने के लिए सेना का प्रयोग करना पड़ा। वायु सेना ने आईजॉल में हमले किए। यह पहली और आखिरी बार था कि भारतीय वायु सेना का भारतीय क्षेत्र में इस प्रकार प्रयोग किया गया। 1971 के युद्ध में विजय के साथ, मिजो अलगाववादी आंदोलन धीमा पड़ गया। मिजो नेताओं के साथ बातचीत करते हुए, जुलाई 1971 में केंद्र सरकार ने मिजो हिल्स को संघ क्षेत्र का दर्जा देने का प्रस्ताव रखा। मिजो नेताओं ने यह प्रस्ताव इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि जल्द ही संघ क्षेत्र दर्जे को राज्य के दर्जे में परिवर्तित कर दिया जाएगा। जनवरी 1972 में, मिजोरम संघ क्षेत्र अस्तित्व में आया (बाद में, राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में, मिजोरम 1987 में पूर्ण राज्य बना)। नागालैंड में भी विद्रोह हुआ। स्वतंत्रता के समय नागालैंड असम का एक हिस्सा था, लेकिन 1963 में यह भारत का एक राज्य बना

लेकिन राज्य में कुछ उग्रपंथियों ने भारत से बाहर एक अलग पहचान की मांग की अर्थात् उसने भारत से अलग होने की बात कही। आंदोलन के नेतृत्वकर्ता रेडिकल्स चीन से प्रशिक्षण एवं सहायता लेने को तैयार थे। नागा विद्रोहियों और भारतीय सेना के बीच हिंसक झड़प हुई। इंदिरा गांधी ने दृढ़ता के साथ स्थिति का सामना किया, विशेष रूप से आपातकाल के दौरान। मार्च 1975 में, राज्य (नागालैंड) में राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया। नवम्बर 1975 में हुए शिलांग समझौते के तहत् सबसे बड़े विद्रोही समूह के नेता हथियार डालने और उसने भारतीय संविधान को स्वीकार करने पर सहमत हुए। हालांकि, एक छोटा समूह इस पर सहमत नहीं हुआ और हिंसा एवं संघर्ष जारी रखा।

इसी बीच, 1972 में मेघालय, मणिपुर एवं त्रिपुरा को भी राज्य का दर्जा दे दिया गया, जबकि नॉर्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी को संघ क्षेत्र बनाया गया और इसका नाम अरुणाचल प्रदेश रखा गया।

सिक्किम का समामेलन

सिक्किम 1950 में भारत का संरक्षित राज्य बना। 1974 तक, सिक्किम में कई चुनाव कराए जा चुके थे। अंतिम चुनाव में दो विरोधी पार्टियों ने आपस में विलय करके सिक्किम कांग्रेस का गठन किया और चुनाव में भारी विजय हासिल की। इस दल ने अधिक राजनीतिक अधिकारों की मांग की। चोग्याल, सिक्किम के शासक, ने इस आंदोलन को दबाने की कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हो सके। उसने भारत से इस बारे में बात की, और भारत ने सिक्किम के लिए संविधान तैयार किया। 1974 में तैयार संविधान को वहां की नेशनल एसेम्बली ने अनुमोदन प्रदान किया। 1975 में, एक विशिष्ट जनमत संग्रह कराया गया जिसमें अधिकांश निर्वाचक वर्ग ने सिक्किम के भारत में समामेलन के पक्ष में मतदान किया। जिसके परिणामस्वरूप, भारतीय संविधान के 36वें संशोधन के पश्चात् मई 1975 में सिक्किम को भारत संघ में 22वें राज्य के रूप में सम्मिलित किया गया। चीन से सिक्किम की सीमा लगने के कारण यह भारत के लिए बेहद रणनीतिक महत्व का क्षेत्र है।

हिंदी विरोधी उपद्रवों के नियंत्रण हेतु भाषा नीति

इंदिरा गांधी ने 1967 में राजभाषा अधिनियम में संशोधन किया कि अंग्रेजी का प्रयोग तब तक जारी रहेगा जब तक कि प्रत्येक राज्य की विधायिका, जिन्होंने हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया है, और संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग को समाप्त करने का प्रस्ताव पारित नहीं कर दिया जाता। ऐसा करके गैर-हिंदी भाषी राज्यों की हिंदी विरोधी उग्र भावनाओं को शांत किया जा सका। यह हिंदी और अंग्रेजी दोनों को राजभाषा के रूप में इस्तेमाल करने की वास्तविक गारंटी थी, और इस प्रकार भारत में द्विभाषी राजभाषा की नीति स्थापित हुई। इस कदम से कुछ राज्यों में जारी हिंदी विरोध एवं हिंसा का अंत हो गया।

शक्ति का केंद्रीकरण और समाजवादी मार्ग

जब वह 1967 में फिर से सत्ता में आई, इंदिरा गांधी ने लाल बहादुर शास्त्री द्वारा किए गए कार्यों में सुधार किया। उन्होंने प्रधानमंत्री सचिवालय [मोरारजी देसाई के प्रधानमंत्री बनने पर यह प्रधानमंत्री कार्यालय (पीएमओ) के रूप में जाने जाना लगा] में प्रधानमंत्री हेतु सलाहकारों की भारी संख्या में नियुक्ति की। पी.एन. हक्सर के इंदिरा गांधी के प्रथम प्रधान सचिव बनने के दौरान प्रधानमंत्री सचिवालय का वास्तविक विस्तार हुआ और यह शक्ति के केंद्र के रूप में उदित हुआ। भारी संख्या में संयुक्त सचिवों को भी सचिवालय में लाया गया। इंदिरा गांधी को अपनी पार्टी के भीतर सिंडिकेट से स्वतंत्र होने का प्रदर्शन करने की जरूरत थी। उन्होंने राजनीतिज्ञों पर विश्वास नहीं किया और इस बात से विश्वस्त नहीं हुई थी कि वे कब उनके खिलाफ षड्यंत्र कर उन्हें पदच्युत कर दें। उन्होंने सलाहकारों के एक दल की सलाह पर निर्भर रहना ज्यादा उचित समझा। उनकी टीम में पी.एन. हक्सर के अतिरिक्त, टी.एन. कौल, एक प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ; डी.पी. धर, राजनीतिज्ञ से कूटीनीतिज्ञ; पी.एन. धर, अर्थशास्त्री से नौकरशाह; और आर.एन. काओ, सुरक्षा विश्लेषक शामिल थे।

हक्सर, वामपंथ की ओर गहरे झुकाव के साथ, इंदिरा गांधी द्वारा उठाए गए समाजवादी कदम एवं मार्ग को गहरे रूप से प्रभावित करने वाले मुख्य व्यक्ति थे। उनके अन्य सलाहकार भी इन कदमों को लेकर उत्साहित थे, जैसाकि वे समाजवादी आदर्शों में विश्वास करते थे। उन्होंने महसूस किया कि सामाजिक समानता सुनिश्चित करने और राष्ट्रीय एकीकरण के पोषण एवं उन्नयन के लिए राज्य को अर्थव्यवस्था में अधिक बड़ी भूमिका निभाने की आवश्यकता है। वे सामाजिक समन्वय को प्रोत्साहित करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के पक्ष में भी थे। यह निश्चित नहीं है कि इंदिरा गांधी ने इन आदर्शों को अपनाया लेकिन उनको इसका व्यावहारिक ज्ञान था कि ये परामर्श एवं आदर्श वे हैं जिन्हें अपनाए एवं लागू किए जाने की आवश्यकता है। रामचंद्र गुहा ने कहा कि, ''उनके सलाहकारों ने उनकी छवि अर्थशास्त्र में समाजवादी, धार्मिक मामलों में धर्मनिरपेक्षतावादी और गरीबों के हित में काम करने वाले नेता की बनाई।''

न्यायपालिका के पंख कतरने का प्रयास

तीव्र सामाजिक सुधारों को लागू करने के लिए उठाए गए विभिन्न कदमों के आड़े न्यायपालिका आने लगी। संपत्ति के अधिकार को एक मौलिक अधिकार के तौर पर रखने को लेकर विवाद बेहद गहरा गया। न्यायालय ने प्रिवी पर्स के उन्मूलन और साथ ही बैंकों के राष्ट्रीयकरण के क्रियान्वयन में रोक लगा दी (जिन्हें तुरंत राष्ट्रपतीय अध्यादेश के माध्यम से क्रियान्वित किया गया)।

1971 में, 24वां संविधान संशोधन किया गया जिसने प्रावधान किया कि संसद संविधान के किसी भी हिस्से एवं अनुच्छेद को संशोधित कर सकती है। इसने मौलिक अधिकारों के संशोधन (गोलकनाथ वाद) संबंधी संसद पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा

लगाए गए प्रतिबंधों से मुक्ति दिलाई। 1972 में, 25वां संविधान संशोधन लाया गया जिसने व्यवस्था की कि कुछ नीति-निर्देशक सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों से असंगत होने के आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

1973 में, इस प्रथा को दर किनार कर दिया गया कि सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को भारत के मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया जाता है, और न्यायाधीश ए.एन. रे को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया यद्यपि उनसे तीन अन्य न्यायाधीश वरिष्ठ थे। यह नियुक्ति राजनीतिक रूप से प्रेरित थी। जब संसद को संविधान संशोधन की असीमित शक्ति प्रदान करने वाले संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई, तो न्यायाधीश ए.एन. रे ने सरकार के पक्ष में मत दिया था। इसे उनकी पदोन्नति के रूप में देखा गया।

1975 में, संविधान में 38वां संशोधन किया गया जिसने व्यवस्था की कि आपातकाल या अध्यादेश जारी करने हेतु राष्ट्रपति या राज्यपाल की संतुष्टि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

1975 में 39वें संविधान संशोधन अधिनियम ने प्रावधान किया कि राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमंत्री के चुनाव के संबंध में उत्पन्न विवाद की उच्च न्यायालयों या उच्चतम न्यायालय द्वारा सुनवाई नहीं की जा सकती। ऐसे मामलों की सुनवाई केवल संसद द्वारा स्थापित विशेष न्यायालय में की जा सकेगी।

42वें संविधान संशोधन अधिनियम ने न्यायपालिका की शक्तियों में और अधिक कटौती की।

बयालीसवां संविधान संशोधन अधिनियमः एक संक्षिप्त संविधान

वर्ष 1976 में बयालीसवां संविधान संशोधन किया गया जो उस समय सबसे बड़ा और संविधान में व्यापक फेरबदल करने वाला संशोधन था, जिस कारण इसे अपने आप में संक्षिप्त संविधान भी कहा गया। इसने संविधान की प्रस्तावना में नवीन शब्द जोड़ने के अलावा 40 नवीन अनुच्छेद और एक नया अध्याय इसमें जोड़ा। चुनाव संबंधी विवादों से न्यायालय को पूरी तरह बाहर करना; राज्यों के विरुद्ध केंद्र सरकार में शक्तियों का केंद्रीकरण करना ताकि देश को एकल इकाई के तौर पर शासित करना न कि संघीय व्यवस्था के रूप में; आमूल-चूल सामाजिक परिवर्तनकारी विधानों की न्यायिक जांच से सुरक्षा करना; और न्यायपालिका की शक्तियों पर अधिकाधिक अंकुश लगाना ताकि कुछ निश्चित मामलों पर संसद की नीति को खारिज करना न्यायालय के लिए मुश्किल हो जाए, जैसी मुख्य मंशाएं इस व्यापक संशोधन के पीछे थीं।

संशोधन द्वारा कुछ व्यापक बदलाव जिन्होंने लोकतांत्रिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया, निम्नलिखित हैं। इनमें से कुछ कदमों को 1977 में सत्ता में आई जनता सरकार ने निरस्त कर दिया।

42वें संविधान संशोधन ने संशोधनों को न्यायालय की समीक्षा एवं अवलोकन से बाहर कर दिया। इसमें घोषणा की गई कि संविधान संशोधन के लिए संसद की शक्ति असीमित है। इसने न्यायिक समीक्षा और रिट अधिकारिता के मामलों में उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय की शक्तियों में कटौती कर दी। प्रस्तावना में भारत को अब 'संप्रभु, समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य' के रूप में विशेषित किया गया जो प्रारंभिक संविधान में 'संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य' था। इसके अतिरिक्त, 'राष्ट्र की एकता' शब्द को परिवर्तित करके 'राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता' किया गया।

संविधान में नवीन नीति-निर्देशक सिद्धांतों का समावेश किया गया और इन्हें समग्र रूप से मौलिक अधिकारों की तुलना में प्राथमिकता प्रदान की गई।

मौलिक कर्तव्यों संबंधी एक नया अध्याय संविधान में शामिल किया गया।

लोकसभा की अवधि को पांच वर्ष के स्थान पर छह वर्ष किया गया। लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं में निर्वाचन हेतु निर्वाचन क्षेत्रों की सीट की संख्या को निर्धारित किया गया जिसका आधार 1971 की जनगणना थी और इसमें पुनर्समायोजन वर्ष 2000 के पश्चात् पहली जनगणना के बाद होगा। पहले यह प्रत्येक 10 वर्ष पश्चात् किया जा रहा था।

संसद द्वारा विधि बनाई गई कि राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों से निपटने हेतु कानून की मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता होगी। संसद और साथ-ही-साथ राज्य विधानमण्डलों में कोरम की आवश्यकता को समाप्त कर दिया गया।

42वें संशोधन के प्रावधानों के अनुसार, राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा भारत क्षेत्र के किसी हिस्से के लिए भी की जा सकेगी। संसद की अनुमति के बिना राष्ट्रपति शासन की अवधि बढ़ाने को छह माह से एक वर्ष किया गया। केंद्र को शक्ति प्रदान की गई कि किसी राज्य में कानून एवं व्यवस्था की गंभीर स्थिति उत्पन्न होने पर वहां सशस्त्र सेनाओं को तैनात किया जा सकेगा।

सामाजिक-आर्थिक नीतियां

यह पी.एन. हक्सर थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से इंदिरा गांधी को सलाह दी कि यदि वह अपनी पार्टी पर नियंत्रण पाना चाहती हैं तो उन्हें विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य पर सिंडिकेट का विरोध करना चाहिए। अतः उन्होंने देश के कल्याण हेतु समाजवादी मार्ग को अपनाने का प्रस्ताव रखा। इस समाजवादी विचारधारा के दृष्टिगत् कई कदम उठाए गए।

बैंकों एवं अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण

इस दिशा में बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक कदम था, और इंदिरा गांधी युवा तुर्क (जिसका एक नेता चंद्रशेखर था) के पक्ष में थीं। उन्होंने मोरारजी देसाई को वित्त मंत्री के

कार्यभार से मुक्त कर दिया जैसाकि वे राष्ट्रीयकरण के विचार का विरोध कर रहे थे। उनका तर्क था कि ऐसा करने से सरकार और प्रशासन पर दबाव बढ़ेगा और आर्थिक विकास के लिए संसाधनों की तंगी पैदा करेगा और यहां तक कि इससे नौकरशाही द्वारा नियंत्रण में वृद्धि होगी। इंदिरा गांधी ने निजी क्षेत्र के 14 बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण हेतु जुलाई 1969 में एक अध्यादेश का रास्ता अपनाया। यह अध्यादेश बाद में संसद द्वारा पारित किया गया जो बैंकिंग कंपनीज (एक्विजिशन एंड ट्रांसफर ऑफ अंडरटेकिंग्स) अधिनियम बना (1980 में, जब इंदिरा गांधी पुनः सत्ता में आईं, तो उन्होंने अन्य छह बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया)। प्रधानमंत्री ने रेडियो पर स्पष्ट किया कि भारत एक प्राचीन देश हो सकता है लेकिन यह युवा लोकतंत्र था और, इसलिए, हमें सतर्क रहना चाहिए कि ''थोड़े-से लोग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यस्था पर हावी न हो जाएं''। उन्होंने कहा, बैंकों पर लोकाधिपत्य होना चाहिए ताकि वे न केवल बड़े उद्योगों और व्यवसायों को वित्त प्रदान करें अपितु किसानों, छोटे उद्योगों और उद्यमियों की वित्त संबंधी आवश्यकताओं का भी ध्यान रखें। इसके अलावा, उन्होंने कहा कि, निजी बैंक त्रुटिपूर्ण तरीके से कार्य कर रहे हैं और उनमें से कई दिवालिया होने के कगार पर हैं, जिस कारण जमाकर्ताओं को बड़ी हानि होगी जिन्हें ऐसे घाटों के प्रति कोई गारंटी नहीं दी गई थी।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप बैंकिंग क्षेत्र का व्यापक विस्तार हुआ। इनकी शाखाएं न केवल संख्या में बढ़ीं अपितु सुदूर एवं ग्रामीण क्षेत्रों में भी फैलीं जहां औपचारिक क्रेडिट व्यवस्था को कोई जानता नहीं था। बैंकों में जमा वृद्धि के साथ परिवारों की बचत में वृद्धि हुई। अनौपचारिक क्षेत्रों में निवेश में वृद्धि हुई। बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने कृषि एवं लघु तथा मध्यम उद्योगों को वित्त प्रदान किया। यह निर्धारित किया गया कि बैंकों को क्रेडिट का कुछ प्रतिशत प्राथमिक क्षेत्र (कृषि एवं लघु तथा मध्यम उद्यम) के लिए आरक्षित रखना होगा। 1972 में विभेदी ब्याज दर योजना लायी गई ताकि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक समाज के कमजोर वर्गों को सामान्य से नीची ब्याज दर पर वित्त प्रदान कर सकें।

राष्ट्रीयकरण को लागू करने को हुए चुनाव प्रचार के आधार पर 1971 में पुनः चुने जाने पर, इंदिरा गांधी ने कोयला, स्टील, तांबा, तेल परिशोधन, सूती कपड़ा, और बीमा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का फैसला लिया। इसके पीछे मुख्य कारण रोजगार और संगठित श्रमिकों के हितों की रक्षा करना था। जो उद्योग निजी क्षेत्र में रह गए थे उनका कठोरता से विनियमन किया गया। भारत में निजी क्षेत्र के स्वामित्व वाली तेल कंपनियों ने 1971 के युद्ध के दौरान भारतीय सेनाओं को तेल आपूर्ति से मना करके बाधा उत्पन्न कर दी थी। जिसके परिणामस्वरूप, इंदिरा गांधी ने 1973 में तेल कंपनियों का राष्ट्रीयकरण किया। तब से मुख्य तेल कंपनियों को जरूरत पड़ने पर सैन्य प्रयोग के लिए आवश्यक रूप से न्यूनतम तेल स्टॉक रखना होता है।

राजसी विशेषाधिकारों का उन्मूलन

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्, शाही राज्यों के शासक का भारत राज्य में विलय कर दिया (इस प्रकार उनसे शासन करने का अधिकार छीन लिया गया), और उन्हें भारत सरकार द्वारा 'प्रिवी पर्स' प्रदान किया गया। इस 'पर्स' में धन की एक निश्चित मात्रा थी, जो उनके राजस्व के अनुपात में ऐसे राज्यों के शासकों (और उनके उत्तराधिकारियों) को वार्षिक रूप से दी जानी थी। संविधान के अनुच्छेद 291 के तहत् प्रिवी पर्स में एक नियत कर-मुक्त धनराशि होगी, जिसे भूतपूर्व राजसी राज्यों के शासकों और उनके उत्तराधिकारियों के देने की गारंटी दी गई थी। इस 'प्रिवी पर्स' में धनराशि 5,000 रुपए से 26 लाख रुपए वार्षिक थी।

भूतपूर्व शासकों को दिया गया यह विशेषाधिकार अक्सर प्रश्नगत किया जाता था और अधिकतर लोग इसे अतीत का स्मृतिचिन्ह मानते थे। 1969 में इंदिरा गांधी सरकार द्वारा 'प्रिवी पर्स' व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास सफल नहीं हो सका। इस प्रभाव का संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में पारित हो गया लेकिन इसे राज्यसभा में जरूरी दो-तिहाई बहुमत प्राप्त न हो सका। यह केवल 1971 में संभव हो सका जब 26वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित हुआ जिसने प्रिवी पर्स का उन्मूलन कर दिया।

'प्रिवी पर्स' के उन्मूलन के लिए संविधान में अनुच्छेद 363-A जोड़ा गया। प्रिवी पर्स के उन्मूलन से भारत सरकार के राजस्व घाटे में भी कमी हुई।

एमआरटीपी अधिनियम

वर्ष 1969 में इंदिरा गांधी ने एकाधिकार एवं प्रतिबिंधित व्यापार पद्धतियां (एमआरटीपी) अधिनियम पारित कराया। एमआरटीपी अधिनियम आर्थिक शक्ति के संकेद्रण को रोकने, प्रतिबंधात्मक या अनुचित व्यापार पद्धतियों पर रोक लगाने और एकाधिकारों पर नियंत्रण करने के लिए तैयार किया गया था। एमआरटीपी आयुक्त ने कुछ अग्रणी व्यावसायिक घरानों द्वारा नियंत्रित आर्थिक शक्ति के सकेंद्रीकरण पर रोक लगाई।

समानता कायम करने और निर्धनता उन्मूलन हेतु कदम

यह इंदिरा गांधी का ही शासनकाल था जिसमें महिलाओं एवं पुरुषों हेतु समान कार्य के लिए समान वेतन संबंधी प्रावधान भारतीय संविधान में शामिल कराया।

सामाजिक समानता की स्थापना की दिशा में ही राजसी विशेषाधिकारों का उन्मूलन भी किया गया था।

गरीबी न्यूनीकरण/उन्मूलन और संपत्ति के पुनर्वितरण हेतु कार्यक्रमों में भू-चकबंदी (कृषि एवं साथ-ही-साथ शहरी भूमि स्वामित्व) के तीव्र क्रियान्वयन शामिल

विचार

"यहां तक कि दिवंगत प्रधानमंत्री के आलोचकों ने भी माना कि सामाजिक महत्व के अधिकतर कानून उनके शासनकाल में लाए गए।"

पंकज वोहरा

"मैं मानती हूं कि आप मुझे समाजवादी कह सकते हैं, लेकिन आपको समझना होगा कि इस शब्द से हमारा क्या आशय है। हमने इस शब्द (समाजवाद) का प्रयोग किया क्योंकि यह उन कामों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है जो हम यहां करना चाहते हैं—जो गरीबी का उन्मूलन करना है। आप इसे समाजवाद कह सकते हैं; लेकिन यदि इस बात का इस्तेमाल हम विवाद उत्पन्न करने के लिए करते हैं तो, मुझे नहीं पता कि हमें इसका प्रयोग क्यों करना चाहिए। मैं शब्दों में बिल्कुल विश्वास नहीं करती।"

इंदिरा गांधी

हैं। सीमांत कृषकों को भूमि के पुनर्वितरण हेतु कानून भी विभिन्न राज्यों में पारित किया गया।

आर्थिक रूप से कमजोर तबके को मामूली कीमतों पर खाद्यान्न वितरण हेतु एक कार्यक्रम आरंभ किया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन के लिए एक व्यापक कार्यक्रम पर भी विचार किया गया।

भूमिहीन श्रमिकों के लिए आवास निर्माण का कार्यक्रम तैयार किया गया। कम से कम कागजों पर, बंधुआ मजदूरी को समाप्त कर दिया गया और निर्धनों के ऋणों को स्थगित कर दिया गया।

जैसाकि पहले उल्लिखित किया जा चुका है कि, राष्ट्रीयकृत बैंकों को प्राथमिक क्षेत्र ऋण/उधारी को ध्यान में रखना होगा।

सुधारों के तरीकों की निंदा की गई, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक परिवर्तनों ने निम्न जातियों से मध्यम दर्जे के किसानों को महत्व प्रदान करने में एक दीर्घावधिक प्रभाव छोड़ा। और इन वर्गों ने उत्तर भारत में राजनीतिक व्यवस्था के सम्मुख चुनौती खड़ी की।

आर्थिक समस्याओं से जूझना

साठ के दशक के मध्य में, भारतीय अर्थव्यवस्था संकट से गुजर रही थी। खाद्यान्न का अभाव था, भारी-भरकम राजस्व घाटा था, और भुगतान संतुलन की स्थिति दयनीय थी। ऐसी स्थिति में हम व्यापक रूप से विदेशी सहायता पर निर्भर थे। 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध के परिणामस्वरूप अमेरिका ने खाद्यान्न सहायता निलम्बित कर दी और पीएल-480 समझौते के नवीकरण से मना कर दिया था। इन परिस्थितियों में, वार्षिक योजनाओं (1966 और 1969 के बीच) के पक्ष में पंचवर्षीय योजना को निलम्बित कर दिया गया।

आपातकाल के समय को छोड़कर मुद्रास्फीति ऊंची बनी रही। बेरोजगारी भी एक बड़ी समस्या थी।

रुपए का अवमूल्यन

भारत पर व्यापार एवं उद्योग पर नियंत्रण कम करने और रुपए का अवमूल्यन करने के लिए अमेरिका, विश्व बैंक एवं अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का दबाव था। इंदिरा गांधी ने जून 1966 में रुपए का अवमूल्यन 36.5 प्रतिशत तक किया, और इसके मुकाबले डॉलर के मूल्य में 57.4 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई। (*नाइस गाय फिनिश सेकंड* में बी. के. नेहरू के वर्णन के अनुसार, ताशकंद जाने से पूर्व जनवरी 1966 के शुरू में लाल बहादुर शास्त्री रुपए के अवमूल्यन के बारे में निर्णय ले चुके थे) इस कदम के पीछे यह विचार था कि अवमूल्यन से भारत को विदेशों को अधिक सामान बेचने और खाद्यान्न, तेल और पूंजीगत सामानों के आयात हेतु भुगतान के लिए डॉलर प्राप्त करने में मदद मिलेगी।

इस कदम की कठोर निंदा की गई। आलोचना सही प्रतीत होने लगी जब विश्व बैंक ने अविलंब अधिक सहायता प्रदान करने की प्रतिबद्धता निभाने में देरी की। विदेशी पूंजी आशानुरूप प्राप्त नहीं हुई। इंदिरा गांधी ने स्वयं के साथ धोखा महसूस किया और पश्चिम के वायदों में विश्वास खो दिया। इसके अतिरिक्त, दूसरे अकाल ने व्यष्टि-आर्थिक समस्याओं में वृद्धि की, और विरोधाभासी निर्यात-आयात नीतियों के कारण अवमूल्यन का प्रभाव निष्प्रभावी हो गया। इस प्रकार, अवमूल्यन को असफल होने के रूप में देखा जाने लगा। वस्तुतः अवमूल्यन का मध्यावधिक प्रभाव लाभकारी था—भारत अकाल टालने और साथ-ही-साथ दिवालियापन को टालने में सफल हो पाया, और 1970-71 तक व्यापार घाटे में बेतहाशा कमी आई। अल्पावधि में, हालांकि, इसने मुद्रास्फीति में वृद्धि की और अधिकांशतया असफल हुआ, क्योंकि इसे अन्य सुधारों का साथ नहीं मिला।

इन परिस्थितियों में, अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का विचार राजनीतिक रूप से अस्वीकार्य हो गया और त्याग दिया गया। इंदिरा गांधी ने सरकारी व्यय में आशातीत कमी के द्वारा घाटे पर नियंत्रण करने की नीति अपनाई। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रगति में धीमापन आ गया। इंदिरा गांधी अब तक वामपंथ की ओर अग्रसर हो चुकी थीं और उन्होंने कुछ आमूल-चूल परिवर्तनकारी नीतियां आरंभ कीं। बैंकों एवं बीमा का राष्ट्रीयकरण, एमआरटीपी अधिनियम को लागू करना, विदेशी विनिमय विनियमन अधिनियम (फेरा), जिसने भारत में विदेशी निवेश और विदेशी कंपनियों के काम करने पर प्रतिबंध लगाए, को लागू करना, रुग्ण कंपनियों (विशिष्ट रूप से कपड़ा क्षेत्र में) का अधिग्रहण इन नीतियों में शामिल हैं। दीर्घावधिक समय में, इनमें से कुछ कदमों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर किया, गतिरोध उत्पन्न किया और धीमी

वृद्धि के कारण बने, लेकिन अल्पावधि में, इन्होंने आर्थिक स्थिति में सुधार किया, और भारत ऋण के संकट से बाहर निकल सका। विदेशी विनिमय को अथक प्रयास से तैयार किया गया। इसके कारण खाद्यान्न मदद से भारत को इंकार किया गया। ऐसा समझा गया कि विदेशी विनिमय का प्रयोग वाणिज्यिक रूप से खाद्यान्न खरीदने के लिए उचित होगा, और ऐसा 1972 में अच्छी फसल/पैदावार न होने पर किया गया। वस्तुतः, हरित क्रांति की सफलता ने खाद्यान्न अर्थव्यवस्था को हासिल करने में मदद की।

चौथी पंचवर्षीय योजना

लंबे समय तक स्थगित चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-1974) को आखिरकार आरंभ कर दिया गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना के मुकाबले इसमें लगभग दोगुना निवेश किया गया। इस योजना का उद्देश्य या लक्ष्य ''स्थायित्व के साथ संवृद्धि और आत्मनिर्भरता की प्रगतिशील उपलब्धि'' था।

यह योजना इंदिरा गांधी द्वारा अपनाए गए समाजवादी सिद्धांतों से मेल खाता था। इसका मूलाधार 1967 में इंदिरा गांधी द्वारा अग्रेषित दस सूत्रीय कार्यक्रम था, जो कि उनके प्रधानमंत्री पद पर बैठने के तुरंत बाद पहला आर्थिक नीति-निर्माण था। इस कार्यक्रम ने अर्थव्यवस्था पर राज्य के व्यापक नियंत्रण पर बल दिया, जैसाकि यह विश्वास किया गया कि अर्थव्यवस्था को निजी क्षेत्र पर छोड़ देने की अपेक्षा सरकारी नियंत्रण से व्यापक जनकल्याण सुनिश्चित होगा। इसलिए निजी क्षेत्र को विनियमित किए जाने की आवश्यकता थी। 1960 के दशक के अंत तक, उदारीकरण की प्रक्रिया को वापस ले लिया गया, और भारत की नीतियों को संरक्षणवादी कहा गया।

सरकार ने इस बात पर बल दिया कि भारत को विदेशी सहायता पर निर्भरता से मुक्त होना चाहिए और कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने पर जोर देना चाहिए। ग्रामीण जनसंख्या की आय में बढ़ोतरी करना और खाद्यान्न आपूर्ति में वृद्धि करना; उत्पादन में बढ़ोतरी करने की दिशा में प्रयास करना; कीमतों को स्थिर करना; मिश्रित अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित करने की नीतियां बनाना; मानव संसाधन विकास, विशिष्ट रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, पर ध्यान देना, चौथी पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों में शामिल थे। ग्रामीण कार्यक्रमों के माध्यम से समुदाय की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने का लक्ष्य भी इस योजना में शामिल था।

योजना का निष्पादन संभावना के अनुरूप नहीं रहा, यद्यपि कई सामाजिक लक्ष्यों को पूरा किया गया। इस योजना के लक्ष्यों को मुख्यतः पाकिस्तान के साथ युद्ध, पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियों और 1973 के तेल संकट के कारण पूरा नहीं किया जा सका।

हरित क्रांति की सफलता

1960 के दशक में विशेषीकृत अभिनव कृषि कार्यक्रम और सरकार प्रदत्त अतिरिक्त समर्थन लागू होने पर अंततः भारत में चले आ रहे खाद्यान्न की कमी, मूलतः गेहूं,

चावल, कपास और दूध के संदर्भ में, को अतिरिक्त उत्पादन में बदल दिया। उस उपलब्धि को अपने वाणिज्यिक फसल उत्पादन के विविधीकरण के साथ 'हरित क्रांति' के नाम से जाना जाता है। इसके परिणामस्वरूप भारत संयुक्त राज्य अमेरिका की खाद्य सहायता पर निर्भर रहने के बजाय एक खाद्य निर्यातक देश बन गया।

हरित क्रांति, जिसके बीज लाल बहादुर शास्त्री जी के शासन काल में बोए जा चुके थे, रंग लाई और इंदिरा गांधी सरकार को इससे लाभ मिला। गेहूं की ड्वार्फ किस्म, जिसे पंजाब और हरियाणा ने अपनाया, की बेतहाशा पैदावार हुई। चावल, मूंगफली और कपास की नई किस्मों की भी अच्छी पैदावार हुई। गेहूं का सर्वाधिक उत्पादन हुआ। हरित क्रांति की रणनीति में कुछ कमियां रह गई थीं—क्षेत्रवार पैदावार में भारी अंतर, एक बड़ा क्षेत्र 'क्रांति' से अछूता रहा और बड़े पैमाने पर अनिश्चित मानसून पर निर्भर था, किसानों की आय में बड़ी असमानता दृष्टिगोचर हुई, रसायनिक खाद्य के अत्यधिक प्रयोग और पानी की बर्बादी से पर्यावरण को क्षति पहुंची। लेकिन इस क्रांति से व्यापक खाद्य कमी से मुक्ति मिली।

इसी समय दुग्ध उत्पादन में वृद्धि आयी। श्वेत क्रांति से कुपोषण से निपटने में मदद मिली।

1960 के प्रारंभिक काल में संगठित हरित क्रांति गहन कृषि जिला कार्यक्रम (आईएडीपी) का अनौपचारिक नाम था, जिसके अंतर्गत शहरों में रहने वाले लोगों के लिए प्रचुर मात्रा में सस्ते अनाज की प्राप्ति सुनिश्चित हो सकी।

दस वर्षों तक चला यह कार्यक्रम गेहूं उत्पादन में अंततः तीन गुना वृद्धि और चावल में कम लेकिन आकर्षक वृद्धि लाया, जबकि बाजरा, चना एवं मोटे अनाज में कम या कोई वृद्धि नहीं हुई, फिर भी इन क्षेत्रों में अपेक्षाकृत एक स्थिर उपज बरकरार रही।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-1979) अपनी अवधि पूरी नहीं कर पायी, लेकिन इसके अधिकतर कार्यक्रमों का आपातकाल के साथ समायोजन किया गया। इस योजना का उद्देश्य निर्धनों की उपभोग संबंधी जरूरतों के संबोधन एवं सामाजिक-आर्थिक सुधारों की एक शृंखला को लागू करके निर्धनता उन्मूलन करना था। यह न्यूनाधिक रूप से बीस सूत्रीय कार्यक्रम का एक पहलू था। आपातकाल के दौरान, आर्थिक कार्यक्रमों को बलपूर्वक लागू किया जा सका। वस्तुतः, केवल 1975-76 में अर्थव्यवस्था में 9 प्रतिशत की संवृद्धि हुई। पांचवीं पंचवर्षीय योजना पहली ऐसी योजना थी, जिसके दौरान प्रति व्यक्ति आय में 5 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई। हालांकि, 1977 के चुनावों के साथ और सत्ता में जनता सरकार के आने पर, पांचवीं योजनावधि में कटौती की गई और यह 1978 में समाप्त हो गई।

1971 का भारत-पाक युद्ध और बांग्लादेश का जन्म

1971 में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध पूर्वी पाकिस्तान की आजादी में एक मील का पत्थर साबित हुआ जिसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश नामक एक नए राष्ट्र का उदय हुआ।

पाकिस्तान में 1970 का चुनाव और पूर्वी पाकिस्तान में असंतोष

1970 में, जनरल याहया खान, जिन्होंने पाकिस्तान में राष्ट्रपति और मुख्य सैनिक शासन प्रशासक के रूप में अयूब खान का स्थान लिया था, ने पाकिस्तान में लोकतंत्र पुनः कायम करने का वादा किया और आम चुनाव आयोजित कराए थे, जो वयस्क मताधिकार पर आधारित पाकिस्तान में पहले चुनाव थे। साथ ही, राष्ट्रीय असेम्बली में सीटों की संख्या वहां की जनसंख्या के अनुपात में रखी गईं। पूर्वी पाकिस्तान, जो अधिक जनसंख्या वाला क्षेत्र (पाकिस्तान का) था, को स्वाभाविक रूप से पश्चिमी पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक सीट प्रदान की गईं।

पश्चिमी पाकिस्तान में, जुल्फीकार अली भुट्टो के नेतृत्व वाली पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी (पीपीपी) प्रमुख पार्टी थी, जबकि पूर्वी पाकिस्तान में मुजीबुर रहमान के नेतृत्व वाली अवामी लीग प्रमुख पार्टी थी। पूर्वी पाकिस्तान के प्रमुख प्रवक्ता मुजीबुर रहमान का सैनिक शासकों द्वारा दमन किया गया और उसे (पूर्वी पाकिस्तान को) पश्चिमी पाकिस्तान के हितों के लिए उपनिवेश के तौर पर देखा गया। पूर्वी पाकिस्तान के लोग इस बात से नाराज थे कि उनकी भाषा-बंगाली-को दरकिनार कर दिया गया था और उनके लोगों का देश के उच्च प्रशासनिक तबके में अल्प प्रतिनिधित्व था। मुजीबुर रहमान ने पूर्वी पाकिस्तान के लिए अधिक स्वायतत्ता और अधिक शक्तियों सहित एक संघीय संविधान की मांग की। दिसम्बर 1970 में चुनाव कराए गए और चुनाव के नतीजों ने प्रकट किया कि पाकिस्तान किस ओर जा रहा था। जहां पश्चिमी पाकिस्तान में पीपीपी ने बहुमत हासिल किया, वहीं पूर्वी पाकिस्तान में अवामी लीग ने अन्य दलों का सफाया कर दिया, और बहुमत हासिल किया।

याहया खान को यह बात मंजूर नहीं थी कि नेशनल असेम्बली पूर्वी पाकिस्तान के बहुमत वाली हो और न ही वे इसके लिए सहमत थे कि पूर्वी पाकिस्तान की नवीन लोकतांत्रिक संविधान बनाने की मांग को स्वीकार किया जाए और उसे अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए। पश्चिमी पाकिस्तान के शासकों के बीच यह भय भी था कि पूर्वी पाकिस्तान में हिंदू, जिसमें से अधिकतर सुशिक्षित पेशेवर थे, संविधान लिखने में प्रभाव छोड़ सकते हैं। याहया खान ने जुल्फीकार भुट्टो की मदद से नेशनल एसेम्बली को स्थगित कर दिया। इससे पूर्वी पाकिस्तान में असंतोष उमड़ पड़ा, और अवामी लीग ने व्यापक हड़ताल का आह्वान किया। मार्च 1971 में, पाकिस्तान की सेना ने विरोध को कुचलने का कदम उठाया और पूर्वी पाकिस्तान में टैंक और सेना भेजी। मुजीबुर

रहमान को गिरफ्तार कर लिया गया और एक अज्ञात स्थान पर ले जाया गया। पाकिस्तान की सेना द्वारा हिंसक झड़प और नागरिकों की नृशंस हत्या, विशेष रूप से विद्यार्थियों की, से प्रतीत होने लगा कि पुनर्मेल एवं सामंजस्य की संभावना खत्म हो गई थी।

भारत में शरणार्थियों का अंतर्वाह एवं भारतीय प्रत्युत्तर

पूर्वी पाकिस्तान में गृह युद्ध की परिस्थितियों ने पूर्वी पाकिस्तान से भारत आने वाले शरणार्थियों (अधिकतर हिंदू) की संख्या में वृद्धि की, और अगस्त 1971 तक यह संख्या लाखों में तब्दील हो गई। भारत ने इन शरणार्थियों को आने की अनुमति दी और उनके लिए पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और मेघालय, और यहां तक कि मध्य प्रदेश और ओड़िशा में भी तम्बू लगाए और उन्हें भोजन प्रदान किया। केंद्र सरकार ने इनका समग्र खर्चा वहन किया। शुरुआत में, भारत ने वैश्विक शक्तियों को इस चिंताजनक स्थिति के बारे में विश्वस्त करने हेतु राजनयिक प्रयास किए। हेनरी किसिंजर, जो तत्कालीन समय में अमेरिकी राष्ट्रपति के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार थे, अमेरिकी राष्ट्रपति का पत्र लेकर आए जिसमें भारत से कहा गया कि शरणार्थियों को संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षण में भेजा जाए। इंदिरा गांधी ने इस बात की ओर इशारा किया कि पाकिस्तान को दिए जाने वाले अमेरिकी हथियारों, जिनका इस्तेमाल 1965 में भारत के खिलाफ हो चुका था, का इस्तेमाल अब पाकिस्तान स्वयं के लोगों पर कर रहा था। उन्होंने यह भी कहा कि हिटलर के जर्मनी से शरणार्थियों को तत्कालीन समय में मौजूद दशाओं के तहत् स्वदेश भेजा गया था। यह सर्वविदित था कि किसिंजर और निक्सन स्थिति को लेकर एकमत नहीं थे। निक्सन पाकिस्तान के पक्ष में थे, विशिष्ट रूप से उन्होंने अमेरिका की तरफ से चीन के साथ संपर्क स्थापित करने में किसिंजर की मदद की थी, और भारत की मदद नहीं करना चाहते थे।

सोवियत संघ, अमेरिका के विरोध में, उपमहाद्वीप में उत्पन्न स्थिति पर भारत से सहमत था कि पाकिस्तान के दो भागों के बीच गहरी दरार आ गई है और संभावित पुनर्मेल की संभावना नहीं है। सोवियत संघ ने भारत को सैन्य उपकरण प्रदान किए। इसने भारत के साथ एक मैत्री संधि भी की, जिसने पाकिस्तान एवं चीन को रोकने का कार्य किया। जब भारत के तत्कालीन विदेश मंत्री, स्वर्ण सिंह, जून 1971 में मॉस्को दौरे पर गए और अपने सोवियत समकक्ष अंद्रेई ग्रोमिको, और राष्ट्रपति, अलेक्सेई कोसिगिन, से मिले, तो मैत्री संधि पर हस्ताक्षर करने का निर्णय हुआ। अगस्त 1971 में, दो देशों के विदेश मंत्रियों ने शांति, मैत्री एवं सहयोग संधि पर हस्ताक्षर किए। इस संधि का बेहद महत्वपूर्ण पहलू यह था कि दोनों में से किसी भी देश पर आक्रमण की स्थिति में उचित कदम उठाने हेतु ये देश आपसी परामर्श करेंगे ताकि दोनों देशों में डर एवं चेतावनी को समाप्त करके शांति एवं सुरक्षा स्थापित की जा सके।

1971 के ग्रीष्मकाल तक, भारत निर्णय कर चुका था कि वह स्थिति में सक्रिय

रूप से हस्तक्षेप करेगा। भारतीय सैन्य बलों को निर्देश दिए गए कि वे प्रशिक्षण शिविरों में बंगाली गुरिल्लाओं को हथियारों का इस्तेमाल करने के प्रशिक्षण में मदद करें। इन लड़ाकों के समूह, जिसमें पूर्व एकबद्ध पाकिस्तान के नियमित सैनिक और स्वैच्छिक लड़ाके शामिल थे, को मुक्ति वाहिनी के नाम से जाना जाता था। ये गुरिल्ला चोरी-छिपे पूर्वी पाकिस्तान की सीमा के आर-पार जाकर सैन्य शिविरों और इंफोर्मेशन इंस्टॉलेशन्स पर हमला करते थे। मुक्ति वाहिनी ने पूर्वी पाकिस्तान की आजादी में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

इंदिरा गांधी ने उपमहाद्वीप की स्थिति से पूरे विश्व के नेताओं को अवगत कराने के लिए वैश्विक दौरा किया। वह देश जिसका इस मुद्दे पर मतभेद हो सकता था, नामतः अमेरिका, तटस्थ रहा। नवम्बर 1971 में, रिचर्ड निक्सन और इंदिरा गांधी की मुलाकात हुई लेकिन वे इस स्थिति को लेकर सहमत नहीं हुए। निक्सन ने कहा कि अमेरिका याहया खान को हटाने से सहमत नहीं था और भारत को किसी प्रकार की सैन्य कार्रवाई करने के प्रति चेताया।

इसी बीच, भारत और पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पर गोलाबारी के साथ दोनों देशों के बीच संघर्ष तीव्र हो गया। मुक्ति वाहिनी के लिए यह अवसर था कि वे सीमा के आर-पार खुलेआम गोलाबारी करें और अपनी विद्रोही गतिविधियों को जारी रखें।

पूर्वी पाकिस्तान का युद्ध एवं मुक्ति

पाकिस्तान ने 3 दिसंबर, 1971 को भारत की पश्चिमी सीमा पर हमला करने का निर्णय लिया। उनके बम वर्षकों ने पश्चिमी सीमा पर स्थित एयरफील्ड को निशाना बनाया, और उनकी तोपों ने कश्मीर पर हमला किया। जनरल सैम मानेकशॉ के नेतृत्व में सेना ने कश्मीर एवं पंजाब में व्यापक हवाई-हमलों सहित तीव्र कार्रवाई की। भारतीय नौसेना को पहली बार शामिल किया गया और करांची की ओर रवाना किया गया। वाइस एडमिरल एस.एन. कोहली के नेतृत्व में पश्चिमी नौसेना कमांड ने *ट्राइडेंट* के नाम से करांची पर सफलतापूर्वक अकस्मात हमला किया। अब भारत को पूर्वी पाकिस्तान में अपनी सेनाओं और टैंकों के साथ घुसने का कारण मिल गया और चोरी-छिपे मुठभेड़ अब आमने-सामने की लड़ाई में तब्दील हो गई।

यह ध्यान देने वाली बात थी कि भारत स्वदेशी हथियारों के निर्माण शुरू करने के अलावा, अपनी सशस्त्र सेना को आधुनिकीकृत कर चुका था। पाकिस्तान की सेना भारतीय सेना के समक्ष कहीं नहीं ठहरती थी। इसके अलावा, पाकिस्तान की सेना नागरिक असंतोष और बंगाली सैनिकों के विद्रोह तथा अपने ही लोगों से लड़ने के चलते निरुत्साहित एवं तनाव में थी। यह भी देखा गया कि याहया खान की रणनीति को समझना मुश्किल था। यदि चीन की मदद प्राप्त करना निश्चित था, तो वह सामने नहीं आया, शायद दिसंबर में हिमालय की बर्फ ने चीन की किसी भी प्रकार की कार्रवाई को रोक दिया। दूसरी ओर, भारतीय सैन्य बलों को पूर्वी मोर्चे पर मौसम संबंधी कोई

समस्या नहीं हुई और साथ ही वहां के नागरिकों और मुक्ति वाहिनी ने उनकी मदद की। चारों तरफ से डक्का (अब ढाका) की ओर बढ़ते हुए, भारतीय सेना ने रणनीतिक स्थानों पर कब्जा कर लिया। वाइस एडमिरल नीलकांत कृष्णनन के नेतृत्व में भारतीय पश्चिमी नौसेना कमांड ने बंगाल की खाड़ी में नौसैनिक नाकेबंदी द्वारा पूर्वी पाकिस्तान को घेर लिया। 4 दिसम्बर से, युद्धपोत आईएनएस विक्रांत को पूर्वी पाकिस्तान के मुख्य बंदरगाहों पर हमले जारी रखने के लिए तैनात कर दिया गया।

पूर्वी पाकिस्तान को लेकर भारत की मंशा 6 दिसंबर, 1971 को तब साफ हुई, जब भारत सरकार ने 'पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ बांग्लादेश' को औपचारिक रूप से मान्यता दी।

अमेरिका ने बंगाल की खाड़ी में युद्ध पोत 'यूएसएस एंटरप्राइज' उतारा, लेकिन यह मात्र शक्ति प्रदर्शन था और अमेरिका के रूख का संकेत था। इसने किसी भी प्रकार पूर्वी पाकिस्तान के घटनाक्रम को प्रभावित नहीं किया। अब यह स्पष्ट था कि डक्का भारतीय सैन्य बलों की शरण में आने वाला था, और एक बार पूर्वी पाकिस्तान का मामला सुलझ जाने पर भारत अपना पूरा ध्यान पश्चिमी पाकिस्तान पर लगाएगा।

13 दिसंबर, 1971 को, याहया खान ने लेफ्टिनेंट जनरल ए.ए.के. नियाजी, पाकिस्तान के पूर्वी कमांड के कमांडर, को संदेश भेजा कि वे आत्मसमर्पण कर दें। 16 दिसंबर, 1971 को पूर्वी पाकिस्तान में पाकिस्तान की पूर्वी कमांड के इंस्ट्रूमेंट ऑफ सरेन्डर पर लेफ्टिनेंट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा, भारतीय पूर्वी कमांड के जीओसी, और लेफ्टिनेंट जनरल ए.ए.के. नियाजी, पाकिस्तान के पूर्वी कमांड के कमांडर, के बीच डक्का में रमन्ना रेस कोर्स में हस्ताक्षर हुए।

पूर्वी पाकिस्तान को मुक्त कर दिया गया और बांग्लादेश नामक एक नया राष्ट्र अस्तित्व में आया। मुजीबुर रहमान, जिन्हें कैद से मुक्त कर दिया गया, को नए देश की कमान सौंपी गई।

16 दिसम्बर, 1971 को, इंदिरा गांधी ने पश्चिमी मोर्चे पर भी एकपक्षीय युद्धविराम की घोषणा रेडियो पर की। अगले दिन, पाकिस्तान ने भी युद्ध विराम की घोषणा की।

युद्ध में विजय के प्रभावस्वरूप इंदिरा गांधी की छवि में भी अत्यधिक विस्तार हुआ। भारत में कई लोगों ने उन्हें दुर्गा कहा। भारतीयों में नए विश्वास एवं शक्ति तथा उपलब्धि की भावना का संचार हुआ। भारत की उपमहाद्वीप में एक शक्तिशाली देश के रूप में छवि स्थापित हुई।

शिमला समझौता

युद्ध में शर्मनाक हार झेलने के पश्चात् याहया खान के स्थान पर जुल्फिकार अली भुट्टो पाकिस्तान के नए राष्ट्रपति बने। उन्होंने भारत के समक्ष शांति वार्ता का प्रस्ताव रखा जिसे इंदिरा गांधी ने स्वीकार कर लिया। भारत-पाकिस्तान के बीच शिखर वार्ता

28 जून-1 जुलाई, 1972 तक तय की गई। शिमला शिखर वार्ता में इंदिरा गांधी और जुल्फिकार अली भुट्टो के बीच बांग्लादेश को मान्यता, भारत-पाकिस्तान को राजनयिक संबंध, व्यापार, कश्मीर में नियंत्रण रेखा स्थापित करना और युद्धबंदियों की रिहाई जैसे मुद्दों पर बातचीत चलती रही। लेकिन कुछ मुद्दों पर एक राय नहीं बन पा रही थी। दोनों देशों के प्रतिनिधि और पत्रकार किसी समझौते की उम्मीद छोड़ चुके थे, लेकिन अगले दिन 2 जुलाई को दोनों पक्षों में बातचीत हुई। आखिरकार 2 जुलाई को दोनों देशों ने शिमला समझौते पर हस्ताक्षर किए।

शिमला समझौते को भारत और पाकिस्तान के बीच बेहतर पड़ोसी संबंधों हेतु

शिमला समझौते के महत्वपूर्ण बिंदु

1. दोनों देश संघर्ष और झगड़े को समाप्त कर दें जिस कारण दोनों देशों के बीच रिश्ते खराब रहे हैं।
2. दोनों देश आगे से ऐसा काम करेंगे जिससे दोस्ताना और भाई-चारे के रिश्ते कायम हो सकें और उप-महाद्वीप में स्थायी शांति की स्थापना की जा सके।
3. दोनों के बीच संबंधों को संयुक्त राष्ट्र चार्टर के माध्यम से चलाया जाएगा।
4. भारत द्वारा पाकिस्तान के बंदी बनाए गए सैनिकों को रिहा कर दिया जाएगा और पाकिस्तान की भूमि भी लौटा दी जाएगी।
5. कश्मीर के जिन महत्वपूर्ण सामरिक स्थानों को भारत ने हासिल किया है, वहां भारत का आधिपत्य बना रहेगा।
6. यदि भविष्य में कोई विवाद पैदा होता है तो किसी भी अन्य देश की मध्यस्थता स्वीकार्य नहीं होगी और विवाद को शिमला समझौते की शर्त के अनुसार ही हल किया जाएगा।
7. दोनों देश एक-दूसरे की राष्ट्रीय एकता, क्षेत्रीय अखंडता, राजनीतिक स्वतंत्रता एवं संप्रभुता का बराबरी के आधार पर सम्मान करेंगे।
8. ऐसे कदम उठाए जाएंगे जिससे संचार, डाक, तार, समुद्र एवं जमीन के रास्ते संपर्क बहाल हो सकें।
9. विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में आदान-प्रदान प्रोत्साहित किया जाएगा।
10. भारतीय तथा पाकिस्तानी सेनाएं अंतरराष्ट्रीय सीमा में अपनी तरफ तक वापस चली जाएंगी।
11. यह समझौता दोनों देशों में लागू संविधान के अनुसार मंजूर किया जाएगा।
12. दोनों ही सरकारों के मुखिया फिर मिलेंगे। इस बीच दोनों सरकारों के प्रतिनिधि मिलकर यह सुनिश्चित करेंगे कि टिकाऊ शांति स्थापित करने और रिश्तों को सामान्य बनाने के लिए क्या तरीके अपनाए जाएं। इसमें युद्ध बंदियों संबंधी मुद्दे, जम्मू-कश्मीर के स्थायी समझौते की बात और फिर कूटनीतिक संबंधों की बहाली शामिल है।

एक व्यापक ब्लू प्रिंट समझा गया। इस समझौते के तहत् तय किया गया कि दोनों देश मतभेदों एवं संघर्षों का समाधान बातचीत से करेंगे और स्थायी शांति, मैत्री और सहयोग की स्थापना की दिशा में कार्य करेंगे।

दोनों देश एक-दूसरे के साथ संबंधों को बनाए रखने के लिए एक निर्देशित सिद्धांतों के समुच्चय का अनुसरण करने पर सहमत हुए। दोनों एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता एवं संप्रभुता का सम्मान करेंगे, एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे; एक-दूसरे की एकता एवं राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान करेंगे; संप्रभु समानता का पालन करेंगे; और द्वेषपूर्ण प्रचार में लिप्त नहीं होंगे, उन निर्देशित सिद्धांतों में शामिल हैं।

सभी मामलों पर प्रत्यक्ष द्विपक्षीय तरीके से शांतिपूर्ण समाधान को लेकर आपसी प्रतिबद्धता बनी और लोगों का लोगों से सम्पर्क पर विशिष्ट ध्यान देते हुए सहयोगी संबंधों की नींव का निर्माण करना निश्चित किया गया।

हालांकि, समझौते के फौरन बाद पाकिस्तान की नेशनल असेम्बली में जुल्फिकार अली भुट्टो के भाषण ने साफ तौर पर संकेत दिया कि कश्मीर मुद्दा अत्यधिक संवेदनशील और जीवित बना रहेगा और पाकिस्तान कश्मीर के लोगों की मदद के लिए तैयार था, यदि वे स्वतंत्रता आंदोलन शुरू करते। 1976 में, भारत द्वारा पोखरन परमाणु परीक्षण करने के बावजूद और पाकिस्तान में इसकी द्वेषपूर्ण निंदा के बावजूद, दोनों देश फिर से राजनयिक अवस्थापनाओं को खोलने और रिश्तों को सामान्य बनाने पर सहमत हुए।

विदेश नीति और अन्य देशों से संबंध

बांग्लादेशः बांग्लादेश के साथ भारत के संबंध विशिष्ट रूप से मधुर रहे, जब मुजीबुर रहमान सत्ता में थे। हालांकि, मुजीबुर रहमान की भारत सहयोगी नीतियों में से अधिकतर को बांग्लादेश के राजनीतिक एवं सैन्य क्षेत्रों में इस डर से अनुमोदन प्राप्त नहीं हुआ कि बांग्लादेश एक प्रकार से भारत का उपग्रह राज्य बन जाएगा। 1975 में मुजीबुर रहमान की हत्या कर दी गई, जिसके पश्चात् वहां इस्लामी और सैन्य शासन चला। इस शासन के साथ इंदिरा गांधी के संबंध सहयोगपूर्ण नहीं थे। लेकिन समग्र तौर पर दोनों देशों के बीच संबंध सौहार्दपूर्ण रहे।

श्रीलंकाः इंदिरा गांधी के अपने श्रीलंकाई समकक्ष श्रीमाओ भंडारनायके के साथ संबंध मधुर रहे, और शुरुआत में नस्लीय/जातीय समस्या, जिसमें तमिल शामिल थे, को लेकर अनुग्रहकारी थे।

1974 में, भारत ने भंडारनायके की समाजवादी सरकार को बचाने के लिए कच्चाथीवू नाम का एक छोटा द्वीप श्रीलंका को सौंप दिया। 1974 में, भारत ने कच्चाथीवू के छोटे द्वीप को श्रीलंका को इंडो-श्रीलंका समुद्री समझौते के माध्यम से सौंपा जिसमें पाक जलसंधि में समुद्री सीमा के समाधान की बात शामिल थी। उस समय

श्रीमाओ की लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम हो रही थी, और इंदिरा गांधी ने श्रीलंका के प्रधानमंत्री की छवि सुधारने तथा श्रीलंका में भंडारनायके के शासन को स्थिर करने में मदद करने के लिए द्वीप उन्हें सौंप दिया।

समझौते, जिसमें मत्स्यन अधिकारों का उल्लेख नहीं था, ने भारतीय मछुआरों को कच्चाथीवू के आस-पास मछली पकड़ने और द्वीप पर अपने जाल सुखाने की अनुमति प्रदान की। हालांकि, 1976 में, तमिलनाडु राज्य विधानसभा या संसद से बिना किसी बातचीत और परामर्श के इंदिरा गांधी सरकार ने मन्नार की खाड़ी और बंगाल की खाड़ी में दोनों देशों की सीमा निर्धारित करने और दोनों देशों के मछुआरों को दूसरे के जल क्षेत्र में मछली पकड़ने से प्रतिबंधित करने के लिए एक अन्य समझौते को अंतिम रूप प्रदान किया। समझौते के अनुसार, ''न तो भारत के मछली पकड़ने हेतु नाव और पोत तथा मछुआरे श्रीलंका के ऐतिहासिक जल क्षेत्र, क्षेत्रीय जल क्षेत्र और विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करेंगे और न ही श्रीलंका के मछली पकड़ने के नाव और जहाज तथा मछुआरे भारत के ऐतिहासिक जल क्षेत्र, क्षेत्रीय जल क्षेत्र और विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करेंगे।''

सोवियत संघः इंदिरा गांधी के शासनकाल में, भारत और सोवियत संघ के संबंध प्रगाढ़ हुए, विशिष्ट रूप से पाकिस्तान के प्रति अमेरिका एवं चीन के रुख की दृष्टि से। सोवियत संघ के साथ भारत की मैत्री संधि पाकिस्तान के साथ चीन की घनिष्ठता को रोकने की दिशा में एक कदम था। जब अमेरिका ने पाकिस्तान द्वारा भारत की पश्चिमी सीमा पर हमला करने के पश्चात् भारत और पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं को पीछे हटने और युद्ध-विराम घोषित करने संबंधी प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत किया, तो सोवियत संघ ने इसे वीटो शक्ति के तहत् रोक दिया। यद्यपि सोवियत संघ 1974 में भारत द्वारा किए गए परमाणु परीक्षण से खुश नहीं था, फिर भी उसने भारत के खिलाफ किसी भी कार्रवाई एवं गतिविधि का समर्थन नहीं किया। निश्चित रूप से, इंदिरा गांधी के शासनकाल के दौरान व्यावहारिक कारणों से भारत का झुकाव सोवियत संघ की ओर था।

संयुक्त राज्य अमेरिकाः जब से इंदिरा गांधी सत्ता में आईं, अमेरिका के साथ उनके संबंध तनावपूर्ण रहे। जब लिंडन जॉनसन राष्ट्रपति थे और भारत खाद्यान्न के लिए अमेरिका पर निर्भर था, इंदिरा गांधी को खाद्यान्न के लिए मना किया गया और ऐसी आशा की गई कि भारत, अमेरिका की नीतियों को मान लेगा। वह परमाणु हथियारों की अप्रसार संधि (एनपीटी) पर हस्ताक्षर न करने को लेकर भी दृढ़-निश्चय थीं। अमेरिका में निक्सन के सत्ता में आने पर, दोनों देशों के बीच संबंध बिगड़ गए। निक्सन इंदिरा गांधी और साथ ही साथ भारतीयों को नापसंद करते थे और पाकिस्तान के पक्ष में थे। इंदिरा गांधी ने वियतनाम पर अमेरिकी हमले की भी निंदा की।

पश्चिम एशियाः इंदिरा गांधी ने फिलीस्तीन का पूरा समर्थन किया और इजरायल के खिलाफ रहीं। इंदिरा गांधी की अरब के पक्ष में रहने की नीति के मिश्रित परिणाम निकले, विशिष्ट रूप से पाकिस्तान से युद्ध के बाद। जबकि कुछ अरब सरकारें (मिस्र, अल्जीरिया, सीरिया) तटस्थ रहीं। जार्डन, सउदी अरब, कुवैत और संयुक्त अरब अमीरात में अमेरिका के पक्ष में अनुदार अरब राजतंत्रों ने पाकिस्तान का समर्थन किया। लीबिया ने पूर्वी पाकिस्तान में भारतीय हस्तक्षेप को इस्लाम पर हमले के रूप में देखा।

भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान कुछ समय के लिए भारत-ईरान संबंध बिगड़ गए, जैसाकि ईरान ने समझा कि भारत का मॉस्को के प्रति झुकाव और पाकिस्तान के दो भागों में टुकड़े ईरान के प्रति बड़ी साजिश थी जिसमें भारत, इराक और सोवियत संघ शामिल थे। हालांकि, ईरान बगदाद समझौते को सक्रिय करने पर सहमत नहीं हुआ और पाकिस्तान के दुस्साहस के मतभेद पर सेंट्रल ट्रीटी ऑर्गेनाइजेशन (CENTO-सैंटो) से बाहर निकल गया। 1974 तक, भारत और ईरान के आपसी संबंध काफी हद तक पटरी पर आ गए थे, जिसके परिणामस्वरूप दोनों के मध्य एक समझौता हुआ, जिसके तहत् ईरान भारत को बड़ी मात्रा में कच्चे तेल की आपूर्ति करने पर सहमत हुआ।

एशिया-प्रशांतः 1967 में, दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्र संघ (आसियान) का गठन हुआ। भारत का मत था कि आसियान सीटो (SEATO) से संबंध रखने वाला एक अमेरिकी झुकाव वाला संगठन था। आसियान देश वियतनाम पर भारत के रुख और मॉस्को के साथ घनिष्ठ संबंध को लेकर खुश नहीं थे। ना ही उन्होंने भारत के परमाणु परीक्षण का समर्थन किया, और इस कदम को क्षेत्र में तनाव बढ़ाने के रूप में देखा।

अफ्रीकाः भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल देशों के साथ मधुर संबंध प्रगाढ़ करने के कारण भारत की छवि अफ्रीकी राष्ट्रों की दृष्टि में उपनिवेशवाद के जबरदस्त विरोधी के रूप में थी। शुरुआत में, भारत ने केन्या एवं अल्जीरिया की स्वतंत्रता हेतु सशस्त्र संघर्ष की निंदा की। इंदिरा गांधी के शासनकाल में अफ्रीकी देशों से संबंधों में सुधार आने लगा। इथियोपिया, केन्या, नाइजीरिया और लीबिया (इन देशों ने 1962 में भारत-चीन युद्ध में भारत का समर्थन किया था) पर इंदिरा गांधी के सत्ता में आने पर विशेष ध्यान दिया गया। इन देशों के साथ भारत के राजनयिक और आर्थिक संबंध विस्तृत हुए। अपने पिता से अलग, इंदिरा गांधी ने अफ्रीका में मुक्ति संघर्ष का खुलकर समर्थन किया। परमाणु परीक्षण और 1971 में भारत-पाकिस्तान युद्ध में अमेरिका के सामने न झुकने के कारण विश्व में भारत की छवि में सुधार आया। इसके अलावा, इंदिरा गांधी ने अफ्रीका और सोवियत संघ के साथ भारतीय साम्राज्यवाद विरोधी हितों को दृढ़ता से जोड़ा। युगांडा में भारतीयों का अनुभव निराशाजनक रहा। ईदी अमीन के शासनकाल में भारतीयों को वहां उत्पीड़न झेलना पड़ा और आखिर में उन्हें देश से निकाल दिया गया।

स्माइलिंग बुद्धा

यद्यपि इसे राष्ट्रीय सुरक्षा नीति के तौर पर देखा जा सकता था, यह वैज्ञानिक साहस एवं उद्यम था जिसने भारत के परमाणु विस्फोट को सफल बनाया। 18 मई, 1974 को, भारत ने राजस्थान के थार मरुस्थल में सैन्य बेस कैंप के निकट पोखरण में पहला परमाणु परीक्षण किया। आधिकारिक रूप से इसे पोखरण-1 कहा गया लेकिन इसका कूटबद्ध नाम 'स्माइलिंग बुद्धा' था। यह एक भूमिगत परमाणु विस्फोट था।

इसे औपचारिक रूप से एक 'शांतिपूर्ण परमाणु विस्फोट' कहा गया था। यह पहली बार था कि संयुक्त राष्ट्र के सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्यों से भिन्न किसी राष्ट्र द्वारा पुष्टिबद्ध परमाणु परीक्षण किया गया था।

यह माना गया कि संभवतः चीन के धीरे-धीरे और धैर्यपूर्वक परमाणु शक्ति बनने के परिप्रेक्ष्य में, इंदिरा गांधी ने परमाणु शस्त्र प्रणाली के विकास को स्वीकृति दी। उन्हें यह विश्वास था कि यदि इसे परमाणु महाशक्तियों से स्वतंत्र होकर विकसित किया जाए तो यह भारत की स्थिरता और सुरक्षा के हित में था। परमाणु उपकरण, जो अंतःविस्फोट प्रकार का था और कहा गया कि यह अमेरिकी परमाणु बम 'फैट मैन' की भांति था, राजा रमन्ना, भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र (बार्क) के तत्कालीन निदेशक, के नेतृत्व में विकसित किया गया था। परियोजना की निगरानी परमाणु ऊर्जा आयोग के तत्कालीन अध्यक्ष होमी सेठना द्वारा की जा रही थी। पी.के. आयंगर, आर. चिदम्बरम, बसंती नागचौधुरी और वामन दत्तात्रेय पटवर्धन इस परियोजना में शामिल अन्य प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे।

यद्यपि देश के विभिन्न वर्गों में इसकी खुशी थी, यह बात भी उठ रही थी कि इंदिरा गांधी का परमाणु परीक्षण का फैसला देश के भीतर चलने वाले असंतोष को विचलित करने के लिए लिया गया था।

अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रियाः यद्यपि भारत ने इसे 'शांतिपूर्ण उद्देश्यों' के लिए परीक्षण कहा, लेकिन पूरा विश्व इसे लेकर खुश नहीं था। परमाणु प्रसार रोकने के लिए परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह का निर्माण किया गया।

जैसाकि, कनाडा द्वारा आपूर्ति साइरस संयंत्र से प्राप्त प्लूटोनियम और अमेरिका द्वारा आपूर्ति किए गए भारी जल का इस्तेमाल इस परीक्षण में किया गया था, यह दोनों देश भी इस परीक्षण से खुश नहीं थे। उस समय निर्माणाधीन दो भारी जल संयंत्रों को सहायता देने से कनाडा ने मना कर दिया।

पाकिस्तान इस परीक्षण को लेकर क्रुद्ध था, और उसने रिश्तों को पटरी पर लाने को लेकर जल्द होने वाली बैठक को भी रद्द कर दिया। पाकिस्तान के प्रधानमंत्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने घोषणा की कि वह भारत से भयभीत नहीं होंगे और उप-महाद्वीप पर भारत के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करेंगे। भारतीय परमाणु परीक्षण ने पाकिस्तानी मतानुसार पाकिस्तान को परमाणु क्षेत्र में धकेला।

जनता पार्टी का शासनकाल (मार्च 1977-जनवरी 1980)

जनता पार्टी ने 'चक्र हलधर' के प्रतीक के तहत् चुनाव लड़ा और इसके गठबंधन को 1977 के चुनावों में भारी बहुमत हासिल हुआ।

मोरारजी देसाई—पहले गैर-कांग्रेसी प्रधानमंत्री

प्रधानमंत्री पद के तीन दावेदारों में मोरारजी देसाई, चरण सिंह और जगजीवन राम शामिल थे। यह आचार्य कृपलानी और जयप्रकाश नारायण पर निर्भर था कि कौन प्रधानमंत्री बनेगा। उनकी पसंद मोरारजी देसाई थे जिन्होंने 23 मार्च, 1977 को प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। चरण सिंह (गृहमंत्री, और बाद में वित्त मंत्री), और जगजीवन राम (रक्षा मंत्री) उप-प्रधानमंत्री थे।

राज्य विधानमण्डल चुनाव

यह जान लिया गया था कि राष्ट्र ने कांग्रेस के प्रति अपनी असंतुष्टि जाहिर कर दी थी और इसलिए कांग्रेस शासित राज्यों में भी नए चुनाव कराए जाने चाहिए। इन राज्य विधानसभाओं को भंग कर दिया गया और जून में चुनाव कराए गए। चुनावों के परिणामस्वरूप, उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में जनता पार्टी सरकार बनाने में सफल रही। पंजाब में अकाली दल और जनता पार्टी ने मिलकर सरकार बनाई। तमिलनाडु में, एआईएडीएमके ने चुनावों में भारी विजय हासिल की और इसके नेता एम.जी. रामचन्द्रन ने सरकार बनाई। केंद्र सरकार के साथ संघर्ष की राजनीति में इस सरकार की कोई रुचि नहीं थी। इन्होंने बच्चों, विशेष रूप से लड़कियों, को स्कूल आने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए मध्यान्ह भोजन योजना की भी शुरुआत की। पश्चिम बंगाल में, वाम दलों के गठबंधन को भारी बहुमत मिला और सीपीएम ने आशा से बढ़कर अच्छा प्रदर्शन किया, और ज्योति बसु मुख्यमंत्री बनाए गए। सरकार ने कृषि सुधारों को लागू किया जिससे बड़ी संख्या में निर्धन किसान लाभान्वित हुए।

जम्मू-कश्मीर में, आपातकाल से पूर्व इंदिरा गांधी के साथ समझौते के परिणामस्वरूप शेख अब्दुल्ला कांग्रेस सरकार चला रहे थे। मोरारजी देसाई ने विधानसभा भंग कर दी और राज्य में नवीन जनादेश हेतु चुनावों की घोषणा की। शेख अब्दुल्ला ने अपनी पार्टी, नेशनल कांफ्रेंस का पुनरुद्धार किया, और स्वतंत्रता के बाद, वास्तविक रूप से, निष्पक्ष चुनावों में उसकी पार्टी को पर्याप्त बहुमत प्राप्त हुआ। हालांकि, मुस्लिम बहुल घाटी और हिंदू बहुल जम्मू स्पष्ट रूप से नेशनल कॉन्फ्रेंस के साथ थे, लेकिन पार्टी जम्मू में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर सकी।

भारत के नए राष्ट्रपति

अधिकतर राज्यों में जनता पार्टी की सरकार होने के कारण, अब पार्टी अपने उम्मीदवार, नीलम संजीवा रेड्डी, को जून 1977 में भारत के राष्ट्रपति के तौर पर निर्वाचित करने में सफल रही। उस वर्ष फरवरी में फखरुद्दीन अली अहमद की मृत्यु के कारण राष्ट्रपतीय चुनाव कराए जाने आवश्यक हो गए थे।

जनता पार्टी की लोकप्रियता में कमी और कांग्रेस (आई) का उत्थान

जनता सरकार की शुरुआत पूर्ण लोक समर्थन और उच्च आकांक्षाओं के साथ हुई थी, लेकिन जल्द ही वैचारिक एवं राजनीतिक संदर्भ में मतभेद उभरने लगे और दरारें स्पष्ट दिखाई देने लगीं। इससे भी अधिक गौरतलब बात यह थी कि, कुछ नेताओं का ध्यान इंदिरा गांधी से प्रतिशोध लेने पर केन्द्रित था और वे पार्टी के विरुद्ध कार्य करने लगे तथा कांग्रेस की लोकप्रियता के पुनरुज्जीवन में सहयोग किया। इन दो कारकों ने मिलकर केंद्र की पहली गैर-कांग्रेसी सरकार को गिराने में भूमिका निभाई।

अनावश्यक आयोगों का गठनः इंदिरा गांधी और उनके बेटे द्वारा कथित गैर-कानूनी कार्यों की जांच हेतु विभिन्न आयोगों का गठन किया गया। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध आयोग न्यायमूर्ति जे.सी. शाह, उच्चतम न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश, की अध्यक्षता में गठित किया गया था, जिसे आपातकाल की ज्यादतियों एवं हिंसा की जांच का कार्य सौंपा गया था। अधिकतर आरोपों, हालांकि, को सिद्ध नहीं किया जा सका, और मात्र कुछ दोषों को सही पाया गया। इंदिरा गांधी के विरुद्ध मुकदमों को अधिक समय तक नहीं चलाया जा सका, जैसाकि साक्ष्यों की कमी थी।

बेलची और इंदिरा गांधी का जोरदार वारः मई 1977 में, बेलची, बिहार का एक गांव, में हिंसा हुई। जमीन को लेकर हुए विवाद के चलते ऊंची जातियों की एक भीड़ ने हरिजनों के एक समूह को जिंदा जला दिया। यहां गौरतलब था कि भारत की सामाजिक व्यवस्था का रूपांतरण हो रहा था। पिछड़ी जातियां (जिन्हें बाद में अन्य पिछड़ी जातियां कहा गया), जो हरित क्रांति और श्वेत क्रांति के चलते आर्थिक रूप से मजबूत हो गई थीं और अगड़ी जातियों से उन्होंने भूमि खरीदी तथा अपने हितों में वृद्धि के लिए अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित किया, की प्रसिद्धि एवं महत्व में बढ़ोतरी हो रही थी। दुर्भाग्यवश, उन्होंने भी इसे अधिकृत कार्य के तौर पर लिया कि वे जो चाहे कर सकते थे। हरिजन इन भूमियों पर कार्य करते थे, लेकिन भूमिपतियों के शोषण के कारण उनकी स्थिति बेहद दयनीय थी। शिक्षा एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व के दायरे के बढ़ने के साथ, हरिजन, विशिष्ट रूप से युवा पीढ़ी, अब अधिक बुरे व्यवहार एवं शोषण को चुपचाप स्वीकार करने वाली नहीं थी। उन्होंने भी इसके विरुद्ध लड़ना शुरू किया। परिणामस्वरूप जातिगत हिंसा की घटनाएं हुईं।

इंदिरा गांधी ने अपने फायदे के लिए बेलची घटना का इस्तेमाल किया। वे बेलची गईं, रास्ते में हाथियों द्वारा रास्ता रोकने और सड़क मार्ग अवरुद्ध होने के कारण वे पैदल गांव तक गईं, और प्रभावित लोगों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की। जनता सरकार को गरीब एवं शोषितों की विरोधी दर्शाने के अतिरिक्त, इंदिरा गांधी ने अपनी छवि गरीबों एवं हरिजनों के मित्र के रूप में विकसित की और यहां तक कि उनके दल के सदस्यों ने उन लोगों को आश्वासन दिलाया कि यदि इंदिरा गांधी पुनः सत्ता में आती हैं तो वे गरीबों एवं हरिजनों के हित में कार्य करेंगी।

इंदिरा गांधी को लाभः चरण सिंह द्वारा एकनिष्ठ होकर इंदिरा गांधी और उनके बेटे के पीछे पड़ने का लाभ इंदिरा गांधी को मिला। इंदिरा गांधी को कुछ अस्पष्ट भ्रष्टाचार आरोपों के तहत् गिरफ्तार किया गया और एक दिन के लिए पुलिस अभिरक्षा (कस्टडी) में रखा गया, जिसके पश्चात् मेजिस्ट्रेट ने आरोपों को रद्द करते हुए उन्हें बरी कर दिया। अब वह खेल में पुनः वापसी कर चुकी थी, और अब उन्होंने सरकार की आलोचना संबंधी भाषण दिए।

जनवरी 1978 में एक बार फिर कांग्रेस का विभाजन हुआ, इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाला समूह कांग्रेस-आई बन गया। उनकी पार्टी ने जनता पार्टी और कांग्रेस की विरोधी पार्टियों को कर्नाटक एवं आंध्र प्रदेश के विधानसभा चुनावों में धूल चटा दी। उन्होंने स्वयं कर्नाटक में चिकमगलूर से चुनाव लड़ा और लोकसभा सीट हासिल की। अब, संसदीय समिति ने रिपोर्ट दी कि इंदिरा गांधी ने मारूति उद्योग को लेकर सदन को गुमराह किया था, और सदन ने उन्हें जेल जाने को कहा। उन्हें संसद की सदस्यता से अयोग्य घोषित किया गया। हालांकि, वे फिर से चिकमगलूर से चुनाव जीतीं। अब इंदिरा गांधी को चालबाजियों की शिकार नेता के रूप में देखा जाने लगा और उनकी लोकप्रियता में बढ़ोत्तरी हुई।

जनता पार्टी के भीतर अंतर्विरोध और मोरारजी देसाई सरकार का पतनः जनता पार्टी में बढ़ती गुटबंदी और व्यक्तिगत शत्रुता ने शासन के प्रयासों को निष्फल कर दिया और पार्टी टूटने की कगार पर आ गई। मोरारजी देसाई और चरण सिंह, जो मंत्रिमण्डल में अपने दूसरे स्थान से संतुष्ट नहीं थे, के बीच मनमुटाव इस हद तक बढ़ गया कि देसाई ने 1978 के मध्य में चरण सिंह और राजनारायण को पदच्युत कर दिया। चरण सिंह ने प्रतिशोध स्वरूप दिसंबर 1978 में किसानों को एकत्रित कर सरकार के विरुद्ध दिल्ली की ओर एक जुलूस निकाला। शांति बनाए रखने के प्रयास में, देसाई द्वारा फरवरी 1979 में चरण सिंह को पुनः मंत्रिमण्डल में शामिल किया गया और वित्त मंत्रालय के साथ-साथ उप-प्रधानमंत्री पद भी सौंपा गया। हालांकि, सरकार चलाना दुरूह होता जा रहा था। जनता पार्टी दो हिस्सों में बंट रही थी। चरण सिंह के नेतृत्व में समाजवादियों का गुट और देसाई के नेतृत्व वाला जनसंघ। आगे जनसंघ के सदस्यों की दोहरी सदस्यता के मामले ने भी तूल पकड़ा, जो आरएसएस से भी जुड़े थे। उन्होंने

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आरएसएस) की सदस्यता नहीं छोड़ी, जैसाकि वे मानते थे कि यह मात्र एक सांस्कृतिक संगठन है। समाजवादियों और चरण सिंह ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया जिससे सरकार अल्पमत में आ गई। मोरारजी देसाई सरकार ने जुलाई 1979 में इस्तीफा दे दिया।

चरण सिंह प्रधानमंत्री बने जिन्होंने कभी भी संसद का सामना नहीं किया

अवसरवादिता की चरम सीमा का प्रदर्शन करते हुए, चरण सिंह ने अपने नेतृत्व में बनने वाली सरकार के लिए समर्थन हासिल करने के लिए अपने पहले की कट्टर शत्रु इंदिरा गांधी से बातचीत की। कांग्रेस से समर्थन पत्र प्राप्त करने के साथ, चरण सिंह राष्ट्रपति को यह विश्वास दिलाने में सफल हो गए कि लोकसभा में उनके पास बहुमत है। उन्हें जुलाई के अंत में इस शर्त पर प्रधानमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई थी कि वे सदन में बहुमत सिद्ध कर देंगे। इसलिए उन्होंने स्वतंत्रता दिवस पर लाल किले की प्राचीर से प्रधानमंत्री के रूप में भाषण दिया लेकिन वे कभी भी संसद नहीं जा सके। विश्वास मत हासिल करने के एक दिन पहले ही इंदिरा गांधी ने उनकी सरकार से समर्थन वापस ले लिया। चरण सिंह ने इंदिरा गांधी की इस मांग को मानने से इंकार कर दिया कि उनके अभियोगों को समाप्त करने के लिए विशेष न्यायालय गठित किया जाए। चरण सिंह के पास कोई विकल्प नहीं था और उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। राष्ट्रपति ने सरकार बनाने के अन्य विकल्पों को तलाशा लेकिन कोई भी सरकार बनाने में सक्षम नहीं था। अंत में लोकसभा भंग कर दी गई और चुनाव कराए गए। चुनाव होने तक चरण सिंह कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने रहे।

लोकसभा चुनाव और जनता पार्टी शासन का अंत

जनवरी 1980 में लोकसभा चुनाव कराए गए। चुनावी दंगल में कांग्रेस (आई), कांग्रेस (यू), लोकदल, चरण सिंह तथा समाजवादियों द्वारा बनाई गई नई पार्टी, जनता पार्टी, जिसमें अब मुख्य रूप से जन संघ और जगजीवन राम और चंद्रशेखर जैसे पुराने कांग्रेसी शामिल थे, मुख्य दल थे। सीपीएम और सीपीआई की मौजूदगी केवल पश्चिम बंगाल और केरल में थी। जनता पार्टी ने फिर से 'लोकतंत्र को खतरा' विषय पर चुनाव प्रचार किया और चरण सिंह ने किसानों को शक्ति प्रदान करने की बात कही, लेकिन इस समय इंदिरा गांधी किसी विचारधारा की बात करने से बचीं और उन्होंने अपना पूरा ध्यान लोगों से घनिष्ठ रूप से जुड़े मुद्दों पर बात करने पर केंद्रित किया। लोग जनता पार्टी के शासन के अभाव और उनकी निरंतर आपसी लड़ाई से थक चुके थे इसलिए उन्होंने इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस को मत देने का निर्णय किया।

जनता पार्टी विभिन्न दलों—जनता दल, भारतीय जनता पार्टी (बीजेपी), समाजवादी पार्टी, इत्यादि में विभाजित हो गई।

जनता शासन की विरासत

हालांकि, जनता पार्टी का कार्यकाल छोटा रहा और पार्टी आंतरिक गुटबाजी और मतभेदों से जूझती रही, लेकिन जनता पार्टी सरकार ने भारतीय राजव्यवस्था में अपना अमूल्य योगदान दिया, यहां तक कि इसके नकारात्मक पहलुओं की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से केंद्र में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार थी। यह केंद्र स्तर पर पहली गठबंधन सरकार भी थी।

लोकतांत्रिक अधिकारों की पुनःस्थापना

देश में लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों की पुनःस्थापना जनता पार्टी सरकार का एक अविस्मरणीय योगदान था। जनता पार्टी सरकार ने आपातकाल के कठोर कदमों को निष्प्रभावी करने के लिए अविलम्ब कदम उठाए। मीडिया पर लगे प्रतिबंधों को हटा लिया गया और विभिन्न विवादास्पद कार्यकारी डिक्रियों को रद्द कर दिया गया।

इसने आपातकाल के विनाश और लूट-पाट वाले संविधान को संशोधित किया और परामर्शीय शैली के माध्यम से मुक्त संसदीय कार्यप्रणाली को पुनरुज्जीवित किया और जैसाकि ग्रैनविल ऑस्टिन ने बताया कि, न्यायपालिका की स्वतंत्रता को पुनःस्थापित किया।

कानून मंत्री, शांति-भूषण, की देख-रेख में लोकतंत्र का गला घोंटने वाले 42वें संविधान संशोधन को शून्य करने वाले संशोधन किए गए। 43वां और 44वां संविधान संशोधन भारत के राजनीतिक इतिहास में युगांतरकारी घटना थी।

1977 में पारित **43वें संविधान संशोधन** ने अनुच्छेद 31डी को समाप्त कर दिया, जो संसद को राष्ट्रविरोधी गतिविधियां रोकने के लिए कानून बनाने का विशेष अधिकार देता था। साथ ही कानूनों की संवैधानिक वैधता का परीक्षण करने के सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालय के अधिकारों को पूर्ववत् कर दिया गया।

1978 में पारित **44वें संविधान संशोधन** ने अनुच्छेद 352 के तहत् राष्ट्रीय आपात स्थिति लागू करने के लिए 'आंतरिक अशांति' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द का प्रयोग शामिल किया एवं आपात स्थिति संबंधी अन्य प्रावधानों में परिवर्तन लाया गया।

इसके द्वारा संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों के भाग से हटा कर विधिक (कानूनी) अधिकारों की श्रेणी में रख दिया गया।

लोकसभा एवं विधानसभाओं का कार्यकाल पुनः 5 वर्ष कर दिया गया। उच्चतम न्यायालय को राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी विवाद को हल करने की अधिकारिता प्रदान की गई।

अनुच्छेद-74 में यह उपबंध जोड़ा गया कि, 'राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से किसी

परामर्श पर साधारण रूप से या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा करेगा, और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दिए गए परामर्श के अनुसार कार्य करेगा'। इस संशोधन ने आपात उपबंधों को अधिक कठिन बनाया। इसने प्रावधान किया कि अब मंत्रिमण्डल की 'लिखित परामर्श' की आवश्यकता होगी और केवल प्रधानमंत्री राष्ट्रपति के समक्ष आपातकाल की उद्घोषणा नहीं कर सकेगा। संसद के पुनः सत्र होने के एक माह के भीतर उद्घोषणा का अनुमोदन कराया जाएगा, और यह भी दो-तिहाई बहुमत से होगा। प्रत्येक छह माह पर इसके आगे बढ़ाने के लिए संसदीय मत की आवश्यकता होगी। लोकसभा के एक-दसवें सदस्यों द्वारा आपातकाल समाप्त करने के उद्देश्य से राष्ट्रपति से निवेदन करने के लिए लोकसभा का विशेष सत्र आहूत किया जाएगा और इसमें सामान्य बहुमत द्वारा ऐसा किया जा सकेगा।

इस संशोधन में यह भी शामिल किया गया कि आपातकाल के दौरान भी अनुच्छेद 20 और 21 को निलम्बित नहीं किया जा सकेगा, जबकि अन्य मौलिक अधिकार स्वतः निलम्बित नहीं होंगे अपितु इसके लिए राष्ट्रपति के पृथक् आदेश की आवश्यकता होगी। सबसे महत्वपूर्ण बार यह थी कि, आपात उपबंधों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी।

आर्थिक मतभेद

जनता पार्टी की कोई एकल विचारधारा नहीं थी, इसके सदस्यों में प्रसिद्ध समाजवादी, व्यापार संघों के नेता और व्यापार/व्यवसाय हितैषी नेता शामिल थे। इसने महत्वपूर्ण आर्थिक सुधारों की उपलब्धि को जटिल बना दिया। चरण सिंह महत्वपूर्ण स्थिति में थे, और यह जरूरी था कि कृषि और ग्रामीण क्षेत्र को महत्व प्राप्त हो।

छठी पंचवर्षीय योजना (इसकी समयावधि 1978-83 थी लेकिन 1980 में शासन में परिवर्तन होने के कारण इसमें कटौती की गई) को सरकार द्वारा पांचवीं पंचवर्षीय योजना की समयावधि में कटौती करके प्रारंभ किया गया जिसका उद्देश्य कृषि उत्पादन और ग्रामीण उद्योगों को गति प्रदान करना था। इसे *रोलिंग प्लान* कहा गया। रोलिंग प्लान में, नियोजन तीन स्तरों पर होता है। पहला, चालू वित्त वर्ष के लिए जैसाकि वार्षिक बजट द्वारा निर्धारित किया गया हो; दूसरा, योजना थोड़ी लम्बी अवधि के लिए निर्धारित की जाती है जिसमें आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों की आवश्यकतानुसार प्राथमिकताओं में परिवर्तन किया जा सकता हो; और तीसरा, एक परिदृश्य नियोजन, जो 10, 15 या 20 वर्षों के लिए हो। इसमें वार्षिक समीक्षा के अनुसार, समय-समय पर संशोधित करने के लिए किसी प्रकार के निश्चित लक्ष्य एवं तारीख नहीं होती जबकि समायोजन एवं लोचशीलता इस प्रकार के नियोजन का सकारात्मक पहलू होता है। इसमें एक बड़ी कमी यह होती है कि लक्ष्यों को प्राप्त करना मुश्किल होता है जैसाकि इनमें परिवर्तन हो सकता है।

कट्टर समाजवादी जॉर्ज फर्नांडीज के उद्योग मंत्री बनने के साथ, आर्थिक

आत्म-निर्भरता और स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित करने और, यदि जरूरत पड़े तो, कोका-कोला और आईबीएम जैसी अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बाहर करने का उद्देश्य रखा गया था। इन नीतियों से विदेशी निवेश में कमी आई। हालांकि, बढ़ती मुद्रास्फीति की समस्या, ईंधन की कमी, बेरोजगारी और गरीबी को प्रभावी रूप से संबोधित नहीं किया जा सका क्योंकि आर्थिक हालातों से निपटने की कोई प्रभावी वैकल्पिक आर्थिक नीति तैयार नहीं की गई थी।

चुनावों में किए गए वायदों के अनुरूप सरकार आमूल-चूल सुधार एवं परिवर्तन करने में असफल रही।

इस सरकार के कुछ उजले पहलू भी थे। अप्रैल 1977 में शुरू किए गए 'काम के बदले भोजन' ने सरकार के पास भंडारित खाद्यान्नों को ग्रामीण क्षेत्रों में कामगारों को मजदूरी के रूप में देने की व्यवस्था की, जिन्होंने सड़कों एवं तालाबों के निर्माण में मदद की जब कृषि में काम कम था।

मधु दंडवते, भी उदारवादी झुकाव वाले एक समाजवादी थे, ने रेलवे में कुछ महत्वपूर्ण सुधार किए जब वे रेल मंत्री थे। उन्होंने टिकट आरक्षण में व्याप्त भ्रष्टाचार को कम करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए। उन्होंने खराब हो चुकी पटरियों की मरम्मत का काम कराया तथा द्वितीय श्रेणी के शयन कक्ष में, यात्रियों के लिए बड़ा काम किया। उन्होंने लकड़ी के तख्तों वाली बर्थ को दो इंच फॉम वाली गद्देदार सीट में परिवर्तित कराया।

विदेश संबंध

ऐसा माना जाता था कि सरकार इंदिरा गांधी के सोवियत संघ के प्रति झुकाव से होने वाले नुकसान की भरपाई के लिए पश्चिम से घनिष्ठ संबंध बनाने का प्रयास करेगी। निश्चित ही, जनता सरकार ने अमेरिका के साथ संबंध सुधारने का प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप अमेरिकी राष्ट्रपति, जिमी कार्टर भारत की यात्रा करने वाले आइजनहावर के पश्चात् पहले अमेरिकी राष्ट्रपति थे। व्यापार में सुधार और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग में विस्तार का प्रयास किया गया। हालांकि, जनता सरकार ने स्पष्ट कर दिया था कि वह गुटनिरपेक्षता का पालन करेगी, इसलिए उसने मोरारजी देसाई और अटल बिहारी वाजपेयी (तत्कालीन विदेशी मंत्री) की मॉस्को यात्रा के साथ सोवियत संघ से मधुर संबंध बनाए रखे। परमाणु आयुध पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करते हुए, वाजपेयी ने भारत की पूर्व की नीति से शुरू किया और भारत के परमाणु कार्यक्रम के पक्ष में बात की तथा भेदभाव पर आधारित परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार किया।

जनता सरकार के विदेश संबंधों की नीति में चीन के साथ संबंधों को सामान्य करने का प्रयास किया गया। 1979 में, वाजपेयी चीन के नेताओं से मिलने हेतु बीजिंग की यात्रा करने वाले उच्चतम श्रेणी के भारतीय पदाधिकारी बने। 1962 के भारत-चीन

युद्ध के पश्चात् निलम्बित पारस्परिक संबंधों को पटरी पर लाने के लिए राजनयिक गठजोड़ को पुनःस्थापित किया गया। दोनों देश लम्बे समय से चल रहे सीमा संबंधी विवादों के समाधान, व्यापार विस्तार और सीमा सुरक्षा में सुधार के लिए नियमित वार्ता करने पर सहमत हुए।

सामाजिक परिवर्तन एवं आंदोलन

1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में, रामचंद्र गुहा के अनुसार, राजनीतिक एवं सामाजिक गलियारों में आंदोलन दृष्टिगोचर होने लगे। राजनीतिज्ञों ने समीचीनता के पक्ष में विचारधारा को त्याग दिया था और राजव्यवस्था खंडित होने लगी थी। सामाजिक स्तर पर समाज के वर्गों, जिन्हें लंबे समय से शोषित किया जाता रहा था, ने इकट्ठा एवं एकजुट होना शुरू कर दिया था, और इसने कुछ सीमा तक सामाजिक कोलाहल को हवा दी। नारीवादी और पर्यावरणवादी जैसे नए सामाजिक आंदोलन अवतरित हुए। व्यापार संघों जैसे पुराने आंदोलन नए क्षेत्रों, जैसे खनन, तक विस्तारित हो चुके थे, और महिला एवं पुरुष को समान वेतन, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए अभियान शुरू हो चुके थे। उदारीकृत प्रेस ने विभिन्न एवं व्यापक विषयों पर लिखना शुरू कर दिया था। नवीन ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस के रूप में नई प्रौद्योगिकी ने समाचार-पत्रों एवं जर्नल्स को नए क्षेत्रों तक प्रसारित करने में सहायता की। अपराध एवं भ्रष्टाचार को लेकर खोजी पत्रकारिता शुरू हुई। पाठक वर्ग में बढ़ोत्तरी हुई, विशिष्ट रूप से छोटे शहरों एवं कस्बों में, जैसाकि पत्रकारिता भारतीय भाषाओं में होने लगी थी और नागरिक स्वतंत्रता आंदोलन सक्रिय हो गया था।

सामाजिक वर्गों—ओबीसी (समाजवादी और लोक दल का निर्माण अधिकतर ओबीसी से हुआ था)—ने हरित क्रांति और भूमि सुधारों के माध्यम से आर्थिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति भी हासिल की। उन्हें अब प्रशासनिक व्यवस्था में भी स्थान मिलने लगा था। जनता सरकार ने 20 दिसम्बर, 1978 को बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री बिंदेश्वरी प्रसाद मंडल की अध्यक्षता में छह सदस्यीय पिछड़ा वर्ग आयोग के गठन की घोषणा की। यह मंडल आयोग के नाम से चर्चित हुआ। इसका काम इस बात की जांच करना था कि क्या केंद्रीय प्रशासन व्यवस्था में नौकरियों में ओबीसी को आरक्षण दिया जाना चाहिए था!

इंदिरा गांधीः दूसरा चरण
(जनवरी 1980-अक्टूबर 1984)

जनवरी 1980 में, भारत में सातवीं लोकसभा के चुनाव कराए गए, जिसमें कांग्रेस (आई) ने भारी बहुमत के साथ सत्ता में वापसी की। इंदिरा गांधी उत्तर प्रदेश में रायबरेली के साथ-साथ आंध्र प्रदेश में मेडक से भी चुनाव जीतीं। उन्होंने मेडक सीट

पर बने रहने का निर्णय किया। कांग्रेस के संसदीय नेता के रूप में चुने जाने पर वह फिर से भारत की प्रधानमंत्री बनीं।

इंदिरा गांधी ने बेहद कम लोगों पर विश्वास किया और अपने पुत्र, संजय, पर अधिकाधिक भरोसा किया। संजय गांधी भी लोकसभा चुनावों में निर्वाचित हुए। वह किसी के साथ भी शक्ति एवं सत्ता साझा करने को तैयार नहीं थीं। लेकिन जून 1980 में संजय की मृत्यु हो गई जब वह प्लेन में करतब करने की कोशिश कर रहे थे और उन्होंने प्लेन पर नियंत्रण खो दिया। राजीव गांधी, इंदिरा के बड़े बेटे, जो एक एयरलाइन पायलट थे और जिन्हें राजनीति का कोई अनुभव नहीं था, को अनिच्छुक रूप से राजनीति में आने के लिए बाध्य किया गया। जल्द ही वे अमेठी लोकसभा सीट से निर्वाचित हो गए। अधिकतर लोग जानते थे कि वह ऊपरी तौर पर कांग्रेस नेतृत्व में थे।

अर्थव्यवस्था

इंदिरा गांधी ने अर्थव्यवस्था पर अविलम्ब ध्यान दिया। जनता सरकार द्वारा चलायी गई छठी पंचवर्षीय योजना की समयावधि कम करके एक **नई छठी पंचवर्षीय योजना (1980-1985)** शुरू की गई। नई छठी पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों में मुख्यतः बढ़ती आर्थिक वृद्धि और औद्योगिकीकरण पर ध्यान देना और गरीबी एवं बेरोजगारी को कम करना था। आर्थिक और तकनीकी आत्म-निर्भरता की प्राप्ति हेतु आधुनिकीकरण के आवेगों के सशक्तिकरण के अलावा, संसाधनों के प्रयोग में दक्षता को प्रोत्साहित करना और उत्पादकता में सुधार लाना था। निर्धारित समय के भीतर, राष्ट्रीय रूप से स्वीकृत मानकों के तहत् आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए एक न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम लागू किया गया।

पूरे देश में, 2 अक्टूबर, 1980 को समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आईआरडीपी) शुरू किया गया था। अक्टूबर, 1980 में शुरू किया गया राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एनआरईपी), अप्रैल 1981 से योजनान्तर्गत नियमित कार्यक्रम बन गया।

1982 में, शिवारमन समिति की अनुशंसा पर, ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) की स्थापना की गई।

बाद में, 1982 में, सरकार के ऑपरेशन फॉरवर्ड के शुरू होने के साथ, छठी योजना को आर्थिक उदारीकरण की दिशा में पहला कदम उठाने के तौर पर देखा गया। सुधार हेतु यह पहले सजग प्रयास थे लेकिन इनके अधिक प्रभावी होने को लेकर चिंताएं भी अधिक थीं। इंदिरा गांधी बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा भारत की आत्म-निर्भरता को क्षीण करने को लेकर चिंतित थीं।

छठी योजना के अनुसार, देश के पारिस्थितिकीय एवं पर्यावरणीय पहलू में सुधार पर भी ध्यान दिया गया था। यह गौरतलब है कि इंदिरा गांधी ने 1972 में आयोजित

प्रथम पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में भाग लिया और संबोधित किया। प्रधानमंत्री के तौर पर अपने पूर्व के कार्यकाल में उन्होंने वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972 और जल (प्रदूषण की रोकथाम एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1974 का क्रियान्वयन कराया। वन्यजीव संरक्षण अधिनियम ने वन्यजीव अभ्यारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों तथा 1973 में प्रोजेक्ट टाइगर के आरंभ को सुसाध्य बनाया। अब, उनके दूसरी बार सत्ता में आने पर, वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980, और वायु (प्रदूषण की रोकथाम एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1981 को लागू कराया था।

विदेश संबंध

श्रीलंका एवं तमिल समस्याः विदेश संबंधों के क्षेत्र में, इंदिरा गांधी श्रीलंका से नाखुश थीं, जैसाकि श्रीमाओ भंडारनायके, जे.आर. जयवर्द्धने से हार गए थे और श्रीलंका ने समाजवाद से मुंह मोड़ लिया था। इंदिरा गांधी मानती थीं कि जयवर्द्धने पश्चिमी देशों के हाथ की कठपुतली हैं। यद्यपि यह आरोप लगाया गया कि इंदिरा के शासनकाल में जयवर्द्धने को भारतीय हितों के साथ संवेदनशील होने हेतु दबाव डालने के लिए 1980 के दशक में भारत ने एलटीटीई उग्रवादियों का समर्थन किया। भारतीय प्रधानमंत्री ने जुलाई 1983 की घटना, जिसमें श्रीलंका के तमिल लोगों को सिंहली भीड़ ने निशाना बनाया, के बाद श्रीलंका पर भारत के हमले की श्रीलंका की मांग को ठुकरा दिया।

पाकिस्तान-सियाचिन संघर्षः 1978 में पाकिस्तान में जनरल मुहम्मद जिया-उल-हक के सत्ता में आने के बाद भारत-पाकिस्तान संबंध अत्यधिक बिगड़ गए। भारत में यह पक्का विश्वास था कि जनरल जिया पंजाब में खालिस्तानी उग्रपंथियों को समर्थन दे रहे हैं। 1984 में, सीमा पर सैन्य झड़पें हुईं। अंत में, हिमालय में पश्चिम में सालयेरो रिज और पूर्व में मुख्य कराकोरम पर्वत शृंखला के बीच फैले क्षेत्र सियाचिन ग्लेशियर को लेकर संघर्ष उत्पन्न हुआ। यह विवादित कश्मीर क्षेत्र में अवस्थित है जिसे लेकर भारत और पाकिस्तान दोनों अपना दावा करते हैं।

इस विवाद की जड़ मानचित्र में इस क्षेत्र के उचित सीमांकन का अभाव थी और इसे मानचित्र के बाहर NJ 9842 के रूप में जाना गया था। 1984 से पूर्व, न तो भारत और न ही पाकिस्तान की इस क्षेत्र में स्थायी उपस्थिति थी। हालांकि, इस क्षेत्र पर अपने दावे को स्थापित करने के लिए, पाकिस्तानियों ने अपनी सरकार द्वारा अनुमति के आधार पर ग्लेशियर पर पर्वतारोहण को प्रोत्साहित किया। 1978 में इस बात की जानकारी होने पर, बदले की कार्यवाही के तौर पर भारतीय सेना का एक पर्वतारोही दल भी तेरम कांगड़ी चोटी पर भेजा गया। पाकिस्तान के प्रभुत्व से ग्लेशियर को मुक्त कराने के लिए, भारतीय सेना ने 1984 में ऑपरेशन मेघदूत आरंभ किया, और सियाचिन सबसे ऊंचा रण-क्षेत्र बन गया। भारत को इस संघर्ष में विजय मिली। भारत

अंतरिक्ष में भारतीय अंतरिक्ष यात्री

यह इंदिरा गांधी के शासनकाल में संभव हुआ था कि एक भारतीय ने अंतरिक्ष यात्रा की। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) और सोवियत इंटरकोसमॉस के बीच संयुक्त कार्यक्रम के हिस्से के रूप में, राकेश शर्मा, जो भारतीय वायु सेना के एक पायलट थे, को संयुक्त सोवियत-भारत अंतरिक्ष उड़ान हेतु अंतरिक्ष यात्री के रूप में 1982 में चयनित किया गया। 2 अप्रैल, 1984 को, अंतरिक्ष स्टेशन 'सलयुट' के लिए राकेश शर्मा और दो सोवियत अंतरिक्ष यात्रियों ने सोयुज टी-11 अंतरिक्ष यान से उड़ान भरी। अंतरिक्ष स्टेशन पर लगभग आठ दिनों तक ठहरने के दौरान, उन्होंने जैव-औषधि एवं सुदूर संवेदन के क्षेत्रों में कुछ प्रयोग किए और यह जानने के लिए योगाभ्यास किया कि वजन कम होने के दौरान शरीर पर योगा के क्या प्रभाव पड़ते हैं।

भारतीयों के लिए उस अंतरिक्ष मिशन का महत्वपूर्ण एवं स्मरणीय भाग वह था जब इंदिरा गांधी ने राकेश शर्मा से, एक वीडियो लिंक पर, यह पूछा कि अंतरिक्ष से भारत कैसा दिख रहा है और उन्होंने कहा, ''सारे जहां से अच्छा''।

ने दो दर्रे—सिया ला और बिलाफोंड ला—हासिल किए जबकि पाकिस्तान ने ग्योंग ला दर्रे पर नियंत्रण हासिल किया।

गुट-निरपेक्ष आंदोलनः इंदिरा गांधी के नेतृत्व में, भारत ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन में फिर से महत्व प्राप्त किया। भारत ने दिल्ली में 1983 के गुटनिरपेक्ष सम्मेलन की मेजबानी की और इस प्रकार इंदिरा गांधी इसकी अध्यक्षा बनीं। इंदिरा गांधी ने निशस्त्रीकरण और आर्थिक विकास के बीच संबंध स्थापित करने की बात की। उन्होंने सक्रिय रूप से एक नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) की आवश्यकता को साकार करने के लिए कार्य किया जो विकासशील देशों के लिए मददगार होगा।

राज्यों में असंतोष

इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री के तौर पर दूसरे कार्यकाल के दौरान भारत के कई हिस्सों में राजनीतिक और सांप्रदायिक तनाव में वृद्धि हुई।

आंध्र प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों में नक्सलवादी फिर से सक्रिय हो उठे।

झारखण्ड क्षेत्र में पृथक् राज्य के लिए आंदोलन चल रहा था जो उस समय बिहार का एक हिस्सा था। मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में भी पृथक् राज्य के लिए आंदोलन चलाए जा रहे थे।

नागालैंड में, भारत से अलग होने के विचार के साथ उग्रवाद ने फिर से अपना सिर उठा लिया था और मुइवा के नेतृत्व में उन्होंने नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ नागालैंड (एनएससीएन) का गठन किया और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कश्मीर के अलगाववादियों तथा सिख उग्रवादियों के साथ मिलकर काम किया।

राज्यों की अधिक स्वायतत्ता के लिए भी आंदोलन चल रहे थे, यद्यपि ये राज्य

भारत संघ से पृथक् होने की इच्छा नहीं रखते थे। सर्वाधिक गंभीर कोलाहल एवं अशांति असम में हुई जहां ऑल असम स्टूडेंट यूनियन ने इस बात पर दबाव डाला कि बंगाली लोगों को असम राज्य से बाहर कर दिया जाए जैसाकि उन्हें डर था कि राज्य में बंगाली लोग सांस्कृतिक रूप से प्रभुत्व की स्थिति में आ जाएंगे।

आंध्र प्रदेश में एन.टी. रामाराव, एक प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता, के नेतृत्व में 1982 में एक नई राजनीतिक पार्टी का उदय हुआ। तेलुगू देशम पार्टी ने तेलुगू भाषी लोगों के आत्मसम्मान के लिए आवाज उठाई। और वर्ष के अंत में उनकी पार्टी राज्य विधानसभा चुनाव में विजयी हुई और सत्ता में आई।

पंजाब अशांति और ऑपरेशन ब्लू स्टार

अलगाववादी ताकतों के सिर उठाने के साथ पंजाब में राजनीतिक संकट अत्यधिक व्यापक हो गया था। वस्तुतः इस संकट में कई परतें थीं। पंजाब में अधिक स्वायतत्ता के लिए तीखी मांग हो रही थी। अधिकतर सिख अपने पृथक् धर्म के संदर्भ में स्वयं को देखने लगे थे कि एक सिख राजनीतिक दल (अकाली) बिना केंद्रीय हस्तक्षेप के मुक्त रूप से राज्य पर शासन नहीं कर सकते। उन्होंने लम्बे समय तक स्वयं के एक राज्य के लिए प्रतीक्षा की, लेकिन चंडीगढ़ अभी भी हरियाणा के साथ साझा करना पड़ रहा था। नदी जल के बंटवारे को लेकर भी समस्या थी। 1973 में, अकालियों ने आनंदपुर प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें एक स्तर पर अधिक स्वायतत्ता की मांग की गई और दूसरे स्तर पर 'सिख राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया, जिसने भारतीय संघ से अलग होने का अर्थ प्रस्तुत किया।

अकालियों ने निरंकारी सिखों का विरोध किया जिन्हें वे धर्मविरोधी मानते थे। इस संदर्भ में जरनैल सिंह भिंडरेवाला का उदय हुआ। एक पुजारी या संत तथा दमदमी टकसाल के मुखिया के तौर पर, उसने जोरदार तरीके से निरंकारियों के विरुद्ध बोला। उसने यह भी कहा कि स्वतंत्र भारत में वे दास की तरह हैं और हिंदुओं तथा 'आधुनिक सिख' का उपहास किया। ऐसा कहा गया कि अकालियों के विरुद्ध भिंडरेवाला को स्वयं कांग्रेस ने खड़ा किया। यदि ऐसा हुआ था, तो वह बेकाबू दानव बन गया था, और जल्द ही उसने अपनी अलग छवि बना ली थी। उसके बड़ी संख्या में अनुगामी भी बन गए थे।

1980 में, अकालियों को एक बड़ा धक्का लगा जब वे सत्ता से बाहर हो गए और राज्य में कांग्रेस सत्ता में आ गई।

भारत से स्वतंत्र एक मुक्त राज्य बनाने के आवेग को मुख्यतः इंग्लैंड, अमेरिका और कनाडा में रह रहे सिखों ने हवा दी। जून 1980 में, अमृतसर में स्वर्ण मंदिर (गोल्डन टेम्पल) में विद्यार्थियों के एक समूह की बैठक हुई जिसमें उन्होंने स्वतंत्र सिख गणराज्य—खालिस्तान के निर्माण की घोषणा की। इसके अध्यक्ष लंदन से जगजीत सिंह चौहान थे।

भिंडरेवाला द्वारा शक्ति हासिल करने के साथ-साथ पंजाब की स्थिति बद से बद्तर होती जा रही थी और कई प्रसिद्ध व्यक्तियों की हत्या में उसके हाथ होने की शंका थी जिसमें निरंकारी नेता भी शामिल थे। सरकार उसे दण्डित करने में निष्प्रभावी हो गई थी।

भिंडरेवाला पर नकेल कसने के प्रयास के विरुद्ध, अकाली अत्यधिक उग्र हो गए थे। उनके विधायकों ने 1983 के गणतंत्र दिवस के मौके पर राज्य विधानसभा से सामूहिक रूप से त्यागपत्र दे दिया। इसने स्पष्ट किया कि भारत के संविधान के प्रति उनकी प्रतिबद्धता दृढ़ नहीं थी।

इस बीच, भिंडरेवाला अपने भाषणों में हिंदुओं के विरुद्ध जहर उगलने लगा था और हिंदुओं को राज्य से बाहर करने के लिए सिखों को हिंसा करने के लिए उकसा रहा था। सिखों के उदय/उद्गम के प्रकाश में हिंदुओं और सिखों के बीच संघर्ष होना असंभव था, लेकिन अब यह होने लगा था।

केंद्र सरकार ने शांति बनाए रखने के लिए भिंडरेवाला को तैयार करने के प्रयास हेतु नरसिम्हा राव के नेतृत्व में एक दल भेजा लेकिन वार्ता असफल हो गई और पंजाब में कानून-व्यवस्था निरंतर बद्तर होती चली गई।

खालिस्तानी आतंकवादियों ने, ऐसा कहा गया कि उन्हें पाकिस्तान प्रोत्साहित कर रहा था, धीरे-धीरे पंजाब में घुसना शुरू कर दिया था और प्रमुख हिंदुओं और सिख पदाधिकारियों की हत्याएं की जाने लगीं थीं। अक्टूबर, 1983 में, एक बस को रोका गया और उसमें बैठे हिंदुओं को गोली मार दी गई। केंद्र ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया। भिंडरेवाला बिना किसी रुकावट के अकाल तख्त, स्वर्ण मंदिर के निकट सिखों की कालिक सत्ता की सीट जो आध्यात्मिक अधिकारिता की सीट थी, तक पहुंच गया। 1984 के शुरू में, भिंडरेवाला और उसके सहयोगियों ने स्वर्ण मंदिर परिसर की किलेबंदी करनी शुरू कर दी और इसमें शस्त्र एवं गोला-बारूद और साथ ही खाने की वस्तुओं को इकट्ठा करना शुरू कर दिया। यह सब शुबेग सिंह, भारतीय सेना में मेजर जनरल था और भारतीय सेना का वीर सिपाही रहा था जिसे बाद में बर्खास्त कर दिया गया, की देख-रेख में हो रहा था।

स्पष्ट हो चुका था कि कठोर कदम उठाए जाने की आवश्यकता है। इंदिरा गांधी ने सेना प्रमुख ए.एस. वैद्य की अनुशंसा पर **ऑपरेशन ब्लू स्टार** शुरू करने की अनुमति दे दी। 2 जून, 1984 की रात से 3 जून तक पंजाब राज्य में कर्फ्यू लगा दिया गया, संचार तथा परिवहन के सभी साधनों को निलम्बित कर दिया गया, और विद्युत आपूर्ति बंद कर दी गई। मीडिया को सख्ती से प्रतिबंधित कर दिया गया। 5 जून की रात को सेना ने मेजर जनरल के.एस. बरार की कमांड और जनरल के. सुंदरजी के निर्देश के तहत् हरमंदिर साहिब पर सैन्य कार्यवाही की। उग्रवादियों के पास अत्याधुनिक हथियार थे और उन्होंने काफी समय तक गोलीबारी की। अंत में, 7 जून

की सुबह तक सेना को हरमंदिर साहिब पर पूर्ण नियंत्रण से पूर्व अकाल तख्त के विरुद्ध टैंकों का प्रयोग करना पड़ा। भिंडरेवाला और शुबेग सिंह मृत पाए गए। जबकि कई उग्रवादी मारे जा चुके थे, कई सैनिक और नागरिक भी इस घटना में मारे गए थे।

परिणामः इस ऑपरेशन से विश्व के सभी सिख परेशान एवं व्यथित हो गए। कई सिखों ने भारतीय सेना छोड़ दी। यहां तक कि सिख सैनिकों के विद्रोह की भी बात सामने आई। लेकिन इससे राज्य में आतंकवाद का अंत हुआ और फिलहाल स्वर्ण मंदिर (गोल्डन टेम्पल) परिसर से हथियार एवं गोला-बारूद हटाए जा सके थे।

लेकिन प्रधानमंत्री की हत्या को भी ऑपरेशन ब्लू स्टार के परिणाम के रूप में देखा गया। 31 अक्टूबर, 1984 की सुबह, जब इंदिरा गांधी अपने घर से कार्यालय जा रही थीं, तो उनके सिख अंगरक्षकों—बेअंत सिंह और सतवंत सिंह, ने उन पर गोली चला दी। उन्हें अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) ले जाया गया, लेकिन वे जीवित न बच सकीं। यद्यपि, सामान्य तौर पर पता चल चुका था कि इंदिरा गांधी मर चुकी थीं, लेकिन ऑल इण्डिया रेडियो और दूरदर्शन ने इसकी आधिकारिक घोषणा शाम को की।

इंदिरा गांधी का युग समाप्त हो चुका था। उनके पुत्र राजीव गांधी को उसी शाम राष्ट्रपति जैल सिंह ने प्रधानमंत्री के रूप में शपथ दिलाई, जैसाकि कांग्रेस नेताओं ने सर्वसम्मति से निर्णय किया था कि उन्हें यह पद संभालना चाहिए।

विरासत

इंदिरा गांधी लम्बे समय तक सत्ता में रही थीं। आर्थिक कार्यक्रमों और शिक्षा के विस्तार के परिणामस्वरूप, मध्य एवं निचली सामाजिक जातियां/वर्ग स्वयं को अंगीकृत कर रही थीं और शहरी भारत में मध्य वर्गों में विकास हुआ था। बदलती सामाजिक स्थिति का एक परिणाम था कि व्यापक सामाजिक असंतोष फैल रहा था। जातिगत झड़पें और सांप्रदायिक हिंसा हो रही थीं।

यद्यपि इंदिरा गांधी उदारवादी सोच की थीं और राजनीतिज्ञ के रूप में पक्षपाती नहीं थीं, तथापि उनके समय में लोकतांत्रिक मूल्यों का ह्रास हुआ था। इंदिरा गांधी की कार्यशैली की शुरुआत प्रधानमंत्री सचिवालय पर विश्वास के साथ हुई थी, जो उन लोगों से बना था जिन पर वह विश्वास कर सकती थीं, लेकिन वह अपने पुत्र और अधिकारियों के छोटे समूह पर अधिकाधिक निर्भर होती चली गईं। यह प्रवृत्ति पार्टी स्तर पर भी चल रही थी। प्रतिस्पर्धी शक्ति केंद्रों के डर के कारण, उन्होंने कांग्रेस पार्टी की संरचना को कमजोर किया। चापलूसी बढ़ने लगी, और कांग्रेस ने आधारभूत उपस्थिति के साथ जो भली-भांति संगठित ढांचा तैयार किया था, वह छिन्न-भिन्न होने लगा था। पार्टी को संगठित रखने के लिए गांधी परिवार का एक सदस्य जरूरी हो गया। विचारधारा अब राजनीति का आधार नहीं रह गई थी। यह बात अन्य पार्टियों के मामले में भी सत्य थी। भ्रष्टाचार में व्यापक बढ़ोतरी हुई, और वैयक्तिक लाभों एवं

हितों के लिए राज्य के सरकारी तंत्र का अधिकाधिक इस्तेमाल किया जाने लगा। इंदिरा गांधी का बाह्य आक्रमण के सम्मुख धैर्य एवं आत्मबल और स्पष्टवादिता प्रशंसनीय थी। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत डरने वाला नहीं है और विश्व मानचित्र पर भारत को सम्मान एवं महत्व दिलाया।

राजीव गांधी का प्रधानमंत्रित्व काल (अक्टूबर 1984-दिसंबर 1989)

प्रधानमंत्री पद संभालने से ही समस्याओं की शुरुआत

अपनी मां, इंदिरा गांधी, की 31 अक्टूबर, 1984 को हत्या हो जाने के पश्चात् राजीव गांधी को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। प्रधानमंत्री पद संभालने के साथ ही घरेलू मोर्चे पर उन्हें बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

सिख-विरोधी दंगे

जैसे ही इंदिरा गांधी की मृत्यु की खबर फैली, लोगों का गुस्सा फूट पड़ा और हिंसा की छिट-पुट घटनाएं होने लगीं। शायद यह परिस्थितियों को लेकर स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। लेकिन जैसे ही उनके पार्थिव शरीर को तीन मूर्ति भवन (प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू का आवास) में दर्शनों के लिए रखा गया, ये छिट-पुट घटनाएं अधिक व्यापक और तीव्र हो गईं। नवम्बर, 1984 से ऐसा प्रतीत होने लगा कि सिखों के प्रति संगठित और नृशंस सामूहिक हिंसा हो रही थी। दूरदर्शन पर इस उपद्रव को निरंतर चलाया जा रहा था, जो कि सरकार के स्वामित्व का और उस समय एकमात्र चैनल था। लोग प्रधानमंत्री के पार्थिव शरीर के प्रति अपनी श्रृंद्धाजलि दे रहे थे और भीड़ प्रतिशोध लेने के नारे लगा रही थी। इन सब ने भी भीड़ को उकसाया।

अधिकतर उत्तरी दिल्ली में पुनर्वास कॉलोनियों में रहने वाले गरीब सिखों को निशाना बनाया गया, लेकिन लूटपाट एवं हत्या की कुछ घटनाएं मध्य एवं उच्च वर्ग की सिख कॉलोनियों में भी हुईं थीं। रामचंद्र गुहा और तत्कालीन समय के कई अखबारों की रिपोर्ट के अनुसार, ''हिंसक भीड़ में हिंदू, मुख्य रूप से अनुसूचित जाति से सम्बद्ध सफाईकर्मी, जो शहर में काम करते थे, और गांव से शहर में आए जाट किसान और गुज्जर लोग थे''। प्रमाण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कई कांग्रेसी नेताओं ने इस भीड़ को हिंसा के लिए प्रोत्साहित किया और उकसाया। अफवाहों ने हिंसा को और अधिक तीव्र किया।

पुलिस और प्रशासन की भूमिका इस परिस्थिति में संदिग्ध थी। पुलिस ने हिंसक भीड़ के कृत्यों को लेकर आंखें मूंद ली थीं, कार्यवाही करने से मना कर दिया था या, अत्यधिक निंदनीय रूप से, हिंसक भीड़ की सक्रिय रूप से मदद की थी। दंगे दो दिन तक निर्बाध चलते रहे। प्रधानमंत्री और उनके गृह मंत्री, नरसिम्हा राव, ने तुरंत सेना

विचार

यद्यपि हम विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करते हैं और दिल्ली इसकी राजधानी है, सामान्यतया 1984 के सिख दंगों की घटनाओं के संवेदनहीन ब्यौरे और इस परिस्थिति में दिल्ली पुलिस और सरकारी तंत्र द्वारा निभाई गई भूमिका ने विश्व राजव्यवस्था के सम्मुख हमारे सिर को शर्म से झुका दिया है।

दिल्ली उच्च न्यायालय (2009)

को नहीं बुलाया। सेना दंगों को तुरंत एवं प्रभावी रूप से असफल कर सकती थी। 2 नवम्बर के बाद राजीव गांधी ने रेडियो और टेलिविजन पर घोषणा की कि दंगों को रोका जाना चाहिए और इससे दिवंगत प्रधानमंत्री की छवि पर कीचड़ उछला। 3 नवम्बर, 1984 को जाकर सेना को स्थिति को नियंत्रित करने का आदेश प्राप्त हुआ।

19 नवम्बर को, इंदिरा गांधी के जन्मदिवस के मौक पर, राजीव गांधी ने अपने एक भाषण में कहा कि 'जब बड़ा पेड़ गिरता है, तब पृथ्वी भी हिलती है', इसे दंगों को औचित्यपूर्ण ठहराने के निहितार्थ के रूप में लिया गया था। यहां तक कि कोई इस बात से सहमत हो सकता था कि इंदिरा गांधी की हत्या के पश्चात् लोगों में अत्यधिक रोष था, लेकिन यह प्रधानमंत्री की असंवेदनशील टिप्पणी थी।

'सिख-विरोधी दंगे' सरकार द्वारा दंगों को दिया जाने वाला एक शब्द था, लेकिन अधिकतर ने इसे जनसंहार कहा। यह स्वतंत्रता पश्चात् भारत के इतिहास पर अविस्मरणीय और दुखद कलंक था।

भारत के इतिहास की इस स्याह घटना का उजला पक्ष यह था कि कई हिंदुओं ने दंगों के दौरान सिख परिवारों को छिपने और उनकी जान बचाने में मदद की थी।

भोपाल गैस त्रासदी

3 दिसम्बर, 1984 को, भारत को एक और बड़ी त्रासदी का सामना करना पड़ा। मध्य प्रदेश के भोपाल में स्थित अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनी यूनियन कार्बाइड (यूसीसी) के कीटनाशक बनाने वाले संयंत्र से मिथाइल आइसोसाइनाइट (MIC-मिक) नामक जहरीली गैस का रिसाव, जिसका उपयोग कीटनाशक बनाने में किया जाता था, हुआ। इस औद्योगिक दुर्घटना में, जिसे भोपाल गैस कांड या भोपाल गैस त्रासदी के नाम से जाना जाता है, लगभग 15000 से अधिक लोगों की जान गई और बहुत सारे लोग अनेक प्रकार की शारीरिक अपंगता से लेकर अंधेपन तक के शिकार हुए। इससे सबसे ज्यादा प्रभावित फैक्टरी के आस-पास रहने वाले ग्रामीण तथा झुग्गी-बस्ती में रहने वाले लोग थे। यह दुनिया की सबसे भयानक औद्योगिक दुर्घटनाओं में से एक है। पहले तो शहर में यह संयंत्र लगाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए थी, और दूसरे इस कंपनी ने कई बार सुरक्षा मापदंडों की अवहेलना की थी जिस पर समय रहते कार्यवाही की जानी चाहिए थी।

इस आपदा के पश्चात्, यूसीसी ने अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ने की पूरी

कोशिश की और भारतीय सहायक कंपनी यूसीआईएल पर सारा दोष मढ़ दिया। उन्होंने कहा कि पूरे संयंत्र का निर्माण और संचालन पूरी तरह से यूसीआईएल द्वारा किया जा रहा था। जल्दी ही, अमेरिकी अटॉर्नी ने अमेरिकी न्यायालय में कई बिलियन डॉलर का एक मुकदमा यूसीसी के खिलाफ दायर कर दिया। त्रासदी के मानवीय निहितार्थों और नेपथ्य में धकेले जा चुके प्रभावित लोगों पर इसके असर को लेकर कानूनी लड़ाई और बहस चालू हो चुकी थी। मार्च 1985 में, भारत सरकार ने भोपाल गैस लीक आपदा अधिनियम लागू किया ताकि इस दुर्घटना से उपजे दावों के तीव्र एवं समानतापूर्ण निपटारे को सुनिश्चित किया जा सके। अधिनियम के अनुसार, सरकार पूरे विश्व में कहीं भी पीड़ितों की एकमात्र प्रतिनिधि बन गई। अंततः, सभी मुकदमें अमेरिकी न्यायक्षेत्र/अधिकारिता से हटा लिए गए और भारतीय अधिकारक्षेत्र को हस्तांतरित कर दिए गए। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अंतर्गत चलने वाले इस मामले में, यूसीसी समस्त निपटारे के लिए भारत सरकार को पीड़ितों (दावेदारों) को देने के लिए 470 मिलियन डॉलर अदा करने पर सहमत हो गई। देय धनराशि दावेदारों की संख्या पर आधारित थी, जबकि वास्तविक संख्या कहीं अधिक थी।

यह आरोप भी लगे कि अमेरिकी दबाव एवं राजनीतिक प्रभाव के चलते यूसीसी के अध्यक्ष, वारेन एंडरसन, को बिना गिरफ्तारी के भारत छोड़ने की अनुमति दे दी गई। यह विवाद जारी रहा और इसी प्रकार गैस रिसाव की दुर्घटना में पीड़ित लोगों की समस्याएं भी जारी रहीं, जैसाकि उन्हें बेहद कम क्षतिपूर्ति राशि दी गई थी।

1985 के आम चुनाव

अक्टूबर 1984 में प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किए गए राजीव गांधी ने समय पूर्व चुनावों की सिफारिश की। जनवरी 1985 में आम चुनाव कराए गए, जबकि इनका आयोजन दिसम्बर 1984 में होना था। कांग्रेस (आई) ने 400 से अधिक लोकसभा सीट जीतकर ऐतिहासिक जीत हासिल की, क्योंकि स्वतंत्रता के पश्चात्, किसी भी पार्टी द्वारा आम चुनावों में इतनी सीटें नहीं जीतीं गई थीं। यह जनादेश आंशिक रूप से इंदिरा जी के परिवार के प्रति सहानुभूति की लहर और व्यापक रूप से उग्रवाद और पृथक्तावाद को हतोत्साहित करने की इच्छा का परिणाम था। राजीव गांधी, जिन्होंने अब प्रधानमंत्री का पद संभाला, भारत के पहले युवा प्रधानमंत्री बने।

मार्च 1985 के 11 राज्य विधानसभा चुनावों में कांग्रेस ने आठ राज्यों में सरकार बनाई।

राज्यों में तनाव से निपटना

जब राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री के रूप में पद संभाला, देश के विभिन्न हिस्सों में कई नस्लीय एवं जातीय संघर्ष हुए। इनमें से कुछ को हल कर लिया गया लेकिन कुछ निरंतर परेशानी खड़ी करते रहे।

पंजाब की समस्या अत्यधिक ज्वलंत थी। अकाली नेताओं को जेल से रिहा कर दिया गया था और जुलाई 1985 में राजीव गांधी और अकाली नेता संत हरचरण सिंह लोंगोवाल के बीच एक समझौता हुआ। लेकिन अगस्त 1985 में लोंगोवाल की हत्या कर दी गई। हालांकि, सितम्बर में चुनाव कराए गए और यह देखा कि उग्रवाद के खिलाफ लोगों ने मतदान किया था, फिर भी अकाली दल बहुमत से सत्ता में आ गया। लेकिन उग्रवाद का अंत आसानी से नहीं हुआ। इसने फिर से अपना सिर उठा लिया और एक बार फिर स्वर्ण मंदिर का इस्तेमाल उग्रवादियों द्वारा किया जाने लगा। इस बार, स्वर्ण मंदिर से उग्रवादियों को बाहर करने के लिए मई 1988 में शुरू किए गए ऑपरेशन 'ब्लैक थंडर' शुरू होने के पश्चात् जे.एफ. रिबेरो और के.पी.एस. गिल के नेतृत्व में पुलिस स्थिति को नियंत्रण में लाने में सफल हो गई। यह निर्बाध एवं प्रभावी ऑपरेशन था, लेकिन इस समय भिंडरावाला की तरह लोगों की भावनाओं को भड़काने वाला कोई करिश्माई नेता नहीं था। अभी भी, उग्रवाद पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ था अपितु कुछ समय के लिए शांत हुआ था। चंडीगढ़ का मामला निरंतर तूल पकड़ रहा था।

बाहरी लोगों के राज्य में आने को लेकर 1970 और 1980 के दशकों में असम में विरोध प्रदर्शन ने हिंसक रूप ले लिया। राजीव गांधी और ऑल असम स्टूडेंट यूनियन (AASU) ने 15 अगस्त, 1985 को एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। राज्य से राष्ट्रपति शासन हटा लिया गया और दिसम्बर 1985 में चुनाव कराए गए। आसू (AASU) राजनीतिक दल बन गया और इसका नाम असम गण परिषद् रखा गया, जिसने चुनाव में हिस्सा लिया। इसने कांग्रेस को बहुत पीछे छोड़ते हुए भारी विजय प्राप्त की।

मिजो लोगों और केंद्र के बीच 1986 में एक और समझौता हुआ जिसके तहत् मिजो विद्रोहियों ने अपने हथियार डाल दिए। मिजोरम को राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। लालडेंगा—शुरुआत में भारत से अलग होने को लेकर एक विद्रोही नेता थे—के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट ने विजय प्राप्त की और वे मिजोरम, जो फरवरी 1987 में भारत का 23वां राज्य बना, के मुख्यमंत्री बने।

हालांकि, देश के अन्य हिस्सों में और साथ-ही-साथ बाद में कुछ राज्यों में फिर से समस्याएं उत्पन्न हुईं। सुभाष धीसिंग के नेतृत्व में गोरखा और नेशनल लिबरेशन फ्रंट ने पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले में नेपाली भाषी लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व किया और अपने लिए एक पृथक् राज्य की मांग की। राजीव गांधी से मुलाकात के पश्चात् घीसिंग एक स्वायत्त जिला परिषद् के दर्जे को स्वीकार करने हेतु मान गए।

त्रिपुरा, आदिवासियों और बंगालियों, जो विभाजन के पश्चात् राज्य में आ गए थे, के बीच विरोध-प्रदर्शन और झड़पों से आहत था। त्रिपुरा नेशनल वॉलेन्टियर्स (टीएनवी) ने अपहरण और हत्याएं करके नागरिकों और पुलिस को आतंकवादी

गतिविधियों के द्वारा डराने का प्रयास किया। अगस्त 1988 में, एक एमओयू पर हस्ताक्षर किए गए जिसके तहत् टीएनवी ने हिंसा और पृथक् देश की मांग को छोड़ दिया और भारत के संविधान के अंतर्गत त्रिपुरा की सभी समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान हेतु बातचीत का रास्ता अपनाया। भारत सरकार इस बात पर सहमत हुई कि राज्य विधानसभा में आदिवासियों के लिए अधिक सीट बढ़ाई जानी थी तथा कुछ अधिक गांवों को स्वायत्त आदिवासी परिषद् के अंतर्गत लाया जाना था। केंद्र, त्रिपुरा सरकार और टीएनवी के बीच वार्ता के माध्यम से आत्मसमर्पण की शर्तों का एक खाका तैयार किया गया। हालांकि, समस्याओं का पूरी तरह अंत नहीं हुआ था।

असम में, स्थानीय असमियों के खिलाफ बोडो आदिवासियों के नेतृत्व में हिंसक विरोध-प्रदर्शन किया गया। इसकी कमान ऑल बोडो स्टूडेंट यूनियन को सौंपी गई थी। समस्याओं के समाधान के कुछ प्रस्ताव भविष्य में कुछ वर्षों बाद रखे गए।

जम्मू एवं कश्मीर में, एक अलग प्रकार की समस्या उत्पन्न हुई। शेख अब्दुल्ला की मृत्यु के पश्चात्, उनके पुत्र फारुख अब्दुल्ला मुख्यमंत्री बने, लेकिन इंदिरा गांधी ने उन्हें हटा दिया। अब, राजीव गांधी के साथ, कांग्रेस और नेशनल कांफ्रेंस ने मिलकर 1986 में जम्मू-कश्मीर में गठबंधन केयर टेकर सरकार बनाई। 1987 में जम्मू-कश्मीर में चुनाव कराए गए। मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट (एमयूएफ), कश्मीरियों के एक समूह जो केंद्र से अधिक स्वायतत्ता चाहते थे, द्वारा गठित एक पार्टी, भी चुनाव मैदान में थी। चुनावों में कांग्रेस और नेशनल कांफ्रेंस को मत देने का व्यापक प्रचार किया गया ताकि चुनाव के नतीजे बड़ी मात्रा में उनके पक्ष में आएं। निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चुनावों में कांग्रेस और नेशनल कांफ्रेंस गठजोड़ शायद जीत गया होता, लेकिन गलत तरीकों एवं गड़बड़ियों ने निराशा का माहौल उत्पन्न किया और भारत सरकार के प्रति गुस्सा एवं अलगाव की भावना ने जोर पकड़ लिया। यह कश्मीर में उग्रवाद की शुरुआत थी और कुछ कश्मीरी युवा मदद के लिए पाकिस्तान की तरफ झुके।

घरेलू मोर्चे पर उठाए गए सकारात्मक कदम

राजनीति में नए चेहरे के तौर पर राजीव गांधी लोगों की बहुत सारी शुभकामनाओं के साथ सत्ता में आए। उन्होंने कार्यशैली में परिवर्तन किया। अपनी पार्टी के भीतर उन्होंने संकेत दिया कि अक्षमता, भ्रष्टाचार या चापलूसी को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। उन्होंने आधुनिक प्रबंधकीय तकनीकियों की शुरुआत की और कांग्रेस की निर्णयन प्रक्रिया में युवा एवं बहुआयामी लोगों को लेकर आए। लम्बे समय में इस प्रयास ने काम नहीं किया। 'कांग्रेस संस्कृति' ने अपनी मजबूत स्थिति बना ली थी, यहां तक कि युवा ब्रिगेड जिसने नई आशा के साथ काम शुरू किया था, पुराने रंग एवं ढंग में रंग गया था। उन्होंने लाल फीताशाही में कमी करने का प्रयास किया और प्रशासन को अधिक जन-हितैषी बनाया और इसकी कठोरता में कमी की।

दल-बदल विरोधी कानून

प्रधानमंत्री के रूप में राजीव गांधी के सर्वप्रमुख कामों में जनवरी 1985 में दल-बदल विरोधी कानून पारित कराना था। जिसके परिणामस्वरूप, केंद्र या राज्य स्तर पर निर्वाचित सांसद और विधायक आगामी चुनाव तक विपक्षी दल में शामिल नहीं हो सकते, अन्यथा उसे सदन के सदस्य के तौर पर अनर्ह घोषित कर दिया जाएगा। यह कदम सांसदों और विधायकों को पार्टी बदलने, ताकि सरकार बनाने के लिए सदन में संख्या को तोड़ा-मरोड़ा जा सके, के लिए भ्रष्टाचार और रिश्वत के प्रचलन को नियंत्रित करने के उद्देश्य से उठाया गया।

पर्यावरण संबंधी कानून

भोपाल त्रासदी के परिणामस्वरूप भारत में पर्यावरणीय जागरूकता और सक्रियता में वृद्धि हुई थी। प्रधानमंत्री के तौर पर राजीव गांधी ने आवश्यक एवं सकारात्मक रूप से इसका प्रत्युत्तर दिया। 1986 में पर्यावरण संरक्षण अधिनियम (ईपीए) बनाया गया जिसके तहत् पर्यावरणीय कानूनों एवं नीतियों के क्रियान्वयन और प्रशासन हेतु समस्त उत्तरदायित्वों के लिए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय गठित किया गया। ईपीए ने केंद्र को किसी भी उद्योग को बंद करने, प्रतिबंधित करने या विनियमित करने हेतु प्रत्यक्ष आदेश जारी करने की शक्ति दी। एक शक्तिशाली कानून होने के नाते इसने कार्यपालिका को व्यापक शक्तियां प्रदान कीं और विभिन्न मुद्दों के समाधान के लिए नियम बनाने की अनुमति प्रदान की। 1987 में कारखाना अधिनियम 1948 में संशोधन किया गया जिसने राज्यों को खतरनाक एवं हानिकारक विधियों एवं तत्वों का प्रयोग करने वाले कारखानों की अवस्थिति के मार्गदर्शन हेतु एक 'साइट अप्रेजल कमेटी' नियुक्ति करने की शक्ति प्रदान की। कामगारों एवं आस-पास के निवासियों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए भी व्यवस्था स्थापित की गई और आपात आपदा नियंत्रण योजनाएं विनिर्दिष्ट की गईं। 1989 तक, खतरनाक अपशिष्ट (प्रबंध एवं निपटान) नियम खतरनाक रसायनों के आयात, प्रबंधन एवं भंडारण हेतु लागू किए गए। 1991 में पब्लिक लायबिलिटी इश्योरेंस एक्ट लागू किया गया जिसने घातक तत्वों के निपटान के दौरान दुर्घटना से प्रभावित व्यक्तियों को अविलंब राहत प्रदान की।

स्थानीय सरकार में सुधार

राजीव गांधी ने पंचायती राज व्यवस्था में सुधार का सूत्रपात किया। उन्होंने देखा कि राज्यों में पंचायत व्यवस्था अप्रभावी ढंग से कार्य कर रही थी और इस स्थिति में सुधार के लिए उन्होंने संवैधानिक संशोधन प्रस्तुत किया जिसके तहत् नियमित पंचायती चुनाव अपरिहार्य किए जाने थे। हालांकि, उनके शासनकाल में संविधान संशोधन अधिनियम पारित न हो सका लेकिन इस दिशा में प्रयास किए गए थे, और आने वाले वर्षों में स्थानीय स्वशासन व्यवस्था को संवैधानिक स्थिति एवं मंजूरी प्राप्त हुई।

अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की ओर प्रथम कदम

राजीव गांधी सरकार का पहला बजट वित्त मंत्री वी.पी. सिंह द्वारा प्रस्तुत किया गया जिसने अर्थव्यवस्था की संवृद्धि एवं प्रगति में अवरोध बने अनावश्यक नियंत्रणों को हटा दिया। लाइसेंसिंग योजना के सरलीकरण के अलावा, विभिन्न आयात की जाने वाली मदों पर करों में कमी और निर्यात को प्रोत्साहित करने हेतु कर छूट के साथ व्यापार तंत्र को उदारीकृत किया गया। करों की दरों में कमी की गई और कंपनी संपत्ति पर नियंत्रण में ढील दी गई। इन कदमों के परिणामस्वरूप, व्यावसायिक घरानों ने बेहतर प्रदर्शन किया, और उद्योग की वृद्धि दर में सुधार हुआ। हालांकि, इस दौरान व्यवसायी और राजनीतिज्ञों की घनिष्ठता भी बढ़ी और व्यवसायियों के हित में काम करने पर राजनीतिज्ञों को उपहार (यहां तक कि धन भी) प्राप्त हुए। स्थावर संपदा (रियल एस्टेट) क्षेत्र राजनीतिज्ञों के सहयोग से भ्रष्टाचार और काले धन का शक्तिशाली स्रोत बन गया।

हालांकि, प्रधानमंत्री के रूप में अपने पदावधि के अंत में, राजीव गांधी, ने देश में जनसंख्या आधिक्य सहित कई समस्याओं का सामना किया। उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुओं पर करों में वृद्धि हो गई थी और हवाई यात्राएं बेहद महंगी हो गईं थीं। अप्रैल 1989 में, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एनआरईपी) और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आरएलईजीपी) का जवाहर रोजगार योजना में विलय कर दिया गया।

प्रौद्योगिकी मिशन

भारत में सामाजिक-आर्थिक स्थिति के सुधार की इच्छा से ओत-प्रोत, राजीव गांधी के निर्देश में छह प्रौद्योगिकी मिशन गठित किए गए। इसके पीछे सोच थी कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा अल्प विकास की समस्या से निपटा जाए। समस्याओं के समाधान के लिए वैज्ञानिक उपागमों का अनुप्रयोग किया जाना था। लक्ष्योन्मुखी परियोजनाओं का निहितार्थ था कि भारत को सहस्र वर्षों में आधुनिक राष्ट्र के रूप में प्रवेश करना चाहिए।

पेयजल मिशन का लक्ष्य उपग्रहों और भूगर्भशास्त्र, सिविल इंजीनियरिंग और जैव रसायन के अनुशासन का प्रयोग करके जल की अवस्थिति का पता लगाना, उसे निकालना और उसका शुद्धीकरण करना था ताकि देश के सभी लोगों को सुरक्षित पेयजल प्राप्त हो सके। दुग्ध उत्पादन और गाय के स्वास्थ्य में सुधार; खाद्य तेल के उत्पादन का विस्तार जिससे आयात को नियंत्रित किया जा सके; लोगों के स्वास्थ्य में सुधार, विशिष्ट रूप से पोलियो से बचाव के लिए बच्चों में टीकाकरण करके; ग्रामीण क्षेत्रों में टेलिविजन नेटवर्क का विस्तार करके और इसे एक माध्यम के रूप में प्रयोग करके साक्षरता दर में वृद्धि करने की दिशा में मिशनों को चलाया गया था। यह

सभी अच्छी युक्तियां थीं और समय के साथ इन्हें अन्य कार्यक्रमों में भी शामिल किया गया था।

दूरसंचार मिशन काफी लोकप्रिय हुआ। विशाल देश के सुदूर क्षेत्रों तक पहुंचने के लिए संचार के महत्व को महसूस करते हुए, राजीव गांधी पूरे भारत में दूरसंचार की सेवा, निर्भरता और पहुंच का सुधार चाहते थे। स्वदेशी विकास, स्थानीय प्रतिभा और निजीकरण मिशन का हिस्सा थे। सैम पित्रोदा, अमेरिका में प्रशिक्षित भारतीय युवा टेलिकॉम विशेषज्ञ, इस विषय पर राजीव गांधी के सलाहकार बने और अन्य प्रौद्योगिकी मिशनों पर भी उन्होंने परामर्श प्रदान किया। उन्हें दूरसंचार आयोग का अध्यक्ष बनाया गया। महानगर टेलिफोन निगम लिमिटेड, जिसे लोकप्रिय तौर पर एमटीएनएल के नाम से जाना गया, की स्थापना की गई।

कम्प्यूटरीकरण

कम्प्यूटरीकरण एक अन्य क्षेत्र था जिसमें राजीव गांधी की पहल की प्रशंसा की गई। उनकी सरकार ने कम्प्यूटर उपकरणों के आयात पर शुल्क में कटौती के साथ बड़े पैमाने पर कम्प्यूटरीकरण को सुगम बनाया ताकि घरेलू विनिर्माण कंपनियां उत्पादन बढ़ा सकें। विदेशी कम्प्यूटर निर्माता कंपनियों को भारतीय बाजार में अनुमति देने हेतु नियमों एवं कानून को उदार बनाया गया ताकि गुणवत्ता और प्रतिस्पर्धी मूल्य सुनिश्चित हो सकें। विद्यालयों और कार्यालयों में कम्प्यूटर के प्रयोग को प्रोत्साहित किया गया। इन कदमों के परिणामस्वरूप, भारत जल्द ही प्रमुख सॉफ्टवेयर निर्यातक देश के रूप में उभरा था। कुछ लोगों ने इन कदमों को भारत में सूचना क्रांति की शुरुआत कहा था।

शिक्षा नीति

1968 में, इंदिरा गांधी के नेतृत्व में सरकार ने प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनपीई) आरंभ की थी। 1986 में, राजीव गांधी ने नई शिक्षा नीति प्रस्तुत की थी जिसने, ''असमानताओं को समाप्त करने और शैक्षिक अवसरों में समानता लाने पर विशेष बल'' देने पर जोर दिया। इस नीति ने छात्रवृत्ति का विस्तार करने, वयस्क शिक्षा, अनुसूचित जातियों से अधिक शिक्षकों की भर्ती करना, गरीब परिवारों को उनके बच्चों को नियमित रूप से स्कूल भेजने के लिए प्रोत्साहन राशि प्रदान करना, नए संस्थानों का विकास और आवास तथा सेवाओं की सुविधा को शामिल किया। इस नीति के अंतर्गत, राजीव गांधी ने समस्त भारत में प्राथमिक विद्यालयों के स्तर पर शैक्षिक आधारिक ढांचे के सुधार के लिए ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड शामिल किया। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू), इस नीति का उपोत्पाद, को वयस्क शिक्षा की दिशा में निर्देशित किया गया। भारत के प्रत्येक जिले में नवोदय विद्यालय की अवधारणा 'एनपीई-1986' के एक हिस्से के तौर पर उदित हुई। इसका लक्ष्य सामाजिक न्याय के साथ उत्कृष्टता स्थापित करना था। इन आवासीय विद्यालयों को गरीब परिवारों के

बच्चों, जिनका चयन योग्यता के आधार पर किया गया था, और जो स्कूल में रह सकते थे, को निःशुल्क गुणवत्तापरक शिक्षा प्रदान करना था।

नकारात्मक पहलू

ऐसे कई क्षेत्र थे जहां राजीव गांधी सरकार प्रभावी ढंग से कार्य नहीं कर पायी या उसने गंभीर युक्तिगत गलतियां कीं।

शाहबानो प्रकरण

शाहबानो प्रकरण भारत में राजनीतिक विवाद को जन्म देने के लिए कुख्यात है। इसको अक्सर राजनैतिक लाभ के लिए अल्पसंख्यक वोट बैंक के तुष्टीकरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

शाहबानो एक मुस्लिम महिला थी जिन्हें उनके पति ने 1978 में तलाक दे दिया था। अपने और बच्चों की जीविका का कोई साधन न होने के कारण शाहबानो पति से गुजारा भत्ता लेने के लिए अदालत पहुंची। 1985 में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया जिसमें निचली अदालत के निर्णय को बरकरार रखते हुए उच्चतम न्यायालय ने अपराध दंड संहिता की धारा 125 के अंतर्गत निर्णय लिया जो हर किसी पर लागू होता है चाहे वह किसी भी धर्म, जाति या संप्रदाय का हो। न्यायालय ने निर्णय दिया कि शाहबानो को निर्वाह-व्यय के समान जीविका दी जाए।

भारत के रूढ़िवादी मुसलमानों के अनुसार, यह निर्णय उनकी संस्कृति और विधानों पर अनाधिकार हस्तक्षेप था। इससे उन्हें असुरक्षित अनुभव हुआ और उन्होंने इस निर्णय का जमकर विरोध किया। उनके नेता और प्रवक्ता एम.जे. अकबर और सैयद शाहबुद्दीन थे। इन लोगों ने *ऑल इंडिया पर्सनल लॉ बोर्ड* नाम की एक संस्था बनाई और सभी प्रमुख शहरों में आंदोलन की धमकी दी। कुछ समय बाद एक सांसद संसद में इस प्रभाव का निजी विधेयक लेकर आए कि मुसलमानों को अपराध दंड संहिता की धारा 125 की सीमा से बाहर किया जाए। आरिफ मोहम्मद खान, गृह राज्य मंत्री, ने इसका विरोध किया। सदन में यह विधेयक पारित न हो सका। लेकिन मुसलमानों में असंतोष गहराता जा रहा था। हजारों मुसलमानों ने सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन शुरू कर दिए। राजीव गांधी सरकार ने इस दबाव के आगे घुटने टेक दिए। 1986 में कांग्रेस ने संसद में मुस्लिम महिला (तलाक अधिकार संरक्षण) कानून 1986 को प्रस्तुत किया और बहुमत में होने के कारण पारित करवा लिया। इसने शाहबानो मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय को पलट दिया। इस अधिनियम के अनुसार, जब एक तलाकशुदा मुसलमान महिला *इद्दत* के समय के बाद अपना गुजारा कर सकती है तो न्यायालय उन संबंधियों को उसे गुजारा देने का आदेश दे सकता है जो मुसलमान कानून के अनुसार उसकी संपत्ति के उत्तराधिकारी हैं। किंतु यदि ऐसे संबंधी नहीं हैं अथवा वह गुजारा देने की हालत में नहीं हैं तो न्यायालय प्रदेश

वक्फ बोर्ड को गुजारा देने का आदेश देगा। इस प्रकार से पति के गुजारा देने का उत्तरदायित्व इद्दत के समय के लिए सीमित कर दिया गया।

राजीव गांधी सरकार ने इसे धर्मनिरपेक्षता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। आरिफ मोहम्मद खान ने विरोध स्वरूप अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

बाबरी मस्जिद का दरवाजा खोलने का मामला

ब्रिटिश समय में, अयोध्या में स्थित बाबरी मस्जिद मुसलमानों द्वारा नमाज अदा करने के लिए प्रयोग की जाती थी। मस्जिद के बाहर एक चबूतरा था जिसमें हिंदू राम की पूजा किया करते थे। यह माना जाता था कि यह स्थान राम का जन्म स्थान है। 1949 में, राम लला की एक मूर्ति एक रात मस्जिद के भीतर स्थापित कर दी गई। हिंदू भक्तों ने मूर्ति के मस्जिद में प्रकट होने को चमत्कार के रूप में देखा और इस स्थल पर पूजा की मांग की। सांप्रदायिक सौहार्द भंग होने के चलते, स्थानीय प्राधिकारियों ने अयोध्या में विवादास्पद स्थान को ताला लगाने का निर्णय लिया ताकि न तो हिंदू और ना ही मुसलमान अपने-अपने दावों पर जोर देने के लिए इसे पूजा करने के लिए प्रयोग कर सकें।

फैजाबाद न्यायालय के समक्ष अपील की गई कि राम जन्मभूमि के दरवाजों को इस आधार पर खोला जाना चाहिए कि यह फैजाबाद जिला प्रशासन था, न कि न्यायालय, जिसने इस स्थान को बंद करने का आदेश दिया था। 1980 के दशक में, विश्व हिंदू परिषद् (वीएचपी) और अन्य ऐसे हिंदू समूहों ने इस स्थल पर राम मंदिर बनाने के लिए एक अभियान की शुरुआत की। 1 फरवरी, 1986 को, फैजाबाद जिला न्यायाधीश ने मस्जिद के दरवाजे खोलने का आदेश दिया ताकि लोग प्रार्थना कर सकें। उस समय की रिपोर्ट के अनुसार, राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार ने सुनिश्चित किया कि फैजाबाद जज के फैसले के बाद मस्जिद के दरवाजों को अविलंब खोल दिया जाए। मस्जिद के दरवाजे खोलने की घटना को कैमराबद्ध करने के लिए मौजूद टेलिविजन चैनल इस बात की ओर इशारा कर रहे थे कि जज के निर्णय के बारे में प्रशासन को पहले से ही पता था।

यह बात पक्की थी कि राजीव गांधी सरकार का अयोध्या मामले को लेकर निर्णय कट्टर हिंदुओं को शांत करके मुस्लिम महिला अधिनियम में संतुलन बनाने का था। यदि कांग्रेस ने सोचा था कि वह बीजेपी के मंदिर अभियान की हवा निकाल देगी, तो यह उसकी भूल थी। इस अवसर को संघ परिवार ने लपक लिया। वीएचपी निर्भीक बन गई और इसका रुख सख्त हो गया। अब पूर्वोक्त स्थल पर मस्जिद को गिराकर मंदिर बनाने की मांग अधिक प्रचंड हो गई।

इन दो मुद्दों के बाद राजीव गांधी की आधुनिक विकासोन्मुखी नेता के रूप में छवि धूमिल हो गई। जैसाकि तत्कालीन राजनीतिक विश्लेषकों ने चेताया था कि,

चुनावी लाभ के लिए समुदायों के तुष्टीकरण की नीति दुष्चक्र बन सकती है और सामाजिक संरचना को बर्बाद कर सकती है।

बोफोर्स घोटाला

बोफोर्स घोटाले ने प्रधानमंत्री के लिए एक बड़ी समस्या खड़ी की। मार्च 1986 में, भारत सरकार ने भारतीय सेना के लिए 400 '155 एमएम होवित्जर तोपों' की आपूर्ति स्वीडिश हथियार निर्माता कंपनी ए.बी. बोफोर्स (किसी समय इसका स्वामित्व एलफ्रेड नोबल के पास था) के साथ एक समझौता किया। यह सौदा 285 मिलियन डॉलर (लगभग 1500 करोड़ रुपए) में तय हुआ जो उस समय का एक भारी-भरकम सौदा था।

लगभग एक वर्ष बाद, अप्रैल 1987 में, एक स्वीडिश रेडियो रिपोर्ट में दावा किया गया कि बोफोर्स सौदे में प्रमुख भारतीय राजनेताओं और रक्षा कर्मियों के साथ-साथ स्वीडिश पदाधिकारियों को भी रिश्वत दी गई थी।

जेनेवा में 'हिंदू' समाचार-पत्र की संवाददाता, चित्रा सुब्रमण्यम, ने अपने अखबार के लिए मामले की खोजबीन की और कई दस्तावेज एकत्रित किए, जिनके आधार पर उन्होंने खुलासा किया कि कुछ शक्तिशाली लोगों को 64 करोड़ रुपए अदा किए गए थे। इस सारे घटनाक्रम के बीच एक नाम जो सामने आया, ओटावियो क्वात्रोची था, जो इटली का एक व्यवसायी था और इटली की पेट्रोकेमिल फर्म 'स्नेमप्रोगेट्टी' का प्रतिनिधि था। ऐसा कहा जाता है कि गांधी परिवार के साथ घनिष्ठता के कारण वह भारत सरकार और अंतरराष्ट्रीय व्यवसाय के बीच शक्तिशाली बिचौलिया (ब्रोकर) बन गया। इंडियन एक्सप्रेस और स्टेट्समैन ने भी इसके ऊपर लंबी-चौड़ी रिपोर्ट दी, जिसके आधार पर इसे बोफोर्स घोटाले के नाम से जाना गया।

इसी बीच, वी.पी. सिंह से वित्त मंत्रालय लेकर उन्हें रक्षा मंत्रालय सौंपा गया, जो बोफोर्स सौदे से संबंधित भ्रष्टाचार विवरण को उजागर कर सकते थे। अंततः वी.पी. सिंह ने मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। इसने राजीव गांधी सरकार के खिलाफ शंका में वृद्धि की और यहां तक कि राजीव गांधी को लेकर भी संदेह बढ़ने लगा। राजीव गांधी द्वारा संसद में की गई घोषणा कि बोफोर्स सौदे में किसी प्रकार की रिश्वत नहीं दी गई और न ही इसमें कोई बिचौलिया शामिल था, पर लोगों को विश्वास नहीं हुआ। राजीव गांधी, जिन्हें 'मिस्टर क्लीन' के उपनाम से जाना जाता था, की छवि को इससे अपूरणीय क्षति हुई।

जुलाई 1988 में, राजीव गांधी ने एक विधेयक तैयार किया जिसे भारत सरकार द्वारा तैयार सबसे कठोर बिल कहा गया। इस विधेयक का उद्देश्य प्रेस की स्वतंत्रता में कटौती करने का था। इसमें उल्लेख किया गया कि अखबार/जर्नल के संपादक या स्वामी को 'आपराधिक लांछन' और अभद्र या अपमानपूर्ण लेख, जैसाकि राज्य द्वारा परिभाषित किया गया हो, के लिए कारावास का दण्ड हो सकता था। यह सब बोफोर्स

घोटाले से संबंधित खोजी पत्रकारिता के कारण हो रहा था। अंत में बिल को प्रस्तुत नहीं किया गया, लेकिन इसने सरकार की छवि को और अधिक नुकसान पहुंचाया।

किसान असंतोष

मानसून के न आने से देश त्रस्त था, और 1987 में भीषण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई जिसने ग्रामीण लोगों को क्रोधित कर दिया। उड़ीसा का कालाहांडी जिला विशेष रूप से प्रभावित हुआ। देश में असंतोष वर्षा सिंचित क्षेत्रों से सिंचित क्षेत्रों तक फैल गया। किसान संगठन एकजुट होने लगे। इसमें मुख्य रूप से शरद जोशी, जो किसी समय नौकरशाह रह चुके थे, के नेतृत्व में शेटकारी संगठन और महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में भारतीय किसान संघ प्रमुख थे। शेटकारी संगठन महाराष्ट्र में सक्रिय था जबकि भारतीय किसान संघ पंजाब एवं हरियाणा में सक्रिय था। इन नेताओं ने देश में भारत के ग्रामीणों और इण्डिया के शहरी मध्य वर्ग के बीच अंतर को उजागर किया और स्पष्ट किया कि भारत के ग्रामीणों पर सरकार द्वारा तैयार आर्थिक नीतियों में अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। उनकी मांग थी कि कृषि उपज के लिए ऊंची कीमतें होनी चाहिए और कृषि प्रयोग के लिए बिजली पर सब्सिडी मिलनी चाहिए। वास्तविक रूप से, हालांकि, यह संगठन धनी एवं मध्यम स्तर के किसानों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, न कि ग्रामीण समाज में असली निर्धन वर्ग का। पूरे भारत के गरीब, चाहे वह शहरी क्षेत्र में हों या ग्रामीण क्षेत्र में, इसी प्रकार की समस्या से जूझ रहे थे जिसकी आवाज को कभी-कभार ही सुना जाता है।

विदेश संबंध

राजीव गांधी ने अमेरिका के साथ संबंध सुधारने और वैज्ञानिक तथा आर्थिक संबंधों का विस्तार करने का प्रयास किया। आर्थिक उदारीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी पर बल देने की उनकी नीति ने अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों के साथ घनिष्ठता बढ़ाने में मदद की। कहा जाता है कि राजीव गांधी ने प्रत्यक्ष निजी माध्यम से रोनाल्ड रीगन, तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति, के साथ संचार स्थापित किया जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान को प्रस्तावित अवाक्स युद्धक विमान (AWACS) की आपूर्ति को रद्द कर दिया गया।

पश्चिम से घनिष्ठता के बावजूद, राजीव गांधी ने परमाणु अप्रसार मुद्दे के सामने घुटने नहीं टेके, जैसाकि भारतीय विदेश नीति ने सदैव सार्वभौमिक निःशस्त्रीकरण पर बल दिया। जून 1988 में, संयुक्त राष्ट्र महासभा के पंद्रहवें विशिष्ट सत्र में, राजीव गांधी ने कहा कि विश्व परमाणु हथियारों से मुक्त होना चाहिए, और ''आणविक आयुद्ध मुक्त और अहिंसक विश्व व्यवस्था में विकास'' संबंधी अपनी कार्य योजना प्रस्तुत की।

1986 में, सेशेल्स के राष्ट्रपति को तख्ता पलट का सामना करना पड़ा और उन्होंने

भारत से मदद मांगी। राजीव गांधी सरकार ने भारतीय नौसेना को सेशेल्स के तट पर जाकर ऑपरेशन 'फ्लावर्स आर ब्लूमिंग' नामक मिशन के तहत् तख्ता पलट को असफल करने में सेशेल्स सरकार को मदद करने के आदेश दिए।

1988 में, मालदीव में तख्ता पलट की संभावनाएं बलवती होने लगीं जिसमें विद्रोहियों की मदद श्रीलंका के सशस्त्र विद्रोहियों 'पीपुल्स लिबरेशन ऑर्गेनाइजेशन ऑफ तमिल ईलम (PLOTE) द्वारा की जा रही थी। मालदीव सरकार ने भारत से मदद की गुहार लगाई, जिस पर राजीव गांधी ने ऑपरेशन 'कैक्टस' के तहत् भारतीय सेना को मालदीव में तैनात करने का आदेश जारी किया। मालदीव में तख्ता पलट को टाल दिया गया।

1987 में, भारत ने सियाचिन में *क्वैद पोस्ट* को पुनःहासिल कर लिया जिसे ऑपरेशन 'राजीव' का नाम दिया गया।

दिसम्बर 1988 में, राजीव गांधी, जवाहरलाल नेहरू के बाद चीन की यात्रा करने वाले पहले प्रधानमंत्री बने। 1986-87 में, भारतीय और चीनी फौजों के बीच पूर्वोत्तर सीमा पर *सुमदोरंगचू* को लेकर विवाद खड़ा हो गया। हालांकि, राजीव गांधी की यात्रा ने रिश्तों को बेहतर बनाया। उन्होंने डेंग झियाओपिंग, यद्यपि न तो वह राजाध्यक्ष थे, न ही सरकार के प्रमुख और न ही साम्यवादी दल के महासचिव थे, के साथ बैठक की, जो चीन में समग्र महत्व के व्यक्ति थे।

भारत और चीन ने सीमा के प्रश्न के निष्पक्ष, औचित्यपूर्ण, एवं पारस्परिक स्वीकार्य समाधान हेतु संयुक्त कार्यशील समूह (जेडब्ल्यूजी) और संयुक्त आर्थिक समूह (जेईजी) की स्थापना हेतु दो महत्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर किए और सभी क्षेत्रों में द्विपक्षीय संबंधों को विकसित एवं विस्तारित करने पर सहमत हुए।

आईपीकेएफ दुर्घटना

श्रीलंका सिंहली बहुल और तमिल अल्पसंख्यकों के बीच जातीय संघर्ष का सामना कर रहा था। तमिल अधिकांशतया द्वीप के उत्तरी हिस्से में रहते थे। ब्रिटेन से आजादी प्राप्ति के पश्चात्, श्रीलंका में सिंहली को आधिकारिक भाषा घोषित कर दिया गया। तमिल इसे पक्षपातपूर्ण मानते थे और सिंहली के समान अपनी भाषा का दर्जा चाहते थे। जब विभेद जारी रहा तो इसे लेकर विरोध-प्रदर्शन होने लगे। सरकारी दमनकारी कदमों ने हिंसक रूप ले लिया। जल्द ही श्रीलंकाई सशस्त्र बलों के खिलाफ जाफना प्रायद्वीप में कई आतंकी समूह सक्रिय हो गए। समय के साथ, लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (एलटीटीई) वेलुपिल्लई प्रभाकरन के नेतृत्व में सबसे प्रमुख समूह बन गया और श्रीलंकाई फौजों तथा आम नागरिकों के साथ हिंसक संघर्ष किए। उनकी मांग स्वायतत्ता प्राप्ति से चलकर श्रीलंका सरकार से पृथक् एक स्वतंत्र तमिल राज्य बनाने तक पहुंच गई। यद्यपि यह श्रीलंका का आंतरिक मामला था, जाफना संघर्ष ने तमिलनाडु में तनाव उत्पन्न किया, जहां अधिकतर लोग श्रीलंकाई तमिल लोगों से

जुड़ाव महसूस करते थे। एलटीटीई ने तमिलनाडु को एक आश्रय स्थल के तौर पर प्रयोग किया, और राज्य सरकार ने उनके उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखी, और यहां तक कि केंद्र सरकार भी चुप रही। यह माना गया कि इंदिरा गांधी और राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व समय में सरकारों ने चोरी-चोरी तमिल आतंकियों का समर्थन किया।

जब श्रीलंकाई फौजों ने नृशंसतापूर्वक कार्रवाई की और जाफना के तमिल बहुल जिलों की घेराबंदी कर ली, तो राजीव गांधी ने इस मामले को पहले कूटनीतिक रूप से सुलझाने का प्रयास किया। लेकिन नाकेबंदी जारी रही। भारत ने उम्मीद की कि श्रीलंकाई सरकार घेराबंद तमिलों के लिए समुद्र द्वारा भारत से भेजी जा रही राहत सामग्री को लेकर नरम रहेगी। श्रीलंका के क्षेत्रीय जल क्षेत्र में राहत सामग्री से लदे भारतीय जहाजों के बेड़े को श्रीलंकाई नौसेना ने घेर लिया। 4 जुलाई, 1987 को, भारत सरकार ने मानवीयता के आधार पर हवाई जहाज के माध्यम से राहत सामग्री गिराने का आदेश दिया जिसे ऑपरेशन *पूमलाई* (ईगल मिशन-4 भी कहा गया) के तहत् किया जाना था लेकिन श्रीलंका की चेतावनी के बाद यह ऑपरेशन रोक दिया गया।

कुछ देशों ने भारत की इस कार्रवाई की निंदा की और श्रीलंका ने भारत पर 'संप्रभुता के निरंतर उल्लंघन' का आरोप लगाया। अमेरिका ने इस घटना पर खेद व्यक्त किया लेकिन किसी प्रकार की टिप्पणी नहीं की। हवाई मार्ग से राहत सामग्री गिराकर भारत यह संदेश देना चाहता था कि जाफना की घेराबंदी को हटा लिया गया था, और युद्ध-विराम की घोषणा कर दी गई थी।

भारत-श्रीलंका समझौता 1987: जुलाई 1987 में, श्रीलंका के राष्ट्रपति, जे. आर. जयवर्द्धने, ने राजीव गांधी से द्वीपीय देश के जातीय संघर्ष में मध्यस्थता करने को कहा। जिसके परिणामस्वरूप, 29 जुलाई, 1987 को कोलंबो में दोनों नेताओं ने शांति समझौते पर हस्ताक्षर किए।

संयोगवश, राजीव गांधी के श्रीलंका दौरे में 'गार्ड ऑफ ऑनर' के दौरान एक श्रीलंकाई ने उन पर हमला किया जिसे हत्या का प्रयास समझा गया। राजीव गांधी गंभीर चोट के बावजूद बच गए।

तीन विवादास्पद मामलों—रणनीतिक हित, श्रीलंका में भारतीय मूल के लोग और श्रीलंका में तमिलों के अधिकार—को संबोधित करने के दृष्टिगत यह शांति समझौता काफी महत्वाकांक्षी था। समझौते के अनुसार, श्रीलंका सत्ता का प्रांतों में हस्तांतरण करने को सहमत हो गया, उत्तर में श्रीलंकाई सैनिक अपनी बैरकों को वापस ले लेंगे तथा तमिल विद्रोही अपने हथियार डाल देंगे और आत्मसमर्पण करेंगे। एलटीटीई को भंग करने के अलावा, तमिल को श्रीलंका की राजकीय भाषा स्वीकार किया गया था। इस समझौते ने संघर्ष पर अस्थायी विराम लगा दिया। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह थी कि बातचीत में वार्ता के लिए एलटीटीई को एक पार्टी के रूप में शामिल नहीं किया गया था।

यह समझौते के अंतर्गत था कि भारतीय शांति रक्षा सेना (आईपीकेएफ) को श्रीलंका के उत्तरी और पूर्वी प्रांतों में भेजा गया था जहां तमिल बहुलता में थे। यह इस बात की सुनिश्चितता थी कि तमिल अलगाववादी समूहों और सरकार के बीच 'शत्रुता की समाप्ति हो रही थी। एलटीटीई ने, हालांकि, हथियार छोड़ने (आत्मसमर्पण) से मना कर दिया और उन तमिलों को डराना शुरू कर दिया जो आतंकी समूहों का विरोध कर रहे थे। आईपीकेएफ और एलटीटीई सैन्य मतभेद में उलझ गए।

आईपीकेएफ गंभीर रणनीतिक बाधाओं के अंतर्गत काम कर रही थी। यह युद्ध अपरम्परागत था जिसमें एक समूह का तमिलनाडु के साथ मजबूत भावनात्मक संबंध था और दूसरी ओर भारत के हस्तक्षेप से सिंहलियों की द्वैषपूर्ण प्रतिक्रिया आ रही थी, साथ-ही-साथ वे इसे उनकी संप्रभुता पर चोट करने के रूप में भी देख रहे थे।

अंततः आईपीकेएफ ने जाफना में एलटीटीई मुख्यालय पर कब्जा कर लिया लेकिन आतंकी जंगलों में जाकर छिप गए जहां से उन्होंने गुरिल्ला युद्ध रणनीति से सुरक्षा बलों की नाक में दम कर दिया। बड़ी तादाद में भारतीय सैनिक मारे गए और ऑपरेशन की लागत भी काफी बड़ी थी। भारत सरकार पर अपनी फौजों को वापस बुलाने का दबाव भी था।

अंत में, आईपीकेएफ दुर्घटना 21 मई, 1991 को तमिलनाडु में चुनाव अभियान के दौरान राजीव गांधी की हत्या का कारण बनी। श्रीपेरम्बुदूर में, एक महिला राजीव गांधी के पैर छूने के लिए झुकी और उसके शरीर पर लगे विस्फोटक फट पड़े। यह आत्मघाती बम एलटीटीई से जुड़ा था और यह घटना श्रीलंका में भारत की भूमिका का प्रतिशोध थी।

1989 के आम चुनाव

वी.पी. सिंह, कांग्रेस छोड़ने पर, ने अरुण नेहरू और आरिफ मोहम्मद खान, दोनों ही राजीव गांधी से अलग हो चुके थे, के साथ मिलकर *जन मोर्चा* का गठन किया, जिसका बाद में राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार का विरोध करने हेतु केंद्रीय दलों को एकजुट करने के विचार के साथ जनता पार्टी, लोक दल और कांग्रेस (समाजवादी) में विलय हो गया जिससे एक नई पार्टी जनता दल का जन्म हुआ। जनता दल ने क्षेत्रीय दलों (जिसमें डीएमके, तेलुगू देशम पार्टी और असोम गण परिषद् शामिल थे) के एक समुच्चय से हाथ मिला लिया जिसे नेशनल फ्रंट कहा गया।

नवम्बर 1989 में, लोकसभा चुनाव कराए गए। तब तक विपक्ष राजीव गांधी के खिलाफ एकजुट हो चुका था, और एक सहयोगी रणनीति अपना ली गई थी। कांग्रेस को चुनाव में हार का सामना करना पड़ा, हालांकि यह फिर भी लोकसभा में एकमात्र बड़ी पार्टी थी। लोगों ने भ्रष्टाचार के आरोपों के चलते राजीव गांधी में अविश्वास प्रकट किया।

1989 के चुनाव पहले ऐसे लोकसभा चुनाव थे जिसमें कोई भी एक पार्टी बहुमत

हासिल नहीं कर सकी। उस समय कुछ राजनीतिक विश्लेषकों ने संकेत किया कि चुनावों ने मील का पत्थर चिन्हित किया था, और यह गठबंधन सरकारों के दौर और राजनीतिक अस्थिरता के समय की शुरुआत थी।

राजीव गांधी ने दिसम्बर 1989 में त्यागपत्र दे दिया। उनकी पार्टी ने विपक्ष में बैठने का निर्णय लिया जैसाकि उनके पास बहुमत नहीं था और न ही सरकार बनाने के लिए अन्य दलों का समर्थन था।

वी.पी. सिंह का शासनकाल (दिसंबर 1989-नवम्बर 1990)

1989 के लोकसभा चुनावों के पश्चात् नेशनल फ्रंट बहुमत हासिल करने में असफल रहा। लेकिन इसने सरकार बनाने का दावा किया और बीजेपी तथा वाम दलों के बाहरी समर्थन से सरकार बनाई।

विश्वनाथ प्रताप सिंह ने 2 दिसंबर, 1989 को भारत के आठवें प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। इस समय

राजीव गांधी, कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष के तौर पर, लोकसभा में विपक्ष के नेता थे।

जल्द ही, मार्च 1990 में राज्य विधानसभा चुनावों के पश्चात्, केंद्र में गठबंधन सरकार ने संसद के दोनों सदनों में नियंत्रण प्राप्त कर लिया।

इस कार्यकाल में वी.पी. सिंह ने पहला निर्णय श्रीलंका से आईपीकेएफ को वापस बुलाने का लिया।

वी.पी. सिंह एक वर्ष से भी कम समय के लिए प्रधानमंत्री रहे, लेकिन इस छोटे कार्यकाल में उन्हें बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

कश्मीर के बेकाबू हालात

कश्मीर में, दिसम्बर 1989 में, जम्मू एंड कश्मीर लिबरेशन फ्रंट (जेकेएलएफ) के आतंकवादियों ने मुफ्ती मोहम्मद सईद (केंद्रीय गृह मंत्री) की बेटी का अपहरण कर लिया। केंद्र ने जेकेएलएफ की मांगों को मान लिया और जेल में बंद आतंकियों को छोड़ दिया। एक अन्य महत्वपूर्ण आतंकी संगठन, जिसने जल्द ही जेकेएलएफ को दरकिनार कर दिया, सैयद सलाउद्दीन के नेतृत्व में हिज्ब-उल-मुजाहिद्दीन था जिसकी विचारधारा जम्मू-कश्मीर राज्य को एक इस्लामी शासन में बदलना थी। सलाउद्दीन ने, संयोगवश, 1987 के चुनावों के पश्चात् मुख्यधारा की राजनीति को छोड़ दिया।

बैंकों पर सशस्त्र हमलों और पुलिस स्टेशनों पर ग्रेनेड हमलों के साथ, आतंकी अधिक हठी और निडर होते जा रहे थे। केंद्र सरकार ने सख्त कार्रवाई का निर्णय लिया और स्थिति को नियंत्रित करने के लिए सेना भेजी। राज्यपाल को हटाकर जगमोहन की नए राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई।

घटनाओं की एक शृंखला ने कई कश्मीरियों को आतंकियों का समर्थन करने की ओर मोड़ा। 'जिहाद' के स्वर मुखर होने लगे, जैसाकि धर्म आतंकवादियों के खेल का प्रमुख कारक बन गया। हिंदू अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न किया गया। कश्मीरी पंडितों, जो घाटी का अभिन्न अंग थे और धर्म के अलावा उन्होंने राज्य में मुस्लिमों के साथ लगभग प्रत्येक पहलू से एक साझा संस्कृति विकसित की थी, को आतंकियों द्वारा मार कर नृशंस हिंसा का निशाना बनाया गया। इसके परिणामस्वरूप, पंडित कश्मीर घाटी से निकलकर जम्मू और दूर के क्षेत्रों में चले गए। वे अपनी ही जमीन पर शरणार्थी बन गए। इनमें से कई अभी भी शरणार्थी शिविरों में रहे हैं और अस्थिरता का दंश झेल रहे हैं।

मंडल आयोग की रिपोर्ट का क्रियान्वयन

जनता पार्टी के शासनकाल में गठित मंडल आयोग ने दिसम्बर 1980 में अपनी रिपोर्ट सौंप दी थी। इंदिरा गांधी और राजीव गांधी के तहत् कांग्रेस सरकारों ने चुपचाप रिपोर्ट को दबाए रखा।

मंडल आयोग या पिछड़ा वर्ग आयोग—इसका अधिकृत नाम—ने कहा कि जाति और पिछड़ापन आपस में जुड़े हैं, और अन्य पिछड़ी जातियों का देश की जनसंख्या में महत्वपूर्ण अनुपात होने के बावजूद, प्रशासन में, विशिष्ट रूप से उच्च स्तरों पर बेहद कम प्रतिनिधित्व है। इस संदर्भ में, आयोग की प्रमुख अनुशंसा थी कि केंद्र सरकार की नौकरियों में इन जातियों को अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित प्रतिशत से अलग 27 प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया जाए। साथ ही अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के लिए आयु में छूट की व्यवस्था अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के लिए भी की जाए।

वी.पी. सिंह ने सोचा कि ओबीसी जैसे बड़े समुदाय, वोट बैंक के रूप में जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, की लोकप्रियता हासिल करने के लिए मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का यह अच्छा अवसर है। ओबीसी समूह से, बिहार में लालू यादव और उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव जैसे नेता उभर रहे थे। यह दो ऐसे राज्य थे जिन्होंने भारत के चुनावों में निर्णयकारी भूमिका अदा की थी। सामाजिक न्याय संबंधी मामलों की दिशा में लिए गए कदमों ने जैसाकि वी.पी. सिंह ने विश्लेषण किया, जाति गठबंधन को दृढ़ किया जिसने उत्तर भारत में जनता दल के लिए आधार तैयार किया। इस संदर्भ में, यह गौरतलब है कि दक्षिणी राज्यों में, सरकारी नौकरियों का एक बड़ा अनुपात गैर-ब्राह्मणों के लिए आरक्षित था और, इस बात को उन लोगों ने उठाया जो मंडल आयोग की सिफारिशों से सहमत थे, इससे दक्षता प्रभावित नहीं हुई थी।

7 अगस्त, 1990 को, वी.पी. सिंह ने संसद में घोषणा की कि उनकी सरकार ने मंडल आयोग की रिपोर्ट स्वीकार कर ली थी और मंडल आयोग द्वारा पहचाने गए

सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों को केंद्र सरकार की सेवाओं में सभी स्तरों पर 27 प्रतिशत आरक्षण देने की सिफारिश का क्रियान्वयन करेगी।

सरकार के इस आदेश ने बड़े पैमाने पर विरोध-प्रदर्शन को न्यौता दिया। ऊंची जातियों के युवाओं ने आत्मदाह और आत्महत्याएं कीं, जैसाकि उन्होंने महसूस किया कि सरकारी नौकरी पाने के उनके अवसर अब अधिक मुश्किल हो गए थे। यह विरोध देश के उत्तरी भाग में अधिक तीव्र और व्यापक था जबकि दक्षिण भारत पर इसका असर नहीं हुआ। दक्षिण में, कुछ समय से आरक्षण की नीति के चलते, युवा समय के साथ-साथ अपनी आजीविका के लिए सरकारी नौकरी पर कम निर्भर होते चले गए और औद्योगिक क्षेत्र ने अच्छी वैकल्पिक नौकरियां प्रदान कीं। यह भी कि उत्तर भारत के मुकाबले दक्षिण भारत में जनसंख्या में ऊंची जातियों का अनुपात कम था।

[यह मामला उच्चतम न्यायालय में पहुंच गया और उसने सरकार के आदेश पर रोक लगा दी। न्यायालय ने नवम्बर 1992 में इस पर अपना निर्णय दिया। सात जजों की पीठ ने मंडल आयोग और इसकी सिफारिशों पर आधारित सरकार के आदेश की संवैधानिकता को स्वीकार किया। तीन न्यायाधीशों ने साथ ही इस बात पर असहमति जताई कि वंचितों को लेकर निश्चय जाति की अपेक्षा अवैयक्तिक मापदण्डों पर आधारित होना चाहिए था। उच्चतम न्यायालय ने हालांकि, दो शर्तें भी जोड़ीं—(i) आरक्षण की समग्र सीमा 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए और; (ii) आरक्षण का मापदण्ड केवल भर्ती स्तर तक होना चाहिए न कि पदोन्नति में। न्यायालय का निर्णय आने तक, अधिकतर राजनीतिक दल आरक्षण संबंधी आदेश की पुष्टि कर चुके थे, जैसाकि उन्होंने महसूस किया कि इसका विरोध करना राजनीतिक रूप से हानिकारक सिद्ध होगा। यहां तक कि कांग्रेस, जो इस मामले को लेकर उदासीन थी, ने भी माना कि उत्तर भारत में चुनाव जीतने के लिए ओबीसी कारक के महत्व को स्वीकार करना होगा। 1991 में सत्ता में आई नरसिम्हा राव सरकार ने भी सितम्बर 1991 में ही, सर्वोच्च न्यायालय के फैसला आने से पूर्व, मंडल आयोग की सिफारिशों के पक्ष में इस शर्त के साथ आदेश जारी कर दिया कि, 27 प्रतिशत आरक्षण के ओबीसी के अंतर्गत निर्धनतम वर्ग को प्राथमिकता दी जाएगी।]

मंडल से मंदिरः रथ यात्रा और सरकार का पतन

भारतीय जनता पार्टी ने अयोध्या में बाबरी मस्जिद बनाने के स्थान पर राम मंदिर बनाने को लेकर अभियान छेड़ा और खूब लोकप्रियता बटोरी। मंडल आयोग की सिफारिशों के क्रियान्वयन को लेकर बीजेपी दोफाड़ थी कि इस कदम का समर्थन किया जाए या विरोध। कुछ का मानना था कि यह हिंदू समाज को छिन्न-भिन्न करने की योजना है, जबकि अन्य का मानना था कि ओबीसी की जरूरतों को पूरा किया जाना चाहिए। अंत में, बीजेपी ने हिंदुओं को ध्रुवीकृत करने के लिए मंदिर का मुद्दा भुनाया।

बीजेपी अध्यक्ष एल.के. आडवानी ने *रथ यात्रा* निकालने का निर्णय किया।

राम *रथ यात्रा* सितम्बर 1990 में सोमनाथ से शुरू हुईं और इसी घटनाक्रम के मध्य वी.पी. सिंह की असमंजसता बढ़ गई थी कि वह इस जुलूस को रोकें या इसे चलने दें। अंततः, यह बिहार के मुख्यमंत्री, लालू प्रसाद यादव, पर छोड़ दिया गया कि वे यात्रा को अयोध्या जाने से रोकें। उन्होंने शांति भंग करने, सांप्रदायिक तनाव बढ़ाने के आरोपों के आधार पर आडवाणी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें निवारक निरोध के तहत् एक अतिथि गृह में रखा गया।

उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव द्वारा *कार सेवकों,* जो मंदिर बनाने के पक्ष में थे, को गिरफ्तार करने के पश्चात् व्यापक अशांति फैल गई। सुरक्षा बलों और मंदिर के समर्थकों के बीच झड़पें हुईं और सांप्रदायिक टकराव भी हुआ।

बीजेपी ने नेशनल फ्रंट सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। वी.पी. सिंह ने लोकसभा में विश्वास मत खो दिया और नवम्बर 1990 में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।

चंद्र शेखर सरकार
(नवम्बर 1990 से जून 1991)

वी.पी. सिंह सरकार के गिरने के साथ ही, चंद्र शेखर और देवी लाल ने अन्य नेताओं के साथ, जिन्होंने उन्हें समाजवादी जनता पार्टी बनाने के लिए समर्थन दिया, जनता दल को छोड़ दिया। एक बार फिर, कांग्रेस, जैसाकि पूर्व में चरण सिंह के मामले में हुआ था, ने अल्पमत सरकार, चंद्रशेखर के नेतृत्व में जिनके पास मात्र 64 सांसद थे, को बाहर से समर्थन देने का निर्णय लिया।

चंद्र शेखर विश्वास प्रस्ताव जीत गए और 10 नवम्बर, 1990 को उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली।

अशांत अर्थव्यवस्था

आर्थिक हालात बुरी दशा में थे, और विदेशी विनिमय स्तर खतरनाक स्तर तक कम हो गया था। 1980 के दशक से व्यापक रूप से बढ़ते राजस्व असंतुलन के कारण आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। कांग्रेस के नेतृत्व में पूर्व की सरकारों द्वारा वैश्विक वित्तीय संस्थानों से लिए गए ऋण और, राजीव गांधी के मामले में, बाजार से लिए गए ऋण ने कर्ज का एक बड़ा अंबार खड़ा कर दिया था। भारत जरूरी आयात, विशिष्ट रूप से तेल और उर्वरक, के लिए धन की जरूरत के लिए संघर्ष कर रहा था। देश द्वारा लिए गए कर्ज को लौटाने की भी चुनौती थी। खाड़ी युद्ध के कारण स्थिति दयनीय हो चली थी, जैसाकि इससे तेल की कीमतें आसमान छूने लगी थीं।

जनवरी 1991 तक, चंद्र शेखर सरकार ने, वित्त मंत्री के तौर पर यशवंत सिन्हा के साथ मिलकर, दो ऋणों के अनुमोदन के लिए अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) को मना लिया। इसके बदले में, बजट के माध्यम से आर्थिक सुधार करने का वचन

सरकार द्वारा दिया गया। फरवरी के मध्य तक, यह स्पष्ट हो चुका था कि कांग्रेस द्वारा मुसीबत खड़ी की जाएगी। बजट सत्र के प्रारंभ में, राष्ट्रपति के अभिभाषण के धन्यवाद प्रस्ताव के दौरान, कांग्रेस ने मामूली आधारों पर सरकार से समर्थन वापस ले लिया, जिसके परिणामस्वरूप अल्पमत सरकार पूर्ण बजट प्रस्तुत नहीं कर सकी।

मार्च 1991 में, विदेशी विनिमय स्थिति को संभालने के लिए सरकार को देश के स्वर्ण भंडार को गिरवी रखने के लिए बाध्य किया गया। समाचार-पत्रों में छपी खबरों के अनुसार, प्रधानमंत्री के आर्थिक सलाहकार ने इस बात की ओर संकेत किया था कि भारत अपने पर्याप्त स्वर्ण भंडार का इस्तेमाल कर सकता है। तस्करों से जब्त किये गए। स्वर्ण को भारत सरकार के खाते में लीज पर देने के लिए रिजर्व बैंक को एक प्रस्ताव प्रस्तुत करने को भारतीय स्टेट बैंक को कहा गया। इस प्रस्ताव का रिजर्व बैंक और सरकार ने भी अनुमोदन कर दिया।

मार्च के मध्य तक, वैश्विक क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों ने भारत की निगरानी की। यहां तक कि अल्पावधिक फंड जुटाना भी मुश्किल हो रहा था। पूर्ण बजट और सुधारों के प्रति दृढ़ प्रतिबद्धता के अभाव में, आईएमएफ और विश्व बैंक जैसे बहुपक्षीय संस्थानों से अब अधिक फंड नहीं मिल पा रहा था।

आवश्यक भुगतानों को करने में भी अक्षम होने की संभावनाओ के साथ, गंभीर तरलता संकट की परिस्थितियां उत्पन्न हो चुकी थीं, जिसमें चंद्र शेखर ने पैसा जुटाने के लिए स्वर्ण गिरवी रखने के निर्णय पर मुहर लगा दी। यह बेहद जरूरी कदम था। यद्यपि जब इस बात का पता चला तो लोगों ने बहुत शोर मचाया, और इसकी कड़ी निंदा की कि यह भारत को शर्मसार करेगा। इस फैसले के कारण ही भारत भुगतान संतुलन के संकट से निकल पाया और साथ ही इसने अगली सरकार को आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया शुरू करने में मदद की।

मार्च 1991 में चंद्र शेखर के इस्तीफे के साथ, लोकसभा को भंग कर दिया गया और नए चुनावों की घोषणा की गई। राष्ट्रपति वेंकटरमन ने जून में नई सरकार बनने तक उन्हें कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने रहने को कहा।

1991 के चुनाव

आम चुनावों का पहला चरण मई में कराया गया। 21 मई की रात को, एक दुर्घटना हुई जिसमें तमिलनाडु के श्रीपेरूम्बदुर में चुनाव प्रचार के दौरान बम से उड़ाकर राजीव गांधी की हत्या कर दी गई। चुनाव का अगला चरण जून में आयोजित किया गया।

पहले चरण में, 211 निर्वाचन क्षेत्र के लिए मतदान कराया गया जबकि बाकी निर्वाचन क्षेत्रों का मतदान जून में हुआ। चुनावों के दो चरणों के बीच परिणाम में अंतर आ गया। राजीव गांधी की हत्या से पूर्व हुए पहले चरण के चुनावों में कांग्रेस ने अच्छा प्रदर्शन नहीं किया, जबकि राजीव गांधी की मृत्यु के पश्चात हुए दूसरे चरण के मतदान में कांग्रेस का प्रदर्शन बेहतर हो गया। चुनाव परिणामों में युवा नेता की हत्या को लेकर

लोगों द्वारा महसूस की गई सहानुभूति और डर के भाव परिलक्षित हुए। संयोगवश, एलटीटीई द्वारा किए गए इस कृत्य से भारत में उसके प्रति थोड़ा-बहुत समर्थन भी समाप्त हो गया। अंततः कांग्रेस 244 सीटों पर विजय के साथ सबसे बड़ी पार्टी बनी, जो, हालांकि, सदन में साधारण बहुमत के स्तर तक भी नहीं पहुंच पाती। बीजेपी की सीटों में इजाफा हुआ और उसकी स्थिति में सुधार हुआ।

नरसिम्हा राव का प्रधानमंत्रित्व काल (जून 1991 से मई 1996)

राजीव गांधी की हत्या के पश्चात्, पामुलापर्ती वेंकट (पी.वी.) नरसिम्हा राव को कांग्रेस (आई) का नेतृत्व करने के लिए चुना गया। वह दक्षिण भारत से पहले प्रधानमंत्री हुए थे। इसके अलावा वे आंध्र प्रदेश के चार बार मुख्यमंत्री चुने गए थे। इंदिरा गांधी और राजीव गांधी की सरकार में वह विभिन्न मंत्री पदों—गृह, रक्षा, विदेश, मानव संसाधन—पर रहे थे। नरसिम्हा राव 17 भाषाओं के जानकार थे, और एक वफादार कांग्रेसी थे।

चुनाव के पश्चात्, उन्होंने अल्पमत सरकार बनाई। नरसिम्हा राव ने 1991 में चुनाव नहीं लड़े, शायद वह राजनीति से सन्यास लेना चाहते थे। लेकिन प्रधानमंत्री के रूप में शपथ लेने के पश्चात्, वह आंध्र प्रदेश में नंदयाल से उप-चुनाव जीते और लोकसभा सदस्य बने।

नरसिम्हा राव को उनकी सरकार द्वारा उठाए गए आर्थिक सुधारों संबंधी कदमों के लिए सर्वाधिक स्मरण किया जाता है, हालांकि उनकी सरकार की अन्य उपलब्धियां भी थीं।

आर्थिक सुधार

प्रधानमंत्री बनने पर, नरसिम्हा राव ने मनमोहन सिंह, जो उस समय गैर-राजनीतिक अर्थशास्त्री और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के अध्यक्ष थे, को अपने मंत्रिमण्डल में वित्त मंत्री के रूप में शामिल किया। उन्होंने सभी महत्वपूर्ण कदम उठाने के लिए अपने वित्त मंत्री का समर्थन किया और स्वयं भी उद्योग मंत्री के रूप में कुछ कदम उठाए। उन्होंने प्रतिक्रियाओं, विशेष रूप से कांग्रेस दल के भीतर, को भी संभाला, जो शुरुआत में सुधार के पक्ष में नहीं थीं जबकि नेहरू और इंदिरा गांधी के शासनकाल में समाजवाद मूलभूत आधार रहा था।

भारत की अर्थव्यवस्था जंजीरों में जकड़ी हुई थी। भुगतान संतुलन की दयनीय स्थिति के अलावा, मुद्रास्फीति की समस्या भी घरेलू मोर्चे पर चुनौती बनकर खड़ी थी।

जब नरसिम्हा राव प्रधानमंत्री बने, तो सोवियत आर्थिक मॉडल भंग हो चुका था। डेंग झियाओपिंग के नेतृत्व में चीन बाजारोन्मुखी सुधार कर रहा था। नरसिम्हा राव

ने भी बाजार सुधारों को अपनाया लेकिन यह मुक्त बाजार प्रकार के नहीं थे। उन्होंने मध्यमार्ग अपनाया। उन्होंने ऐसे सुधारों पर बल दिया जो साधारणतया जनता को कम पीड़ा दें और साथ ही उच्च संवृद्धि दर उत्पन्न करें। सरकार की शैली आमूलचूल सुधारवादी की नहीं थी। किसी भी प्रकार से बैंकों का निजीकरण या स्टाफ में सुधार नहीं किया गया और न ही कृषि क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खोला गया।

नवीन आर्थिक नीति 1991 का उद्देश्य अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने के लिए राजस्व एवं भुगतान संतुलन मोर्चे पर मौजूद कमियों को सुधारना था। संरचनात्मक सुधार के पहलू पर, नीति कठोरता एवं सख्ती को हटाना चाहती थी जिसने अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को परेशान किया था। मुद्रास्फीति पर नियंत्रण के प्रयास किए गए और उद्योगों पर से अनावश्यक नियंत्रणों एवं विनियमों को हटाया गया ताकि विकास एवं वृद्धि के रास्ते की बाधाओं को हटाया जा सके। नवीन आर्थिक मॉडल का मूलभूत उद्देश्य उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण था।

रुपए का अवमूल्यन किया गया। मनमोहन सिंह ने माना कि इससे निर्यात में मदद मिलेगी। राजस्व घाटा कम करके राजस्व असंतुलन को सही करने जैसे साहसी कदम बजट में उठाए गए। मनमोहन सिंह ने आयात करों, आय कर एवं कॉर्पोरेट करों में धीरे-धीरे कमी करने की शुरुआत की।

वित्त मंत्री ने अपने प्रधानमंत्री की मदद से विशिष्ट रूप से बेहद प्रतिबंधित व्यापार एवं उद्योग नीतियों को लक्षित किया। अधिकतर मशीनरी एवं उपकरण और विनिर्मित मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात कोटे को हटा दिया गया। सीमा प्रशुल्कों, विशिष्ट रूप से पूंजीगत वस्तुओं पर, को कम किया गया और प्रशुल्क/कर संरचना को औचित्यपूर्ण ढंग से तैयार किया गया। प्रौद्योगिकी संबंधी आयातों पर प्रशुल्कों को समाप्त कर दिया गया।

1991 की **औद्योगिक नीति** उस समय की क्रांतिकारी नीति थी। महत्वपूर्ण रूप से, नरसिम्हा राव ने उद्योग मंत्रालय अपने पास रखा। औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था को पर्यावरणीय रूप से बेहद संवेदनशील या सुरक्षा संबंधी उद्योगों तक सीमित कर दिया गया। एमआरटीपी अधिनियम की उस धारा को हटा दिया गया जो संवृद्धि को सीमित करती थी या बड़े व्यावसायिक घरानों के विलय को रोकती थी। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों में तेजी से कमी की गई। सार्वजनिक क्षेत्र को और अधिक स्वायतत्ता प्रदान की गई। आधारभूत संरचना के क्षेत्र में निजी निवेश का स्वागत किया गया। विदेशी स्वामित्व को लेकर कड़े नियमों को उदारीकृत किया गया। विदेशी निवेश का धीरे-धीरे उदारीकरण किया गया।

सेवा क्षेत्र को निजी क्षेत्र के निवेश—विशिष्ट रूप से बीमा, बैंकिंग, दूरसंचार और हवाई यात्रा क्षेत्रों—के साथ उदार बनाया गया।

राव सरकार ने 'कंट्रोलर ऑफ कैपिटल इश्यू' पद को समाप्त कर दिया जो भारत

में पूंजी संबंधी मामलों को देखता था। उन्होंने सभी प्रतिभूति बाजार मध्यवर्तियों को विनियमित करने के लिए सेबी अधिनियम 1992 और प्रतिभूति कानून (संशोधन) प्रस्तावित किया और कम्प्यूटर-आधारित व्यापार व्यवस्था के तौर पर नेशनल स्टॉक एक्सचेंज को शुरू किया।

व्यवस्था को पूरी तरह से सुधारा नहीं जा सका था। भारत में नौकरशाही नियंत्रण के कारण चीन या मलेशिया की अपेक्षा व्यवसाय शुरू करने में काफी अधिक समय लगता था। श्रम कानूनों में सुधार नहीं हो पाया था, और निरंतर घाटे में चलने वाले उद्यमों को बाहर निकालना बेहद कठिन था।

पंचायती राज एवं नगरपालिका अधिनियम

यद्यपि पंचायती राज और नगरपालिका को संवैधानिक दर्जा दिलाने का कदम राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में उठा लिया गया था, इसे संवैधानिक दर्जा नरसिम्हा राव के शासन काल के दौरान प्राप्त हुआ। 73वें संविधान के लागू होने के साथ, भारत के संविधान में एक नया अध्याय, भाग IX, जोड़ा गया। पंचायती राज के कार्य संबंधी 29 विषयों को शामिल करने के लिए एक नई 11वीं अनुसूची जोड़ी गई। यह संशोधन संविधान में उल्लिखित राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के क्रियान्वयन की दिशा में किया गया था। राज्य को इस मामले में छूट दी गई कि पंचायती राज व्यवस्था को स्वीकारने से पहले उसे अपनी भौगोलिक, राजनीतिक प्रशासनिक एवं अन्य दशाओं पर विचार करना चाहिए।

74वें संविधान संशोधन के लागू होने पर, संविधान में, एक नया अध्याय, भाग-IXA जोड़ा गया। राज्यों पर अब संविधान में उल्लिखित प्रक्रिया के अनुरूप नगरपालिकाओं को अपनाने का संवैधानिक दायित्व आ गया।

पंचायत और नगरपालिकाओं दोनों में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई। यह स्थानीय-स्वशासन में समग्रता सुनिश्चित करने का एक प्रयास था।

सुरक्षा मामलों एवं अंतरिक्ष तकनीक को संभाला

पंजाब के हालात पर काबू पा लिया गया था। नरसिम्हा राव ने राज्य चुनावों में वहां का दौरा किया। इसका अच्छा परिणाम निकला जैसाकि 2002 के चुनावों के पश्चात् वहां आतंकवाद का अंत हो चुका था।

पाकिस्तान से आने वाले घुसपैठियों को भगाने और समाप्त करने के लिए मुख्यतः आतंकवादी एवं विध्वंसक गतिविधियां (रोकथाम) अधिनियम पारित किया गया।

रक्षा क्षेत्र के आधुनिकीकरण को महत्व दिया गया, और सैन्य व्यय में बढ़ोतरी की गई। पृथ्वी 1 प्रक्षेपास्त्र को सेना में शामिल किया गया।

यह व्यापक तौर पर माना जाता है कि ये नरसिम्हा राव ही थे जिन्होंने सुनिश्चित किया कि भारत का परमाणु कार्यक्रम प्रगति करता रहे।

ऑगमेंटेड सेटेलाइट लॉन्च व्हीकल और पोलर सेटेलाइट लॉन्च व्हीकल के सफल परीक्षण के साथ अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी ने एक लंबी छलांग लगाई।

विदेश नीति

1991 में सोवियत संघ का विभाजन हो गया, और भारतीयों को अपनी विदेश नीति पर फिर से विचार करना पड़ा जैसाकि शीत युद्ध समाप्त हो चुका था और गुटबाजी की राजनीति का अंतरराष्ट्रीय संबंधों में कोई स्थान नहीं रह गया था। भारत के अमेरिका से संबंध धीरे-धीरे बेहतर हो रहे थे। लेकिन भारत ने पश्चिम के अन्य देशों के साथ-साथ जापान, इजरायल, ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका के साथ भी मजबूत संबंध बनाने का प्रयास किया। शीतयुद्धोत्तर काल में, भारत की विदेश नीति अपनी आर्थिक नीति से घनिष्ठता से जुड़ गई।

नरसिम्हा राव ने आसियान (एसोसिएशन ऑफ साउथ ईस्ट एशियन नेशन्स) को भारत के नजदीक लाने के प्रयास में 'लुक ईस्ट पॉलिसी' को शुरू किया। घनिष्ठ आर्थिक और वाणिज्यिक संबंधों के सृजन, रणनीतिक और सुरक्षा मामलों में सहयोग बढ़ाना, और भारत तथा क्षेत्र (आसियान) के बीच युगों पुराने सांस्कृतिक एवं वैचारिक सम्पर्कों पर बल देना इस रणनीति में शामिल था। इस नीति ने समय के साथ भारत के इस क्षेत्र के आर्थिक और सुरक्षा आयामों के महत्वपूर्ण हिस्सा बनने में मदद के अतिरिक्त, दक्षिण-पूर्व एशिया और प्रशांत के देशों के साथ भारत के राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। महत्वपूर्ण रूप से, नरसिम्हा राव के बाद आने वाली सरकारों ने भी इस नीति को अपनाया।

नरसिम्हा राव का चीन, जिसका उन्होंने 1993 में दौरा किया, और ईरान से संबंध बढ़ाना बेहद उपयोगी रहा जब पाकिस्तान द्वारा संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार निकाय में कश्मीर में भारत द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन का प्रस्ताव लाया गया, तो चीन और ईरान उसकी बात से सहमत नहीं हुए।

नकारात्मक पहलू

नरसिम्हा राव सरकार के खिलाफ दो मुख्य पहलू थे जिनकी आलोचना की गई। एक तो यह कि उन्होंने बाबरी मस्जिद गिराने की अनुमति दी और दूसरा भ्रष्टाचार का बढ़ना।

बाबरी मस्जिद विध्वंस

1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में, भारतीय जनता पार्टी ने 1991 के चुनावों में लाभ हासिल करने के लिए राम जन्म भूमि का मुद्दा उठाया। विश्व हिंदू परिषद् भी मामले को लेकर

बेहद आक्रामक थी और इसने बाबरी मस्जिद के स्थान पर मंदिर बनाने की मांग को लेकर अयोध्या एवं देश के अन्य भागों में विरोध-प्रदर्शन शुरू कर दिए। स्पष्ट था कि विवादास्पद स्थल पर कुछ विध्वंस और निर्माण उसने स्वयं पहले भी किया था लेकिन प्रशासन ने इस पर ध्यान नहीं दिया। उत्तर प्रदेश में उस समय बीजेपी शासन था और कल्याण सिंह मुख्यमंत्री थे।

विश्व हिंदू परिषद् ने घोषणा की कि 6 दिसंबर, 1992 को राम मंदिर का निर्माण कार्य शुरू होगा। हजारों वॉलन्टियर्स—*कार सेवक*—अयोध्या में एकत्रित हो गए। घोषणा में बताया गया था कि मस्जिद के निकट मंच पर प्रार्थना की जाएगी, लेकिन वह दिन आया, तो *कार सेवकों* के समूह ने मस्जिद की तरफ बढ़ना शुरू कर दिया, जबकि आरएसएस और पुलिस ने इसके लिए मना किया था। भीड़ अनियंत्रित हो गई जिसकी इच्छा मस्जिद का विध्वंस करने की थी। उनके पास लोहे की छड़ें और अन्य हथियार थे और जल्द ही उन्होंने मस्जिद की दीवारों पर चढ़ना शुरू कर दिया। एल. के. आडवाणी जैसे बड़े नेता वहां इकट्ठे हो गए और कार सेवकों को वापस आने को कहा लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। पुलिस ने हालात को नियंत्रित करने का ज्यादा प्रयास नहीं किया। मस्जिद पर हमला किया गया और इसे मलबे के ढेर में बदल दिया गया। बीजेपी ने स्पष्टीकरण दिया कि यह पार्टी का काम नहीं था और यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। देश के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण से भी अधिक था। यह एक त्रासदी और अपशगुन था और जिसके दीर्घावधिक दुष्परिणाम होने वाले थे। उत्तर प्रदेश में और देश के कई अन्य भागों में सांप्रदायिक दंगे भड़काने के लिए कई बीजेपी नेताओं को गिरफ्तार किया गया जिसमें कई लोग मारे गए थे। शिव सेना द्वारा दंगे एवं हिंसा भड़काने के कारण बॉम्बे भी सर्वाधिक पीड़ित जगहों में से एक था। 1993 में, मुम्बई में स्थित माफिया डॉन ने शहर (बॉम्बे) के मुख्य स्थानों पर, मुस्लिमों पर पूर्व में हुए हमलों के प्रतिशोध स्वरूप, बम धमाके कराए।

वस्तुतः हालत को बद्तर होने से रोकने के लिए कल्याण सिंह ने कुछ नहीं किया। मुख्यमंत्री के रूप में उनका यह कर्तव्य था कि वे कानून-व्यवस्था को दुरुस्त रखते। कई लोग इस बात से अचंभित थे कि ऐसी स्थिति में केंद्र भी निष्क्रिय बना रहा जिसके लिए उसकी आलोचना की जाती रही थी। निश्चित ही, अस्थिरता एवं कोलाहल की अग्रिम संभावनाओं के चलते राष्ट्रपति शासन लगाया जाना चाहिए था और स्थिति को काबू में करने के लिए केंद्रीय बलों को सख्त आदेश दिए जाने चाहिए थे। संभवतः प्रधानमंत्री स्वयं और उनकी पार्टी सख्त कदम उठाकर हिंदू-विरोधी होने का जोखिम नहीं उठा सकती थी। विध्वंस की घटना हो जाने के बाद ही उत्तर प्रदेश में सरकार को बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लगाया गया।

इस घटना और इसके परिणामस्वरूप घटित दंगों के कारण पूरी दुनिया में भारत की छवि धूमिल हुई। इतनी हृदयविदारक घटना घटित होने पर यह कयास लगाए गए

कि भारत अप्रभावी सरकार सहित कानूनविहीन देशों में से एक देश बन गया था या कुछ हद तक तानाशाह प्रकार का हो चुका था। यह अनुमान सच साबित नहीं हुए, लेकिन बाबरी मस्जिद विध्वंस ने आधुनिक भारत के इतिहास में एक कलंक लगा दिया था जिसकी अनुगूंज कई वर्षों तक सुनाई दी। समाज में, जहां हिंदू-मुस्लिम के बीच अभी तक कोई प्रत्यक्ष टकराव नहीं हो रहा था, यद्यपि दोनों समुदाय पीड़ित होने का दंश महसूस कर रहे थे और सांप्रदायिक दंगे हो रहे थे, अब खुले तौर पर दोनों समुदायों के बीच वैमनस्य और शक दिखाई देने लगा। यह कहना सही नहीं होगा कि प्रत्येक मुस्लिम और हिंदू ऐसी भावना से ग्रसित था, लेकिन उस घटना का एक सामान्य प्रभाव परिलक्षित हो चुका था।

लिब्रहान आयोगः बाबरी मस्जिद विध्वंस के 10 दिन बाद, गृह मंत्रालय के आदेश पर एक आयोग गठित किया गया। जस्टिस लिब्रहान इसमें एकमात्र व्यक्ति थे, जो पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय के कार्यरत न्यायाधीश थे। इस आयोग को 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में ढहाए गए बाबरी मस्जिद के विवादित ढांचे और उसके बाद फैले दंगों की जांच का काम सौंपा गया था। आयोग को अपनी रिपोर्ट तीन माह के भीतर पेश करनी थी, लेकिन इसका कार्यकाल अड़तालीस बार बढ़ाया गया और 17 वर्ष के लंबे अंतराल के बाद अंततः आयोग ने 30 जून, 2009 को अपनी रिपोर्ट तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को सौंपी।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जिन 68 लोगों को दोषी ठहराया था, उनमें पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी, वरिष्ठ नेता एल.के. आडवाणी, उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याण सिंह, शिव सेना के तत्कालीन अध्यक्ष बाल ठाकरे, विश्व हिंदू परिषद् के अशोक सिंघल, आरएसएस के पूर्व सरसंघ चालक के.एस. सुदर्शन, के.एन. गोविंदाचार्य, विनय कटियार, उमा भारती, साध्वी ऋतम्भरा, प्रवीण तोगड़िया इत्यादि के नाम शामिल थे।

इस रिपोर्ट में तत्कालीन मुख्यमंत्री (उत्तर प्रदेश के) कल्याण सिंह पर उन्हें घटना का मूक दर्शक बताते हुए आयोग ने तीखी टिप्पणी की थी। आयोग का कहना था कि कल्याण सिंह ने इस घटना को रोकने के लिए कोई कदम नहीं उठाया और आरएसएस को अतिरिक्त संवैधानिक अधिकार दे दिए।

भ्रष्टाचार संबंधी घोटाले

जुलाई 1993 तक, राव सरकार निर्बाध चलती रही यद्यपि तकनीकी रूप से यह अल्पमत सरकार थी। लेकिन जुलाई 1993 में, विपक्ष ने सरकार की शक्ति के परीक्षण के लिए अविश्वास प्रस्ताव लाने का निर्णय किया। सरकार के पास इस परीक्षण को पास करने के लिए स्वयं में पर्याप्त संख्या बल नहीं था, लेकिन जब अविश्वास प्रस्ताव हुआ तो झारखण्ड मुक्ति मोर्चा (जेएमएम) और जनता दल (अजित सिंह समूह) ने अविश्वास प्रस्ताव के खिलाफ मतदान किया, और इस प्रकार, सरकार ने विश्वास मत जीत लिया

और पूरे पांच वर्ष सत्ता में रही। बाद में यह आरोप लगाया गया कि एक प्रतिनिधि के माध्यम से नरसिम्हा राव ने जेएमएम सदस्य को रिश्वत दी थी।

1996 में, जब नरसिम्हा राव प्रधानमंत्री नहीं थे, पूर्वोक्त मामले की जांच हुई। एक विशिष्ट न्यायालय ने राव और उनके साथी, बूटा सिंह (जिन पर आरोप था कि वह सांसदों को प्रधानमंत्री के पास लेकर गए थे) को दोषी ठहराया। हालांकि, उच्च न्यायालय में अपील की गई, जिसने विशेष न्यायालय के फैसले को बदल दिया। नरसिम्हा राव और बूटा सिंह दोनों को वर्ष 2002 में आरोपों से बरी कर दिया गया।

नरसिम्हा राव का नाम हर्षद मेहता स्टॉक एक्सचेंज घोटाले में भी घसीटा गया और फिर हवाला और लखुभाई धोखाधड़ी मामले में भी उनका नाम आया। नरसिम्हा राव को दोनों मामलों में बरी कर दिया गया।

नरसिम्हा राव को किसी भी भ्रष्टाचार मामले में दोषी नहीं ठहराया गया, लेकिन लोगों के दिमाग से भ्रष्टाचार की वह तस्वीर कभी धुंधली नहीं हुई।

कश्मीर

कुछ समूहों ने भारत में हिंदू धार्मिक भावनाओं को भड़काया और कश्मीर घाटी में मुस्लिम चरमपंथ बढ़ता जा रहा था। 1980 और 1990 के दशकों में पाकिस्तान की मदद से आतंकवाद बढ़ रहा था। धार्मिक भावनाओं को भड़काया जा रहा था और इन भावनाओं को भारत राज्य से कश्मीर की आजादी से जोड़ा जा रहा था। जिहाद के नारे लगाए जा रहे थे और लश्कर-ए-तोएबा जैसे संगठन चाहते थे कि कश्मीर पाकिस्तान में मिल जाए। यह संगठन लोकप्रियता एवं महत्व हासिल करता जा रहा था, और जेकेएलएफ, जो पाकिस्तान में विलय की अपेक्षा एक स्वतंत्र राज्य चाहता था, जैसे संगठनों को दबाने का प्रयास कर रहा था, और भारत द्वारा बांग्लादेश बनाने में उसकी भूमिका के विरुद्ध घृणा उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे थे। मुस्लिम चरमपंथी सीधे तौर पर भारतीय राज्य तंत्र से सामना नहीं कर रहे थे अपितु महिलाओं को बुर्का पहनने के लिए बाध्य करने के अतिरिक्त सिनेमा देखने, धूम्रपान और शराब पीने पर प्रतिबंध लगाकर परिस्थितियां बदलकर ऐसा करना चाह रहे थे। आतंकियों के निशाने पर कश्मीरी पंडित थे। उन्हें अपना घर और कश्मीर छोड़ने और शरणार्थी बनने के लिए बाध्य किया गया।

1996 के आम चुनाव

मई 1996 में, आम चुनावों में कांग्रेस की हार को देखते हुए नरसिम्हा राव ने त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने बाद में कांग्रेस अध्यक्ष पद से भी इस्तीफा दे दिया।

चुनाव तीन मुद्दों—अयोध्या, अर्थव्यवस्था, भ्रष्टाचार—के साथ लड़े गए। कांग्रेस कई गुटों में बंट गई, और पार्टी के भीतर से ही नरसिम्हा राव सरकार पर कई आरोप लगाए गए कि उन्होंने हालातों को सही तरीके से नहीं देखा। धार्मिक एवं जातिगत

आधार पर लकीरें खींची गईं। इन परिस्थितियों में, जनादेश किसी भी पार्टी को बहुमत के रूप में नहीं मिला। कोई भी पार्टी अपने दम पर सरकार बनाने की स्थिति में नहीं थी।

बीजेपी ने सर्वाधिक सीटें (161) जीतीं, जबकि इसके सहयोगी दलों—समता पार्टी, शिव सेना और हरियाणा विकास पार्टी—को कुल 26 सीटें प्राप्त हुईं, इस प्रकार बीजेपी एवं सहयोगियों को कुल 187 सीटें प्राप्त हुईं। कांग्रेस को दूसरा स्थान प्राप्त हुआ, जबकि जनता दल, तेलुगूदेशम और वाम मोर्चे से मिलकर बने राष्ट्रीय मोर्चे (नेशनल फ्रंट) को 114 सीटें प्राप्त हुईं। 1996 के आम चुनावों की एक अन्य विशेषता परिलक्षित हुई कि विभिन्न मजबूत क्षेत्रीय एवं राज्य दलों ने तीन मुख्य दलों में से किसी से भी गठजोड़ करने में रुचि नहीं दिखाई।

दलित स्वरों का मुखर होना

सभी राजनीतिक दल धर्म एवं पिछड़ी जातियों के आधार पर लोगों को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रहे थे, दलित (आधिकारिक तौर पर अनुसूचित जाति या गांधीवादी भाषा में 'हरिजन' की अपेक्षा आमतौर पर इस नाम से अधिक जाना गया या प्रयोग किया गया) भी स्वयं की पार्टी बनाकर एकजुट हो रहे थे। शुरुआती समय में, कांग्रेस को दलित वोट प्राप्त हुए, और अम्बेडकर जी की मृत्यु के बाद उन्होंने जगजीवन राम में अपना नेता पाया। इस संदर्भ में कांग्रेस को महाराष्ट्र में केवल रिपब्लिकन पार्टी और कुछ हद तक उसी राज्य में आतंकी दलित पैंथर्स ने चुनौती दी। लेकिन इसी समय, 1970 के दशक में, कांशीराम ने अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर दलित सरकारी कर्मचारियों को एक संगठन में एकजुट करना शुरू किया, और इस संगठन का नाम 'ऑल इण्डिया बैकवॉर्ड एंड माइनॉरिटी कम्युनिटीज एम्प्लॉईज फेडरेशन' (बीएएमसीईएफ) रखा गया। इस संगठन से बड़ी संख्या में लोग जुड़ गए। उत्साहित कांशी राम ने एक राजनीतिक दल, 'बहुजन समाज पार्टी' (बीएसपी) शुरू की, जिसमें 'बहुजन' शब्द इस बात का द्योतक था कि यह पार्टी न केवल दलित का प्रतिनिधित्व करती है अपितु अन्य पिछड़े वर्गों के साथ-साथ मुस्लिमों एवं अन्य नेपथ्य पर डाल दिए गए वर्गों का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसका प्रभाव क्षेत्र मुख्यतः उत्तर प्रदेश था।

बीएसपी ने दलितों को अपनी ओर यह कह कर आकर्षित किया कि कांग्रेस महज वोट बैंक के रूप में उनका इस्तेमाल कर रही थी जबकि बीएसपी उनके सामाजिक न्याय एवं परिवर्तन के लिए लड़ेगी और उनके साथ खड़ी होगी जिससे दलित प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। बीएसपी ने 1984 में चुनाव लड़ा लेकिन कोई सीट नहीं जीती और इसे बेहद थोड़े वोट प्राप्त हुए। उत्तर प्रदेश के राज्य चुनावों में इसने प्रभावशाली प्रदर्शन किया। 1993 में, पार्टी ने 60 सीटें जीतीं, इसने कांग्रेस के दलित वोटों को अपनी ओर लाने में सफलता प्राप्त की और समाजवादी पार्टी और बीजेपी के साथ उत्तर प्रदेश की राजनीति में एक मुख्य खिलाड़ी बन गई।

मायावती कांशीराम के संरक्षण में, बीएसपी में उनकी उत्तराधिकारी नेता बन गईं। उन्होंने अन्य जाति समूहों और राजनीतिक दलों के साथ गठबंधन किए। उन्होंने (मायावती) 1989 में लोकसभा सीट जीती। जून 1995 में, वह उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनीं और भारत की पहली ऐसी दलित महिला बनीं जो इस पद पर पहुंची हो। इस घटना से उन्होंने इतिहास रच दिया। यद्यपि उनका कार्यकाल छोटा था, बाद के वर्षों में वह फिर से राज्य की मुख्यमंत्री बनीं। 2007 में वह फिर से राज्य की मुख्यमंत्री बनी और इस समय वह वर्ष 2012 तक अपने पद पर बनी रहीं।

1996 और 1999 के बीच तीन प्रधानमंत्रियों का शासन

अब सरकारों के जल्दी-जल्दी बदलने का समय हो चुका था। 1996 से 1999 के मध्य तीन प्रधानमंत्री आए और चले गए। यह राजनीतिक अस्थिरता का समय था।

1996 के चुनाव में बीजेपी को सर्वाधिक सीटें प्राप्त हुईं लेकिन अपने सहयोगियों के साथ मिलकर भी वह सरकार बनाने की स्थिति में नहीं थी। इस समय कांग्रेस और बीजेपी को प्रतिस्थापित करने के एजेंडा के चलते राष्ट्रीय मोर्चा मजबूत दावेदार के रूप में उभरा था। चुनाव ने पहली बार क्षेत्रीय और राज्य दलों की शक्ति का भी प्रदर्शन किया।

प्रधानमंत्री के रूप में वाजपेयी का अल्पकाल

जैसाकि लोकसभा में बीजेपी सबसे बड़ी पार्टी थी, राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने बीजेपी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। भारतीय जनता पार्टी के नेता होने के नाते अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने। हालांकि पार्टी को समर्थन देने वाला कोई सहयोगी नहीं मिला, और लोकसभा में 13 दिन पश्चात् हुए विश्वास मत में हार के बाद वाजपेयी जी ने इस्तीफा दे दिया। दूसरी बड़ी पार्टी के तौर कांग्रेस ने सरकार बनाने से मना कर दिया।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकारः देवेगौड़ा एवं आई.के. गुजराल

अंततः संयुक्त मोर्चा, जिसमें राष्ट्रीय मोर्चे समेत 13 दल शामिल थे, तमिल मनीला कांग्रेस, डीएमके और असम गण परिषद् ने मिलकर एच.डी. देवेगौड़ा के नेतृत्व में सरकार बनाई जिसे कांग्रेस पार्टी ने बाहर से समर्थन प्रदान किया। बाद में वाम दलों ने भी इसे समर्थन दिया। सरकार, हालांकि, अप्रैल 1997 में गिर गई जब कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस ले लिया।

अपने छोटे शासन काल में, इस सरकार ने चीन के साथ विश्वास बढ़ाने के कदम उठाए और बांग्लादेश के साथ गंगा जल समझौता किया। सरकार व्यापक परीक्षण प्रतिषेध संधि (सीटीबीटी) पर हस्ताक्षर न करने के निर्णय पर कायम रही।

हालांकि सरकार 1997 में गिर गई थी, लेकिन चुनावों से बचने के लिए एक समझौता हुआ और नए नेतृत्व में कांग्रेस समर्थन देने पर राजी हो गई। संयुक्त मोर्चे ने आई.के. गुजराल को नया नेता चुना और 21 अप्रैल, 1997 को उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली।

आई.के. गुजराल को सबसे ज्यादा **गुजराल डॉक्ट्रिन** के लिए जाना जाता है। इस नीति के तहत् संप्रभुता समानता और अहस्तक्षेप के आधार पर भारत के पड़ोसी देशों के साथ मैत्री संबंधों को सुदृढ़ किया गया। इसका उद्देश्य दक्षिण एशिया में शांति का माहौल सृजित करना था।

इसमें पांच सिद्धांत शामिल थे।

(i) भारत; नेपाल, बांग्लादेश, भूटान, मालदीव और श्रीलंका जैसे पड़ोसी देशों से पारस्परिक आदान-प्रदान को नहीं कहेगा, लेकिन आपसी विश्वास एवं मैत्री बढ़ाने के सभी प्रयास करेगा।

(ii) कोई भी दक्षिण एशियाई देश क्षेत्र के अन्य देश के हितों के विरुद्ध अपने भू-भाग के प्रयोग की अनुमति नहीं देगा।

(iii) कोई भी दूसरे देश के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(iv) सभी दक्षिण एशियाई देश एक-दूसरे की भू-भागीय अखण्डता एवं संप्रभुता का सम्मान करेंगे।

(v) सभी दक्षिण एशियाई देश शांतिपूर्ण द्विपक्षीय वार्ताओं के माध्यम से अपने सभी विवादों का समाधान करेंगे।

यद्यपि यह पांच बिंदु सैद्धांतिक रूप से प्रशंसनीय थे, आलोचकों ने संकेत किया कि यह भली-भांति काम नहीं कर सकते थे, जैसाकि कुछ स्पष्ट शत्रु पड़ोसी थे। गुजराल ने कांग्रेस के साथ अच्छे संबंध बनाए रखे, जिसने उनकी सरकार को बाहर से समर्थन बनाए रखा। समस्याएं उनकी पार्टी के भीतर से उत्पन्न हुईं। बिहार के राज्यपाल ने सीबीआई को मुख्यमंत्री (बिहार), लालू प्रसाद यादव, के चारा खरीदने के मामले (जिसे चारा घोटाला कहा गया) में भ्रष्टाचार की जांच करने की अनुमति दी। लालू यादव ने संयुक्त मोर्चा के भीतर और बाहर उठी इस्तीफे की मांग के सम्मुख इस्तीफा देने से मना कर दिया। गुजराल ने व्यक्तिगत रूप से उन्हें इस्तीफा देने को कहा। अंततः, लालू ने पार्टी छोड़ दी और जुलाई 1997 में अपनी नई पार्टी 'राष्ट्रीय जनता दल' (आरजेडी) गठित की। हालांकि, नई पार्टी ने संयुक्त मोर्चे को अपना समर्थन जारी रखा, और सरकार नहीं गिरी।

कल्याण सिंह के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश में राज्य विधानसभा में हुई हिंसा के चलते, गुजराल सरकार ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लगाने की राष्ट्रपति को अनुशंसा करने का विवादास्पद निर्णय लिया। राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने इस पर पुनर्विचार हेतु सरकार को प्रस्ताव लौटा दिया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन के विचार के विरुद्ध निर्णय दिया था।

तत्पश्चात् जैन आयोग, जिसे राजीव गांधी की हत्या में षड्यंत्र के पहलू की जांच करने के लिए गठित किया गया था, ने अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी। सरकार ने आखिर में नवम्बर 1997 में संसद में रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में डीएमके की आलोचना राजीव गांधी की हत्या के आरोपी तमिल आतंकियों को मौन समर्थन देने के लिए की गई थी। इससे सदन में हंगामा मच गया और कांग्रेस ने मांग की कि प्रधानमंत्री डीएमके मंत्री को अपनी सरकार से बर्खास्त करें। प्रधानमंत्री गुजराल ने ऐसा करने से मना कर दिया और 28 नवम्बर, 1997 को कांग्रेस ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया। परिणामस्वरूप, गुजराल ने इस्तीफा दे दिया, यद्यपि ये आगामी सरकार के बनने तक कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने रहे।

आम चुनाव

नए चुनाव फरवरी-मार्च, 1998 में कराए गए। सोनिया गांधी, राजीव गांधी की विधवा, राजनीतिक अखाड़े में उतरीं, और कांग्रेस के लिए चुनाव प्रचार किया। 1989 के चुनावों से लेकर यह चौथी बार था जब संसदीय चुनावों में 'त्रिशंकु सरकार' की स्थिति पैदा हुई। जिसने स्पष्ट किया कि गठबंधन सरकार का युग स्थापित हो गया था।

बीजेपी एक बार फिर सबसे बड़ी पार्टी के रूप में सामने आई, लेकिन इस बार भी इसे बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। इस समय, हालांकि, बीजेपी ने कर्नाटक, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा (अब ओडिशा) और पश्चिम बंगाल के क्षेत्रीय दलों के साथ गठबंधन किया। इससे बीजेपी को सरकार बनाने में सफलता प्राप्त हुई।

एनडीए सरकार
(मार्च 1998-अक्टूबर 1999)

1998 के चुनावों के पश्चात् बीजेपी ने सरकार बनाने के अपने दावे के अवसर को प्राप्त करने के लिए विभिन्न क्षेत्रीय दलों के साथ गठबंधन किया। इस गठबंधन को राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) नाम से जाना गया। अटल बिहारी वाजपेयी को एनडीए का नेतृत्व सौंपा गया, और मार्च 1998 में उन्होंने दूसरी बार प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। एनडीए ने लोक सभा में बहुमत सिद्ध कर लिया।

यह सरकार अप्रैल 1999 तक चली जब एआईएडीएमके ने अपना समर्थन सरकार से वापस ले लिया। 17 अप्रैल, 1999 को लोकसभा में नाटकीय अविश्वास प्रस्ताव में, सरकार एक वोट की कमी से गिर गई। यह गिरिधर गमांग, कुछ महीनों के लिए उड़ीसा के मुख्यमंत्री बनने के बावजूद, उन्होंने लोक सभा से इस्तीफा नहीं दिया था, और इसलिए तकनीकी रूप से अभी भी सांसद थे, के वोट के कारण हुआ था।

विपक्ष भी सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था, जिसके चलते राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने लोक सभा भंग कर दी, और सितम्बर-अक्टूबर 1999 में नए

चुनाव आयोजित कराए गए। अटल बिहारी वाजपेयी आगामी चुनाव होने तक कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने रहे।

इस बीच, सोनिया गांधी को कांग्रेस अध्यक्ष चुने जाने पर शरद पवार और कुछ नेताओं ने कांग्रेस पार्टी को छोड़ दिया।

कुछ महीने सत्ता में रही वाजपेयी सरकार के कुछ उल्लेखनीय कार्य इस प्रकार थे–

पोखरण-II: ऑपरेशन शक्ति

मई 1998 में, भारत द्वारा भारतीय सेना के पोखरण परीक्षण रेंज में पांच परमाणु विस्फोट किए गए। यह परीक्षण दूसरी बार था, पहली बार 1974 में इन उपकरणों का परीक्षण किया गया था। ऑपरेशन शक्ति नामक इस अभियान में नियमित विखण्डन डिवाइस, संलयन डिवाइस और साथ-ही-साथ 'सब-किलोटॉन' डिवाइस का भूमिगत विस्फोट शामिल था। अटल बिहारी वाजपेयी ने भारत को पूरी तरह परमाणु राज्य घोषित करने के लिए प्रेस कॉफ्रेंस आयोजित की। इसमें एपीजे अब्दुल कलाम (भारत के भविष्य के राष्ट्रपति), जो प्रधानमंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार और डीआरडीओ के प्रमुख थे तथा आर. चिदम्बरम जो आणविक ऊर्जा विभाग के निदेशक थे, जैसे प्रमुख वैज्ञानिक शामिल थे।

संयोगवश, 11 मई, को राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के रूप में मनाया गया। इस विस्फोट के कारण पूरा विश्व, विशेष रूप से अमेरिका, अचंभित था। यह विस्फोट बेहद गोपनीयता से किया गया था। इस परीक्षण के बाद अमेरिका और भारत के बीच संबंध अत्यधिक प्रतिकूल हो गए। अमेरिका ने पहली बार ग्लेन संशोधन का क्रियान्वयन किया। भारत पर नए प्रतिबंध लगाए गए, और एक बार ऐसा प्रतीत हुआ कि दोनों देशों के संबंध कभी सामान्य नहीं होंगे।

पाकिस्तान ने भी मई 1998 में चगाई I और II परमाणु परीक्षण करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

जून में, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने भारत और पाकिस्तान के परमाणु परीक्षणों के विरुद्ध निंदा प्रस्ताव स्वीकार किया।

लाहौर सम्मेलन

1998 के उत्तरार्द्ध और 1999 के पूर्वार्द्ध में, वाजपेयी ने पाकिस्तान के साथ राजनयिक शांति प्रक्रिया की दिशा में काम किया।

फरवरी 1999 में दिल्ली-लाहौर बस सेवा शुरू की गई और प्रधानमंत्री वाजपेयी ने बस द्वारा लाहौर की यात्रा की। वाजपेयी ने भारत और पाकिस्तान के बीच एक नई शांति प्रक्रिया शुरू करने का प्रयास किया ताकि कश्मीर एवं अन्य विवादों को स्थायी रूप से सुलझा लिया जाए। फरवरी 1999 में लाहौर में एक बैठक में, भारत के

प्रधानमंत्री वाजपेयी और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने संवाद करने, व्यापार संबंध एवं पारस्परिक मैत्री के विस्तार की प्रतिबद्धता को दोहराते हुए और एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप एवं दखल न देने की शपथ लेते हुए तथा परमाणु हथियारों के अनाधिकृत या दुर्घटनावश प्रयोग के जोखिम को कम करने के लिए अविलंब कदम उठाने हेतु प्रतिबद्धता व्यक्त करते हुए लाहौर घोषणा पर हस्ताक्षर किए और परमाणु एवं अन्य परम्परागत क्षेत्रों में विश्वास बहाली, संघर्ष रोकने, आतंकवाद के सभी रूपों एवं कार्यों की निंदा की पुष्टि और इस समस्या से लड़ने हेतु सभी मानवाधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं की रक्षा के अपने इरादे हेतु व्यापक कदम उठाने के दृष्टिकोण के साथ अवधारणाओं एवं सिद्धांतों पर विचार-विमर्श किया।

कारगिल युद्ध

लाहौर बस यात्रा और लाहौर में बैठक की खुशमिजाजी ज्यादा समय तक नहीं चली। बैठक के बमुश्किल तीन माह पश्चात्, यह देखा गया कि सशस्त्र आतंकियों और पाकिस्तानी सिपाहियों द्वारा कश्मीर घाटी में एक धीमी घुसपैठ चल रही थी और घुसपैठियों ने सीमा पर पहाड़ों की ऊंचाइयों तथा मानव रहित सीमा चौकियों पर कब्जा एवं नियंत्रण कर लिया था। यह बाद में पता चला कि घसपैठ की योजना जनरल परवेज मुशर्रफ के नेतृत्व में पाकिस्तानी सेना ने बनाई थी, और प्रधानमंत्री नवाज शरीफ को योजना पर काम शुरू हो जाने के पश्चात् बताया गया था। कारगिल जिला इस घुसपैठ का मुख्य केंद्र था।

भारतीय सेना को इस घुसपैठ के बारे में पहली बार मई 1999 में गड़ेरियों से पता चला। पाकिस्तानी घुसपैठ का जवाब देने के लिए तुरंत कार्रवाई की गई। सेना और वायु सेना (जिसने अपने ऑपरेशन को 'सफेद सागर' नाम दिया) दोनों ने मिलकर कार्रवाई की। (सेना को साफ तौर पर कहा गया कि वे नियंत्रण रेखा को पार न करें।) ऑपरेशन विजय सफलतापूर्वक पूरा किया गया और पाकिस्तानियों द्वारा हथिया ली गई चोटियों पर फिर से कब्जा कर लिया गया।

जून में, पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने अमेरिका को इस मामले में हस्तक्षेप करने को कहा, लेकिन तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने तब तक के लिए ऐसा करने से मना कर दिया जब तक कि पाकिस्तानी सेनाएं नियंत्रण रेखा से हटा नहीं ली जातीं। नवाज शरीफ ने पाकिस्तानियों को ऑपरेशन रोकने का आदेश दिया। 26 जुलाई तक, भारत की विजय के साथ युद्ध समाप्त हो गया।

भारत ने ठंडे एवं दुर्गम क्षेत्र में वीरतापूर्ण लड़ाई लड़ी और इसमें 500 से अधिक भारतीय सैनिक मारे गए। कारगिल विजय ने वाजपेयी की निर्णायक, संवेदनशील एवं समझदार नेता की छवि को उजागर किया और लोगों की देशभक्ति की भावना को भी बल मिला।

एनडीएः दूसरा कार्यकाल (अक्टूबर 1999-मई 2004)

जब देश में 1999 के आम चुनाव हुए तो लोगों के मन-मस्तिष्क में कारगिल युद्ध की घटना ताजा थी। लोगों में एनडीए और विशिष्ट रूप से प्रधानमंत्री के लिए समर्थन था। चुनावों में बीजेपी के नेतृत्व में एनडीए को जनता दल (यूनाइटेड) और डीएमके जैसे नवीन सहयोगियों के साथ बहुमत प्राप्त हुआ। अटल बिहारी वाजपेयी ने 13 अक्टूबर, 1999 को तीसरी बार प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली।

आर्थिक एवं सामाजिक कदम

एनडीए सरकार ने नरसिम्हा राव सरकार द्वारा शुरू किए गए आर्थिक सुधारों को आगे जारी रखा। आधारभूत ढांचे के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। दूरसंचार एवं राजमार्गों—राष्ट्रीय राजमार्ग विकास परियोजना और स्वर्णिम चर्तुभुज—को महत्व दिया गया। ग्रामीण क्षेत्र की उपेक्षा नहीं की गई। सभी मौसम में ग्रामीण क्षेत्र की संपर्कता में सुधार हेतु प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना आरंभ की गई।

सेवा क्षेत्र में वृद्धि हो रही थी और सॉफ्टवेयर उद्योग को बढ़ावा दिया गया। पश्चिमी देशों से काम की आउटसोर्सिंग ने भारत में नौकरियों में जबरदस्त इजाफा किया।

सरकार ने एक नई दूरसंचार नीति प्रस्तुत की जिसने ऊंची नियत लाइसेंस शुल्क की जगह अधिक तर्कसंगत राजस्व आधारित साझा शुल्क आधार प्रस्तुत किया। सरकार ने वीएसएनएल जैसे राज्य एकाधिकार वाले उपक्रमों का निजीकरण किया और शुल्क मुक्त आयातों के रूप में राजस्व परिवर्तन किए।

विनिवेश आयोग को मंत्रालय में तब्दील कर दिया गया। अर्थव्यवस्था के खुले होने के साथ, विदेशी कंपनियां भारतीय बाजार में पदार्पण करने लगी थीं। भारतीय दवा कंपनियों ने अपनी दवाइयों का निर्यात करना शुरू कर दिया था जिसके परिणामस्वरूप बेशकीमती विदेशी विनिमय देश में लाया जा सका।

विदेश निवेश, विशेष रूप से यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका से, को प्रोत्साहित करने के प्रयास किए गए।

सरकार ने वित्तीय अनुशासन को संस्थागत करने, भारत के राजस्व घाटे को कम करने, वृहद आर्थिक प्रबंधन में सुधार के लिए और संतुलित बजट और राजस्व विवेक के सुदृढ़ीकरण की तरफ कदम बढ़ाकर सार्वजनिक वित्त के समग्र प्रबंधन के लिए राजस्व उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम 2003 प्रस्तुत किया।

सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वशिक्षा अभियान के माध्यम से शिक्षा के विस्तार का प्रयास किया।

संविधान के 86वें संशोधन अधिनियम, 2002 के द्वारा शिक्षा के अधिकार को

संविधान के भाग-III में मूलभूत अधिकारों में शामिल कराना इस शासनावधि के मुख्य कामों में से था।

आतंकवादी मुसीबतें और पाकिस्तान से संबंध

दिसम्बर 1999 में, पाकिस्तानी आतंकवादियों द्वारा एक भारतीय यात्री विमान (आईसी 814) का नेपाल से अपहरण कर लिया गया और तालिबान शासित अफगानिस्तान में ले गए। सरकार ने आखिर में आतंकवादियों की मांगों को स्वीकार कर लिया और मौलाना मसूद अजहर सहित कुछ आतंकियों को जेल से रिहा कर दिया। भारत सरकार की ओर से इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं आया कि क्यों व्यक्तिगत रूप से विदेश मामले मंत्री आतंकियों को अफगानिस्तान ले गए और यात्रियों से उनकी अदला-बदली की। इस घटना के बाद भारत-पाकिस्तान के संबंध अत्यधिक बिगड़ गए।

लेकिन फिर से जुलाई 2001 में, भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने पाकिस्तान से संबंध सुधारने के दृष्टिगत पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल परवेज मुशर्रफ को शांति वार्ता के लिए दिल्ली और आगरा बैठक के लिए आमंत्रित किया। इस बैठक में कोई भी रास्ता नहीं निकल सका जैसाकि मुशर्रफ कश्मीर मामले को एक तरफ रखकर बातचीत करने पर सहमत नहीं हुए।

फिर दिसम्बर 2001 में, दिल्ली में संसद पर हमला किया गया जिसे लश्कर-ए-तयैबा और जैश-ए-मोहम्मद के आतंकवादियों ने अंजाम दिया। एक बार फिर भारत-पाकिस्तान संबंध रसातल में चले गए। इस हमले और अन्य आतंकी हमलों के चलते, भारत सरकार ने प्रीवेंशन ऑफ टेररिज्म एक्ट (पोटा) पारित कराया।

अमेरिका से संबंध

भारत ने अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन के साथ संबंधों में सुधार किया जिसके चलते वे भारत दौरे पर आए और व्यापार को विस्तारित करने और रणनीतिक मामलों पर सहयोग करने का प्रयास किया गया।

कश्मीर चुनाव

वर्ष 2002 में कश्मीर में चुनाव हुए जिन्हें चुनाव आयोग के इस दिशा में प्रयास के चलते निष्पक्ष एवं पारदर्शी रूप से कराया जा सका। आतंकवादियों द्वारा लोगों को धमकी देने और चुनावों का बहिष्कार करने के बावजूद, बड़ी संख्या में लोगों ने मतदान किया। नेशनल कांफ्रेस, जो सत्ता में थी, को जनता ने बाहर का रास्ता दिखाया। कांग्रेस और पीडीपी के गठबंधन को भारी मत मिले। मुफ्ती मोहम्मद सईद मुख्यमंत्री बने।

नकारात्मक पहलू

वर्ष 2001 में, रक्षा मंत्री, जॉर्ज फर्नांडीज, को बराक प्रक्षेपास्त्र घोटाले और कारगिल में शहीद जवानों के लिए ताबूतों की आपूर्ति में घोटाले के चलते त्यागपत्र देने को बाध्य

किया गया। जांच आयोग की रिपोर्ट में यह भी खुलासा हुआ था कि सरकार कारगिल में घुसपैठ को रोक सकती थी।

फिर बीजेपी अध्यक्ष, बंगारू लक्ष्मण, को मीडिया द्वारा पहली बार किए गए स्टिंग ऑपरेशन में स्पष्ट रूप से रिश्वत लेते दिखाया गया।

वर्ष 2002 में हुए गोधरा सांप्रदायिक दंगों ने भारत की छवि को बट्टा लगाया। फरवरी 2002 में, गोधरा (गुजरात) में साबरमती एक्सप्रेस में आग लग गई और अयोध्या से लौट रहे कई तीर्थ यात्री मारे गए। व्यापक रूप से यह माना गया कि मुस्लिम लोगों की एक भीड़ ने डिब्बों (रेल) में आग लगाई थी जबकि जांच आयोग ने भी कहा था कि गैस सिलेंडर या स्टोव के आग पकड़ने से डिब्बों के भीतर आग लगी थी। इसके परिणामस्वरूप गुजरात में दंगे शुरू हो गए, विशेष रूप से अहमदाबाद और बड़ौदा में। दंगों को सामूहिक हत्या कहा गया जैसाकि मुस्लिमों को निशाना बनाया गया और नृशंसता चरम पर पहुंच गई। इसने 1984 में घटित सिख विरोधी दंगों की याद ताजा कर दी। गुजरात के तत्कालीन मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी की दंगों को रोक पाने में अक्षमता या हालात को काबू में करने की अनिच्छा के लिए कठोर निंदा की गई। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी इस घटना से बेहद आहत हुए और आधिकारिक रूप से इसकी निंदा की। यह भी माना जाता है कि वे मोदी का त्याग-पत्र चाहते थे, लेकिन पार्टी के भीतर अन्य नेता उनकी इस बात से सहमत नहीं थे।

एनडीए का महत्व

एनडीए सरकार ने अपना कार्यकाल लगभग पूरा किया, और ऐसा करने वाली वह पहली गैर-कांग्रेसी सरकार थी। वाजपेयी एक योग्य नेता के रूप में उभरकर सामने आए जिन्होंने गठबंधन सरकार की जटिल राजनीति को कुशलतापूर्वक प्रबंधित एवं अनुशासित किया। एनडीए सरकार के अपना कार्यकाल सफलतापूर्वक पूरा करने के साथ वह राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस के विश्वसनीय विकल्प के रूप प्रकट हुई। और यह सच्चे लोकतांत्रिक राज्य में आवश्यक था। उनके द्वारा शुरू किए गए कुछ कार्यक्रम प्रशंसनीय थे। इसने अर्थव्यवस्था को और अधिक उदार बनाया जिसने आगे भारत की प्रगति में सहायता की।

2004 के आम चुनाव

लोकसभा का कार्यकाल अक्टूबर 2004 में समाप्त होना था, लेकिन सरकार ने समय-पूर्व चुनाव कराने का निर्णय लिया। लोकसभा को फरवरी में भंग कर दिया गया और देश में अप्रैल-मई 2004 में चुनाव आयोजित हुए। बीजेपी ने सोचा कि उनकी सरकार ने आशातीत रूप से बेहद अच्छा कार्य किया है और गंभीर रूप से 'इण्डिया शाइनिंग' नामक नारा बुलंद किया, लेकिन वह जमीनी हकीकत को समझने में असफल रही। शायद बीजेपी को हाल ही में हुए राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ राज्य

विधानसभा चुनावों में मिली सफलता से ऐसा करने का बल मिला था। यहां तक कि समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं ने भी हालात का सही जायजा नहीं लिया और बिना किसी परेशानी के एनडीए को विजयी दिखाया लेकिन एनडीए हार गई। संभवतः बीजेपी ने लोगों के एक वर्ग का समर्थन खो दिया था चूंकि इसने चुनाव प्रचार में विवादास्पद एवं वैचारिक प्रश्नों पर बल देने की बजाय आर्थिक मामलों पर अधिक जोर दिया।

कांग्रेस, सोनिया गांधी के नेतृत्व में, अकेली सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उदित हुई।

यूपीए सरकार
(मई 2004-मई 2009; मई 2009-मई 2014)

चुनावों के पश्चात, कांग्रेस ने यूनाइटेड प्रोग्रेसिव एलायंस (यूपीए) बनाने के लिए छोटी पार्टियों के साथ गठबंधन किया जिसमें एनडीए की अपेक्षा अधिक संख्या में सांसद थे। राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने यूपीए को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। यूपीए के पास बीएसपी, समाजवादी पार्टी, केरल कांग्रेस और वाम दलों द्वारा बाहर से समर्थन के कारण पर्याप्त बहुमत था।

यह अपेक्षित था कि सोनिया गांधी, कांग्रेस पार्टी अध्यक्ष, प्रधानमंत्री पद की स्वाभाविक पसंद होंगी। उनकी पार्टी के सदस्यों और सहयोगी दलों द्वारा नाटकीय हंगामे के बाद उन्होंने प्रधानमंत्री पद न स्वीकारने का निर्णय लिया। उन्होंने प्रधानमंत्री के तौर पर मनमोहन सिंह को मनोनीत किया। शायद उन्हें पता था कि विपक्ष द्वारा उनके विदेशी मूल के होने के मामले को तूल दिया जाएगा और सरकार के सम्मुख परेशानी खड़ी की जाएगी। हालांकि, वह कांग्रेस पार्टी की अध्यक्ष और यूपीए की चेयरपर्सन बनी रहीं।

यूपीए सरकारः पहला कार्यकाल

मनमोहन सिंह, भूतपूर्व वित्त मंत्री जिन्होंने आर्थिक सुधारों की शुरुआत की थी जब वे नरसिम्हा राव सरकार में थे, ने 22 मई, 2004 को भारत के प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। वे राज्यसभा सदस्य थे।

सामाजिक कल्याण संबंधी कदम

यूपीए सरकार की नीतियों के दिशानिर्देशन के लिए एक साझा न्यूनतम कार्यक्रम (सीएमपी) तैयार किया गया। जैसाकि इस सीएमपी को साकार करने में कम्युनिस्ट दलों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, सरकार की नीतियों को 'केंद्र के वाम पक्ष की ओर झुकाव' के तौर पर देखा गया था।

मनमोहन सिंह की अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सुधारवादी प्रवृत्ति को संभवतः सोनिया

गांधी द्वारा नियंत्रित किया गया था। एक राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् (एनएसी) का गठन किया गया, जिसकी अध्यक्ष सोनिया गांधी थी। इस परिषद् में कल्याणकारी एजेंडा के साथ सामाजिक कार्यकर्ता इसके सदस्य के रूप में शामिल थे। सामाजिक कल्याण के विचार इस परिषद् से आते थे और जिन्हें सरकार को स्वीकार करने की आवश्यकता थी।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (नरेगा)—जिसमें बाद में महात्मा गांधी का नाम जोड़ दिया गया और यह मनरेगा हो गया—2006 में शुरू होने वाली अपने प्रकार की विश्व की सबसे बड़ी कल्याणकारी योजना थी। इसने ग्रामीण निर्धनता से निपटने के लिए प्रत्येक ग्रामीण परिवार को एक वर्ष में 100 दिनों का भुगतान श्रम प्रदान करने की गारंटी प्रदान की। कार्यक्रम ने एक-तिहाई काम महिलाओं के लिए अनिवार्य करके महिलाओं की भी सहायता की।

वर्ष 2005 में सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन को शुरू किया।

मनमोहन सरकार के अंतर्गत ही सूचना का अधिकार लोगों को देशव्यापी स्तर पर प्राप्त हुआ। प्रत्येक लोक प्राधिकारी के कार्यकारण में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के संवर्धन के लिए, लोक प्राधिकारियों के नियंत्रणाधीन सूचना तक पहुंच सुनिश्चित करने के लिए नागरिकों के सूचना के अधिकार की व्यवाहारिक शासन पद्धति स्थापित करने, एक केंद्रीय सूचना आयोग तथा राज्य सूचना आयोग का गठन करने और उनसे संबंधित या उनके आनुषंगिक विषयों का उपबंध करने के लिए सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 बनाया गया। इस कानून का प्रयोग करके कोई व्यक्ति किसी सरकारी संस्थान से जानकारी के लिए अपना आवेदन दे सकता है, जिसका जवाब उस सरकारी संस्थान को केवल 30 दिनों के अंदर देना होता है।

वर्ष 2005 में, मनमोहन सिंह सरकार ने जटिल बिक्री कर को प्रतिस्थापित करने के लिए वैट (VAT) को प्रस्तुत किया।

विदेश संबंध

मनमोहन सिंह के नेतृत्व में सरकार ने अमेरिका से अधिक मजबूत संबंध बनाने का प्रयास किया। प्रधानमंत्री ने भारत-अमेरिका नागरिक परमाणु समझौता पर बातचीत करने के लिए जुलाई 2005 में अमेरिका की यात्रा की। जब 2006 में अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू बुश भारत यात्रा पर आए, तो परमाणु समझौते की घोषणा की गई। इसने भारत को अमेरिकी परमाणु ईंधन और प्रौद्योगिकी तक पहुंच प्रदान की, यद्यपि लौटने पर भारत को अपने नागरिक परमाणु संयंत्रों की जांच आईएईए (अंतरराष्ट्रीय आणविक ऊर्जा अभिकरण) से कराने की अनुमति प्रदान करने की बात कही गई। लेकिन यह अक्टूबर 2008 में जाकर संभव हो सका जब आगामी बातचीत और आईएईए, परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह और यूएस कांग्रेस की अनुमति से भारत और

अमेरिका के बीच समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस समझौते के साथ, अमेरिका द्वारा भारत के साथ परमाणु व्यापार पर लगाए गए तीस वर्ष लम्बे प्रतिबंध का अंत हो गया।

मनमोहन सिंह सरकार भारत-अमेरिका परमाणु सौदे को लेकर दृढ़ थी और कहा कि वह अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धता से पीछे नहीं हटेंगे चाहे उनकी सरकार गिर जाए। जुलाई 2008 में, इस मुद्दे पर यूपीए सरकार को विश्वास मत का सामना करना पड़ा, जैसाकि वाम दलों ने सरकार से अपना समर्थन खींच लिया। सरकार विश्वास मत हासिल करने में कामयाब रही।

मनमोहन सिंह ने भारत और चीन के मध्य भी संबंध बेहतर करने का प्रयास किया। वर्ष 2006 में, चीन के राष्ट्रपति हू जिनताओ ने भारत की यात्रा की, और 2008 में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने बीजिंग की यात्रा की। इस प्रक्रिया के तहत्, चार दशक से भी अधिक समय से बंद नाथुला दर्रे को 2006 में खोल दिया गया।

नया राष्ट्रपति

इस बीच, 2007 में, प्रतिभा पाटिल को भारत के राष्ट्रपति के रूप में चुना गया, जो देश में इस पद पर पहुंचने वाली पहली महिला बनीं। हालांकि, प्रतिभा पाटिल राजनीतिक गलियारे में कोई बेहद प्रसिद्ध हस्ती नहीं थीं, वे एक कांग्रेस सदस्या थीं और राजस्थान की राज्यपाल रही थीं तथा नेहरू-गांधी परिवार से उनके गहरे संबंध थे। उन्हें राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के रूप में सोनिया गांधी का समर्थन प्राप्त हुआ था।

आतंकवादी हमले

भारत को 2007-08 में कई आतंकवादी हमलों का सामना करना पड़ा। यहां तक कि इस्लामिक संगठनों द्वारा आतंकवादी कृत्यों को अंजाम दिया गया। इसमें बड़ी संख्या में बम धमाके भी शामिल थे, जिसमें मुसलमान सीधे तौर पर निशाने पर थे। इनकी जांच में हिंदू संगठनों एवं लोगों की भूमिका की ओर संकेत किया गया। वर्ष 2006 में, महाराष्ट्र के मालेगांव में एक मुस्लिम कब्रिस्तान में सीरियल बम धमाके किए गए। मई 2007 में, हैदराबाद में स्थित मक्का मस्जिद में बम धमाका किया गया। वर्ष 2007 में ही, राजस्थान में अजमेर दरगाह पर बम विस्फोट किया गया। इन बम धमाकों में कई लोगों की जान चली गई।

फरवरी 2007 में, अमृतसर में अटारी, भारत की सीमा में अंतिम रेलवे स्टेशन; की ओर जाती समझौता एक्सप्रेस में एक शक्तिशाली बम धमाका किया गया। इसमें कई पाकिस्तानी नागरिक और कुछ भारतीय नागरिक मारे गए। शुरुआती दौर में, यह बताया गया कि आतंकवादी हमले के मुख्य संदिग्ध लश्कर-ए-तैयबा और जैश-ए-मोहम्मद थे। वर्ष 2009 में, यूनाइटेड स्टेट्स ट्रेजरी और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने लश्कर-ए-तैयबा पर प्रतिबंध लगाए, और आरिफ कस्मानी का नाम समझौता एक्सप्रेस में बम विस्फोट करने वालों में शामिल किया गया। हालांकि, मुंबई आतंकवादी हमले

के बाद दिसंबर 2008 में एनआईए विधेयक पारित होने के बाद, 2011 में, राष्ट्रीय जांच एजेंसी (एनआईए) की स्थापना की गई, जिसने समझौता एक्सप्रेस में विस्फोट के लिए आठ लोगों को दोषी ठहराया। एनआईए ने कहा, ''ये सभी अतिवादी विचार वाले हिंदू थे, जो जिहादी आतंकवादी गतिविधियों द्वारा हिंदू मंदिरों पर हमले से आहत एवं गुस्साए हुए थे''। इनमें अन्य लोगों के साथ नाबा कुमार सरकार उर्फ स्वामी असीमानंद, लोकेश शर्मा, कमल चौहान एवं राजिंदर चौधरी शामिल थे। [हालांकि, मार्च 2019 में, तथ्यों एवं सबूतों की कमी का हवाला देते हुए एनआईए कोर्ट ने चार अभियुक्तों को बरी कर दिया।]

राजस्थान की राजधानी जयपुर में वर्ष 2008 में सीरियल बम विस्फोट किए गए। सितम्बर 2008 में, दिल्ली में एक व्यस्त बाजार में बम धमाके हुए। आतंकवाद के इन कृत्यों को इस्लामी रूढ़िवादियों द्वारा किया गया जिनकी अकसर पाकिस्तान द्वारा मदद की जाती है। सबसे भयावह आतंकी हमला 26 नवम्बर, 2008 को पाकिस्तानी आतंकियों द्वारा किया गया जब युवा आतंकी समूह मुंबई में घुस गया और खून-खराबा किया। वे सुप्रसिद्ध ताज होटल में घुस गए और कई लोगों को मारने से पूर्व अतिथियों को बंधक बनाया। उन्होंने व्यस्त शिवाजी रेल टर्मिनल पर हमला किया और कई निर्दोषों की जान ली। इसने भारत की सुरक्षा व्यवस्था पर एक बड़ा प्रश्न खड़ा किया जैसाकि ये आतंकवादी भारत के तट तक एक छोटी नाव से पहुंच थे और सुरक्षा एजेंसियों की आंखों में धूल झोंककर देश के अंदर घुस गए थे। अंततः, नौ आतंकवादियों को मार गिराया गया और एक, अजमल आमिर कसाब, को जीवित पकड़ लिया गया। कैदी आतंकवादी के कबूल करने से पुष्टि हुई कि पाकिस्तान और, विशेष रूप से, लश्कर-ए-तैयबा इस हमले के मास्टर माइंड थे।

[11 नवम्बर, 2015 को एक विशेष अदालत ने एक ट्रायल के बाद कसाब को मृत्युदंड दिया। उसे भारत के विरुद्ध युद्ध के हालात तैयार करने सहित 80 अपराधों में दोषी करार देने के बाद फांसी की सजा दी गई।]

राज्यों में स्थिति

देश में आम चुनाव होने से पहले, राज्य सरकारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मायावती की अध्यक्षता में बहुजन समाज पार्टी (बसपा) ने विधानसभा चुनावों में बहुमत हासिल किया और उत्तर प्रदेश में सरकार बनाई। उनकी पार्टी की जीत ने इस तथ्य को स्पष्ट किया कि उन्होंने मुसलमानों के अलावा हिंदुओं के बीच उच्च जातियों तक पैठ/पहुंच बनाई और दलितों तक सीमित नहीं रहे। एक लंबे समय के बाद, राज्य गठबंधन सरकार से मुक्त हुआ। इससे राज्य में स्थायित्व आया। मई 2008 में, भारतीय जनता पार्टी ने पहली बार दक्षिण की राजनीति में अपनी पैठ बनाई और कर्नाटक राज्य में सरकार बनाई। जम्मू एवं कश्मीर में, नेशनल कॉन्फ्रेंस सर्वाधिक सीटें जीतकर एक बड़ी पार्टी

के रूप में उभरकर सामने आई, और कांग्रेस के साथ मिलकर सरकार बनाई। गुजरात, छत्तीसगढ़, एवं मध्य प्रदेश में बीजेपी सत्ता में थी।

कश्मीर में बिगड़ते हालात

वर्ष 2008 में कश्मीर में एक बार फिर असंतोष की आग भड़क उठी। जब यह निर्णय लिया गया कि अमरनाथ तीर्थयात्रियों के आश्रय के लिए कुछ वन भूमि प्रदान की जाए, तो घाटी में विरोध प्रदर्शन होने लगा। इसके विरोध में जम्मू में प्रतिरोध होने लगा, जो हिंदू बहुल क्षेत्र है। पुलिस की गोली-बारी में कई लोग मारे गए। सर्दियों में विरोध और प्रतिरोध की शृंखला कुछ समय के लिए रुक गई और 2010 में यह नए तरीके से फिर से भड़क उठी। उस समय पुलिस फायरिंग में एक युवक की जान चली गई। बड़ी संख्या में लोग, अधिकतर युवा, घरों से बाहर निकलकर सड़कों पर एकत्रित हो गए और उन्होंने पुलिस पर पथराव करना शुरू कर दिया। स्थिति को नियंत्रित करने के लिए सेना को बुलाया गया, जिसने लोगों में रोष बढ़ाया। अकसर हिंसक विरोध-प्रदर्शन जारी रहा। स्थिति उस समय बदतर हो गई जब खबर फैली कि विदेश में एक ईसाई पादरी ने कुरान की एक प्रति जला डाली। विरोधियों ने ईसाइयों के एक स्कूल को जला डाला। कश्मीर में विरोध-प्रदर्शन करने वाले इस्लामी रूढ़िवादियों के अधिकाधिक प्रभाव में थे और यहां तक कि केंद्र सरकार राज्य से **सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम (अफ्स्पा—AFSPA)** को हटाने के बारे में नहीं सोच रही थी। कश्मीर की स्थिति निरंतर उबाल लेती जा रही थी।

2009 के चुनाव और सत्ता में यूपीए की वापसी

देश में 15वीं लोकसभा के लिए अप्रैल-मई, 2009 में चुनाव आयोजित कराए गए। कांग्रेस के चुनाव प्रचार के पोस्टर में तीन चेहरे—डॉ. मनमोहन सिंह, सोनिया गांधी (कांग्रेस पार्टी की अध्यक्षा), और उनके पुत्र राहुल गांधी (2007 में पार्टी के महासचिव नियुक्त किए गए थे)—प्रमुख थे, जिसने इस बात का संकेत दिया कि पार्टी में परिवार पहले है और वंशवादी प्रवृत्ति को प्रमुखता दी जाती है। मुख्य विपक्षी दल, भारतीय जनता पार्टी ने एल.के. आडवाणी को प्रधानमंत्री के उम्मीदवार के रूप में आगे किया। (इस समय अटल बिहारी वाजपेयी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था।) कई प्रादेशिक दल भी पंक्ति में थे, उनमें से कुछ बीजेपी के साथ गठबंधन करने को तैयार थे और कुछ दल समय की मांग के अनुसार कांग्रेस को समर्थन देने को तैयार थे।

चुनाव नतीजों ने जाहिर किया कि कांग्रेस अपनी सीट तालिका में वृद्धि करने में सक्षम थी, यद्यपि वह स्वतंत्र रूप से बहुमत प्राप्त करने में अक्षम रही। इस सफलता का कारण संभवतः मध्यवर्ग का अर्थव्यवस्था के साथ संतुष्ट होना था, जो अच्छा प्रदर्शन कर रही थी और उन्होंने अमेरिका के साथ परमाणु समझौते का समर्थन किया था; सरकार के द्वारा शुरू की गई कल्याणपरक योजनाओं; विशेष रूप से महिलाओं एवं

वंचित वर्गों के लिए, जिसने सकारात्मक परिणाम दिखाना शुरू किया और राहुल गांधी ने संभवतः युवा वोटरों को आकर्षित किया।

यूपीए एक बार फिर सरकार बनाने की स्थिति में थी। मनमोहन सिंह ने राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल को 18 मई, 2009 को इस्तीफा सौंपने के पश्चात् पुनः 22 मई, 2009 को प्रधानमंत्री पद की शपथ ली और इस प्रकार 1962 में जवाहरलाल नेहरू के कार्यकाल पूरा करने के बाद पुनः प्रधानमंत्री बनने की भांति ऐसे दूसरे प्रधानमंत्री बने या जवाहरलाल नेहरू के बाद ऐसे पहले प्रधानमंत्री बने।

तेलंगाना मुद्दा

मनमोहन सिंह के दूसरे कार्यकाल में तेलंगाना के पृथक राज्य बनने का आंदोलन तीव्र हो गया। वर्ष 2004 के चुनावों से पूर्व, कांग्रेस ने तेलंगाना राष्ट्र समिति (टीआरएस) के साथ गठबंधन किया और वचन दिया कि यदि वह सत्ता में आई तो वह आंध्र प्रदेश से अलग तेलंगाना को एक पृथक राज्य बनाएगी। 2009 के चुनावों में आंध्र प्रदेश में कांग्रेस ने बेहद अच्छा प्रदर्शन किया, लेकिन इस जीत को दिलाने वाले वाई.एस.आर. रेड्डी, जो आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री थे; ने राज्य के विभाजन का पूर्ण विरोध किया। इन परिस्थितियों में केंद्र में सत्तासीन कांग्रेस सरकार तेलंगाना राज्य बनाने के अपने वादे से पीछे हट गई। [इसके साथ ही सरकार ने अपने एक अन्य वादे की भी उपेक्षा की कि कुछ बड़े राज्यों को विभाजित करने के लिए एक नई राज्य पुनर्गठन समिति का निर्माण किया जाएगा। ऐसा इसलिए किया गया कि लेफ्ट, जिनके समर्थन के बिना सरकार अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाती; ने इस विचार का पुरजोर विरोध किया।]

वाई.एस.आर. रेड्डी एक हवाई दुर्घटना में मारे गए और तेलंगाना के लिए विरोध-प्रदर्शन को एक नया जीवन प्राप्त हुआ तथा इसकी कमान के. चंद्रशेखर राव (के.सी.आर.) ने संभाली। नवम्बर 2009 में, तेलंगाना को अलग राज्य बनाने को लेकर के. चंद्रशेखर राव आमरण अनशन पर बैठ गए। इसके समर्थन के लिए के.सी.आर. के हजारों समर्थक इकट्ठे हो गए, जिस कारण हैदराबाद का जन-जीवन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गया। केंद्र सरकार ने दिसंबर 2009 में घोषणा की कि राज्य निर्माण की प्रक्रिया को शुरू किया जाएगा। इस निर्णय ने तटीय आंध्र प्रदेश के कांग्रेस सांसदों में अत्यधिक रोष उत्पन्न किया, लेकिन अंत में इसे स्वीकार कर लिया गया। पृथक राज्य के मामले पर विचार करने के लिए केंद्र सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश बी.एन. कृष्णा की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने दिसंबर 2010 में अपनी रिपोर्ट सौंपी लेकिन टी.आर.एस. ने इसे अस्वीकृत कर दिया। काफी बातचीत के बाद, संसद ने फरवरी 2014 में तेलंगाना विधेयक पारित कर दिया। अधिनियम के अनुसार, आंध्र प्रदेश का नया तेलंगाना राज्य बनाने के लिए औपचारिक रूप से विभाजन किया गया। दोनों राज्य हैदराबाद को दस वर्ष तक राजधानी के रूप

में साझा करेंगे, जिसके पश्चात् आंध्र प्रदेश की पृथक् राजधानी होगी, और केंद्र सरकार ने इसके निर्माण के लिए आंध्र प्रदेश (सीमांध्र भी कहा गया) को फंड प्रदान किया। [केंद्र में नई सरकार के सत्तासीन होने के बाद, जून 2014 में वास्तविक रूप से तेलंगाना अस्तित्व में आया और के.सी.आर. वहां के प्रथम मुख्यमंत्री बने।]

संयोगवश, मई 2011 में, राज्य सरकार के स्तर पर एक ऐतिहासिक बदलाव हुआ। पश्चिम बंगाल, जहां वाम पक्ष (लेफ्ट फ्रंट) 1977 से निरंतर शासन कर रहा था; ने निष्ठा परिवर्तन का निर्णय लिया और तृणमूल कांग्रेस (टीएमसी) को सत्ता सौंप दी। ममता बनर्जी, जो एक समय कांग्रेस में थीं और बाद में पार्टी छोड़कर टीएमसी का गठन किया, राज्य की नई मुख्यमंत्री बनीं।

सामाजिक कल्याण संबंधी कदम एवं कानून

यूपीए सरकार ने अपने दूसरे कार्यकाल में कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक कल्याण संबंधी कदम उठाए। बच्चों को **निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अधिनियम,** जिसे आरटीआई अधिनियम के रूप में जाना जाता है, वर्ष 2009 में अस्तित्व में आया। संविधान (86वां संशोधन) अधिनियम, 2002 द्वारा पहले ही संविधान में अनुच्छेद 21-A शामिल करके प्रावधान कर दिया गया कि छह से 14 आयु वर्ग के बच्चों को मौलिक अधिकार के रूप में निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा इस प्रकार प्रदान की जाए, जैसाकि राज्य विधि द्वारा सुनिश्चित करे। आरटीआई अधिनियम, 2009 ने अनुच्छेद 21-A में उल्लिखित प्रावधानों को साकार किया। इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक बच्चे को एक औपचारिक स्कूल में पूर्णकालिक संतोषजनक एवं एकसमान गुणवत्ता की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। सभी निजी स्कूलों ('अल्पसंख्यक' शैक्षिक संस्थानों के रूप में मान्यता प्राप्त संस्थानों को छोड़कर) के लिए अनिवार्य कर दिया गया कि वे सरल रेंडम चयन के माध्यम से स्कूल में कुल नामांकन का 25 प्रतिशत कमजोर वर्गों और वंचित समुदायों के बच्चों में से अपनी आने वाली कक्षाओं में करेंगे। इन बच्चों के साथ अन्य बच्चों की भांति व्यवहार किया जाएगा, लेकिन इन्हें अनुदान राज्य द्वारा प्रदान किया जाएगा। आरटीई अधिनियम के साथ अनुच्छेद 21-A 1 अप्रैल, 2010 से प्रभावी हुआ।

केंद्रीय एवं राज्य विधायिका में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीट आरक्षित करने संबंधी विधेयक को पारित करने का प्रयास किया गया; विधेयक राज्य सभा में प्रस्तुत किया गया, लेकिन सरकार के अपने गठबंधन के सहयोगियों, विशेष रूप से राष्ट्रीय जनता दल; ने ही इसे समर्थन देने से इंकार कर दिया।

सरकार को महिलाओं के विरुद्ध यौन अपराधों से निपटने के लिए **आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम, 2013** तैयार करने के लिए बाध्य किया गया।

दिसंबर 2012 की एक रात में, दिल्ली में एक युवती का भयानक रूप से सामूहिक बलात्कार किया गया। ज्योति सिंह, जो अपने एक मित्र के साथ थी, एक प्राइवेट बस

में चढ़े, जिसमें कुछ अन्य पुरुष भी थे। उन लोगों ने, जिसमें एक नाबालिग भी था, बस चालक और कंडक्टर के साथ मिलकर, नृशंस तरीके से युवती का बलात्कार कर उसे प्रताड़ित किया तथा उसके युवा पुरुष मित्र की पिटाई की। यहां तक कि यह बस पुलिस चेक पोस्ट से होकर भी गुजरी। अंत में, युवती और उसके मित्र को सड़क के किनारे फेंक दिया गया। उन्हें एक राहगीर ने देखा और पुलिस को सूचित किया। पीड़ितों को अस्पताल ले जाया गया। चिकित्सक ज्योति को बचा नहीं पाए। पुलिस रिपोर्ट के अनुसार, ज्योति ने साहसपूर्ण तरीके से हमलावरों का सामना किया, अतः मीडिया में उसे 'निर्भया' नाम दिया गया जैसाकि बलात्कार पीड़िता का असली नाम छापा नहीं जा सकता था। (उसका असली नाम खुले रूप से उसकी मां ने उजागर किया।) पुलिस ने अविलम्ब छह अपराधियों को गिरफ्तार कर लिया। मार्च 2014 में, दिल्ली उच्च न्यायालय ने सभी अभियुक्तों को बलात्कार, हत्या, अप्राकृतिक अपराध एवं साक्ष्यों को नष्ट करने का दोषी पाया। उच्च न्यायालय ने पूर्व में दोषी ठहराए गए सभी चार व्यक्तियों के मृत्युदंड की पुष्टि की। (नाबालिग को एक अलग कानून के अंतर्गत देखा गया और कुछ वर्ष जेल में बिताने के पश्चात वह छूट गया, और एक आरोपी जेल में मर गया।) यह मामला अपील के तहत सर्वोच्च न्यायालय में गया। [वर्ष 2018 तक यह मामला अंतिम रूप से निर्णीत नहीं हुआ था। मई 2017 में, सर्वोच्च न्यायालय ने दोषियों की अपील को ठुकरा दिया और चारों दोषियों के मृत्युदंड की सजा को बरकरार रखा। दोषियों ने सर्वोच्च न्यायालय में समीक्षा याचिका दायर करने के अपने अधिकार का प्रयोग किया, लेकिन जुलाई 2018 में सर्वोच्च न्यायालय ने उनकी समीक्षा याचिका को निरस्त कर दिया।

पुलिस द्वारा दोषियों को अविलम्ब पकड़े जाने के बावजूद, दिल्ली एवं भारत के अन्य स्थानों पर सामूहिक बलात्कार की इस घटना का व्यापक विरोध हुआ। (संयोगवश, भारत में विरोध-प्रदर्शन की चिंगारी पूरे दक्षिण एशिया में फैल गई और नेपाल, श्रीलंका, पाकिस्तान एवं बांग्लादेश में रैलियां और जुलूस निकाले गए।) प्रदर्शनकारी, जो सभी क्षेत्रों से आए, लेकिन उनमें अधिकतर युवा थे, चाहते थे कि अपराधियों को मृत्युदंड दिया जाए। दिल्ली में प्रदर्शनकारी हिंसक हो उठे और सुरक्षा बलों से भिड़ गए। शुरुआत में सरकार पशोपेश में आ गई, लेकिन अंततः उसने मामले को सुलझा लिया।

22 दिसंबर, 2012 को सरकार ने एक तीन-सदस्यीय न्यायिक समिति गठित की। इसकी अध्यक्षता जे.एस. वर्मा, भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश और एक प्रसिद्ध न्यायविद्, को सौंपी गई और कहा गया कि वे आपराधिक कानून में संशोधन अनुशंसित करें ताकि महिलाओं के विरुद्ध यौन अपराधों में लिप्त आपराधिक दोषियों को अधिकाधिक सजा दी जा सके एवं तीव्र ट्रायल किया जा सके। जनवरी 2013 में सौंपी गई अपनी रिपोर्ट में, समिति ने सरकार, पुलिस एवं लोगों की उदासीनता के लिए

उनकी आलोचना की। इसने यौन अपराधों के लिए मूल कारण शासन की असफलता को ठहराया। समिति ने बलात्कार, यौन उत्पीड़न, मानव व्यापार, बाल यौन दुराचार, पीड़ितों की चिकित्सकीय जांच, पुलिस, निर्वाचकीय एवं शैक्षिक सुधारों से संबंधित कानूनों पर अनुशंसाएं दीं।

समिति ने बलात्कारियों को मृत्युदंड देने की अनुशंसा नहीं की। इसने बलात्कार एवं सामूहिक बलात्कार से उत्पन्न अलग-अलग स्थितियों के लिए सात वर्ष से लेकर आजीवन कारावास की सजा का सुझाव दिया। सभी प्रकार के यौन अपराधों को नियंत्रित करने की आवश्यकता पर बल देते हुए, समिति ने एसिड हमलों और यौन व्यापार हेतु उचित सजा की सिफारिश की। इसने पुलिस के लिए यह अनिवार्य कर दिया कि वह बलात्कार की प्रत्येक शिकायत को पंजीकृत करे। इसने पुलिस को संवेदनशील होने और यौन दुराचारों के मामलों को उचित रूप से देखने के लिए प्रशिक्षण देने की बात कही। सभ्य समाज को उसके संज्ञान में आने वाले बलात्कार के प्रत्येक मामले की रिपोर्ट करनी चाहिए। समिति चाहती है कि सभी विवाह पंजीकृत होने चाहिए। भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत, यद्यपि बिना आपसी सहमति के संभोग प्रतिबंधित है, तथापि विवाह के भीतर बिना किसी सहमति के यौन संभोग को अपवाद रखा गया है। समिति ने अनुशंसित किया कि वैवाहिक बलात्कार अपवाद नहीं होना चाहिए।

बलात्कार के मामलों के लिए समयबद्ध ट्रायल अनुशंसित करने और पीछा करने तथा जबरदस्ती छूने सहित सभी प्रकार के यौन उत्पीड़न हेतु संवेदनशील या संघर्ष वाले क्षेत्रों में लागू अफ्स्पा (AFSPA) की समीक्षा करने को भी कहा गया ताकि सुरक्षा बलों द्वारा किए गए यौन अपराधों को साधारण आपराधिक कानून के तहत लाया जा सके।

पैनल ने बलपूर्वक या जोर देकर अनुशंसित किया कि, ''विधि प्रवर्तन अभिकरण राजनीतिक आकाओं के हाथ की कठपुतली नहीं बन सकते।'' उन्होंने इशारा किया कि पुलिस बल के सदस्यों को यह बात समझनी चाहिए कि, ''अपने कर्तव्य के निर्वहन में उनकी निष्ठा और जिम्मेदारी केवल कानून के प्रति है न कि किसी और के प्रति।''

समिति ने यह भी बताया कि न्यायपालिका की पहली जिम्मेदारी मौलिक अधिकारों का प्रवर्तन कराना है। इसने कहा कि न्यायपालिका को सतर्क रहना चाहिए।

राजनीति के अपराधीकरण से निपटने और इसमें सुधार करने के लिए, समिति ने अनुशंसित किया कि यौन अपराध के दोषी उम्मीदवार को निर्वाचन प्रक्रिया में भाग लेने से अनर्ह किया जाना चाहिए और चार्जशीट दाखिल होना तथा न्यायालय द्वारा संज्ञान लेना उम्मीदवार की अनर्हता के लिए पर्याप्त होना चाहिए। समिति चाहती है कि राज्य बेघर और तिरस्कृत बच्चों को शिक्षा सुविधाएं प्रदान करे।

फरवरी 2013 में, सरकार ने यौन अपराधों से जुड़े मामलों के लिए भारतीय दंड संहिता, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, आपराधिक प्रक्रिया संहिता और यौन अपराधों से

बाल संरक्षण अधिनियम में संशोधन करके एक अध्यादेश प्रख्यापित किया। मार्च 2013 में, अध्यादेश को प्रतिस्थापित करने के लिए संसद द्वारा **आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम** पारित किया गया। एसिड हमले, जिसमें 10 वर्ष का कारावास जो आजीवन कारावास तक विस्तारित किया जा सकता है या जुर्माना या दोनों होगा; यौन उत्पीड़न, जिसमें 1 से 3 वर्ष का कारावास, जुर्माना या दोनों होगा; दर्शनरति, जिसमें 3 से 7 साल के कारावास की सजा होगी; पीछा करने पर 1 से 5 साल के कारावास की सजा होगी और सामूहिक बलात्कार, जिसमें 20 वर्ष के कारावास की सजा; जिसे आजीवन कारावास तक बढ़ाया जा सकता है, होगी, जैसे अपराधों को कानून के घेरे में लाने और परिभाषित करने के लिए मौजूदा कानूनों में विभिन्न नई धाराएं जोड़ी गई हैं। यौन सहमति की आयु को 16 वर्ष से बढ़ाकर 18 वर्ष किया गया है। कुछ मामलों में अपराधों की पुनरावृत्ति को आजीवन कारावास और मृत्युदंड के साथ जोड़ा गया है। इसके अतिरिक्त, बलात्कार के मामलों में तीव्र ट्रायल और दोष सिद्धि का प्रावधान किया गया है।

वैवाहिक बलात्कार को शामिल न करने और यौन अपराधों तथा बलात्कार के मामलों में लैंगिक तटस्थता से दूरी, यह कानून केवल महिलाओं के विरुद्ध अपराधों की बात करता है; के कारण मुख्य रूप से इस कानून की आलोचना की गई।

2013 में सरकार ने **राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम और भोजन का अधिकार अधिनियम** की दिशा में कदम बढ़ाया। यह अधिनियम 10 सितम्बर, 2013 को अधिसूचित किया गया जिसका उद्देश्य एक गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए लोगों को वहनीय मूल्यों पर अच्छी गुणवत्ता के खाद्यान्न की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध कराते हुए उन्हें मानव जीवन चक्र दृष्टिकोण में खाद्य और पौषणिक सुरक्षा प्रदान करना है। यद्यपि इस पर कहा गया था कि इस प्रकार का वितरण भ्रष्टाचार और पीडीएस के अदक्ष कार्यकरण के चलते लक्षित लोगों तक पहुंचा पाना मुश्किल है। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् नकद हस्तांतरण/फूड कूपन के पक्ष में नहीं थी। स्पष्ट रूप से इस मामले में सरकार को कुछ परेशानियों का सामना करना पड़ा था।

मंगल के लिए अंतरिक्ष अभियान

राजनीतिक बहस को गरमाने वाले सभी नकारात्मक पहलुओं के बीच, भारतीय अंतरिक्ष विज्ञानियों की सफलता को देखना हार्दिक हर्ष का विषय था। नवम्बर 2013 में, भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के पहले अंतरग्रहीय मिशन, जिसे आधिकारिक रूप से 'मार्स ऑर्बिटर मिशन' और लोकप्रिय रूप से *'मंगलयान'* कहा गया, का प्रक्षेपण किया गया। [24 सितम्बर, 2014 को, भारत की अंतरिक्ष एजेंसी रूसी, अमेरिकी एवं यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसियों के पश्चात ऐसी चौथी अंतरिक्ष एजेंसी बनी, जिसने अंतरिक्षयान का प्रक्षेपण कर सफलतापूर्वक मंगल की कक्षा में प्रवेश

किया। इसके अतिरिक्त, भारत ऐसा पहला देश बना, जो अपने पहले प्रयास में ही मंगल पर पहुंचा और वह भी अविस्मरणीय रूप से कम लागत पर]

भ्रष्टाचार आरोप एवं लोकपाल अधिनियम

अपने दूसरे कार्यकाल में यूपीए सरकार को दिसंबर 2013 में लोकपाल एवं लोकायुक्त विधेयक पारित करने का श्रेय भी दिया जा सकता है। लेकिन यहां पर भी परिस्थितियों द्वारा ऐसा करने को बाध्य किया गया था।

यूपीए सरकार का दूसरा कार्यकाल उसके द्वारा किए गए भ्रष्टाचार के आरोपों से भरा हुआ था। उनके समय में 2जी और 3जी स्पेक्ट्रम (टेलिकॉम लाइसेंस) के आबंटन को लेकर विवाद खड़ा हो गया था, जिसमें आरोप लगाया गया था कि सरकार ने बेहद सस्ती दरों पर स्पेक्ट्रम आबंटन किया था। वर्ष 2010 में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (कैग) की रिपोर्ट ने इसकी पुष्टि की। फिर उसके बाद राष्ट्रमंडल खेलों में गड़बड़ी की रिपोर्ट आई, जिसमें बड़े पैमाने पर विभिन्न आधारभूत ढांचे के निर्माण संबंधी परियोजनाओं की संविदा के प्रापण में बड़ी मात्रा में धन का लेन-देन हुआ। 2जी/3जी घोटाला में कांग्रेस के सहयोगी दल के नेता का नाम आया, जबकि राष्ट्रमंडल खेल घोटाले में कांग्रेस के मंत्री का नाम आया। वर्ष 2012 में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट में आरोप लगाया गया कि कोयला ब्लॉक्स के आबंटन ने राजकोष को हानि पहुंचाई क्योंकि आबंटन पक्षपाती रूप से किया गया था। वास्तव में इस रिपोर्ट ने मनमोहन सिंह की साख पर बट्टा लगाया, जिन्हें सदैव एक स्वच्छ राजनीतिज्ञ कहा जाता था। कोयला आबंटन (2006-2009) उस समय हुआ, जब यह मंत्रालय उनके पास था। भ्रष्टाचार के घटनाक्रम को व्यापक रूप से मीडिया ने कवर किया और विभिन्न टेलिविजन चैनलों पर इस पर चर्चा हुई और मामले को लोगों के सामने लाया गया।

वर्ष 2011 में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन महत्वपूर्ण बन गया। अन्ना हजारे, महाराष्ट्र के रालेगांव सिद्धि गांव के एक सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता, अप्रैल 2011 में दिल्ली आए और सरकार में भ्रष्टाचार और मजबूत भ्रष्टाचार-रोधी कानून लाने में असफलता के विरुद्ध 12 दिन के अनशन पर बैठ गए। उनकी विशिष्ट मांग थी कि लोकपाल की स्थापना की जाए। कई कार्यकर्ताओं ने विरोध-प्रदर्शन में उनका साथ दिया। अन्ना हजारे को उनके प्रयासों में सहायता करने के लिए 'इंडिया अगेंस्ट करप्शन' संगठन का गठन किया गया। इसके एक मुख्य संस्थापकों में अरविंद केजरीवाल, मैग्सेसे पुरस्कार विजेता और सूचना का अधिकार के एक सक्रिय कार्यकर्ता, थे। इसके अधिकतर सदस्य महत्वपूर्ण लोग थे; जैसे—वकील, लोक सेवक एवं शिक्षाविद इत्यादि। सुप्रसिद्ध व्यक्तियों सहित बड़ी संख्या में लोग अन्ना हजारे के समर्थन में आगे आए। मीडिया की सक्रिय कवरेज ने इस घटना के महत्व में वृद्धि की। वर्ष 2011 का आंदोलन भारतीय राजनीतिक इतिहास में महत्वपूर्ण था, जैसाकि इसने

लोगों को भ्रष्टाचारी व्यवस्था के विरुद्ध अपनी झुंझलाहट को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान किया। अधिकतर लोगों को कभी न कभी अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को रिश्वत देनी पड़ी थी यहां तक कि सही काम कराने के लिए भी। पूरे भारत में आधिकारिक भ्रष्टाचार के खिलाफ विरोध एवं प्रदर्शन की एक शृंखला खड़ी हो गई।

सरकार इस विरोध-प्रदर्शन से हिल गई और घोषणा की कि वह लोकपाल विधेयक पर विचार हेतु एक समिति गठित करेगी। उसने कहा कि समिति में पांच केबिनेट सदस्य और इंडिया अगेंस्ट करप्शन द्वारा नामित पांच सदस्य शामिल होंगे। अन्ना हजारे ने अपना अनशन तोड़ दिया और विश्वास जताया कि विधेयक उस वर्ष स्वतंत्रता दिवस से पूर्व पारित कर दिया जाएगा। हालांकि, समिति अपने प्रयास में विफल हो गई क्योंकि सरकार के प्रतिनिधियों और कार्यकर्ताओं के बीच गहरा मतभेद था और वे कुछ प्रमुख पहलुओं पर सहमत नहीं हो सके।

जल्द ही एक अन्य विरोध प्रदर्शन हुआ, जिसका नेतृत्व योग गुरु बाबा रामदेव ने किया और मांग की कि स्विस और अन्य विदेशी बैंकों में भारत के लोगों द्वारा जमा अवैध धन वापस देश में लाया जाए। यद्यपि वे अन्ना हजारे की तरह नहीं थे और उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं थीं। उन्हें बीजेपी के काफी नजदीक समझा जाता था। एक बार फिर इस विरोध प्रदर्शन में बड़ी संख्या में लोगों ने भाग लिया। बातचीत असफल होने के बाद सरकार ने सख्त रुख अपनाया और रामदेव बाबा को दिल्ली से बाहर रहने का आदेश दिया।

जुलाई 2011 में सरकार द्वारा लोकपाल विधेयक को मंजूरी प्रदान की गई, जिसे सक्रिय कार्यकर्ताओं द्वारा इस आधार पर ठुकरा दिया गया कि इसमें उच्च कार्यकारियों को लोकपाल के अधिकार क्षेत्र से बाहर कर दिया गया है।

अन्ना हजारे ने घोषणा की कि वे बेहतर लोकपाल बिल के लिए एक बार फिर अनशन करेंगे। इस बार सरकार द्वारा उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। अन्ना हजारे स्वैच्छिक रूप से जेल जाने को तैयार हो गए और जमानत लेने से इनकार कर दिया और वहीं अनशन शुरू कर दिया। दिल्ली की सड़कों पर लोग उनके समर्थन में इकट्ठे हो गए। सरकार के पास उन्हें रिहा करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। अन्ना हजारे ने रामलीला मैदान में अपना अनशन जारी रखा। उनके प्रति एकजुटता अभिव्यक्त करने के लिए भारी संख्या में समर्थक वहां इकट्ठा होने लगे। समग्र रूप से, विरोध-प्रदर्शन करने वाले किसी भी दल से संबंध नहीं रखते थे और अधिकतर प्रदर्शनकारी नहीं चाहते थे कि राजनीतिक दल इसका इस्तेमाल राजनीतिक हथकंडे के रूप में करें। यह आंदोलन कहीं भी 1974-77 के दौरान जयप्रकाश नारायण के 'सम्पूर्ण क्रांति' के आस-पास भी नहीं था। एक बड़ा अंतर यह था कि 2011 में घटित यह आंदोलन मीडिया के आकर्षण का केंद्र था; आखिरकार चौबीसों घंटे टेलिविजन वाला

युग आ चुका था। सरकार अन्ना हजारे को उनके रुख से टस-से-मस नहीं कर सकी। अंततः अगस्त के अंत में, तत्कालीन वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव को संसद द्वारा पारित किया गया कि संशोधित लोकपाल बिल पारित किया जाएगा, जो अन्ना हजारे और उनके समर्थकों द्वारा उठाई गई प्रमुख मांगों को पूरा करेगा। इसके बाद अन्ना हजारे ने अपना अनशन तोड़ दिया।

अन्ना हजारे का विरोध-प्रदर्शन लोकपाल पर त्वरित कानून बनाने के लिए सरकार को बाध्य करने में सफल नहीं हो सका। यह भी, कि समर्थक राजनीतिक दल बनाने के मुद्दे को लेकर विभाजित थे। हालांकि, अरविंद केजरीवाल राजनीति में प्रवेश करने के पक्ष में थे। केजरीवाल और कुछ अन्य लोगों ने 26 नवम्बर, 2012 को आम आदमी पार्टी (आप) नामक राजनीतिक दल का गठन किया। यह 2015 के दिल्ली विधानसभा चुनावों में जोरदार बहुमत हासिल करने का इतिहास रचने जा रही थी, जिसने कांग्रेस को नेपथ्य पर खड़ा कर दिया और बीजेपी की सीटों में कमी कर दी।

लोकपाल एवं लोकायुक्त विधेयक को दिसंबर 2011 में लोकसभा में प्रस्तुत किया गया और पारित होने के बाद उसी माह में राज्य सभा के पटल पर रखा गया। एक लंबी बहस के बाद यह राज्य सभा में पारित नहीं हुआ। मई 2012 में, विधेयक राज्य सभा की चयन समिति को भेजा गया। दिसंबर 2013 में, इसे संसद के दोनों सदनों ने पारित कर दिया। 1 जनवरी, 2014 को इसे राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी (जिन्हें 2012 में भारत का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया था) की स्वीकृति प्राप्त हो गई।

लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 2013 ने संघ के लिए लोकपाल और राज्यों के लिए लोकायुक्त के गठन का अधिदेश दिया ताकि कुछ खास लोक कार्यकारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों तथा सम्बद्ध मामलों की जांच की जा सके। अधिनियम को जम्मू-कश्मीर समेत समग्र भारत पर लागू किया गया, जो कि भारत के भीतर तथा बाहर 'लोक सेवकों' पर लागू होगा। अधिनियम लोकपाल के संगठन, अधिकार क्षेत्र और शक्तियों का प्रावधान करता है।

लोकपाल के अधिकार क्षेत्र में प्रधानमंत्री शामिल होंगे। हालांकि, यदि प्रधानमंत्री के खिलाफ एक शिकायत दर्ज होती है, तो कुछ निर्धारित शर्तें लागू होंगी।

लोकपाल को मंत्रियों और सांसदों की जांच करने का भी अधिकार है लेकिन संसद में कही गई किसी भी बात या वोट देने को लेकर लोकपाल को किसी प्रकार की जांच करने का अधिकार नहीं है।

लोकपाल के अधिकार क्षेत्र में लोक सेवकों की सभी श्रेणियां शामिल होंगी। लोकपाल के स्वयं के सदस्य भी 'लोक सेवक' की परिभाषा में शामिल किए गए हैं।

आलोचकों ने लोकपाल अधिनियम में दो महत्वपूर्ण कमियों को पाया हैः लोकपाल को संवैधानिक निकाय नहीं बनाया गया है और न्यायपालिका को लोकपाल के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया है।

आम चुनाव से पूर्व की दशाएं

जब देश में अप्रैल-मई 2014 में आम चुनाव हुए, यूपीए के दूसरे कार्यकाल की कई सकारात्मक उपलब्धियां उसकी पृष्ठभूमि में मौजूद थीं, जबकि भ्रष्टाचार के आरोप भी अधिकतर लोगों के जेहन में थे। ग्रामीण क्षेत्र ने समस्याओं का सामना किया। किसानों ने ऋणग्रस्तता, फसल नुकसान, सूखा एवं सामाजिक-आर्थिक कारकों के कारण आत्महत्याएं कीं। वर्ष 2008 में यूपीए सरकार द्वारा 70,000 करोड़ रुपये की ऋण माफी की घोषणा के बावजूद किसानों की दयनीय दशा में कमी नहीं आई। यूपीए सरकार ने कई सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम शुरू किए लेकिन अधिकतर मामलों में उसका क्रियान्वयन कमजोर रहा।

सामान्य स्तर पर अधिक असंतोष ने भी सरकार पर दबाव डाला। आम लोग कीमत वृद्धि और बेरोजगारी की मार झेल रहे थे। विश्लेषकों ने यूपीए के दूसरे कार्यकाल को 'नीतिगत पक्षाघात' कहा जिसने विकास के मोर्चे पर गतिरोध को जन्म दिया, और अधिकतर प्रगतिशील आर्थिक विचार कागज पर बने रहे। राजस्व घाटे और रुपये के मूल्य के तेजी से गिरने से अर्थव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हुई।

ऐसा प्रतीत होने लगा था कि 2014 के आम चुनाव में यूपीए फिर से सत्ता में नहीं आने वाली।

2014 के आम चुनाव

2014 के चुनावों, कई विश्लेषकों के अनुसार, को इस प्रकार लड़ा गया जैसे यह राष्ट्रपतीय चुनाव थे। हालांकि, लोकसभा के अधिकतर चुनाव, साल-दर-साल, सशक्त व्यक्तित्व को प्रचारित करने पर आधारित रहे हैं। यह जवाहरलाल नेहरू के प्रचार में किया गया, जिसने लोगों का समर्थन हासिल किया; फिर इंदिरा गांधी और राजीव गांधी के प्रचार में भी ऐसा ही किया गया। यहां तक कि सोनिया गांधी, जब उन्होंने कांग्रेस की कमान संभाली तो उन्हें भविष्य के प्रधानमंत्री के तौर पर प्रचारित किया गया, यद्यपि उनके 'विदेशी मूल' के होने के मुद्दे ने तूल पकड़ लिया। हालांकि, उस समय में, अन्य दलों के पास प्रचारित करने के लिए ऐसे व्यक्तित्व की कमी थी। अब कांग्रेस ने राहुल गांधी को पार्टी के चेहरे के रूप में प्रचारित करना शुरू किया, जो, यदि पार्टी विजयी होती है तो, प्रधानमंत्री बनेंगे। मनमोहन सिंह ने साफ तौर पर कह दिया कि वे फिर से प्रधानमंत्री बनने को तैयार नहीं हैं। राहुल गांधी को जनवरी 2013 को पार्टी का उपाध्यक्ष बनाया गया, जिसने इस बात को पुख्ता किया कि पार्टी वंशवादी पथ का अनुसरण करती है और चापलूसों से घिरी हुई है। दूसरी ओर, बीजेपी ने एक अधिक दलीय संरचना स्थापित कर ली। दल के निर्णय विचार-विमर्श पर आधारित थे, बजाय इसके कि एक अकेला व्यक्ति क्या कहता है, जिसमें राज्यों के मुख्यमंत्री भी शामिल

थे, जिन्हें देश के भविष्य के नेता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था। नरेंद्र मोदी, गुजरात के मुख्यमंत्री, को बीजेपी के प्रधानमंत्री के उम्मीदवार के रूप में चुना गया।

राहुल गांधी, नरेंद्र मोदी के विरोधी, के पास राजनीतिक अनुभव कम था और वे एक निरुत्साहित राजनीतिज्ञ थे, जिनमें प्रभावी वक्ता के कौशल की कमी थी। लोकसभा में अपने वर्षों में, उन्होंने कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं दिया। मोदी के कुशल वक्ता के गुण और उनकी अथक ऊर्जा के साथ राहुल गांधी का कोई मुकाबला नहीं था। यहां तक कि मोदी ने कांग्रेस नेतृत्व की वंशवादी प्रकृति का कई बार जिक्र किया, जिससे लोगों के मन-मस्तिष्क में देश के प्रथम परिवार का आकर्षण फीका पड़ता गया। मोदी ने बीजेपी से जुड़े सम्प्रदायवादी चिंताओं को दरकिनार कर 'विकास' को अपने चुनाव प्रचार का आधार बनाया। बीजेपी ने चुनाव प्रचार के आधुनिक तरीके को अपनाया और सोशल मीडिया का खर्चीला एवं प्रभावी प्लेटफॉर्म प्रयोग किया। उसने पेशेवरों की सेवाएं लीं, जिन्होंने बीजेपी के लिए काम करने वाले जोरदार स्लोगन एवं नवीनतम चुनाव पद्धतियों को अपनाया। बीजेपी की मदद करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) कैडर ने जी-तोड़ मेहनत की। साथ ही, बीजेपी ने एनडीए के एक हिस्से के रूप में चुनाव लड़ा। उसने उन क्षेत्रीय दलों के साथ प्रभावी गठबंधन किया जो एनडीए का हिस्सा थे।

निर्वाचक वर्ग धीरे किंतु निरंतर परिवर्तित हो रहा था। लोग, विशेष रूप से युवा, के पास नई समझ थी। बढ़ते शहरीकरण और उससे जुड़े प्रवास के साथ, जातिगत समीकरणों में बदलाव आया। मोदी ने जाति आधारित वोट अपील को कम-से-कम किया। मोदी के विकास, औद्योगीकरण एवं रोजगार सृजन के प्रति दृढ़ प्रतिबद्धता ने युवाओं को प्रेरित किया और लोगों में आशा की एक नई किरण जगाई।

देश में सोलहवीं लोकसभा को चुनने के लिए अप्रैल-मई 2014 में चुनाव कराए गए। चुनाव परिणामों में बीजेपी 282 सीटों के साथ स्वतंत्र रूप से बहुमत प्राप्त करने वाले दल के रूप में उदित हुई। कांग्रेस को मात्र 44 सीटें प्राप्त हुईं, जो चुनावों में उसका अभी तक का सर्वाधिक खराब प्रदर्शन था। बीजेपी ने अधिकतर राज्यों में स्मरणीय सफलता दर्ज की। हालांकि, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, तमिलनाडु एवं केरल इसके अपवाद रहे। अखिल भारतीय स्तर पर इसके वोट प्रतिशत में लगभग 19 प्रतिशत से बढ़ोतरी होकर लगभग 31 प्रतिशत हो गई।

एनडीए सरकार
(मई 2014-मई 2019)

यद्यपि बीजेपी अपने बलबूते पर बहुमत में आई, लेकिन इसने अपने सहयोगी दलों की उपेक्षा नहीं की। यह एनडीए था, जिसने 26 मई, 2014 को सरकार बनाई। नरेंद्र मोदी

ने अपने मंत्रिपरिषद के कुछ सदस्यों के साथ प्रधानमंत्री पद की शपथ ली। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति, प्रणब मुखर्जी, ने पद की शपथ दिलाई। शपथ ग्रहण कार्यक्रम दिल्ली में राष्ट्रपति भवन में आयोजित किया गया। यह पहला शपथ ग्रहण कार्यक्रम था, जिसमें सार्क के सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रमुखों को आमंत्रित किया गया और सभी ने कार्यक्रम में शिरकत की। दस वर्षों के पश्चात, एक गैर-कांग्रेसी सरकार सत्ता में आई थी और एक लंबे समय पश्चात अकेली पार्टी को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ था।

मोदी सरकार ने एक विकासपरक एजेंडा—*सबका साथ, सबका विकास* अपनाकर अपनी इच्छा जाहिर कर दी। व्यापक समावेश, सामाजिक एवं वित्तीय और सरकार के कार्य में बेहतर जिम्मेदारी एवं पारदर्शिता की बात कही गई थी। न्यूनतम सरकार एवं अधिकतम शासन की अवधारणा लागू होने जा रही थी। सरकार ने कहा कि वह सहयोगी संघवाद, आर्थिक समृद्धि एवं विश्व में भारत की छवि में सुधार करने हेतु कार्य करेगी। पांच वर्षों के अंत में इसके द्वारा किए गए कार्य सकारात्मक एवं नकारात्मक कृत्यों का एक मिश्रण था।

डिजिटल इंडियाः ई-गवर्नेंस की दिशा में एक कदम

इलेक्ट्रॉनिक गवर्नेंस को प्रोत्साहित करना मोदी सरकार का एक मूलभूत उद्देश्य था। सार्वजनिक-सरकारी क्षेत्र में संलिप्त कागजी कार्य को कम करने के महत्व और उसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार के स्तर में कमी करने पर विचार करते हुए, मोदी सरकार ने पदभार संभालने के तीन महीनों के भीतर अगस्त 2014 में डिजिटल इंडिया अभियान शुरू किया। विभिन्न सामाजिक-आर्थिक एवं गवर्नेंस कार्यक्रमों, मौजूदा एवं शुरू किए जाने वालों, की सफलता डिजिटल इंडिया की क्षमता पर निर्भर करती थी।

इसके पीछे भारतीय नागरिकों और अर्थव्यवस्था को इलेक्ट्रॉनिक रूप से सुदृढ़ करने का विचार था। कार्यक्रम को सभी सरकारी विभागों और भारत के लोगों को एक-दूसरे से डिजिटल या इलेक्ट्रॉनिक रूप से जोड़ने के उद्देश्य से तैयार किया गया था, ताकि गवर्नेंस में सुधार किया जा सके। सरकार इंटरनेट नेटवर्क के माध्यम से सभी गांवों और ग्रामीण क्षेत्रों में संपर्कता बढ़ाना एवं सुधारना भी चाहती है।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि ई-इंफ्रास्ट्रक्चर, ई-पार्टीसिपेशन और गवर्नमेंट ई-सर्विसेज को दुरुस्त किया गया और पारदर्शिता सुनिश्चित करने एवं सुधारने की दिशा में कार्य किया गया। कम नकद अर्थव्यवस्था को साकार करने के लिए यूनिफाईड पेमेंट इंटरफेस (यूपीआई), एक भुगतान प्रणाली जो बैंक खातों के बीच मोबाइल-समर्थित धन अंतरण को अनुमति देती है और भारत इंटरफेस फॉर मनी (BHIM-भीम) को तैयार किया गया और इसका बेहतर इस्तेमाल सुनिश्चित किया गया, जो निश्चित रूप से नागरिकों के लिए मददगार साबित हुआ।

महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक नीतियां और कार्यक्रम

नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में एनडीए सरकार ने आर्थिक क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कदम उठाए, जबकि आधार या वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) जैसे नीतिगत कदम पिछली सरकार द्वारा उठाए गए कदम थे। विमुद्रीकरण और दिवाला एवं दिवालिया संहिता जैसे कदम बिलकुल नए थे।

योजना आयोग को समाप्त करना और नीति आयोग का गठन

एनडीए सरकार का लगभग पहला कार्य योजना आयोग को समाप्त करना और इसके स्थान पर नीति (NITI—भारत के रूपांतरण का राष्ट्रीय संस्थान) आयोग का गठन करना था। स्वतंत्रता मूल्यांकन कार्यालय ने 29 मई, 2014 को प्रधानमंत्री मोदी को एक एसेसमेंट रिपोर्ट सौंपी, जिसमें उसने योजना आयोग को एक 'नियंत्रण आयोग' में प्रतिस्थापित करने की संस्तुति की। केंद्रीय कैबिनेट ने अगस्त 2014 में योजना आयोग को समाप्त कर दिया। 1 जनवरी, 2015 को, योजना आयोग को नीति आयोग से प्रतिस्थापित करने के कैबिनेट के प्रस्ताव के पारित होने के बाद, भारत सरकार द्वारा नीति आयोग के निर्माण की घोषणा की गई। योजना आयोग की भांति इस निकाय को भी कार्यकारी आदेश द्वारा स्थापित किया गया। नीति आयोग को भारत सरकार के नीति थिंक टैंक के रूप में स्वीकार किया गया था। इसका उद्देश्य 'नीचे-से-ऊपर' के उपागम को अपनाते हुए आर्थिक नीति-निर्माण प्रक्रिया में भारत की राज्य सरकारों की संलिप्तता एवं भागीदारी को बढ़ाते हुए सहयोगी संघवाद को सुनिश्चित करना था। यह, योजना आयोग की भांति, विभिन्न कार्यक्रमों के लिए राज्यों को वित्त आबंटित नहीं करता। नीति आयोग के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री होते हैं और एक शासन परिषद होती है, जिसमें सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और संघ क्षेत्रों के उप-राज्यपाल शामिल होते हैं।

जैम ट्रिनिटीः जनधन-आधार-मोबाइल

एनडीए सरकार एक महत्वपूर्ण सुधार लाने में कारक बनी जिसे *'जैम—JAM'* नामक संक्षिप्त रूप दिया गया, जिसका अर्थ था जन-धन, आधार एवं मोबाइल। इस सुधार के माध्यम से सब्सिडी का प्रत्यक्ष अंतरण लाभार्थी को किया जाना संभव हो सका।

प्रधानमंत्री जन-धन योजना की घोषणा प्रधानमंत्री द्वारा स्वतंत्रता दिवस के अभिभाषण में की गई और इसका शुभारंभ 24 अगस्त, 2014 को किया गया। यह वित्तीय समावेशन की विश्व की सबसे बड़ी योजनाओं में से एक थी, जो अभी तक बैंक खातों से वंचित व्यक्तियों का बैंक खाता खोलने (बिना किसी न्यूनतम बैलेंस की आवश्यकता वाले), डेबिट कार्ड प्रदान करने और बीमा एवं पेंशन जैसी सामाजिक सुरक्षा योजनाओं तक पहुंच में मदद करने की दिशा में निर्देशित है। निःसंदेह इस योजनान्तर्गत बड़ी संख्या में बैंक खाते खोले गए और विभिन्न वर्षों में औपचारिक

बैंकिंग प्रणाली में उल्लेखनीय धनराशि आई। पहला कदम बैंकिंग प्रणाली से बाहर भारतीयों को संगठित वित्त की ओर लाने की दिशा में उठाया गया। इस बात की आलोचना की गई कि इससे प्रभावित सुरक्षा एवं निजता को संबोधित किए जाने की आवश्यकता है, लेकिन आधुनिक वित्त तक गरीबों की पहुंच से होने वाले लाभों से इनकार नहीं किया जा सकता।

यूपीए सरकार द्वारा जनवरी 2009 में शुरू किए गए पहचान सुनिश्चित करने के माध्यम, **आधार** को नई सरकार द्वारा सुदृढ़ तथा संस्थागत किया गया। निवासियों की बायोमीट्रिक एवं जनांकिकीय जानकारी एकत्रित करने, उन्हें केंद्रीकृत डेटाबेस में भंडारित करने और प्रत्येक निवासी को आधार नामक 12 अंकीय अद्वितीय पहचान संख्या जारी करने के उद्देश्य से केंद्र सरकार के अभिकरण के रूप में यूनीक आइडेंटिफिकेशन अथॉरिटी ऑफ इंडिया की स्थापना की गई। नागरिकों तक सेवाओं को पहुंचाने में सुधार करने के लिए एनडीए सरकार द्वारा आधार का प्रयोग शुरू किया गया। एनडीए सरकार ने मार्च 2016 में संसद से आधार (वित्तीय एवं अन्य सब्सिडी, लाभ एवं सेवाओं का लक्षित प्रदायन) अधिनियम पारित कराने के पश्चात उसे पूरे देश में लागू किया। सरकार ने उपभोक्ताओं के गैस कनेक्शन और बैंक खातों को आधार से जोड़कर एलपीजी सब्सिडी के लाभार्थियों की पहचान करनी शुरू कर दी।

यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ने कल्याणकारी योजनाओं, जिसमें लोग सरकार से लाभ प्राप्त करते हैं; में आधार के प्रयोग को प्रतिबंधित कर दिया, तथापि सरकार लाभों के अंतरण में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं नुकसान को कम करने में सफल रही।

विभिन्न सब्सिडी योजनाएं जो निर्धनों के लिए न्यूनतम जीवन स्तर सुनिश्चित करने के लिए तैयार की गई थी, लाभार्थियों तक अलग तरीके से पहुंचाई गई। केंद्र एवं राज्य पीडीएस के माध्यम से भारी सब्सिडी पर निर्धनों को चावल, गेहूं, दालें, खाने का तेल, चीनी एवं केरोसीन तेल की आपूर्ति करते हैं। कुछ वर्गों को बिजली, उर्वरक एवं ईंधन बाजार से कम कीमतों पर प्रदान किया जाता है। मनरेगा पंचायत के माध्यम से संचालित किया जाता है, जो कामगारों को न्यूनतम मजदूरी प्रदान करता है। जैसाकि यह सब्सिडी लक्षित लाभार्थियों को पहुंचाई जाती है, उन तक पहुंचने के दौरान छिद्रान्वेषण के चलते, भ्रष्टाचार और अदक्षता इस अंतिम धनराशि को कम कर देती है। **जैम ट्रिनिटी** को छिद्रान्वेषों को कम करने और लाभार्थियों के लिए बिना मध्यवर्तियों के चंगुल में आए वास्तविक लाभ को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से लाया गया था। आधार वास्तविक नागरिक की ठोस पहचान करने में मदद करेगा, जबकि जन-धन बैंक खाते और मोबाइल फोन लक्षित व्यक्ति के खाते में धन के प्रत्यक्ष अंतरण को सुसाध्य बनाएंगे। लोगों के हाथों में धन पहुंचाने में, **मोबाइल भुगतान** प्रौद्योगिकी का व्यापक प्रयोग होना था। मोबाइल के प्रयोग के माध्यम से धन अंतरण तीव्र और साथ ही साथ सुरक्षित एवं सुविधाजनक हो सकता था। समय के साथ, यदि छिद्रान्वेषों

को रोका गया और सरकार की बचत में वृद्धि हुई, तो करदाताओं पर भार में कमी आएगी। इसके अतिरिक्त, कम सब्सिडी और राजस्व नुकसान के साथ, भारत के अंतरराष्ट्रीय ऋण बकाए में सुधार आएगा।

स्वास्थ्य नीति

जनवरी 2015 में, एक नई **राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति** शुरू की गई। निजी स्वास्थ्य संगठनों की भूमिका पर बल देने के बावजूद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व्यय में बढ़ोतरी नहीं की गई। इसमें मोदी सरकार ने यूपीए सरकार से अलग मार्ग अपनाया, जिसमें लोक स्वास्थ्य लक्ष्यों को सहायता करने वाले कार्यक्रमों को समर्थन दिया गया। कई राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम, जिसमें तंबाकू के प्रयोग को नियंत्रित करने वाले और वृद्धों के स्वास्थ्य की देखभाल वाले कार्यक्रम शामिल थे; राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन में विलय कर लिए गए। 2018 में, **आयुष्मान भारत** कार्यक्रम, एक सरकारी स्वास्थ्य बीमा योजना, शुरू की गई।

2 अक्टूबर, 2014 को **स्वच्छ भारत मिशन,** प्रधानमंत्री मोदी का फ्लेगशिप स्वच्छता अभियान शुरू किया गया, जिसमें यह विश्वास जताया गया कि स्वच्छता अच्छे स्वास्थ्य को सुनिश्चित करने का मूल है। यह भारत में एक राष्ट्रव्यापी अभियान था जिसका लक्ष्य गली, सड़कों, कस्बों एवं ग्रामीण क्षेत्रों को स्वच्छ रखना और हाथ से मैला ढोने को दूर करना था। इसका प्रमुख उद्देश्य देश को खुले में शौच से मुक्त करना था, जिसके लिए सरकार ने शौचालय निर्माण को प्रोत्साहित किया। वर्ष 2018 में, विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कहा कि स्वच्छता मिशन शुरू करने के बाद से भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में डायरिया से होने वाली मौतों में काफी कमी हुई।

आर्थिक सुधार की दिशा में उठाए गए कदम

मोदी सरकार की आर्थिक नीतियों ने अर्थव्यवस्था के उदारीकरण पर बल दिया। रक्षा एवं रेलवे सहित विभिन्न उद्योगों में अधिक विदेशी निवेश की अनुमति के लिए विदेशी प्रत्यक्ष निवेश नीतियों का उदारीकरण किया गया।

इस बात से भली-भांति परिचित होते हुए कि रोजगार की हालत अच्छी नहीं है और भारत का जनांकिकीय लाभांश बोझ से संपत्ति में तेजी से बदल सकता है, मोदी सरकार ने सितम्बर 2014 में **मेक इन इंडिया** नामक योजना शुरू की। यह घरेलू विनिर्माण उद्योग को बढ़ावा देने और भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश आकर्षित करने का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम था। इसके साथ-साथ **स्टार्ट अप इंडिया, स्टैंड अप इंडिया, स्किल इंडिया** जैसे और कई अन्य कार्यक्रम भी शुरू किए गए। इन कार्यक्रमों की सफलता आशानुरूप नहीं थी, लेकिन इन्होंने कुछ प्रगति अवश्य की।

संसद ने वाणिज्यिक विवादों की मध्यस्थता में तीव्रता लाने के लिए **मध्यस्थता एवं सुलह अधिनियम, 1996** में संशोधन किया। संशोधित कानून ने हितों के

टकराव के मामलों को निपटाया और मध्यस्थ द्वारा प्रकटीकरण को कानून की सीमा में शामिल किया। मध्यस्थता प्रक्रिया की समय-सीमा को निर्धारित किया गया।

भारत में दिवालिया से सम्बद्ध मौजूदा कानूनों को समेकित करने और दिवालिया प्रस्तावों की प्रक्रिया के सरलीकरण के लिए 2016 में एक नया कानून **दिवालिया एवं दिवाला संहिता** लागू किया गया ताकि व्यक्तियों और कंपनियों के दिवालिया होने के मामलों में सरल निकासी संभव हो सके। इस कानून ने रुग्ण औद्योगिक कंपनियां (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1985, रिकवरी ऑफ डेट्स ड्यू टू बैंक्स एंड फाइनेंशियल इंस्टीट्यूशन एक्ट 1993, द सिक्यूरिटाइजेशन एंड रिकंस्ट्रक्शन ऑफ फाइनेंशियल एसेट्स एंड एनफोर्समेंट ऑफ सिक्यूरिटी इंटरेस्ट एक्ट, 2002 (इसे सरफेसाई एक्ट के नाम से भी जाना जाता है) और कंपनी अधिनियम, 2013 जैसे विभिन्न कानूनों में मौजूद कई दोहरे प्रावधानों को प्रतिस्थापित कर दिया। नए कानून के लागू होने से, बैंक एवं अन्य ऋणदाताओं में आशा जगी कि वे समयबद्ध एवं दक्ष तरीके से दिवालिया कंपनियों से उनके ऋण की वसूली कर सकेंगे। इस कानून के लागू होने के परिणामस्वरूप उद्यमिता को बढ़ावा दिया जा सकेगा, ऋण की उपलब्धता को अधिकतम किया जा सकेगा और सभी हितधारकों के हितों को संतुलित किया जा सकेगा।

अस्पष्टीकृत/अघोषित धन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक अभिशाप रहा है। संपत्ति खरीदने के माध्यम से अघोषित, कर वंचित धन के प्रयोग जिसे 'बेनामी' अंतरण के नाम से जाना जाता है, को प्रतिबंधित करने के लिए **बेनामी अंतर (प्रतिबंधित) संशोधन अधिनियम, 2016** पारित किया गया और कानून को सख्त बनाया गया। संशोधित कानून के अंतर्गत, प्राधिकारियों को बेनामी संपत्तियों को अस्थायी रूप से जब्त करने और अंततः पूर्ण रूप से जब्त कर लेने की शक्ति प्रदान की गई है। अपराधियों के लिए 1 से 7 वर्ष के कारावास और जुर्माने का प्रावधान किया गया है।

स्थावर संपदा (विनियमन एवं विकास) अधिनियम, 2016 एनडीए सरकार का एक अन्य नीतिगत कदम था। कानून के अनुसार, एक अधिनिर्णयन तंत्र एवं अपीलीय अधिकरण के माध्यम से ''स्थावर संपदा के क्षेत्र में उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा'' और क्षेत्र पर निगरानी रखने के लिए प्रत्येक राज्य में एक विनियामक–स्थावर संपदा विनियामक प्राधिकरण (रियल एस्टेट रेगुलेटरी अथॉरिटी–रेरा-RERA) की व्यवस्था की जानी थी। प्रत्येक रियल एस्टेट प्रोजेक्ट को सम्बद्ध राज्य के रेरा में पंजीकृत होना अनिवार्य किया गया है। दुर्भाग्यवश, इस कानून को राज्य सरकारों द्वारा लागू किए जाने की आवश्यकता है।

भगौड़ा आर्थिक अपराधी अधिनियम (एफईओए) जो अप्रैल 2018 में लागू हुआ; ने बैंकों द्वारा दर्ज धोखाधड़ी के बड़े मामलों से निपटने के प्रावधान किए थे। कानून के अंतर्गत, यदि एक आर्थिक अपराधी उचित प्रक्रिया से बचने के लिए देश

छोड़कर भाग जाता है, तो उसे 'भगौड़ा आर्थिक अपराधी' घोषित किया जा सकता है और उसकी संपत्ति को जब्त तथा नीलाम किया जा सकता है ताकि ऋण की वसूली की जा सके।

सरकार ने वर्ष 2016 में **हाइड्रोकार्बन एक्सप्लोरेशन एंड लाइसेंसिंग पॉलिसी** (एचईएलपी) को घरेलू तेल एवं गैस उत्पादन में बढ़ोतरी; महत्वपूर्ण निवेश लाने; अच्छी मात्रा में रोजगार सृजित करने; पारदर्शिता बढ़ाने; प्रशासनिक विवेक को कम करने के महत्वपूर्ण निर्देशित सिद्धांतों सहित अपनाया। नीति प्रत्येक प्रकार के हाइड्रोकार्बन हेतु पृथक लाइसेंस जारी करने के पूर्व की प्रणाली के बजाय तेल, गैस, कोल, बेड मीथेन इत्यादि जैसे सभी हाइड्रोकार्बन रूपों के लिए एक एकल लाइसेंस प्रदान करती है; मुक्त एकरेज नीति हाइड्रोकार्बन कंपनी को सरकार की औपचारिक बोली चक्र की प्रतीक्षा किए बिना पूरे वर्ष एक एक्सप्लोरेशन ब्लॉक के चयन का विकल्प प्रदान करती है; एक सुगम रूप से प्रशासित राजस्व साझा मॉडल प्रदान करती है और कच्चे तेल और प्राकृतिक गैस के मूल्यों को निर्धारित करने की स्वतंत्रता बाजार को देती है। यह नीति सरकार की 'न्यूनतम सरकार अधिकतम शासन' की सद्इच्छा से मेल खाती थी।

8 नवम्बर, 2016 को, मोदी सरकार ने एक विवादास्पद और अत्यधिक आलोचना वाला कदम उठाया, जब प्रधानमंत्री ने एक दिन अचानक राष्ट्र को संबोधित करते हुए घोषणा की कि 500 रुपये और 1000 रुपये के करेंसी नोट आधी रात से (9 नवम्बर, 2016) चलन में नहीं रहेंगे। **विमुद्रीकरण** के कदम ने अघोषित धन रखने वाले भ्रष्टाचारी लोगों को पेशोपेश में डाल दिया और सीमा के आर-पार नकली नोटों और आतंकवाद के वित्तीयन को नियंत्रित किया। इस परियोजना का प्रभाव मिला-जुला रहा। नोटों के अचानक बंद होने से आम लोगों की समस्या बढ़ गई जैसाकि उन्हें पुराने नोटों से नए नोट बदलने के लिए बेहद श्रम करना पड़ा। रियल एस्टेट बुरी तरह प्रभावित हुआ, घटी हुई मांग के कारण संवृद्धि धीमी पड़ गई, आपूर्ति शृंखला बाधित हो गई और छोटी समयावधि के लिए अनिश्चितता बढ़ गई। रिएल्टी, एफएमसीजी एवं वाहन, लघु एवं मध्यम उद्यम और नकद-चालित अनौपचारिक अर्थव्यवस्था अत्यधिक प्रभावित हुई और नकद संवेदनशील स्टॉक मार्केट के क्षेत्रवार सूचकांक में कमी आई। कृषि क्षेत्र भी बुरी तरह से प्रभावित हुआ था क्योंकि इस क्षेत्र में अंतरण नकद पर अत्यधिक निर्भर था।

सारतः, आलोचकों ने बताया कि विमुद्रीकरण भारतीय अर्थव्यवस्था से काले धन को हटाने के सरकार के लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाया। लेकिन यह कदम इस संदर्भ में सफल रहा कि यह अधिकतर नकद को औपचारिक प्रणाली में लेकर आया। विमुद्रीकरण के सकारात्मक प्रभावों में कोई म्युच्युअल फंड उद्योग के एयूएम (एसेट्स अंडर मैनेजमेंट) में बढ़ोतरी की ओर इशारा कर सकता है। कर राजस्व में बढ़ोतरी से

सरकार अपना कर दायरा/आधार बढ़ाने में सफल रही। लोगों ने नकद रखने (यहां तक कि वैध) की बजाय बैंकों में पैसा रखना शुरू कर दिया। लोगों ने डिजिटल भुगतान प्रणाली की ओर भी रुख करना शुरू किया। एक दूसरे स्तर पर, विमुद्रीकरण ने सिद्ध किया कि भारतीय परिवर्तनों के प्रति अनुकूल हुए और इसने विभिन्न व्यय विकल्पों के बारे में बताकर लोगों को वित्तीय रूप से जागरूक किया। यहां तक कि स्थानीय व्यापारियों ने तेजी से अपने कार्ट से बिक्री की और निर्बाध ई-कॉमर्स भुगतान प्रणाली की ओर प्रवृत्त हुए।

मोदी सरकार ने विभिन्न योजनाओं के माध्यम से काले धन को सामने लाने का प्रयास किया, लेकिन इसमें से कोई भी क्षमा योजना नहीं थी। इनमें से एक 2016 में लाई गई आय घोषणा योजना (आईडीएस) थी। दूसरा विकल्प विमुद्रीकरण के पश्चात दिसम्बर 2016 में शुरू की गई प्रधानमंत्री गरीब कल्याण योजना (पीएमजीकेवाई) थी, जिसने गोपनीय तरीके से अघोषित धन एवं संपत्ति को घोषित करने और अघोषित आय पर 50 प्रतिशत का जुर्माना अदा करने पर अभियोग से बचने का अवसर प्रदान किया। बताया गया कि कुल 64,275 लोगों ने आईडीएस के तहत 65,250 करोड़ रुपये प्रकट किए, जबकि पीएमजीकेवाई के अंतर्गत 5,000 करोड़ रुपये की संपत्तियां घोषित की गईं। 2015 में, सरकार ने **काला धन (अघोषित विदेशी आय एवं संपत्ति) एवं करारोपण अधिनियम** लागू किया, जिसमें अनुपालन के लिए सरकार ने वन-टाइम विंडो प्रदान की।

यह संदेहजनक है कि क्या विमुद्रीकरण ने बीजेपी पर राजनीतिक रूप से प्रतिकूल प्रभाव डाला। 2017 में आयोजित राज्य विधानसभाओं के चुनाव में, बीजेपी और इसके सहयोगी दलों को सात में से छह राज्य विधानसभाओं में सरकार बनाने के लिए जरूरी बहुमत प्राप्त हुआ और इनमें सर्वाधिक जनसंख्या वाला उत्तर प्रदेश राज्य भी शामिल था।

वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) के रूप में मोदी सरकार का सबसे बड़ा आर्थिक सुधार सामने आया। इसने व्यापक रूप से केंद्र-राज्य के वित्तीय संबंधों का निरीक्षण किया। जीएसटी की दिशा में यह कदम काफी पहले उठाया गया था, लेकिन इसकी अभिव्यक्ति 2006-07 के बजट अभिभाषण में यूपीए सरकार के अंतर्गत तत्कालीन वित्त मंत्री ने की थी। तब से सरकार इसे अमल में नहीं ला सकी। उस समय बीजेपी सहित कई दलों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था। एनडीए सरकार ने इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय हासिल किया कि वह जीएसटी लाने में सहयोग करने के लिए राज्यों को सहमत कर सकी, जिसे आजादी के बाद सबसे बड़ा कर सुधार माना गया था। वर्ष 2016 में संविधान (एक सौवां एक संशोधन) अधिनियम आवश्यक संख्या में राज्यों द्वारा पुष्टि किए जाने के पश्चात लागू किया जा सका, जिसके पश्चात जीएसटी को शुरू किया जा सका। इसने केंद्र एवं राज्यों द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं पर करारोपण

और राजस्व साझा करने की प्रणाली में बदलाव किया। जीएसटी को लागू करने के पश्चात, वस्तुओं और सेवाओं पर करारोपण विधानमंडल द्वारा नहीं अपितु जीएसटी परिषद के अधिकार क्षेत्र में रखा गया, जिसमें केंद्रीय वित्त मंत्री और राज्यों के वित्त मंत्री शामिल होते हैं। जीएसटी ने कई केंद्रीय एवं राज्य करों को प्रतिस्थापित किया और राज्य की सीमाओं के आर-पार वस्तुओं के प्रवाह को आसान बनाया। हालांकि, इसने पांच पेट्रोलियम उत्पादों और मनुष्य के उपभोग हेतु एल्कोहल को इसके दायरे से बाहर रखा। जीएसटी के क्रियान्वयन में कुछ बाधाएं थीं और जीएसटी परिषद द्वारा निर्देशित परिवर्तनों को निरंतर किया गया। जीएसटी के प्रारंभ में इसके अकुशल क्रियान्वयन और साथ ही छोटे उद्योगों पर व्यापक अनुपालन भार के चलते इसकी आलोचना हुई लेकिन धीरे-धीरे इनका समाधान किया गया।

सार्वजनिक बैंकों के गैर-निष्पादित संपत्तियों से निपटने के प्रयास भी किए गए थे।

किसान

विभिन्न वर्षों में कृषि क्षेत्र की समस्याओं में इजाफा हुआ है। स्वतंत्रता के कई वर्षों बाद, भारतीय कृषि अभी भी मानसून पर निर्भर है और एक जुआ सिद्ध हुई है। नरेंद्र मोदी सरकार ने वर्ष 2022 तक वास्तविक अर्थों में किसानों की आय दोगुना करने की इच्छा जाहिर की। यह उत्पादन बढ़ाने के ऐतिहासिक ध्यान एवं सोच से अलग थी। मौसम के जोखिमों का सामना करने के लिए एनडीए सरकार ने नवीन फसल बीमा योजना और सिंचाई के लिए उच्च वित्तीयन की घोषणा की। कृषि क्षेत्र के लिए कई योजनाएं शुरू की गईं। सरकार ने अपने कार्यकाल की शुरुआत में नीम-लेपित यूरिया, मृदा स्वास्थ्य कार्ड और फसल बीमा जैसे नए विचारों को प्रयोग करने का प्रयास किया, लेकिन कृषि क्षेत्र में संकट का समाधान नहीं हो सका। कृषि में 'एक राष्ट्र एक बाजार' का सृजन करने के लिए एक बड़ी संख्या में विपणन सुधार किए गए थे। किसानों के द्वारा उनके उत्पादों को ऑनलाइन बेचने का भी प्रयास किया गया। लेकिन जैसाकि कृषि एक राज्य विषय है, सुधारों का प्रवर्तन राज्यों द्वारा किए जाने की आवश्यकता है। एपीएमसी अधिनियम को संशोधित नहीं किया जा सका था।

सरकार उच्च न्यूनतम समर्थन मूल्य हेतु मांग पर सहमत हुई। इसने 2019 में, 'प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि (पीएम–किसान)' नामक एक केंद्रीय योजना घोषित की। संभावित कृषि आय के साथ तालमेल बैठाने के लिए तथा उचित फसल स्वास्थ्य एवं उपयुक्त पैदावार को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न आगतों के प्रापण में किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करना इस योजना का लक्ष्य था। 24 फरवरी, 2019 को जब प्रधानमंत्री ने इसकी शुरुआत की थी, तब यह सिर्फ उन किसानों के लिए थी जिनके पास अधिकतम 2 हेक्टेयर यानी 5 एकड़ जमीन थी, लेकिन अपने दूसरे कार्यकाल में मोदी सरकार ने जून 2019 में इसका विस्तार करके सभी

किसानों के लिए इसे उपलब्ध कर दिया है। योजनान्तर्गत किसानों को प्रतिवर्ष तीन किस्तों में 6,000 रुपये की सहायता राशि दी जाएगी।

भारत विभिन्न वर्षों में, खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बन गया, लेकिन किसानों की एक बड़ी संख्या आज भी तंगहाली में है। यह क्षेत्र कुछ मूलभूत समस्याओं से जूझ रहा है, जिनसे निपटने में कोई भी सरकार कामयाब नहीं रही। युवा धीरे-धीरे खेती-बाड़ी को व्यवसाय के रूप में छोड़ते जा रहे हैं और कस्बों तथा शहरों में प्रवास को तरजीह दे रहे हैं। किसानों की आत्महत्या, मुख्य रूप से ऋणग्रस्तता और मौसम की अनिश्चितता के चलते फसल नुकसान के कारण; में कमी नहीं की जा सकी है।

अवसंरचना

मोदी सरकार ने आधारभूत ढांचे के क्षेत्र में अच्छा कार्य किया। राजमार्गों का द्रुत निर्माण, नवीन भारतमाला एवं सागरमाला परियोजनाएं, क्षेत्रीय हवाई अड्डों एवं क्षेत्रीय वायु संपर्कता का निर्माण एवं पुनरुद्धार, उड़ान योजना, और रेलवे के आधुनिकीकरण और विस्तारीकरण पर अधिक कार्य जैसी सभी उपलब्धियों का श्रेय एनडीए सरकार को जाता है। पूर्व की सरकार द्वारा उजाला एलईडी बल्ब योजना शुरू की गई थी, लेकिन मोदी सरकार ने इस योजना का विस्तार किया और प्रत्येक बल्ब की कीमत को आधा किया।

कल्याणकारी योजनाएं

एनडीए सरकार ने बड़ी संख्या में महत्वपूर्ण लोक हित योजनाओं को शुरू किया, जिसमें से कुछ पूर्व की सरकार की पहलों पर आधारित थीं और कई दूसरी योजनाएं स्वयं तैयार की गई थीं। एनडीए सरकार द्वारा आयोजित कार्यक्रमों का एक मुख्य सकारात्मक पहलू इसका अधिक दक्ष क्रियान्वयन था।

प्रधानमंत्री आवास योजना पहल के एक हिस्से के रूप में, बड़ी संख्या में ग्रामीण आवासों का निर्माण किया गया और इसमें वृद्धि की गई ताकि अधिकतर लाभार्थियों को आवास प्रदान किया जा सके। **दीन दयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना** के अंतर्गत, 2018 तक सभी गांवों में विद्युत कनेक्शन सुनिश्चित करने के लिए ग्रामीण विद्युतीकरण पर भी व्यापक बल दिया गया। **उज्ज्वला योजना** के अंतर्गत सरकार का उद्देश्य गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों को निःशुल्क एलपीजी कनेक्शन मुहैया कराना है ताकि ग्रामीण भारत में भोजन पकाने के प्रदूषणकारी ईंधन को स्वच्छ एवं अधिक दक्ष एलपीजी से प्रतिस्थापित किया जा सके।

बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ योजना का शुभारंभ लड़कियों की शिक्षा एवं कल्याण को प्रोत्साहित करके महिला शिशु हत्या की दर में कमी करने के उद्देश्य से वर्ष 2015 में किया गया था। **सुकन्या समृद्धि योजना** भी 2015 में शुरू की गई,

जिसका प्राथमिक उद्देश्य कन्या शिशु हेतु कल्याणकारी कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करना एवं उनका क्रियान्वयन करना है।

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा) की आलोचना मोदी द्वारा की गई थी, जब यूपीए इसका क्रियान्वयन कर रही थी। लेकिन सत्ता में आने के पश्चात, मोदी सरकार ने योजना को बंद नहीं किया, अपितु कई मायनों में इसमें सुधार किया।

मोदी सरकार ने पहले की सरकारों द्वारा शुरू की गई कई पेंशन योजनाओं को सुधारों एवं परिवर्तनों के साथ जारी रखा गया और कुछ नई योजनाओं को शुरू किया गया।

सुरक्षा

माओवादियों से निपटना

कई ऐसे क्षेत्रों में माओवादी खतरे को दबाया गया है, जहां माओवादियों के द्वारा पहले बेखौफ संचालन किया जा रहा था। हालांकि, छत्तीसगढ़ ने जब-तब माओवादी हमलों को झेला है। लेकिन हाल के कुछ वर्षों में स्थिति में सुधार हुआ।

जबकि माओवादियों द्वारा जारी हिंसा बस्तर मंडल में एक बड़ी चिंता बनी रही, जबकि दक्षिणी राज्यों में माओवादियों को रोकने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई। बेहतर सड़क संपर्कता और नवीनतम हथियारों एवं प्रशिक्षित सुरक्षा बलों ने स्थिति में सुधार करने में मदद की।

सरकार ने वर्ष 2015 में, नक्सल/माओवादी आतंक से प्रभावित क्षेत्रों के विकास एवं सुरक्षा तथा सुरक्षा बलों के हथियारों एवं प्रशिक्षण में सुधार के लिए एक राष्ट्रीय नीति एवं कार्ययोजना शुरू की। विमुद्रीकरण अभियान के चलते, आतंकी गतिविधियों में रुकावट आई थी। जैसाकि उनके वित्तीयन स्रोत कुछ समय के लिए बंद हो गए थे। हालांकि, मई 2019 में, महाराष्ट्र के गढ़चिरौली में माओवादियों द्वारा एक आईईडी विस्फोट किया गया। माओवादियों ने एक आतंकरोधी ऑपरेशन दल को निशाना बनाया। गढ़चिरौली और गोंडिया ऐसे क्षेत्र हैं, जो छत्तीसगढ़ के दंडकारण्य क्षेत्र से सटे हुए हैं।

कश्मीर की स्थिति और पाकिस्तान की संलिप्तता

कश्मीर के हालात को पाकिस्तान के कार्यों पर विचार किए बिना आकलित एवं विमर्श नहीं किया जा सकता। भारतीय राज्य में अस्थिर सुरक्षा माहौल भारत के साथ पाकिस्तान के छद्म युद्ध के कारण है।

नवम्बर-दिसंबर 2014 में, जम्मू-कश्मीर राज्य विधानसभा के चुनाव आयोजित किए गए। क्षेत्रीय पीपल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (पीडीपी) एकमात्र सबसे बड़ी पार्टी के रूप

में उभरी लेकिन अपने बलबूते सरकार नहीं बना सकी। फरवरी 2015 में, बीजेपी और पीडीपी ने मिलकर सरकार बनाने का निर्णय लिया। मार्च में, गठबंधन सरकार ने शपथ ली और पहली बार बीजेपी राज्य में सरकार का हिस्सा बनी। पीडीपी प्रमुख मुफ्ती मोहम्मद सईद मुख्यमंत्री बने। लेकिन जनवरी 2016 में, मुफ्ती मोहम्मद सईद की मृत्यु हो गई और इसने गठबंधन के लिए मुसीबत खड़ी कर दी, क्योंकि मुफ्ती की बेटी और पीडीपी के प्रमुख की उत्तराधिकारी, महबूबा मुफ्ती, बीजेपी के साथ गठबंधन सरकार में मुख्यमंत्री नहीं बनना चाहती थी। जैसाकि गठबंधन खतरे में प्रतीत हुआ, राज्यपाल का शासन प्रख्यापित किया गया। आपसी समस्याओं को सुलझाने पर, अप्रैल 2016 को महबूबा मुफ्ती ने मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ली और राज्य की पहली महिला मुख्यमंत्री बनी।

सुरक्षा बलों द्वारा बुरहान वानी, हिजबुल मुजाहिद्दीन का एक कमांडर; को मार गिराए जाने के कारण जुलाई 2016 में कश्मीर में विरोध-प्रदर्शन शुरू हो गए। कर्फ्यू लगाया गया लेकिन विरोधियों ने कर्फ्यू तोड़ डाला और सुरक्षाबलों तथा पुलिस पर पथराव किया। भारतीय सुरक्षा बलों ने पेलेट गन का इस्तेमाल करके विरोधियों को नियंत्रित करने का प्रयास किया, जिसे अहानिकारक माना जाना था, लेकिन इससे कई लोगों की आंखों के स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त होने के मामले सामने आए। इसने स्थिति को और अधिक खराब कर दिया। अगस्त 2017 में, अबू दुजाना, प्रतिबंधित आतंकी संगठन लश्कर-ए-तैयबा का पाकिस्तानी कमांडर और उसके साथी आरिफ नबी डार, भारतीय सेना के जवानों के साथ कश्मीर के पुलवामा जिले में मुठभेड़ में मारे गए। इस पर भी हिंसक विरोध-प्रदर्शन हुआ। गठबंधन सरकार के बीच मतभेद सामने आ गए। अंततः, बीजेपी द्वारा सरकार से समर्थन वापिस लेते ही जून 2018 में जटिल गठबंधन का अंत हो गया। दोनों दलों के बीच गठबंधन टूटने का तात्कालिक कारण रमजान सीजफायर की निरंतरता को लेकर मतभेद था। आतंकवादी सीजफायर के दौरान भी अपनी आतंकी चालों को जारी रखे हुए थे। इस दौरान पत्रकार शुजात बुखारी और सेना के जवान औरंगजेब की हत्या समेत कई आतंकी घटनाएं हुईं। केंद्रीय गृह मंत्री इस बात को लेकर सख्त थे कि आतंकवाद से सीजफायर या सीजफायर के लागू न रहने की स्थिति में भी निपटना होगा। किसी भी मामले में, गठबंधन का कोई विचाराधारात्मक सद्भाव नहीं था और यहां तक कि कार्यगत समन्वय का भी अभाव था। मुख्यमंत्री महबूबा मुफ्ती ने अपना त्यागपत्र दे दिया। बाद में, राज्य में फिर से राज्यपाल शासन लगा दिया गया।

इस बीच, भारतीय सुरक्षा बलों पर जब-तब हमले होते रहे। जनवरी 2016 में, जैश-ए-मोहम्मद से जुड़े आतंकवादियों द्वारा पठानकोट एयर फोर्स स्टेशन पर हमला कर दिया गया। 25 जून, 2016 को एक सीआरपीएफ के काफिले पर पुलवामा जिले में पंथा चौक से पेम्पोर कस्बे जाते समय लश्कर-ए-तैयबा के आतंकियों ने घात लगाकर हमला

किया। 18 सितम्बर, 2016 की सुबह भारी गोला-बारूद और शस्त्रों से लैस चार आतंकवादी उरी सेक्टर, श्रीनगर से कुछ 100 किमी. दूर, के आर्मी कैंप के प्रशासनिक खंड में प्रवेश कर गए और बड़ी संख्या में सैनिकों को मारा। यह 26 वर्षों में आर्मी कैंप पर होने वाला सबसे गंभीर हमला था। जवाबी हमले के बाद, सभी चारों आतंकवादी मारे गए। इस हमले में जैश-ए-मोहम्मद के शामिल होने का संदेह जताया गया। भारत ने बदले के रूप में पाकिस्तान-अधिकृत-कश्मीर में सीमा रेखा के आर-पार प्रायोजित होने वाले आतंकवाद के खिलाफ, 29 सितम्बर, 2016 को एक **सर्जिकल स्ट्राइक** की। भारतीय सेना ने कहा कि इस ऑपरेशन में भारी संख्या में आतंकवादियों को मार गिराया गया। हालांकि, यह काफी देर तक आतंकवादी गतिविधियों को नहीं रोक पाया और आतंकवादियों ने 3 अक्टूबर, 2016 की रात को बारामूला में स्थित राष्ट्रीय राइफल बटालियन पर ग्रेनेड से हमला किया। बताया गया कि हमलावर पाकिस्तानी नागरिक थे और जैश-ए-मोहम्मद से जुड़े हुए थे। पाकिस्तानी सेना द्वारा फायरिंग से सीमाक्षेत्र कुछ समय के लिए तनावपूर्ण हो गया और भारतीय सेना को जवाबी फायरिंग करनी पड़ी।

14 फरवरी, 2019 को, पुलवामा जिले के जम्मू-श्रीनगर राजमार्ग पर वाहन सहित एक आत्मघाती आतंकी ने केंद्रीय रिजर्व पुलिस बल (सीआरपीएफ) के काफिले पर बम विस्फोट किया। कहा गया कि यह दशकों बाद कश्मीर में भारतीय सुरक्षा बलों के खिलाफ सबसे भयानक हमला था, जिसमें हमलावर सहित सीआरपीएफ के 40 जवान मारे गए। जैश-ए-मोहम्मद ने इस हमले की जिम्मेदारी ली।

26 फरवरी, 2019 के शुरुआती घंटों में भारतीय वायु सेना (आईएएफ) के मिराज लड़ाकू विमानों ने भारत के विभिन्न एयर बेसों से उड़ान भरी और जम्मू-कश्मीर में सीमारेखा को पार करके खैबर पख्तून प्रांत के बालाकोट में जैश-ए-मोहम्मद के आतंकी ठिकानों/कैंपों पर मिसाइल से हमले किए। भारतीय वायु सेना द्वारा सरकार को दी जानकारी के अनुसार, 80 प्रतिशत बमों ने सफलतापूर्वक टारगेट पर चोट की और दुश्मनों के ठिकानों को ध्वस्त किया। हालांकि, पाकिस्तानी सेना ने कहा कि नुकसान केवल बालाकोट के पास निर्जन पहाड़ी पर जंगलों को हुआ। अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने भी कहा कि हमलों ने कथित टारगेट को नहीं भेदा, जैसाकि उपग्रह से लिए गए चित्र/तस्वीरें अभी भी भवनों को खड़ा दिखाती हैं। इस मामले पर संदेह बना रहा क्योंकि अप्रैल 2019 तक पाकिस्तानी अधिकारियों ने मीडिया को कथित स्थान पर जाने नहीं दिया। भारतीय वायु सेना ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि हमले में प्रयोग किए गए स्पाइस बमों ने बाहरी भवनों/इमारतों को क्षति पहुंचाने की बजाय लक्षित लोगों/आतंकियों को मारा। इसलिए आईएएफ के पास तस्वीरों के रूप में प्रमाण को साबित करने के लिए कि बालाकोट स्ट्राइक वास्तव में सफल रही, अधिक साक्ष्य नहीं हैं।

बालाकोट हवाई हमलों ने भारत और पाकिस्तान को सशस्त्र संघर्ष के मुहाने पर खड़ा कर दिया। पाकिस्तानी वायु सेना ने 27 फरवरी, 2019 को बदले की कार्यवाही का प्रयास किया। भारतीय वायु सेना ने प्रत्युत्तर में अपने लड़ाकू विमान जम्मू-कश्मीर के आसमान में पाकिस्तानी हमलों को निष्फल करने के लिए भेज दिए। भारत के मिग-21 लड़ाकू विमान ने पाकिस्तान के एफ-16 को मार गिराया। लेकिन मिग-21 स्वयं भी क्षतिग्रस्त हो गया और इसके पायलट, विंग कमांडर अभिनंदन वर्धमान, पाकिस्तान की सीमा में गिर गए जहां पाकिस्तानी सुरक्षा बलों ने उन्हें पकड़ लिया। उन्हें दो दिन बाद छोड़ दिया गया, जिससे भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव कम हो गया।

इस झड़प के चलते, पाकिस्तान और भारत दोनों ने अपने हवाई मार्ग एक-दूसरे के लिए बंद कर दिए। पाकिस्तानी वायु क्षेत्र के बंद होने से भारत के पश्चिम में जाने वाली उड़ानों—भारतीय एवं अंतरराष्ट्रीय—को भारी नुकसान उठाना पड़ा, जैसाकि उड़ानों को लंबा मार्ग तय करने को बाध्य होना पड़ा। पाकिस्तान को भी भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा। जुलाई 2019 में हवाई क्षेत्र खोल दिया गया।

विदेश संबंध

वर्ष 2014 में एनडीए सरकार के सत्ता में आने से भारत की विदेश नीति में पूरी तरह बदलाव नहीं हुआ। हालांकि, इन वर्षों में एक सूक्ष्म बदलाव विकसित हुआ। जैसाकि भारत के विदेश सचिव, विजय गोखले ने कहा, ''भारत अपने गुटनिरपेक्ष इतिहास से आगे बढ़ा है। आज भारत एक सम्मिलित राष्ट्र है—लेकिन मुद्दों पर आधारित।''

सुषमा स्वराज, बीजेपी की एक अत्यधिक वरिष्ठ नेता; को 2014 में विदेश मंत्रालय सौंपा गया और वे स्वतंत्र रूप से विदेश मंत्रालय संभालने वाली भारत की पहली महिला बनीं। हालांकि, प्रधानमंत्री सदैव इस क्षेत्र का घनिष्ठ अवलोकन करते रहे। न केवल सुषमा स्वराज ने बल्कि प्रधानमंत्री मोदी ने विभिन्न देशों की यात्राएं कीं और अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में शिरकत की।

मोदी की विदेश नीति का महत्वपूर्ण बल पड़ोसी देशों के साथ रिश्ते सुधारने पर था। सरकार की 'नेबरहुड डिप्लोमेसी' बांग्लादेश, नेपाल एवं श्रीलंका के साथ संबंधों को सुधारने में सफल रही। 2015 में, कुछ एंक्लेव के मामले में बांग्लादेश के साथ एक भूमि विनिमय सौदे की भारतीय संसद ने पुष्टि की, जिसे यूपीए सरकार द्वारा शुरू किया गया था लेकिन लंबित पड़ा था। लेकिन पाकिस्तान के साथ संबंध उतार-चढ़ाव वाले बने रहे जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है। चीन के साथ कुछ कठिनाइयां थीं लेकिन दोनों देशों के बीच बातचीत जारी रही और स्थिति नियंत्रण में बनी रही।

2017 में डोकलाम पर भारत और चीन के रिश्तों में एक प्रमुख गतिरोध आया। डोकलाम 100 वर्ग किमी. में फैला क्षेत्र है जिसमें पठार और घाटी है तथा भारत, भूटान और चीन के बीच एक क्षेत्र में अवस्थित है। यह तिब्बत की चुम्बी घाटी, भूटान की हा घाटी और सिक्किम से घिरा हुआ है। 2017 में, चीन ने इस क्षेत्र में सड़क बनाने

का प्रयास किया और भारतीय सेना ने अपने समकक्ष भूटानी सेना को इसका विरोध करने को कहा, जिसके परिणामस्वरूप गतिरोध उत्पन्न हुआ। डोकलाम भारत के लिए रणनीतिक महत्व रखता है जैसाकि यह सिलीगुड़ी गलियारे के नजदीक है, जो इसके पूर्वोत्तर क्षेत्र सहित भारत की मुख्य भूमि से जुड़ा है। 60 बिलियन अमेरिकी डॉलर के चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा (सीपीईसी) ने भी द्विपक्षीय संबंधों में कड़वाहट घोली थी। सीपीईसी बेल्ट एंड रोड इनीशिएटिव (बीआरआई) का एक हिस्सा है। बीआरआई परियोजना चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग द्वारा विश्व में चीन के प्रभाव को समेकित करने के लिए शुरू की गई थी।

पूर्व की सरकारों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ पहले ही रिश्ते सुधार लिए थे। मोदी ने अमेरिका के साथ साझेदारी को और अधिक प्रगाढ़ किया। उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति बराक ओबामा को भारत की यात्रा करने पर सहमत कर लिया और भारत के विकास के प्रयासों में अमेरिका की पूंजी एवं तकनीक प्राप्त करके द्विपक्षीय संबंधों को एक नवीन आवेग प्रदान किया। मोदी दोनों देशों की सेनाओं के बीच लॉजिस्टिकल सहायता, आपूर्ति एवं सेवाओं की सुसाध्यता के लिए 2016 में हुए द्विपक्षीय लॉजिटिक्स एक्सचेंज मेमोरेंडम ऑफ एग्रीमेंट पर अमेरिका के हस्ताक्षर प्राप्त करने में सफल रहे। फिर, 2018 में, उन्नत रक्षा प्रणाली तक पहुंच बनाने के लिए कम्युनिकेशंस कम्पेटिबिलिटी एंड सिक्युरिटी एग्रीमेंट (कॉमकासा–COMCASA) हस्ताक्षरित किया गया।

अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप में डोनाल्ड ट्रंप के आगमन पर, संरक्षणवादी अमेरिकी व्यापार नीतियों पर हावी हो गए, जिसने भारत-अमेरिकी संबंधों को क्षति पहुंचाई। फिर भी, अमेरिका भारत का समर्थक बना रहा और द्विपक्षीय संबंध बने रहे।

भारत चतुर्भुज (क्वाड्रिलेटरल) का हिस्सा बनने पर सहमत हुआ जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया शामिल थे।

यद्यपि टोक्यो के साथ साझेदारी की दिशा में शुरुआती कदम मनमोहन सिंह की सरकार में उठाए गए, तथापि मोदी के कार्यकाल में इन संबंधों ने एक नई ऊंचाइयों को छुआ। जापान और भारत 'मुक्त एवं खुले भारत-प्रशांत' क्षेत्र में अपरिहार्य बन गए और यह संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए भी महत्वपूर्ण है। निःसंदेह जापानी सुरक्षा ने अपने गठबंधन की नींव अमेरिका के साथ रखी, लेकिन चीन को प्रतिसंतुलित करने के लिए, जापान, भारत को एक महत्वपूर्ण पूरक साझेदार के रूप में देखता है।

एनडीए सरकार की विदेश नीति अति सक्रिय प्रकृति 'लुक ईस्ट नीति' को 'एक्ट ईस्ट नीति' में बदलने में दिखाई देती है, जो पूर्व एवं दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय प्रभाव को विस्तारित करने की आवश्यकता पर बल देती है।

पश्चिम एशिया में, बिना किसी अधिमानता के भारत ने फिलीस्तीन और इजरायल के बीच संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया है। ऑर्गेनाइजेशन ऑफ

इसलामिक को-ऑपरेशन (ओआईसी) की स्थापना के बाद से भारत पहली बार इसमें स्वयं को आमंत्रित करवाए जाने में सफल रहा। भारत ने राजनीतिक और आर्थिक रूप से लाभ प्राप्त करने के लिए सउदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात तक साहसपूर्ण पहुंच बनाई। लंबे समय में, भारत सीमापारीय आतंकवाद के खतरे से लड़ता रहा है और खाड़ी राजशाही से इसलामी आतंकवाद के विरुद्ध बढ़ते विरोध का लाभ लेने का प्रयास किया।

भारत, ऑस्ट्रेलिया समूह में शामिल हुआ, जिसका उद्देश्य जैविकीय और रासायनिक हथियारों के प्रसार को रोकना और अधिक सुरक्षित विश्व का निर्माण करना है। इसके साथ भारत चार परमाणु निर्यात नियंत्रण प्रणाली में से तीन का सदस्य बन गया। इससे पूर्व, भारत 2016 में मिसाइल टेक्नोलॉजी कंट्रोल रिजीम (एमटीसीआर) और 2017 में वासेनर समझौते (डब्ल्यूए) में शामिल हुआ था। परमाणु आपूर्ति समूह (एनएसजी) में भारत की सदस्यता अभी लंबित है, जैसाकि चीन इसमें भारत की सदस्यता का विरोध करता है।

भारत ने पृथ्वी के सामने चुनौती बने वैश्विक तापन और जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों से निपटने के लिए फ्रांस के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय सौर गठबंधन की स्थापना में एक अग्रणी भूमिका निभाई।

मोदी के विरोधी विश्व नेताओं के साथ उनके आलिंगन और सेल्फी को लेकर उन पर उपेक्षापूर्ण हंसी कर सकते हैं, लेकिन इन सबमें विदेशी संबंधों की एक समझदार रणनीति छिपी है। मोदी सरकार ने, ''रणनीतिक स्वायत्तता को पुनर्परिभाषित करने का एक लक्ष्य रखा, जो साझेदारी की उपेक्षा करने की बजाय मजबूत साझेदारी के माध्यम से हासिल हो सकता था''। आज का वैश्विक परिदृश्य जटिल है और एक देश की शैली लोचशील होनी चाहिए। इसलिए, क्वाड के साथ भारत की संलग्नता चीन के संदर्भ में इसकी रणनीतिक स्वायत्तता को बढ़ाती है और जब यह त्रिपक्षीय संबंधों के लिए रूस एवं चीन के साथ परामर्श करता है, तो ट्रंप प्रशासन के संबंध में इसकी रणनीतिक स्वायत्तता बढ़ जाती है जो वैश्विक आर्थिक व्यवस्था के मूलभूत सिद्धांतों को चुनौती देता है।

सामाजिक स्थिति

मोदी के शासनकाल में सांप्रदायिक दंगे व्यावहारिक रूप से न के बराबर हुए, लेकिन यह एक स्पष्ट अवधारणा है कि बड़ी संख्या में हिंदू राष्ट्रवादी संगठनों की गतिविधियां मोदी के प्रधानमंत्री बनने पर मुख्यधारा में आ गईं और उनकी संख्या में बढ़ोतरी हुई और ऐसा प्रतीत होने लगा कि उन्हें सरकार का मौन समर्थन प्राप्त है। धर्म परिवर्तन कर चुके हिंदुओं के लिए *घर वापसी* कार्यक्रम; आरोपित इस्लामी प्रथा, जिसे 'लव जिहाद' का नाम दिया गया के विरुद्ध अभियान; और महात्मा गांधी की हत्या करने वाले नाथू राम गोडसे की प्रशंसा कुछ ऐसी गतिविधियां थीं, जिन्होंने सामाजिक

ताने-बाने को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया। उत्तर प्रदेश में महिलाओं को उत्पीड़न से बचाने के लिए प्रकट रूप से एंटी-रोमियो स्क्वैड बनाया गया, लेकिन जिसमें मोरल पोलिसिंग शामिल थी। 'लव जिहाद' कहे जाने वाले कृत्य के विरुद्ध अभियान छेड़ा गया, हालांकि यह कम समय तक रहा, क्योंकि यह पसंद की आजादी का उल्लंघन था। मुस्लिम व्यक्तियों पर गौ-हत्या के कथित आरोप के लिए हिंसक हमले हो रहे थे। गैर-मुस्लिमों; विशेष रूप से दलित और आदिवासियों पर झूठे आरोपों के तहत हमले हो रहे थे। इन हमलों का एक विक्षोभकारी पहलू था—सहानुभूतिपरक परिदर्शकों द्वारा भीड़ हत्या का वीडियो बनाकर सोशल मीडिया पर डालना। कुछ दक्षिणपंथी उथले तत्वों द्वारा निश्चित रूप से यह मान लिया गया था कि उन्हें इस हिंसा में सरकार का मौन समर्थन प्राप्त है। लेकिन निश्चयात्मक रूप से यह मानने से पहले कि भीड़ हत्या की घटनाएं मोदी के कार्यकाल में बढ़ी, किसी को भी पहले गहन ऐतिहासिक शोध करने की आवश्यकता है। यदि बीजेपी द्वारा समाज को हिंदू और मुस्लिम में ध्रुवीकृत किया गया था, तो भीड़ द्वारा केवल मुस्लिमों की हत्या होनी चाहिए और केवल गौ-हत्या के लिए ऐसा होना चाहिए था। तब फिर कोई भी बच्चा चोरी और जादू-टोने जैसे आरोपों पर व्यक्तियों की भीड़ हत्या के बढ़ते मामलों की व्याख्या नहीं कर सकता।

बीजेपी के सत्ता में आने के साथ इंटरनेट के प्रयोग में असाधारण वृद्धि हुई। स्मार्टफोन का सर्वव्यापी प्रयोग और सस्ता इंटरनेट कनेक्शन केवल 2010 के बाद एक आम बात हो गई। कुछ मामलों में ऐसा प्रतीत हुआ कि भीड़ हत्या का पूरा घटनाक्रम दर्शकों के लिए तैयार किया गया हो। जैसाकि, शायद, प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक उन्नति के लिए यह वीडियो अपलोड किया गया हो। मोबाइल फोन के युग से पूर्व, किसी व्यक्ति द्वारा किए गए बुरे कृत्य की खबर पहुंचाने में कुछ घंटे लगते थे। हालांकि, मोबाइल क्रांति के बाद, केवल कुछ मिनटों में संदेश फैलने लगे। व्हाट्सऐप द्वारा इस प्रकार के संदेशों को बेहद निंदनीय/शोचनीय ढंग से भेजा जाने लगा। 'झूठी खबरों' का प्रसार भी आम हो गया।

उग्र-राष्ट्रवाद अकसर दिखाई देने लगा। सोशल मीडिया पर, मानव जीवन के प्रति कम संवेदना के साथ निंदनीय टिप्पणी/फूहड़ हंसी तथा निगरानी समूह की सक्रियता बढ़ने लगी। निगरानी समिति/समूह राजनीतिक एजेंडे के तहत अल्पसंख्यकों पर हमले करने लगे।

सर्वोच्च न्यायालय ने भीड़ हत्या पर हस्तक्षेप किया और सरकार को कड़े कदम उठाने का निर्देश दिया और प्राधिकारियों को इसे रोकने के कदम उठाने और ऐसी घटनाओं के होने पर उचित कार्यवाही करने हेतु दिशा-निर्देश दिए। इसने अधिकारियों की जिम्मेदारी सुनिश्चित होने की बात कही।

इस सबके बीच, प्रधानमंत्री काफी समय तक चुप रहे। यदि वे उपद्रवी तत्वों पर नियंत्रण करते, शायद स्थितियां कुछ अलग होतीं और शुरुआती समय में ही हिंसा के

शिकार व्यक्तियों को आशान्वित करते कि दोषियों के खिलाफ कार्यवाही होगी। हालांकि, कुछ राजनीतिक टिप्पणीकारों ने सुझाया कि कुछ रेडिकल हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा हिंसा का उद्देश्य मोदी की प्रभुसत्ता को कम करना था।

सख्त कानूनों के बावजूद, यहां तक कि व्यापक जागरूकता और अभियान के, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा निर्बाध जारी रही। बच्चों से बलात्कार के मामलों ने राष्ट्र को स्तब्ध कर दिया। इसके प्रत्युत्तर में सरकार ने 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों से बलात्कार पर मृत्युदंड की सजा का प्रावधान किया और सभी बलात्कार के मामलों को सख्त पोस्को एक्ट के अंतर्गत लाकर इनका त्वरित समाधान सुनिश्चित किया। हालांकि, कानून केवल महिलाओं और बच्चों के खिलाफ बलात्कार और हिंसा के मामलों में अधिक कारगर हो सकता है, लेकिन सामान्यतः लोगों एवं समाज की सोच में भी बदलाव की आवश्यकता है। इसके अलावा, विधि प्रवर्तन अभिकरणों को भी संवेदनशील होने की आवश्यकता है।

किशोर न्याय, बाल एवं किशोर श्रम और मानसिक स्वास्थ्य, जिसने आत्महत्या के प्रयास को अपराध की श्रेणी से बाहर किया; जैसे विभिन्न सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण कानूनों को एनडीए सरकार के अंतर्गत पारित किया गया।

सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक पीठ के द्वारा एक अन्य ऐतिहासिक निर्णय लेस्बियन, गे, बाइसेक्सुअल, ट्रांसजेंडर एंड क्वीर (एलजीबीटीक्यू+) समुदाय द्वारा सामाजिक वैधता हासिल करने हेतु जारी संघर्ष की दिशा में दिया गया। धारा 377 में उल्लिखित समलैंगिकता, जो अधिकांशतः विक्टोरियन ब्रिटिश समय से अधिक संगत थी; को न्यायालय ने अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया। पहली बार वर्ष 2001 में, नाज फाउंडेशन द्वारा दिल्ली उच्च न्यायालय में धारा 377 की संवैधानिक वैधता का मामला उठाया गया था, जिस पर 2009 में उच्च न्यायालय ने धारा को अवैध घोषित किया था, लेकिन उस निर्णय को 2013 में सर्वोच्च न्यायालय ने पलट दिया। 2018 में, उच्चतम न्यायालय ने अपना निर्णय बदल दिया। अगस्त 2017 के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने निजता के अधिकार को बनाए रखा और समलैंगिकता को अपराध मुक्त करने के मामले में धारा 377 की नवीन व्याख्या का मार्ग प्रशस्त किया। हालांकि, समलैंगिक विवाह, संपत्ति का उत्तराधिकार और नागरिक अधिकारों पर विचार नहीं किया गया। आश्चर्यजनक रूप से, अधिकतर राजनीतिक समूहों ने इस निर्णय का स्वागत किया।

एक अन्य स्तर पर, मोदी सरकार ने निराश किया। रोजगार सृजन के मामले में, बेहद थोड़ी प्रगति हुई। भारत के श्रम बल का एक बड़ा हिस्सा निरंतर अकुशल एवं निर्धन बना हुआ था। बेरोजगारी की दर अत्यधिक ऊंचे स्थान पर पहुंच गई थी। सरकार मेक इन इंडिया पहल के बावजूद नौकरियां सृजित करने के लिए उद्योग में विनिर्माण क्षेत्र को पुनर्जीवित और प्रोत्साहित करने में सफल नहीं हो पाई। लेकिन यहां

भी, कृषि की भांति, कई कारण एवं जटिलताएं थीं। भारत के कामगारों के बीच कुशलता का निम्न स्तर, उपलब्ध नौकरियों में कम वेतन, लचर आधारिक ढांचा और भारत के अप्रासंगिक श्रम कानून के कुछ कारक थे।

आम चुनाव और एनडीए की वापसी

अप्रैल-मई 2019 में, भारतीय निर्वाचकगण ने 17वीं लोक सभा के चुनाव हेतु मतदान किया। चुनाव सात चरणों में आयोजित किए गए और मतगणना 23 मई को की गई।

राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) ने अकल्पनीय बहुमत हासिल किया और 353 सीटों पर विजय प्राप्त की। बीजेपी ने अकेले 303 सीटें हासिल की और अकेले ही बहुमत प्राप्त कर लिया। इस चुनाव में; एनडीए एवं बीजेपी दोनों ने 2014 के चुनाव की अपेक्षा बेहतर प्रदर्शन किया, जिसका किसी ने अनुमान नहीं लगाया था। बीजेपी ने पहली बार पश्चिम बंगाल में जोरदार प्रदर्शन किया। साथ ही, इसने कांग्रेस के पक्ष वाले राज्यों में भी अच्छा प्रदर्शन किया। इसने मतदाताओं के स्पष्ट दृष्टिकोण को परिलक्षित किया कि कौन राज्य स्तर पर बेहतर होगा और वे किसे राष्ट्रीय स्तर पर चाहते हैं।

कांग्रेस ने 52 सीटें जीतकर 2014 के चुनावों की अपेक्षा बेहतर प्रदर्शन किया, जबकि यूपीए के सहयोगियों ने 33 सीटें जीतीं। लेकिन तस्वीर साफ हो गई थी कि एनडीए केंद्रीय सत्ता में वापस लौट आई है।

2019 के चुनाव इस मामले में भी ऐतिहासिक रहे कि इसमें न केवल सबसे अधिक महिला उम्मीदवारों ने चुनाव लड़ा अपितु पहले की अपेक्षा सर्वाधिक संख्या में चुनकर भी आईं।

यह पहली बार हुआ कि कोई गैर-कांग्रेसी सरकार अपना कार्यकाल पूरा करने के बाद लगातार दूसरे कार्यकाल के लिए बहुमत के साथ लोकसभा में आई। मोदी पहले बीजेपी नेता थे जो पांच वर्ष का कार्यकाल पूरा करने के बाद दूसरी बार चुने गए, यह रिकॉर्ड पूर्व में केवल दो कांग्रेसी नेताओं, जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गांधी के नाम था। मनमोहन सिंह भी दो कार्यकाल के लिए प्रधानमंत्री बने थे लेकिन उनकी पार्टी को अपने बलबूते पर बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था।

राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद ने 30 मई, 2019 को राष्ट्रपति भवन में नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्री के रूप में पद की शपथ दिलाई। इस शपथ कार्यक्रम में बिम्सटेक, किर्गिस्तान एवं मॉरीशस ने भी शिरकत की।

यद्यपि बीजेपी के पास स्वयं सरकार बनाने के लिए पर्याप्त संख्या बल था, तथापि इसने अपने सहयोगियों को मंत्रिपरिषद में स्थान देने का निर्णय किया। इसमें एक आश्चर्य एस. जयशंकर, भूतपूर्व विदेश सचिव, को विदेश मंत्री के रूप में शामिल करना था, लेकिन वे अपने सुप्रसिद्ध राजनयिक कौशल के लिए जाने जाते हैं और उन्होंने

मनमोहन सिंह सरकार के अंतर्गत भी विदेश नीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अमित शाह, बीजेपी अध्यक्ष और नरेंद्र मोदी के घनिष्ठ सहयोगी, जिन्हें चुनाव दर चुनाव में बीजेपी को प्रभावशाली बढ़त दिलाने के लिए आवश्यक रूप से श्रेय दिया जाना चाहिए; को भी गृह मंत्री के रूप में मंत्रिमंडल में शामिल किया गया।

नरेंद्र मोदी ने अपने भाषण में नए सांसदों और सरकार के सदस्यों को किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध भेदभाव के बिना कार्य करने की बात कही और अल्पसंख्यकों का विश्वास जीतने को कहा। उन्होंने कहा कि अन्य दल वर्षों से अल्पसंख्यकों को धोखा दे रहे हैं। इस बात की ओर इशारा करते हुए कि, लंबे समय से अल्पसंख्यक 'कल्पनीय भय' में जी रहे हैं और यह स्थिति बदलनी चाहिए। उन्होंने मुस्लिमों का विश्वास जीते जाने की आवश्यकता की पुष्टि की। *सबका साथ, सबका विकास* के साथ *सबका विश्वास* जोड़ा जाना चाहिए। स्पष्ट रूप से, मोदी इस संदर्भ में संघ परिवार की विचारधारात्मक कठोरता की बाधाओं से विचलित हुए बिना अपने अनुसार अपनी सरकार को दिशा देने में अधिक आत्मविश्वासी सिद्ध हुए। इस संदर्भ में, यह स्मरण हो सकता है कि गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने राज्य में विश्व हिंदू परिषद और अन्य ऐसे संगठनों को नियंत्रित किया था। उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही कि हमें हर किसी को साथ लेकर चलना चाहिए, चाहे जिसने शासन में सत्तासीन गठबंधन को मत दिया हो या न दिया हो और चाहे एनडीए का जोरदार आलोचक रहा हो।

एनडीए की विजय के कारक

इसमें कोई संदेह नहीं है कि लगातार दूसरे कार्यकाल के लिए एनडीए की विजय अमित शाह द्वारा तैयार रणनीति से निर्देशित बीजेपी काडर के अथक परिश्रम का परिणाम है। चुनाव से पहले उनके कुछ सहयोगी दलों द्वारा अभिव्यक्त नाराजगी/असहमति के बावजूद, बीजेपी अपने सहयोगी दलों को अपने साथ बनाए रखने में सफल रही।

बीजेपी के पास अपने प्रधानमंत्री चेहरे के रूप में निर्विवाद नरेंद्र मोदी थे, जबकि विरोधी गठबंधन के पास राहुल गांधी के अलावा कोई विकल्प नहीं था, जिस पर सबकी सहमति नहीं थी। न ही विरोधी दल एक विश्वसनीय विकल्प पर सहमत थे। न ही सभी विरोधी दल एक गठबंधन में शामिल होने को लेकर राजी थे।

चुनाव प्रचार न केवल आक्रामक था अपितु अपशब्दों के अत्यधिक प्रयोग के कारण विकृत हो गया था। लेकिन कांग्रेस के पसंदीदा स्लोगन *'चौकीदार चोर है'* ने संकेत किया कि प्रधानमंत्री चोर थे और लोगों ने इसे सही नहीं माना जैसाकि यह व्यक्ति की बजाय देश के प्रधानमंत्री के खिलाफ अपमान प्रकट करता है। कांग्रेस पर इसका पलटवार हुआ, जैसाकि लोगों के दिलोदिमाग में प्रधानमंत्री के रूप में मोदी की छवि एक मेहनतकश ईमानदार नेता की थी। राफेल सौदे को लेकर भ्रष्टाचार के कथित आरोप ज्यादा प्रभाव नहीं डाल पाए कि मोदी ने इससे पैसा बनाया है।

मोदी सरकार द्वारा कल्याणकारी योजनाओं का निष्पक्ष एवं दक्षतापूर्ण

क्रियान्वयन करने के फलस्वरूप निश्चित रूप से एनडीए को दूसरे कार्यकाल में जीतने में मदद की। सच है कि सभी वादे पूरे नहीं हुए, लेकिन वे लोग जिन्हें अभी तक गैस कनेक्शन या शौचालय प्राप्त नहीं हुआ था; में आशा जगी थी कि कुछ लोगों को इनका लाभ मिला है और कुछ समय पश्चात उन्हें भी इसका लाभ मिल जाएगा।

एक बड़ी जनसंख्या विश्वस्त थी कि अन्य दलों ने केवल वोट के लिए उनका इस्तेमाल किया है और इस प्रक्रिया में उनका तुष्टिकरण किया है। हिंदुत्व के धरातल ने निश्चित रूप से बीजेपी को बहुमत प्राप्त करने में सहायता की और एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन यह भी गौर करने वाली बात है कि बीजेपी ने जाति-पाति से ऊपर उठकर कार्य किया और बहुमत प्राप्त किया।

सरकार ने जिस तरीके से पाकिस्तान के मुद्दे—सर्जिकल स्ट्राइक और बाद में फरवरी 2019 में बालाकोट में हवाई हमले—को संभाला, उसने एक बड़ी संख्या में लोगों का मत एनडीए के पक्ष में कर दिया। निःसंदेह, राष्ट्रीय सुरक्षा एक बड़ा मुद्दा था जिसने धीमी आर्थिक प्रगति, बेरोजगारी एवं किसानों की दयनीय दशा जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया। इसने विरोधी पक्ष को सरकार की उपलब्धि पर प्रश्न उठाने में मदद नहीं की, इससे ऐसा प्रतीत होता था कि सेना की क्षमता एवं योग्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाया जा रहा था।

हालांकि, एनडीए की बड़ी जीत से हमें इस तथ्य से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए कि संसद में विपक्ष का महत्व आनुपातिक रूप से कम हो रहा है। एक लोकतंत्र केवल तभी स्वस्थ रह सकता है, जब वहां प्रश्न करने और कार्यपालिका को नियंत्रित करने हेतु एक मजबूत विपक्ष हो।

परिशिष्ट

1. विशिष्ट आंदोलनों से सम्बद्ध व्यक्तित्व

स्वदेशी आंदोलन

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकः बंबई एवं पूना में स्वदेशी की भावना का प्रचार-प्रसार किया तथा लोगों में राष्ट्रप्रेम की भावना जगाने के लिये शिवाजी तथा गणपति महोत्सव का आयोजन प्रारंभ किया। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि स्वराज्य की प्राप्ति हेतु स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा को सर्वोपरि रखा जाना चाहिए। तिलक ने सहकारी केंद्रों की स्थापना की तथा स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा का नेतृत्व किया।

लाला लाजपत रायः इन्होंने आंदोलन का पंजाब एवं उत्तरी भारत के अन्य राज्यों में प्रसार किया। अपने अभियान में इन्हें अजीत सिंह से सहायता मिली। *कायस्थ समाचार* में प्रकाशित उनके लेखों में तकनीकी शिक्षा तथा औद्योगिक- आत्मनिर्भरता का समर्थन किया गया।

सैय्यद हैदर रजाः इन्होंने दिल्ली में स्वदेशी आंदोलन को लोकप्रिय बनाया।

चिदम्बरम पिल्लईः मद्रास में स्वदेशी आंदोलन का प्रसार किया तथा तूतीकोरिन कोरल मिल की हड़ताल को संगठित किया। इन्होंने मद्रास प्रांत के पूर्वी तट पर स्थित तूतीकोरिन नामक नगर में स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना की।

विपिनचंद्र पालः ये कांग्रेस में गरम दल के अग्रगण्य नेता थे, जिन्होंने स्वदेशी आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में (विशेषकर शहरी क्षेत्रों में) महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वे *न्यू इंडिया* नामक पत्र के सम्पादक भी थे।

लियाकत हुसैनः पटना के लियाकत हुसैन ने बहिष्कार का समर्थन किया तथा 1906 में ईस्ट इंडिया रेलवे हड़ताल में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन्होंने मुसलमानों में राष्ट्रवादी भावनायें जगाने हेतु उर्दू में अनेक उत्तेजक लेख लिखे। इनके कार्यों को स्वदेशी समर्थक अनेक मुस्लिम राष्ट्रवादियों ने भी समर्थन प्रदान किया, जिनमें-**गजनवी रसूल, दीन मोहम्मद, दीदार बक्श, मोनिरुज्जमान, इस्माइल हुसैन, सिराजी, अब्दुल हुसैन एवं अब्दुल गफ्फार** के नाम प्रमुख हैं।

श्यामसुंदर चक्रवर्तीः स्वदेशी आंदोलन से सम्बद्ध राजनीतिक नेता, जिन्होंने हड़तालों के आयोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

रामेंद्र सुंदर त्रिवेदीः इन्होंने बंगाल विभाजन के निर्णय के प्रभावी होने वाली तिथि को विरोध प्रदर्शन हेतु 'काला दिवस' के रूप में मनाने की घोषणा की तथा लोगों से अपील की कि वे इस दिन घरों में अपने चूल्हे न जलायें।

रवींद्रनाथ टैगोरः राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में लोगों को भाग लेने के लिये प्रेरित करने हेतु अनेक देशभक्तिपूर्ण गीतों की रचना की तथा बंगाली लोक संगीत के माध्यम से राष्ट्रवासियों में साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा जगायी। इन्होंने कई स्वदेशी भंडार गृहों की स्थापना की तथा लोगों से आह्वान किया कि राष्ट्रीय सौहार्द बढ़ाने हेतु वे रक्षाबंधन का पर्व हर्षोल्लास से मनायें। इनका मत था कि रक्षाबंधन से लोगों में भ्रातत्व की भावना का विकास होगा।

अरविंद घोषः इन्होंने आंदोलन को बंगाल के अतिरिक्त देश के अन्य भागों में भी प्रारंभ किये जाने की वकालत की। इन्हें 1906 में स्थापित बंगाल नेशनल कालेज का प्रधानाचार्य नियुक्त किया गया। जिसका उद्देश्य था—लोगों में राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रोत्साहन तथा भारत की स्थिति तथा संस्कृति से सम्बद्ध शिक्षा व्यवस्था में सुधार। इन्होंने *बंदे मातरम* नामक पत्र का कई वर्षों तक संपादन भी किया। इस पत्र के माध्यम से अरविंद घोष ने स्वदेशी आंदोलन को प्रोत्साहित करने हेतु अनेक सम्पादकीय लेखों का प्रकाशन किया। इन लेखों में उन्होंने हड़ताल एवं राष्ट्र शिक्षा इत्यादि के माध्यम से स्वदेशी आंदोलन को प्रोत्साहन एवं समर्थन किये जाने की वकालत की। इन्हें अपने कार्यों में **जतींद्रनाथ बनर्जी एवं बरीन्द्र कुमार घोष** से महत्वपूर्ण सहायता मिली। उल्लेखनीय है कि अनुशीलन समिति की स्थापना बनर्जी एवं घोष ने ही की थी।

सुरेंद्रनाथ बनर्जीः ये उदारवादी विचारधारा के समर्थक राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने *द बंगाली* जैसे पत्रों के माध्यम से सरकार की प्रेस-विरोधी नीतियों के विरुद्ध सशक्त आंदोलन चलाया। इन्होंने अनेक सभाओं को भी संबोधित किया। **कृष्ण कुमार मित्रा** एवं **नरेंद्र कुमार सेन** इनके प्रमुख सहयोगी थे।

अश्विनी कुमार दत्तः ये एक स्कूल शिक्षक थे, जिन्होंने स्वदेशी आंदोलन को बढ़ावा देने हेतु स्वदेशी बांधव सभा की स्थापना की। इन्होंने बारीसल के मुस्लिम काश्तकारों द्वारा चलाये गये आंदोलन का नेतृत्व भी किया।

प्रमथनाथ मित्र, बारीन्द्र कुमार घोष, जतींद्रनाथ मुखर्जीः इन तीनों ने मिलकर कलकत्ता में अनुशीलन समिति की स्थापना की।

गोपाल कृष्ण गोखलेः 1905 में, बनारस में संपन्न भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता की। इन्होंने भी स्वदेशी आंदोलन का समर्थन किया।

अब्दुल हालिम गजनवीः ये पेशे से जमींदार एवं वकील थे। इन्होंने कई स्वदेशी उद्योगों की स्थापना की तथा क्रांतिकारी गतिविधियों को बंगाल से बाहर प्रसारित करने में अरविन्द घोष की सहायता की। **अबुल कलाम आजाद** इनके मुख्य सहयोगी थे।

दादाभाई नौरोजीः इन्होंने कांग्रेस के 1906 के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता की, जिसमें कांग्रेस ने 'स्वराज्य' को अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया।

आचार्य पी.सी. रायः इन्होंने कलकत्ता कैमिकल्स की स्थापना की तथा स्वदेशी आंदोलन का समर्थन किया।

मुकुंददास, रजनीकांत सेन, द्विजेंद्रलाल राय, गिरिन्द्रमोहिनी दोषी, सैय्यद अबू मोहम्मदः इन्होंने स्वदेशी की तर्ज पर अनेक देशभक्तिपूर्ण गीतों की रचना की। **गिरीषचंद्र घोष, क्षिरोदे प्रसाद विद्याविनोद एवं अमृतलाल बोस** नाटककार थे, जिन्होंने अपने रचनात्मक कार्यों के माध्यम से स्वदेशी आंदोलन को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया।

अश्विनी कुमार बनर्जीः एक स्वदेशी कार्यकर्ता थे। इन्होंने भारतीय जूट मिल के श्रमिकों द्वारा अगस्त 1906 में बज-बज नामक स्थान में भारतीय मिलहैन्ड्स यूनियन की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सतीश चंद्र मुखर्जीः इन्होंने अपनी डान सोसायटी के माध्यम से, स्वदेशी प्रयासों द्वारा शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाने तथा उसे प्रोत्साहित करने का प्रयास किया।

मोतीलाल घोषः ये *अमृत बाजार पत्रिका* समूह से सम्बद्ध थे। ये उग्रवादी विचारधारा के समर्थक थे तथा इन्होंने भारतीयों में अपने उत्तेजक एवं देशभक्तिपूर्ण लेखों के माध्यम से, राष्ट्रप्रेम की भावना जगाने का प्रयास किया।

ब्रह्म बांधव उपाध्यायः इन्होंने अपने *संध्या* एवं *युगांतर* नामक पत्रों के माध्यम से स्वराज एवं स्वदेशी को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया।

जोगेंद्रचंद्रः इन्होंने मार्च 1904 में कोष एकत्रित करने हेतु एक संगठन की स्थापना की। इस संगठन का उद्देश्य भारतीय छात्रों को तकनीकी एवं औद्योगिक प्रशिक्षण हेतु विदेश भेजना था।

मनीन्द्र नंदीः ये कासिमबाजार के जमींदार थे। इन्होंने स्वदेशी को बढ़ावा देने हेतु अनेक उद्योगों की स्थापना की।

कालीशंकर शुक्लः इन्होंने स्वदेशी आंदोलन के समर्थन में अनेक पैम्फलेट प्रकाशित किये तथा नये औद्योगिक वर्ग से आग्रह किया कि वे भारतीय हितों के पक्षपोषण हेतु विशिष्ट प्रकार के व्यवसायों का विकास करें।

सुंदरलालः ये उत्तर प्रदेश के एक छात्र नेता थे। कालांतर में इनका रुझान उग्रवाद की ओर हो गया।

कुंवरजी मेहता एवं कल्याणी मेहताः इन्होंने *पाटीदार युवक मंडल* के माध्यम से संगठनात्मक कार्य प्रारंभ किये।

लाला हरकिशन लालः इन्होंने ब्रह्म समाज पर आधारित संगठन के माध्यम से पंजाब में स्वदेशी आंदोलन को लोकप्रिय बनाया। इस संगठन ने *ट्रिब्यून* नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। इन्होंने 'पंजाब नेशनल बैंक' की स्थापना भी की।

मुहम्मद शफी एवं फजल-ए-हसनः ये दोनों पंजाब के मुस्लिम नेता थे, जो रचनात्मक स्वदेशी कार्यक्रम से सम्बद्ध थे।

बी. कृष्णास्वामी अय्यरः ये मद्रास प्रेसीडेंसी के 'मायलापोर' ग्रुप के प्रमुख थे।

जी. सुब्रहमण्यम अय्यर, टी. प्रकाशम एवं एम. कृष्णारावः ये सभी दक्षिण भारत के प्रमुख नेताओं में से थे। किंतु **वी.के जैय्यर** से इनके तीव्र मतभेद थे। टी. प्रकाशम एवं कृष्णराव ने मिलकर 1904 में मसूलीपट्टनम में *किस्तना पत्रिका* का प्रकाशन प्रारंभ किया।

सुब्रह्मण्यम भारतीः ये एक प्रख्यात कवि और तमिल क्रांतिकारी समूह के सदस्य थे। तमिल क्षेत्रों में राष्ट्रवादी भावनाओं के उत्थान एवं प्रसार में इन्होंने प्रशंसनीय भूमिका निभायी।

प्रभात कुसुम रायचौधरी, अपूर्व कुमार घोषः ये दोनों पेशे से वकील थे तथा इन्होंने मजदूरों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

प्रीमतोष बोसः एक अन्य प्रमुख मजदूर नेता थे।

हेमचंद्र कानूनगोः इनकी गणना देश के प्रथम क्रांतिकारी नेताओं में होती है। क्रांतिकारी गतिविधियों के प्रशिक्षण हेतु ये पेरिस गये। इन्होंने पेरिस से लौटने के पश्चात्, कलकत्ता में एक बम कारखाना एवं धार्मिक स्कूल की स्थापना की।

प्रफुल्ल चाकी एवं खुदीराम बोसः ये दोनों क्रांतिकारी राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने 30 अप्रैल को कैनेडी की गाड़ी पर बम फेंका।

पुलिन दासः इन्होंने दक्कन अनुशीलन की स्थापना की। ये बारा डकैती कांड से भी सम्बद्ध थे।

मदन मोहन मालवीय एवं मोतीलाल नेहरूः ये प्रांतीय स्वायत्तता एवं गैर-राजनीतिक स्वदेशी आंदोलन के पक्षधर थे।

शचीन्द्रनाथ सान्यालः ये बनारस के क्रांतिकारी थे, जिन पर *एम. समाध्यक्ष* के विचारों का गहरा प्रभाव था। एम. समाध्यक्ष *संध्या* के सम्पादक थे।

सावरकर बंधुः इन्होंने महाराष्ट्र के कपड़ा मिल मालिकों से धोतियों को अत्यंत कम दाम में बेचने का आग्रह किया।

असहयोग आंदोलन

महात्मा गांधीः मार्च 1920 में, इन्होंने अपना घोषणा-पत्र जारी किया, जिसमें उन्होंने अहिंसक असहयोग आंदोलन प्रारंभ करने की घोषणा की। गांधीजी असहयोग आंदोलन के सबसे प्रमुख नेता थे। इन्होंने लोगों से स्वदेशी सिद्धांत तथा प्रवृत्तियों को अपनाने का आग्रह किया, जिसमें-चरखे का प्रयोग, सूत कातना तथा छुआछूत को दूर करने जैसी बातें सम्मिलित थीं। वर्ष 1921 में इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया तथा लाखों लोगों को संबोधित किया। फरवरी 1922 में उत्तर प्रदेश के चौरी-चौरा नामक स्थान पर हिंसा की घटनाओं के मद्देनजर, इन्होंने अपना आंदोलन वापस ले लिया।

सी.आर. दासः कांग्रेस के 1920 के नागपुर अधिवेशन में, इन्होंने असहयोग आंदोलन के प्रस्ताव के पक्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा कालांतर में, आंदोलन प्रारंभ होने पर अपना सक्रिय योगदान दिया। ये एक प्रख्यात वकील थे किंतु आंदोलन के पक्ष में इन्होंने अपनी वकालत का परित्याग कर दिया। इनके तीन प्रमुख सहयोगी थे—मिदनापुर में **वीरेंद्रनाथ सैमसल,** चटगांव में **जे.एम. सेनगुप्ता** और कलकत्ता में **सुभाषचंद्र बोस।** अपने इन सहयोगियों के साथ मिलकर सी.आर. दास ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना के लिये महत्वपूर्ण प्रयास किये।

जवाहरलाल नेहरूः इन्होंने असहयोग आंदोलन के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और किसान सभा के गठन एवं क्रियाकलापों में सहयोग प्रदान किया। गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन को वापस लिये जाने के निर्णय का इन्होंने तीव्र विरोध किया।

जे.एम. सेनगुप्ताः ये बंगाली राष्ट्रवादी नेता थे, जिन्होंने असम के चाय बागानों के मजदूरों की हड़ताल एवं उनकी मांगों को पूर्ण समर्थन प्रदान किया।

बसंती देवीः ये सी.आर. दास की पत्नी थीं। 1921 में गिरफ्तार होने वाले स्वयंसेवकों में ये पहली महिला स्वयंसेवक थीं।

वीरेंद्रनाथ सैमसलः इन्होंने मिदनापुर के कोन्ताई और तामलुक सब-डिवीजनों में यूनियन बोर्ड विरोधी प्रदर्शनों को संगठित किया। नवंबर-दिसंबर 1921 में इन्होंने मिदनापुर में कर-ना-अदायगी अभियान चलाया।

जितेंद्रनाथ बनर्जीः इन्होंने बोगरा, पाबना एवं वीरभूमि में 1921 में चलाये गये बंदोबस्त अभियान के विरुद्ध किसानों को संगठित किया।

सुभाष चंद्र बोसः इन्होंने असहयोग आंदोलन को पूर्ण सहयोग प्रदान किया तथा उसके समर्थन में सिविल सेवा से त्यागपत्र दे दिया। इन्हें कलकत्ता के नेशनल कालेज में प्राचार्य नियुक्त किया गया।

अलीबंधु (शौकत अली और मुहम्मद अली): खिलाफत आंदोलन के इन दोनों नेताओं ने गांधीजी को उनके भारत भ्रमण में सहयोग पहुंचाया तथा आंदोलन को पूर्ण समर्थन प्रदान किया। आंदोलन के प्रसार में भी इन दोनों नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन में मुहम्मद अली ने घोषणा की कि ''किसी भी मुसलमान का ब्रिटिश सेना में रहना धर्म-विरुद्ध है।'' बाद में इन दोनों को हिरासत में लेकर जेल भेज दिया गया।

मोतीलाल नेहरूः गांधीजी द्वारा असहयोग के आग्रह के कारण, इन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी। 1921 में इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध वकील, जिन्होंने आंदोलन के समर्थन में अपनी वकालत छोड़ दी, उनमें **एम. आर. जयकर, सैफुद्दीन किचलू, वल्लभभाई पटेल, सी.राजगोपालाचारी, टी. प्रकाशम** एवं **आसफ अली** इत्यादि प्रमुख नाम हैं। इन प्रसिद्ध वकीलों के अपने पेशे से त्यागपत्र

देने के कारण, तत्कालीन अन्य भारतीय जो सरकारी सेवाओं एवं सरकारी संस्थाओं से संबंध विच्छेद कर आंदोलन की मुख्य धारा से जुड़ रहे थे, उनमें राष्ट्रवादी भावनाओं का अभूतपूर्व संचार हुआ।

लाला लाजपत रायः प्रारंभ में लाला लाजपत राय असहयोग की नीति से सहमत नहीं थे तथा शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार की नीति का विरोध कर रहे थे, किंतु बाद में वे आंदोलन का समर्थन करने लगे। यहां तक कि उन्होंने 1922 में आंदोलन वापस लिये जाने के निर्णय का तीव्र विरोध भी किया।

राजेंद्र प्रसादः इन्होंने बिहार में असहयोग आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सरदार वल्लभभाई पटेलः इन्होंने गुजरात में असहयोग आंदोलन के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इनका मत था कि असहयोग की नीति, क्रांतिकारी आतंकवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त नीति है तथा इसी के माध्यम से साम्राज्यवादी शासन को समाप्त किया जा सकता है।

मोतीलाल तेजावतः इन्होंने असहयोग की गतिविधियों को सक्रिय करने हेतु भीलों को संगठित किया तथा भील आंदोलन को अपना समर्थन दिया।

अलूरी सीताराम राजूः इन्होंने आंध्र में जनजातियों को संगठित किया तथा उनकी मांगों को असहयोग आंदोलन से जोड़कर, जनजातीय क्षेत्रों में असहयोग की भावना के प्रचार में महत्वपूर्ण कार्य किया।

हसरत मोहानीः ये खिलाफत के नेता थे। इन्होंने अली बंधुओं की गिरफ्तारी की निंदा की तथा भारत को पूर्ण आजादी दिये जाने की मांग की।

पुरषोत्तम दास ठाकुरदास, जमनादास द्वारकादास, कोवासजी जहांगीर फ्रोजे सेथना एवं **सीतलवादः** ये सभी औद्योगिक एवं व्यापारिक वर्ग से सम्बद्ध थे। इन्होंने 1920 में, असहयोग विरोधी एसोसिएशन की स्थापना की।

कुन्हम्मद हाजी, कालाथिंगल माम्मद, अली मुसलियार, सीथी कोया थंगल एवं **इम्बेची कोया थंगलः** इन सभी ने विभिन्न स्थानों में स्थापित खिलाफत गणराज्यों के अध्यक्षों की भूमिका निभायी।

के. माधवन नायर, यू.गोपाला मेनन, याकूब हसन एवं **पी. मोइद्दीन कोयाः** ये सभी खिलाफत के नेता थे, जिन्होंने असहयोग आंदोलन को अपना महत्वपूर्ण समर्थन प्रदान किया। फरवरी 1921 में इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

मुहम्मद उस्मानः ये एक अन्य खिलाफत प्रदर्शनकारी थे, जिन्होंने कलकत्ता में अनेक स्वयंसेवी संगठनों एवं ट्रेड यूनियनों को संगठित किया।

स्वामी विश्वानंदः इन्हें **रामजस अग्रवाल** नामक एक मारवाड़ी खदान कार्यकर्ता का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। स्वामी विश्वानंद ने **स्वामी दर्शनानंद** के साथ मिलकर असहयोग आंदोलन के समर्थन में, रानीगंज एवं झरिया की अनेक कोयला एवं खनिजों की खानों में मजदूरों को संगठित किया।

किशन सिंह एवं मोटा सिंहः इन्होंने जालंधर एवं होशियारपुर में 1921 में बढबर अकाली दल का गठन किया तथा कर-ना अदायगी आंदोलन चलाया। असहयोग आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में इन दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

जयरामदास दौलतरामः ये महात्मा गांधी के निकट सहयोगी थे तथा इन्होंने असहयोग आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

स्वामी गोविंदानंदः ये गांधीजी के कट्टर समर्थक थे। राजद्रोह के आरोप में मई 1921 में इन्हें पांच वर्ष के कारावास की सजा सुनायी गयी। बाद में, ये कांग्रेस के विरोधी हो गये।

एस.ए. डांगे, आर.एस. निम्बकर, बी.डी. सथाये, आर.वी. नादकर्णी, एस. वी. देशपांडे एवं **के.एन. जोगलेकरः** ये सभी सिद्धांतवादी छात्र समूहों से सम्बद्ध थे तथा आंदोलन को प्रोत्साहित करने में इन्होंने सक्रिय योगदान दिया। किंतु ये गांधीवादी विचारों की तर्ज पर अपने कार्यक्रमों को चलाने के समर्थक नहीं थे। ये सभी **आर.बी. लोटवाला** नामक एक समाजवादी करोड़पति व्यवसायी से अत्यधिक प्रेरित थे। एस.ऐ. डांगे ने 1921 में, *गांधी वर्सेस लेनिन* नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में डांगे ने कारखानों के राष्ट्रीयकरण, जमींदारी भूमि को काश्तकारों के मध्य वितरित करने तथा स्वराज्य की स्थापना की वकालत की।

थीरु विकाः इन्होंने मजदूर आंदोलनों को प्रोत्साहित किया तथा बकिंघम एवं कर्नाटक कपड़ा मिलों में जुलाई से अक्टूबर 1921 तक चलने वाली हड़ताल को सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

सिंगारवेलु चेट्टियारः ये मद्रास के एक प्रसिद्ध वकील तथा मजदूर संगठनकर्ता थे। इन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान मजदूरों के उदय में प्रशंसनीय भूमिका निभायी। ये दक्षिण भारत के प्रथम साम्यवादी थे। ये अहिंसक असहयोग की नीति को 'पूंजीवादी एकाधिकार' के विरुद्ध प्रयोग किये जाने के समर्थक थे।

कोंडा वेंकटापाया, ए. कालेश्वर राव, टी. प्रकाशम एवं पट्टाभि सीतारमैय्याः इन सभी ने आंध्र डेल्टा क्षेत्र में असहयोग आंदोलन का नेतृत्व किया।

दुग्गीराला गोपाल कृष्णैय्याः इन्होंने गुंटूर जिले के चिराला-पराला नामक छोटे से शहर के निवासियों को, सरकार द्वारा शहर में नगरपालिका के निर्माण के प्रस्ताव तथा स्थानीय करों में वृद्धि करने के विरुद्ध प्रदर्शन करने हेतु संगठित किया।

एन.सी. बारदोलोईः ये असम के कांग्रेसी नेता थे, जिन्होंने असहयोग आंदोलन का समर्थन किया। किंतु ये बागानों में हड़ताल किये जाने के विरोधी थे, क्योंकि ये स्वयं एक बागान मालिक थे।

अंबिका गिरी रायचौधरीः 'ये असम केसरी' के नाम से विख्यात थीं। असमिया लोगों पर इनके व्यक्तित्व की गहरी छाप थी। इन्होंने असमवासियों में राष्ट्रप्रेम की भावनायें जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

मुजफ्फर अहमदः इन्होंने कलकत्ता में प्रारंभिक साम्यवादी संगठन की स्थापना की। **एम.एन. राय** एवं **नलिनी गुप्ता** के विचारों का इन पर गहरा प्रभाव था।

सोमेश्वर प्रसाद चौधरीः ये कलकत्ता के एक छात्र नेता थे, जिन्होंने राजशस्की-नादिया तथा पाबना-मुर्शिदाबाद सीमा क्षेत्र में, नील की बलपूर्वक खेती कराये जाने का विरोध कर रहे किसानों को संगठित किया।

पुरूषोतमदास टंडन, गणेश शंकर विद्यार्थी, गोविंद वल्लभ पंत एवं लाल बहादुर शास्त्रीः इन सभी ने अपना राजनीतिक जीवन 1920-21 के समय प्रारंभ किया। यह वह समय था, जब असहयोग आंदोलन पूरे जोर-शोर से चल रहा था।

प्रेमचंदः प्रख्यात उपन्यासकार, फरवरी 1921 में इन्होंने गोरखपुर सरकारी स्कूल से त्यागपत्र दे दिया तथा *आज* नामक पत्र के प्रकाशन से जुड़ गये। इनके उपन्यासों *प्रेमाश्रम* एवं *रंगभूमि* में गांधीवादी सिद्धांतों तथा मूल्यों की झलक दिखाई देती है। प्रेमचंद ने असहयोग को स्वतंत्रता हासिल करने का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम बताया।

बाबा रामचंद्रः इन्होंने दक्षिण अवध तथा दक्षिण-पूर्वी अवध में विभिन्न किसान विद्रोहों को संगठित किया, तथा इन किसान विद्रोहों को असहयोग आंदोलन से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। फरवरी 1921 में इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

ए.शाह नईमः इन्होंने स्वयं को 'सालोन का राजा' घोषित किया तथा कर न अदा करने का आंदोलन चलाया।

एम.एन. रायः ये एक साम्यवादी नेता थे। इन्होंने *'वैगार्ड'* नामक साम्यवादी पत्र का सम्पादन भी किया। इन्होंने सत्र न्यायालय द्वारा चौरी-चौरा घटना से सम्बद्ध 225 लोगों में से 172 लोगों को फांसी की सजा सुनाये जाने के फैसले को दुर्भाग्यपूर्ण कहा तथा इसकी भर्त्सना की। (बाद में न्यायालय ने अपना फैसला बदलकर 19 को मृत्युदंड दिया तथा शेष को देश से निर्वासित कर दिया)।

भगवान अहीरः ये गोरखपुर के एक सैन्य पेंशनभोगी नागरिक थे, जिन्हें पुलिस द्वारा बुरी तरह पीटा गया। इस घटना से गोरखपुर में साम्राज्यवाद विरोधी भावनायें भड़क उठीं तथा इसकी परिणति द्वारा किसानों द्वारा चौरी-चौरा में 22 पुलिस कर्मियों की हत्या के रूप में हुई।

सविनय अवज्ञा आंदोलन

महात्मा गांधीः 6 अप्रैल 1930, को महात्मा गांधी ने मुट्ठीभर नमक बनाकर नमक कानून तोड़ा तथा औपचारिक रूप से सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत की। इससे पहले वे 5 अप्रैल को साबरमती आश्रम से डांडी पहुंचे तथा अपनी ऐतिहासिक यात्रा पूरी की। डांडी पहुंचकर गांधी जी ने नमक का निर्माण कर, सरकार द्वारा आरोपित किये गये नमक कानून की अवज्ञा की। महात्मा गांधी, इस आंदोलन के सबसे मुख्य पात्र थे तथा उनके कार्यों एवं विचारों ने लाखों देशवासियों को प्रभावित किया।

उनका मुख्य जोर इस बात पर था कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में सभी भारतीय, मुख्यतया सबसे निचले तबके के लोग सक्रियता से भागीदारी निभाएं।

सी. राजगोपालाचारीः इन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन के समर्थन में त्रिचनापल्ली से वेदारण्यम तक नमक सत्याग्रहियों की यात्रा का नेतृत्व किया। 30 अप्रैल, 1930 को ये पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये।

के. केलप्पनः ये नायर कांग्रेसी नेता थे। इन्होंने वाइकोम सत्याग्रह प्रारंभ किया तथा सरकारी नमक कानून के विरोध में कालीकट से पयान्नूर तक की यात्रा की।

जवाहरलाल नेहरूः ये सविनय अवज्ञा आंदोलन से सक्रियता से जुड़े हुए थे। सरकारी नमक कानून की अवज्ञा के आरोप में, 17 अप्रैल 1930 को इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इन्होंने एक आधारभूत कृषि कार्यक्रम बनाया तथा संविधान सभा के गठन की मांग की।

पी. कृष्णा पिल्लईः इन्होंने राष्ट्रीय ध्वज को पूरे देश में फहराये जाने की अपील की तथा 17 अप्रैल 1930 को कालीकट के तट पर पुलिस द्वारा किये गये लाठी चार्ज की भर्त्सना की। बाद में उन्होंने केरल कम्युनिस्ट आंदोलन को संगठित किया।

खान अब्दुल गफ्फार खानः इन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में स्वयंसेवियों का एक संगठन बनाया, जिसे 'खुदाई खिदमतगार' (लाल कुर्ती) के नाम से जाना जाता है। बादशाह खान एवं उनके संगठन खुदाई खिदमतगार ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सरोजिनी नायडूः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष बनने वाली प्रथम भारतीय महिला। इन्होंने धरसाणा नामक स्थान में नमक सत्याग्रहियों के जुलूस का नेतृत्व किया तथा सरकारी नमक कारखाने के सम्मुख तीव्र प्रदर्शन किया। धरसाणा में नमक आंदोलनकारियों में, गांधीजी के पुत्र **मणिलाल** तथा गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका में निकट सहयोगी रहे **इमाम साहब** का नाम का भी उल्लेखनीय है।

सूर्यसेनः इनके चटगांव विद्रोह ग्रुप ने दो सरकारी शस्त्रागारों पर आक्रमण किया तथा प्रांतीय सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी। इन्होंने भारतीय गणराज्य की सेना के नाम से एक घोषणा जारी की तथा भारतीयों से ब्रिटिश शासन की नीतियों के विरुद्ध विद्रोह करने की अपील की।

अब्बास तैय्यबजीः बंबई के एक मुस्लिम राष्ट्रवादी नेता, जिन्होंने गांधीजी की गिरफ्तारी के उपरांत उनका स्थान ले लिया। लेकिन बाद में सरकार ने इन्हें भी गिरफ्तार कर लिया।

अम्बालाल साराभाई एवं कस्तूरभाई लालभाईः इन्होंने, कांग्रेस तथा बाम्बे मिल मालिकों एवं उद्योगपतियों के मध्य गतिरोध को दूर करने के मोतीलाल नेहरू द्वारा किये जा रहे प्रयासों का पूर्ण समर्थन किया।

प्रसिद्ध उद्योगपतियों यथा-**जी.डी. बिड़ला** (जिन्होंने 1 से 5 लाख तक दान में दिये), **जमनालाल बजाज** (जिन्होंने कई वर्षों तक कांग्रेस के कोषाध्यक्ष का दायित्व संभाला, बंबई में गांधीजी के मुख्य प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया), **होमी मोदी, बालचंद हीराचंद, लालजी नारंजी, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, एवं लाला श्रीराम** इत्यादि ने आंदोलन के प्रथम चरण में उसे प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया। मार्च 1931 में बाम्बे मिल ओनर्स एसोसिएशन के अध्यक्षीय भाषण में, होमी मोदी ने कहा कि यद्यपि स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है किंतु इसकी हड़तालों तथा प्रदर्शनों की रणनीति से भारतीय उद्योग एवं व्यवसाय जगत पर बुरा प्रभाव भी पड़ा है। नारंजी एवं ठाकुरदास, जिनकी 1921 के दौर में आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका रही थी, मांग की कि वित्त, मुद्रा, बजट नीति एवं रेलवे से संबंधित नीतियों में भारत का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। हालांकि सितम्बर 1930 के पश्चात आंदोलन को समर्थन प्रदान करने में उद्योगपतियों एवं व्यवसाइयों के रुख में उल्लेखनीय कमी आयी। इस समयावधि में अनेक बार उद्योगपतियों एवं कांग्रेस के मध्य तीव्र मतभेद दर्ज किये गये।

चंद्रप्रभा सैकियानीः इन्होंने असम के काहारी गांववासियों को सरकारी वन कानूनों के उल्लंघन हेतु प्रेरित किया।

सुभाषचंद्र बोस एवं जे.एम. सेनगुप्ताः इन्होंने बंगाल कांग्रेस के एक धड़े के रूप में प्रतिद्वंदी संगठन की स्थापना की तथा सविनय अवज्ञा के प्रसार में सराहनीय योगदान दिया। मई 1933 में गांधी जी द्वारा आंदोलन स्थगित किये जाने के निर्णय की सुभाषचंद्र बोस ने कड़ी आलोचना की। **विट्ठल भाई पटेल** ने भी सुभाष चंद्र बोस के विचारों को पूर्ण समर्थन दिया।

बोंगा मांझी एवं सोमरा मांझीः इन्होंने बिहार के हजारीबाग क्षेत्र में आंदोलन के प्रसार तथा उसे लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

कालका प्रसादः ये रायबरेली के एक स्थानीय नेता थे, जिन्होंने कर-ना अदायगी आंदोलन को प्रोत्साहित किया।

संती एवं सुनील चौधरीः इन्होंने तिप्पेरा के जिलाधिकारी स्टीवन की हत्या कर दी। इस घटना का राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह घटना तत्कालीन क्रांतिकारी आंदोलन में महिलाओं के प्रवेश की परिचालक थी।

सेठ अचल सिंहः ये एक राष्ट्रवादी जमींदार थे। इन्होंने आगरा में ग्राम सेवा संघ का वित्तपोषण किया तथा क्षेत्रीय साम्प्रदायिक दंगों को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ये अहिंसा की नीति के कट्टर समर्थक थे।

शेख अब्दुल्लाः ये एक मुस्लिम स्नातक थे, जिन्होंने बाद में उपनिवेश के विरुद्ध संघर्ष का रास्ता अपना लिया। 31 जुलाई 1931 को शेख अब्दुल्ला ने श्रीनगर

जेल पर आक्रमण किया, जहां पुलिस फायरिंग में 21 बंदी मारे गये थे। इनका **पी.एन. बजाज** के नेतृत्व वाले 'जम्मू-हिन्दू मेहमान विरोधी संगठन' से भी गहन सम्पर्क था।

मोहम्मद यासीन खानः ये पंजाब के एक मुस्लिम नेता थे। इन्होंने महाराजा जयसिंह सवाई द्वारा लगान में वृद्धि, बेगार तथा जंगलों में शिकार पर प्रतिबंध लगाने के आदेश के विरुद्ध मियांओं (इस्लाम से प्रभावित अर्द्ध-जनजातीय कृषक समुदाय) के विद्रोह को संगठित किया।

के.एम. अशरफः ये सविनय अवज्ञा आंदोलन से जुड़ने वाले भारत के प्रथम मार्क्सवादी इतिहासकार थे।

प. मदन मोहन मालवीयः ये 1920 के दशक में गांधीवादी विचारों के मुख्य प्रवर्तक बने, किंतु गांधी जी द्वारा हरिजन आंदोलन प्रारंभ करने के कारण ये कांग्रेस से अलग हो गये तथा इन्होंने पृथक कांग्रेस राष्ट्रवादी दल का गठन कर लिया।

सत्यमूर्ति, भूलाभाई देसाई, एम.ए. अंसारी एवं **बी.सी. रायः** इन सभी ने अपने-अपने क्षेत्रों में सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रसार तथा उसे लोकप्रिय बनाने में सराहनीय योगदान दिया।

जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहराली, अशोक मेहता एवं **मीनू मसानीः** इन सभी का मानना था कि कांग्रेस को वामपंथियों से गठजोड़ कर राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाना चाहिए।

सम्पूर्णानंदः इन्होंने भारत के लिये एक विस्तृत समाजवादी कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की तथा 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल प्रारंभ किया। **नरेंद्रदेव** ने सम्पूर्णानंद के कांग्रेस समाजवादी दल को सहयोग एवं समर्थन प्रदान किया।

के.एफ. नरीमन एवं युसुफ मेहर अलीः इन्होंने कांग्रेस की युवा शाखा का नेतृत्व किया। कालांतर में इनका उदय भारत के प्रमुख समाजवादी नेताओं के रूप में हुआ।

स्वामी गोविंदानंदः इन्होंने कराची एवं सिंध में सविनय अवज्ञा आंदोलन का नेतृत्व किया।

एन.वी. गाडगिलः इन्होंने अपने समाजवादी विचारों को प्रसारित करते हुए 1929 में मंदिर प्रवेश आंदोलन को समर्थन प्रदान किया। बाद में इन्होंने गैर-ब्राह्मण सत्यशोधक समाज (पूना के केशवराव जेधे के नेतृत्व मे) से मैत्रीपूर्ण समझौता कर लिया।

बी. आर. अम्बेडकरः ये महार जाति के दलित नेता थे, जिन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी तथा समाज से इस कुरीति को समाप्त करने की मांग की। 1930 में इन्होंने गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। कांग्रेस, अम्बेडकर के नेतृत्व

में चल रहे राजनीतिक आंदोलन को अपने पक्ष में करने में असफल रही तथा अंततः उसे अम्बेडकर से समझौता करना पड़ा।

गोपाबंधु चौधरीः उड़ीसा में आंदोलन को लोकप्रिय बनाया तथा पुरी, बालासोर एवं कटक में नमक सत्याग्रहियों का नेतृत्व किया।

तरुणाराम फुक्कन एवं एन.सी. बारदोलोईः ये दोनों प्रसिद्ध कांग्रेस नेता थे, जिन्होंने असम में आंदोलन के पक्ष में कार्य किया। किंतु उन्होंने अधिकारिक तौर पर वन सत्याग्रह प्रारंभ करने से इंकार कर दिया।

जदुनंदन शर्माः ये बिहार के गया जिले में किसान सभा आंदोलन प्रारम्भ करने वाले नेताओं में प्रमुख नेता थे।

दुग्गीराला बालाराम कृष्णैय्याः इन्होंने 1931 में आंध्र के तटीय क्षेत्रों में विशेषकर कृष्णा जिले में लगान-विरोधी आंदोलन प्रारंभ किया। इन्होंने तेलुगू भाषा में *गांधी गीता* नामक पुस्तक लिखी, जिसने इस क्षेत्र के लोगों में राष्ट्रवादी भावनायें जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

एन.वी.रामानायडू एवं एन.सी. रंगाः इन्होंने वर्ष 1931 में वैंकटागिरी राज्य (नैल्लोर) में वन सत्याग्रह आंदोलन चलाया।

ए.के. गोपालनः ये एक स्कूल शिक्षक थे, जिनकी गणना केरल के गुरूवायुर में लोकप्रिय कार्यकर्ताओं में की जाती थी। कालांतर में ये केरल के सबसे प्रमुख एवं लोकप्रिय साम्यवादी कृषक नेता बने।

मन्नू गोंड एवं चित्तू कोइकूः इन दोनों ने मध्य प्रांत के बैतूल नामक स्थान में वन सत्याग्रह प्रारंभ किया।

मौलाना भसानीः सिराजगंज में विशाल *प्रजा सम्मेलन* आयोजित किया तथा जमींदारी उन्मूलन एवं ऋणों में छूट की मांग की।

बी.टी. रणदवे एवं एस.वी. देशपाण्डे बंबई के तथा **अब्दुल हलीम, सोमनाथ लाहिरी एवं रानेन सेन** कलकत्ता के प्रमुख साम्यवादी क्रांतिकारी थे। इन सभी ने कई मजदूर हड़तालों को संगठित किया। **बी.बी. कार्निक, मणिबेन कारा, रजनी मुखर्जी** एवं **निहरेन्दु दत्त** अन्य प्रमुख नेता थे, जिन्होंने विभिन्न औद्योगिक संघ गतिविधियां प्रारंभ थीं।

एम.एन. रायः इन्होंने एवं इनके अनुयायियों ने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया तथा अवध में कर अदायगी के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ किया।

भारत छोड़ो आंदोलन

महात्मा गांधीः इन्होंने 1942 में साम्राज्यवादी सत्ता का समूल उखाड़ फेंकने हेतु यह आंदोलन प्रारंभ किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अगस्त प्रस्ताव तथा क्रिप्स मिशन

के द्वारा जो आश्वासन दिये थे, उनसे भारत का कोई भी वर्ग संतुष्ट नहीं था। तत्पश्चात् उपनिवेशी शासन की वास्तविक मंशा को भांपकर गांधी जी ने यह ऐतिहासिक आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने बंबई के गवालिया टैंक मैदान से अपने ऐतिहासिक उद्‌बोधन में भारत के निवासियों से उपनिवेशी शासन को उखाड़ फेंकने का आह्वान किया। यहीं उन्होंने ''करो या मरो'' का ऐतिहासिक नारा दिया। 9 अगस्त 1942 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार द्वारा आंदोलन के कार्यकर्ताओं के विरुद्ध दमनकारी नीतियों का सहारा लिये जाने के विरोध में फरवरी 1943 में उन्होंने 21 दिन का उपवास रखा।

जय प्रकाश नारायणः ये कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य थे तथा इन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन में अग्रणी भूमिका निभाई।

राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, छोटूभाई पुराणिक, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका एवं अच्युत पटवर्धनः ये सभी आंदोलन की भूमिगत गतिविधियों में संलग्न राष्ट्रवादी नेता थे। इनकी क्रांतिकारी गतिविधियों ने आंदोलन में एक नया आयाम जोड़ा तथा ब्रिटिश शासन की नींव को हिलाकर रख दिया।

चित्तू पांडेः ये स्वयं को गांधीवादी कहते थे। इन्होंने अगस्त 1942 में संयुक्त प्रांत के बलिया नामक स्थान में सभी पुलिस थानों एवं सरकारी भवनों पर कब्जा कर लिया तथा समानांतर सरकार की स्थापना की।

उषा मेहताः इन्होंने आंदोलन में सक्रियता से हिस्सेदारी निभायी। उषा मेहता उस दल की एक प्रमुख सदस्या थीं, जिसने आंदोलन के दौरान गुप्त रेडियो ट्रांसमीटर केंद्र की स्थापना की थी।

जवाहर लाल नेहरूः यद्यपि प्रारंभ में नेहरू ने गांधीवादी कार्यक्रम का विरोध कर रहे उदारवादियों का समर्थन किया, किंतु बाद में ये गांधीजी के कार्यक्रम का समर्थन करने लगे तथा 8 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो प्रस्ताव पास करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सुमति मोरारजीः इन्होंने ***अच्युत पटवर्धन*** को उनकी भूमिगत गतिविधियों के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कालांतर में, इनकी गणना भारत की प्रसिद्ध महिला उद्योगपतियों में की जाने लगी।

रास बिहारी बोसः ये एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता थे, जिन्हें जून 1942 में इंडियन इंडिपेंडेंस लीग (मार्च 1942 में स्थापित) का अध्यक्ष चुना गया। इन्होंने कई वर्षों तक जापान में निर्वासित जीवन बिताया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटिश सेनाओं की पराजय के पश्चात इन्होंने भारतीय युद्धबंदी सैनिकों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने हेतु प्रेरित किया।

कैप्टन मोहन सिंहः ये एक भारतीय सैनिक थे, जो द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन की ओर से युद्ध कर रहे थे। किंतु जापानी सेनाओं ने इन्हें बंदी बना लिया तथा जापानी सेना के अधिकारियों ने इन्हें भारत की आजादी के लिये जापानी सेना के साथ मिलकर कार्य करने का आदेश दिया। इन्हें आई.एन.ए. (इंडियन नेशनल आर्मी) का कमांडर नियुक्त किया गया।

सुभाष चंद्र बोसः इन्होंने 1943 में इंडियन नेशनल आर्मी की सदस्यता ग्रहण की। *"तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा"* नामक यह नारा सुभाषचंद्र बोस का एक बहुत महत्वपूर्ण नारा था, जिसने बाद के वर्षों में भारतीयों में राष्ट्रप्रेम की भावना का प्रसार किया। इनके नेतृत्व में आई.एन.ए. ने भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा ब्रिटिश सत्ता को कड़ी चुनौती दी।

सी. राजगोपालाचारी एवं भूलाभाई देसाईः ये दोनों कट्टर उदारवादी थे, जिन्होंने मुस्लिम बहुल प्रांतों को मान्यता दिये जाने की वकालत की थी। इनका तर्क था कि यदि भारत की आजादी के लिये ऐसा करना अपरिहार्य हो तो इसे मान लिया जाना चाहिए। जुलाई 1942 में इन दोनों नेताओं ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया।

के.जी. मशरुवालाः इन्होंने महादेव देसाई की गिरफ्तारी के पश्चात *हरिजन* नामक पत्र में दो उत्तेजनात्मक लेख लिखे। इनका उद्देश्य भारतीयों में राष्ट्रप्रेम की भावनाओं को जागृत करना था।

के.टी. भाश्यमः ये बंगलौर के एक कांग्रेसी नेता थे, जिन्होंने कई औद्योगिक संघों के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा कई हड़तालों का आयोजन करने में सहायता की।

सतीश सामंतः ये स्थानीय कांग्रेसी नेता तथा तामलुक जातीय सरकार के प्रथम *सर्वाधिनायक* थे। मिदनापुर के तामलुक सब-डिवीजन में विद्रोही राष्ट्रीय सरकार के गठन में इनकी प्रमुख भूमिका थी।

मातंगिनी हाजराः ये तामलुक की 73 वर्षीय वृद्ध कृषक विधवा थीं। 29 सितम्बर 1929 को सुताहाटा पुलिस स्टेशन पर आक्रमण के समय हिंसा में इनकी मृत्यु हो गयी। मातंगिनी ने गोली लगने के पश्चात भी तिरंगे झंडे को अपने हाथ से नहीं छोड़ा।

लक्ष्मण नायकः ये अशिक्षित ग्रामीण थे, जिन्होंने कोरापुत के जनजातीय तबके को जैंपोर जमींदारी के विरुद्ध विद्रोह करने हेतु संगठित किया। इनके नेतृत्व में प्रदर्शनकारियों ने पुलिस थाने पर आक्रमण किया तथा तोड़-फोड़ की। एक वन रक्षक (Forest guard) की हत्या के आरोप में 16 नवंबर 1942 को लक्ष्मण नायक को फांसी पर चढ़ा दिया गया।

नाना पाटिलः इन्होंने सतारा में विद्रोहियों का नेतृत्व किया।

2. भारत के गवर्नर-जनरल तथा वायसरायः उनके शासनकाल की महत्वपूर्ण घटनायें

गवर्नर-जनरल

वारेन हेस्टिंग्स (1773-1785)

(i) 1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट
(ii) 1781 का अधिनियम; इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल तथा उसकी काउंसिल एवं कलकत्ता उच्च न्यायालय के मध्य शक्तियों का कार्यक्षेत्र स्पष्ट रूप से विभाजित कर दिया गया
(iii) 1784 का पिट्स इंडिया एक्ट
(iv) 1774 का रोहिल्ला युद्ध
(v) 1775-82 का प्रथम मराठा युद्ध तथा 1782 में सालबाई की संधि
(vi) 1780-84 का द्वितीय मैसूर युद्ध
(vii) बनारस के राजा चैत सिंह के साथ विवादास्पद संबंध; नंदकुमार को फांसी; अवध की बेगमों से ज्यादती; इनके कारण हेस्टिंग्स पर इंग्लैंड वापस लौटने पर महाभियोग चलाया गया।
(viii) 1784 में एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल की नींव
(ix) बंगाल के द्वैध शासन की समाप्ति
(x) कलकत्ता में सदर दीवानी और एक सदर निजामत अदालत की स्थापना
(xi) कलकत्ता को बंगाल की राजधानी घोषित किया

लॉर्ड कार्नवालिस (1786-1793)

(i) तृतीय मैसूर युद्ध (1790-92) तथा श्रीरंगापट्टम की संधि (1792)
(ii) कार्नवालिस कोड का निर्माण (1793); जिसमें अनेक न्यायिक सुधारों का उल्लेख था; सामान्य प्रशासन का राजस्व प्रशासन से पृथक्करण
(iii) बंगाल का स्थायी बंदोबस्त, 1793
(iv) प्रशासन का यूरोपीयकरण तथा सिविल सेवायें प्रारंभ कीं
(v) कंपनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार पर रोक
(vi) 1805 में गाजीपुर में मृत्यु

सर जान शोर (1793-1798)

(i) 1793 का चार्टर अधिनियम
(ii) निजाम एवं मराठों के बीच खर्दा की लड़ाई (1795)
(iii) अवध के उत्तराधिकार विवाद में हस्तक्षेप
(iv) इलाहाबाद का कंपनी के साम्राज्य में विलय

लॉर्ड वेलेजली (1798-1805)

(i) 'सहायक संधि' की नीति प्रारंभ की (1798); सबसे पहले यह संधि हैदराबाद के निजाम से
(ii) चतुर्थ मैसूर युद्ध (1799)
(iii) द्वितीय मराठा युद्ध (1803-05)
(iv) तंजौर (1799), सूरत (1800) एवं कर्नाटक (1801) का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया
(v) बसीन की संधि (1802)

सर जार्ज बार्लो (1805-1807)

(i) रियासतों में अहस्तक्षेप की नीति का समर्थक
(ii) वेल्लोर का सिपाही विद्रोह (1806)

लॉर्ड मिन्टो, प्रथम-(1807-1813)

रणजीत सिंह के साथ अमृतसर की संधि (1809)

लॉर्ड हेस्टिंग्स (1813-1823)

(i) अंग्रेज-नेपाल युद्ध (1814-16) तथा सागौली की संधि (1816)
(ii) तृतीय मराठा युद्ध (1817-19) तथा मराठा परिसंघ का कंपनी के साम्राज्य में विलय; बम्बई प्रेजीडेन्सी की स्थापना (1818)
(iii) पिण्डारियों का दमन (1817-18)
(iv) सिंधिया के साथ संधि (1817)
(v) मद्रास के गवर्नर टामस मुनरो द्वारा रैयतवारी बंदोबस्त लागू किया गया (1820)

लॉर्ड एम्हर्स्ट (1823-28)

(i) प्रथम बर्मा युद्ध (1824-26)
(ii) भरतपुर का अधिग्रहण (1826)

लॉर्ड विलियम बैंटिक (1828-35)

(i) सती प्रथा पर रोक (1829)
(ii) ठगी प्रथा का अंत (1830)
(iii) 1833 का चार्टर अधिनियम
(iv) 1835 का शिक्षा संबंधी प्रस्ताव; शिक्षा सुधार तथा अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने की घोषणा
(v) मैसूर (1831), दुर्ग (1834) एवं मध्य कछार (1834) का कम्पनी साम्राज्य में विलय
(vi) रणजीत सिंह के साथ 'निरंतर मित्रता' की संधि

(vii) लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा स्थापित प्रांतीय अपीलीय एवं भ्रमणकारी न्यायालयों की समाप्ति; राजस्व आयुक्तों की नियुक्ति

लॉर्ड मैटकाफ (1835-36)

1835 में प्रेस एक्ट पारित हुआ-जिसके द्वारा समाचार-पत्रों पर लगाई गई पाबंदियां हटा ली गयीं

लॉर्ड ऑकलैंड (1836-1842)

(i) प्रथम अफगान युद्ध (1838-42)
(ii) रणजीत सिंह की मृत्यु (1839)

लॉर्ड एलनबरो (1842-1844)

(i) सिन्ध का विलय (1843)
(ii) ग्वालियर के साथ युद्ध (1843)

लॉर्ड हार्डिंग, प्रथम (1844-1848)

(i) प्रथम-अंग्रेज सिख युद्ध (1846-46) एवं लाहौर की संधि (1846)
(ii) सामाजिक सुधार यथा-बालिका हत्या तथा नरबलि की प्रथा पर रोक

लॉर्ड डलहौजी (1848-1856)

(i) द्वितीय अंग्रेज-सिख युद्ध (1848-49) तथा पंजाब का कम्पनी साम्राज्य में विलय (1849)
(ii) निचले बर्मा या पेगू का अधिग्रहण (1852)
(iii) 'व्यपगत के सिद्धांत' का शुभारंभ-जिसके अंतर्गत सतारा (1848), जैतपुर एवं संभलपुर (1849), उदयपुर (1852), झांसी (1853), नागपुर (1854) तथा अवध (1856) का कंपनी साम्राज्य में विलय
(iv) वुड का शिक्षा संबंधी डिस्पैच (1854) तथा स्थानीय भाषा के स्कूलों तथा सरकारी कॉलेजों की स्थापना
(v) रेलवे माइनूट (स्मरण-पत्र) 1853; 1853 में बम्बई एवं थाणे के मध्य प्रथम रेल चली; दूसरी-1854 में कलकत्ता एवं रानीगंज के मध्य
(vi) टेलीग्राफ एवं डाक सुधार-40 हजार मील लंबी टेलीग्राफ लाइन द्वारा कलकत्ता, बंबई, मद्रास एवं पेशावर को आपस में जोड़ा गया तथा 2 पैसे के शुल्क पर राष्ट्रीय डाक सेवा प्रारम्भ की गयी
(vii) गंगा नहर को खोल दिया गया (1854)
(viii) प्रत्येक प्रांत में 'लोक निर्माण विभाग' की स्थापना
(ix) विधवा पुर्नविवाह अधिनियम (1856)
(x) पेशवा के पेंशन की समाप्ति (1853)

लॉर्ड कैनिंग (1856-57)

(i) 1857 में कलकत्ता, मद्रास एवं बम्बई में तीन नये विश्वविद्यालयों की स्थापना

(ii) 1857 का विद्रोह

वायसराय

लॉर्ड कैनिंग (1858-62)

(i) 1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा कम्पनी के शासन की समाप्ति तथा शासन का प्रत्यक्ष नियंत्रण ब्रिटिश ताज के हाथों में

(ii) यूरोपीय सेना द्वारा 'श्वेत विद्रोह' (1859)

(iii) नागरिक विधि संहिता (1859), भारतीय दंड संहिता (1860) तथा फौजदारी विधि संहिता (1861) का निर्माण

(iv) भारतीय शासन अधिनियम, (1861)

(v) पुलिस विभाग का गठन (1861)

लॉर्ड एल्गिन, प्रथम (1862-1863)

(i) वहाबी आंदोलन

(ii) पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में कबाइलियों के दमन के लिये चलाया गया 'अम्बेला अभियान'

लॉर्ड जॉन लारेंस (1864-1869)

(i) भूटान युद्ध (1865)

(ii) कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास में हाइकोर्ट की स्थापना

लॉर्ड मेयो (1869-1872)

(i) काठियावाड़ में राजकोट कालेज तथा भारतीय युवराजों को राजनीतिक प्रशिक्षण देने के लिये अजमेर में मेयो कालेज की स्थापना

(ii) भारतीय सांख्यिकी सर्वेक्षण की स्थापना

(iii) कृषि एवं वाणिज्य विभाग की स्थापना

(iv) केंद्र तथा प्रांतों के मध्य राजस्व के बंटवारे की नयी प्रणाली का शुभारम्भ (1871)

(v) 1871 में भारत की प्रथम जनगणना

(vi) राज्यों में रेलवे व्यवस्था का शुभारम्भ

लॉर्ड नार्थब्रुक (1872-1876)

(i) प्रिंस आफ वेल्स की भारत यात्रा (1875)
(ii) बड़ौदा के गायकवाड़ पर मुकद्दमा
(iii) पंजाब में कूगा आंदोलन

लॉर्ड लिटन (1876-1880)

(i) 1876-78 में भयंकर दुर्भिक्ष-जिससे मद्रास, बंबई, मैसूर, हैदराबाद, मध्य भारत के कई हिस्से तथा पंजाब बुरी तरह प्रभावित हुए; रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में अकाल आयोग की नियुक्ति (1878)
(ii) राजकीय उपाधि अधिनियम (1876); ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने 'कैसर-ए-हिंद' की उपाधि धारण की
(iii) वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (1878)
(iv) आर्म्स एक्ट (1878)
(v) द्वितीय अफगान युद्ध (1878-80)

लॉर्ड रिपन (1880-1884)

(i) अफगानिस्तान से संधि (1881)
(ii) मैसूर के शासक को गद्दी की वापसी (1881)
(iii) श्रमिकों की दशा में सुधार के लिए प्रथम कारखाना अधिनियम पारित (1881)
(iv) वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट की समाप्ति (1882)
(v) वित्तीय विकेंद्रीकरण की नीति का नियमितीकरण
(vi) स्थानीय स्वशासन संबंधी सरकारी प्रस्ताव (1882)
(vii) सर विलियम हन्टर की अध्यक्षता में शिक्षा आयोग की नियुक्ति (1882)
(viii) इल्बर्ट बिल विवाद (1883-84)

लॉर्ड डफरिन (1884-1888)

(i) तृतीय बर्मा युद्ध (1885-86)
(ii) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

लॉर्ड लैन्सडाउन (1888-1894)

(i) कारखाना अधिनियम (1891)
(ii) सिविल सेवाओं का इम्पीरियल, प्रांतीय एवं अधीनस्थ सेवाओं में वर्गीकरण
(iii) भारतीय परिषद अधिनियम (1892)
(iv) भारत एवं अफगानिस्तान के मध्य सीमा निर्धारण हेतु डूरण्ड आयोग की स्थापना (1893)

लॉर्ड एल्गिन, द्वितीय (1894-1899)

(i) चित्राल विद्रोह
(ii) पूना में प्लेग का प्रकोप, चापेकर बंधुओं द्वारा दो ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या

लॉर्ड कर्जन (1899-1905)

(i) पुलिस प्रशासन में सुधार के लिये एन्ड्रयू फ्रेजर की अध्यक्षता में पुलिस आयोग का गठन (1902)
(ii) विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना (1902) तथा भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित (1904)
(iii) उद्योग एवं वाणिज्य विभाग की स्थापना
(iv) कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट (1899)
(v) प्राचीन स्मारक संरक्षण अधिनियम (1904)
(vi) बंगाल का विभाजन (1905)
(vii) कृषि बैंक की स्थापना
(viii) पूसा में कृषि अनुसंधान केंद्र की स्थापना
(ix) रेलवे बोर्ड की स्थापना (1905)
(x) कर्जन-किचनर विवाद
(xi) तिब्बत में यंगहस्बैंड मिशन (1904)

लॉर्ड मिन्टो, द्वितीय (1905-1910)

(i) बंग-भंग विरोधी आंदोलन एवं स्वदेशी आंदोलन को दबाने का प्रयास
(ii) 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस का विभाजन
(iii) आगा खां द्वारा 'मुसिलम लीग' की स्थापना (1906)

लॉर्ड हार्डिंग द्वितीय (1910-1916)

(i) 1911 में बंगाल प्रेजीडेन्सी की स्थापना (बंबई एवं मद्रास प्रेजीडेंसियों की तरह)
(ii) भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली स्थानांतरित (1911)
(iii) मदन मोहन मालवीय द्वारा 'हिन्दू महासभा' की स्थापना (1915)
(iv) सम्राट जार्ज पंचम की भारत यात्रा के उपलक्ष्य में दिल्ली दरबार का आयोजन (1911)

लॉर्ड चेम्सफोर्ड (1916-1921)

(i) तिलक एवं एनी बेसेन्ट द्वारा पृथक-पृथक होमरूल लीग की स्थापना
(ii) कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन (1916)

(iii) कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य लखनऊ समझौता (1916)
(iv) गांधी जी की द.अफ्रीका से स्वदेश वापसी के उपरांत साबरमती आश्रम की स्थापना (1916); खेड़ा सत्याग्रह (1918) एवं अहमदाबाद में सत्याग्रह (1918)
(v) मांटेग्यू की घोषणायें (1917)
(vi) भारत सरकार अधिनियम (1919)
(vii) रोलेट एक्ट (1919)
(viii) जलियांवाला बाग हत्याकांड (1919)
(ix) असहयोग एवं खिलाफत आंदोलन प्रारंभ
(x) पूना में महिला विश्वविद्यालय की स्थापना (1916) तथा शिक्षा व्यवस्था में सुधार के लिये 'सैडलर कमीशन' की नियुक्ति (1917)
(xi) बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु (1 अगस्त, 1920)
(xii) एस.पी. सिन्हा की बिहार के गवर्नर के पद पर नियुक्त (गवर्नर बनाने वाले प्रथम भारतीय)

लॉर्ड रीडिंग (1921-1926)

(i) चौरी-चौरा की घटना (5 फरवरी, 1922) जिसके फलस्वरूप गांधीजी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया
(ii) केरल में मोपला विद्रोह (1921)
(iii) 1910 के प्रेस एक्ट एवं 1919 के रॉलेट एक्ट की वापसी
(iv) फौजदारी कानून संशोधन अधिनियम तथा कपास पर उत्पाद शुल्क की समाप्ति
(v) मुल्तान, अमृतसर, दिल्ली, अलीगढ़, एवं कलकत्ता में भीषण साम्प्रदायिक दंगे
(vi) काकोरी ट्रेन डकैती (1925)
(vii) स्वामी श्रद्धानंद की हत्या (1926)
(viii) सी.आर. दास तथा मोतीलाल नेहरू द्वारा 'स्वराज्य पार्टी' की स्थापना
(ix) 1923 से आई.सी.एस. की परीक्षा क्रमशः दिल्ली एवं लंदन में करोन का निर्णय
(x) अकाली आंदोलन एवं गुरुद्वारा एक्ट
(xi) दिल्ली एवं नागपुर में विश्वविद्यालयों की स्थापना

लॉर्ड इरविन (1926-1931)

(i) साइमन कमीशन की भारत यात्रा (1928) तथा भारतीयों द्वारा इसका तीव्र विरोध

(ii) भविष्य में भारतीय संविधान की रूपरेखा के निर्धारण हेतु लखनऊ में सर्वदलीय सम्मेलन (1928); इसकी रिपोर्ट को नेहरू रिपोर्ट के नाम से जाना गया
(iii) देशी रियासतों के संबंध में हार्टोग बटलर समिति की नियुक्ति (1927)
(iv) लाहौर के सहायक पुलिस अधीक्षक सैन्डर्स की हत्या; दिल्ली विधान सभा के कक्ष में बम विस्फोट (1929); लाहौर षड्यंत्र केस एवं लम्बे उपवास के कारण कारागार में जतिन दास की मृत्यु (1929) एवं दिल्ली में ट्रेन बम विस्फोट की घटना (1929)
(v) कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पारित (1929)
(vi) सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने के उद्देश्य से गांधीजी द्वारा दांडी यात्रा (मार्च, 1930)
(vii) लॉर्ड इरविन द्वारा 'दीपावली घोषणा' (1929)
(viii) कांग्रेस द्वारा प्रथम गोलमेज सम्मेलन का बहिष्कार (1930)
(ix) गांधी-इरविन समझौता (1931) तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित

लॉर्ड विलिंगडन (1931-1936)

(i) द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (1931)- सम्मेलन असफल रहा, सविनय अवज्ञा आंदोलन पुनः प्रारंभ (1933)
(ii) साम्प्रदायिक घोषणा-पत्र (1932); इसके विरुद्ध पूरे राष्ट्र में जबरदस्त प्रतिक्रिया
(iii) यरवदा जेल में गांधीजी द्वारा आमरण अनशन; उन्होंने पूना समझौते (1932) के पश्चात अपना अनशन तोड़ा
(iv) तृतीय गोलमेज सम्मेलन (1932)
(v) भारत सरकार अधिनियम, 1935
(vi) अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना (1936); जयप्रकाश नारायण एवं आचार्य नरेंद्रदेव द्वारा कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना (1934)
(vii) बर्मा भारत से पृथक कर दिया गया (1935)

लॉर्ड लिनलिथगो (1936-44)

(i) प्रथम आम चुनाव (1936-37); कांग्रेस द्वारा पूर्ण बहुमत प्राप्त
(ii) द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने के कारण कांग्रेसी सरकारों द्वारा त्यागपत्र (1939)
(iii) कांग्रेस के 51वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष पद हेतु सुभाष चंद्र बोस का चयन (1938)

(iv) सुभाषचंद्र बोस का कांग्रेस से त्यागपत्र (1939) तथा फारवर्ड ब्लाक नामक नयी पार्टी की स्थापना (1939)
(v) मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन (मार्च 1940) में लीग द्वारा पृथक पाकिस्तान की मांग
(vi) वायसराय द्वारा अगस्त प्रस्ताव घोषित (1940); कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग दोनों ने इसे अस्वीकार कर दिया
(vii) विंन्स्टल चर्चिल इंग्लैंड के नये प्रधानमंत्री बने (1940)
(viii) सुभाष चंद्र बोस का भारत से पलायन (1941) एवं आजाद हिन्द फौज की स्थापना
(ix) क्रिप्स मिशन का भारत आगमन; मिशन अपने उद्देश्यों में असफल रहा
(x) कांग्रेस द्वारा 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' पारित-इसके पश्चात भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ; गांधीजी ने 'करो या मरो' का नारा दिया; सभी प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार
(xi) मुस्लिम लीग ने अपने कराची अधिवेशन में (1944) में अंग्रेजों को बांटो एवं वापस जाओ' का नारा दिया

लॉर्ड वेवेल (1944-1947)

(i) सी. राजगोपालाचार्य ने सी.आर. फार्मूला प्रस्तुत किया (1944); गांधीजी एवं मु.अली जिन्ना की वार्ता असफल (1944)
(ii) वैवेल योजना एवं शिमला सम्मेलन (1942)
(iii) द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त (1945)
(iv) कैबिनेट मिशन का भारत आगमन (1946); कांग्रेस ने मिशन के प्रस्तावों को स्वीकार किया
(v) मुस्लिम लीग द्वारा 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' (16 अगस्त, 1946)
(vi) संविधान सभा के गठन के लिये चुनाव आयोजित किये गये; कांग्रेस द्वारा अंतरिम सरकार की स्थापना (सितम्बर 1946)
(vii) ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लेंमेंट एटली ने भारत को स्वतंत्रता देने की घोषणा की (20 फरवरी, 1947)

लॉर्ड माउन्टबैटन (1947-1948)

(i) 'तीन जून योजना' की घोषणा
(ii) ब्रिटेन के हाउस आफ कामन्स में भारत स्वतंत्रता अधिनियम प्रस्तुत एवं पारित
(iii) पंजाब एवं बंगाल के विभाजन हेतु रेडक्लिफ आयोग का गठन
(iv) भारत को पूर्ण स्वतंत्रता एवं भारत का विभाजन
(v) पाकिस्तान नामक नये राष्ट्र की स्थापना

3. भारत में संवैधानिक विकास की प्रक्रिया पर एक नजर

रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773

(i) ईस्ट इंडिया कम्पनी पर संसदीय नियंत्रण की शुरुआत। (ii) कुछ विशेष मामलों में बंबई एवं मद्रास की प्रेसीडेन्सियों को बंगाल की प्रेसीडेन्सी के अधीन कर दिया गया; बंगाल का गवर्नर, गवर्नर-जनरल बना दिया गया; गवर्नर-जनरल की परिषद की स्थापना; फोर्ट विलियम में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना।

इस एक्ट ने ''ब्रिटिश भारत में एकल प्रकार (unitary type) की सरकार की स्थापना की नींव रखी''।

लॉर्ड नार्थ के अनुसार ''इस एक्ट का प्रत्येक अनुच्छेद इस प्रकार बनाया गया था कि वह कम्पनी के मामलों को ठोस, सुस्पष्ट एवं निर्णायक स्वरूप प्रदान कर सके''।

बर्क के अनुसार, रेग्यूलेंटिंग एक्ट ''राष्ट्रीय अधिकारों, राष्ट्रीय आस्था एवं राष्ट्रीय न्याय का उल्लंघन था''।

पिट्स इंडिया एक्ट, 1784

(i) कम्पनी की सरकार पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण बढ़ गया।

(ii) भारत में प्रशासन गवर्नर-जनरल तथा उसके चार के स्थान पर तीन सदस्यों वाली परिषद के हाथों में दे दिया गया।

(iii) भारत में कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों को पहली बार 'ब्रिटिश अधिकृत भारतीय प्रदेश' का नाम दिया गया।

(iv) बम्बई तथा मद्रास में गवर्नरों की सहायता के लिये तीन-तीन सदस्यीय काउंसिलें बनायी गयीं।

सर कार्टनी इल्बर्ट ''इस अधिनियम द्वारा बोर्ड आफ कंट्रोल की स्थापना की गयी, जिसका मुख्य कार्य डायरेक्टर्स को नियंत्रित करना था। इस प्रकार शासन की ही दोहरी प्रणाली, एक कम्पनी द्वारा और दूसरी संसदीय बोर्ड द्वारा बना दी गयी। निरीक्षण एवं प्रति-निरीक्षण की यह व्यवस्था 1858 तक चलती रही''।

चार्टर एक्ट, 1813

(i) कम्पनी के भारत के साथ व्यापार के एकाधिकार को छीन लिया गया; भारतीय व्यापार सभी व्यापारियों के लिये खोल दिया गया।

(ii) ईसाई मिशनरियों को भारत में जाकर ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार की आज्ञा दे दी गयी।

1833 का चार्टर एक्टः (i) बंगाल का गवर्नर-जनरल पूरे भारत का गवर्नर-जनरल बना दिया गया।

(ii) चाय के व्यापार तथा चीन के साथ व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया।

(iii) कम्पनी के ऋणों की जिम्मेदारी भारत सरकार ने अपने ऊपर ले ली।

(iv) कम्पनी के किसी पद पर नियुक्ति के लिये सभी भारतीयों से समानता के आधार पर व्यवहार करने की बात कही गयी।

लॉर्ड मारेल के अनुसार, यह अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा 1909 तक पास किये गये अधिनियमों में सबसे महत्वपूर्ण अधिनियम था।

चार्टर एक्ट, 1853

(i) ब्रिटिश संसद को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह किसी भी समय कम्पनी से भारत का शासन अपनी इच्छानुसार वापस ले सकती है।

(ii) भारतीय सिविल सेवा सभी के लिये खोल दी गयी।

(iii) पहली बार व्यवस्थापिकाओं को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने अनुरूप नियमों का निर्माण कर सकती हैं।

1858 का अधिनियम

(i) भारत का शासन कम्पनी के हाथों में से ब्रिटिश ताज ने ले लिया; गवर्नर-जनरल को वायसराय की उपाधि दी गयी; अब वह भारत में ताज (crown) का प्रतिनिधि होगा।

(ii) भारत सचिव तथा भारत परिषद की स्थापना की गयी।

(iii) बोर्ड आफ कंट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को समाप्त कर दिया गया।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861

(i) केंद्र, प्रेजीडेंसियों एवं प्रांतों में विधान परिषदों की स्थापना।

(ii) काउंसिलों में गैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1892

(i) केंद्रीय एवं प्रांतीय परिषदों के आकार एवं कार्यक्षेत्र का विस्तार।

(ii) व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को निश्चित दशाओं के अंतर्गत बजट पर विचार-विमर्श करने का अधिकार दिया गया।

(iii) परिषद के सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया।

भारतीय परिषद अधिनियम (मॉर्ले-मिन्टो सुधार), 1909

(i) भारतीय परिषद तथा गवर्नर-जनरल की कार्यप्रणाली में भारतीयों की नियुक्ति का प्रथम बार प्रावधान।

(ii) परिषदों को पहली बार 'विधान परिषदों' की संज्ञा दी गयी।

(iii) मुसलमानों के लिये पृथक साम्प्रदायिक मताधिकार की स्थापना।

(iv) परिषदों में गैर-सरकारी प्रस्तावों को लाने की प्रक्रिया प्रारंभ।

भारत सरकार अधिनियम (मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार), 1919

(i) प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था; प्रांतों के ऊपर केंद्रीय नियंत्रण में कुछ ढीलापन।

(ii) केंद्रीय व्यवस्थापिका को दो सदनों में विभक्त कर दिया—भारतीय विधान सभा तथा भारतीय राज्य परिषद।

(iii) प्रांतीय व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या में वृद्धि।

(iv) सिखों, आग्ल-भारतीयों, ईसाइयों एवं यूरोपियों को भी पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

भारत सरकार अधिनियम, 1935

(i) भारतीय संघ की स्थापना एवं प्रांतों को स्वशासन का अधिकार दिया गया।

(ii) शासन के सम्पूर्ण विषयों को तीन भागों-संघीय, प्रांतीय एवं समवर्ती में बांट दिया गया।

(iii) संघ सरकार के लिये द्वैध शासन की व्यवस्था।

(iv) संघीय न्यायालय एवं केंद्रीय बैंक की स्थापना।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

(i) ब्रिटिश संसद की उत्तरदायिता एवं प्रभुसत्ता की समाप्ति।

(ii) डोमिनियन व्यवस्थापिकायें संप्रभुसत्ता संपन्न बन गयीं।

(iii) गवर्नर-जनरल एवं प्रांतीय गवर्नर संवैधानिक प्रमुख बन गये।

(iv) ब्रिटिश सम्राट की देशी राज्यों से सर्वोच्च सत्ता समाप्त।

(v) 15 अगस्त 1947 को भारत का विभाजन करके भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र राज्यों के निर्माण का प्रावधान।

(iv) ब्रिटिश सम्राट की भारत सम्राट की उपाधि समाप्त।

4. आधुनिक भारत के प्रसिद्ध अभियोग/केस

	अभियुक्त	*वर्ष एवं स्थान*	*आरोप*	*निर्णय/फैसला*
1.	बहादुरशाह जफर	27 जनवरी, 1858 से 9 मार्च 1858 तक लाल किला (दिल्ली)	राजद्रोह, षड़यंत्र, 1857 के विद्रोह में षड़यंत्रकारियों को प्रथम हत्याएं एवं अस्थिरिता फैलाने का प्रयास	मुगल शासक के पद से हटाकर बंदी बना लिया गया तथा रंगून निर्वासित कर दिया।
2.	सुरेंद्रनाथ बनर्जी	4-5 मई, 1883 कलकत्ता उच्च न्यायालय	न्यायालय की अवमानना का आरोप ('बंगाली' में उद्धृत अपने लेख में)	दो वर्ष के कारावास की सजा सुनाई गई।
3.	बाल गंगाधर तिलक	1897, 1908, 1916	अपने पत्र 'केसरी' में उत्तेजनात्मक एवं सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले लेख लिखने का आरोप	18 माह का कारावास (1897), राजद्रोह पूर्ण लेखों के कारण एक हजार रुपए जुर्माना लगाया गया तथा मांडले निर्वासित कर दिया गया (1908); जेल की सजा न देकर साधारण दण्ड दिया गया (1916)।
4.	अरविंद घोष तथा 37 अन्य लोग	1908-1909	मुजफ्फरनगर के कलक्टर की हत्या का प्रयास (अलीपुर बम कांड)	विचाराधीन कैदी के रूप में एक वर्ष कारावास
5.	वी. डी. सावरकर	1910 एवं जनवरी 1911	सरकार के विरुद्ध आक्रामक एवं उत्तेजनात्मक भाषण देने तथा हथियार एकत्रित करने व उन्हें विद्रोहियों के बीच वितरित करने का आरोप	क्रमशः दो बार आजीवन कारावास की सजा (50 वर्ष); अंतरराष्ट्रीय न्यायालय हेग ने भी उन्हें दोषी करार दिया; 10 वर्ष के लिए अंडमान जेल भेजा गया (1911-1921)

	अभियुक्त	वर्ष एवं स्थान	आरोप	निर्णय/फैसला
6.	महात्मा गांधी एवं शंकरलाल बैंकर (यंग इंडिया के प्रकाशक)	1922	यंग इंडिया में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चार उत्तेजनात्मक लेख लिखने एवं प्रकाशित करने का आरोप	6 वर्ष के कारावास की सजा सुनायी गयी, किंतु स्वास्थ्य कारणों से 1924 में रिहा कर दिया गया
7.	31 साम्यवादी	मार्च 1929	ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड़यंत्र रचने का आरोप (मेरठ षड़यंत्र केस से संबंधित)	आरोपियों को अलग प्रकार के दण्ड दिये गये, जो 3 वर्ष के कारावास से लेकर आजीवन कारावास तक था।
8.	भगत सिंह	जून 1929	सेंट्रल असेम्बली में बम फेंकने का आरोप	आजीवन निर्वासन की सजा
		जुलाई 1929	पुलिस अधिकारी सैण्डर्स की हत्या का आरोप	मृत्युदंड (फांसी की सजा)
9.	एम. एन. राय	1931-1932	षड्यंत्र एवं राजद्रोह का आरोप	12 वर्ष कारावास की सजा (लेकिन कालांतर में इसे घटाकर 6 वर्ष कर दिया गया)
10.	शाहनवाज खान, प्रेम कुमार सहगल एवं गुरबख्श सिंह ढिल्लों पर आई.एन.ए. केस के सिलसिले में	1945 में दिल्ली के लाल किले पर	उकसाने वाली कार्रवाई एवं हत्याएं करने का आरोप	आजीवन निर्वासन की सजा को परिवर्तित कर दिया गया लेकिन जिनके भत्ते एवं अन्य पैसे बाकी थे, उन्हें स्वीकृति प्रदान कर दी गयी

5. सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन (18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के मध्य तक)

वर्ष/काल	*आंदोलन का नाम/ संगठन एवं स्थान*	*संस्थापक एवं सम्बद्ध व्यक्ति*	*प्रकृति, उद्देश्य तथा कार्य*
19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में	स्वामी नारायण सम्प्रदाय गुजरात	स्वामी सहजानंद (मूल नाम घनश्याम) 1781-1830	ईश्वर की अवधारणा में विश्वास, वैष्णव धर्म की भोगवादी रीतियों का विरोध, नैतिक आचार संहिता का निर्माण
18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 19वीं शताब्दी के पूवार्द्ध में	ब्रह्म समाज (प्रारंभ में आत्मीय सभा); कलकत्ता में स्थापना की गई	राजा राममोहन राय (1772-1833)- संस्थापक; देवेंद्रनाथ टैगोर (कालांतर में आदि ब्रह्म समाज का गठन); केशव चंद्र सेन कालांतर में भारतीय ब्रह्म समाज से जुड़ गये (इसके अनुयायियों ने आगे चलकर साधारण ब्रह्म समाज का गठन कर लिया)	एकेश्वरवाद का प्रचार, एकांतवाद का प्रचार, अवतारवाद, ध्यान, त्याग, ब्राह्मण वर्ग, मूर्तिपूजा अंधविश्वास तथा सती प्रथा का विरोध; हिंदू धर्म की कुरीतियों को दूर करने का प्रयास; राजा राममोहन राय द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकायें-*संवाद कौमुदी (1821), मिरात-उल-अरब्बार;* देवेंद्रनाथ टैगोर द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएं *तत्वबोधिनी पत्रिका,* केशवचंद्र सेन द्वारा-*इंडियन मिरर;* साधारण ब्रह्म समाज द्वारा-*तत्व कौमुदी, द इंडियन मैसेंजर, द संजीवनी, द नवभारत, प्रवासी।*
1815 1826-1831	आत्मीय सभा; कलकत्ता यंग बंगाल आंदोलन	हेनरी लुइस विवियन डिरोजिओ (संस्थापक), रसिक कृष्ण मलिक, ताराचंद्र चक्रवर्ती, कृष्णमोहन बनर्जी	एकेश्वरवाद का प्रचार, हिंदू धर्म की बुराइयों पर प्रहार, सामाजिक कुरीतियों की आलोचना, सत्य, तर्क एवं स्वतंत्रता में विश्वास, इन्होंने एक पत्र प्रकाशित किया तथा 'सोसायटी फार एक्वीजीशन एण्ड जनरल नॉलेज' की स्थापना की (डेरोजियो ने

			हेस्पेरस तथा *द कलकत्ता लाइब्रेरी गजट* का सम्पादन किया, वे काफी समय तक *इंडिया गजट* से भी सम्बद्ध रहे)
1829-30	धर्मसभा; कलकत्ता	राधाकांत देव (1794-1876)- संस्थापक	ब्रह्म समाज का विरोध, हिंदू कट्टरवाद का समर्थन, पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन एवं उसके प्रसार में सहायता
19वीं शताब्दी, –1820 में स्थापित (1870 में ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों का शिकार)	वहाबी आंदोलन, रोहिलखण्ड में प्रारंभ कावुल,उत्तर - पश्चिम सीमा प्रांत, बंगाल एवं मध्य प्रांत में कई शाखाएं खुलीं, उत्तर-प्रदेश सीमा प्रांत के सिताना में मुख्यालय की स्थापना (1850 में)	राय बरेली के सैय्यद अहमद (संस्थापक) विलायत अली, शाह मुहम्मद हुसैन, फरहत हुसैन (सभी पटना के), इनायत अली	वली उल्लाह के उपदेशों एवं शिक्षाओं को लोकप्रिय बनाने का प्रयास, अंग्रेजों का विरोध तथा सिखों से युद्ध, धर्म की व्यक्तिगत व्याख्या पर जोर
1839	तयूनी आंदोलन; ढाका में स्थापना	करामत अली जौनपुरी	शाह वलीउल्लाह की धार्मिक शिक्षाएं प्रमुख आधार, फराजी आंदोलन का विरोध
1839	तत्वबोधिनी; कलकत्ता	देवेंद्रनाथ टैगोर	राजा राममोहन राय के विचारों का समर्थन एवं उनका प्रचार-प्रसार
1841-1871	नामधारी या कूका आंदोलन (सिखों का); उत्तर प्रदेश सीमांत प्रांत भाइनी (पंजाब के लुधियाना जिले में स्थित)	भाई बालक सिंह एवं राम सिंह (संस्थापक)	सिखों के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के प्रयास, भक्ति एवं शुद्धता पर बल
1848	स्टुडेंट लिटरेरी एंड साइंटिफिक सोसाइटी	–	सामाजिक प्रश्नों पर बहस, विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का प्रयास

1849	परमहंस मंडली (बम्बई)	–	जातीय बंधनों को दूर करने का प्रयास
1851	रहनुमाई मायजद सभा (पारसियों का धर्म सुधार आंदोलन)	एस.एस. बंगाली, दादा भाई नौरोजी, फरदोनजी नौरोजी एवं अन्य	पारसियों की दशा सुधारने का प्रयास, जोराष्ट्र वाद की शुद्धता पर बल, *रास्त गोफ्तार* (सत्य की बातें) नामक पत्र का प्रकाशन
1861	राधास्वामी आंदोलन; आगरा में स्थापना	तुलसीराम या शिव दयाल साहब (स्वामीजी महाराज)	जीवात्मा तथा परमात्मा पर बल, आत्मा तथा भक्ति के मिलन को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया, शराब एवं मांसाहार का विरोध, धर्म शास्त्र, मूर्तिपूजा एवं तंत्र-मंत्र का विरोध, सादगीपूर्ण जीवन पर बल
1866	देवबंद (देवबंद-सहारनपुर-उत्तर प्रदेश) में इसकी स्थापना की गयी	मुहम्मद कासिम नानौत्वी (1832-80) तथा रशीद अहमद गंगोही (संस्थापक) मौलाना अबुल कलाम आजाद, मुहम्मद उल हसन, सिबली नुमामी	इस्लाम की उदारवादी व्याख्या; इस्लाम की उन्नति के प्रयास, पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का विरोध, सैय्यद अहमद खां के सिद्धांतों का विरोध, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का स्वागत
1866	भारत का ब्रह्म समाज कलकत्ता	केशव चंद्र सेन	समाज सुधार का क्रांतिकारी समर्थन
1867	प्रार्थना समाज; बम्बई में स्थापना	आत्माराम पांडुरंग (संस्थापक), गोविंद राणाडे, आर. जी. भंडारकर	हिंदू धार्मिक विचारधारा और प्रथाओं में सुधार, एकेश्वरवाद का समर्थन, महिलाओं की दशा में सुधार, धार्मिक रूढ़िवादिता एवं जातीय भेदभाव का विरोध
1870	इंडियन रिफार्म एसोसिएशन; कलकत्ता	केशवचंद्र सेन	बाल विवाह के विरुद्ध जनमत बनाने का प्रयास, महिलाओं की सामाजिक दशा में सुधार का प्रयास, विवाह की ब्रह्म पद्धति को कानूनी दर्जा देने की वकालत

1875	आर्य समाज; बम्बई में स्थापना	दयानंद सरस्वती (मूल शंकर)	हिंदुओं को अपने धर्म में गहरी आस्था रखने की सलाह, हिंदू धर्म में सुधार का प्रयास, हिंदुओं के धर्मांतरण पर रोक लगाने का प्रयास, वेदों का सर्वोच्च महत्व, ब्राह्मणों के विशेषाधिकार, मूर्तिपूजा एवं अंधविश्वासों का विरोध, दयानंद एंग्लो वैदिक स्कूल की स्थापना
1875 (अलीगढ़ स्कूल की स्थापना का वर्ष)	अलीगढ़ आंदोलन (अलीगढ़ स्कूल से 1877 में मोहम्मडन एंग्लो -ओरिएंटल कालेज की स्थापना-कालांतर में यह अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में परिवर्तित)	सर सैय्यद अहमद खां (1817-1898)—अलीगढ़ स्कूल के संस्थापक	धार्मिक तर्कवाद द्वारा मुस्लिम धर्म में सुधार लाने का प्रयास, तर्कवादी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन, पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का समर्थन, समाज सुधार का प्रयास, सर सैय्यद अहमद खां ने 1864 में *साइन्टिफिक सोसायटी* की स्थापना की, 1870 में *तहजीब-उल- अखलाक* नामक उर्दू पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया
1875	थियोसोफिकल सोसाइटी (इसकी स्थापना न्यूयार्क में की गयी किंतु बाद में इसका मुख्यालय मद्रास के निकट अंड्डयार नामक स्थान में स्थानांतरित कर दिया गया)	रूसी महिला-मैडम एस.पी. ब्लावैटस्की (1831-91), एवं अमेरिकी कर्नल एच. एस. आल्काट द्वारा स्थापना की गयी, एनी बेसेंट भी कालांतर में इससे जुड़ गयीं	उपनिषदों से प्रेरणा, वेदांत दर्शन को महत्व, प्राचीन धर्म, दर्शन एवं मानवता का प्रचार
1878	साधारण ब्रह्म समाज; कलकत्ता	शिवनाथ शास्त्री और आनंद मोहन बोस	समाज सुधार
1884	दक्कन एजुकेशन सोसायटी;	एम.जी. राणाडे, वी.जी. छिबदोन-	पश्चिम भारत में शिक्षा एवं संस्कृति को प्रोत्साहन

	पूना	कर, जी.जी. अगरकर (सभी संस्थापक)	एवं प्रचार-प्रसार, 1885 मे पूना में फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना
1885	सेवा सदन; बम्बई	बहरामजी एम. मालाबारी	बालविवाह का विरोध, विधवा पुनर्विवाह की वकालत, सामाजिक रूप से शोषित महिलाओं का उत्थान
1887	इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेंस; बम्बई	एम.जी. राणाडे, रघुनाथ राव	समाज सुधार
1887	देव समाज; लाहौर	शिवनारायन अग्निहोत्री	इसके धार्मिक सिद्धांत ब्रह्म समाज से मिलते जुलते थे, एक ऐसी सामाजिक आचार संहिता के निर्माण का पक्षधर, जिसमें रिश्वत, जुआ, शराब एवं मांसाहारी भोजन पर प्रतिबंध का प्रावधान हो
1889	अहमदिया आंदोलन; कादिया (गुरदासपुर जिला, पंजाब) से प्रारंभ	संस्थापक—मिर्जा गुलाम अहमद (1839-1908)	ईसाई मिशनरियों के प्रहार से इस्लाम का बचाव, हिंदू धर्म में पुनर्जागरण लाने का प्रयास, सार्वभौमिक धर्म में आस्था, मिर्जा गुलाम अहमद ने स्वयं को 'मसीहा' की संज्ञा दी तथा भगवान कृष्ण का अवतार बताया, *बराहीन-ए-अहमदिया* नामक पुस्तक में अपने सिद्धांतों की व्याख्या की
1892	मद्रास हिंदू एसोसिएशन; मद्रास	वीरेशलिंगम पंतलु,	सामाजिक शुद्धता आंदोलन, विधवाओं के शोषण तथा देवदासी प्रथा का विरोध
1897	रामकृष्ण मिशन-बंगाल में इसकी स्थापना की गयी (कालांतर में बेलूर एवं मायावती इसकी	संस्थापक—स्वामी विवेकानंद (मूल नाम-नरेंद्रनाथ दत्त), 1863-1902; रामकृष्ण परमहंस (1834-86), विवेकानंद के गुरू एवं	प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रंथों एवं वैदिक मान्यताओं (वेदांत की मान्यताओं इत्यादि) के आधार पर हिंदू धर्म का पुनरुत्थान; जाति प्रथा, सामाजिक उत्पीड़न तथा हिंदू समाज में व्याप्त अंधविश्वासों का विरोध,

	गतिविधियों के मुख्य केंद्र बन गये)	प्रेरणास्रोत	महिलाओं की स्थिति एवं शिक्षा पद्धति में सुधार का समर्थन
1902	भारत धर्म महामंडल; वाराणसी	संस्थापक—मदन मोहन मालवीय, दीन दयाल शर्मा, गोपाल कृष्ण गोखले	रूढ़िवादी हिंदूवादी संगठन, सनातन धर्म का समर्थन, आर्य समाज के सिद्धांतों का विरोध
1905	द सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी; बम्बई	संस्थापक—गोपाल कृष्ण गोखले	दलितों की दशा सुधारने का प्रयास, अकाल पीड़ितों को सहायता
1909	पूना सेवा सदन	जी.के. देवधर एवं रमाबाई राणाडे	आर्थिक उन्नति के प्रयास, महिलाओं को रोजगार का समर्थन
1910	निष्काम कर्म मठ; पूना	धोंदो केशव कर्वे	महिलाओं में शिक्षा का प्रसार, विधवाओं की दशा में सुधार, पूना में महिला विश्वविद्यालय की स्थापना (सम्प्रति मुम्बई में)
1910	भारत स्त्री मंडल, कलकत्ता	सरलाबाला देवी चौधरानी	महिलाओं के उद्धार एवं उनमें शिक्षा के प्रचार-प्रसार का समर्थन
1911	सोशल सर्विस लीग	नारायण मल्हार जोशी	जनसामान्य की दशा सुधारने का प्रयास, स्कूल एवं पुस्तकालयों की स्थापना
1914	सेवा समिति; इलाहाबाद	हृदयनाथ कुंजरू	समाज सेवा एवं शिक्षा के प्रसार द्वारा सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों की दशा सुधारने का प्रयास
1914	सेवा समिति ब्वॉय स्काउट एसोसिएशन; बम्बई	श्रीराम वाजपेयी	भारत में ब्वॉय स्काउट आंदोलन में पूर्ण भारतीयता उत्पन्न करना
1917	द इंडियन वोमेन्स एसोसिएशन; मद्रास	एनी बेसेंट	भारतीय महिलाओं की दशा सुधारने का प्रयास, अखिल भारतीय महिला सम्मेलन का वार्षिक आयोजन

6. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन

अधिवेशन वर्ष	*स्थान*	*अध्यक्ष*	*महत्वपूर्ण तथ्य*
1. 1885 (28 दिसम्बर)	बम्बई	डब्ल्यू. सी. बनर्जी	प्रथम अधिवेशन, 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया, कांग्रेस के उद्देश्य तय किये गये
2. 1886 (28 दिसम्बर)	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	436 प्रतिनिधियों ने भाग लिया, प्रथम गैर-हिंदू अध्यक्ष, राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय कांफ्रेंस का विलय
3. 1887 (27-28 दिसम्बर)	मद्रास	सैय्यद बदरुद्दीन तैय्यबजी	607 प्रतिनिधियों ने भाग लिया, प्रथम मुस्लिम अध्यक्ष, मुसलमानों से राष्ट्रीय आंदोलन में अधिकाधिक संख्या में भाग लेने की अपील
4. 1888 (28-29 दिसम्बर)	इलाहाबाद	जार्ज यूले	प्रथम अंग्रेज अध्यक्ष, प्रतिनिधियों की संख्या 1248
5. 1889 (27-28 दिसम्बर)	बम्बई	सर विलियम वैडरबर्न	प्रतिनिधियों की संख्या 1889
6. 1890 (28-29 दिसम्बर)	कलकत्ता	फिरोजशाह मेहता	प्रतिनिधियों की संख्या, 677
7. 1891 (26-27 दिसम्बर)	नागपुर	आनंद चार्लू	प्रतिनिधियों की संख्या, 812
8. 1892 (28-29 दिसम्बर)	इलाहाबाद	व्योमेश चंद्र बनर्जी	प्रतिनिधियों की संख्या, 625
9. 1893 (27-28 दिसम्बर)	लाहौर	दादाभाई नौरोजी	प्रतिनिधियों की संख्या, 867
10. 1894 (27-28 दिसम्बर)	मद्रास	अल्फ्रेड वेब	प्रतिनिधियों की संख्या, 1,163
11. 1895 (28-29 दिसम्बर)	पूना	सुरेंद्रनाथ बनर्जी	प्रतिनिधियों की संख्या, 1,584
12. 1896 (27-28 दिसम्बर)	कलकत्ता	एम.ए. सयानी	प्रतिनिधियों की संख्या, 784
13. 1897 (28-29 दिसम्बर)	अमरावती	एम. सी. शंकरन	प्रतिनिधियों की संख्या, 692
14. 1898 (27-28 दिसम्बर)	मद्रास	आनंद मोहन बोस	प्रतिनिधियों की संख्या 614
15. 1899 (27-28 दिसम्बर)	लखनऊ	रमेशचंद्र दत्त	भू-राजस्व को स्थायी करने की मांग 740 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए

16.	1900	(27-28 दिसम्बर)	लाहौर	एन.जी. चंद्रावरकर	प्रतिनिधियों की संख्या, 567
17.	1901	(27-28 दिसम्बर)	कलकत्ता	दिनशा ई. वाचा	प्रतिनिधियों की संख्या, 896
18.	1902	(23-26 दिसम्बर)	अहमदाबाद	सुरेंद्रनाथ बनर्जी	प्रतिनिधियों की संख्या, 471
19.	1903	(28-30 दिसम्बर)	मद्रास	लाल मोहन घोष	प्रतिनिधियों की संख्या, 538
20.	1904	(26-28 दिसम्बर)	बम्बई	सर हेनरी कॉटन	प्रतिनिधियों की संख्या, 1000
21.	1905	(27-30 दिसम्बर)	बनारस	गोपाल कृष्ण गोखले	बंगभंग और कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों की आलोचना, 758 प्रतिनिधि सम्मिलित
22.	1906	(26-29 दिसम्बर)	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	'स्वराज्य' शब्द का प्रथम बार प्रयोग किया गया, 1163 प्रतिनिधि सम्मिलित
23.	1907	(26-27 दिसम्बर)	सूरत	रास बिहारी घोष	कांग्रेस का गरम दल एवं नरम दल में विभाजन, 1600 प्रतिनिधि सम्मिलित
24.	1908	(29-30 दिसम्बर)	मद्रास	रास बिहारी घोष	कांग्रेस के संविधान का निर्माण, 626 प्रतिनिधि सम्मिलित
25.	1909	(27-29 दिसम्बर)	लाहौर	मदनमोहन मालवीय	इंडियन काउंसिल एक्ट 1909 के द्वारा धर्म के आधार पर बनायी गई पृथक निर्वाचन पद्धति की व्यवस्था को अस्वीकृत कर दिया गया, 243 प्रतिनिधि सम्मिलित
26.	1910	(28-29 दिसम्बर)	इलाहाबाद	विलियम वेडरबर्न	प्रतिनिधियों की संख्या, 636
27.	1911	(26-28 दिसम्बर)	कलकत्ता	बिशन नारायण धर	प्रतिनिधियों की संख्या, 446
28.	1912	(27-28 दिसम्बर)	बांकीपुर	आर. एन. मुधकर	
29.	1913	(26-28 दिसम्बर)	कराची	नवाब सैय्यद मुहम्मद	प्रतिनिधियों की संख्या, 550
30.	1914	(28-30 दिसम्बर)	मद्रास	भूपेंद्रनाथ बसु	प्रतिनिधियों की संख्या, 886
31.	1915	(27-30 दिसम्बर)	बम्बई	एस.पी. सिन्हा	प्रतिनिधियों की संख्या, 2,259

32.	1916 (26-30 दिसम्बर)	लखनऊ	अंबिका चरण मजुमदार	कांग्रेस के गरम दल एवं नरम दल में समझौता, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य समझौता।
33.	1917 (28-29 दिसम्बर)	कलकत्ता	एनी बेसेंट	प्रथम महिला अध्यक्ष
34.	1918 (26-31 दिसम्बर)	दिल्ली	मदनमोहन मालवीय	सुरेंद्रनाथ बनर्जी सहित अनेक नरमपंथियों का इस्तीफा
35.	1919 (27-28 दिसम्बर)	अमृतसर	मोतीलाल नेहरू	जलियांवाला बाग हत्याकांड की भर्त्सना, खिलाफत आंदोलन को समर्थन देने का निर्णय
36.	1920 (26-31 दिसम्बर)	नागपुर	सी. विजयराघवाचार्य	कांग्रेस का नया संविधान बनाया गया
37.	1921 (27-28 दिसम्बर)	अहमदाबाद	सी.आर. दास	सी. आर. दास के जेल में होने के कारण हकीम अजमल खां कार्यकारी अध्यक्ष बनाये गये।
38.	1922 (26-31 दिसम्बर)	गया	सी.आर. दास	स्वराज्य पार्टी की स्थापना
39.	1923 (28-31 दिसम्बर)	काकीनाडा (दिल्ली में विशेष अधिवेशन)	मौलाना मोहम्मद अली अबुल कलाम आजाद	सबसे कम उम्र के कांग्रेस अध्यक्ष, स्वराज्य दल को परिषद के चुनावों में भाग लेने की अनुमति
40.	1924 (26-27 दिसम्बर)	बेलगांव	महात्मा गांधी	
41.	1925 (26-28 दिसम्बर)	कानपुर	सरोजिनी नायडू	प्रथम भारतीय महिला अध्यक्ष
42.	1926 (26-28 दिसम्बर)	गुवाहाटी	एस. श्रीनिवास आयंगर	
43.	1927 (26-27 दिसम्बर)	मद्रास	एम.ए. अंसारी	स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित, साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव पारित
44.	1928 (28-31 दिसम्बर)	कलकत्ता	मोतीलाल नेहरू	पहली अखिल भारतीय युवा कांग्रेस
45.	1929 (29-31 दिसम्बर)	लाहौर	जवाहरलाल नेहरू	'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पारित, कार्यकारिणी समिति को सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने की अनुमति।
46.	1931 (29 मार्च)	कराची	वल्लभभाई पटेल	गांधी-इर्विन समझौते का अनुमोदन, मौलिक अधिकारों के प्रस्ताव और राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकृति

47.	1932 (24 अप्रैल)	दिल्ली	अमृत रणछोड़दास सेठ	
48.	1933 (1 अप्रैल)	कलकत्ता	श्रीमति एन.सेन गुप्ता	
49.	1934 (26-28 अक्टूबर)	बम्बई	डा. राजेंद्र प्रसाद	कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना
50.	1936 (12-14 अप्रैल)	लखनऊ	जवाहरलाल नेहरू	अध्यक्ष ने कांग्रेस से आग्रह किया कि वो 'समाजवाद' को अपना लक्ष्य घोषित करें
51.	1937 (27-28 दिसम्बर)	फैजपुर	जवाहरलाल नेहरू	पहला अधिवेशन जो गांव में हुआ
52.	1938 (19-21 फरवरी)	हरिपुरा	सुभाषचंद्र बोस	जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन
53.	1939 (10 मार्च)	त्रिपुरी	सुभाषचंद्र बोस	कुछ समय पश्चात बोस ने इस्तीफा दे दिया और राजेंद्र प्रसाद अध्यक्ष बने
54.	1940 (17-19 मार्च)	रामगढ़	मौलाना अबुल कलाम आजाद	
55.	1946 (23 नवंबर)	मेरठ	जे.वी. कृपलानी	
56.	1947	दिल्ली	राजेंद्र प्रसाद	
57.	1948 (18-19 दिसम्बर)	जयपुर	डा. पट्टाभि सीतारमैय्या	

★ 1932 के दिल्ली अधिवेशन में मदन मोहन मालवीय को अध्यक्ष चुना गया लेकिन वे उस समय कारावास में थे फलतः अमृत रणछोड़दास सेठ को कार्यकारी अध्यक्ष चुना गया, साथ ही एम.ए. अंसारी, एस. एस. कार्वाशर, राजेंद्र प्रसाद, सरोजिनी नायडू तथा अबुल कलाम आजाद को भी कार्यकारी अध्यक्ष बनाया गया।

★ 1933 के अधिवेशन के अध्यक्ष भी मदन मोहन मालवीय चुने गये किंतु, उनके जेल में होने के कारण श्रीमति नलिनी सेन गुप्ता को कार्यकारी अध्यक्ष चुना गया।

★ 1930, 1935 तथा 1940-1945 के मध्य कांग्रेस अधिवेशन आयोजित नहीं किये गये।

7. जातीय आंदोलन

	आंदोलन	*वर्ष*	*क्षेत्र*	*कारण एवं प्रभाव*
1.	दलित वर्ग आंदोलन (महारों का), मुख्य नेतृत्वकर्ता डा. भीमराव अम्बेडकर	1824	महाराष्ट्र	अछूतों की दशा सुधारने का प्रयास, 1924 में *डिप्रेस्ड क्लासेज इंस्टीट्यूशंस* की स्थापना, 1927 में मराठी पाक्षिक *बहिष्कृत भारत* का प्रकाशन, 1927 में समाज समता संघ की स्थापना, 1942 में अनुसूचित जाति संघ का गठन।
2.	सत्यशोधक आंदोलन—सत्यशोधक समाज, ज्योतिबा फुले द्वारा स्थापित	1873	महाराष्ट्र	ब्राह्मणवाद का विरोध, दलितों के उद्धार का प्रयास, अस्पृश्य एवं महिलाओं की दशा सुधारने का प्रयास
3.	अरविप्पुरम आंदोलन; इसका नेतृत्व श्री नारायण गुरु ने किया	1888	केरल	दलितों एवं शोषित वर्ग के अधिकारों के लिये संघर्ष (मुख्यतया केरल के इरजावास या इरवास)।
4.	नायर आंदोलन; प्रमुख नेतृत्वकर्ता सी.वी. रमन पिल्लई, के रामकृष्ण पिल्लई एवं एम. पद्मनाभन पिल्लई	1891	केरल	ब्राह्मणों के विशेषाधिकार को चुनौती, 1891 में रमन पिल्लई द्वारा *मलयाली मेमोरियल* की स्थापना, 1914 में पद्मनाभन पिल्लई द्वारा *नायर सेवा समिति* का गठन।
5.	कैवरतास द्वारा कैवरतास आंदोलन, जो बाद में माहिष्य बन गये	1897 से आगे	मिदनापुर (बंगाल)	1897 में जाति निर्धारणी सभा का गठन, तथा 1901 में माहिष्य समिति की स्थापना।

6.	जस्टिस पार्टी आंदोलन; डा. टी. एम. नायर, पी. त्यागराज चेट्टी एवं सी.एन. मुदालियार प्रमुख नेतृत्वकर्ता (मध्यस्थ जातियों से सम्बद्ध)	1916	मद्रास	ब्राह्मण वर्ग के प्रमुख को चुनौती, सरकारी सेवाओं एवं राजनीति में ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध, 1916 में *द साउथ इंडियन लिबरेशन फेडरेशन (एस. आई. एल. एफ.)* की स्थापना, 1930 में सरकार द्वारा कुछ वर्गों को आरक्षण दिये जाने के प्रयासों को कुछ सफलता।
7.	कांग्रेस का हरिजन आंदोलन	1917 से आगे	–	पिछड़ी एवं दलित जातियों के उत्थान का प्रयास, 1932 में अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोध लीग की स्थापना, 1933 में गांधीजी द्वारा *हरिजन* नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन।
8.	आत्म-सम्मान आंदोलन; प्रमुख नेतृत्वकर्ता ई.वी. रामास्वामी नायकर या पेरियार	1925	तमिलनाडु	ब्राह्मणों द्वारा किये जा रहे जातीय भेदभाव का विरोध, *कुदी अरासु* नामक पत्र का प्रकाशन पेरियार द्वारा
9.	नादर आंदोलन; अस्पृश्य सभाओं द्वारा प्रारंभ	–	तमिलनाडु	सामाजिक भेदभाव का विरोध, नादरों के मध्य शिक्षा का प्रसार तथा उनके सामजिक कल्याण को प्राथमिकता, 1910 में *नादर महाजन संगम* की स्थापना।

8. कृषक आंदोलन

आंदोलन	वर्ष	क्षेत्र	कारण एवं प्रभाव
1. टीटू मीर का आंदोलन, टीटू मीर या मीर निसार अली मुख्य आंदोलनकर्ता	1782-1831	प. बंगाल	उन हिंदू जमींदारों के विरुद्ध जिन्होंने फराजियों पर दाढ़ी कर लगाया था।
2. हजोंग और गारो जनजातियों का पागलपंथी आंदोलन, करमशाह एवं टीपू शाह मुख्य नेतृत्वकर्ता	1825-1835	मैमनसिंह जिला (बंगाल)	कर वृद्धि का विरोध, अंग्रेजों ने हिंसापूर्वक इस आंदोलन को कुचल दिया
3. मोपला विद्रोह	1836-1854	मालाबार	ज्यादा कर निर्धारण तथा कृषि योग्य भूमि में कमी के विरुद्ध विद्रोह
4. नील आंदोलन	1859-60	नादिया (बंगाल)	यूरोपीय नील बागान मालिकों द्वारा आरोपित शर्तों का विरोध, समस्या के समाधान हेतु 1860 में 'नील आयोग' का गठन
5. मराठा किसानों का दक्कन उपद्रव	1875	महाराष्ट्र का पूना एवं कारदेश गांव	गुजराती एवं मारवाड़ी साहूकारों के भ्रष्टाचार का विरोध, 1879 में 'दक्कन कृषक राहत अधिनियम पारित किया गया
6. रामोसी विद्रोह; वासुदेव बलवंत फड़के मुख्य नेतृत्वकर्ता	1877-1887	महाराष्ट्र	अकाल पीड़ितों को सहायता न पहुंचा पाने की अंग्रेजी सरकार की असफलता के विरुद्ध आंदोलन

7. पाबना विद्रोह; केशवचंद्र राय तथा शम्भुनाथ पाल प्रमुख नेता, बी.सी. चटर्जी एवं आर.सी. दंत प्रमुख सहयोगकर्ता	1873-1876	पूर्वी बंगाल का पाबना जिला सम्प्रति (बांग्ला देश में)	जमींदारों की ज्यादतियों का विरोध, बाह्य भूमि अधिग्रहणकारियों का विरोध, 1885 में बंगाल टेनेंसी एक्ट पारित
8. पंजाब कृषक विद्रोह	19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में	पंजाब	अपनी भूमि के छिनने पर किसानों द्वारा विरोध, 1900 पंजाब भू हस्तांतरण अधिनियम पास
9. चंपारन के किसानों द्वारा चम्पारन सत्याग्रह	1917	चम्पारन (बिहार)	यूरोपीय नील बागान मालिकों द्वारा आरोपित तिनकठिया पद्धति का विरोध, चम्पारन कृषक अधिनियम द्वारा तिनकठिया पद्धति का अंत
10. खेड़ा के किसानों का खेड़ा सत्याग्रह, आंदोलनकारियों का नेतृत्व गांधी जी ने किया	1918	गुजरात	फसल के बर्बाद होने पर भू-राजस्व की दरों को कम न किये जाने के विरोध में, बाद में किसानों की मांगे मान ली गयीं
11. बारदोली सत्याग्रह; सम्बद्ध व्यक्ति कुनबी पाटीदार (भू-स्वामी) एवं अछूत, वल्लभभाई पटेल एवं मेहता बंधुओं का पूर्ण समर्थन	1928	सूरत (गुजरात)	बम्बई सरकार द्वारा लगान की दरों में 22 प्रतिशत की वृद्धि एवं उच्च वर्ग की ज्यादतियों का विरोध, लगान की दरें घटाकर 6.03 प्रतिशत कर दी गईं।
12. पासी और अहीर जाति के सदस्यों द्वारा एका आंदोलन	1921-22	हरदोई, बाराबंकी एवं सीतापुर	लगान में बढ़ोतरी का विरोध
13. तेभागा आंदोलन; गरीब बटाईदार एवं दिहाड़ी पर काम करने वाले कृषकों द्वारा	1946	बंगाल	साहूकारों एवं जमींदारों का विरोध
14. तेलंगाना विद्रोह	1946-51	हैदराबाद	हैदराबाद के निजाम के अधिकारों एवं जमींदारों के विरुद्ध, बंगाल का सबसे बड़ा कृषक आंदोलन, किसान सभा का पूर्ण समर्थन

9. ब्रिटिशशासनकाल के प्रमुख कानून

कानून	*वर्ष*	*गवर्नर जनरल/वायसराय*	*मुख्य प्रावधान*
1. नवजात कन्याओं की हत्या संबंधी कानून	1795 ई.	जॉन शोर	नवजात कन्याओं की हत्या पर रोक, इसे साधारण हत्या के बराबर का अपराध घोषित किया गया
2. बाल हत्या निरोधक कानून	1802 ई.	लॉर्ड वैलेजली	बंगाल के लोगों द्वारा गंगा एवं समुद्र के संगम में नवजात शिशुओं को फेंकने पर रोक
3. सतीप्रथा निषेध कानून	1829 ई.	विलियम बैंटिक	सती प्रथा पर कानूनी रोक
4. हिंदू विधवा पुर्नविवाह अधिनियम	1856 ई.	लॉर्ड डलहौजी	विधवा विवाह को कानूनी मान्यता
5. सम्मति आयु अधिनियम	1891 ई.	लेंसडाउन	12 वर्ष से कम आयु के विवाह पर रोक
6. साइमन कमीशन	1927 ई.	लॉर्ड इरविन	संविधान निर्माण योजना
7. शारदा कानून	1930 ई.	लॉर्ड इरविन	बालकों के लिये विवाह की न्यूनतम आयु 18 वर्ष एवं बालिकाओं के लिये 14 वर्ष
8. हिंदू महिला सम्पत्ति कानून	1937 ई.	लॉर्ड आकलैण्ड	हिंदू महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार
9. अगस्त घोषणा	1940 ई.	लिनलिथगो	प्रादेशिक स्वशासन
10. क्रिप्स मिशन प्रस्ताव	1942 ई.	लिनलिथगो	संविधान सभा की योजना
11. वेवेल प्रस्ताव	1945 ई.	लॉर्ड वैवेल	सभी दलों को मिलाकर काउंसिल का निर्माण
12. कैबिनेट मिशन योजना	1946 ई.	लॉर्ड वैवेल	संघ का निर्माण, प्रांतों को स्वायत्तता
13. माउंटबैटन योजना	1947 ई.	लॉर्ड माउंटबैटन	भारत का विभाजन

10. ब्रिटिश शासन काल के प्रमुख शिष्टमंडल

शिष्टमंडल	*गवर्नर जनरल/वायसराय*	*देश/राज्य*
1. किर्क पैट्रिक शिष्टमंडल (1787 ई.)	लॉर्ड कार्नवालिस	नेपाल
2. मैलकम शिष्टमंडल (1797 ई.)	लॉर्ड वेलेजली	ईरान
3. एलफिंस्टन शिष्टमंडल (1808 ई.)	लॉर्ड मिन्टो	काबुल
4. मैलकम शिष्टमंडल (1808 ई.)	लॉर्ड मिन्टो	ईरान
5. डेविड सेटान शिष्टमंडल (1809 ई.)	लॉर्ड मिन्टो	सिन्ध
6. राबर्ट्स शिष्टमंडल (1892 ई.)	लॉर्ड लैन्सडाउन	काबुल
7. डूरंड शिष्टमंडल (1893 ई.)	लॉर्ड लैन्सडाउन	काबुल
8. यंग हसबैण्ड शिष्टमंडल (1903 ई.)	लॉर्ड कर्जन	तिब्बत
9. डेन शिष्टमंडल (1904 ई.)	लॉर्ड कर्जन	काबुल
10. डा. अंसारी शिष्टमंडल (1904 ई.)	लॉर्ड हार्डिंग	तुर्की
11. डा. अटल शिष्टमंडल (1938 ई.)	लॉर्ड लिनलिथगो	चीन

11. ब्रिटिशकाल में विदेशों पर अधिकार

देश	*वर्ष*	*गवर्नर जनरल/वायसराय*	*अधिकार की प्रवृत्ति*
नेपाल	1816 ई.	लॉर्ड हेस्टिंग्स	कुमांऊं व गढ़वाल का विलय
सिंध	1843 ई.	लॉर्ड एलनबरो	पूर्ण विलय
सिक्किम	1861 ई.	लॉर्ड कैनिंग	पूर्ण विलय
भूटान	1865 ई.	लॉर्ड लारेंस	पूर्ण विलय
अफगानिस्तान	1879 ई.	लॉर्ड लिटन	बाह्य नियंत्रण स्थापित
बर्मा	1885 ई.	लॉर्ड डफरिन	पूर्ण विलय
मणिपुर	1891 ई.	लॉर्ड लैंसडाउन	पूर्ण विलय
तिब्बत	1903 ई.	लॉर्ड कर्जन	पूर्ण विलय

12. भारतीय क्रांतिकारी संगठन

संगठन/आंदोलन एवं वर्ष	*शासनकाल*
1. मित्र मेला (पूना), 1899	सावरकर बंधु
2. अनुशीलन समिति (कलकत्ता एवं ढाका); 1902	बरींद्र कुमार घोष; जतिन्द्रनाथ बनर्जी, प्रमोथा मित्तर एवं पुलिन दास
3. अभिनव भारत सभा (पूना); 1904	विनायक दामोदर सावरकर
4. हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (कानपुर); 1924	सचिन्द्रनाथ सान्याल एवं जोगेश चंद्र चटर्जी, भगत सिंह एवं उधम सिंह द्वारा समर्थित
5. गदर दल (सैन फ्रैंसिस्को में); 1913	लाला हरदयाल एवं सोहन सिंह भखाना
6. इंडियन इंडिपेंडेंस लीग (जापान में); 1942	रासबिहारी बोस
7. हिन्दू धर्म संघ	चापेकर बंधु
8. आर्य बांधव समाज	बाल गंगाधर तिलक
9. भारत माता समिति; 1904	जे.एम. चटर्जी, नीलकांत ब्रह्मचारी एवं वांची अय्यर
10. भीकाजी आंदोलन; 1902 एवं इससे आगे	मैडम भीकाजी कामा
11. आत्म-उन्नति समिति	विपिन बिहारी गांगुली
12. हिन्द एसोसिएशन आफ अमेरिका; 1913	सोहन सिंह भखाना
13. हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (दिल्ली); 1928	चंद्रशेखर आजाद
14. बंगाल स्वयंसेवी	हेमचंद्र घोष और लीला नाग
15. श्री संघ	अनिल राय
16. इंडियन रिपब्लिकन आर्मी	सूर्य सेन
17. अनुशीलन समिति (मदनापुर); 1902	ज्ञानेंद्र नाथ बोस
18. भारतमाता सोसायटी (पंजाब); 1907	अम्बा प्रसाद व अजीत सिंह
19. नौजवान सभा (लाहौर); 1926	भगत सिंह
20. व्यायाम मंडल (पूना); 1896-97	चापेकर बंधु
21. स्वदेश बांधव समिति (बारिसाल); 1905	अश्विनी कुमार दत्त

13. समाचार-पत्र एवं जर्नल्स

समाचार-पत्र/जर्नल का नाम	*प्रकाशन का वर्ष एवं स्थान*	*संस्थापक/संपादक का नाम*
बंगाल गजट (इसे कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर भी कहते थे), साप्ताहिक	1780, कलकत्ता	जेम्स आगस्ट्स हिक्की द्वारा प्रारंभ (आयरिश)
इंडिया गजट	1787, कलकत्ता	हेनरी लुईस विवियन डिरोजियो इससे सम्बद्ध थे
मद्रास कुरियर (मद्रास से छपने वाला प्रथम समाचार-पत्र)	1784, मद्रास	–
बाम्बे हैराल्ड (बम्बई से छपने वाला प्रथम समाचार-पत्र)	1789, बम्बई	–
इंडियन हैराल्ड (अंग्रेजी में) *दिग्दर्शन* (प्रथम बंगाली मासिक)	1795, मद्रास	आर. विलियम्स (अंग्रेज) द्वारा प्रारम्भ एवं हैम्फ्री द्वारा प्रकाशित
कलकत्ता जर्नल	1818, कलकत्ता	–
बंगाल गजट (प्रथम बंगाली समाचार-पत्र)	1818	जे.एस. बकिंघम द्वारा प्रारंभ
संवाद कौमुदी (बंगाली में साप्ताहिक)	1818, कलकत्ता	हरीशचंद्र राय
मिरातुल अखबार (फारसी भाषा का प्रथम जर्नल)	1821	राजा राममोहन राय
जाम-ए-जहांनुमा (उर्दू का प्रथम समाचार-पत्र)	1822, कलकत्ता	राजा राममोहन राय
बंगदूत (चार भाषाओं-अंग्रेजी, बंगाली, फारसी एवं हिन्दी में प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक)	1822, कलकत्ता	एक अंग्रेजी फर्म द्वारा
बाम्बे समाचार (गुजराती का प्रथम समाचार-पत्र)	1822, कलकत्ता	राजा राममोहन राय, द्वारकानाथ टैगोर एवं अन्य
बाम्बे समाचार (गुजराती का प्रथम समाचार-पत्र)	1822, बम्बई	–
ईस्ट इंडियन (दैनिक)	19वीं शताब्दी	हेनरी विवियन डिरोजियो
बाम्बे टाइम्स (1861 के पश्चात *द टाइम्स आफ इंडिया*)	1838, बम्बई	रॉबर्ट नाइट ने इसकी आधारशिला रखी, थॉमस बेनेट ने प्रकाशन प्रारंभ किया

रास्त गोफ्तार (गुजराती पाक्षिक)	1851	दादाभाई नौरोजी
हिन्दू पैट्रियट	1853, कलकत्ता	गिरीशचंद्र घोष (बाद में हरिश्चंद्र मुखर्जी इसके मालिक एवं सम्पादक बन गये)
सोमप्रकाश (प्रथम बंगाली राजनीतिक समाचार-पत्र)	1858, कलकत्ता	द्वारकानाथ विद्याभूषण
इंडियन मिरर	1862, कलकत्ता	देवेंद्रनाथ टैगोर
बंगाली (यह एवं *अमृत बाजार पत्रिका* स्थानीय भाषा के प्रथम पत्र थे)	1862, कलकत्ता	गिरीशचंद्र घोष (1879 से इसका प्रकाशन दायित्व एस.एन. बनर्जी ने संभाल लिया)
नेशनल पेपर	1865, कलकत्ता	देवेंद्रनाथ टैगोर
मद्रास मेल (भारत का प्रथम सांध्य समाचार-पत्र)	1868, मद्रास	–
अमृत बाजार पत्रिका (प्रारंभ में बंगाली एवं बाद में अंग्रेजी में प्रकाशित, दैनिक)	1868, जैसोर जिला	शिशिर कुमार घोष एवं मोतीलाल घोष
बंगदर्शन (बंगाली में)	1873, कलकत्ता	बंकिमचंद्र चटर्जी
इंडियन स्टेट्समैन (बाद में *स्टेट्समैन*)	1875, कलकत्ता	राबर्ट नाइट द्वारा प्रारंभ
द हिन्दू (अंग्रेजी में; साप्ताहिक)	1878, मद्रास	जी.एस. अय्यर, सी. राघवाचार्य एवं सुब्बाराव पंडित (संस्थापकों में से थे)
ट्रिब्यून (दैनिक)	1881, लाहौर	दयाल सिंह मजीठिया
केसरी (मराठी दैनिक) एवं *मराठा* (अंग्रेजी साप्ताहिक)	1881, बम्बई	तिलक, चिपलूणकर, अगरकर (तिलक से पहले क्रमशः अगरकर एवं प्रो. केलकर इसके सम्पादक थे)।
स्वदेश मित्रम (तमिल समाचार-पत्र)		
परिदशक (साप्ताहिक)	मद्रास	जी.एस. अय्यर
युगांतर	1886	बिपिनचंद्र पाल (प्रकाशक)
संध्या	1906, बंगाल	बारीन्द्र कुमार घोष एवं भूपेंद्रनाथ दत्त
काल	1906, बंगाल	ब्रह्मबांधव उपाध्याय
इंडियन सोशियोलॉजिस्ट	1906, महाराष्ट्र	–

वंदेमातरम	लंदन	श्यामाजी कृष्ण वर्मा
तलवार	पेरिस	मैडम भीकाजी कामा
फ्री हिन्दुस्तान	बर्लिन	वीरेंद्रनाथ चटोपाध्याय
गदर	वैंकूवर	तारकनाथ दास
रेशवा	सैन फ्रैंसिस्को	गदर दल
बाम्बे क्रॉनिकल (दैनिक)	1908 से पहले	अजित सिंह
	1913, बम्बई	फिरोजशाह मेहता द्वारा प्रारंभ, सम्पादक–बी.जी. होर्निमैन (अंग्रेज)
द हिन्दुस्तान टाइम्स	1920, दिल्ली	के.एम. पाणिक्कर ने इसकी स्थापना अकाली दल आंदोलन के एक भाग के रूप में की थी
द मिलाप (उर्दू दैनिक)	1923, लाहौर	एम.के. चांद द्वारा स्थापित
लीडर (अंग्रेजी में)	–	मदन मोहन मालवीय
कीर्ति	1926, पंजाब	संतोष सिंह
बहिष्कृत भारत (मराठी पाक्षिक)	1927	बी.आर. अम्बेडकर
कुदी अरासू (तमिल)	1910	ई.वी. रामास्वामी नायकर ''पेरियार''
क्रांति	1927, महाराष्ट्र	एस.एन. मिरजाकर, के.एन.जोगलेकर, एस.वी. घाटे
बंदी जीवन	बंगाल	सचिन्द्रनाथ सान्याल
अल हिलाल	1912, कलकत्ता	अबुल कलाम आजाद
अल बिलाग	1913,कलकत्ता	अबुल कलाम आजाद
यंग इंडिया	1916, बंबई	महात्मा गांधी, इंदुलाल याज्ञिक
कामनवील	1915, मद्रास	एनी बेसेन्ट
न्यू इंडिया	1915, मद्रास	एनी बेसेन्ट
नेशनल हैराल्ड (दैनिक)	1938	जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रारंभ

14. आधुनिक भारत में अकाल आयोग/समितियां

आयोग/समिति का नाम	*गठन का वर्ष*	*प्रमुख सिफारिशें*	*परिणाम*
1. स्मिथ समिति	1860-61	इस समिति ने 1860-61 में दिल्ली तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में आये भयंकर दुर्भिक्ष के कारणों तथा उनके प्रभावों की समीक्षा की।	इस समिति द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट का कोई परिणाम नहीं निकला।
2. कैम्पबेल आयोग	1866-67	इस आयोग ने 1866-67 में उड़ीसा में आये अकाल का अध्ययन किया तथा अपनी जांच रिपोर्ट पेश की। आयोग का विचार था कि अकाल के समय राहत कार्य का दायित्व सिर्फ स्वयंसेवी संस्थाओं पर ही नहीं है।	आयोग की सिफारिशों को मद्देनजर सरकार ने राहत कार्य में स्वयं भी रुचि ली परंतु सरकारी सहायता अत्यल्प थी।
3. स्ट्रैची आयोग	1878-80	इस आयोग ने अकाल के संबंध में गहन जांच-पड़ताल कर यह सिफारिश की कि अकाल पीड़ितों को सहायता उपलब्ध कराने का उत्तरदायित्व राज्य का है। इसने प्रत्येक प्रांत में 'अकाल आयोग' स्थापित करने की भी सिफारिश की।	सरकार ने 'अकाल कोष' बनाने के प्रयास किये। 1883 में 'अकाल संहिता' बनाई गयी।
4. लायल आयोग	1897	इस आयोग ने 1896-97 के भयंकर दुर्भिक्ष के संबंध में सरकार को सिफारिशें प्रस्तुत कीं। आयोग ने स्ट्रेची आयोग की सिफारिशों से सहमति प्रकट करते हुए अनुशंसा की कि अकाल में सहायता संबंधी उपायों का और विस्तार किया जाये।	सरकार ने आयोग की लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर लीं।
5. मैकडॉनल आयोग	1900	आयोग ने सिफारिश की कि अकाल से निपटने के लिये ग्राम स्तर के कार्यों को प्राथमिकता दी जाये तथा नीतिगत प्रक्रिया पर ज्यादा बल दिया जाये	इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने भविष्य की अकाल सहायता नीति निर्धारित की।
6. जॉन वुडहेड आयोग	1945	इस आयोग ने सन् 1945 के अकाल की समीक्षा की तथा अकाल से निपटने के लिये महत्वपूर्ण सुझाव सरकार को दिये।	

15. ब्रिटिश शासनकाल में अर्थव्यवस्था व वित्त संबंधी आयोग एवं समितियां

आयोग/समिति का नाम	*गठन का वर्ष*	*उद्देश्य, मुख्य सिफारिशें*	*परिणाम*
1. अमीनी समिति	1778	इस समिति ने आकल तथा भू-राजस्व से संबंधित सिफारिशें दीं।	–
2. निकोल्सन समिति	1892	इस समिति ने सहकारी संस्थाओं से संबंधित मसलों पर सिफारिशें दीं।	–
3. दत्ता समिति	1905	इस समिति ने वस्तुओं की कीमतों के संबंध में अनुसंशायें दीं।	–
4. मैक्लागन समिति	1915	इस समिति ने सहकारी संस्थाओं से संबंधित मुद्दों पर सिफारिशें दीं।	–
5. हालैण्ड समिति	1916	इस समिति ने उद्योगों से संबंधित सुझाव दिये।	–
6. मैक्सवेल-ब्लूमफील्ड जांच समिति	1928	इस समिति ने बारदोली में लगान की दरों में वृद्धि को अनुचित बताया तथा उन्हें 30 प्रतिशत के स्थान पर 6.03 प्रतिशत करने की सिफारिश की।	सरकार ने इस समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।
7. लिनलिथगो आयोग	1928	इस आयोग ने भारत में भूमि सुधारों के संबंध में सुझाव दिये।	आयोग की सिफारिशों के मद्देनजर, 1929 में 'इंपीरियल काउंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च' की स्थापना की गयी।

8.	व्हिटले आयोग	1929	इस आयोग ने तत्कालीन औद्योगिक कार्यशालाओं तथा बागान श्रम के संबंध में अनुसंशायें दीं	सरकार ने आयोग की सिफारिशें मानकर आवश्यक कदम उठाये तथा कई नये कानून बनाये व पुराने कानूनों को संशोधित किया।
9.	सप्रू समिति	1934-35	इस समिति ने मध्य वर्ग में व्याप्त बेरोजगारी के संबंध में अध्ययन कर अपनी सिफारिशें दीं।	समिति की सिफारिशें 1935 में प्रकाशित की गयीं तथा सरकार ने इस संबंध में कुछ कदम उठाये।
10.	नियेमर समिति	1936	इस समिति ने केंद्र व राज्यों के मध्य वित्तीय संबंधों के विषय में सुझाव दिये।	–
11.	वेलवी आयोग	–	इस समिति ने धन के निष्कासन के मुद्दे पर दादा भाई नौरोजी से बहस की।	–
12.	इंडियन स्टेट्यूटरी आयोग या लेटन समिति	–	इस समिति ने केंद्र तथा राज्यों के मध्य राजस्व के बंटवारे संबंधी सुझाव दिये।	–
13.	वित्तीय संबंध समिति या मेस्टन आयोग	–	राजस्व के विभक्त मदों का त्याग करने की आवश्यकता पर बल दिया।	आयोग की कुछ मदें प्रांतों के लिये तथा शेष केंद्र के लिये निश्चित कर दी गयीं।
14.	फॉसेट समिति	–	इस समिति ने चुंगी तथा वेतन संबंधी सुझाव दिये।	–
15.	क्लाइड आयोग	1940	इस आयोग का गठन तेभागा आंदोलन से प्रेरित था। आयोग ने दो-तिहाई हिस्सा बटाईदारों को देने की मांग को उचित ठहराया।	–

स्पेक्ट्रम बुक्स प्राइवेट लिमिटेड

UPSC सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा 2019

1. हैंडबुक सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा पेपर-I (सामान्य अध्ययन) 2019 — ₹ 1655
2. हैंडबुक सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा पेपर-II (सामान्य अध्ययन) 2019 — ₹ 865

राज्य सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा 2019

3. भारतीय इतिहास (वैकल्पिक) — ₹ 615

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा 2019

4. आधुनिक भारत का इतिहास — ₹ 410
5. विश्व इतिहास — ₹ 390
6. भारतीय संस्कृति — ₹ 355
7. गांधी, नेहरू, टैगोर एवं आधुनिक भारत के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तित्व — ₹ 270
8. ऐतिहासिक मानचित्रावली — ₹ 275
9. भारतीय राजव्यवस्था (2018) — ₹ 395
10. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी — ₹ 510
11. सांख्यिकी विश्लेषण, ग्राफ एवं आरेख — ₹ 335
12. निबंध बोध — ₹ 385
13. मानव विज्ञान (2018) — ₹ 385
14. भारतीय अर्थव्यवस्था — ₹ 415

हिन्दी भाषा

15. व्यावहारिक हिन्दी (2017) — ₹ 325 P.B.— ₹ 395 H.B.
16. रस-चिन्तन के नये आयाम — H.B. ₹ 675
17. राजभाषा हिन्दीः प्रगामी प्रयोग — H.B. ₹ 95

NO VPP ORDERS PLEASE SEND YOUR ORDERS WITH FULL AMOUNT (AFTER 15% DISCOUNT) BY MO/DD IN FAVOUR OF

SPECTRUM BOOKS PVT. LTD.